* ॐ अर्हम् *



वर्ष ६, किरण १ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | अगस्त १९४३
भाद्रपद, वीरनिर्वाण सं० २४६९, विक्रम सं० २०००

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१४]

श्रीअनन्तजित्-जिन-स्तोत्र

अनन्तदोषाशय-विग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।

यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥१॥

'जिसका शरीर अनन्त दोषोंका—राग-द्वेष-कामक्रोधादि अगणित विकारोंका—आधारभूत है (और इसी लिये अनन्त संसार-परिभ्रमणका कारण है) ऐसा मोहमयी ग्रह—पिशाच, जो चिरकालसे हृदयमें चिपटा हुआ था—आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उस पर अपना आतंक जमाए हुए था—वह चूँकि तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करने वाले आपके द्वारा पराजित—निर्मूलित—किया गया है इस लिये आप भगवान 'अनन्तजित्' हुए हैं—आपकी 'अनन्तजित्' यह संज्ञा सार्थक है।'

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।

विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयत् ॥ २ ॥

'(हे भगवान्) आप कषाय नामके पीडनशील शत्रुओंका (हृदयमें) नाम निःशेष करते हुए—उनका आत्मासे पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद करते हुए—अशेषवित्—सर्वज्ञ—हुए हैं। और आपने कामदेवके दुरभिमान रूप आतंकको, जो कि विशेष रूपसे शोषक—संतापक है, समाधिरूप—प्रशस्त ध्यानात्मक—औषधके गुणोंसे विलीन किया है—विनाशित किया है।'

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णा-सरिदार्य ! शोषिता ।
असङ्ग-घर्मार्क-गभस्ति-तेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥ ३ ॥

'जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है और भय रूप तरंग-मालाएँ उठती हैं उस अपनी तृष्णा नदी को हे आर्य (अनन्तजित्) ! आपने अपरिग्रह-रूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंके तेजसे सुखा डाला है, इस लिये आपका निर्वृति-तेज उत्कृष्ट है ।'

(इस परसे स्पष्ट है कि तृष्णाको जीतनेका अमोघ उपाय अपरिग्रह व्रतका भलेप्रकार पालन है। परिग्रहके रहते तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, जिससे उसका जीतना प्रायः नहीं बनता ।)

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! जो आपमें अनुराग—भक्तिभाव—रखता है वह श्रीविशिष्ट सौभाग्यको—ज्ञानादि-लक्ष्मीके आधिपत्य आदिको—प्राप्त करता है और जो आपमें द्वेषभाव रखता है वह प्रत्ययकी तरह—व्याकरण शास्त्रमें प्रसिद्ध 'क्विप्' प्रत्ययके समान अथवा क्षणस्थायी इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान—विलीन (नष्ट) होजाता है—नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पड़ता है । परन्तु आप अनुरागी (मित्र) और द्वेषी (शत्रु) दोनोंमें अत्यन्त उदासीन रहते हैं—न किसीका नाश चाहते हैं और न किसीकी श्रीवृद्धि; फिर भी मित्र और शत्रु स्वयं ही उक्त फलको प्राप्त हो जाते हैं—, यह आपका ईहित—चरित्र—बड़ा ही विचित्र है—अद्भुत माहात्म्यको प्रगट करता अथवा गुप्त रहस्यका सूचक है ।

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने !
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥ ५ ॥

'(हे भगवन् !) आप ऐसे हैं-वैसे हैं—आपके ये गुण हैं-वे गुण हैं—,इस प्रकार मुझ अल्पमतिका—यथावत् गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—यह स्तुतिरूप थोड़ासा प्रलाप है । (तब क्या यह निष्फल होगा ? नहीं) अमृत समुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याण-कारक होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है ।

अनेकान्त-रस-लहरी

[बहुत दिनोंसे मेरा विचार 'अनेकान्त-रस-लहरी' नामकी एक लेखधारा अनेकान्तमें प्रारम्भ करनेका था, जिसके द्वारा अनेकान्त-जैसे गंभीर विषयको ऐसे मनोरंजक ढंगसे सरल शब्दोंमें समझाया जाय जिससे बच्चे तक भी उसके मर्म को आसानी से समझ सकें, वह कठिन दुर्बोध एवं नीरस विषय न रहकर सुगम सुखबोध तथा रसीला विषय बनजाय— बातकी बातमें समझा जासके—और जनसाधारण सहजहीमें उसका रसास्वादन करते हुए उसे हृदयंगम करने, अपनाने और उसके आधारपर तत्त्वज्ञानमें प्रगति करने, प्राप्त ज्ञानमें समीचीनता लाने, विरोधको मिटाने तथा लोक-व्यवहारमें सुधार करने के साथ-साथ अनेकान्तको जीवनका प्रधान अंग बनाकर सुख-शान्तिका अनुभव करनेमें समर्थ होसकें। परन्तु अनवकाशसे लगातार घिरा रहने और अपनी कुछ अयोग्यताओंके कारण मैं अब तक इसका प्रारम्भ नहीं कर सका—दो एक विद्वानोंसे भी इस प्रकारका सरल और सरस साहित्य तय्यार करनेके लिए निवेदन किया गया परन्तु उन्होंने प्रार्थना पर कुछ ध्यान नहीं दिया। आज भी मैं अनवकाशसे उसी तरह घिरा हुआ हूँ और मेरी अयोग्यताएँ भी बनी हुई हैं, फिर भी यह सोचकर कि और कब तक इसे टलाया जाय, आज मैं इस लेखधाराको इस आशासे प्रारम्भ कर रहा हूँ कि दूसरे विद्वान इसकी उपयोगिताको महसूस करेंगे, अपना भी कुछ कर्तव्य समझेंगे और अधिक अच्छे एवं हृदयग्राही ढंगसे इस रसधाराको बहाकर अनेकान्त-विषयका विपुल सरलसाहित्य प्रस्तुत करनेमें मेरा हाथ बटाएँगे। आशा है साहित्यकलाकार योग्य विद्वान शीघ्र ही इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करके दृढ संकल्पके साथ प्रकृत साहित्यके निर्माणमें तत्पर होंगे और मुझे आभारका अवसर प्रदान करेंगे। इस योजनाके अनुरूप जिन विद्वानोंके लेख प्राप्त होंगे वे इस स्तम्भके नीचे उनके नामके साथ प्रकाशित किए जायँगे। जिनके नीचे किसीका भी नाम नहीं होगा—स्थान निर्देशके लिए वीर-सेवामन्दिरका नाम रहेगा, उन्हें सम्पादकीय समझा जाय।

—सम्पादक]

[१]

छोटापन और बड़ापन

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने, अपने विद्यार्थियोंको नया पाठ पढ़ानेके लिए, बोर्डपर तीन इंचीकी लाइन खींच कर विद्यार्थीसे पूछा—'बतलाओ यह लाइन छोटी है या बड़ी?' विद्यार्थीने चटसे उत्तर दिया—'यह तो छोटी है।' इसपर अध्यापकने उस लाइनके नीचे एक इंचीकी दूसरी लाइन बनाकर फिरसे पूछा—'अब ठीक देखकर बतलाओ कि ऊपरकी ——— १ ——— २ लाइन नं० १ बड़ी है या छोटी? विद्यार्थी देखते ही बोल उठा—यह तो साफ़ बड़ी नज़र आती है।'

अ०—अभी तुमने इसे छोटी बतलाया था?

वि०—हाँ, बतलाया था, वह मेरी भूल थी।

इसके बाद अध्यापकने, प्रथम लाइनके ऊपर पाँच इंची की लाइन बनाकर और नीचे वाली एक इंचीकी लाइनको मिटाकर, फिर से पूछा—'अच्छा अब बतलाओ' नीचेकी लाइन नं० १ ——— ३ ——— १ छोटी है या बड़ी?' विद्यार्थी कुछ असमंजसमें पड़ा और आखिर तुरन्त ही कह उठा—'यह तो अब छोटी हो गई है।'

'छोटी कैसे होगई? क्या किसी ने इसमेंसे कोई टुकड़ा तोड़ा है या इसके किसी अंशको मिटाया है?—हमने तो इसे छुआ तक भी नहीं। अथवा तुमने इसे जो पहले 'बड़ी' कहा था वह कहना भी तुम्हारा ग़लत था?' अध्यापकने पूछा।

'पहले जो मैंने इसे 'बड़ी' कहा था वह कहना मेरा ग़लत नहीं था और न उस लाइनमें किसी ने कोई टुकड़ा तोड़ा है या उसके किसी अंशको मिटाया है-वह तो ज्योंकी त्यों अपने तीन इंचीके रूपमें स्थित है। पहले आपने इसके नीचे एक इंचीकी लाइन बनाई थी, इससे यह बड़ी नज़र आती थी। और इसी लिये मैंने इसे बड़ी कहा था, अब आपने उस एक इंचीकी लाइनको मिटाकर इसके ऊपर पाँच इंचीकी लाइन बनादी है, इससे यह तीन इंचीकी लाइन छोटी हो पड़ी—छोटी नज़र आने लगी, और इसी से मुझे कहना पड़ा कि 'यह तो अब छोटी हो गई है।' विद्यार्थीने उत्तर दिया।

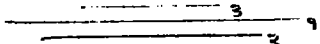
अध्यापक—अच्छा, सबसे पहिले जो तुमने इस तीन इंची लाइनको छोटी कहा था उसका क्या कारण था ?

विद्यार्थी-उस समय मैंने देखकर कि बोर्ड बहुत बड़ा है और यह लाइन उसके एक बहुत छोटेसे हिस्सेमें आई है, इसे 'छोटा' कह दिया था।

अध्यापक—फिर इसमें तुम्हारी भूल क्या हुई ? यह तो ठीक ही है—यह लाईन बोर्डसे छोटी है इतना ही क्यों यह तो टेबिलसे भी छोटी है, कुर्सीसे भी छोटी है, इस कमरेके किवाड़से भी छोटी है, दीवारसे भी छोटी है और तुम्हारी-मेरी लम्बाईसे भी छोटी है।

विद्यार्थी—इस तरह तो मेरे कहनेमें भूल नहीं थी—भूल मान लेना ही भूल थी।

अब अध्यापक महोदयने उस मिटाई हुई



१ एक इंची लाइनको भी फिर से नीचे बना दिया और सवाल किया कि—तीनों लाइनों कीइस स्थितिमें तुम बीचकी उसी नम्बर १ वाली लाइनको छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—मैं तो अब यूँ कहूंगा कि यह ऊपर वाली लाइन नं० ३ से छोटी और नीचे वाली लाइन नं० २ से बड़ी है।

अध्यापक—अर्थात् इसमें छोटापन और बड़ापन दोनों है और दोनों गुण एक साथ हैं ?

विद्यार्थी—हाँ, इसमें दोनों गुण एक साथ हैं।

अध्या०—एक ही चीज़को छोटी और बड़ी कहनेमें क्या तुम्हें कुछ विरोध मालूम नहीं होता ? जो वस्तु छोटी है वह बड़ी नहीं कहलाती और जो बड़ी है वह छोटी नहीं कही जाती। एक ही वस्तुको छोटी कहकर फिर यह कहना कि छोटी नहीं—बड़ी है, यह कथन तो लोक-व्यवहारमें विरुद्ध जान पड़ेगा ! लोकव्यवहारमें जिस प्रकार 'हाँ' कह-कर 'ना' कहना अथवा विधान करके निषेध करना परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक समझा जाता है उसी प्रकार तुम्हारा यह एक चीजको छोटी कहकर बड़ी कहना अथवा एक ही वस्तुमें छोटेपनका विधान करके फिर उसका निषेध कर डालना—उसे बड़ी बतलाने लगना—क्या परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक नहीं समझा जायगा ? और जिस प्रकार अंधकार तथा प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रहते उसी प्रकार छोटापन और बड़ापन दोनों गुणों (धर्मों) के एक साथ रहनेमें क्या विरोध नहीं आएगा ?

यह सब सुनकर विद्यार्थी कुछ सोच-सीमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा; इतनेमें अध्या-पकजी उसकी विचार-समाधिको भंग करते हुए बोल उठे—

'इसमें अधिक सोचने-विचारनेकी बात क्या है ? एक ही चीज़को छोटी बड़ी दोनों कहनेमें विरोध तो तब आता है जब जिस दृष्टि अथवा अपेक्षासे किसी चीज़को छोटा कहा जाय उसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उसे बड़ा बतलाया जाय। तुमने मध्यकी तीन इंची लाइनको ऊपरकी पाँचइंची लाइनसे छोटा बतलाया है, यदि पाँच इंच वाली लाइनकी अपेक्षा ही उसे बड़ा बतला देते तो विरोध आजाता, परन्तु तुमने ऐसा न करके उसे नीचेकी एक इंचवाली लाइन हो बड़ा बतलाया है, फिर विरोधका क्या काम ? विरोध वहीं आता है जहाँ एक ही दृष्टि (अपेक्षा) को लेकर विभिन्न प्रकारके कथन किए जायँ, जहाँ विभिन्न प्रकारके कथनोंके लिये विभिन्न दृष्टियों—अपेक्षाओंका आश्रय लिया जाय वहाँ विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। एक ही मनुष्य अपने पिताकी दृष्टिसे पुत्र है और अपने पुत्रकी दृष्टिसे पिता है—उसमें पुत्रपन और पितापनके दोनों धर्म एक साथ रहते हुए भी जिस प्रकार दृष्टिभेद होनेसे विरोधको प्राप्त नहीं होते उसी प्रकार एक दृष्टिसे किसी वस्तुका विधान करने और दूसरी दृष्टिसे निषेध करने अथवा एक अपेक्षासे 'हाँ' और दूसरी अपेक्षासे 'ना' कहनेमें भी विरोधकी कोई बात नहीं है। ऐसे ऊपरी अथवा शब्दोंमें ही दिखाई पड़ने वाले विरोधको विरोधाभास कहते हैं—वह वास्तविक अथवा अर्थकी दृष्टिसे विरोध नहीं होता; और इस लिए पूर्वापरविरोध तथा प्रकाश-अन्धकार-जैसे विरोधके साथ उसकी कोई तुलना नहीं की जासकती। और इसी लिये तुमने जो बात कही वह ठीक है। तुम्हारे कथनमें दृढ़ता लानेके लिए ही मुझे यह सब स्पष्टीकरण करना पड़ा है। आशा है अब तुम इस छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब समझ गये होंगे।

विद्यार्थी—हाँ, खूब समझ गया, अब नहीं भूलूंगा।

अध्यापक—अच्छा, तो इतना और बतलाओ—'इन ऊपर नीचेकी दोनों बड़ी-छोटी लाइनोंको यदि मिटा दिया

जाय और मध्यकी उस नं० १ वाली लाइनको ही स्वतन्त्र रूपमें स्थिर रक्खा जाय—दूसरी किसी भी बड़ी-छोटी चीज के साथ उसकी तुलना या अपेक्षा न की जाय, तो ऐसी हालतमें तुम इस लाइन नं० १ को स्वतन्त्र भावसे—कोई भी अपेक्षा अथवा दृष्टि साथमें न लगाते हुए—छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—ऐसी हालतमें तो मैं इसे न छोटी कह सकता हूं और न बड़ी !

अध्यापक—अभी तुमने कहा था 'इसमें दोनों (छोटापन और बड़ापन) गुण एक साथ हैं' फिर तुम इसे छोटी या बड़ी क्यों नहीं कह सकते ? दोनों गुणोंको एक साथ कहनेकी वचनमें शक्ति न होनेसे यदि युगपत् नहीं कहसकते तो क्रमसे तो कह सकते हो ? वे दोनों गुण कहीं चले तो नहीं गये ? गुणोंका तो अभाव नहीं हुआ करता—भले ही तिरोभाव (आच्छादन) हो जाय, कुछ समयके लिये उनपर पर्दा पड़जाय।

विद्यार्थी फिर कुछ रुका और सोचने लगा ! अन्तको उसे यही कहते हुए बन पड़ा कि—'बिना अपेक्षाके किसी को छोटा या बड़ा कैसे कहा जासकता है ? पहले जो मैंने इस लाइनको 'छोटी' तथा 'बड़ी' कहा था, वह अपेक्षासे ही कहा था, अब आप अपेक्षा को बिल्कुल ही अलग करके पूछ रहे हैं तब मैं इसे छोटी या बड़ी कैसे कह सकता हूं, यह मेरी कुछ भी समझमें नहीं आता ! आप ही समझाकर बतलाइये।'

अध्यापक—तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जासकता है ?' अर्थात् नहीं कहा जासकता। अपेक्षा ही छोटापन या बड़ेपनका मापदण्ड है—मापनेका गज़ है ? जिस अपेक्षा-गज़से किसी वस्तुविशेषको मापा जाता है वह गज़ यदि उस वस्तुके एक अंशमें आजाता है—उसमें समाजाता है—तो वह वस्तु 'बड़ी' कहलाती हैं। और यदि उस वस्तुसे बढ़ा रहता—बाहरको निकला रहता है—तो वह वस्तु 'छोटी' कही जाती है। वास्तवमें कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी नहीं है—स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभाव से छोटी या बड़ी होनेपर वह सदा छोटी या बड़ी ही रहेगी; क्योंकि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता। और इस लिये किसी भी वस्तुमें छोटापन और बड़ापन ये दोनों गुण परतन्त्र, पराश्रित, परिकल्पित, आरोपित, सापेक्ष अथवा परापेक्षिक ही होते हैं, स्वाभाविक नहीं। छोटेके अस्तित्व बिना बड़ापन और बड़ेके अस्तित्व बिना छोटापन कहीं होता ही नहीं। एक अपेक्षासे जो वस्तु छोटी है वही दूसरी अपेक्षासे बड़ी है और जो एक अपेक्षासे बड़ी है वही दूसरी अपेक्षासे छोटी है। इसी लिए कोई भी वस्तु सर्वथा (बिना अपेक्षाके) छोटी या बड़ी न तो होती है और न कही जासकती है। किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहना 'एकान्त' है—एक दृष्टि से छोटा और दूसरी दृष्टिसे बड़ा कहना 'अनेकान्त' है, जो मनुष्य किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहता है वह उसको सब ओरसे अवलोकन नहीं करता—उसके सब पहलुओं अथवा अंगोंपर दृष्टि नहीं डालता—न सब ओरसे उसकी तुलना ही करता है, सिक्केकी एक साइड (Side) को देखनेकी तरह वह उसे एक ही ओरसे देखता है और इस लिये पूरा देख नहीं पाता। इसीसे उसकी दृष्टिको सम्यग् दृष्टि नहीं कह सकते और न उसके कथनको सच्चा कथन ही कहा जासकता है। जो मनुष्य वस्तुको सब ओरसे देखता है, उसके सब पहलुओं अथवा अंगोंपर दृष्टि डालता है और सब ओरसे उसकी तुलना करता है वह अनेकान्त-दृष्टि है—सम्यग्दृष्टि है। ऐसा मनुष्य यदि किसी वस्तुको छोटी कहना चाहता है तो कहता है—'एक प्रकारसे छोटी है,' 'अमुककी अपेक्षा छोटी है,' 'कथंचित् छोटी है' अथवा 'स्यात् छोटी' है। और यदि छोटी-बड़ी दोनों कहना चाहता है तो कहता है—'छोटी भी है और बड़ी भी' एक प्रकारसे छोटी है-दूसरे प्रकारसे बड़ी है, अमुककी अपेक्षा छोटी और अमुककी अपेक्षा बड़ी है' अथवा कथंचित् छोटी और बड़ी दोनों है। और उसका यह वचन-व्यवहार एकान्त-कदाग्रह की ओर न जाकर वस्तुका ठीक प्रतिपादन करनेके कारण सच्चा कहा जाता है। मैं समझता हूँ अब तुम इस विषयको और अच्छी तरहसे समझ गये होगे।

विद्यार्थी—(पूर्ण संतोष व्यक्त करते हुए) हाँ, बहुत अच्छी तरहसे समझ गया हूँ। पहले समझनेमें जो कचाई रह गई थी वह भी अब आपकी इस व्याख्यासे दूर होगई है। आपने मेरा बहुत कुछ अज्ञान दूर किया है, और इस लिये मैं आपके आगे नत-मस्तक हूं।

अध्यापक वीरभद्रजी अभी इस विषयपर और भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे कि इतनेमें घंटा बज गया और उन्हें दूसरी कक्षामें जाना पड़ा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ३१-८-४२

धर्म क्या है ?

(लेखक—श्री पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)

मेरे जेलकी झंझटोंसे बाहर आते ही 'अनेकान्त' पत्रके व्यवस्थापक श्री बाबू कौशलप्रसादजीके आग्रहपूर्ण पत्रोंको पाकर मैं इस विचारमें पड़ गया कि इस वक्त क्या लिखूं ? इस वक्त कुछ भी लिखने की अपनी असमर्थताको मैं बतलाने वाला ही था कि समीपमें आते हुए दशलक्षण (पर्यूषण) पर्वका खयाल हो आया और मैंने स्थिर किया कि धर्मकी व्याख्या करनेका यह उपयुक्त अवसर है, इसलिये इसके विषय में ही कुछ प्रकाश डाला जाय।

मुझे इस समय यह लेख बहुत ही संक्षिप्त रूपमें पाठकोंके सामने रखना है इसलिये जितना महत्व-पूर्ण यह लेख होना चाहिये उतना तो नहीं होसकेगा, फिर भी विश्वास है कि यह धर्मके रहस्यको समझने में एक मार्ग-दर्शकका काम करेगा और इसलिये पाठकोंको कम रुचिकर नहीं होगा।

"वत्थुसहाओ धम्मो" अर्थात् प्रत्येक वस्तुका स्वतंत्र निजभाव—परनिमित्त-निरपेक्ष परिणमन(अव-स्थान) ही उस उस वस्तुका धर्म है, यह जैनधर्मकी मान्यता है। इस मान्यताके अनुसार जगतकी चेतन (आत्म) अचेतन (अनात्म) सभी वस्तुएँ कोई-न-कोई स्वतंत्र धर्मवाली सिद्ध होती हैं और इसीलिये आत्मा (चेतन) नामकी वस्तुका भी अनात्म (अचेतन) वस्तु-ओंसे पृथक् स्वतंत्र धर्म सिद्ध होता है। परन्तु जब हम आत्माको मनुष्य, पशु, पक्षी आदि एक दूसरीसे बिल्कुल विलक्षण योनियोंमें कभी सुख और कभी दुखके सागरमें गोता लगाते हुए पाते हैं तो यह मान लेना पड़ता है कि आत्माका निजधर्म विकारी बना हुआ है और उसीका यह परिणाम है कि असीम सुख का अनुभव करते करते ही हम अकस्मात् एक अक-ल्पित दुःखके सागरमें गोता लगाने लगते हैं, यह कोई नई बात नहीं है—यह तो प्रत्येक मनुष्यके प्रतिदिन अनुभवमें आनेवाली बात है। और तब तर्कशास्त्रियोंके दिमाग़में सहसा यह कल्पना उठती है कि चूंकि विकार पर-निमित्तक है इसलिये वह नष्ट किया जा सकता है, और इस कल्पनाके आधारपर ही वे उसके नष्ट करनेका उपाय सोचते हैं। बस, इसी उपाय का नाम जैनधर्ममें 'धर्म' कहा गया है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्र धर्मका लक्षण "संसार-दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे" के रूपमें हमारे सामने रख रहे हैं।

उल्लिखित विकार क्रियाके—प्रयत्नके—द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है, इसलिये प्रयत्नको ही मुख्यधर्म समझना चाहिये। इस प्रयत्नको ही जैनधर्ममें कर्तव्य, पुरुषार्थ, व्यापार, आचरण या चारित्र आदि संज्ञा दी गई हैं; परन्तु केवल प्रयत्न ही धर्म है ऐसा जैन-धर्म नहीं मानता। जैनधर्मकी दृष्टिमें वह प्रयत्न यदि निरुद्दिष्ट है या दूषित उद्देश्यको लेकर किया गया है तो वह कदापि धर्म नहीं हो सकता। उस प्रयत्नका उद्देश्य समीचीन होना चाहिये, तभी वह धर्म कहा जा सकता है। उद्देश्यकी समीचीनताकी पहिचान आत्मामें क्रमसे १प्रशम, २आस्तिक्य, ३अनुकंपा और ४संवेग इन चार गुणोंके आविर्भावसे होती है। इनमेंसे प्रशम गुण (परमतसहिष्णुता) एकान्तमिथ्यात्व (हटग्राहिता) के अभावमें, आस्तिक्य गुण, (स्वपरभेदविज्ञान अथवा सर्वप्राणिसद्भाव) संशय मिथ्यात्व (अस्थिरचित्तता) के अभावमें, अनुकम्पा गुण (आत्मकल्याणकी इच्छा अथवा दूसरे प्राणियोंको कष्ट न पहुँचाकर उनके उपकार की इच्छा) विनयमिथ्यात्व (चापलूसी-मायाचारी) के अभावमें और संवेग गुण (पर पदार्थोंमें अनासक्ति) विपरीतमिथ्यात्वके (शरीरको ही आत्मा समझना, दूसरे प्राणियोंको सतानेमें आनन्द मानना या इसी प्रकारकी और भी विविध प्रकारसे होनेवाली उलटी

बुद्धिके) अभावमें पैदा होता है। जो इन चार गुणों के प्रगट हो जानेपर कर्तव्य करनेके लिये तैयार होता है वह समीचीन उद्देश्यवाला माना जाता है और ऐसे लोगोंको ही जैनधर्ममें 'सम्यग्दृष्टि' कहा गया है। यह समीचीन उद्देश्य वाला याने सम्यग्दृष्टि व्यक्ति यदि कुमति, कुश्रुत और विभंग तथा ज्ञानाभावरूप अज्ञान पूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारपर योग्य-अयोग्य का विचार किये बिना ही-कोई कर्तव्य करनेको तैयार होता है तो उसका वह कर्तव्य सफल नहीं हो सकता। इसलिये कर्तव्य करनेके पहिले उल्लिखित अज्ञान मिथ्यात्वके अभावमें पैदा होनेवाले सम्यग्ज्ञानका अपने समीचीन उद्देश्यके साधक उपायोंके परिज्ञान—का तथा उन उपायोंपर अमल करनेके लिये योग्यतम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके परिज्ञानका—होना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्रने धर्मका लक्षण कर चुकनेके बाद उसकी व्याख्या "सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः" के रूपमें की है।

किसी भी प्रकारकी सफलताके लिये समीचीन उद्देश्यरूप सम्यग्दर्शन, उस उद्देश्यकी पूर्तिके साधनभूत उपायोंका तथा उन उपायोंको योग्यतम रीतिसे अमल में लानेके लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी व्यवस्थाका परिज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और उन उपायोंको अमलमें लानेरूप सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकवाक्यता (संगठन) जिस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे जैनधर्म में बतलाई है उसी प्रकार दूसरे मतावलंबी भी प्रकारान्तरसे इस बातको स्वीकार करते हैं। कर्तव्यवादियों की ईश्वरमें क्रमसे इच्छा, ज्ञान और कृतिकी मान्यता जैनधर्मकी उल्लिखित मान्यतासे सर्वथा भिन्न नहीं कही जा सकती। सूक्ष्म विचार करनेपर मालूम होगा कि इन दोनों मान्यताओंमें प्रायः शब्दभेद ही है अर्थभेद नहीं है।

इस तरह यद्यपि आत्मनिष्ठ विकारको नष्ट करके आत्माके स्वतंत्र निजधर्मको प्राप्त करनेरूप आत्मकल्याणके लिये विकारको नष्ट करनेकी या आत्मकल्याण करनेकी भावनाका प्राणियोंके हृदयमें जाग्रत होना, इस भावनाको सफल बनानेके लिये विकारको नष्ट करनेके साधनोंका तथा उनके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र काल और भावका अपनी बुद्धि (दिमाग) द्वारा निर्णय करना और फिर उन साधनोंपर अपनेको चलाना ये तीनों ही धर्मके अविभाज्य अंग हैं। परन्तु जैसा कि हम पहिले कह आये हैं, उद्देश्यके अनुकूल साधनों पर चलना ही मुख्य धर्म मानना चाहिये; कारण कि आत्मकल्याणकी भावना और उसके साधनभूत उपायों का परिज्ञान रहते हुए भी जब तक उन उपायों को अमलमें नहीं लाएगा तब तक वह आत्मकल्याण को प्राप्त नहीं हो सकता है। यही सबब है कि धर्मके भेदोंका वर्णन कर्तव्य या चारित्रको ही धर्म मानकर किया गया है।

धर्मके भेद, जिनके आधार पर दशलक्षणपर्व दि० जैन समाजमें प्रचलित है, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश हैं और ये सब क्रमसे विकसित होनेवाली चारित्रकी ही विशेष अवस्थाएँ हैं। लेकिन जिस प्रकार क्षमाका उलटा क्रोध(क्रूरता)करना, मार्दवका उल्टा मान (अहंकार) करना, आर्जवका उल्टा माया (छल-कपट) करना, सत्यका उलटा असत्य बोलना, शौचका उलटा लोभ(आत्मभिन्न पदार्थोंमें तृष्णा) करना, संयम का उलटा असंयम (पांचों इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति) करना, तपका उल्टा शरीरको सुकुमार(कष्ट-सहनके अयोग्य) बना लेना, त्यागका उलटा पर पदार्थोंका संग्रह करना, आकिंचन्यका उल्टा ऐश-आराम की चीजोंमें ममत्व रखना, और ब्रह्मचर्यका उल्टा कुशीलमें प्रवृत्त होना अर्थात् इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त रहना (मर्यादाके बाहिर पाचों इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करना), इन सबको अधर्म कहा गया है उसी प्रकार निरुद्दिष्ट अथवा दूषित उद्देश्यको लेकर—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सम्यक् विचार किए बिना ही—इन्हीं दश धर्मोंका पालन करना भी अधर्म माना गया है। कभी-कभी मनुष्य बिना प्रयोजन ही क्षमा, मार्दव आदि रूप प्रवृत्ति करता है और कभी कभी वह दूषित उद्देश्यको लेकर भी करता है। मान-बड़ाई के लिए दानादि देना, व्रत-उपवास करना तो बहुतायत

के साथ देखनेमें आता ही है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी व्यवस्था पर तो हमारा ध्यान कभी पहुँचता ही ही नहीं हैं। किसके प्रति हमें क्षमा धारण करना चाहिये किसके प्रति नहीं, किसके प्रति हमें मृदु बनना चाहिए, किसके प्रति नहीं, किसके साथ हमें सरल बर्ताव करना चाहिये और किसके साथ शाम, दाम, दण्ड तथा भेद रूप नीतिका बर्ताव करना चाहिये, किसके प्रति हम सच बोलें किसके प्रति नहीं, इत्यादि प्रकारसे दश धर्मोंके पालनमें हम द्रव्यको और इसी प्रकार स्थान, समय और अपनी शक्तिको बिल्कुल उपेक्षितकर बैठते हैं। यही कारण है कि अहिंसक और क्षमाधारी जैनी कायर और बुज़दिल कहे जाते हैं। यही बात बाकीके नौ धर्मोंके विषयमें भी है। और इसीका परिणाम है कि केवल धर्मका ढांचा ही हमारे पास रह गया है उसमें सात्विकता अथवा प्राण नाम मात्रको भी अवशेष नहीं हैं। साथ ही इन दशों धर्मोंके विकासक्रमको भी हम भुला चुके हैं, हम दशलक्षण पर्वमें एकाशन, उपवास व नीरस भोजन करके शरीरको कांटा सा तो बना डालेंगे लेकिन कषायोंकी मात्रामें नाम मात्रकी भी कमी नहीं आने देंगे !

वास्तवमें धर्मके भेदोंको जिस क्रमसे गिनाया गया है वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है। पहिले आप क्रोध, मान और मायाको क्रमसे घटायें, फिर लोभको घटाने के लिये सत्य बोलनेका अभ्यास कीजिये, इसके बाद लोभ घट जानेपर इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकिये, फिर शरीरको कष्ट-सहनके योग्य बनाइये, तब कहीं अपने आरामके लिये संग्रहीत वस्तुओंका दान (त्याग) कीजिये और अन्तमें अकिंचन बनकर अर्थात् ऐश-आरामकी चीजोंमें ममत्व घटाकर पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा विरक्त हो जाइये; बस आपकी आत्माका विकार नष्ट हो जायगा और वह अपने स्वाभाविक धर्मको पाकर चमक उठेगा। धर्म-पालन करनेका मकसद (उद्देश्य) भी सिर्फ इतना ही है। इस लिये यदि दरअसल हम इस मकसद तक पहुँचना चाहते हैं तो हमें ऊपर बतलाई हुई दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय धार्मिक व्यवस्थाको अपनानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। इसीसे व्यक्तिका, समाजका और देशका भला होगा, आजका निष्प्राण थोथा धर्म ही हमारे लिये समाजके लिये और देशके लिये भी अभिशाप बना हुआ है और इसीसे हम, हमारा समाज और हमारा देश सभी पतनके गर्तमें गिरते जा रहे हैं। यह दशा अब और अधिक सह्य (क़ाबिले बर्दाश्त) मालूम नहीं होती, इसका शीघ्र अन्त होना चाहिये।

अन्तर

[रचयिताः—जैन मुनि अमृतचन्द्रजी 'सुधा']

मानस मानसमें अन्तर है।

अड़ी खड़ी है आज हमारे सन्मुख कैसी जटिल समस्या।
सुलझ न सकती अरे कहां क्या? विफल हुई सम्पूर्ण तपस्या।
सुप्त पड़ी है वही भूमिका जिसपर उन्नति पथ निर्भर है।
मानस मानसमें अन्तर है।

झंकृत था जोवर देश कभी अपने गौरवके गानोंसे।
वह आज शून्य होता आता नित नितके नव अपमानोंसे।
नाम हमारा कभी अपर था काम हमारा आज अपर है।
मानस मानसमें अन्तर है।

रह करके परतन्त्र हमारा क्या कुछ जीनेमें है जीना।
वीरोंका वह खून अरे क्या? निकल गया बन पतित पसीना।
कहां आज अस्तित्व हमारा क्योंकर तुलालचरता पर है।
मानस मानसमें अन्तर है।

दैव और पुरुषार्थ

[ले०—पुरुशोत्तमदास मुरारका साहित्यरत्न]

दैवसे यहां हमारा तात्पर्य साक्षात् परमात्मा अथवा ईश्वरसे नहीं, हमें इसे अधिक व्यापक दृष्टिकोण अर्पण कर इसकी अनुभूति प्राप्त करना होगा। दैवमें वे समस्त अदृश्य शक्तियाँ तथा प्रेरणाएं एवम् विशेषताएं अंतर्भूत होती हैं जिनका संबंध स्पष्टतः मनुष्यकी कृतिसे नहीं। दैवका तात्पर्य भाग्यसे भी है। मनुष्य-जीवनमें उसके जीवनकी सफलता अथवा असफलता, उसका उत्थान और पतन, उसकी उन्नति अथवा अवनति कुछ तो उसके भाग्य पर अवलंबित रहती है और कुछ उसके पुरुषार्थ पर। परंतु यदि सूक्ष्म दृष्टिसे तथा वास्तविक परिस्थितियोंका अवलोकन तथा अध्ययन किया जाय तथा संसारके इतिहासमें वर्णित उन महान् आत्माओंके चारित्रिक विकासका अध्ययन किया जाय जिन्होंने केवल अपने पुरुषार्थके बल पर, अपनी आध्यात्मिक एवं मानसिक शक्तियोंके बल पर समस्त विश्वसे दैव नामक किसी भी शक्तिका—दैव नामकी किसी भी अदृश्य समर्थताका—नाम शेष ही कर दिया, उसका विलोप ही कर दिया, तब कहना पड़ता है कि दैवकी अपेक्षा पुरुषार्थ सामर्थ्य-सम्पन्न है।

संसारमें दैव नामक किसी भी विभिन्न शक्तिका अस्तित्व है अथवा नहीं, इस सम्बन्धमें भिन्न २ विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। मानव-समुदायका अधिकांश भाग दैववादी है। सत्य तो यह है कि दैव अथवा भाग्यको ही सब कुछ मानना मनुष्यकी दैविक शक्तियोंको ही लांछित करना है। यह मनुष्यका, उसकी बौद्धिक प्रतिभा तथा मानसिक विकासका ही अपमान है। दैवनामक कार्यकी उत्पत्ति तथा उपयोग भी यदि मनुष्यकके लिए है तो यह भी स्वीकार करना होगा कि वे उसीका आधिपत्य स्वीकार करती हैं। यदि भाग्यके ही विश्वास पर रहा जाय तो विश्व यह अकर्मण्य मनुष्योंका, आलसी पुरुषोंका तथा जंगली मनुष्योंका जमघट हो जाएगा। क्यों कि दैव पर विश्वास मनुष्यकी स्वाभाविक शक्तियों तथा उसकी विकसित बुद्धि और कल्पना माधुर्यमें अविश्वास करना एवं उसे अकर्मण्यता प्रदान करना है।

मनुष्यके दैव उसके पुरुषार्थके अधीन है। दैव मनुष्यका दास है। दैवत्व मनुष्यकी चेरी है। मनुष्यका दैवत्वमें विकास होता है। शक्तिशाली मनुष्य दैवत्वके विश्वास पर बैठ अपनी शक्तियोंका लोप करनेकी मूर्खता नहीं करते। संसारमें महान्से महान् मनुष्य जो आज देवत्वकी उपाधिसे विभूषित किए गए हैं, वे मनुष्य ही थे। उन्हें भी हमारे जैसा ही हृदय था, मस्तिष्क था, राग-द्वेष थे, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि विभिन्न प्रकारके विकारोंसे वे भी परिपूर्ण थे; परन्तु उन्होंने अपने पुरुषार्थके बल पर, अपनी असाधारण लगन तथा असामान्य अध्यव्यवसायके द्वारा परिस्थितियोंको अपने अनुकूल बना लिया और देवत्वके दिव्य आसन पर आरूढ़ हो विश्व ही नहीं अखिल मानवताके लिए ग्राह्य आदर्श बन गए। वे परिस्थितियों द्वारा प्रभावित नहीं होते अपितु परिस्थितियाँ उनके अनुरूप प्रभावित होती हैं। ऐसी शक्ति है इस मानवकी, उसके पुरुषार्थकी, उसके अध्यव्यवसाय, लगन तथा जाग्रतकी। मनुष्य शक्तिशाली होकर भी अपनी शक्तियोंसे अपरिचित है, अपनेमें सामर्थ्य रखकर भी दुर्भाग्यसे आज उसे विस्मृत कर बैठा है और भाग्यके भरोसे बैठ, अकर्मण्यताका परिधान धारणकर, आलस्यको निमंत्रित कर, अपने स्वर्णतुल्य जीवनकी राखरोली कर रहा है। आज वह दैवत्वमें ही अपने समस्त कार्योंका आरोप करता है। आस्तिकताके इस विषने साम्राज्योंको खण्डहरोंमें परिणत कर दिया, प्रसादोंके प्रासाद मिट्टीमें मिला दिए, संसारसुख और आनन्द त्याग विरक्तिमय तथा जीवनशून्य जीवन व्यतीत करनेका आदेश और उपदेश दे जीवनके प्रति तिरस्कारको प्रोत्साहित किया तथा अपने विषैले प्रभावसे मनुष्यको नशेमें चूर कर उसे पतनोन्मुख बना रहा है। आज आवश्यक है कि हम अपनी सच्ची और वास्तविक शक्तियोंको पहचाननेका प्रयास करें।

अपनी शक्तिका यों ही व्यय तथा अपव्यय न करें। मनुष्यके हाथमें ही है दैवत्व उसका उसका पुरुषार्थ उसे देवत्व ही नहीं, देवत्वके देवत्वकी दिग्विजय करा सकता है—चाहिए उसमें शक्ति तथा सामर्थ्य, दृढ़ निश्चय, अडिग विश्वास, कार्य करने की असाधारण शक्ति तथा मानवताके कुछ गुण! फिर देखिए दैवत्व उसके चरणों पर सिर नवाता है अथवा नहीं। मान भी लें दैवत्व हमारीपरिस्थितियोंको अधिकाँशमें प्रभावित करता है, फिर भी उन परिस्थितियोंको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए तो पुरुषार्थ ही की आवश्यकता होगी। तात्पर्य यही है कि दैवत्व अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। वह भारतकी विधवाहिन्दू नारी है, जो पुरुषके बिना निष्प्रयोजन है तथा निरुपयोगी है। भारतकी हिन्दू नारी बड़ी पतिव्रता मानी जाती है, सतीत्वसे उसका सौभाग्य अक्षुण्ण माना जाता है, वह पूज्यताकी देवी मानी गई है, वह पापके पास भी नहीं फटकती; परन्तु एक पुरुषके बिना उसी अद्वितीय नारीके समस्त गुणोंका विलोप होजाता है और उतने ही दोष भी आजाते हैं। बिना एक पुरुषके—उसके रक्षकके वह मूल्य-शून्य तिरस्कृत तथा भारस्वरूप हो उठती है। उसका अस्तित्व भी समाजको—कुटुम्बको घातक, उसके सम्मानको संदिग्धावस्थामें रखता है। यही अवस्था दैवत्वकी है, उसका भी पुरुषार्थके बिना विधवातुल्य कोई मूल्य नहीं, कोई कीमत नहीं। पुरुषार्थ मानों दैवत्वका रक्षक है। पुरुषार्थ दैवत्वकी वाटिकाका माली तथा कर्ता धर्ता है, जो उसके सम्मान तथा उसके सौंदर्यकी रक्षा कर उसकी सुषमावृद्धि करता है। हमें हमारे पुरुषार्थ ही पर विश्वास रखना चाहिए। केवल दैवके भरोसे बैठ हम अपनी शक्ति और सामर्थ्यको खो देंगे, हमारा जीवनरस सूख जाएगा, जीवन आनन्दरहित हो जायगा। उसका अंत भी असंभव नहीं। क्यों कि सब कुछ दैवत्वकी देन होनेसे तो हमें कार्य करने के लिए कुछ भी शेष न रहेगा। और, हम विश्वके अद्भुतालयमें रखे हुए एक दर्शनीय अद्भुत जन्तुसे अधिक कुछ भी न रहजाएंगे। वहीं यदि हम अपने पुरुषार्थको पहचान लेंगे, उसकी अपरिमित शक्तियोंको जान लेंगे, उसके विस्तृत प्रभाव तथा उसके असाधारण महत्वको शिरोधार्य कर लेंगे तो हमारे जीवन-कोयलकी कूक, उसका पंचम स्वर सुधारस की वृष्टि करती दृष्टिगोचर होगी। संसारका गंभीर गर्जन हमें भी गर्जनके लिए उत्साहित करेगा। हिमालयसे पर्वतों को लांघना तथा सिंधुनदी को पार करना हमारे लिए नगण्यकार्य रह जाएँगे। विश्वमें सब स्थानोंमें हमें एक अद्वितीय आनन्द, उत्साह, उमंग, आशाका अविरल स्रोतसा प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होगा, जिसमें डुबकियाँ लगा हम हमारे जीवनके कलुष, उसकी निराशा, वेदना, व्यथा, विरक्ति का परिहार कर इसी लोकमें स्वर्गीय लोककी अनुभूति प्राप्त कर जीवनका सात्विक आनन्द पासकेंगे।

इतिहासके स्वर्णाक्षरोंके पृष्ठ हमें मनुष्यकी दैवत्व पर विजय पद २ पर दिखलाते हैं। भगवान गौतमबुद्ध अपनी कठिन तपस्या तथा साधनाके कारण देवत्वको प्राप्त हो चुके थे। नारायण वासुदेव, राम और कृष्ण, महावीर स्वामी तथा भगवान् पार्श्वनाथ आदि भी मनुष्यकी योनिमें ही उत्पन्न हुए थे। लेकिन महान् आत्माएँ समयकी राह कभी नहीं देखतीं। शुभ कार्योंके लिए तथा महान् मनुष्यों के लिए, जो अपने विचारों पर कटिबद्ध हैं, जिन्हें अपनी शक्ति, योग्यता और दृढ़ता पर विश्वास है, जो अपने लक्ष्य के लिए जीवनका मूल्य भी नगण्य समझते हैं, भाग्य, दैव और ईश्वरकी समस्त शक्तियां उनके सम्मुख नतमस्तक हो जाती हैं। उनके लिए सदा सर्वदा शुभ ही शुभ है।

वे पराजयका तथा असफलताका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं करते। क्यों कि असफलता तो हमारे विचारों की शिथिलताका प्रदर्शनमात्र है। दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्योंको असफलताका कभी मुंह भी नहीं देखना पड़ता। और पराजय क्या है? पराजय सदैव अंतस्थ होती है, वह अबाह्य वस्तु है, बाह्य नहीं। हम कभी किसीसे पराजित नहीं होते, पराजित हम स्वयं अपनेसे ही होते हैं। पराजय हमारी अपनी हारका चिन्ह है, और हार हमारी शिथिलता, विचारोंकी अदृढ़ता तथा अकटिबद्धताका ज्वलंत प्रमाण है। इस लिए पुरुषार्थी मनुष्य पराजय और असफलताका विचार भी नहीं करते, वे किसी भी कार्यका प्रारम्भ उसकी सफलताको दैवके विश्वास पर रखकर नहीं करते; क्यों कि वे समझते हैं सफलता दैवत्व नहीं देगा, वह उन्हींका पुरुषार्थ और अध्यव्यवसाय है जो उन्हें सफलता और विजयके गौरवमय प्रदेशमें अधिष्ठापित करेगा।

तात्पर्य यह कि, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं,

कवल दैव निष्प्रयजनीय है, अर्थात् बिना एक दूसरेके वे पंगु ही रहते है; अत: यह स्पष्ट है कि मानवी जीवनमें दोनों ही की नितान्त आवश्यकता है, फिर भी उन्हें किस समय किस रूपमें स्वीकार करें, यही न समझनेके कारण संसारमें मतविभिन्नता चली आरही है। इसी लिए, ईसाकी प्रथम शताब्दीके प्रकाण्ड दार्शनिक स्याद्वादी आचार्य-पुंगव समन्तभद्र स्वामीने अपने सारभूत शब्दोंमें उनका महत्व, स्थान और आदर्श उपस्थित कर हमें भ्रममुक्त करनेका प्रयास किया है। जब हम उनके इन शब्दोंको अपने जीवन में उतारेंगे तभी हमारे वादविवाद और झगड़े विलीन होंगे—"[1]कोई भी इष्टानिष्ट कार्य यदि अबुद्धिपूर्व अथवा श्रम-रहित सिद्ध होता है तो उसे दैव-प्रधान मानना चाहिए और वैसा ही कोई कार्य यदि बुद्धि-पूर्वक सम्पन्न होता है तो उसे पुरुषार्थ-प्रधान मानना चाहिए।"

[1]स्वामी समन्तभद्रका देवागम-गत यह मूल वाक्य इस प्रकार है:—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टाऽनिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टाऽनिष्टं स्वपौरुषात्॥

सत्ताका अहङ्कार

(लेo—श्री पंo चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ)

तेरा आकार बना कैसे सागर! बतला इतना विशाल?

है बिन्दु-बिन्दुमें अन्तर्हित,
तेरा गाम्भीर्य अपार अतल।
इनकी समष्टि यदि बिखरे तो,
दीखे न कहीं वसुधामें जल॥
तेरा स्वरूप तब हो विलुप्त जो आज बना इतना कराल!

तेरी सत्ताका क्या स्वरूप,
इन बिन्दु-बिन्दुसे है विभिन्न?
तुम हो अज्ञात अपरिचितसे,
इस दिव्य तथ्यसे अहंमन्य॥
है श्रेय बता किनको उनका जो कुछ भी हैं तेरे कमाल?

एकेक बिन्दुने आ आकर,
तेरा आकार बनाया है।
अपने तनको तुझको देकर,
तेरा गाम्भीर्य बढ़ाया है॥
ये जीवन-तत्व तुम्हारे हैं, ज्यों पट जीवन है तन्तु जाल।

जिनसे इतना वैभव पाया,
उनको मत फेंको हो प्रमत्त।
तुम इनसे बने न ये तुमसे,
इनको क्या है? तेरा प्रदत्त॥
सब हँसते हैं ये देख देख, उपहासजनक तेरी उछाल!

इनके विनाशमें नाश, और—
इन के संरक्षण में रक्षा।
तेरी है सागर — निराबाध,
यह जीवन-रक्षणकी शिक्षा॥
तू मान, निरापद है यह पथ होगा, इससे तू ही निहाल!

समन्तभद्र की अर्हद्भक्ति

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

भगवान् महावीरके बाद जैनशासनके प्रभावक एवं प्रसारक आचार्योंमें स्वामी समन्तभद्रका एक खास स्थान है। उनके वचनोंको वीरभगवानके वचनों जैसा प्रकट किया गया है[1] और उन्हें वीरभगवानके शासनकी हजार गुणी वृद्धि करने वाला कहा गया है[2]। महान् जैन तार्किक अकलंकदेव उन्हें कलिकालमें सर्व-पदार्थ-विषयक स्याद्वाद रूप कल्याणकारी महासमुद्रके तीर्थका प्रभावक कहते हुए गौरव एवं गर्वका अनुभव करते हैं और उनके प्रति श्रद्धासे प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हैं।[3] इस तरह स्वामी समन्तभद्रको जो गौरव प्रतिष्ठा प्राप्त है वह अवर्णनीय है। उन जैसा गौरव और प्रतिष्ठा उनके उत्तरवर्ती अन्य किसी आचार्यको प्रायः प्राप्त नहीं है।

आ० समन्तभद्र परीक्षा-प्रधानी और तार्किक तो थे ही, पर वे सच्चे और महान् अर्हद्भक्त भी थे। अर्हद्भक्ति उनकी नस नसमें समाई हुई थी। यही कारण है कि उन्होंने प्रायः तमाम ही कृतियाँ अर्हन्तके स्तवनमें रची हैं और अपनेको 'सुस्तुत्यां व्यसनं' जैसे शब्दों द्वारा उत्तम-उत्तम स्तुतियोंके रचनेका व्यसनी प्रकट किया है। साथमें उन सभी स्तुतियोंमें तार्किकताका पुट देते हुये जैनसिद्धान्तके तत्वोंका बहुत ही सुन्दर मार्मिक निरूपण किया है।

हमारे कितने ही भाई स्वामी समन्तभद्रको अधिकांशरूपमें एक परीक्षा-प्रधानी महान् तार्किक ही जानते हैं, उन्हें अर्हद्भक्तके रूपमें कम पहचानते हैं। इसका कारण शायद यह है कि वे उनके पूरे साहित्यसे परिचित नहीं हैं। समन्तभद्रके उपलब्ध साहित्यमें स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन और जिनस्तुतिशतक (स्तुतिविद्या) ये तीन ग्रन्थ तो ऐसे हैं, कि जिनका प्रचार और प्रसार (पठन-पाठन, स्वाध्यायादि) बहुत ही कम होनेसे वे परिचयमें नही के बराबर आ रहे हैं। वस्तुतः इन्हींमें समन्तभद्रकी स्तुति-विद्याके पूरे दर्शन होते हैं। शेषके दो ग्रन्थ देवागम और रत्नकरण्डश्रावकाचार ऐसे हैं जिनसे क्रमशः परीक्षाप्रधानता अथवा वस्तुनिरूपणकी दिशा और आचार-मार्ग का परिचय ही प्राप्त होता है। समन्तभद्र कितने और कैसे ऊँचे दरजेके अर्हद्भक्त थे, इस बातका यथेष्ट स्पष्ट पता इन दो ग्रंथोंसे प्रायःनहीं चलता और यही वजह है कि आजकलके हमारे कितने ही बंधु समन्तभद्रकी परीक्षा प्रधानताकी ओर ही लक्ष्य देते हैं और उसके सहारे भक्ति, स्तुति, पूजन आदिको अनावश्यक और अनुपयोगी कहकर उनकी ओर उपेक्षाभाव रखते हुए नज़र आते हैं। इसमें एक प्रकारसे उनका दोष भी नहीं है। समन्तभद्रके 'स्तुतिविद्या' एवं अर्हद्भक्तिसे पूर्णफलबालब भरे हुए—उपर्युक्त ग्रन्थ यदि सुन्दर सम्पादन और तलस्पर्शी अनुवादादिके साथ उन्हें स्वाध्यायके लिये मिलते तो वे समन्तभद्रके ग्रन्थोंपर से ही अर्हद्भक्ति, स्तुति तथा पूजादिकी उपयोगिता, आवश्यकता एवं महत्ताको अच्छी तरह हृदयंगम कर सकते और साथ ही परीक्षा-प्रधानी रहते हुए समन्तभद्रकी ही तरह अर्हद्भक्ति, स्तुति आदिके योग्य व्यसनी बन जाते।

अकलङ्कदेवने आप्तकी परीक्षा करनेमें उद्यत परीक्षकके लिये श्रद्धा और गुणज्ञता इन दो गुणोंसे युक्त

---

१ 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते' (जिनसेनाचार्य)

२ देखो, बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नं० १७, जो शक सं० १०५९ में उत्कीर्ण किया गया है (E. C. V) तथा 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० ४६

३ तीर्थं सर्वपदार्थ तत्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेः,
भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं। (अष्टशती)

होना आवश्यक एवं अनिवार्य बतलाया है[1]। यदि आप्त-विषयक श्रद्धा न हो तो परीक्षा नहीं बन सकती, इसी तरह यदि गुणज्ञताने हो तो भी परीक्षा नहीं बन सकती। अतः आप्त-परीक्षकको गुणज्ञत न साथ श्रद्धालु होना परम आवश्यक है। समन्तभद्र जैसे परीक्षक थे, वैसे ही वे श्रद्धालु-अर्हद्भक्त और गुणज्ञ भी थे। उन की वह अर्हद्भक्ति कैसी और कितनी उच्च तथा प्रशस्त थी इसका कुछ आभास कराना ही मेरे आजके इस लेखका विषय है।

यह बात मैं पहिले बता आया हूँ कि समन्तभद्रने स्वयम्भू स्तोत्र, जिन शतक और युक्त्यनुशासन ये तीन अन्य अर्हन्तकी स्तुतिमें ही रचे हैं। आप्तमीमांसामें अन्य-योग व्यवच्छेदपूर्वक अर्हन्त जिनको सर्वज्ञ सिद्ध किया है और जिनशासनका तात्त्विक निरूपण किया है। इसीसे आप्तमीमांसा (देवागम) भी समन्तभद्रका एक प्रकारसे स्तुतिग्रन्थ कहा जाता है[2]। परन्तु इतना जरूर है कि समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनके आदिम पद्यमें 'अद्य' पदका प्रयोग करके—जिसका आ० विद्यानन्दने 'परीक्षावसानसमये' अर्थ किया है—आप्तमीमांसाको 'परीक्षाग्रन्थ' प्रकट किया है और उसके अनन्तर रचे गये 'युक्त्यनुशासन' को स्तुति ग्रन्थ स्वीकृत किया है।[3] अस्तु।

इन स्तुति ग्रन्थोंमें से स्वयम्भू स्तोत्रमें ऋषभ आदि वर्तमान चौवीस तीर्थंकरोंका स्तवन किया गया है। प्रचलित कथासे यह तो विदित ही है कि जिस समय समन्तभद्रको भस्मक रोग होगया था और वे गुरुके आदेशको पाकर रोगोपशमनके निमित्त अन्यवेष धारण करके विहार करते हुए काशी पहुँचे थे, वहाँ राजा शिवकोटिके यहाँ शिवायतनमें रहकर उन्होंने शिव-नैवेद्यसे अपने रोगको शान्त किया था। राजा शैव था, उसे किसी तरह समन्तभद्रके जैन होनेका पता चल गया था और इस लिए उसने समन्तभद्रसे शिवकी मूर्तिको नमस्कार करनेके लिए आग्रह किया था। उस समय समन्तभद्र चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हुए जब आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुए थे और गद्गद होकर भक्तिमें लीन होगए थे तब शिवकी मूर्तिमेंसे चन्द्रप्रभकी मूर्ति प्रकट हुई थी, उसे ही उन्होंने नमस्कार किया था। इस कथापरसे, अन्य बातोंको छोड़कर, इतना तो जरूर प्रतीत होता है कि समन्तभद्र अर्हन्तके ही परमभक्त और उपासक थे—अन्य देवके नहीं।[1]

शंभव जिनकी स्तुति करते हुए समन्तभद्र अपने को 'अज्ञ' औ 'स्तुतिमें असमर्थ' प्रकट करते हुये कहते हैं—

शक्रोप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देया शिवतातिमुच्चैः ॥

हे आर्य संभव जिन! महान शक्तिका धारक इन्द्र भी आपकी स्तुति करनेमें असमर्थ है तो हम जैसे अल्पज्ञ और अल्पसामर्थ्यवान् प्राणी आपकी स्तुति कैसेकर सकते हैं? फिर भी मेरी अनन्य भक्ति आपमें ही है इसीसे आपके चरणकमलोंकी स्तुति करता हूँ, मुझमें कल्याण-परम्पराके प्राप्त करने की सामर्थ्य पैदा हो।'

पद्मप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए भी वे इसी बातको कहते हैं:—

गुणाम्बुधे र्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्ति र्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥

हे पद्मप्रभ जिन! आप गुणोंके समुद्र हैं, आपके गुणलेशको इन्द्र पहले ही स्तुत करनेमें समर्थ नहीं

---

१ देवागमेत्यादि······परीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञता-लक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः।
—अष्टशती पृ० २

२ 'कृत्वा विवियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः'
—अष्टशती

३ कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं।
निनीषवःस्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं ॥
—युक्त्यनुशासन का० १

१ इसीसे वे स्वयं कहते हैं:—
भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार

हुआ है तो फिर मेरे जैसा असमर्थ कैसे समर्थ हो सकता है ? यह आपकी अनुपम भक्ति ही है जो मुझ बालक को स्तुति करनेके लिये प्रेरित कर रही है।

आगे चलकर भगवान् अरकी स्तुति करते हुये कहते हैं :—

गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥
तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥

'हे मुनीन्द्र ? थोड़ेसे गुणोंको बढ़ा चढ़ाकर बहुत प्रकट करने को स्तुति कहते हैं। आपके तो अनन्त गुण हैं, उनको बढ़ाकर प्रकट करना अशक्य है—संभव नहीं है—तब आपकी वह—उक्तलक्षण स्तुति कैसे बन सकती है ? तथापि हे पुण्यकीर्ते ? आपका पुण्य नामोच्चारण भी हमें पवित्र करता है। अतः मैं कुछ कहता हूँ।'

नमिनाथ भगवान्की स्तुतिमें तो स्तुतिको स्वाधीन रूपसे मोक्षका सुलभ पथ बतलाते हुये कहते हैं—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभि(पि) पूज्यं नमिजिनम् ॥

'हे नमि जिन ! स्तुत्य—स्तुति किया जाने वाला—स्तोताके सामने विद्यमान हो चाहे न हो और उससे अपनी स्तुतिका फल भी प्राप्त हो, चाहे न हो। पर यह अवश्य है कि साधु स्तोताकी स्तुति शुभपरिणामों की उत्पादक होती है और वह शुभ परिणाम श्रेयके—कल्याणके—कारण होते हैं। इस प्रकार जब जगतमें स्वाधीनतासे श्रायसपथ—कल्याणमार्ग—सुलभ है—आपकी स्तुतिके द्वारा ही वह प्राप्त किया जा सकता है तो कौन बुद्धिमान् व्यक्ति है जो आपकी स्तुति नहीं करेगा ? अर्थात् करेगा ही।'

इस तरह समन्तभद्रकी उपर्युक्त स्तुतियोंके थोड़े से नमूने इस बातको पुष्ट और सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त एवं पुष्कल प्रमाण हैं कि समन्तभद्र एक सच्चे और महान् अर्हद्भक्त थे। तभी वे अर्हन्तके गुणोंका हार्दिक गान करनेमें प्रवृत्त हुए। और यही वजह है कि उनके बादके आचार्योंने उन्हें 'स्तुतिकार' और 'आद्य-स्तुतिकार' के रूपमें स्मरण किया है।[1]

समन्तभद्रमें अर्हद्भक्ति इतने उत्कट रूपमें थी, कि उन्होंने अपने आपको उसीमें उत्सर्ग कर दिया था और वे यह अनुभव करने लगे थे कि मैं बहुत तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान् हूँ। इसीसे वे अपनी रचना 'जिनस्तुतिशतक'[2] के अन्तमें लिखते हैं :—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते(क्षो) ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते,
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ।

'हे जिन ! आपके मतमें—शासनमें—मेरी सुश्रद्धा है—सम्यक्श्रद्धा है, अन्धश्रद्धा या अन्धभक्ति नहीं है। स्मरण भी मैं आपका ही करता हूँ। मैं अर्चन-पूजन भी आपका ही किया करता हूँ। मेरे दोनों हाथ भी आपको ही जुड़े रहते हैं। मेरे श्रोत्र आपकी ही कथा सुनने में लगे रहते है—मैं किसी भी प्रकारकी विकथाओंमें उन्हें नहीं लगाता। मेरी दोनों चक्षुयें भी आपके ही रूपाविलोकनमें लीन रहती हैं—कुत्सित अन्य तमाम रूपोंके देखनेमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। मुझे व्यसन भी आपकी उत्तम उत्तम स्तुतियोंके रचने का है—और अन्य प्रकारका कोई व्यसन नहीं है। मेरा मस्तक भी आपको ही नमस्कार करनेमें उद्यत रहता है—अन्य किसीको भी नहीं।[2] चूंकि इस प्रकार की मेरी सेवा है—आपके प्रति मेरी अगाधभक्ति है। इसीसे हे तेजःपते ! मैं अपनेको तेजस्वी, सुजन और पुण्यशाली अनुभव करता हूँ।

पाठक, देखा, समन्तभद्रने स्वयं अपनी अर्हद्भक्ति को कैसे सच्चे एवं उच्च उद्गारों द्वारा प्रकट किया है। जिससे यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वे पूरे

१ स्तुतिकारोप्याह (हेमचन्द्राचार्य)। आद्यस्तुतिकारोऽप्याह (आ० मलयगिरि)

२ इसीसे आप कहते हैं:-'-अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' —रत्नकरण्ड श्रा० ४८

अर्हद्भक्तथे—बनावटी या अधूरे नहीं। उनके अर्हत्सेवा का ही एकमात्र व्रत था और उसके द्वारा वे स्वयं अर्हन्त बननेकी पूरी कामना और भावना रखते थे। साथमें वे वैसा आचरण भी करते थे और इसीसे वे यह कहते हैं कि 'जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम्' हे अजित जिन! अर्हन्तपद मुझे प्राप्त हो। मैं तो समझता हूँ कि समन्तभद्रको जो गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है उसमें उनकी असाधारण अर्हद्भक्ति भी एक खास कारण है। निःसन्देह उनकी यह विवेकवती भक्ति और श्रद्धा उनके अचिन्त्य प्रभावकी द्योतक है।

इसी 'जिनस्तुतिशतक' में अर्हद्भक्तिका माहात्म्य प्रकट करते हुए वे दूसरोंको भी अर्हद्भक्त बनने और उसके फलको प्राप्त करनेकी सूचना करते हैं :—

> रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।
> वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

'हे नाथ! आपकी भक्ति करने वाला मनुष्य उत्कृष्ट कान्तिको—आत्मप्रकाशको—धारण करता है और अत्यन्त स्पष्ट निर्मल ज्ञानको पाता है तथा उसके वचन यथार्थताको लिए हुए गंभीर एवं दिव्य होजाते हैं। जिस प्रकार कि लोहा पारस मणिके स्पर्शसे सोना होजाता है और उसमें कान्ति आजाती है तथा बहुमूल्यसारभूत पदार्थ समझा जाने लगता है।

अर्हद्भक्तिका यह कितना उच्च फल तथा माहात्म्य बतलाया है और लोगोंके लिये उसकी कितनी उपयोगिता तथा आवश्यकता प्रकट की गई है।

यद्यपि अरहन्त भगवान भक्तकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उसे कुछ देते नहीं हैं और अभक्त-निन्दककी निन्दासे अप्रसन्न होकर उसका कुछ बिगाड़ नहीं करते हैं; क्योंकि वे वीतराग हैं और वीतवैर हैं—राग और द्वेष दोनोंको ही उन्होंने जीत लिया है। इसलिये उन में राग-द्वेष-जन्य प्रसन्नता और अप्रसन्नता संभव नहीं है तथापि उनका पुण्यस्मरण स्तोताके शुभ परिणामों में निमित्त होता है और उन शुभ परिणामोंसे उसका पापमैल जरूर ही दूर होजाता है इस बातको भी स्वामी समन्तभद्रने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है—

> न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
> तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

समन्तभद्रसे जब यह पूछा गया कि पूज्य-अर्हन्तकी पूजाके लिये भक्त-पूजकको आरंभ करना पड़ेगा और उससे कुछ न कुछ हिंसादि सावद्यलेश-पाप जरूर होगा तब उनकी पूजासे पापका दूर होना तो दूर रहा, पापका बंध ही ठहरेगा, ऐसी हालतमें अर्हत्पूजा न करना ही अच्छा है? समन्तभद्र इस प्रश्न का कितना सुन्दर समाधान करते हुये कहते हैं :—

> पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
> दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ।

हे जिन! आपकी पूजा करनेवाले भक्तजनोंको यद्यपि आरंभजन्य सावद्यलेश—कुछ पाप जरूर होता है पर वह पाप इतना थोड़ा है और पूजासे होनेवाली पुण्यराशि इतनी विशाल है कि उसके सामने वह थोड़ा सा पाप कुछ भी दोष-बिगाड़ पैदा नहीं करता। जिस प्रकार कि थोड़ी सी विषकी कणी कल्याणकारी शीतजलसे भरे हुये अथाह समुद्रमें डाल दी जाये तो वह समुद्रको विषमय नहीं बनाती। अतः यह समझ कर कि 'अर्हत्पूजासे सावद्यलेश होता है, इसलिये पूजा, स्तुति आदि नहीं करना चाहिये', ठीक नहीं है। अर्हत्पूजासे शुभ परिणाम होकर जो महान् पुण्य-संचय होता है वह उस थोड़ेसे पापको तो दूर कर ही देता है, साथमें भक्तकी कामनाओं और भावनाओं को भी पूरी करता है और उसे अर्हन्त जैसे पदका अधिकारी बना देता है; क्योंकि "यो यद्गुणलब्ध्यर्थी स तं वंदमानो दृष्टः"—गुणार्थी ही गुणीकी वंदना पूजा-स्तुति-स्मरण करता हुआ देखा गया है। और इस लिए एक-न-एक दिन वे गुण उसको अवश्य प्राप्त होजाते हैं जिनके लिये वह सच्चे हृदयसे सतत् स्तवनादि करता है। और इस कथनसे यह भी स्पष्ट होजाता है कि स्तुतिकी तरह पूज्यकी पूजा भी आत्म-हितके लिये—श्रेयोमार्गको प्राप्त करनेके लिये—एक बड़ा सबल निमित्त है और वह स्तुतिका ही एक प्रकार है अथवा भक्तिका ही एक मार्ग है।

इस तरह आ० समन्तभद्रके उल्लिखित स्तुति ग्रंथोंके गहरे अध्ययनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट होजाती है कि वे (समन्तभद्र) जैसे तार्किक एवं परीक्षा प्रधानी थे, वैसे ही वे पूरे अर्हद्भक्त भी थे। और उनकी यह अर्हद्भक्ति 'सुश्रद्धा'—सम्यक् श्रद्धा थी–अन्धभक्ति या अन्धश्रद्धा नहीं। मुख्तार श्री० पं० जुगलकिशोरजी सा० ने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' में बिल्कुल ठीक ही कहा है कि "वास्तवमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे।" निःसंदेह स्वामी समन्तभद्रकी कृतियां उन्हें त्रियोग अथवा त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र) की मूर्ति सिद्ध करती हैं।

मैं समझता हूँ समन्तभद्रकी अर्हद्भक्तिका थोड़ा सा परिचय पाठकोंको उपरोक्त पंक्तियोंसे जरूर होसकेगा। अन्तमें मैं उन जैसी अर्हद्भक्तिकी हम सबको प्राप्ति होने की कामना और भावना करता हूँ।

वाह रे, मनुष्य····!

(ले०—महावीरप्रसाद जैन बी० ए०)

सड़ककी धूलमें पड़ा उसका अर्ध-मृतक शरीर पीड़ासे एक बार फिर हिल उठा, और एक हल्की सी "भूँ" उसके फटे हुए जबड़ोंसे अनायास ही निकल पड़ी! "क्या मेरे उपकारोंका यही बदला है?··· सारी २ रात जाग कर मुहल्ले भरकी चौकीदारी····! उसदिन जान जोखिममें डाल कर सावनकी वर्षासे भीगी हुई काली रातमें इतने चोरोंसे अकेले मुकाबला····! और यह सब कुछ बस केवल चन्द झूठे, थालीमें खाकर छोड़े हुए टुकड़ोंके बदले!!

अपनी गीली कातर आंखोंको मेरे चेहरे पर जमा कर मानों वह पूछने लगा—'क्या मनुष्य उपकारका बदला यूं ही दिया करते हैं?"

उस कुत्तेकी छटपटाती देहको देख कर मैं सोचने लगा—जिस रोटीमें ज़हर मिला कर इसके सामने फेंका गया होगा उसको कितनी प्रसन्नतासे लपक कर ऊपरसे ऊपर ही उचक लेनेकी चेष्टाकी होगी इसने! फिर उस मृत्यु-ग्रासको हलकसे नीचे उतार यह उत्कण्ठा-पूर्वक दातार के सामने खड़ा हो कृतज्ञतासे पूंछ हिलाने लगा होगा!···· और दातार? उसके मुँह पर एक पैशाचिक मुस्कुराहट खेल गई होगी···"जा-मर साले-सारी रात भूँकता था!" यह उसने ऐसे भावसे कहा होगा जैसे उसने हिटलरका सिर काट लिया हो!

सचमुच मनुष्यता और पशुता उस समय अपने विपरीत चोलोंमें दिखाई पड़ रही होंगी!!

सम्वाददाताओंसे क्षमा

'अनेकान्त' में छपनेके लिये बहुतसे ऐसे साधारण समाचार भेज देते हैं, जो साप्ताहिक पत्रोंके योग्य होते हैं, मासिक पत्रमें और खासकर ऐसे साहित्यिक पत्रके लिये उनकी कोई उपयोगिता नहीं होती। अतः ऐसे समाचारोंके लिये हम क्षमा चाहते हैं।

गवालियरमें जैनशासन

(संकलनकर्त्ता—श्री० प्रभुलाल जैन 'प्रेमी')

गवालियरका किला भारतवर्षके अति प्रसिद्ध प्राचीन दुर्गोंमेंसे है। ऊंची पहाड़ीपर बनाये जानेके कारण इसकी स्थिति बड़े ऐतिहासिक महत्वकी है। दक्षिण-पथपर स्थित होनेके कारण यह दक्षिण भारतका द्वार कहा जाता है। पुरातन कालसे ही दक्षिणके लिये गवालियर होकर ही जाना पड़ता है। मुसलमान इतिहासकारोंने इसे भारतके किलोंके हारका मोती कहा है। यह दुर्ग यथार्थमें ही इस कथनकी एक जीती जागती प्रतिमा है। पहिले इसे गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल, गोहलगढ़ तथा गवालियार कहते आये हैं। ये ही नाम पुरानी कृतियों तथा शिलालेखोंमें पाये जाते हैं। यद्यपि भारतकी चार बड़ी देशी रियासतोंमें इसका चतुर्थ नम्बर है, पर सैन्यशक्तिमें यह अपनी सानी नहीं रखता है।

इस दुर्गके निर्माणके विषयमें अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। उनमेंसे सर्वाधिक विश्वसनीय किम्वदन्ती महाराज सूर्यसेन वाली घटना है। कहा जाता है कि किले वाली पहाड़ीपर एक समय गालव ऋषि तपस्या करते थे। ऋषिकी तपस्थलीके पास ही शीतल और मीठे जलका एक सोता था। इसका जल बड़ा स्वास्थ्य-प्रद था। कुष्ट रोगसे पीड़ित राजा सूर्यसेन आखेट खेलते हुए एक दिन उधर जा निकले। महर्षिने उसका कुष्ठ जलाशयके साधारण जल के उपयोगसे ही ठीक कर दिया। दयालु ऋषिने राजाको आशीर्वाद देकर जलके सोतेको चौड़ा करने तथा उस पहाड़ीपर एक विशाल दुर्ग बनानेको कहा। धनाभावकी समस्याको हल करनेके निमित्त राजाको एक सुवर्ण थैली भी प्रदान की और ऋषि अन्तर्द्धान हो गये। राजाने ऋषि की आज्ञाका पालन किया। सोतेको जलाशयमें परिणतकर दिया, जो सूर्यकुंड कहलाने लगा और गढ़का नाम "गोपाद्रि" रखा गया। ईसाकी तीसरी शताब्दीमें इस किले की नीव पड़ी थी।

किलेमें सर्वप्रथम प्राचीन शिलालेख सूरजकुण्डके पूर्वी किनारेपर स्थित सूर्यमन्दिरमें मिलता है। इस मन्दिरको मिहिरकुल हूणने छठी शताब्दीके आरम्भमें बनवाया था। दूसरा महत्वपूर्ण लेख चतुर्भुज मन्दिरमें है; इसका निर्माण-काल सम्वत् ६३२ है, और इसको कनौज नरेश भुजदेव परिहारने बनवाया था। दशवीं शताब्दीमें इस दुर्गको कछवाहोंने जीत लिया। उनको परिहारोंने हराकर ग्यारहवीं शताब्दीमें अपना आधिपत्य इस किलेपर जमा लिया। सन् ११९६ में कुतुबुद्दीनने परिहारोंको हराकर गवालियरको दिल्ली-राज्यमें मिला लिया। सन् १२३२ ईसवी में अल्तमश बड़ी विशाल सेना एकत्रितकर फिर गवालियर पर चढ़ आया। राजा सारंगदेवने यथाशक्ति इस अपार सेनाका सामना किया, पर अन्तमें उसे नीचा देखना पड़ा। किलेकी स्त्रियाँ "जौहर" करके जल मरीं। इस भयानक जौहरका स्मृतिस्वरूप जौहर-तालाब अब तक किलेमें विद्यमान है।

सन् १३९८ ई० तक यह दुर्ग तुर्क बादशाहोंके हाथमें रहा। उनके शासनके समयमें यह अपनी ऐसी दृढ़ स्थितिके कारण राजकीय बन्दी-गृह था। इसमेंसे भाग निकलना असम्भव था। किला चारों ओरसे पूर्ण सुरक्षित था। बहुत से सच्चे सीधे और भोले-भाले राजकुमारोंको इसका पानी पीना पड़ा, और अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ गिननी पड़ीं। तैमूरके आक्रमणने भारतके इतिहासका परदा ही बदल दिया। देशमें अनेक छोटे २ राज्य स्थापित होगये। वीरसिंहदेवने गवालियरपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस वंशमें डूंगरसिंह बहुत प्रसिद्ध राजा हुए। वे सैन्य-संचालनमें अद्वितीय समझे जाते थे। उन्होंने भुजाओंके बलसे ही नरवर जीत लिया और दूर तक अपने राज्यका विस्तार किया। डूंगरसिंह जैन थे। किलेमें प्राप्त जैन मूर्तियां उन्हींके समयकी हैं। अनेक प्रकारकी छोटी बड़ी मूर्तियां पहाड़ीमें बनी हुई हैं। मुसलमान बादशाहोंने मूर्तियोंका विध्वंस करके प्राचीन भारतीय कलाको घोर धक्का पहुँचाया है। इन पहाड़ोंमेंकी सुन्दर, सुडौल तथा विशाल मूर्तियाँ प्राचीन कालकी श्रेष्ठता तथा राजाओंके ललित-कलाओंके

प्रति प्रेमकी परिचायक हैं। भगवान पार्श्वनाथकी एक मूर्ति तो ५७ फीट ऊँची है, उसका भी मुखाग्र भाग खंडित हो जानेसे उसकी सुन्दरता कम होगई है।

प्रतिवर्ष जैनियोंका किलेमें एक मेला होता है। सम्पूर्ण भारतके जैनी उस समय यहाँ एकत्रित होते हैं। कुछ भव्य मूर्त्तियोंको सुधरवा लिया है। सबसे बड़ी मूर्त्तिका भी मुखाग्र भाग ठीक कर लिया गया है। परन्तु आजकलके कलाकार उसे उतना भव्य और स्वाभाविक बनानेमें सफल नहीं हुए, जितने कि हमारे पूर्वज थे। नये पुरानेपनका अन्तर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होजाता है। मूर्त्तियोंके कारण गवालियर किलेका गौरव अधिक बढ़ गया है। गवालियरका किला जैनियोंका तीर्थ स्थान बन गया है, अन्य धर्मावलम्बियोंके लिए भी ये मूर्तियां दर्शनीय हैं। वे ललित-कलाओंमें अपने पूर्वजोंके हस्तकला-कौशल तथा उनकी पहुँच और औजारोंके उचित प्रयोगकी सफलता प्रदर्शित करती हैं।

डूंगरसिंहके अवशेष कार्यको उनके प्रतापशाली पुत्र कर्णसिंहने पूरा किया। राजा कर्णसिंह भी पिताके समान तेजस्वी योद्धा निकले। उनके समयमें गवालियरकी धाक चित्तौड़के समान जम गई थी। किंकर्त्तव्य विमूढ़ दिल्ली-नरेशोंको गवालियर-नरेशका कृपाभिलाषी बनना पड़ा था।

महाराज मानसिंह इस वंशमें सबसे प्रसिद्ध राजा हुए हैं। आप बड़े न्याय-प्रिय तथा उदार थे। वीरता, बल, वैभवमें आप अद्वितीय थे। इन्होंने अपनी रानी मृगनयनाके लिए जो महल बनवाया था वह अब भी गूजरी महलके नामसे प्रसिद्ध है। यह महल बड़ा सुन्दर है। इसमें भीतर जानेका केवल एक ही मार्ग है। दरवाजेके ऊपर छज्जेपर एक भीमकाय हाथीकी प्रतिमा रक्खी है! भीतर एक बड़ा सुन्दर आँगन है। आजकल इसमें गवालियर-पुरातत्व-विभागका प्रदर्शिनी-भवन है।

महाराज मानसिंहकी दूसरी प्रसिद्ध रचना मान-मन्दिर है। यह ठेठ गवालियर दरवाजेके ऊपर है। इसकी भव्यता और विशालताका आभास दूरसे ही होने लगता है। इसकी बाहरी दीवार १०० फीट ऊंची और ३०० फीट लम्बी है। उसपर अति सुन्दर विभिन्न रंग मिश्रित बेलबूटे खिंचे हुए हैं। इस महलमें तीन खन हैं। दो खन पृथ्वीके अन्दर हैं। सबसे नीचेके खनमें एक जलाशय है। अन्य दर्शनीय वस्तुओंमें पूजा-गृह और उसकी छोटी २ जालियाँ, आँगन अन्तपुर आदि हैं। कहते हैं महलमेंसे दिल्ली, आगरा, नरवर आदि जानेकी सुरंगें हैं।

सन् १५२६ में हुमायूँने गवालियरको जीतकर मुग़ल राज्यमें मिला लिया और १७६१ तक मुग़लोंका दुर्गपर अधिकार रहा। सन् १७६१ में गोहदाधीश राना लोकेन्द्र-सिंहजीने किलेपर अपना अधिकार कर लिया, पर वे अधिक समय तक गढ़को अपने आधीन न रख सके। सन् १७६५ में प्रतापशाली महाराज महादजी सेंधियाने राना लोकेन्द्रसिंह को हराकर गढ़पर मरहठोंका झण्डा फहरा दिया; उस समयसे आज तक किलेपर सेंधिया वंशका ही अधिकार है।

इन ऐतिहासिक घटना-चक्रोंके संकलन और अन्वेषण से यह स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि सन् १३९८ से १५२८ तक १३० वर्ष गवालियर जैन धर्मावलम्बी शासकों-द्वारा शासित रहा है।

सन् १३९८ से पूर्व गवालियरमें जैनियोंकी कितनी मान्यता रही है, यह ऐतिहासिक विशेषज्ञोंकी सम्मतियों, प्राचीन शिलालेखों तथा पुरातत्व विभागकी रिपोर्टोंके आधारपर पुनः लिखनेका प्रयत्न करूँगा।

मुझे न कहीं सहारा! (ले०—राजेन्द्रकुमार 'कुमरेश' आयुर्वेदाचार्य)

दुनियांमें दुनिया वालोंने देख मुझे दुत्कारा!

मेरे उरमें दुख श्यामल घन सा बन कर छाजाता
और व्यथाकी बिजलीकी मैं चमक न उसमें पाता
गला घोटती सी आती है वह मुझमें व्याकुलता
मैं तिल तिल कर प्रति क्षण ही हूँ, बस प्रदीप सा जलता
बहने लग जाती है परवश हाय! दृगोंसे धारा
मुझे न कहीं सहारा!

देख रहा हूं, रोती आँखोंसे दुनियांका मेला
हैं अभाव मेरे साथी पर फिर भी सदा अकेला
अरमानोंने याद भुलादी क्या देखा! क्या पाया!
अरमानोंकी धुंधली सी बस एक शेष है छाया
मिल जाये मैं ढूंढ रहा हूं कोई मेरा प्यारा
मुझे न कहीं सहारा!

हिन्दीका प्रथम आत्म-चरित

[लेखक—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी]

सन् १६४१--

कोई तीनसौ वर्ष पहिलेकी बात है । एक भावुक हिन्दी कविके मनमें नाना प्रकारके विचार उठ रहे थे । जीवनके अनेक उतार चढ़ाव वे देख चुके थे । अनेकों संकटोंसे वे गुजर चुके थे, कई बार बाल-बाल बचे थे । कभी चोरों डाकुओंके हाथ जान माल खोनेकी आशंका थी तो कभी शूली पर चढ़नेकी नौबत आने वाली थी और कई बार भयंकर बीमारियोंसे मरणासन्न होगये थे । गार्हस्थिक दुर्घटनाओंका शिकार उन्हें अनेकों बार होना पड़ा था. एक के बाद एक उनकी दो पत्नियोंकी मृत्यु हो चुकी थी और उनके नौ बच्चोंमेंसे एक भी जीवित नहीं रहा था ! अपने जीवनमें उन्होंने अनेकों रंग देखे थे—तरह तरहके खेल खेले थे—कभी वे आशिकीके रंगमें सराबोर रहे थे तो कभी धार्मिकताकी धुन उनपर सवार थी और एक बार तो आध्यात्मिक फिटके वशीभूत होकर वर्षोंके परिश्रमसे लिखा अपना नवरसका ग्रन्थ गोमती नदीके हवाले कर दिया था ! तत्कालीन साहित्यिक जगतमें उन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और यदि किम्वदन्तियों पर विश्वास किया जाय तो उन्हें महाकवि तुलसीदासके सत्सङ्गका सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ या बल्कि उनसे यह सार्टीफिकेट भी मिला था कि आपकी कविता मुझे बहुत प्रिय लगी है । सुना है कि शाहजहाँ बादशाहके साथ शतरंज खेलनेका अवसर भी उन्हें प्राय: मिलता रहा था । सम्वत् १६९८ (सन् १६४१) में अपनी तृतीय पत्नीके साथ बैठे हुए और अपने चित्र विचित्र जीवन पर दृष्टि डालते हुए यदि उन्हें किसी दिन आत्म-चरितका विचार सूझा हो तो उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ ।
ज्यों तरवर पतझार ह्वै, रहें ठूँठसे होइ ।।

अपने जीवनके पतझड़के दिनोंमें लिखी हुई इस छोटी सी पुस्तकसे यह आशा उन्होंने स्वप्नमें भी न की होगी कि वह कई सौ वर्ष तक हिन्दी जगतमें उनके यशःशरीरको जीवित रखनेमें समर्थ होगी ।

कविवर बनारसीदासके आत्म-चरित 'अर्धकथानक' को आद्योपान्त पढ़नेके बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें इस ग्रन्थका एक विशेष स्थान तो होगा ही. साथ ही इसमें वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है जो इसे अभी कई सौ वर्ष और जीवित रखने में सर्वथा समर्थ होगी । सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता निरभिमानता और स्वाभाविकताका ऐसा जबर्दस्त पुट इसमें विद्यमान है, भाषा इस पुस्तककी इतनी सरल है और साथ ही यह इतनी संक्षिप्त भी है, कि साहित्यकी चिरस्थायी सम्पत्तिमें इसकी गणना अवश्यमेव होगी । हिन्दी का तो यह सर्वप्रथम आत्मचरित है ही, पर अन्य भारतीय भाषाओंमें इस प्रकारकी और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं । और सबसे अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि कविवर बनारसीदासका दृष्टिकोण आधुनिक आत्मचरित-लेखकोंके दृष्टिकोणसे बिल्कुल मिलता जुलता है । अपने चारित्रिक दोषोंपर उन्होंने पर्दा नहीं डाला है, बल्कि उन का विवरण इस खूबीके साथ किया है कि मानों कोई वैज्ञानिक तटस्थवृत्तिसे कोई विश्लेषण कर रहा हो । आत्माकी ऐसी चीर फाड कोई अत्यन्त कुशल साहित्यिक सर्जन ही कर सकता था और यद्यपि कविवर बनारसीदास जी एक भावुक व्यक्ति थे—गोमतीमें अपने ग्रन्थको प्रवाहित कर देना और सम्राट् अकबरकी मृत्युका समाचार सुनकर मूर्छित हो जाना उनकी भावुकताके प्रमाण हैं—तथापि इस आत्मचरितमें उन्होंने भावुकताको स्थान नहीं दिया । अपनी दो पत्नियों, दो लड़कियों और सात लड़कोंकी मृत्युका जिक्र करते हुए उन्होंने केवल यही कहा है :—

तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथकी भांति ।
ज्यों जाकौ परिगह घटै, त्यों ताकौं उपशांति ।।

यह दोहा पढ़कर हमें प्रिन्स क्रोपाटकिनकी आदर्श लेखशैलीकी याद आ गई । उनका आत्मचरित उन्नीसवीं

शताब्दीका सर्वोत्तम आत्मचरित माना जाता है। उसमें उन्होंने अपने अत्यन्त प्रिय भ्रमजकी मृत्युका जिक्र केवल एक वाक्यमें किया था :--

"A dark cloud hung upon our cottage for many months."

अर्थात् "कितने ही महीनों तक हमारी कुटी पर दुःख की घटा छाई रही।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐलेग्ज़ेण्डर क्रोपाट किन ज्योतिर्विज्ञानके बड़े पण्डित थे, जारकी रूसी नौकर-शाहीने निरपराध ही उन्हें साइबेरियाके लिये निर्वासित कर दिया था और वहांसे लौटते समय उन्होंने आत्मघात कर लिया था !

अपने चारित्रस्खलनोंका वर्णन उन्होंने इतनी स्पष्टता से किया है कि उन्हें पढ़कर अराजकवादी महिला एमा गोल्डमैनके आत्म-चरितकी याद आ जाती है। अंग्रेजीके एक आधुनिक आत्मचरितमें उसकी लेखिका ऐथिलमिनिन ने अपने पुरुष-सम्बन्धोंका वर्णन निःसंकोच भावसे किया है पर उसे इस बातका क्या पता कि तीनसौ वर्ष पहिले एक हिन्दी कविने इस आदर्शको उपस्थितकर दिया था। उनके लिये यह बड़ा आसान काम था कि वे भी "मोसम कौन अधम खल कामी" कहकर अपने दोषोंको धार्मिकताके पर्देमें छिपा देते। उन दिनों आत्मचरितोंके लिखनेकी रिवाज़ भी नहीं थी—आजकल तो विलायतमें चोर डाकू और वेश्याएँ भी आत्मचरित लिख-लिखकर प्रकाशितकर रही हैं—और तत्कालीन सामाजिक अवस्थाको देखते हुए कविवर बनारसीदासजीने सचमुच बड़े दुःसाहसका काम किया था। अपनी इश्कबाज़ी और तज्जन्य आतशक (सिफलिस) का ऐसा खुल्लमखुल्ला बयान करनेमें आधुनिक लेखक भी हिचकिचावेंगे। मानों तीन सौ वर्ष पहिले बनारसीदासजीने तत्कालीन समाजको चुनौती देते हुए कहा था "जो कुछ मैं हूं, आपके सामने मौजूद हूँ. न मुझे आपकी घृणाकी पर्वाह है और न आपकी श्रद्धाकी चिन्ता।" लोक-लज्जाको भावनाको ठुकरानेका यह नैतिक बल सहस्रोंमें एकाध लेखकको ही प्राप्त हो सकता है।

कविवर बनारसीदासजी आत्मचरित लिखनेमें सफल हुये इसके कई कारण हैं, उनमें एक तो यह है कि उनके जीवनकी घटनाएँ इतनी वैचित्र्यपूर्ण हैं कि उनका यथा विधि वर्णन ही उनकी मनोरंजकताकी गारंटी बन सकता है। और दूसरा कारण यह है कि कविवरमें हास्यरसकी प्रवृत्ति अच्छी मात्रामें पाई जाती थी। अपना मज़ाक उड़ाने का कोई मौका वे नहीं छोड़ना चाहते। कई महीनों तक आप एक कचौड़ी वालेसे हुबक्ता कचौड़ियां खाते रहे थे। फिर एक दिन एकान्तमें आपने उससे कहा—

तुम उधार कीनों बहुत, आगे अब जिन देहु।
मेरे पास किछू नहीं, दाम कहाँ सौं लेहु॥"

पर कचौड़ीवाला भला आदमी निकला और उसने उत्तर दिया—

कहै कचौरीवाल नर, बीस रुपैया खाहु।
तुमसों कोउ न कछु कहै, जहँ भावै तहँ जाहु॥"

आप निश्चिन्त होकर छै सात महीने तक दोनों वक्त भर पेट कचौड़ियाँ खाते रहे और फिर जब पैसे पास हुए तो चौदह रुपए देकर हिसाब भी साफ कर दिया। चूंकि हम भी आगरे ज़िलेके ही रहने वाले हैं, इस लिये हमें इस बातपर गर्व होना स्वाभाविक है कि हमारे यहाँ ऐसे दूरदर्शी श्रद्धालु कचौड़ीवाले विद्यमान थे जो साहित्य सेवियोंको छह-सात महीने तक निर्भयतापूर्वक उधार दे सकते थे। कैसे परितापका विषय है कि कचौड़ी वालोंकी वह परम्परा अब विद्यमान नहीं, नहीं तो आजकलके महँगी के दिनोंमें वह आगरेके साहित्यिकोंके लिये बड़ी लाभदायक सिद्ध होती।

कविवर बनारसीदासजी कई बार बेवकूफ बने थे और अपनी मूर्खताओंका उन्होंने बड़ा मनोहर वर्णन किया है। एक बार किसी धूर्त सन्यासीने आपको चमका दिया कि अगर तुम अमुक मंत्रका जाप पूरे सालभर तक बिल्कुल गोपनीय ढंगसे पाखानेमें बैठकर करोगे तो वर्ष बीतनेपर घरके दर्वाजेपर एक अशर्फी रोज़ मिला करेगी। आपने इस कल्पद्रुम मन्त्रका जाप उस दुर्गन्धित वायुमण्डलमें विधि-वत् किया पर सुवर्ण मुद्रा तो क्या आपको कानी कौड़ी भी न मिली !

बनारसीदासजीका आत्मचरित पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत

होता है कि मानों हम कोई सिनेमा फिल्म देख रहे हैं। कहीं पर आप चोरोंके ग्राममें लुटनेसे बचनेके लिए तिलक लगाकर ब्राह्मण बनकर चोरोंके चौधरीको आशीर्वाद दे रहे हैं तो कहीं आप अपने साथी-संगियोंकी चौकड़ीमें नंगे नाच रहे हैं या जूत-पैजारका खेल खेल रहे हैं।—

"कुमती चारि मिले मन मेल। खेला पैजारहुका खेल॥
सिरकी पाग लैंहि सब छीन। एक एककौं मारहिं तीन॥"

एक बार घोर वर्षाके समय इटावेके निकट आपको एक उद्दण्ड पुरुषकी खाट के नीचे टाट बिछा कर अपने दो साथियों के साथ लेटना पड़ा था। उस गँवार धूर्त ने इनसे कहा था कि मुझे तो खाटके बिना चैन नहीं पड़ सकती और तुम इस फटे हुए टाटको मेरी खाटके नीचे बिछा कर शयन करो।

'एवमस्तु' बनारसी कहै। जैसी जाहि परै सो सहै।
जैसा कातै तैसा बुनै। जैसा बोवै तैसा लुनै।
पुरुष खाटपर सोया भले। तीनों जने खाटके तले।

एक बार आगरेको लौटते हुए कुर्रा नामक ग्राममें आप और आपके साथियों पर झूठे सिक्के चलानेका भयंकर अपराध लगा दिया गया था और आपको तथा आपके अन्य अठारह साथी यात्रियों को मृत्युदण्ड देनेके लिये शूली भी तैयार करली गई थी! उस संकटका वर्णन भी रोंगटे खड़े करने वाले किसी नाटक जैसा है। उस वर्णनमें भी आपने अपनी हास्य प्रवृत्तिको नहीं छोड़ा।

सबसे बड़ी खूबी इस आत्म-चरितकी यह है कि वह तीनसौ वर्ष पहलेके साधारण भारतीय जीवनका दृश्य ज्योंका त्यों उपस्थित कर देता है। क्या ही अच्छा हो यदि हमारे कुछ प्रतिभाशाली साहित्यिक इस दृष्टान्तका अनुकरण कर आत्मचरित लिख डालें। यह कार्य उनके लिये और भावी जनताके लिये भी बड़ा मनोरंजक होगा। बकौल 'नवीन' जी—

"आत्मरूप दर्शनमें सुख है, मृदु आकर्षण-लीला है और विगत जीवन-संस्मृति भी स्वात्मप्रदर्शनशीला है; दर्पणमें निज बिम्ब देख कर यदि हम रुक खिंच जाते हैं, तो फिर संस्मृति तो स्वाभावतः नर-हिय-कर्षणशीला है!"

स्वर्गीय कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरने चैतालिमें 'सामान्य लोक' शीर्षक एक कविता लिखी है जिसका सारांश यह है:—

"सन्ध्याके समय कांखमें लाठी दबाये और सिर पर बोझ लिये हुए कोई किसान नदीके किनारे किनारे घरको लौट रहा हो। अनेक शताब्दियोंके बाद यदि किसी प्रकार मंत्र-बलसे अतीतके मृत्यु-राज्यसे वापस बुलाकर हम किसानको मूर्तिमान दिखला दिया जाय, तो आश्चर्य चकित होकर असीम जनता उसे चारों ओरसे घेर लेगी और उसकी प्रत्येक कहानीको उत्सुकता-पूर्वक सुनेगी। उसके सुख-दुःख, प्रेम-स्नेह, पास-पड़ौसी, घर-द्वार, गाय-बैल, खेत-खलिहान इत्यादिकी बातें सुनते-सुनते जनता अघायेगी नहीं। आज जिसके जीवनकी कथा हमें तुच्छतम दीख पड़ती है वह शत शताब्दियोंके बाद कवित्वकी तरह सुनाई पड़ेगी।"

संध्या वेला लाठि काँखे बोझा बहि शिरे।
नदीतीरे पल्लीवासी घरे जाय फिरे॥
शत शताब्दी परे यदि कोनो मते।
मन्त्र बले, अतीतेर मृत्युराज्य हते॥
एई चाषी देखा देय हये मूर्तिमान।
एई लाठि काँखे लये विस्मित नयान॥
चारि दिके घिरि तारे असीम जनता।
काड़ाकाड़ि करि लवे तार प्रति कथा॥
तार सुख दुःख यत तार प्रेम स्नेह।
तार पाड़ा प्रतिवेशी, तार निज गेह॥
तार खेत तार गरु तार चाष वास।
शुने शुने किछु तेइ मिटबे न आश।
आजि जारि जीवनेर कथा तुच्छतम।
से दिन शुनाबे ताहा कवित्वेर सम।

मान लीजिये यदि आज हमारी मातृभाषाके बीस पच्चीस लेखक विस्तारपूर्वक अपने अनुभवोंको लिपिबद्ध करदें तो सन् २२४३ ईस्वीमें वे उतने ही मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण बन जावेंगे जितने मनोरंजक कविवर बनारसीदासजीके अनुभव हमें आज प्रतीत हो रहे हैं। गदरको हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए। अब हमारे देशमें ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जिन्होंने सन् १८५७ का गदर देखा था। इस गदरका आंखों देखा विवरण एक महाराष्ट्रीय श्रीयुत विष्णु भटने किया था और सन् १९०७ में सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने इसे लेखकके वंश-

ओंके यहाँ पड़ा हुआ पाया था। उन्होंने उसे प्रकाशित भी करा दिया। उसकी मूल प्रति पूनाके 'भारत इतिहास संशोधक मण्डल' में सुरक्षित है। जब विष्णु भटको पूनामें यह खबर मिली कि श्रीमती बायजाबाई सिंधिया मथुरामें सर्वतोमुख यज्ञ करानेवाली हैं तो आपने मथुरा आनेका निश्चय किया। पिताजीसे आज्ञा माँगी तो उन्होंने उत्तर दिया "उधर अपने लोग बहुत कम हैं, मार्ग कठिन है, लोग भाँग और गाँजा पीनेवाले हैं और मथुराकी स्त्रियाँ मायावी होती हैं।"

स्त्रियोंके मायावी होनेकी बात पढ़कर हँसी आये बिना नहीं रहती। दक्षिणवालोंके लिये मथुराकी स्त्रियाँ मायावी होती हैं और इधर उत्तरवालोंके लिये बंगालकी स्त्रियाँ जादूगरनी होती हैं, जो आदमीको बैल बना देती हैं और बंगालियोंके लिये कामरूप (आसाम) की स्त्रियां कपटी और भयंकर होती हैं। बंगालमें पूरे ग्यारह वर्ष रहनेके बाद भी हम बछियाके ताऊ नहीं बने, मनुष्य ही बने रहे, यही इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ये बातें कोरी गप हैं।

हाँ तो विष्णुभटको मथुराकी मायावी स्त्रियोंसे सुरक्षित रखनेके लिये उनके चाचा भी साथ हो लिये थे और इन्हीं चाचा भतीजेका यात्रा-वृत्तान्त आज ८७ वर्ष बाद एक ऐतिहासिक ग्रन्थ बन गया है!

क्या ही अच्छा होता यदि हिन्दीके धुरंधर विद्वान् आगे आनेवाली संतानके लिये अपनी अनुभूतियोंको सुरक्षित रखते। कितने पाठकोंको यह मालूम है कि महामना मालवीयजीने आजसे ६०–६२ वर्ष पहले कालेजके दिनोंमें एक प्रहसन लिखा था जिसमें मकरंदसिंहके रूपमें अपना चित्रण किया था? मालवीयजीकी कविता सुन लीजिये—

अपने सम्बन्धमें—

गरे जूहीके हैं गजरे पड़ा रङ्गीं दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए धोती तो ढाकेसे मँगाते हैं॥
कभी हम वारनिश पहिनें, कभी पंजाबका जोड़ा।
हमेशा पास डण्डा है ये 'मकरन्दसिंह' गाते हैं॥
न ऊधोसे हमें लेना न माधोका हमें देना।
करें पैदा जो खाते हैं व दुखियोंको खिलाते हैं॥
नहीं डिप्टी बना चाहें न चाहें हम तसिल्दारी।
पड़े अलमस्त रहते हैं युँहीं दिनको बिताते हैं॥
न देखें हम तरफ उनकी जो हमसे नेक मुँह फेरें।
जो दिलसे हमसे मिलते हैं झुक उनको देख जाते हैं
नहीं रहती फिकर हमको कि लावें तेल औ लकड़ी।
मिले तो हलवे छन जावें नहीं झूरी उड़ाते हैं॥
सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचड़ेसे गृहस्थीके।
छुटो फक्कड़पना लेलो यही हम तो सिखाते हैं॥
हमें मत भूलना यारो बसे हम पास 'मनमोहन।'
हुई है देर, जाते हैं, तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥

यदि स्वर्गीय द्विवेदीजीने अपना जीवनचरित लिख दिया होता तो हमें दौलतपुरसे ३६ मील दूर रायबरेलीको आटा दाल पीठपर लादे हुए पैदल जाने वाले उस तपस्वी बालकके और भी वृत्तान्त सुननेको मिलते, जो रोटी बनाना नहीं जानता था और जो इस लिए दाल हीमें आटेकी टिकियाँ डालकर और पकाकर खालिया करता था।

संसार दुःखमय है और उसमें निरन्तर दुर्घटनाएँ घटा ही करती हैं। यदि कोई मनुष्य हृदयवेदनाको चित्रित कर दे तो वह बहुत दिनों तक जीवित रह सकता है। कोई बारह सौ वर्ष पहलेके पो चुई नामक किसी चीनी कविने अपनी तीन वर्षकी स्वर्गीय पुत्री स्वर्ण-घंटीके विषयमें एक कविता लिखी थी, वह अब भी जीवित है।

जब कविवर शङ्करजीने क्वाँर सुदी ३ संवत् १९८१ को अपनी डायरीमें निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखीं थीं उस समय की उनकी हार्दिक वेदनाका अनुमान करना भी कठिन है—

"महाकाल रुद्र देवाय नमः"

हाय आज क्वार सुदी ३ सं० १९८१ वि० बुधवारको दिनके ११ बजेपर प्यारा ज्येष्ठपुत्र उमाशंकर मुझ बूढ़े बापसे पहिले ही स्वर्गको चला गया। हाय बेटा, अब मेरी क्या दुर्गति होगी। प्यारा पुत्र पाँच माससे बीमार था। बहुतेरा इलाज किया कराया कुछ भी लाभ न हुआ। प्यारे पुत्रका क्रोध बढ़ता ही गया, बहुतेरा समझाया, कुछ फल न मिला। मरनेके दिन अच्छा भला बातें कर रहा है। यकायक साँस बढ़ने लगा। चि० हरिशंकर और श्यामलाल ऋषिने बोलते बोलते ही अचेत होनेपर जमीनपर लेलिया। केवल दो मिनट चुप रहा, दम निकल गया। हाय बेटा!

उमाशंकर अब कहां ! आज उमाशंकर सुत प्यारा, हाय हुआ हम सबसे न्यारा।

१—१०—२४

"हे शंकर कविराज सुख संकटद्वारा छिना।
निरख दिवाली आज, हाय उमाशंकर बिना ॥"

संसारमें न जाने कितने अभागे पिताओंपर यह वज्रपात होता है और पुत्रविहीन कितनी दिवालियाँ उन्हें अपने जीवनमें देखनी पड़ती हैं।

जब स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंहजी शर्माने महाकवि अकबरके छोटे लड़के हाशमकी बेवक्त मौतपर समवेदनाका पत्र भेजा था तो उनके जवाबमें अकबरसाहबने लिखा था :—

"*अगरचे हवादसे आलम (सांसारिक विपत्तियों की दुर्घटनाएँ)* पेशे नज़र रहते हैं और नसीहत हासिल किया करता हूँ, लेकिन हाशम मेरा पूरा कायम मुकाम (प्रतिनिधि, कवितासम्पत्तिका सच्चा उत्तराधिकारी) तय्यार हो रहा था और तमाम दोस्तों और कद्र अफ़ज़ाओंसे मुहब्बत रखता था। उसकी जुदाईका नेचरल तौरपर बेहद कलक हुआ...."

उस समय अकबरने एक कविता लिखी थी, जिसका एक पद्य यह है—

"आगोशसे सिधारा मुझसे यह कहनेवाला
'अब्बा! सुनाइए तो क्या आपने कहा है'।
अशआर हसरत-आगीं कहनेकी ताब किसको।
अब हर नज़र है नौहा, हर सांस मरसिया है ॥"

कौन अनुमान कर सकता है उस भयङ्कर हार्दिकवेदना का जिससे प्रेरित होकर इस पुस्तक 'अर्धकथानक' के सम्पादक बन्धुवर श्री नाथूराम जी प्रेमीने ये पङ्क्तियां लिखी हैं —

"जो अपनी स्वर्गीया जननीके ही समान निष्कपट और साधु-चरित था, जिसने ज्ञानकी विविध शाखाओं का विशाल अध्ययन और मनन किया था, जो शीघ्र ही भारती माताके चरणोंमें अनेक भेंटें चढ़ानेके मनसूबे, बाँध रहा था,

परन्तु जिसे दैवने अकालमें ही उठा लिया,
अपने उसी एकमात्र पुत्र स्व० हेमचन्द्रको।"

मेरे अनुज स्वर्गीय रामनारायण चतुर्वेदी एम० ए० (अध्यापक आगरा कालेज) की आकस्मिक मृत्युपर महात्मा गांधीजीने सेगाँव वर्धासे लिखा था—

"जो रास्ते रामनारायण गये वही रास्ते हम सब को जाना होगा। समयका ही फरक है। उसमें शोक क्या?

निस्सन्देह जिस रास्ते उस चीनी कविकी पुत्री 'स्वर्णघंटी' आजसे बारहसौ वर्ष पहले गई थी, उसी रास्ते भाई उमाशंकरजी गये, वहीं महाकविका प्यारा पुत्र हाशम गया, उसी धामको हेमचन्द्र और रामनारायण गये और उसी लोककी यात्रा की कविवर बनारसीदासके नौ बालकोंने। केवल *भुक्तभोगी ही अनुमानकर सकते हैं दुःखके उस* स्रोतका, जहांसे ये पंक्तियाँ निकली थीं —

"नौ बालक हूए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यों तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूँठसे होइ ॥"

Inside out (अन्तःकरणका प्रकटीकरण) नामक पुस्तकके लेखकने संसारके ढाईसौ आत्मचरितोंका विश्लेषण करके उक्त पुस्तक लिखी थी और अन्तमें वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि सर्वश्रेष्ठ आत्मचरितोंके लिए तीन गुण अत्यन्त आवश्यक हैं—(१) वे संक्षिप्त हों, (२) उनमें *थोड़ेमें बहुत बात कही गई हो, (३) वे पक्षपातरहित हों।*

अर्धकथानक इस कसौटी पर निस्सन्देह खरा उतरता है और यदि इसका अंग्रेजी अनुवाद कभी प्रकाशित हो तो हमें आश्चर्य न होगा।

कविवर बनारसीदासजी जानते थे कि आत्मचरित लिखते समय वे कैसा असंभव कार्य हाथमें ले रहे हैं। उन्होंने कहा भी था कि एक जीवकी चौबीस घंटेमें जितनी भिन्न भिन्न दशाएँ होती हैं उन्हें केवली या सर्वज्ञ ही जान सकता है और वह भी ठीक ठीक तौरपर कह नहीं सकता-

"एक जीवकी एक दिन दसा होइ जेतीक।
सो कहि न सकै केवली, जानै यद्यपि ठीक ॥"

इसी भावको मार्कट्वेन नामक एक अमरीकन लेखकने इन शब्दोंमें प्रकट किया था :—

What a very little part of a person's life are his acts and his words!

His real life is led in his head and is known to none but himself! All day long and every day, the mill of his brain is grinding and his thought not other things, are his history. His acts and his words are merely the visible thin crust of his world, with its scattered snow summits and its vacant wastes of water and they are so trifling a part of his bulk—a mere skin enveloping it. The most of him is hidden—it and its volcanic fires that toss and boil and never rest, night nor day. These are his life and they are not written. Eevery day would make a whole book of eighty thousand words—*three hundred and sixty five book* a year. Biographies are but the clothes and buttons of the man. The *biography of the man himsalf* can not be written.

इसका सारांश यह है "मनुष्यके कार्य और उसके शब्द उसके वास्तविक जीवनके, जो लाखों-करोड़ों भावनाओं द्वारा निर्मित होता है, अत्यल्प अंश हैं। अगर कोई मनुष्य की असली जीवनी लिखनी शुरू करे तो एक एक दिनके वर्णनके लिये कमसे कम अस्सी हज़ार शब्द चाहियें और इस प्रकार साल भरमें तीन सौ पैंसठ पोथे तय्यार हो जावेंगे ? छपने वाले जीवनचरितोंको आदमीके कपड़े और बटन ही समझना चाहिये, किसीका सच्चा जीवनचरित लिखना तो सम्भव नहीं।"

फिर भी छहसौ पचहत्तर दोहा और चौपाइयोंमें कविवर बनारसीदासजीने अपना चरित्रचित्रण करनेमें काफी सफलता प्राप्तकी है और जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं उनके इस ग्रन्थमें अद्भुत संजीवनी-शक्ति विद्यमान है। उनके साम्प्रायिक ग्रन्थोंसे यह कहीं अधिक जीवित रहेगा।

यद्यपि हमारे प्राचीन ऋषि महर्षि 'आत्मानं विद्धि' (अपनेको पहचानो) का उपदेश सहस्रों वर्षोंसे देते आ रहे हैं पर यह सबसे अधिक कठिन कार्य है और इससे भी अधिक कठिन है अपना चरित्र-चित्रण यदि लेखक अपने दोषोंको दबाके अपनी प्रशंसा करे तो उसपर अपना ढोल पीटनेका इलज़ाम लगाया जासकता है और यदि वह खुल्लमखुल्ला अपने दोषोंका ही प्रदर्शन करने लगे तो छिद्रान्वेषी समालोचक यह कह सकते हैं कि लेखक बनता है और उसकी आत्म-निन्दा मानों पाठकोंके लिए निमन्त्रण है कि वे लेखककी प्रशंसा करें!

अपनेको तटस्थ रखकर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मोंपर दृष्टि डालना उनको विवेककी तराजूपर बावन तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कलापूर्ण कार्य है। आत्मचित्रण वास्तवमें 'तरवारकी धारपै धावनो है, पर इस कठिन प्रयोगमें अनेक बड़ेसे बड़े कलाकार भी फेल हो सकते हैं और छोटेसे छोटे लेखक और कवि अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकते है। बहुत सम्भव है कि म० तुलसीदासजीको जो कविवर बनारसीदासजीके समकालीन थे, आत्मचरित लिखनेमें उतनी सफलता न मिलती जितनी बनारसीदासजीको मिली। यदि किसी चित्र खिंचवाने वाले को तस्वीर देते समय विशेषरूपसे आत्म-चेतना होजाय तो उसके चेहरेकी स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। उसी प्रकार आत्मचरित लेखकका अहंभाव अथवा पाठक क्या ख़्याल करेंगे' यह भावना उसकी सफलताके लिए विघातक होसकती है।

आत्मचित्रणमें दो ही प्रकारके व्यक्ति विशेष सफलता प्राप्त कर सकते हैं या तो बच्चोंकी तरहके भोलेभाले आदमी जो अपनी सरल निरभिमानतासे यथार्थ बातें लिख सकते हैं अथवा कोई फक्कड़ जिन्हें लोक-लज्जासे कोई भय नहीं।

फक्कड़ शिरोमणि कविवर बनारसीदासजीने तीनसौ वर्ष पहिले आत्मचरित लिखकर हिन्दीके वर्तमान और भावी फक्कड़ोंको मानों न्यौता दे दिया है। यद्यपि उन्होंने विनम्रता पूर्वक अपनेको कीट पतंगोंकी श्रेणीमें रक्खा है (हमसे कीट पतंगकी बात चलावै कौन) तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे आत्म-चरित-लेखकोंमें शिरोमणि हैं।

एक बात और। कविवर बनारसीदासजीने सं० १६७० में हमारे जन्म-स्थान फीरोज़ाबादमें गाढ़ी भाड़ेकी थी और इस प्रकार हमारे घरके एक मज़दूरको आर्थिक लाभ पहुंचाया था। आज तीन सौ तीस वर्ष बाद उसी फीरोजाबाद का निवासी कलमका एक मज़दूर उन्हें यह श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा है।*

फ़ीरोजाबाद जिला आगरा] बनारसीदास चतुर्वेदी

*हालमें ही पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित 'अर्धकथानक' के साथ प्रकाशित।

चरवाहा

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

[१]

दश-ग्यारह वर्षका बदबूदार चिथड़ोंमें लिपटा हुआ एक बच्चा रास्तेके रेतमें खेल रहा है! शरीरसे दुबला, घिनावना, बदसूरत! और भी दो तीन बच्चे साथ हैं, ज्यादह सुन्दर वे भी नहीं हैं, लेकिन इतना अवश्य है कि वे इतने दुबले, घिनावने और दयनीय नहीं हैं! जितना कि अकृतपुण्य!

अकृतपुण्य वह है, जो दस-ग्यारह सालका होते हुए भी सात-आठ सालसे अधिकका नहीं मालूम देता! जबकि उसके संगी छोटे होते हुए भी, सबल आनन्दी और बड़े दिखाई देते हैं! वह खेल रहा है! दूसरोंकी तरह ही रेत उछालता है, मेंढ़ बनाता है, कुए खोदता है, चिल्लाता है, हँसता है, सब-कुछ है, पर, एक बात ऐसी है जिसे वह भुलाए नहीं भूल रहा, कि वह भूखा है!

दूसरे झिड़क देते हैं और वह खड़ा रह जाता है एक ओर! अनुभव करता है शायद—कि मैं छोटा हूँ—दीन हूँ! मेरे भीतर वह तेज नहीं है, वह उल्लास नहीं है, जो मेरे संगी-साथियोंमें है!—विवश, निरुपाय, दुखित!!!

और उस खण्डहरमें बैठी मिष्टदाना सोच रही है—कितना अभागा है, यह अकृतपुण्य! गर्भमें आया कि धीरे-धीरे परिवार खत्म हुआ। सिर्फ दो ही बच रहे—मैं और इसके पिता–कामवृष्टि! मैं अधिक दुःखित नहीं हुई—तब! खुश थी कि चलो 'यह' तो हैं! और बरक़रार है इनके पास पूरे गांव का स्वामित्व! शायद नारीकी सारी महत्वाकाँक्षाएँ इन्हीं दो चीजोंपर अवलम्बित रहती हैं—सुहाग और समृद्धि!……

उस समय मेरा दिल चूर-चूर होगया जब मैंने देखा कि मेरी गोदमें दुध-मुँहा बच्चा है, और मैं इतने बड़े संसारमें निपट अकेली हूँ! पासमें एक सिक्का, और रहनेके लिए बालिस्त-भर स्थान भी नहीं है! मेरा सुहाग पुंछ चुका था! गाँवका स्वामित्व—मेरी ही रोटियोंपर गुज़र करने वाले सुकृतपुण्यके अधिकारमें चला गया! इस दुखद परिवर्तनने तिलमिला दिया मुझे! मैं हताश, जीवनसे विरक्त—क्रुद्ध!

चाहा कि आत्म-हत्या कर, भविष्यके संकटोंसे निश्चिन्त हो जाऊँ! पर, न हो सका यह! सीनेमें माँ का दिल धड़क रहा था। बच्चेके आर्तस्वरने मनमें ममताका दरिया उमड़ा दिया था!

और आजमें इसी मगधदेशके अंचलपर बसे हुए भोगवती गाँवमें कूट-पीसकर, मिहनत-मजदूरी कर पेट पाल रही हूँ—जहाँ एक दिन मेरा स्वामित्व सिर झुकाकर माना जाता था!……

आज भूखा-प्यासा, नंगा-धड़ंगा, गली-गली ठोकरें खाने वाला मेरा बच्चा बदनसीब न होता तो कौन कह सकता है इन्हीं गलियोंमें उसके प्यार करने और गोद में उठानेके लिए लोग लालायित न होते?………

बच्चेका दुर्भाग्य!'

मिष्टदानाकी आँखें सावन-भादोंसी बरस रही हैं! भीतरका दुख उमड़ रहा है! वह देख रही है—दूसरे बच्चे अकृतपुण्यको मार-मारकर दूर हटा रहे हैं, और वह रो रहा है—दीन, गरीब!

मिष्टदाना दौड़कर आई—पैर जो उधर बढ़ आए थे अपने आप, शायद मनने ललकारा था उन्हें!

'न मारो बच्चेको, इसका पिता नहीं है! दुखिया है—बेचारा!'

× × × ×

[२]

दासत्वमें स्वामित्व मिला है—सुकृतपुण्यको! सुखी है वह, कि वह आज गाँवपति है! जहाँ कुछ दिन पहले वह एक नौकरके रूपमें बसा था, आज वह वहाँका सर्वेसर्वा है! नीचेसे ऊपर चढ़ा है! गरीबीके अनुभव, आज अमीरीमें साझीदार बन रहे हैं! गरीबीकी अभिलाषाएँ, आज अमीरीके आँगनमें पनपनेके लिए मचल रही हैं!………

लम्बा-चौड़ा कृषि-कर्म आज उसके अधीन है!

२८०५५

पचासों व्यक्ति उसमें काम करते हैं—आदमी, औरत, लड़के, लड़कियाँ !····

शामका वक्त ! श्रमिकोंकी छुट्टीका समय ! सुकृतपुण्य आजकी संचित अन्न-राशिके समीप बैठा है ! सामने श्रमिकोंकी भीड़ लगी है ! बारी-बारीसे वह चने—पारिश्रमिक—मिहनत—देकर विदा कर रहा है ! लोग लौट रहे हैं—खुशी-खुशी ! सन्तोष और सफलमनोरथकी स्फूर्ति लेकर !

'कौन अकृतपुण्य ! तू यहाँ कैसे आया—बेटा !'

अकृतपुन्य पहले कुछ डरा ! पर, यह देखकर कि सुकृतपुण्यकी वाणीमें कोमलता और चेहरे पर ममता है, अभय होकर बोला—'इन बच्चोंके साथ मैं भी चला आया···!'

'क्यों ? क्या काम किया है तूने ?'

'हाँ !'

सुकृतपुण्य मर्माहत-सा रह गया, कुछ क्षणके लिए ! मनमें एक द्वन्द-सा छिड़ गया था—उसके ! सोचने लगा—'उफ ! कैसी है—यह दुनिया ? जिसके बापका मैं नौकर रहा वर्षों, वही आज मुट्ठी-भर चनों के लिए मेरी गुलामी खरीद रहा है !'

वह देखने लगा—करुणार्द्र-दृष्टिसे उसकी ओर ! अकृतपुण्य कांप उठा ! उसका छोटा-सा मन धक्-धक् करने लगा ! सोचने लगा—'सबको तत्काल चने मिलते हैं, मेरेलिए इतनी चिन्ता, सोच-फिक्र, विलम्ब क्यों ? काम मैंने किसीसे कुछ कम तो किया नहीं। अब तक देह दुख रही है, नस-नस झनझना रही है—फिर ?

सूखे ओठ !

दयनीय आकृति !!

सुकृतपुण्यकी आँखोंसे दो बूँद आँसू टपक पड़े ! भर्राए गलेसे बोला—'अकृतपुण्य ! कितना काम किया है तूने ?'

वह बोला—'बहुत !'

सुकृतपुण्यने दुलारसे पीठपर हाथ फेरते हुए कहा —'इतनी मिहनत मत कियाकर—बेटा ! तू अभी छोटा है !'

शायद अकृतपुण्यने अनुभव किया हो कि वह छोटा है ! बड़प्पन भाग्यने उसकी आँखोंसे ओझल कर रखा है !

असलमें अकृतपुण्यकी दशाने सुकृतपुण्यकी अमीरी पर हमला किया था ! वह समृद्धिकी नश्वरता पर अवाक् हो रहा था—अतीतके कई चित्र उसके मस्तिष्कमें तूफ़ान उठा रहे थे ! और वह उन्हें सँभाल नहीं पा रहा था, विह्वल था, दीन था !

बटुएमेंसे मुट्ठी-भर सोनेके सिक्के निकाल कर अकृतपुण्यके हाथोंमें देते हुए वह बोला—'इन्हें ले जाओ बेटा—लो !'

अकृतपुण्यने उन्हें लिया, कि वह चिल्लाया—'जला, जला ! यह क्या दिये—मुझे अंगारे ? आग?'

सुकृतपुन्यने देखा तो चकित ! सच, अकृतके हाथोंमें सोनेके सिक्के नहीं, दहकते अंगारे थे !

अत्याश्चर्य !!!

उसने सब सिक्के वापस ले लिए—सोचा—'कितना पापी जीव है यह ? कौन कर सकता है इसका उपकार—एक धर्मके सिवा !···· समर्थताका दावा करने वाला दीन, क्षुद्रमानव ! किसे बना बिगाड़ सकता है ? ग़लत····! अपने-अपने भाग्यसे सब सुख-दुख पाते हैं !'

अकृतपुण्य हथेलियोंको फूँक रहा था ! जलन पड़ रही थी—शायद ! सुखकी ठण्डक देनेवाली दौलत ने आग उगली थी, न ?

'जितने चने तू ले जा सके, भर कर ले जा ! छुट्टी है—तुझे ! और मैं कुछ नहीं कर सकता—बेटा !' दुखितचित्त और रुँधे कण्ठसे सुकृतपुण्यने कहा !

× × ×

[३]

फूटा बर्तन और फूटी किस्मत दोनोंमें बहुत-कुछ समानता है ! न इनके पास दुनियाका दुलार है, न आदर ! कुछ ठहरता नहीं, लाख चेष्टाएँ की जाँय ! हिक़ारतकी नजर और अभाव, यही दो चीजें इनके बाँटमें आई हों जैसे !

ढीली गाँठ और फटे कपड़ेके कारण रास्ते भर

चने फैलते आए। घर जब आया, तो मिष्टदानाकी फटकार पड़ी—उसपर! वह जो दिन-भर उसका इन्तज़ार करते-करते खीज़ उठी थी!

अभी सड़ी-घुनी चौखटपर पाँव भी नहीं रख पाया था कि वह चिल्लाकर बोली—'कहां रहारे, आज अकृत? यह क्या बाँध लाया है—पोटली-सी?'

वह गुमसुम!

माँकी आँखें जो सुर्ख हो रही थीं! पर, क्षण-भर में ही तब्दीली आई! उसे चेत हुआ—माँकी गुस्साको वह अभी शान्तकर सकता है। बेकार थोड़ा घूमा है—आज! मिहनतकर अन्न लाया है खानेके लिए—कुछ मज़ाक नहीं! और तब कुछ दबंगपनके साथ वह बोला—'देखो तो माँ! पोटलीमें क्या है!'

माँ चुपचाप पोटली खोलने लगी। अकृत विजयी की तरह खड़ा रहा, मुँह प्रसन्नतासे चमक रहा था!

माँने पोटली खोलकर अचरजसे कहा—'चने? कहाँसे लाया, रे?'

अकृतका मुँह उतर गया—प्रसन्नता क़ाफ़ूर! अन्यमनस्कताके साथ वह बोला—'हाँ, चने हैं! पर, यह थोड़े क्यों हैं? लाया तो बहुत था मैं! सबसे ज्यादह! बात क्या हुई—ऐं······?'

मिष्टदाना पुत्रकी विह्वलतासे पसीज-सी गई थी। बोली—'ज्यादह लाया था? कहाँ गए फिर? कपड़ा तो नहीं फटा?'

अकृत मौन!

सच, कपड़ा फटा ही था! वह बोली—'रहने दे, दुख क्यों करता है? जितने लाया है, वह कम नहीं हैं! पर, लाया कहाँसे है, यह तो कह?'

अकृतने सब कह दिया!

मिष्टदाना सुनती रही। फिर बोली,—स्वरमें वेदना थी, आत्मग्लानि थी, और थी दीनता,—'सुकृतपुण्यके यहाँसे लाया है यह? उसकी नौकरी की थी—तूने?'

अकृत निरुत्तर!

वह आपही कहने लगी—'यही सुकृतपुण्य एक दिन मेरा सेवक था। और आज तू उसका सेवक बना—हिःह! विधिकी विडम्बना?'

सुकृत कुछ न समझ सका, न उसने समझनेकी कोशिश की कुछ! दिलचस्पी जो नहीं थी! वह सोच रहा था— कितने चने लाया था, रह गए कितने?'

निस्तब्धता!!! मिष्टदाना इधर बैठी चिन्तामग्न है, अकृत उधर खड़ा सोच रहा है! बीचमें चने रखे हैं—दोनोंके बीच एक समस्याकी तरह!··· ····

देर तक चुप रहनेके बाद वह बोली—'अकृत! अब इस गाँवमें हम नहीं रहेंगे! सुबह चलना तय किया है—बस! गुलामकी गुलामी कराना मुझे नहीं सुहाता! कितना अभागा है तू···? काश! आज तेरे पिता जीवित होते···?'

और वह रोने लगी—अतीतकी स्मृतियाँ जो उसे झकझोरें डालतीं थी!

× × × ×

[४]

बलभद्र सात लड़कोंका पिता है। बहुत ज़माना देखा है उसने! ग़रीबी-अमीरीकी अनेक लीलाएँ खेल चुका है। उम्रके साथ अनुभव भी पक चुका है उसका! और आज उसमें यह विशेषता है, कि वह हर बात का गहरा अध्ययन करके आगे क़दम धरता है! और तब उसके प्रत्येक कार्यमें बुद्धिमानी, दृढ़ता और मानवताका पर्याप्त सम्मिश्रण दिखाई देता है!···

वह गाँव-पति है! भाग्यने उसे वह दोनों चीज़ें दी हैं, जिन्हें दुनिया वाले मरते-दम तक चाहते हैं—वैभव और पुत्र!········नहीं कुछ दिया है, तो सिर्फ़ आख़िरी-साँस तक साथ देने वाला—गृहिणी सुख!····

घूमती-फिरती पुत्रको साथ लिए मिष्टदाना यहाँ आई! बलभद्रने देखा—'दुखिया-ग़रीबिन है—क़िस्मतकी सताई! अवश्य ऊँचे कुलकी है!'

बोला—'बहिन कौन हो तुम?' मिष्टदानाने कहा—'दुखिया!'

'नहीं, ठीक परिचय दो—बहिन!'—बलभद्रने आग्रह किया!

मिष्टदाना फिर कुछ छिपा न सकी! आग्रहकर्तामें जो उसे आत्मीयताके दर्शन हो रहे थे!···

और आज ?—

वर्षसे ऊपर होने आया, मिष्टदाना बलभद्रके घर रसोई बनाती है, अकृतपुण्य चरवाहेके रूपमें चैनकी बंशी बजा रहा है !

हाँ बलभद्रने दोनोंको पनाह दी है, दोनों उसकी गुलामीमें बँधे हुए हैं ! लेकिन गुलामी इतनी मीठी है, कि बुरी नहीं लगती—किसीको ! बात असलमें यह है, कि बलभद्रका व्यवहार मनुष्यतामय है ! और इसकी वजह है, कि वह दोनोंके कामसे बेहद खुश है ! जहाँ तक बच्चोंकी परवरिशका सम्बन्ध है, मिष्टदानाने कुछ उठा नहीं रखा । और यों, बच्चोंकी बहुत कुछ फ़िक्र बलभद्रके सिरसे उतर गई है ! हल्का हो गया है—वह ! अपनेको सुखी अनुभव करता है !

घरके पास ही एक झोंपड़ी बनवादी गई है, उसीमें रहती है—दुखिनी मिष्टदाना और उसका बच्चा—अकृत !···

माँकी कड़ी हिदायतके बावजूद अकृत जब बलभद्रके घर पहुँच जाता है, और वहाँ सुस्वादु-भोजन बनते तथा दूसरे बच्चोंको खाते देखता है, तो मन उसका काबूमें नहीं रहता ! मुँहमें पानी आ जाता है ! और वह मचल उठता है, रोने लगता है !

पर, माँ बहरी या वज्र हो रहती है ! ज़रा भी पसीजती नहीं ! कर्तव्य और ईमान जो सामने रहता है-हरवक्त !

एक टुकड़ा भी वह उस खानेमेंसे अकृतको देना पाप समझती है ! वह रोता है—बलभद्रके लड़के शरारतसे पेश आते हैं । चिढ़ाते हैं । बाज़ वक्त बातका बतंगड़ बनजाता है, और वे उसे मार तक बैठते हैं !

मिष्टदाना मनमें कम मर्माहत नहीं होती उस समय । पर, चुप रहती है ! सोचती है—'भाग्यने जब इसे ये पदार्थ नहीं दिए, तो जबर्दस्ती क्यों करता है खानेके लिए ?'

समझाती है—'बेटा ! ये बड़े लोगोंके खानेकी चीजें हैं । हम-तुम इन्हें नहीं खा सकते !—समझा ? चल...! मैं कामसे निपटकर अभी घर आती हूँ—रसोई बनाऊँगी, तब खाना—भला ?'

अकृत आँसू पोंछ लेता है—अनधिकार चेष्टाकी सज़ा–मार–खाकर ! लौटता है—शायद यह सोचता हुआ कि—'बढ़िया खाने बड़े लोगोंके लिये होते हैं, और मैं हूँ 'छोटा' ! बहुत छोटा !! शायद जीवनमें कभी 'बड़ा' न बन सकूँगा—ऐसा !'

× × × ×

बलभद्र चौकेमें बैठा खीर जीम रहा था ! मिष्टदाना परोस रही थी, कि बलभद्रकी नज़र अकृतपर जा पड़ी ! बोला—'क्यों बहिन ! अकृत दुबला-सा क्यों दिखाई देता है ? क्या मिहनत ज्यादै पड़ती है ?'

मिष्टदाना चुप रही !

अधिक आग्रह देखा, तो कहना पड़ा—'खीरके लिए बहुत दिनसे तरस रहा है !'

बलभद्र अवाक् !

सचमुच मिष्टदानामें उसे एक महानताकी—त्यागकी—छाया दिखाई दी—आज ! न जानें क्यों, अकृत पर भी उसकी ममता थी ही···! वह बोला—'हूँ !'

और रसोईके बाद उसने जो पहला काम कया, वह यह कि चावल, दूध, घी, मिश्री मिष्टदानाको देते हुए कहा—'जाओ, घर जाकर खीर पकाओ, और बच्चेको दो ! वाह ! नाहक नादान बच्चेका दिल दुखाया इतने दिनों !'

मिष्टदाना नत-मस्तक हुई । उसने पहिचाना—'बलभद्र पूंजीपति होते हुये भी मनुष्य है ।'

× × × ×

[५]

'आज खीर बनेगी, भर-पेट खाऊँगा—मैं !'—यह मधुर-सत्य अकृतको आज उन्मत्त बनाये दे रहा है ! सचमुच आज वह इस वास्तविकताको भूले जा रहा है, कि वह छोटा है ! उसके छोटे-से मनकी छोटी-सी दुनियामें महोत्सव होरहे हों जैसे !

वह उल्लासमय, न जानें क्या सोचता-विचारता झोंपड़ीके द्वारपर उछल-कूद मचा रहा है ! मनमें जो खुशी हलचल मचाए हुये है !

डोल, रस्सी और घड़ा लिये मिष्टदाना बाहर आई !

मुँह उसका भी आज प्रसन्न है—अपेक्षाकृत ! बोली—'देख, मैं कुँएसे पानी लेने जा रही हूँ ! तू यहीं रहना—बाहर ! आकर खीर खिलाऊँगी—अच्छा ?'

और वह बढ़ी—एक डग, दो डग !···

फिर मुड़कर बोली—'और हाँ, इस बीचमें अगर कोई तेरे भाग्यसे साधु आजाँय, तो उन्हें ठहराना, मैं भी अभी आती हूँ—वैसे ! जानता है—वे साधु, जो एक धजीर तक नहीं पहनते-ओढ़ते ! जो जमीन सोधते हुए चलते हैं ! उन्हें खिलानेका बड़ा पुण्य—बड़ा फल होता है ! समझा···?'

अकृतने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'खूब !'—शायद बड़े-छोटेकी व्याख्या अकृत अब खूब समझने लगा है !

× × × ×

नरकमें स्वर्गके दर्शन !

सौभाग्य !!

कि कुछ ही समय उपरान्त अकृतको एक परम-दिगम्बर महामुनि आते हुए दिखाई दिए ! उसका मुँह खिल उठा। वह जो हर बड़ी बातको अपनानेके लिये लालायित था !

मासोपवासी महाराज सुव्रत। पारणार्थ शायद बलभद्रके घर जा रहे थे कि रास्तेमें अकृतने टोका—बच्चोंके अभावने उसे बता दिया था, कि यही महासाधु हैं, इन्हींकी चरण-शरणसे दुखियोंके दुख मिटते हैं, छोटे बड़े बनते हैं !—'बाबा ! माँने आज खीर पकाई है, तुम खीर खाकर जाना। वह कह गई है मुझसे—आती ही होगी···ठहरिये दयाकर कुछ देर !'

योगीश्वरने देखा—आहारकी विधि नहीं है ! वह चलने-चलनेको हुये—कुछ बढ़े भी, कि अकृतने पाँव पकड़ लिये ! गिड़गिड़ाकर बोला—'जाने नहीं दूँगा—बाबा ! खीर···? बड़े लोगोंके खानेकी खीर खाकर जाना—अपूर्व भोजन ! नहीं, पाँव नहीं छोड़ूंगा······हाँ !'

शाबास !

भाग्यशाली अकृत ! धन्य !!!

कि उसी वक्त मिष्टदाना आगई ! घड़ा उतारकर, उसने विधिपूर्वक पड़गाह लिया—उन्हें !

निर्विघ्न आहार !

स्वर्ग-दाता महा-दान !! महापुण्य !!!

अकृत देखता रहा—निर्निमेष ! और सोचता रहा—'मेरे घर महामुनि आहार ले रहे हैं—मुझसे बढ़कर भाग्यवान कौन ? धन्य हूँ मैं, और मेरा आज का दिन !'

महा-मुनि आहार ले, तपो-भूमिको लौट गए। तो मिष्टदानाने दुलारपूर्वक अकृतको भोजन कराया, खुद खाया ! और सबके खा-पी चुकनेपर देखा तो खीर-पात्र जैसेका तैसा, भरा हुआ !

अचरज !!!

लेकिन तत्काल ही मिष्टदानाको यह चेत हो गया, कि ऋषिवर अक्षीणऋद्धिके धारी थे। यह उनकी ऋद्धि का प्रभाव है, चकित होने की बात नहीं, इन्द्रजाल नहीं ! आजके दिन अगर चक्रवर्तीका सारा सेवक-सैनिक समुदाय भी निमंत्रित कर दिया जाय तब भी खीर-पात्र रीता नहीं हो सकता !'

और तब उसने इस संयोगसे भर-पूर लाभ उठाया !

बलभद्रका सारा परिवार, गाँवका बच्चा-बच्चा उसके घर निमंत्रित हुआ ! लोग बर्तन भर-भरकर खीर अपने घर लेगए !

·······खुश, बहुत खुश और चकित !

एक सिरेसे दूसरे सिरे तक प्रशंसा !!

बलभद्र बोला—'बहिन, अकृतका अभाग्य अब साधु-चरणोंको छूकर सौभाग्यमें बदल गया है !'

पर्यूषण पर्व और हमारा कर्तव्य

(ले—० बा० माणिकचन्द जैन बी० ए०)

प्रतिवर्ष पर्यूषण पर्व आता है और चला जाता है। इस वर्ष भी वह हमें कर्तव्यका पाठ पढ़ाने आ गया है। यह पर्व जनमात्रके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके उपलक्ष्यमें हम दश धर्मोंका चिन्तन और मनन करते हैं। दश धर्म हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये ही हमारे धर्मका मर्म और सार हैं तथा जैनियोंके सारे विधि-विधान प्राः इन्हीं पर अवलम्बित हैं। यद्यपि अहिंसा जैनधर्मका मूल सिद्धान्त है अथवा यों कहिये कि अहिंसा जैनाचारकी जान है परन्तु वह सब इन दश धर्मोंमें बड़ी सुन्दर रीतिसे विभक्त है। हम अहिंसाको अपने आचार-व्यवहारमें कहाँ तक ले रहे हैं? अथवा इन दश धर्मोंकी हमारे जीवनमें कितनी व्यापकता है? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

वर्तमानमें हमारा समाज एक विचित्र वातावरणमें रह कर अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। हम प्रगतिशील व महान परिवर्तनके युगमें रह रहे हैं। ऐसी हालतमें हमारे समाजके दृष्टिकोण और विचार-धारा पर वर्तमान समयका असर होना अनिवार्य है। इस समय विश्वमें रणचण्डीकी प्रचण्ड ज्वाला धधक रही है, प्रत्येक राष्ट्र अपना अभ्युदय देखनेके लिए लालायित है और अपने देशका समुत्थान चाहनेवाले दूसरे देशके अधिकारों पर कुठाराघात करनेके लिये आतुर हैं। यही हाल आज अहिंसाके प्रतिपालक जैन समाजका है। समाजमें अहिंसा और सत्यका नाम तो है, पर वास्तविकताका अभाव है। हम कहनेमात्रको जैन रह गये हैं पर जैनत्व हमारे पास फटकता तक नहीं। अनेकान्त, अहिंसा और विश्व-प्रेम ये जैनत्वके मुख्य चिन्ह हैं पर हमारे जीवनमें इनका पता तक नहीं। इसीसे हम देख रहे हैं कि अहिंसा-पालक—नहीं नहीं, अहिंसापालनका दम भरनेवाला समाज आज ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, पाखंड और भ्रातृद्रोहका शिकार बन रहा है। आडम्बर और ढोंगने उसकी धार्मिक प्रवृत्तियोंपर अपना अधिकार जमा लिया है अथवा यों कहिये कि हमारे समाजकी सामाजिक और धार्मिक विचार-धारा पर कृत्रिमता और बाह्य आडंबरका आतंक छाया हुआ है। यही कारण है कि समाजमें धर्मके नामपर और सामाजिक रीति-रिवाजोंके नामपर आयेदिन झगड़े होते रहते हैं; जिनका नतीजा हम स्वयं देख रहे हैं कि हमारा समाज छोटी-मोटी कितनी ही टुकड़ियोंमें विभाजित होगया है, अशान्ति और कलहका पुजारी बना हुआ है। क्या विश्वप्रेम और अहिंसा इसी का नाम है?

इन्किलाब (परिवर्तन) उन्नतिका परिचायक है, पर हमारे समाजके इन्किलाबने समाजको आगे न बढ़ाकर रूढ़ियोंका अनुगामी बना दिया है। रूढ़ियों और कुप्रथाओंका आधिक्य यदि किसीको कहीं देखना हो तो वह जैन समाजपर विहङ्गम दृष्टि डाले। इससे उसव्यक्तिके समक्ष इन रूढ़ियों और कुप्रथाओंका एक हू-बहू चित्र अङ्कित हो जायगा। वह कहने लगेगा कि जैन समाज अपने ढंगका एक निराला ही समाज है, जो इस परिवर्तनके युगमें भी अपनी ऐसी निराली राग अलाप रहा है। यह है इस समाज की वर्तमान दशाका चित्र!

सच पूछिये तो आज दिन समाजकी अत्यन्त दयनीय अवस्था है। इस अवस्थाका वर्णन करते समय दिल दहल जाता है, हृदय काँप उठता है। गरीबों अनाथों और विधवाओंकी चिन्ता-ग्रसित अवस्था तथा दारुण व्यथाको देख कर तो आंखोंके आगे अँधेरा छा जाता है! दूसरोंको विश्व-प्रेमका पाठ पढ़ानेवाला समाज आज अपने ही भाइयों और बहिनोंपर दया तथा सहानुभूतिका व्यवहार नहीं कर रहा है उन्हींको प्यार नहीं कर रहा है। जिस समाजमें इतनी भी उदारता नहीं वहाँ विश्वप्रेम कैसा? अपने ही समाजकी टीका-टिप्पणी करना शायद अनुचित कहा जायगा। पर हकीकतको छिपाना भी महा पाप है। उससे उत्तरोत्तर पापकी वृद्धि होती है और सुधार होनेमें नहीं आता।

पर्यूषण पर्व निकट ही आगया है, यह बड़ी प्रसन्नता

की बात है। इन दिनोंमें धर्मकी व्याख्या की जायगी, धर्म का मर्म और रहस्य समझाया जायगा। हम बड़े आनन्द और चावसे षोडश कारण भावना, दशलक्षण धर्म तथा रत्नत्रयादि धर्मका मर्म सुनेंगे और सुनायेंगे, मंडल विधान आदि करेंगे, व्रत-उपवास रक्खेंगे, पर देखना यह है कि इस धर्मके महत्वको अपने जीवनमें कहाँ तक उतारेंगे। हम तो बराबर देखते आरहे हैं कि प्रतिवर्ष पर्यूषण पर्व आता है, अष्टाह्निका आदि पर्व भी आते हैं, बड़े बड़े विधान होते हैं, रथ, गजरथ निकाले जाते हैं, वेदियाँ रचाई जाती हैं, बिम्ब प्रतिष्ठाएँ कराई जाती हैं और बड़े-बड़े पंडित जन गला फाड़ फाड़ कर धर्मका मर्म समझाते रहते हैं; तो भी हमारा समाज सच्चे अर्थोंमें अहिंसाका प्रतिपालक नहीं हो पाता—धर्मको जीवनका अंग नहीं बना पाता, आपसी कलह और राग द्वेषको नहीं छोड़ता, उलटा सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्रोंके नाम पर हर क्षण मुकदमेबाजी करता रहता है। क्या यही धर्मध्यान, पूजा विधान, और व्रत-उपवासका फल है?

हमारा धर्म और धर्मके सिद्धान्त यद्यपि हमें कर्तव्यकी ओर अग्रसर करते हैं, हमें मानवताका पाठ पढ़ाते हैं, हमारे हृदयसे बर्बरता और उद्दंडताको हटाकर हमारी आत्माको शुद्ध और निर्मल बनाते हैं पर हम उन सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें नहीं अपनाते, अपने कर्तव्यको नहीं पहचान पाते।

धर्म हमें श्रेणीबद्ध कर्तव्यकी ओर अग्रसर करता है। कुलके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है? समाजके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है? देश और धर्मके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है? इत्यादिका रहस्य हमें हमारे सिद्धान्त भलीभाँति समझा देते हैं। किन्तु फिर भी हम अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर पाते, यह बड़े खेदका विषय है!

हमारा कर्तव्य है कि हम बीस और तेरह तथा श्वेताम्बर और दिगम्बरके भेद-भावको छोड़कर समूचे जैनसमाज को सुदृढरूपसे संगठित करें, समाजमें नव-जीवनका संचार करें—नूतन उत्साह, स्फूर्ति और जागृतिकी लहरें तरंगित करें; धर्म और समाजकी रक्षा करते हुए देशोत्थानके कार्यों में पूर्ण सहयोग देवें, समाजमें वास्तविक जैन सभ्यता और संस्कृतिका प्रसार करें, सच्चे तौरसे अहिंसा के प्रतिपालक बनकर विश्वको अपना कुटुम्ब समझें; बाल, अनमेल और वृद्ध विवाह आदि कुरीतियोंको समूल नष्ट करें, शिक्षाका प्रचार करें, समाजकी विधवाओं और दरिद्री भाइयोंकी तन-मन-धनसे सेवा करें। यही सच्चा धर्म है। जो ऐसा नहीं करते और धन-संपन्न होकर भी अपने ही समाजके उन स्त्री-पुरुषों, बालकों तथा विधवाओंकी सहायता से मुखमोड़े रहते हैं जिनके पास खानेको अन्न और पहननेको वस्त्र नहीं वे निःसन्देह अपने कर्तव्यकी अवहेलना कर रहे हैं। आशा है जैन बान्धव धर्मको दूरसे ही अर्घ न चढ़ाकर उसे जीवनका साथी बनाएँगे और इस तरह अपने कर्तव्य का पालन करके सच्चे अर्थोंमें पर्यूषण पर्वका स्वागत करेंगे।

जैन विद्वान की आवश्यकता

'अनेकान्त' कार्यालयके लिये एक अनुभवी विद्वान् कार्यकर्ताकी आवश्यकता है। वेतन योग्यतानुसार। आने के इच्छुक सज्जन निम्न पते पर पत्र-व्यवहार करें। साथमें कार्यका अनुभव और कहाँ कार्य किया है यह भी लिखें।

कौशलप्रसाद जैन
आ० व्यवस्थापक
कोर्टरोड सहारनपुर यू० पी०

पुराने ग्राहकोंसे

समयपर ग्राहकोंके पास पहुँचानेकी शीघ्रतावश हम कितने ही ग्राहकोंके पास यह किरण वी० पी० से नहीं भेज रहे हैं। अतः जिन बन्धुओंके पास वी०पी० न पहुँचे उनसे चन्देके ४) रु० तुरन्त "वीरसेवामंदिर सरसावा जि० सहारनपुर के पते पर मनीआर्डरसे भेज देनेकी प्रार्थना है। जिससे उन्हें ।) का लाभ रहेगा और कार्यालय भी दिक्कत से बच जायगा।

—व्यवस्थापक

हिन्दीके जैनकवि

(ले०—श्री जमनालाल जैन, विशारद)

वर्तमान समयमें हिन्दी-साहित्य-संसारके भीतर, अनेक कवियोंकी अपनी २ चाल, विचार और आदर्श हैं। समालोचक महोदय भी अपने अपने दृष्टिकोणसे सबको परखने की चेष्टा करते रहते हैं और जिस वाद या कविको अपनी विचार-धाराके प्रतिकूल पाते हैं उसे आड़े हाथों लेनेमें नहीं हिचकते हैं। कोई छायावादका उपहास करते हैं, कोई रहस्यवाद पर व्यंग कसते हैं, कोई प्रगतिवादको दुलत्तियाँ लगाते हैं तो कोई प्रतीकवादसे चिढ़ते हैं। इस समय हम देखते हैं, प्रगतिवाद पर बहुत कुछ चर्चा चल रही है और उस धारामें प्रवाहित होने वाले कवियोंको कोसा भी खूब जारहा है। जिसमें 'अंचल' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वाद कोई भी हों, कैसे भी हों और अपने अपने अपने दृष्टिकोणसे चाहे जैसे हों, परन्तु जब हम देखते हैं कि इन वादोंकी ओटमें समाजमें अश्लीलताका प्रसार हो रहा है तो ग्लानि, खेद और क्षोभसे हृदय झुलसने लगता है। मालूम नहीं रीति-कालीन कवियोंकी अतृप्तलालसा आजके कवियोंको क्यों लालायित कर रही है, वे उस ओर क्यों प्रवाहित होते जारहे हैं। आज, जब समयमें इतना विषम परिवर्तन होगया है, एक दम हवा ही बदल गई है तब भी हम वही राग आलापा करें यह कैसे हो सकता है? आज तो मानव मानवके खूनका प्यासा हो रहा है, दोनों वक्त भरपेट खानेको भी नहीं नसीब होता, बच्चे रोती रोती करते २ ही मांके अंचलमें मुंह ढांक कर सोजाते हैं और उन बच्चों-सुकुमार बच्चोंकी दारुण और करुणास्पद स्थिति पर मांकी आंखोंमें आंसू भी नहीं रहे हैं, तब भी हम नख-शिख, प्रेमी-प्रेमिकाकी असंगत राग अलापा करें, बड़े आश्चर्यकी बात है! एक तो, पहले ही रीतिकालीन राज्याश्रयी कवियों, कवियों नहीं कौओं अथवा चापलूसोंने अश्लीलताकी भयानक बू समाज, देश और साहित्यमें फैलाकर हमारे राजमार्ग, उन्नतिके सात्विक साम्राज्यको गंदा बना दिया और हमें आलसी, अकर्मण्य, विलासी तथा कामुक बना कर पाशविक प्रवृत्तियोंका दास बना कर मानवतासे कोसों दूर फेंक दिया, तिस पर भी हमारे तरुण कवि यदि—

> "प्रेयसि, याद है वह गीत?
> गोदमें तुमको लिटा कर,
> कंठमें उन्मत्त स्वर भर,
> गा जिसे मैंने लिया था स्वर्गका सुख जीत"

गाया करें तो यह हमारा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है? एक ओर मासूम बच्चे विधवा रमणियां और निःसहाय पंगु लोग, क्षुधा और तृषासे पीड़ित हो त्राहि २ करके प्राण छोड़ रहे हैं तो दूसरी ओर हमारे कवियोंको आलिंगन, चुम्बन सूझ रहे हैं! ऐसे ही कवियोंको लक्ष्य करके कविवर भूधरदासजीने जैनशतकमें कहा है:—

> राग उदै जग अंध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गमाई,
> सीख बिना नित सीखत हैं, विषयादिक सेवनकी सुघराई।
> ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई;
> अंध असूझनकी अँखियानमें, डारत हैं रज राम-दुहाई।

हिन्दीसाहित्य बेचारा एक तो पहले हीसे बदनाम श्रृंगारियों द्वारा है, दूसरे आज हम उसी ओर और अपने आपको ढकेल रहे हैं। हा! कहां गए वे तुलसीदास, कबीरदास और बनारसीदास! यदि आज वे होते, तो इन्हें कुछ बरताते, समझाते, कि 'अरे युवको! यह क्या कर रहे हो, क्यों मातृ जातिका तिरस्कार, अपमान कर रहे हो, सोचो और समझो!'

आज, ऐसे ऐसे गीत और कविताएं साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओंके मुखपृष्ठों तक पर दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें न सौंदर्य रहता है, न लोककल्याणकी उत्कृष्ट भावनाएं रहती हैं, न प्राणहीन जीवनमें अमृतधाराकी वर्षा कर सकें वह शक्ति ही रहती है। वादों वादों और अपनी आंतरिक क्षणिक यौवनोन्मत्त भावनाओंकी ओटमें हमारे कवि उनमें ऐसे २ शब्दों और भावोंका अंकन करते हैं, जिन्हें पढ़ना

तक बुरा मालूम होता है। मा-बहनोंके आगे तो उन्हें पढ़ना निर्लज्जताकी सीमाको छूना कहा जा सकता है।

उनकी कवितामें न पीड़ित मानवताकी पुकार है, न राष्ट्रीय भावोंके नग्न चित्र हैं, न साहसपूर्ण उत्साह संचार करनेकी ओजपूर्ण उक्तियां ही।

कहाँ हैं वे पंक्तियाँ जो माखनलाल चतुर्वेदीने कहीं, कहां है वह हृदयविदारक 'झाँसीकी रानी' कविता कहने वाली सुभद्राकुमारीकी पंक्तियाँ और कहां है आज हमारे में यह भावना—

''जिसको न निज गौरव तथा निज देशका अभिमान है,
वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है।''

आज तो बस अंचलजीकी तानमें तान मिलाकर हम यही चाहतेहैं —

''गोरी बाहोंमें कस प्रियको
करदूं चुम्बनसे सुरास्नान''—अपराजिता

सचमें आज हिंदी साहित्यके भीतर शब्दक्षेत्रमें कतिपय कवि-श्रेष्ठोंको छोड़कर अश्लीलता और गुण्डत्वकी भरमार हो रही है, यदि यही रफ़्तार कुछ समय तक और रही तो, यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि वह दिन अधिक दूर नहीं है जब हम भारतीय अकर्मण्य, आलसी और पाखण्डी बनकर नारकीय जीवन बिताने लगेंगे। उस समय हमारेमें चेतना होते हुए भी जड़ता व्याप्त रहेगी। उस समय हम, आजके सौ वर्ष पूर्वके कविके शब्दोंमें—

'सींग पूंछ बिनु बैल है मानुष बिना विवेक।''

यदि रहेंगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

इतना सब कुछ होते हुए भी, हम लोगोंकी 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' हो रही है, अपना पतन होते हुए जान कर भी हम उन्हें बधाई दे रहे हैं, उनकी रसिकताकी दुहाई दे रहे हैं; उन्हींका यशोगान गा रहे हैं, कितनी दुख और क्षोभकी बात है! हम लोगोंमें साम्प्रदायिकता और पक्षपातका अंकुर इस प्रकार जम गया है कि दूसरी ओर आंख उठाकर भी देखना नहीं चाहते, अपनी मौत-बेमौत मरना मंजूर है परन्तु दूसरेके पास यदि सुधा है, अमृत है तो वह निरुपयोगी है। बड़ी आश्चर्य और विस्मयकी बात है!

जब, हिन्दीसाहित्यमें उच्च माने जाने वाले कविगण पाशविकताका प्रचार करनेमें तल्लीन हैं, तब जैन कविगण देवत्वकी महत्ताको भूल नहीं गए हैं। जैनकवियोंकी यह प्रारम्भ हीसे विशिष्ट विशेषता रही है कि प्रत्येक प्राणीमें मानवताका संचार किया जाय। उसे अपनी स्थिति, परिस्थिति और कर्तव्यसे परिचित किया जाय। वे स्पष्ट जानते हैं कि मानवका कल्याण, उद्धार, विषयमें नहीं, भोगमें नहीं और इच्छाओंमें भी नहीं। मानवका आदर्श मानवता है नकि पाशविकता। देखिए 'वसंत'जी क्या कह रहे हैं—

''जीवनमें ज्योति जगाना है''

ज्योति हमेशा निष्कलंक हुआ करती है, जिसमें ज्योति जगाती है, वह भले ही कालिमापूर्ण हो, परन्तु ज्योतिमें कालिमा रह ही नहीं सकती। चाहे आप वीरत्वकी ज्योति जगाइए, साहसकी जगाइए, शान्तिकी जगाइये, वह सौंदर्य पूर्ण और कल्याणप्रद ही होगी। अंधकारका सर्वनाश ही करेगी। इसी जीवनको सर्वश्रेष्ठ जीवन मानने वाले, इसके आगे कुछ भी न माननेवाले और राग-रंगमें मग्न रहनेवाले भले मनुष्योंको जरा आंखें खोलकर देखना चाहिए कि—

''किसका कैसा गर्व, अरे!
जब जीवन ही सपना है,
सर्वनाशके इस निवासमें—
कौन कहां अपना है!''—'कुमरेश'

कहां तो यह उत्तम भावना और कहाँ वह चार आंखें मिलानेकी क्षणिक सुखकी बातें! दुनियाभरके रागरंग, ऐशो आराम, धनसम्पत्ति, मान अभिमान और कारोबार, स्थायी नहीं, अस्थायी ही हैं। क्योंकि हमने देखा है, और देख रहे हैं और देखेंगे भी कि—

''समयरेत पर उतर गया है
बड़ों बड़ोंका पानी।''

तब किसपर इतना गर्व, किसपर इतना अभिमान, किसपर यह नाज़नखरे! समझमें नहीं आता जीवनकी क्षणभंगुरता देखकर भी हमारे कविगण क्यों विषयवासना के शिकार बने उन्मत्तहोकर पागल भौंरेकी नाईं, विभिन्न शाखियोंपर मँडराया करते हैं।

प्रगतिशील साहित्यके हिमायती कहा करते हैं—यह किसानोंका साहित्य है, यह पूंजी पतियोंके विरुद्ध पुकार है, इसमें पीड़ित मानवता चीख रही है, परंतु यह सिर्फ भोली जनताको भुलावा मात्र है, दिन दहाड़े आँखोंमें धूल झोंकना मात्र है। सच्ची सेवाभावना, सच्चा आर्तनाद, सच्ची दयार्द्रता देखना हो तो 'युगवीर'की पंक्तियाँ देखिए, वे क्या कहरहे हैं—

"दीन दुखी जीवोंपर मेरे
उरसे करुणा-स्रोत बहे।"
"फैले प्रेम परस्पर जगम,
मोह दूर, पर, रहा करे।"
"अप्रिय-कटुक-कठोर-शब्द नहिं,
कोई मुखसे कहा करे।"

इधर हमारे नवनूतन कवि 'भगवत्' जी भी मानवताके परम उपासक हैं। इनकी कवितामें भी पीड़ित और त्रस्त मानवको चीत्कार सुनाई देती है। आपकी रचनाएँ बड़ी मर्मस्पर्शिणी, हृदयविदारक और स्पष्टतासे परिप्लावित होती हैं। देशकी दयनीय दशा, समाजका करुण-रोदन, धर्मकी चीत्कार आप भूले नहीं हैं। जहाँ एक ओर हमारे हिन्दीसाहित्यमें अश्लीलता, पाशविकता और कलाके नामपर घृणाका प्रचार हो रहा है, स्वानुभूतिके नामपर व्यभिचार की कुत्सित भावनाओंको आश्रय मिल रहा है वहां यह कवि अपनी आंतरिक वेदनाको छिपानेमें पूर्णतया असफल है, वह कह रहा है:—

"सोने सोनेमें ही तुमने अपना समय बिताया"

कितना मर्म छिपा हुआ है इस एक ही पंक्तिमें!

साहित्यमर्मज्ञोंका—सभी नहीं, कतिपयोंका कहना है कि कविको इस बातकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि अपने अनुभवोंको बिल्कुल उसी रूपमें उपस्थित करे वह जैसे वह अनुभव करता है। परन्तु यह नहीं सोचा जाता है कि इस अनुभूतिके ही नामपर भयानक अश्लीलता जोर पकड़ती जा रही है।

वह जीवन, जीवन नहीं कहा जासकता जिससे लोक कल्याण न हो, विश्वमें कुछ आदर्श उपस्थित न हो, सुप्त-प्राणोंमें चेतनाका संचार न हो। यदि ऐसा नहीं होता है तो कहना पड़ेगा कि वह जीवन, जीवनहीन, जड़जीवन है, नारकीय जीवनसे भी बदतर जीवन उसकी संज्ञा है।

"उन्हें नरपशु कहना उपयुक्त,
ज्ञानधनसे जो रीते हैं;
न जीनेके हित खाते वह
बल्कि खानेको जीते हैं"—"भगवत्"

जिनके हृदयमें कामुकताकी, विलासिताकी वासना है, इच्छा है, उन्हें भी खानेके लिये जीते रहने वाले नर-पशु नहीं कहा जाय तो क्या कहेंगे!

आज हिन्दी साहित्यमें अधरसे अधर, गातसे गात, बाहुसे बाहु मिलानेके गीत प्रचुर परिमाणमें निर्मित होकर पत्र-पत्रिकाओंके मुखपृष्ठोंकी शोभा बढ़ातेहुए वास्तवमें हिन्दी साहित्यको कलंकित कर रहे हैं। परन्तु वे जैनकवि ही हैं, जिनकी अध्यात्मिक गंगा निरंतर प्रवाहित हो है। वह प्रभावित नहीं किसी वाद विशेषसे।

अनेकान्तको सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन विद्वानों लायब्रेरियों एवं संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (बिनामूल्य) या अर्ध मूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक चौदह रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा)।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रन्थोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखोंपर पुरस्कार भी दे सके। स्वत: अपनी ओर से उपहार ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिए अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखों की सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिए उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना। —सम्पादक

सफलताकी कुञ्जी

(ले०— श्री बा० उग्रसैन जैन एम० ए०, एल-एल० बी०)

कोई भी किसी प्रकारकी भी संस्था क्यों न हो, उसकी सफलता या असफलताका आधार उसके संचालकगण ही हुआ करते हैं। वे जैसी नीति या जैसा उद्देश्य अपनी संस्थाका निश्चित करते हैं उसके अनुसार ही वे अपनी कार्य-प्रणाली बनाया करते हैं। संस्थाका समस्त उत्तरदायित्व उन्हींके कंधोंपर हुआ करता है। किसी भी संस्थाके संचालकोंके लिये जरूरी है कि किसी भी कार्यको हाथमें लेनेसे पहले वे निम्न तीन आवश्यक बातोंको ध्यानमें रखें, जो सफलताकी कुंजी हैं—

(क) प्रथम ही उनके दिलमें अपने उद्देश्य तथा कार्यके प्रति दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये, प्रेम होना चाहिये। ऐसा नहीं कि उस कार्यको ईर्षा या किसी कषायके वशीभूत होकर स्वार्थ-साधनके निमित्त किया जावे, किसी पालिसी (Policy) या डिप्लोमेसी (Diplomacy) के आधार पर किया जावे; उसकी तहमें Honesty of purpose अर्थात ध्येयकी सत्यता होनी चाहिये। जब तक कार्यकर्ताओं के दिलोंमें उस उद्देश्यके प्रति ऐक्यतारूपसे तथा यथार्थरूपसे श्रद्धा नहीं होगी वे उसकी पूर्तिमें असमर्थ रहेंगे। कंधेसे कंधा भिड़ाकर. हाथसे हाथ पकड़े, बिना भेदभावके, अहिंसा और परोपकारके भावके साथ प्रेमपूर्वक यदि वे श्रद्धालु कार्यकर्ता कार्यक्षेत्रमें उतरते हैं तो उनके मार्गमें कोई रुकावटें डाल नहीं सकता। कोई अड़चनें उनके सामने ठहर नहीं सकतीं। समस्त संसार उनके प्रेम और अहिंसासे खिंच कर उनकी ओर उमड़ आता है। वे संसारको मोहित कर लेते हैं, या यों कहिये कि वे जनताके हृदयस्थलपर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

(ख) दूसरे, यह बात विचारनी जरूरी है कि जिस कार्यको हम छेड़ रहे हैं वह लाभदायक होना चाहिये। ऐसा न हो कि केवल शोर मचाने तक ही उसकी पूर्ति समझ ली जावे। यदि परिश्रम किया जावे और उससे कोई लाभ न हो तो कार्यकर्ताओंके दिल बुझ जाते हैं, हिम्मत टूट जाती है; समय, द्रव्य, तथा शक्तिका दुरुपयोग होता है, जनताका विश्वास जाता रहता है और "अपना मरण जगतकी हँसी" वाली कहावत चरितार्थ होती है। पहले यह विचार लेना चाहिये कि यह कार्य हमारे उत्थानमें सहायक भी होगा या नहीं, हमारे उद्देश्यकी पूर्तिकी ओर हमें ले चलेगा या नहीं। हमें इस बातसे नहीं डरना चाहिये कि वह कार्य कठिन है; कठिन भले ही क्यों न होवे उस बातकी परवा नहीं। कठिनाई का तो हमें स्वागत करना चाहिये और उसके ऊपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। मेरा कहनेका प्रयोजन यह है कि शक्ति और समयका दुरुपयोग न हो और हम स्वयं या कोई और यह न कह सके कि "खोदा पहाड़ और निकली चुहिया!" जिस कार्यको हम करें उसका अन्तिम परिणाम जरूर अच्छा निकलना चाहिये। समय और शक्तिका व्यर्थ नष्ट करना किसी भी व्यक्ति तथा समाजके लिये एक बड़ीसे बड़ी हानि है।

(ग) तीसरे, जो कार्य हम करें प्रसन्न-वदन होकर करें। एक बालकवत् निर्भय तथा निर्विकार होकर निःस्वार्थ भावके साथ हँसते २ करें। कोई बुरा कहे या भला कहे, हम संक्लेशित न होवें, अपने ध्येयपर डटे रहकर अपने मार्गसे च्युत न होवें। जो सद्भावनायें लेकर हम पथारूढ़ हुए हैं उनको दूसरोंके सामने रखते हुए चलें, जो सद्गुण दूसरोंमें जान पड़ें उनको सहर्ष ग्रहण करें, यदि कोई हमें हमारी त्रुटियाँ या गलतियां सुझावे उनको शान्तिपूर्वक समझ कर दूर करें, सुझाने वालेका आभार मानें। एक विनय-

वान श्रद्धालु जिज्ञासुकी तरह सदैव अपने ज्ञानमें बढ़ोतरी करनेके लिये तय्यार रहें। अपने पथप्रदर्शकोंके प्रति श्रद्धा और भक्तिका भाव बनाये रक्खें, पारस्परिक विश्वास बनाये रखें। जैसे युद्ध-स्थलमें एक सैनिक बिना किसी प्रकारकी चूंचराके अपने कप्तानके हुक्मको मानकर आगे बढ़ता चला जाता है उसीप्रकार एक कार्यकर्ताको अपने कप्तानकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, जहाँ वह हुक्म दे जाना चाहिये, जो वह हुक्म दे बजालाना चाहिये। इस प्रकारके विश्वास तथा आज्ञा-पालनके बिना संसारके अन्दर कोई भी बड़ा कार्य कोई भी व्यक्ति तथा कोई भी संस्था नहीं कर सकती।

नम्रता, दयालुता तथा प्रेमको अपनाएँ, सरल व्यवहार करें, सादा रहन सहन हो, विचार उच्च हों दीन-दुखी जीवोंकेप्रति करुणा स्रोत बहता हो, जोबीत गया उसका ग़म न करें, कलकेलिये फ़िकर न करें, वर्तमानमें रहना सीखें, परिश्रमसे डरें नहीं। जैसे एक बालक अपने खेलमें मग्न होकर रंजायमान होता रहता है ठीक उसी तरह अपने कार्यमें संलग्न होकर हर्षभाव के साथ उसे पूरा करें, निराशाको अपने पास फटकने न दें। यदि इन विचारोंके साथ किसी संस्थाके संचालक गण कार्य करते हैं तो अवश्य सफलता उनको प्राप्त होगी, उनकी शुभ मनोकामनायें पूर्ण होंगी और उनकी शुभभावनाओंकी पूर्ति ही उनका पुरस्कारहोगा।

कवि-कर्तव्य

मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ रस छलकाएँ !

काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

समझें, पहले सुख–दुख क्या है ?
जग में सुन्दर जीवन क्या है ?
इस छोटे से एक प्रश्न की—
छोटी सी परिभाषा क्या है ?
'माया, तृष्णा–अहंकार 'दुख'
त्याग–तपस्या 'सुख' कहलाएँ ?'
मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ रस छलकाएँ !

माया–मकड़ी का सा जाला—
दृढ़ करता ही जाता बन्धन !
और त्याग से मिलता, मानव !
परमानन्द मोक्ष का साधन !
क्यों न दुःख के कंटक पथ को
त्याग परमसुख–पथ पर आएँ !
मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ रस छलकाएँ !

'सत्य' शान्ति का सुन्दर सागर,
जीवन में नव - स्पंदन भरता।
और 'अहिंसा' धर्म मान कर—
मानव भव–सागर से तरता !
हिंसा के इस घोर कष्ट से—
सारे जग का पिंड छुड़ाएँ !
मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ रस छलकाएँ !

दम्भ–द्वेष से कट–कट मरते—
रक्त-पान करते जो पल–पल—
आत्म–ज्ञान के तरु पर लटके—
उन्हें मिलेंगे यहाँ अमर–फल !
उलटे-पैरों आँख मीच कर—
पश्चिम से पूरब को आएँ !
मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ रस छलकाएँ !

आज विश्व-संकट फैला है,
मानवता का मन मैला है।
मानव ! ज्ञान कहाँ पर खोया,
अंधकार का भ्रम फैला है।
'बो कर बीज बबूल—खोजते,
मीठे आम' कहाँ से खाएँ !
मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ सुख छलकाएँ !

करनी का सब फल पाते हैं,
पाप, पुण्य से जल जाते हैं।
शील–क्षमाके उस विवेक से—
दुख भी तो सुख बनजाते हैं !
काँटों में प्रसून हँस उठते,
पण्डित दुख में सुख झलकाएँ !
मानवता की इस प्याली से—
आओ कवि ! कुछ रस छलकाएँ !

सिंहभद्रको वीरोपदेश*

[ले०—बा० कामताप्रसाद जैन D. L., M. R. A. S.]

वैशालीमें गणनायक चेटकका आवास था। सिंहभद्र उनके पुत्र थे। वह इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे और संभवतः लिच्छवि गणराज्यकी सेनाके अधिनायक थे। एकदा सिंहभद्र भ० महावीरकी वन्दना करनेके लिये गये। उन्होंने भ० महावीरको नमस्कार किया और विनयपूर्वक पूछा, "प्रभो! लिच्छवि राजकुमार शाक्यमुनि गौतम बुद्धकी प्रशंसा करते हैं। उनके मतको अच्छा बताते हैं, यह क्या बात है?" सिंहभद्रने उत्तरमें जो सुना उसका सारांश था:—"गौतम बुद्धके वचन मनको लुभाने वाले इन्द्रायण फलकी तरह सुंदर है; परन्तु सिंह! तुम कर्मसिद्धांतके श्रद्धानी श्रावक हो; तुम्हें अक्रियावादी गौतमके मतसे क्या प्रयोजन? मुग्ध लिच्छविकुमार इस भेदको नहीं चीनते। जो कर्मोंके फलको भोगने वाले आत्माके अस्तित्वको भी स्पष्ट नहीं बता सकता[1] और जो प्रकट हिंसावाद—मांसलोलुपताका संवरण नहीं कर सकता, वह गुरु कैसा? क्या तुम आत्मद्रव्यमें विश्वास नहीं रखते और क्या तुम जीवोंके घातमें हिंसा नहीं मानते? क्या मृतमांस खाना विधेय है? भूल गये, जब तुमने बौद्ध संघके लिये मांस भोजनका प्रबन्ध किया, तब वैशालीमें कैसा क्षोभ फैला था?[2] वैशाली में सड़क-सड़क और चौराहे-चौराहेपर धर्मश्रद्धालु जनताने उस कर्मका विरोध किया था। सबने एक स्वर से कहा था कि श्रमण गौतम जान बूझकर औद्देशि मांसभोजन करता है, इस लिए उस हिंसाका पातकी वही है। धर्मात्मा कभी भी जानबूझकर प्राणिवध नहीं करते।" सिंहने बीचमें कहा, "नाथ! यह कैसे? जब गौतमने प्राणिवध किया नहीं और न मुझसे वैसा करनेको कहा तो वह पातकी कैसे?" सिंहने समझा कि "मुग्ध जीव हिंसा और अहिंसाके स्वरूपको न जानने के कारण ही ऐसा कहते हैं। सिंह! यह बताओ कि तुम मेरे पास कैसे आये? ऐसे ही न कि पहले तुम्हारे मनमें यह भाव उदय हुआ कि चलो ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्से इस शंकाकी निर्वृति करें? इस भावके अनुरूप ही तुमने कर्म किया। यह तुम्हारी भावक्रिया का स्थूलरूप था—उसकी सूक्ष्म प्रतिक्रिया तुम्हारे मानसक्षेत्रमें उस भावके उदय होते ही हो ली! अतएव प्रत्येक कर्म भाव और द्रव्य रूपसे दो तरहका होता है। हिंसा और अहिंसा भी दो तरह है (१) भावहिंसा (२) और द्रव्यहिंसा। इनमें भावहिंसा प्रधान है। उसके होते हुये द्रव्य हिंसा की जावे, चाहे न की जावे; परन्तु व्यक्ति हिंसाका अपराधी होजाता है; क्योंकि प्रमत्त चित्त—क्रोध, मान, माया, लोभके वश होकर वह अपने व अन्य प्राणीके भाव प्राणोंका हनन करता है—उसके परिणाम उतने ही क्रूर हो जाते हैं, जितने कि प्राणिवध करते समय एक हत्यारे के होते हैं। सम्राट् श्रेणिककी बात, सिंह! तुमने सुनी होगी। राजगृहमें कालसौकरिक नामक कसाई रहता

---

*लेखकने जैनमित्रमंडल दिल्लीके आग्रहसे भ० महावीरका जीवन-चरित्र पुनः लिखा है। उस ही अप्रकाशित पुस्तकका प्रस्तुत लेख एक अंश है। बौद्धग्रंथ 'विनयपिटक' में सिंह सेनापति द्वारा बौद्धसंघको मांसाहार कराने और निर्ग्रन्थ जैनियों द्वारा उसका विरोध करनेका उल्लेख है—उसमें सिंहके भ० महावीरके निकट जानेका भी उल्लेख है। इस घटनाको पल्लवित-रूप देखकर लेखकने यह प्रकरण लिखा है। आशा है, यह कम उपयोगी और रोचक प्रतिभासित होगा। सिंहके निमित्तसे अहिंसा-तत्वका निरूपण जिनेन्द्र महावीरने किया हो तो आश्चर्य ही क्या? —ले०

१ बौद्ध ग्रंथोंमें आत्माके अस्तित्वको 'अवक्तव्य' कहकर टाल दिया गया है।

२ इस समय सिंह बौद्ध था।

है।[१] श्रेणिकने चाहा कि वह हिंसाका व्यापार छोड़दे। कालसौकरिक हिंसानन्दी है—वह बोला, 'इस काममें दोष ही क्या है। जो मैं इसे छोड़ दूँ। इसके द्वारा मैं सहस्राधिक मनुष्योंकी रसना-तृप्ति करनेका श्रेय और अर्थलाभ पाता हूँ। ऐसा अच्छा धंधा मैं नहीं छोडूंगा। श्रेणिकने लालच दिया, परन्तु वह न माना। हठात् श्रेणिकने राजदंड दिया और उसे अंधकूपमें बन्द करा दिया। वह समझे कालसौकरिक अब हिंसा नहीं कर पायगा। श्रेणिक वीरसमोसरणमें आए और बोले, निर्ग्रन्थ सम्राट्! मैंने कालसौकरिकसे हिंसा छुड़ा दी; अब मेरी गति क्या होगी? उन्होंने उत्तरमें सुना—राजन्! पूर्वमें बंधे हुए शुभाशुभ कर्मोका फल उदयमें अवश्य आता है। तुम पहिले नरकका आयुका बंध बांध चुके हो, इस लिए वह हट नहीं सकता। कालसौकरिकके भी तीव्र मिथ्यात्व और चारित्र मोहनीय कर्म उदयमें आरहे हैं। इसी लिए वह हिंसाको नहीं छोड़ पाता। श्रेणिक! अंधकूपमें तुमने उसे डाला अवश्य, परन्तु वहां भी उसने मिट्टीके भैंसे बना बनाकर मारे हैं! उन मिट्टीके भैंसोंको मारते समय भी उसके वैसे ही क्रूरभाव थे और वही हिंसानन्द था जो उसे सचमुचके भैंसोंको मारते समय होता था। श्रेणिकने देखा तो यह सच पाया। इस लिए सिंह हिंसाकी और अहिंसाकी परख मनुष्योंके भावोंसे ही की जाती है। एक कृषक और एक धीवर है। कृषक मीलों जमीन जोत डालता है और त्रस-स्थावर जीवोंकी विराधना—द्रव्यहिंसा खेत जोतनेमें होती है। दूसरी ओर धीवर वंशी डाले तालाब किनारे बैठा रहता है—बिल्कुल सावधान, जरा खटका हुआ कि समझा, मछली पकड़ ली, परन्तु मछली फंसती एक भी नहीं! हां, उसके भाव मछली पकड़नेमें ओत प्रोत रहते हैं। बताओ, उनमेंसे कौन हिंसाका अधिक पातकी है? किसान नहीं, धीवर! किसानके भाव हिंसाका अभाव है और धीवरके द्रव्यहिंसा तो नहीं है, परन्तु भाव हिंसा जटाजूट है। इस लिये ही वह महापापी है।

"इसी कालसौकरिकका लड़का है—वह भव्य है। हिंसक व्यापार वह नहीं करता! उसके सगे-संबंधियों ने समझाया और दबाया, पर वह तो भी विचलित न हुआ—कसाई न बना! उसने स्पष्ट कहा कि यदि तुम मेरा दुःख बँटालो तो मैं समझूं तुम मेरे पुण्य-पापके भागी बनोगे! यह कहकर उसने भैंसेके गलेपर नहीं, अपने पैरमें कुल्हाड़ी मारी और दुखसे बेहोश होगया—कोई भी उसके दुखको न बँटा पाया—सबको अपनी अपनी करनीका फल स्वयं भुगतना पड़ता है। उसके सगे संबंधी चुप हो चले गए। जानते हो, उन्होंने क्या कर्मबंध किया? सगे संबंधियोंके हिंसामय भाव थे, इसलिए उन्होंने पाप कमाया और कालसौकरिक-पुत्र दयालुहृदय था—उसने अहिंसक भावोंसे पुण्य कमाया! और सुनो सिंह! तुमने प्रसिद्ध वैद्यराज जीवकका नाम सुना है—वह रोगमुक्त करनेके लिए चीरफाड़ भी करते हैं। एक रोगीके उन्होंने चीरा लगाया—बिल्कुल सावधानीसे; परन्तु भाग्यवशात् उसकी हृदयगति क्षीण होगई और वह मर गया! क्या राजा जीवकको अपराधी कहेगा और उसे प्राणदण्ड देगा? नहीं न? इसीलिये कि जीवकका भाव रोगीको मारनेका नहीं, जिलानेका था। बस, अहिंसाके सिद्धान्तकी कुञ्जी यही है। भावों पर ही वह अवलम्बित है। हिंसाके भाव हों फिर प्रगट चाहे हिंसा करो या न करो या दूसरे से कराओ या न कराओ व्यक्तिको पापबंध होगा। कृत-कारित-अनुमोदना एक समान हैं। माँसभक्षक भले ही प्राणिबध न करते हों, परंतु उसके भोजनके लिये प्राणियोंका वध होता है। इसलिये उनको कारित और अनुमोदना हिंसाका दोष अवश्य लगता है। अब सिंह! बताओ क्या मृतमांस खानेवाला हिंसापापका दोषी नहीं है।"

सिंहने कहा, "अवश्य है नाथ! मैं भूला था—लिच्छवि कुमार भी भूले थे। निर्ग्रन्थ सम्राट्! आपकी वचन वर्गणाओंसे अज्ञान मिटा है।"

---

१ दिगम्बरीय 'उत्तरपुराण' में कालसौकरिकका उल्लेखमात्र है। उसका विशेष वर्णन श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें मिलता है। वहाँसे ही लिखा गया है।

जैनधर्म पर अजैन विद्वान्

[जैनधर्मके विषयमें देशके खास खास विद्वानोंने समय समय पर बड़े ही सुन्दर हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो सर्वसाधारणके जानने योग्य हैं। ये विचार इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। मेरा विचार इन्हें इस स्तम्भ के नीचे संकलित करनेका है। आशा है अनेकान्तके पाठक इन विचारों परसे अच्छी शिक्षा ग्रहण करते हुए सहज हीमें यह मालूम कर सकेंगे कि देशके चुने चुने विद्वान जैनधर्मको किस दृष्टिसे देख रहे हैं और उसके विषयमें कैसे ऊँचे विचार रख रहे हैं।]

भारतके प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और महात्मा गाँधी के दाहिने हाथ—श्री आचार्य काका कालेलकरने अहमदाबादमें पर्यूषण पर्वमें संयोजित की गई व्याख्यान-माला १९३१ ई० में कहा है—

"टोला धर्म (साम्प्रदायिकता-पक्षपात) जन्मसे जाति मानने वाले सनातनियोंमें हो तो माना भी जा सकता है, यहूदियोंमें भी वह चल सकता है, परन्तु जैन धर्ममें यह कैसे हो सकता है? फिर भी जैनियों में भी यह टोला धर्मका संक्रामक रोग लगा है। सनातनी दूसरोंको अपने धर्ममें आमंत्रित नहीं करते हैं, पारसी भी आमंत्रित नहीं करते हैं और यहूदी भी आमंत्रित नहीं करते हैं। परन्तु जिनको मोक्षका मार्ग दिखाई दिया है निर्वाण अर्थात् कैवल्यके मार्गको जिन्होंने समझा है वे सभीको आमंत्रित करते हैं उनके यहाँ सभीके लिये मार्ग खुला होना चाहिये। इस धर्मकी दीक्षा मिलनेके बाद ही वास्तवमें मनुष्य उस धर्मका कहा जा सकता है। जहां सबकेलिये स्थान है वहाँ अस्पृश्यताको स्थान नहीं हो सकता। मुसलमान और बौद्धोंमें अस्पृश्यता नहीं है जैनोंमें भी नहीं हो सकती है। परन्तु हमें देखनेसे मालूम होता है कि सनातन धर्मकी गंदगी जैनियोंमें भी घुस गई है।"

"वास्तवमें जैनियोंको यह उच्च-नीच-भाव और अस्पृश्यता अपनी समाजमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये थी! मेरी समझमें तो जो अस्पृश्यता मानता है वह जातिसे भले ही जैन हो परन्तु वास्तवमें वह जैनेतर ही है। मोक्ष धर्ममें अस्पृश्यता कैसी?"

"एक बार मैं राम टेकके मन्दिरमें जाने लगा तो मुझे शस्त्रधारी पहरेदारोंने जानेसे रोक दिया। मैंने विचार किया कि अन्तमें जैनधर्म पर भी टोला धर्म ने विजय प्राप्त की है! आत्माको भूलकर और अनात्माको बढ़ाकरके सूक्ष्म आचारोंका पालन किया तो क्या और नहीं पालन किया तो क्या, आजका दिवस तो हृदय शुद्धि करनेका है। जो आत्माका वफादार है, आत्माकी उन्नतिके लिये जीता है और अनात्माके मोहजालमें नहीं फँस जाता वही जैन है और बाकी सब जैनेतर हैं

इस शुद्धदृष्टिसे क्या अपन सब जैनेतर नहीं हैं?

"आत्मपरायण कौन है और कौन नहीं, यह तो मनुष्यकी अन्तरात्मा ही उससे कह सकती है; मगर बाह्य जीवन परसे मालूम होता है कि मैं भी जैनेतर हूँ और आप भी सब जैनेतर हैं। फिर भी यदि इस सभामें कोई जैन हो तो उसे मेरा नमस्कार हो।"

भारतके सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता श्रीसरदार वल्लभभाई पटेल

"जैनधर्म पीले कपड़े पहननेसे नहीं आता। जो इन्द्रियोंको जीत समझता है वही सच्चा जैन हो सकता है।" अहिंसा वीर पुरुषोंका धर्म है कायरोंका नहीं। जैनोंको अभिमान होना चाहिये कि भारत-स्वातन्त्र्यके लिये काँग्रेस उनके मुख्य सिद्धान्तका अमल समस्त भारतवासियोंसे करा रही है। जैनोंको झगड़ने की जरूरत नहीं। जैनोंको निर्भय होकर त्यागका अभ्यास करना चाहिये।"

भारतके भूतपूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसादजी—

"मैं अपनेको धन्य मानता हूँ कि मुझे महावीर स्वामीके प्रदेशमें रहनेका सौभाग्य मिला है। अहिंसा जैनोंकी विशेष सम्पत्ति है। जगतके अन्य किसी भी धर्ममें अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन इतनी सूक्ष्मता और सफलतासे नहीं मिलता।"

संयुक्तप्रान्तके भू० प्रधानमंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त—

"जैनधर्ममें सत्य और अहिंसासे ऊंचा और आदर्श नहीं। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि सर्व सिद्धान्तोंमें उत्तम जैनधर्मके सिद्धान्त हैं।"

"प्रान्तीय काँग्रेस के पूर्वप्रधान श्रीमोहनलाल सक्सेना—

"हिंन्दू धर्म जहां सहनशीलता सिखलाता है, सिखधर्म जहाँ बहादुरी सिखलाता है, इस्लाम धर्म जहां भ्रातृभक्ति सिखलाता है, वहां जैन धर्म सत्प्रेम, सद्भाव और अहिंसा सरस रीतिसे सिखलाता है।"

लाला कन्नूमल एम० ए० जज धौलपुर स्टेट—

प्राचीन धर्मोंमेंसे जैनधर्म एक ऐसा धर्म है जो उच्च सिद्धान्त, उत्तम नैतिक नियम और उच्च रीतियों से भरपूर है। अब यह नहीं कहा जाता कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा है, किन्तु वह बहुत प्राचीन और स्वतंत्र धर्म है जिसके सिद्धान्त बुद्धके जन्मसे पहले चले आते हैं।

इसका बड़ा भारी साहित्य जो पवित्र, सैद्धान्तिक और लौकिक है—अब तक यूरुपकी दुनिया के लिये एक मुहर लगी किताब है। बहुत ही कम पुस्तकें प्रकट हुई हैं। यदि यह अमूल्य सिद्धान्त छप जांय तो विचारोंमें एक नया युग खिले और बहुत संभव है कि वर्तमान इतिहासको भी बदलना पड़े।"

—व्यवस्थापक

छठे वर्षमें अनेकान्तके सहायक

अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंको 'विज्ञप्ति अंक' आदिपरसे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि जैनसमाजके लिये गौरवरूप 'अनेकान्त' पत्र त्रिमासिक न होकर बदस्तूर मासिक रूपमें ही प्रकाशित हुआ करेगा, पहलेसे भी अब अधिक उत्साहके साथ प्रकाशित होगा, उसमें सरल साहित्यकी भी यथेष्ट योजना रहेगी और वह विद्वानोंका ही पत्र न रहकर जनताका सर्वोपयोगी पत्र बनेगा। इसलिये चारों ओरसे अनेकान्तकी सहायता और सहयोगका चर्चा सुनाई पड़ रहा है—प्रेमी जन अपने अपने योग्य सहायता और सहयोगकी बातें सोच रहे हैं, अनेकान्त-साहित्यके प्रचार एवं प्रसारके लिये अजैन विद्वानों तथा लायब्रेरियों आदिको अनेकान्त फ्री या अर्धमूल्यमें भिजवानेकी योजनाएँ हो रही हैं, कितने ही विद्वानोंने खुले दिलसे सहयोगका वचन दिया है, कुछने अपने लेखादिक भेजने प्रारंभ भी कर दिये हैं और बहुतसे सज्जन इस प्रयत्नमें लगे हुए हैं कि अपने मित्रों, रिश्तेदारों, परिचित व्यक्तियों और दूसरे समर्थ महानुभावोंसे अनेकान्तको अच्छी सहायता भिजवाएँ, जिससे वह इच्छानुसार ऊँचा उठ सके, खूब प्रगति कर सके और समाजकी सच्ची ठोस सेवा बजा सके। जो सज्जन इस प्रयत्नमें लगे हुए हैं सब वे धन्यवादके पात्र हैं। समाजकी इस हलचलको देखते हुए हमें यह आशा बँध रही है कि हम शीघ्र ही अपने सहयोगियों और सहायकोंकी एक अच्छी सूची प्रकट करनेमें समर्थ हो सकेंगे। इस प्रथम किरणके प्रकट होनेसे पहले ही जिन महानुभावोंने आर्थिक सहायताके वचन देनेमें पहल की है अथवा जिन्होंने फिलहाल कुछ सहायता भेजदी हैं उन सबके हम हृदयसे आभारी हैं। ऐसे सज्जनोंके शुभ नाम सहायताकी रकम सहित इस प्रकार हैं—

६००) बाबू छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
१०१) ला० कपूरचन्दजी जैन रईस, कानपुर।
२८) ला० रूड़ामलजी जैन शामियानेवाले, सहारनपुर।*
२५) बा० महावीरप्रसादजी जैन बी० ए० सर्धना जि.मेरठ
२५) मशीरबहादुर सेठ गुलाबचंदजी टोंग्या, इन्दौर।*
२१) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।*
१४) बा० मंगलकिरणजी, मल्हीपुरप्रेस, सहारनपुर।*
५) ला० कस्तूर माणिकचंदजी जैन, पेपरमर्चेन्ट, आगरा
५) ला० जगाधरमलजी सर्राफ जैन, देहली।
५) ला० रेशमीलालजी सेठिया, इन्दौर।
२) गाँधी चम्पालाल मगनलाल जी बाँसवाड़ा।

नोट—जिनके आगे * यह चिन्ह लगा है उनकी ओरसे अनेकान्त फ्री भेजा जायगा। १४) रु० की सहायतामें चार को फ्री भेजा जा सकता है। —व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

पुरातन-जैनवाक्य-सूची

जिस पुरातन-जैनवाक्य-सूची (प्राकृतपद्यानुक्रमणी) नामक ग्रन्थका परिचय पिछली किरणोंमें दिया जा चुका है और जिसकी बाबत पाठक यह जानते आ रहे हैं कि वह कुछ महीनोंसे प्रेसमें है, उसके सम्बन्धमें आज यह सूचना देते हुए प्रसन्नता होती है कि वह छप गया है—सिर्फ प्रस्तावना तथा कुछ उपयोगी परिशिष्टों का छपना और उसके बाद बाइंडिंगका होना बाकी है, जो एक माहसे कम नहीं लेगा। प्रस्तावना तथा परिशिष्टों में प्राकृत भाषा और इतिहासादि सम्बन्धी कितने ही ऐसे महत्वके विषय रहेंगे जिनसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ जायगी। ३६ पौंडके उत्तम कागज पर छपे हुए इस सजिल्द ग्रन्थका मूल्य पोस्टेज खर्चसे अलग १२) रु० होगा, जो ग्रन्थकी तय्यारी और छपाईमें होने वाले परिश्रम और कागजकी इस भारी मँहगाईको देखते हुए कुछ भी नहीं है। जो सज्जन प्रकाशित होनेसे पहले १२) रु० मनीआर्डर से भेज देंगे उन्हें पोस्टेज नहीं देना होगा—प्रकाशित होते ही ग्रन्थ डाक रजिष्टरीसे उनके पास पहुँच जायगा। ग्रन्थकी कुल २०० कापियां छपाई गई हैं, जो शीघ्र ही समाप्त हो जायँगी; क्योंकि कितने ही आर्डर पहलेसे आए हुए हैं। अतः जिन सज्जनों, संस्थाओं, कालिजों तथा लायब्रेरियों आदिको आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मनीआर्डरसे रुपया निम्न पते पर भेज देवें अथवा अपना नाम दर्ज रजिस्टर करा लेवें।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा, जि० सहारनपुर।

REGISTERED NO. A-731.

'अनेकान्त' जैनसमाजके गौरवकी वस्तु है !

दशलक्षण पर्वमें 'अनेकान्त' का प्रचार करना और सहायता भिजवाना प्रत्येक बन्धुका कर्तव्य है !

विद्या-दानका अपूर्व अवसर

जैनसमाजमें यह आवश्यकता बहुत दिनोंसे महसूस की जारही थी कि समाजमें एक ऐसा पत्र अवश्य होना चाहिये जो आपसी तू-तू मैं-मैं, वादविवाद और सम्प्रदायवादसे दूर रहकर साहित्य और इतिहासकी सेवा करता हुआ वीर प्रभुके सन्देशका प्रचार व प्रसार करे तथा जातिमें त्याग, सेवा, धर्मसाधन और लोकहितकी भावना उत्पन्न करे। साथ ही जिसे बेधड़क किसी भी अजैन बन्धुके हाथोंमें देकर हम गर्व महसूस कर सकें, जिससे उस अजैन बन्धु पर भी अच्छा प्रभाव पड़े और जैनधर्मके विषयमें फैली हुई गलत धारणाएँ दूर होसकें, तथा गैटअप आदिकी भी दृष्टिसे उस पत्रका स्टैंडर्ड काफी ऊँचा रहे।

हर्षका विषय है कि 'अनेकान्त' जैसे उच्चकोटिके पत्रके संचालक मंडलने अब समाजकी इस कमी को पूरा करनेके लिये 'अनेकान्त' को ऐसा पत्र बनानेका निश्चय कर लिया है जिस पर समाज गर्व कर सके।

पर केवल संचालक मंडलके निश्चय कर लेनेसे ही यह महत्वपूर्ण कार्य पूरा नहीं होसकता है जब तक कि समाजके प्रत्येक व्यक्तिका सहयोग हमें प्राप्त न हो जाये। वह इस प्रकार होसकता है कि—

विद्वान् लोग सरल साहित्यका निर्माण करें।

प्रत्येक जैन बन्धु, संस्था, मन्दिर और स्थानक पत्रका ग्राहक बने।

दानी महानुभाव उसे आर्थिक सहयोग प्रदान करें तथा

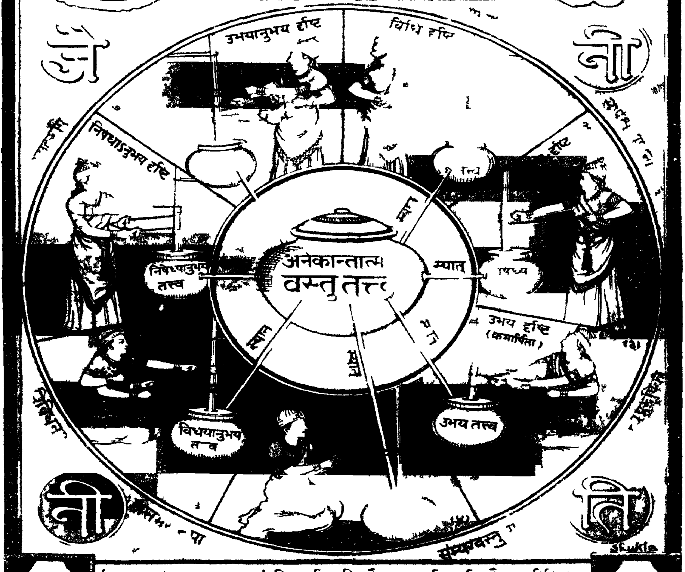
अपनी ओरसे दो-दो चार-चार अजैन संस्थाओं और विद्वानोंको मुफ्त भिजवायें।

आशा है समाज सेवाके इस महत्वपूर्ण कार्यमें हमें समाजका पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा

कौशलप्रसाद जैन
आनरेरी व्यवस्थापक
कोर्ट रोड, सहारनपुर

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामंदिर, सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त



वर्ष ६
किरण

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ।

नवम्बर
१९४३

सम्पादक — जुगलकिशोर मुख्तार

विषय-सूची

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गतवर्षकी १२ वीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद, वीरसेवामन्दिर सरसावाको अनेकान्त-सहायताके अलावा जो दूसरी फुटकर सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं:—

१०१) दिगम्बर जैनसमाज नजीबाबाद जि० बिजनौर।
८०) ला० सुन्दरलाल सुपुत्र ला० छुन्नामलजी जैन फर्म-मेसर्स रामजीदास जैन, सदर बाजार, देहली, अनित्यभावनाके प्रकाशनार्थ।
५१) बा० मोतीरामजी पुत्र और श्रीमती शकुन्तला देवीजी पुत्रवधू बा० पन्नालालजी जैन अग्रवाल, देहली, मंत्री वीरसेवामंदिर (ग्रन्थप्रकाशनार्थ)।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, मालिक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई।
२१) ला० उग्रसेनजी जैन, मुजफ्फरनगर (ग्रन्थप्रकाशनार्थ)।
१०) श्री कान्तीलालजी, सी० गान्धी, दोहद।
१०) ला० कन्नालाल, छुन्नालालजी सर्राफ, खुरई जि० सागर।
१०) श्री जैनपंचायत, मुजफ्फरनगर।
५) बा० मंगतराय नानकचंदजी जैन, खतौली जि० मुजफ्फरनगर (लायब्रेरीके लिये)।
५) ला० बलवन्तसिंह सुमतप्रसादजी जैन खतौली (लायब्रेरीके लिये)।
५) श्री दि० जैन तेरा पंथी गोठ, बडनगर (उज्जैन)।
१) ला० ईश्वरचंदजी जैन, मारवाडी लायब्रेरी, देहली।

३२४)

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

पुरातन-जैनवाक्य-सूची

जिस पुरातन-जैनवाक्य-सूची (प्राकृतपद्यानुक्रमणी) नामक ग्रन्थका परिचय पिछली किरणोंमें दिया जा चुका है और जिसकी बाबत पाठक यह जानते आ रहे हैं कि वह कुछ महीनोंसे प्रेसमें है, उसके सम्बन्धमें आज यह सूचना देते हुए प्रसन्नता होती है कि वह छप गया है—सिर्फ़ प्रस्तावना तथा कुछ उपयोगी परिशिष्टों का छपना और उसके बाद बाइंडिंगका होना बाकी है, जो एक माहसे कम नहीं लेगा। प्रस्तावना तथा परिशिष्टों में प्राकृत भाषा और इतिहासादि सम्बन्धी कितने ही ऐसे महत्वके विषय रहेंगे जिनसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ जायगी। ३६ पौंडके उत्तम कागज पर छपे हुए इस सजिल्द ग्रन्थका मूल्य पोष्टेज खर्चसे अलग १२) रु० होगा, जो ग्रन्थकी तय्यारी और छपाई होने वाले परिश्रम और कागजकी इस भारी मँहगाईको देखते हुए कुछ भी नहीं है जो सज्जन प्रकाशित होनेसे पहले १२) रु० मनीआर्डर से भेज देंगे उन्हें पोष्टेज नहीं देना होगा—प्रकाशित होते ही ग्रन्थ डाक रजिष्टरीसे उनके पास पहुँच जायगा। ग्रन्थकी कुल ३०० कापियां छपाई गई हैं, जो शीघ्र ही समाप्त हो जायँगी; क्योंकि कितने ही आर्डर पहलेसे आए हुए हैं। अतः जिन सज्जनों, संस्थाओं कालिजों तथा लायब्रेरियों आदिको आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मनीआर्डरसे रुपया निम्न पते पर भेज देवें अथवा अपना नाम दर्ज रजिस्टर करा लेवें।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर' सरसावा, जि० सहारनपुर।

विषय-सूची

दशलक्षणपर्वमें दानका विशेष अधिकारी

वीरसेवामन्दिर

जैनसमाजकी प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था वीरसेवामन्दिर, सरसावामें क्या कुछ स्थायी ठोस कार्य होरहा है और होने को है यह बात पिछले 'विज्ञप्ति अंक' से पाठक भले प्रकार जान चुके हैं। यहां पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि यह संस्था पुरातन-विमर्श-विचक्षण पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' की अध्यक्षतामें, जिन्होंने अपनी ५१ हजारकी सम्पत्तिका वसीयत नामा भी संस्थाके नाम लिख दिया है और जो स्वयं दिन-रात चौबीसों घंटे सेवा-कार्यमें ही रत रहते हैं, समाजके अनेक प्रसिद्ध विद्वानोंके सहयोगसे शोध-खोज, अनुसन्धान और ग्रन्थनिर्माणादिका भारी काम कर रही है। इसमें लुप्तप्राय जैन शास्त्रोंकी खोज की जाती है, धर्मके अनेक गूढ और गंभीर तत्त्वोंको नई शैलीसे आजकी सरल भाषामें जनताके सामने रक्खा जाता है और कितनी ही उलझनोंको सुलझाया जाता है, जिसके लिए संस्थाका मुखपत्र 'अनेकान्त' बड़ा काम कर रहा है।

हालमें इस संस्थाने प्राचीन जैनाचार्यों आदिके बनाये हुए ऐसे ग्रन्थोंके नई शैलीसे अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशनका भारी बीड़ा उठाया है जो अभी तक साधारण जनताके सामने नहीं आरहे हैं और जिनके प्रकाशनसे अध्यात्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, मंत्रशास्त्र, शब्दशास्त्र और छंदशास्त्र आदि अनेक विषयोंपर नया प्रकाश पड़ेगा और कितने ही ऐसे वैज्ञानिक विषय सामने आएँगे जिनसे जनता अब तक अपरिचित ही रही है। और जिनसे लोकमें जैनाचार्योंका गौरव व्यक्त होगा और साथ ही ऐसे साहित्यके प्रकाशनसे जैनसमाजका भी गौरव बढ़ेगा।

संक्षेपमें, संस्थाके सामने बहुत ही बड़ा तथा महत्वका ठोस कार्य पड़ा हुआ है, परन्तु पूँजी थोड़ी है। अतः यह संस्था दशलक्षण पर्वमें सबसे अधिक दान पानेकी अधिकारिणी है।

आशा है सभी स्थानोंके सज्जन अपने दानका अधिकांश भाग इस संस्थाको भेजकर इसके सत्कार्योंमें अवश्य अपना सहयोग प्रदान करेंगे और इस तरह अपने कर्तव्यका पालन करते हुए संचालकोंको अधिकाधिक रूपसे सेवाके लिये प्रोत्साहित करेंगे।

निवेदक—
पन्नालाल जैन अग्रवाल
मंत्री 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर।

भूल-सुधार

प्रेसकी गलतीसे पृ० नं० ३ और ४ पर प्रथम कालममें लाइन नं० ३ छोटी बन गई है, जबकि वह लाइन नं० १ से बड़ी होनी चाहिये थी। अतः पाठक दोनों स्थानोंपर उसे नीचेकी लाइन नं० १ से बड़ा बना लेवें। इस भूलके लिये हम सम्पादक महोदयसे क्षमा चाहते हैं। —काशीराम शर्मा व्यवस्थापक श्रीवास्तव प्रेस

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक · वस्तुतत्त्व-संयोतक

वार्षिक मूल्य ४) रु०

एक किरण का मूल्य ।=)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः॥

वर्ष ६, किरण २ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर
आश्विन, वीरनिर्वाण सं० २४६९, विक्रम सं० २००० | सितम्बर १९४३

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१५]

श्रीधर्म-जिन-स्तोत्र

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान्।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः॥ १॥

'(हे धर्मजिन !) अनवद्यधर्मतीर्थको—सम्यग्दर्शनादिरूप धर्मतीर्थको अथवा सम्यग्दर्शनाद्यात्मक धर्मके प्रतिपादक आगमतीर्थको—(लोकमें) प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञाको लिये हुए माने गये हैं, । आपने (विविध) तपरूप अग्नियोंसे कर्म-वनको जलाया है, (फलतः) शाश्वत—अनश्वर सुख प्राप्त किया है (और इस लिये) आप शंकर हैं—कर्मवनको दहन कर अपनेको और धर्मतीर्थको प्रवर्तित कर सकल प्राणियोंको सुखके करने वाले हैं।'

देव-मानव-निकाय-सत्तमै रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।
तारका-परिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः॥ २॥

'जिस प्रकार घन-पटलादि मलसे रहित पूर्ण चन्द्रमा आकाशमें ताराओंसे परिवेष्टित हुआ शोभता है उसी प्रकार (हे धर्मजिन !) आप देव और मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादि-बुधजनोंसे परिवारित (सेवित) हुए (समवसरण सभामें) शोभाको प्राप्त हुए हैं।'

प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामराम्नापि शासनफलैषणातुरः ॥ ३ ॥

'**प्रातिहार्यों और विभवोंसे**—छत्र, चमर, सिंहासन, भामंडल, अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनिरूप आठ प्रकारके चमत्कारों तथा समवसरणादि विभूतियोंसे—**विभूषित होते हुए भी आप उन्हींसे नहीं किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं**—अपने शरीरसे भी आपको ममत्व एवं रागभाव नहीं रहा । (फिर भी तीर्थंकर-प्रकृति-रूप पुण्यकर्मके उदयसे) **आपने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया है**—मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमोघ उपाय बतलाया है । **परन्तु आप शासन-फलकी एषणासे आतुर नहीं हुए**—कभी आपने यह इच्छा नहीं की कि मेरे उपदेशका फल जनताकी भक्ति अथवा उसकी कार्यसिद्धि आदिके रूपमें शीघ्र प्रकट होवे; और यह सब परिणति आपकी वीतरागता, परिमुक्तता और उच्चताकी द्योतक है । जो शासन-फलके लिये आतुर रहते हैं वे ऐश्वर्यशाली होते हुए भी क्षुद्र संसारी जीव होते हैं । इसीसे वे प्रायः दम्भके शिकार होते हैं और उनसे सच्चा शासन बन नहीं सकता ।

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥ ४ ॥

आप प्रत्यक्षज्ञानी मुनिके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ उन्हें प्रवृत्त करनेकी इच्छासे नहीं हुईं; (तब क्या असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें हुईं ?) **यथावत् वस्तुस्वरूपको न जान कर असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें भी वे नहीं हुईं । इस तरह हे धीर, धर्मजिन ! आपका ईहित**—चरित **अचिन्त्य है**—उसमें वे सब प्रवृत्तियाँ बिना आपकी इच्छा और असमीक्ष्यकारिताके तीर्थंकर-नामकर्मोदय तथा भव्यजीवोंके अदृष्ट(भाग्य)-विशेषके वशमें होती हैं ।'

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ ! परमाऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥ ५ ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र

-**हे नाथ ! चूँकि आप मानुषी प्रकृतिको**—मानव स्वभावको—**अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओंमें भी देवता हैं**—पूज्य हैं—**इस लिये आप परम**— उत्कृष्ट **देवता हैं**—पूज्यतम हैं । **अतः हे धर्मजिन ! आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें**, हम प्रसन्नतापूर्वक रसायन-सेवनकी तरह आपका आराधन करके संसार-रोग मिटाते हुए अपना पूर्ण स्वास्थ्य (मोक्ष) सिद्ध करनेमें समर्थ होवें ।

भावार्थ—'**श्रेयसे प्रसीद नः**—आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें,' यह अलंकृत भाषामें भक्तकी प्रार्थना है, जिसका शब्दाशय यद्यपि इतना ही है कि आप हम पर प्रसन्न होवें और उस प्रसन्नताका फल हमें हमारे कल्याणके रूपमें प्राप्त होवे; परन्तु वीतरागदेव किसी पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं हुआ करते—वे तो सदा ही आत्मस्वरूपमें मग्न और प्रसन्न रहते हैं, फिर उनसे ऐसी प्रार्थनाका कोई प्रयोजन नहीं । वास्तवमें यह अलंकृत-भाषामय-प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है और इसका फलितार्थ यह है कि हम वीतरागदेव श्रीधर्मजिनका प्रसन्न-हृदयसे आराधन करके उनके साथ तन्मयता प्राप्त करें और उस तन्मयताके फलस्वरूप अपना आत्मकल्याण सिद्ध करनेमें उसी प्रकारसे समर्थ होवें जिस प्रकार कि रसायनके प्रसादसे—प्रसन्नतापूर्वक रसायनका सेवन करनेसे—रोगीजन आरोग्य-लाभ करनेमें समर्थ होते हैं ।

अनेकान्त-रस-लहरी

[इस स्तम्भके नीचे लेख लिखनेका सभी विद्वानोंको सादर आमंत्रण है। लेखका लक्ष्य वही होना चाहिये जिसका निर्देश इस स्तम्भको प्रारम्भ करते हुए पिछली किरणमें किया गया है। —सम्पादक]

[२]

बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा

अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें पहुँच कर उस कक्षा के विद्यार्थियोंको भी वही नया पाठ पढ़ाना चाहा जिसे वे अभी अभी इससे पूर्वकी एक कक्षामें पढ़ाकर आए थे; परंतु यहाँ उन्होंने पढ़ानेका कुछ दूसरा ही ढंग इख़्तियार किया। वे बोर्डपर तीन इंचीकी ———————— लाइन खींच कर एक विद्यार्थीसे बोले—'क्या तुम इस लाइनको छोटा कर सकते हो?' विद्यार्थीने उत्तर दिया—हाँ, कर सकता हूँ' और वह उस लाइनको इधर-उधरसे कुछ मिटानेकी चेष्टा करने लगा। यह देख कर अध्यापक महोदयने कहा—'हमारा यह मतलब नहीं है कि तुम इस लाइनके सिरोंको इधर-उधरसे मिटा कर अथवा इसमेंसे कोई टुकड़ा तोड़ कर इसे छोटी करो। हमारा आशय यह है कि यह लाइन अपने स्वरूपमें ज्योंकी त्यों स्थिर रहे, इसे तुम छूओ भी नहीं और छोटी करदो।' यह सुन कर विद्यार्थी कुछ भौंचक सा रह गया! तब अध्यापकने कहा—'अच्छा, तुम इसे छोटा नहीं कर सकते तो क्या बिना छूए बड़ा कर सकते हो?' विद्यार्थीने कहा—'हां कर सकता हूं' और यह कह कर उसने दो इंचीकी एक लाइन उस लाइन के बिल्कुल सीधमें उसके एक सिरेसे सटा कर बनादी और इस तरह उसे पांच इंचीकी लाइन कर दिया।

————————————————

इस पर अध्यापक महोदय बोल उठे—

'यह क्या किया? हमारा अभिप्राय यह नहीं था कि तुम इसमें कुछ टुकड़ा जोड़ कर इसे बड़ा बनाओ, हमारा मन्शा यह है कि इसमें कुछ भी जोड़ा न जाय, लाइन अपने तीन इंचीके स्वरूपमें ही स्थिर रहे—पांच इंची जैसी न होने पावे—और बिना छूए ही बड़ी करदी जाय।'

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है? ऐसा तो कोई जादूगर ही कर सकता है।

अध्यापक—(दूसरे विद्यार्थियोंसे) अच्छा, तुम्हारेमेंसे कोई विद्यार्थी इस लाइनको हमारे अभिप्रायानुसार छोटा या बड़ा कर सकता है?

सब विद्यार्थी—हमसे यह नहीं हो सकता। इसे तो कोई जादूगर या मंत्रवादी ही कर सकता है।

अध्यापक—जब जादूगर या मंत्रवादी इसे बड़ी छोटी कर सकता है तब तुम क्यों नहीं कर सकते?

विद्यार्थी—हमें बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा करनेका वह जादू या मंत्र आता नहीं।

'अच्छा हमें तो वह जादू करना आता है। बतलाओ इस लाइनको पहले छोटी करें या बड़ी?' अध्यापकने पूछा।

'जैसी आपकी इच्छा, परन्तु आप भी इसे छूएँ नहीं और इसे अपने स्वरूपमें स्थिर रखते हुए छोटी तथा बड़ी करके बतलाएँ।' विद्यार्थियोंने उत्तरमें कहा।

'ऐसा ही होगा' कह कर, अध्यापकजीने विद्यार्थीसे कहा—'तुम इसके दोनों ओर मार्क कर दो—पहचानका कोई चिन्ह बना दो, जिससे इसमें कोई तोड़-जोड़ या बदल-सदल न हो सके और यदि हो तो उसका शीघ्र पता चल जाय।' विद्यार्थीने दोनों ओर दो गोल गोल चिन्ह बना दिये। फिर अध्यापकजीने कहा 'फुटा रखकर इसकी पैमाइश भी करलो और वह इसके ऊपर लिख दो'। विद्यार्थीने फुटा रख कर पैमाइश की तो लाइन ठीक तीन इंचीकी निकली और वही लाइनके ऊपर लिख दिया गया।

●———— ३ इंच ————●

इसके बाद अध्यापकजीने बोर्ड पर एक ओर कपड़ा डाल कर कहा—'अब हम पहले इस लाइनको छोटी बनाते हैं और छोटी होनेका मंत्र बोलते हैं।' साथ ही

कपड़ेको एक ओरसे उठा कर "होजा छोटी, होजा छोटी" का मंत्र बोलते हुए वे बोर्ड पर कुछ बनाने हीको थे कि इतनेमें विद्यार्थी बोल उठे—

'आप तो पर्देकी ओटमें लाइनको छूते हैं। पर्देको हटा कर सबके सामने इसे छोटा कीजिये।'

अध्यापकजीने बोर्ड पर डाला हुआ कपड़ा हटा कर कहा—'अच्छा, अब हम इसे खुले आम छोटा किये देते हैं और किसी मंत्रका भी कोई सहारा नहीं लेते।' यह कह कर उन्होंने उस तीन इंची लाइनके ऊपर पांच इंचकी लाइन बना दी और विद्यार्थियोंसे पूछा—

५ इंच

३ इंच

'कहो, तुम्हारी मार्क की हुई नीचेकी लाइन ऊपर की लाइनसे छोटी है या कि नहीं? और बिना किसी अंश के मिटाए या तोड़े अपने तीन इंचीके स्वरूपमें स्थिर रहते हुए भी छोटी हो गई है या कि नहीं?

सब विद्यार्थी—'हां हो गई है।' यह रहस्यकी बात पहले हमारे ध्यानमें ही नहीं आई थी कि, इस तरह भी बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी चीज हुआ करती है। अब तो आप नीचे छोटी लाइन बना कर इसे बड़ी भी करदेंगे।'

अध्यापकजीने तुरंत ही नीचे एक इंचकी लाइन बना कर उसे साक्षात् बड़ा करके बतला दिया।

५ इंच

३ इंच

१ इंच

अब अध्यापक वीरभद्रने फिर उसी विद्यार्थीसे पूछा—'तीनों लाइनोंकी इस स्थितिमें तुम अपनी मार्क की हुई उस बीचकी लाइनको, जो बड़ेसे छोटी और छोटेसे बड़ी हुई है, क्या कहोगे— छोटी या बड़ी?'

विद्यार्थी—वह छोटी भी है और बड़ी भी।

अध्यापक—दोनों एक साथ कैसे?'

विद्यार्थी—ऊपरकी लाइनसे छोटी और नीचेकी लाइन से बड़ी है अर्थात् स्वयं तीन इंचीकी होनेसे पांच इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी और एक इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी है। और यह छोटा-बड़ापन दोनों इसमें एक साथ प्रत्यक्ष होनेसे इनमें परस्पर विरोध तथा असंगति-जैसी भी कोई बात नहीं है।

अध्यापक—अगर कोई विद्यार्थी इस बीचकी लाइन को एक बार ऊपरकी लाइनसे छोटी और दूसरीबार ऊपर की लाइनसे ही बड़ी बतलावे, और इस तरह इसमें छोटा-पन तथा बड़ापन दोनोंका विधान करे तब भी विरोधकी क्या कोई बात नहीं है?

विद्यार्थी—इसमें ज़रूर विरोध आएगा। एक तो उस के कथनमें पूर्वापर विरोध आएगा; क्योंकि पहले उसने जिसको जिससे छोटी कहा उसीको फिर उससे बड़ी बतलाने लगा। दूसरे, उसका कथन प्रत्यक्षके भी विरुद्ध ठहरेगा; क्योंकि ऊपरकी लाइन नीचेकी लाइनसे साक्षात् बड़ी नज़र आती है, उसे छोटी बतलाना दृष्ट-विरुद्ध है।

अध्यापक—यह क्या बात है कि तुम्हारे बड़ी छोटी बतलानेमें तो विरोध नहीं, और दूसरेके बड़ी छोटी बतलानेमें विरोध आता है?

विद्यार्थी—मैंने एक अपेक्षासे छोटी और दूसरी अपेक्षा से बड़ी बतलाया है। इस तरह अपेक्षाभेदको लेकर भिन्न कथन करनेमें विरोधके लिये कोई गुँजाइश नहीं रहती। दूसरा जिस एक अपेक्षासे उसे छोटी बतलाता है उसी एक अपेक्षासे बड़ी बतलाता है, इस लिये अपेक्षाभेद न होनेके कारण उसका भिन्न कथन विरोधसे रहित नहीं हो सकता—वह स्पष्टतया विरोध-दोषसे दूषित है।

अध्यापक—तुम ठीक समझ गये। अच्छा अब इतना और बतलाओ कि तुम्हारी इस मार्क की हुई बीचकी लाइन को एक विद्यार्थी 'छोटी ही है' ऐसा बतलाता है और दूसरा विद्यार्थी कहता है कि 'बड़ी ही है', तुम इन दोनों कथनोंको क्या कहोगे? तुम्हारे विचारसे इनमेंसे कौनसा कथन ठीक है और क्यों कर?

विद्यार्थी—दोनों ही ठीक नहीं हैं। मेरे विचारसे जो 'छोटी ही' (सर्वथा छोटी) बतलाता है उसने नीचेकी एक इंची लाइनको देखा नहीं, और जो 'बड़ी ही' (सर्वथा बड़ी) बतलाता है उसने ऊपरकी पांच इंची लाइन पर दृष्टि नहीं डाली। दोनोंकी दृष्टि एक तरफ़ा होनेसे एकांगी है, एकान्त है, सिक्के अथवा ढालकी एक ही साइड (side) को देख कर उसके स्वरूपका निर्णय कर लेने जैसी है, और इसलिये सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि है। जो अनेकान्तदृष्टि होती

है वह वस्तुको सब ओरसे देखती है—उसके सब पहलुओं पर नजर डालती है—इसी लिये उसका निर्णय ठीक होता है और वह 'सम्यग्दृष्टि' कहलाती है। यदि उन्होंने ऊपर नीचे दृष्टि डाल कर भी वैसा कहा है तो कहना चाहिये कि वह उनका कदाग्रह है—हठधर्मी है; क्योंकि ऊपर नीचे देखते हुए मध्यकी लाइन सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी प्रतीत नहीं होती और न स्वरूपसे कोई वस्तु सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी हुआ करती है।

अध्यापक—मानलो, तुम्हारे इस दोष देनेसे बचनेके लिये एक तीसरा विद्यार्थी दोनों एकान्तोंको अपनाता है—'छोटी ही है और बड़ी भी है' ऐसा स्वीकार करता है; परन्तु तुम्हारी तरह अपेक्षावादको नहीं मानता। उसे तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी थोड़ा सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—'इसमें सोचनेकी क्या बात है ? उसका कथन भी विरोध-दोषसे दूषित है; क्यों कि जो अपेक्षावाद अथवा स्याद्वाद-न्यायको नहीं मानता उसका उभय एकान्तको लिये हुए कथन विरोध-दोषसे रहित हो ही नहीं सकता—अपेक्षावाद अथवा 'स्यात्' शब्द या स्यात् शब्दके आशय को लिये हुये 'कथंचित्' (एक प्रकारसे) जैसे शब्दोंका साथमें प्रयोग ही कथनके विरोध-दोषको मिटाने वाला है। 'कोई भी वस्तु सर्वथा छोटी या बड़ी नहीं हुआ करती' यह बात तुम अभी स्वयं स्वीकार कर चुके हो और वह ठीक है; क्योंकि कोई भी वस्तु स्वतंत्ररूपसे अथवा स्वभावसे सर्वथा छोटी या बड़ी नहीं है—किसी भी वस्तुमें छोटेपन या बड़ेपनका व्यवहार दूसरेके आश्रय अथवा पर-निमित्तसे ही होता है, और इस लिये उस आश्रय अथवा निमित्तकी अपेक्षाके विना वह नहीं बन सकता। अतः अपेक्षासे उपेक्षा धारण करने वालोंके ऐसे कथनमें सदा ही विरोध बना रहता है। वे 'ही' की जगह 'भी' का भी प्रयोग करदें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्युत इसके, जो स्याद्वादन्यायके अनुयायी हैं—एक अपेक्षासे छोटा और दूसरी अपेक्षासे बड़ा मानते हैं—वे साथमें यदि 'ही' शब्दका भी प्रयोग करते हैं तो उससे कोई बाधा नहीं आती—विरोधको ज़रा भी अवकाश नहीं मिलता; जैसे तीन इंची लाइन पांच इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी ही है और एक इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी ही है' इस कहनेमें विरोधकी कोई बात नहीं है। विरोध वहीं आता है जहां छोटा-बड़ापन जैसे सापेक्ष धर्मों अथवा गुणोंको निरपेक्ष-रूपसे कथन किया जाता है। मैं समझता हूं अब तुम इस विरोध-अविरोधके तत्त्वको भी और अच्छी तरहसे समझ गये होगे ?

विद्यार्थी—हाँ, आपने खूब समझा दिया है और मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ।

अध्यापक—अच्छा, अब मैं एक बात और पूछता हूं—'कल तुम्हारी कक्षामें जिनदास नामके एक स्याद्वादी—स्याद्वादन्यायके अनुयायी—आए थे और उन्होंने मोहन लड़केको देख कर तथा उसके विषयमें कुछ पूछ-ताछ कर कहा था "यह तो छोटा है"। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'यह छोटा ही है,' यह भी नहीं कहा कि वह 'सर्वथा छोटा है' और न यही कहा कि यह 'अमुककी अपेक्षा अथवा अमुक विषयमें छोटा है' तो बतलाओ उनके इस कथनमें क्या कोई दोष आता है ? और यदि नहीं आता तो क्यों नहीं ?

इस प्रश्नको सुन कर विद्यार्थी कुछ चक्करसेमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा। जब उसे कई मिनट होगये तो अध्यापकजी बोल उठे—'तुम तो बड़ी सोचमें पड़ गये ! इस प्रश्न पर इतने सोच-विचार का क्या काम ? यह तो स्पष्ट ही है कि जिनदास स्याद्वादी हैं, उन्होंने स्वतंत्ररूपसे 'ही' तथा 'सर्वथा' शब्दोंका साथमें प्रयोग भी नहीं किया है, और इस लिये उनका कथन प्रकट रूपमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगको साथमें न लेते हुए भी 'स्यात्' शब्दसे अनुशासित है—किसी अपेक्षा विशेषको लिये हुए है। किसीसे किसी प्रकारका छोटापन उन्हें विवक्षित था, इसीसे यह जानते हुए भी कि मोहन अनेकोंसे अनेक विषयोंमें 'बड़ा' है, उन्होंने अपने विवक्षित अर्थके अनुसार उसे उस समय 'छोटा' कहा है। इस कथनमें दोषकी कोई बात नहीं है। तुम्हारे हृदयमें शायद यह प्रश्न उठ रहा है कि जब मोहनमें छोटापन और बड़ापन दोनों थे तब जिनदासजीने उसे छोटा क्यों कहा, बड़ा क्यों नहीं कह दिया ?, इसका उत्तर इतना ही है कि—'मोहन उम्रमें, क़दमें, रूपमें, बलमें, विद्यामें, चतुराईमें और

आचार-विचारमें बहुतोंसे छोटा है और बहुतोंसे बड़ा है। जिनदासजीको जिसके साथ जिस विषय अथवा जिन विषयोंमें उसकी तुलना करनी थी उस तुलनामें वह छोटा पाया गया, और इस लिये उन्हें उस समय उसको छोटा कहना ही विवक्षित था वही उन्होंने उसके विषयमें कहा। जो जिस समय विवक्षित होता है वह 'मुख्य' कहलाता है और जो विवक्षित नहीं होता वह 'गौण' कहा जाता है। मुख्य-गौणकी इस व्यवस्थासे ही वचन-व्यवहारकी ठीक व्यवस्था बनती है। अतः जिनदासजीके उक्त कथनमें दोषापत्तिके लिये कोई स्थान नहीं है। अनेकान्तके प्रतिपादक स्याद्वादियोंका 'स्यात्' पदका आश्रय तो उनके कथनमें अतिप्रसंग जैसा गड़बड़-गुठाला भी नहीं होने देता। बहुत से छोटेपनों और बहुतसे बड़ेपनोंमें जो जिस समय कहने वालेको विवक्षित होता है उसीका ग्रहण किया जाता है—शेषका उक्त पदके आश्रयसे परिवर्जन (गौणीकरण) हो जाता है।....

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या अभी चल ही रही थी कि इतनेमें घंटा बज गया और वे दूसरी कक्षामें जानेके लिये उठने लगे। यह देख कर कक्षाके सब विद्यार्थी एक दम खड़े हो गये और अध्यापकजीको अभिवादन करके कहने लगे—'आज तो आपने तत्त्वज्ञानकी बड़ी बड़ी गंभीर तथा सूक्ष्म बातोंको ऐसी सरलता और सुगम रीति से बातकी बातमें समझा दिया है कि हम उन्हें जीवनभर भी नहीं भूल सकते। इस उपकारके लिये हम आपके आजन्म ऋणी रहेंगे।'

वीरसेवामन्दिर, सरसावा,
ता० ३० सितम्बर १९४३ } जुगलकिशोर मुख्तार

कवि-कर्तव्य

मानवता की इस प्यालीमें,
रस है कहाँ, कि जो छलकाएँ

[अनेकान्तमें प्रकाशित इसी शीर्षककी कविता का दूसरा पहलू]

हमने समझा, सुख-दुख क्या है ?
सिर्फ मानने ही भर का है !
'लें' 'विवेक' से काम निरन्तर—'
'जीवन' की यह परिभाषा है !!
दुख-सुख दोनों ही 'बन्धन' हैं—
कहने को कुछ भी कहलाएँ !

माया के जाले से सहसा—
आज निकलना सहज नहीं है !
तनिक निकल कर देख लीजिए—
मुक्ति नहीं, तो स्वर्ग यहीं है !!
चेष्टाएँ निष्फल होतीं जब—
कैसे हम सुख-पथ पर आएँ ?

सिसक रही मानवता-मृदुता—
पनप रही जग में निष्ठुरता !
'सत्य' 'शान्ति'की होली जलती—
'हिंसा' है छू रही अमरता !!
मन दबोच रक्खा है जिनने—
उनसे पहले पिण्ड छुड़ाएँ !

घना-स्वार्थ लेकर बढ़ते हैं—
होते हैं जब उसमें असफल !
रक्त बहाने तक में उन का—
नहीं काँपता तब अन्तस्तल !!
आत्म ज्ञान के बिना व्यर्थ हैं—
पूरब - पश्चिम की चर्चाएँ !

जो कुछ भी संकट आया है !
सब, अपने उर की छाया है !
खोकर ज्ञान, अँधेरा पाया—
वही 'अँधेरा' रँग लाया है !!
मीठे-आम चाहती, जड़ता—
खाएँ या कि नहीं खा पाएँ ?

करनी का फल सब पाते हैं !
करके ही सब पछताते हैं !!
पहले क्यों न सोच लेते वह—
जो ऐसे अवसर आते हैं !!
आखिर यही उचित लगता है—
अपने ही को हम अपनाएँ !

[श्री 'भगवत्' जैन]

अतीत स्मृति

स्व० ला० जम्बूप्रसाद जैन रईस सहारनपुर यू० पी०

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

('अनेकान्त' की प्रायः प्रत्येक किरणमें इस स्तम्भके अन्तर्गत समाजके उन स्वर्गवासी महानुभावोंके जीवनसंस्मरण रहा करेंगें जिन्होने अपने जीवनमें धर्म, समाज, जाति और राष्ट्रकी सेवामें कुछ भी सहयोग दिया है।)

"सारा समाज सोजाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूंगा!"

राज्यने सम्मेद शिखरजी का तीर्थ श्वेताम्बर समाजको बेच दिया था और उससे तीन प्रश्न उभर आये थे। श्वेताम्बरोंका आग्रह था कि हम दिगम्बरोंको इस तीर्थकी यात्रा न करने देंगें, यह दिगम्बरियोंका घोर अपमान था, यह पहला प्रश्न। राज्यको तीर्थ बेचनेका अधिकार नहीं है, क्योंकि तीर्थ कोई सम्पत्ति नहीं है, यह दूसरा प्रश्न। और तीर्थके सम्बन्धमें दिगम्बरोंके अधिकारका प्रश्न।

दिगम्बर समाजका हरेक आदमी बेचैन था, पर कोरी बेचैनी क्या करेगी? यहाँ तो आगे बढ़कर एक पूरा युद्ध सिरपर लेनेकी बात थी, उसके लिये प्रायः कोई तैयार न था। इतने विशाल समाजमें एक सिर उभरकर उठा, एक कदम आगे बढ़ा और एक वाणी सबके कानोंमें प्रतिध्वनित हुई—

"सारा समाज सो जाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूंगा। यह दिगम्बर समाजके जीवन-मरणका प्रश्न है। मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता!"

यह सहारनपुरके प्रख्यात रईस ला० जम्बूप्रसाद जी की वाणी थी, जिसने सारे समाजमें एक नव-चेतनाकी फुहार बरसादी। मीठे बोल बोलना भले ही मुश्किल हो, ऊँचे बोल बोलना बहुत सरल है। इस सरलतामें कठिनताकी सृष्टि तब होती है, जब उनके अनुसार काम करनेका समय आता है। लालाजीने ऊँचे बोल बोले और उन्हें निबाहा, ५० हजार चान्दीके सिक्के अपने घरसे निकालकर उन्होंने खर्च किये। और श्री ला० देवीसहायजी फीरोजपुर निवासी एवं श्री तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बईके कन्धेसे कन्धा मिला कर पूरे २॥ वर्ष तक रात दिन अपनेकोभूले, वे उसमें जुटे रहे और तब चैनसे बैठे, जब समाजके गलेमें विजयकी माला पड़ चुकी।

मुकदमेके दिनोंमें ही उनकी पत्नीका भयङ्कर आपरेशन हुआ। मृत्यु सामने खड़ी थी, जीवन दूर दिखाई देता था, सबने चाहा कि वे पास रहें, पर उन्हें अवकाश न था, वे न आये। यह उनकी धुन, उनकी लगनकी एक तस्वीर है, बहुत चमकदार और पूजाके लायक, पर यह अधूरी है यदि हम यह न जानलें कि तब लाला जम्बूप्रसाद किस स्थितिमें थे, जब समाजके अपमानका यह चैलेंज उन्होंने स्वीकार किया था।

सन् १८७७ में जन्मे और १६०० में इस स्टेटमें दत्तक पुत्रके रूपमें आये। तब वे मेरठ कालिजके एक होनहार विद्यार्थी थे। १८६३ में उनका विवाह हो गया था, पर विवाहका बन्धन और इतनी बड़ी स्टेटकी प्राप्ति उनके विद्या-प्रेमको न जीतसकी और वे पढ़ते गए, पर कुटुम्बके दूसरे सदस्य स्टेटके अधिकारी बनकर आये और मुकदमेबाजी शुरू हुई। यह जीवन-मरणका प्रश्न था, कालेजको नमस्कारकर वे इस संघर्षमें आकूदे और १६०७ में विजयी हुए। स्व० पण्डित मोतीलाल नेहरू प्रिविकौंसिलमें आपके वकील थे और आपकी विजय, किसी विवाहित युवाके दत्तक होनेकी पहली नजीर थी। यह विजय बहुत बड़ी थी, पर बहुत मँहगी भी। स्टेटकी आर्थिक स्थितिपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था और आप उसे सम्भाल ही रहे थे कि शिखरजीका आह्वान आपने स्वीकार कर लिया।

हमने ला० जम्बूप्रसादजीको नहीं देखा, पर इस सारी स्थितिकी हम सही सही कल्पना करते हैं, तो एक दृढ़ आत्माका चित्र हमारे सामने आजाता है। आन्धियोंमें अकम्प और संघर्षोंमें शान्त रहने वाली यह दृढ़ता, परिस्थितियोंकी ओर न देखकर, लक्ष्यकी ओर देखने वाली यह वृत्ति ही वास्तवमें जम्बूप्रसाद थी, जो लाला जम्बूप्रसाद नामके देहके भस्म होनेपर भी जीवित है, जागृत है, और प्रेरणाशील है।

इस तस्वीरका एक कोना और हम झाँकलें।

अब तक देखे तीनों कोनोंमें गहरे रंग हैं, दृढ़ताके और अकम्पके, पर चौथे कोनेमें बड़े 'लाइट कलर' हैं—हल्के हल्के झिलमिल और सुकुमार।

धर्मके प्रति आस्था जीवनके साथ लिये ही जैसे वे जन्मे थे। कालेजमें भी स्वाध्याय-पूजन करते और धर्म कार्योंमें अनुरक्त रहते। कालेजमें उन्हें एक साथी मिले ला० धूमसिंह। ऐसे साथी कि अपना परिवार छोड़कर मृत्युके दिन तक उन्हींके साथ रहे। ला० जम्बूप्रसादके परिवारमें इसपर ऐतराज़ हुआ, तो बोले—मैं यह स्टेट छोड़ सकता हूँ, धूमसिंहको नहीं छोड़ सकता। और वाक़ई जीवनभर दोनोंने एक दूसरेको नहीं छोड़ा।

दत्तक पुत्रोंका सम्बन्ध प्रायः अपने जन्म-परिवार के साथ नहीं रहता, पर वे बराबर सम्पर्कमें रहे और सेवा करते चले। अपने भाईकी बीमारीमें १००) रु० रोज़पर वर्षों तक एक विशेषज्ञको रखकर, जितना खर्च उन्होंने किया, उसका योग देखकर आँखें खुली ही रह जाती हैं!

१६२१ में, अपनी पत्नीके जीवनकालमें ही आपने ब्रह्मचर्यका व्रत लेलिया था और वैराग्यभावसे रहने लगे थे। अप्रेल १६२३ में वे देहलीकी बिम्बप्रतिष्ठामें गये और वहां उन्होंने यावन्मात्र वनस्पतिके आहारका त्यागकर दिया। जून १६२३ में उन्होंने अपने श्रीमन्दिर की वेदी प्रतिष्ठा कराई और इसके बाद तो वे एक दम उदासीन भाव-सुख दुखमें समता लिये रहने लगे।

आरम्भसे ही उनकी रुचि गम्भीर विषयोंके अध्ययनमें थी—कालेजमें बी० ए० में पढ़ते समय, लॉजिक, फिलासफी और संस्कृत साहित्य उनके प्रिय विषय थे। अपने समयके श्रेष्ठ जैन विद्वान श्री पन्ना-लालजी न्यायदिवाकर सदैव उनके साथ रहे और लालाजीका अन्तिम समय तो पूर्णतया उनके साथ शास्त्रचर्चामें ही व्यतीत हुआ।

उनकी तेजस्विता, सरलता और धर्मनिष्ठाके कारण समाजका मस्तक उनके सामने झुक गया और समाजने न सिर्फ उन्हें 'तीर्थभक्त-शिरोमणि' की उपाधि दी, अपना भी शिरोमणि माना। अनेक संस्थाओंके वे सभापति और संचालक रहे और समाजका जो कार्य कोई न कर सके, उसके करनेकी क्षमता उनमें मानी जाने लगी।

समाजकी यह पूजा पाकर भी, उनमें पूजाकी प्यास न जगी। उन्होंने जीवनभर काम किया, यशके लिये नहीं, यह उनका स्वभाव था, बिना काम किये वे रह नहीं सकते थे। उनकी मनोवृत्तिको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि सरकारी अधिकारियोंके साथ उनका सम्पर्क कैसा रहा?

उनके नामके साथ, अपने समयके एक प्रतापी पुरुष होकर भी, कोई सरकारी उपाधि नहीं है। इस उपाधिके लिये खुशामद और चापलूसी की जिन व्याधियोंकी अनिवार्यता है, वे उनसे मुक्त थे। उनके जीवनका एक क्रम था—आज तो सरकारी अधिकारी ही अपने मिलनेका समय नियत करते हैं, पर उन्होंने स्वयं ही सायंकाल ५ बजेका समय इस कार्यके लिए नियतकर रक्खा था। जिलेका कलक्टर यदि मिलने आता, तो उसे नियमकी पाबन्द करनी पड़ती, अन्यथा वह प्रतीक्षाका रस लेनेके लिये बाध्य था।

लखनऊ दरबारमें गवर्नरका निमन्त्रण उन्हें मिला। उन्होंने यह कहकर उसे अस्वीकृत कर दिया कि मैं तो ५ बजे ही मिल सकता हूँ, विवश, गवर्नर महोदयको समयकी ढील देनी पड़ी। आजके अधिकांश धनियोंका नियम तो दारोगाजीकी पुकारपर ही दम तोड़ देता है। कई बार उन्हें आनरेरी मैजिस्टेट बनानेका प्रस्ताव आया, पर उन्होंने कहा—मुझे अवकाश ही नहीं है। यह उनके अन्तरका एक और चित्र है, साफ और गहरा।

१० अगस्त १६२३ को वे यह दुनिया छोड़ चले। मृत्युका निमन्त्र मानने से कुछ ही मिनट पहले उन्होंने नये वस्त्र बदले और भूमिपर आने की इच्छा जताई। उन्हें गोदमें उठाया गया और नीचे उनका शव रखा गया जीवन और मृत्युके बीच कितना संक्षिप्त अन्तर। ला० जम्बूप्रसाद, एक पुरुष, संघर्ष और शान्ति दोनोंमें एक रस! वे आज नहीं हैं, किन्तु उनकी भावना आज भी जीवित है।

——

स्वाधीनताकी दिव्यज्योति

—(लेखक—श्री 'भगवत्' जैन)—

[इस शिक्षाप्रद पौराणिक खण्ड-काव्यमें भरत-बाहुबलीके युद्ध और उसके परिणामका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है—पढ़ना प्रारम्भ करके उसे छोड़नेको मन नहीं होता। अपनी इस रुचिकर रचनाके लिये लेखक महोदय धन्यवादके पात्र हैं। —सम्पादक]

जिस वीरने हिंसाकी हुकूमत को मिटाया।
जिस वीरके अवतारने पाखण्ड नशाया॥
जिस वीरने सोती हुई दुनियाको जगाया।
मानवको मानवीयताका पाठ पढ़ाया॥
उस वीर, महावीरके क़दमोंमें झुका सर।
जय बोलिएगा एक बार प्रेमसे प्रियवर!

कहता हूँ कहानी मैं सुनन्दाके नन्दकी।
जिसने न कभी दिलमें गुलामी पसन्द की॥
नौबत भी आई भाईसे भाईके द्वन्द्वकी।
लेकिन न मोड़ा मुँह, न ज़ुबाँ अपनी बन्द की॥
आज़ादी छोड़ जीना जिसे नागवार था।
बेशक स्वतंत्रतासे मुहब्बत थी, प्यार था॥

थे 'बाहुबली' छोटे, 'भरतराज' बड़े थे।
छह-खण्डके वैभव सभी पैरोंमें पड़े थे॥
थे चक्रवर्ति, देवता सेवामें खड़े थे।
लेकिन थे वे भाई कि जो भाईसे लड़े थे॥
भगवान ऋषभदेवके वे नौनिहाल थे।
सानी न था दोनों ही अनुज बे-मिसाल थे॥

भगवान तो, दे राज्य, तपोवनको सिधारे।
करने थे उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर्मके आरे॥
रहने लगे सुख-चैन से दोनों ही दुलारे।
थे अपने-अपने राज्य में सन्तुष्ट विचारे॥
इतनेमें उठी क्रान्तिकी एक आग विषैली।
जो देखते ही देखते ब्रह्माण्डमें फैली॥

करनेके लिए दिग्विजय भरतेश चल पड़े।
क़दमोंमें गिरे शत्रु, नहीं रह सके खड़े॥
थी ताब, यह किसकी कि जो चक्रीसे आ लड़े?
यों, आके मिले आप ही राजा बड़े-बड़े॥
फिर होगया छह-खण्डमें भरतेशका शासन।
पुजने लगा अमरोंसे नरोत्तमका सिंहासन॥

था सबसे बड़ा पद जो हुकूमतका वो पाया।
था कौन बचा, जिसने नहीं सिर था झुकाया?
दल देव-व-दानवका जिसे पूजने आया।
फिरती थी छहों खण्डमें भरतेशकी छाया॥
यह सत्य हर तरह है कि मानव महान् था।
गो, था नहीं परमात्मा; पर, पुण्यवान् था॥

जब लौटा राजधानीको चक्रीशका दल-बल।
जिस देशमें आया कि वहीं पड़ गई हल-चल॥
ले-लेके आए भेंट—जवाहरात, फूल-फल।
नरनाथ लगे पूछने—भरतेशकी कुशल॥
स्वागत किया, सत्कार किया सबने मोदभर।
था गूंजता भरतेशकी जयघोषसे अम्बर॥

था कितना विभव साथमें, कितना था सैन्य-दल।
कैसे करूँ बयान, नहीं लेखनीमें बल॥
हाँ, इतना इशारा ही मगर काफ़ी है केवल।
सब-कुछ था मुहय्या, जिसे कर सकता पुण्य-फल॥
सेवक करोड़ों साथ थे, लाखों थे ताजवर।
अगणित थे अस्त्र, शस्त्र; देख थरहरे कायर॥

उत्सव थे राजधानीके हर शख़्सके घरमें ।
खुशियाँ मनाई जा रही थीं खूब नगरमें ॥
थे आ रहे चक्रोश, चक्ररत्न ले करमें ।
चर्चाएँ दिग्विजयकी थीं घर-घरमें डगरमें ॥
इतनेमें एक बाधा नई सामने आई ।
दम-भरके लिए सबको मुसीबतसी दिखाई ॥
जाने न लगा चक्र नगर-द्वारके भीतर ।
सब कोई खड़े रह गए जैसे कि हों पत्थर ॥
सब रुक गई सवारियाँ, रास्तेको घेरकर ।
गोया थमा हो मंत्रकी ताक़तसे समुन्दर ॥
चक्रोश लगे सोचने—'ये माजरा क्या है ?
है किसकी शरारत कि जो ये विघ्न हुआ है ?
क्योंकर नहीं जाता है चक्र अपने देशको ?
है टाल रहा किस लिये अपने प्रवेश को ?
आनन्दमें क्यों घोल रहा है कलेश को ?
मिटना रहा है शेष, कहाँके नरेश को ?
बाक़ी बचा है कौन-सा इन छहों खण्डमें ?
जो डूब रहा आजतक अपने घमण्डमें ॥'
जब मंत्रियोंने फ़िक्रमें चक्रोशको पाया ।
माथा झुकाके, सामने आ भेद बताया ॥
'बाहूबलीका गढ़ नहीं अधिकारमें आया ।
है उनने नहीं आके अभी शीश झुकाया ॥
जब तक न वे अधीनता स्वीकार करेंगे ।
तब तक प्रवेश देशमें हम कर न सकेंगे ॥'
क्षण-भर तो रहे मौन, फिर ये बैन उचारा ।—
'भेजो अभी आदेश उन्हें दूतके द्वारा ॥
आदेश पा भरतेशका तब भृत्य सिधारा ।
लेकरके चक्रवर्तिकी आज्ञाका कुठारा ॥
वाचाल था, विद्वान, चतुर था, प्रचण्ड था ।
चक्रीके दूत होनेका उसको घमण्ड था ॥
'बोला कि—'चक्रवर्तिको जा शीश झुकाओ ।
या रखते हो कुछ दम तो फिर मैदानमें आओ ।
मैं कह रहा हूँ उसको शीघ्र ध्यानमें लाओ ।
स्वामीकी शरण जाओ, या वीरत्व दिखाओ ॥'
सुनते रहे बाहूबली गंभीर हो बानी ।
फिर कहने लगे दूतसे वे आत्म-कहानी ॥

'रे, दूत ! अहंकारमें खुदको न डुबा तू ।
स्वामीकी विभव देखकर मत गर्वमें आ तू ॥
वाणीको और बुद्धिको कुछ होशमें ला तू ।
इन्सानके जामेको न हैवान बना तू ॥
सेवककी नहीं जैसी कि स्वामीकी जिन्दगी ।
क्या चीज़ है दुनियामें गुलामीकी ज़िन्दगी ॥
स्वामीके इशारे पै जिसे नाचना पड़ता ।
ताज्जुब है कि वह शख़्स भी, है कैसे अकड़ता ?
मुर्दा हुई-सी रूहमें है जोश न दृढ़ता ।
ठोकर भी खाके स्वामी के पैरोंको पकड़ता ॥
वह आके अहंकारकी आवाज़में बोले ।
अचरजकी बात है कि लाश पुतलियाँ खोले ॥'
सुनकर ये, राजदूतका चेहरा बिगड़ गया ।
चुपचाप खड़ा रह गया, लज्जासे गड़ गया ॥
दिलसे ग़रूर मिट गया, पैरोंमें पड़ गया ।
हैवानियतका डेरा ही गोया उखड़ गया ॥
पर, बाहूबली-राजका कहना रहा जारी ।
वह यों, जवाब देनेकी उनकी ही थी बारी ॥
बोले कि—'चक्रवर्तिसे कह देना ये जाकर ।
बाहूबली न अपना झुकाएँगे कभी सर ॥
मैं भी तो लाल उनका हूँ हो जिनके तुम पिसर ।
दोनों को दिए थे उन्होंने राज्य बराबर ॥
सन्तोष नहीं तुमको ये अफ़सोस है मुझको ।
देखो, ज़रासे राज्य पै क्या लो है मुझको ॥
अब मेरे राज्यपर भी है क्यों दाँत तुम्हारा ?
क्यों अपने बड़प्पनका चलाते हो कुठारा ?
मैं तुच्छ-सा राजा हूँ, अनुज हूँ मैं तुम्हारा ।
दिखलाइयेगा मुझको न वैभवका नज़ारा ॥
नारीकी तरह होती है राजाकी सल्तनत ।
यों, बन्धुकी गृहणी पै न बद कीजिए नीयत ॥
छोटा हूँ, मगर स्वाभिमान मुझमें कम नहीं ।
बलिदानका बल है, अगर लड़नेका दम नहीं ॥
'स्वातंत्र्य'के हित प्राण भी जाएँ तो ग़म नहीं ।
लेकिन तुम्हारा दिल है वह जिसमें रहम नहीं ॥
कह देना चक्रधरसे झुकेगा ये सर नहीं ।
बाहूबलीके दिलपै ज़रा भी असर नहीं ॥

बेचूँगा न आज़ादी को, लेकर मैं गुलामी।
भाई हैं बराबर के, हों क्यों सेवकों स्वामी?
मत डालिए अच्छा है यही प्यारमें खामी।
आऊँगा नहीं जीते-जी देनेको सलामी॥'
सुन करके वचन, राज-दूत लौटके आया।
भरतेशको आकर के सभी हाल सुनाया॥
चुप सुनते रहे जब तलक, क़ाबूमें रहा दिल।
पर, देर तक खामोशीका रखना हुआ मुश्किल॥
फिर बोले ज़रा ज़ोरसे, हो क्रोधसे दाखिल।
'मरनेके लिए आएगा, क्या मेरे मुक़ाबिल?
छोटा है, मग़र उसको बड़ा-सा ग़रूर है।
मुझको घमण्ड उसका मिटाना ज़रूर है॥'
फिर क्या था, समर-भूमिमें बजने लगे बाजे।
हथियार उठाने लगे नृप थे जो विराजे॥
घोड़े भी लगे हींसने, गजराज भी गाजे।
कायर थे, छिपा आँख वे रण-भूमिसे भाजे॥
सुभटोंने किया दूर जब इन्सानका जामा।
घनघोर-से संग्रामका तब सज गया सामाँ॥
दोनों ही पक्ष आगए, आकर अनी भिड़ी।
सबको यक़ीन यह था कि दोनोंमें अब छिड़ी॥
इतनेमें एक बात वहाँ ऐसी सुन पड़ी।
जिसने कि युद्ध-क्षेत्रमें फैलादी गड़बड़ी॥
हाथोंमें उठे रह गए जो शस्त्र उठे थे।
मुँह रह गए वे मौन, जो कहनेको खुले थे॥
ये सुन पड़ा—न वीरोंके अब खून बहेंगे।
भरतेश व बाहुबली खुद आके लड़ेंगे॥
दोनों ही युद्ध करके स्व-बल आजमालेंगे।
हारेंगे वही विश्वकी नजरोंमें गिरेंगे॥
दोनों ही बली, दोनों ही हैं चरम-शरीरी।
धारण करेंगे बादको दोनों ही फ़क़ीरी॥
क्या फ़ायदा है व्यर्थमें जो फ़ौज कटाएँ?
बेकार ग़रीबोंका यहाँ खून बहाएँ?
दोजखका सीन किसलिए हम सामने लाएँ?
क्यों नारियोंको व्यर्थमें विधवाएँ बनाएँ?
दोनोंके मंत्रियोंने इसे तय किया मिलकर।
फिर दोनों नरेशोंने दी स्वीकारता इसपर॥

तब युद्ध तीन क़िस्मके होते हैं मुक़र्रर।
जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध, दृष्टि-युद्ध, भयंकर॥
फिर देर थी क्या? लड़ने लगे दोनों बिरादर।
दर्शक हैं खड़े देखते इकटक किए नज़र॥
कितना ये दर्दनाक है दुनियाका रवैया।
लड़ता है ज़र-ज़मींको यहाँ भैयासे भैया॥
अचरजमें सभी डूबे जब ये सामने आया।
जल-युद्धमें चक्रीको बाहुबलिने हराया॥
झुँझला उठे भरतेश कि अपमान था पाया।
था सब्र, कि है जंग अभी और बक़ाया॥
'इस जीतमें बाहुबलीके क़दकी ऊँचाई।—
लोगोंने कहा—खूब ही वह काममें आई!!'
भरतेशके छींटे सभी लगते थे गले पर।
बाहुबलीके पड़ते थे जा आँखके अन्दर॥
दुखने लगीं आँखें, कि लगा जैसे हो खंजर।
आखिर यों, हार माननी ही पड़गई थककर॥
ढाईसौ-धनुष-दुगनी थी चक्रीशकी काया।
लघु-भ्रातकी पचीस अधिक, भाग्यकी माया॥
फिर दृष्टि-युद्ध, दूसरा भी सामने आया।
अचरज, कि चक्रवर्तिको इसमें भी हराया॥
लघु-भ्रातको इसमें भी सहायक हुई काया।
सब दंग हुए देख ये अनहोनी-सी माया॥
चक्रीशको पड़ती थी नज़र अपनी उठानी।
पड़ती थी जब कि दृष्टि बाहुबलिको झुकानी॥
गर्दन भी थकी, थक गए जब आँखके तारे।
लाचार हो कहना पड़ा भरतेशको—'हारे'॥
गुस्सेमें हुईं आँखें, धधकते-से अँगारे॥
पर, दिलमें बड़े ज़ोरसे चलने लगे आरे।
तन करके रोम-रोम खड़ा होगया तनका।
मुँह पर भी झलकने लगा जो क्रोध था मनका॥
सब काँप उठे क्रोध जो चक्रीशका देखा।
चेहरे पै उभर आई थी अपमानकी रेखा॥
सब कहने लगे—'अबके बदल जाएगा लेखा।
रहनेका नहीं चक्रीके मन, जयका परेखा॥'
चक्रीशके मनमें था—'विजय अबके मैं लूंगा।
आते ही अखाड़े, उसे मद-हीन करूँगा॥'

वह वक्त भी फिर आ ही गया मौतके आगे।
दोनों ही सुभट लड़ने लगे क्रोधमें पागे॥
हम भाग्यवान् इनको कहें, या कि अभागे?
आपसमें लड़ रहे जो खड़े प्रेमको त्यागे॥
होती रही कुछ देर घमासान लड़ाई।
भर-पूर दाव-पेचमें थे दोनों ही भाई॥
दर्शक थे दंग—देख विकट-युद्ध—थे थर-थर।
देवोंसे घिर रहा था समर-भूमिका अम्बर॥
नीचे था युद्ध हो रहा दोनोंमें परस्पर।
बाहुबली नीचे कभी ऊपर थे चक्रधर॥
फिर देखते ही देखते ये दृश्य दिखाया।
बाहुबलीने भरतको कन्धे पै उठाया॥
यह पास था कि चक्रीको धरती पै पटक दें।
अपनी विजयसे विश्वकी सीमाओंको ढकदें॥
रण-थलमें बाहु-बलसे विरोधीको झटक दें।
भूले नहीं जो जिन्दगी-भर ऐसा सबक़ दें॥
पर, मनमें सौम्यताकी सही बात ये आई।—
'आख़िर तो पूज्य हैं कि पितासम बड़े भाई!!'
उस ओर भरतराजका मन क्रोधमें पागा।
'प्राणान्त करदूँ भाईका' यह भाव था जागा॥
अपमानकी ज्वालामें मनुज-धर्म भी त्यागा।
फिर चक्र चलाकर किया सोनेमें सुहागा॥
वह चक्र जिसके बलपै छहों खण्ड झुके थे।
अमरेश तक भी हार जिससे मान चुके थे॥
कन्धेसे ही उस चक्रको चक्रीने चलाया।
सुर-नरने तभी 'आह'से आकाश गुँजाया॥
सब सोच उठे—'दैवके मन क्या है समाया?'
पर, चक्रने भाईका नहीं खून बहाया॥
वह सौम्य हुआ, छोड़ बनावटकी निठुरता।
देने लगा प्रदक्षिणा, धर मनमें नम्रता॥
फिर चक्र लौट हाथमें चक्रीशके आया।
सन्तोष-सा, हर शख्सके चेहरे पै दिखाया॥
श्रद्धासे बाहुबलिको सबने भाल झुकाया।
फिर काल-चक्र दृश्य नया सामने लाया॥—
भरतेशको रण-भूमिमें धीरे-से उतारा।
तत्काल बहाने लगे फिर दूसरी धारा॥

'धिक्कार है दुनिया कि है दमभरका तमाशा।
भटकाता, भ्रमाता है पुण्य-पापका पाशा॥
कर सकते वफ़ादारीकी हम किस तरह आशा?
है भाई जहाँ भाई ही के खूनका प्यासा॥
चक्रीश! चक्र छोड़ते क्या यह था विचारा?
मर जाएगा बे-मौत मेरा भाई दुलारा॥
भाईके प्राणसे भी अधिक राज्य है प्यारा।
दिखला दिया तुमने इसे, निज कृत्यके द्वारा॥
तीनों ही युद्धमें हुआ अपमान तुम्हारा।
जब हार गए, न्यायसे हट चक्र भी मारा॥
देवोपुनीत-शस्त्र न करते हैं वंश-घात।
भूले इसे भी, आगया जब दिलमें पक्षपात॥
मैं बच गया पर तुमने नहीं छोड़ी कसर थी।
सोचो, ज़रा भी दिलमें मुहब्बतकी लहर थी?
दिलमें था ज़हर, आगके मानिंद नज़र थी।
थे चाहते कि जल्द बँधे भाईकी अरथी॥
अन्धा किया है तुमको, परिग्रहकी चाँहने।
सब-कुछ भुला दिया है गुनाहोंकी छाहने॥
सोचो तो, बना रह सका किसका घमण्ड है?
जिसने किया, उसीका हुआ खण्ड-खण्ड है॥
अपमान, अहंकारकी चेष्टाका दण्ड है।
किस्मतका बदा, बल सभी बलमें प्रचण्ड है॥
है राज्यकी ख़्वाहिश तुम्हें लो राज्य सँभालो।
गद्दी पै विराजे उसे क़दमोंमें झुकालो॥
उस राज्य को धिक्कार कि जो मदमें डुबा दे।
अन्याय और न्यायका सब भेद भुलादे॥
भाईकी मुहब्बतको भी मिट्टीमें मिलादे।
या यों कहो—इन्सानको हैवान बनादे॥
दरकार नहीं ऐसे घृणित-राज्यकी मनको।
मैं छोड़ता हूँ आजसे इस नारकीपनको॥'
यह कहके चले बाहुबली मुक्तिके पथपर।
सब देखते रहे कि हुए हों सभी पत्थर॥
भरतेशके भीतर था व्यथाओंका ववण्डर।
स्वर मौन था, अटल थे, कि धरतीपै थी नज़र॥
आँखोंमें आगया था दुखी-प्राणका पानी।
या देख रहे थे खड़े वैभवकी कहानी॥
x x x x

[उपसंहार]

आकरके बाहुबलिने तपोवनमें जो किया।
उस कृत्यने संसार सभी दंग कर दिया॥
तप व्रत किया कि नाम जहाँमें कमा लिया।
कहते हैं तपस्या किसे, इसको दिखा दिया॥
कायोत्सर्ग वर्ष-भर अविचल खड़े रहे।
ध्यानस्थ इस क़दर रहे, कवि किस तरह कहे?
मिट्टी जमी शरीरसे सटकर, इधर-उधर।
फिर दूब उगी, बेलें बढ़ीं बाँहोंपै चढ़कर॥
बाँबी बनाके रहने लगे मौजसे फनधर॥
मृग भी खुजाने खाज लगे ठूँठ जानकर॥
निस्पृह हुए शरीरसे वे आत्म-ध्यानमें।
चर्चाका विषय बन गए सारे जहानमें॥
पर, शल्य रही इतनी गोमटेशके भीतर।
'ये पैर टिके हैं मेरे चक्रीकी भूमि पर॥'
इसने ही रोक रक्खा था कैवल्यका दिनकर।
वरनः वो तपस्या थी तभी जाते पाप झर॥
यह बात बढ़ी और सभी देशमें छाई॥
इतनी कि चक्रवर्तिके कानोंमें भी आई॥
सुन, दौड़े हुए आए भक्ति-भावसे भरकर।
फिर बोले मधुर-बैन ये चरणोंमें झुका सर॥
'योगीश! उसे छोड़िये जो द्वन्द है भीतर।
होजाय प्रगट जिससे शीघ्र आत्म-दिवाकर॥
हो धन्य, पुण्यमूर्ति! कि तुम हो तपेश्वरी!
प्रभु! कर सका है कौन तुम्हारी बराबरी?
मुझसे अनेकों चक्री हुए, होते रहेंगे।
यह सच है कि सब अपनी इसे भूमि कहेंगे॥
पर, आप सचाईपै अगर ध्यानको देंगे।
तो चक्रधरकी भूमि कभी कह न सकेंगे॥
मैं क्या हूँ?-तुच्छ! भूमि कहाँ? यह तो विचारो।
काँटा निकाल दिलसे अकल्याणको मारो॥'

चक्रीने तभी भालको धरतीसे लगाया।
पद-रजको उठा भक्तिसे मस्तकपै चढ़ाया॥
गोया ये तपस्याका ही सामर्थ्य दिखाया।—
पुजना जो चाहता था वही पूजने आया॥
फिर क्या था, मनका द्वन्द सभी दूर होगया।
अपनी ही दिव्य-ज्योतिसे भरपूर होगया॥
कैवल्य मिला, देवता मिल पूजने आए।
नर-नारियोंने खूब ही आनन्द मनाए॥
चक्री भी अन्तरंगमें फूले न समाए।
भाईकी आत्म जयपै अश्रु आँखमें आए॥
है वंदनीय, जिसने गुलामी समाप्त की।
मिलनी जो चाहिए, वही आज़ादी प्राप्त की॥

× × × ×

उन गोमटेश-प्रभुके सौम्य-रूपकी झाँकी।
वर्षों हुए कि विज्ञ-शिल्पकारने आँकी॥
कितनी है कलापूर्ण, विशद्, पुण्यकी झाँकी।
दिल सोचने लगता है, चूमूँ हाथ या टाँकी?
है श्रवणबेलगोलमें वह आज भी सुस्थित।
जिसको विदेशी देखके होते हैं चकिताचित॥
कहते हैं उसे विश्वका वे आठवाँ अचरज।
खिल उठता जिसे देख अन्तरंगका पंकज॥
झुकते हैं और लेते हैं श्रद्धासे चरण-रज।
लेजाते हैं विदेश उनके अक्सका काग़ज़॥
वह धन्य, जिसने दर्शनोंका लाभ उठाया।
बेशक सफल हुई है उसी भक्तकी काया॥
उस मूर्तिसे है शान कि शोभा है हमारी।
गौरव है हमें, हम कि हैं उस प्रभुके पुजारी॥
जिसने कि गुलामीकी बला सिरसे उतारी।
स्वाधीनताके युद्धकी था जो कि चिंगारी॥
आज़ादी सिखाती है गोमटेशकी गाथा।
झुकता है अनायास भक्ति-भावसे माथा।

× × × ×

'भगवत्' उन्हीं-सा शौर्य हो, साहस हो, सुबल हो।
जिससे कि मुक्ति-लाभ लें, नर-जन्म सफल हो॥

साहित्यकी महत्ता

(लेखक—विद्यारत्न पं० मूलचन्द्र 'वत्सल' साहित्यशास्त्री)

संसारमें किसी प्रकारकी प्रगति उत्पन्न करनेके लिये साहित्य प्रमुख कारण होता है और किसी भी युगका निर्माण करनेमें साहित्यका अव्यक्तरूपसे प्रधान हाथ रहता है। संसारमें जब जब जैसा युग परिवर्तन हुआ है उसकी मूलमें वैसी प्रगतिका साहित्य अवश्य रहा है।

साहित्य वह उत्तम कला है जो संसारकी समस्त कलाओंमें शिरोमणि स्थान रखती है। जीवनको किसी भी रूपमें ढालनेके लिये साहित्य एक महान साँचेका कार्य करता है। साहित्यके हथौड़ेसे ही जीवन सुडौल बनता है और साहित्यके द्वारा ही आत्माकी आवाज संसारके प्रत्येक कोनेमें पहुँचती है।

जैनसाहित्यने प्रत्येक युगमें अपने पवित्र और विशाल अंगोंद्वारा संसारको भारतीय गौरवके दर्शन कराये हैं—प्राणीमात्रको सुखशान्ति और कर्तव्यके पथपर आकर्षित किया है और असंख्य प्राणियोंको कल्याण-पथका पथिक बनाया है।

समयानुकूल साहित्यके निर्माणमें जैन विद्वानोंने अपनी गौरवशालिनी प्रतिभा और विद्वत्ताका पूर्ण परिचय दिया है। संस्कृत-साहित्यके निर्माणमें तो जैनाचार्योंने वैराग्य, शान्ति और तत्वनिर्णयपर जो कुछ भी लिखा है वह अद्वितीय है, किन्तु हिन्दी साहित्यके निर्माणमें भी जैन विद्वान् किसी भी भारतीय कविसे पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने काव्य-द्वारा अपनी जिस पवित्र प्रतिभाका परिचय दिया है वह अत्यन्त गौरवमय है। हिन्दीका जैनसाहित्य अत्यन्त विशाल और महत्वशाली है। भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे तो उसमें कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जो जैनेतर साहित्यमें नहीं हैं।

हिन्दीकी उत्पत्ति जिस प्राकृत या मागधी भाषासे मानी जाती है। उसका सबसे अधिक परिचय जैनविद्वानों को रहा है। और यदि यह कहा जाय कि प्राकृत और मागधी शुरूसे अबतक जैनोंकी ही संपत्ति रही है तो कुछ अत्युक्ति न होगी। प्राकृतके बाद और हिन्दी बननेके पहले जो एक अपभ्रंश भाषा रह चुकी है उसपर भी जैनोंका विशेष अधिकार रहा है। इस भाषाके अभी कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और सब जैन विद्वानोंके बनाये हुए हैं। ऐसी दशामें स्पष्ट है कि हिन्दीकी उत्पत्ति और क्रम-विकासका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हिन्दीका जैन साहित्य अत्यन्त उपयोगी है।

हिन्दीके जैनसाहित्यने अपने समयके इतिहास पर भी बहुत प्रकाश डाला है। कविवर बनारसीदासजीका 'आत्म-चरित' अपने समयकी अनेक ऐतिहासिक घटनाओंसे भरा हुआ है वह अपनी कोटिकी हिन्दी साहित्यमें अकेली ही वस्तु है। अन्य कई ऐतिहासिक ग्रंथ भी जैनकवियों द्वारा लिखे गये हैं।

हिन्दी जैनसाहित्य अत्यन्त महत्वशाली होनेपर भी भारतके विद्वानोंका लक्ष्य उसपर नहीं गया, इसके कई प्रधान कारण हैं। जिनमें सबसे मुख्य कारण तो जैनियोंका अपने ग्रन्थोंका छिपाये रखना है। अन्य धर्मियों द्वारा जैनग्रन्थोंको नष्ट कर देनेके आतंकने जैनोंके हृदयोंको अत्यन्त भयभीत बना दिया था और परिस्थितिके परिवर्तन हो जानेपर भी हृदयोंमें जमी हुई पूर्व आशंकासे वे अपने ग्रन्थोंको बाहर नहीं निकाल सके और न सर्वसाधारणके सम्मुख पहुँचा सके।

जबसे देशमें छापेका प्रचार हुआ तबसे जैनसमाजको भय हुआ कि कहीं हमारे ग्रन्थ भी न छपने लगें और उन्होंने जी-जानसे उन्हें न छपने देनेका प्रयत्न किया। इधर कुछ नवीन विद्वानों पर नया प्रकाश पड़ा और उन्होंने जैनग्रंथोंके छपानेका प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप जैनग्रंथ छपने लगे। ऐसी दशामें जबकि स्वयं जैनोंको ही जैनसाहित्य सुगमतासे मिलनेका उपाय नहीं था तब सर्वसाधारणके निकट तो वह प्रकट ही कैसे हो सकता था?

दूसरा कारण जैनधर्मके प्रति सर्वसाधारणका उपेक्षा-भाव तथा विद्वेष है। अनेक विद्वान् भी नास्तिक और वेद-विरोधी आदि समझकर जैनसाहित्यके प्रति अरुचि या विरक्तिका भाव रखते हैं और अधिकांश विद्वानोंको तो यह भी मालूम नहीं कि हिन्दीमें जैनधर्मका साहित्य भी है और वह कुछ महत्व रखता है। ऐसी दशामें जैनसाहित्य अप्रकट रहा और लोग उससे अनभिज्ञ रहे। जैनसमाजके विद्वानों

की अरुचि या उपेक्षादृष्टि भी हिन्दी जैनसाहित्यके अप्रकट रहनेमें कारण है। उच्च कोटिके अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए लोगोंकी तो इस ओर रुचि ही नहीं है, उन्हें तो इस बात का विश्वास ही नहीं कि हिन्दीमें भी उनके सोचने और विचार करनेकी कोई चीज मिल सकती है। शेष रहे संस्कृतज्ञ सज्जन सो उनकी दृष्टिमें बेचारी हिन्दी भाषाकी औकात ही क्या है? वे अपनी संस्कृतकी धुनमें ही मस्त रहते हैं।

हिन्दीके जैनसाहित्यकी प्रकृति शांतिरस है। जैन कवियोंके प्रत्येक ग्रंथमें इसी रसकी प्रधानता है। उन्होंने साहित्यके उच्चतम लक्ष्यको स्थिर रक्खा है। भारतके अन्य प्रतिशत निन्यानवें कवि केवल शृङ्गारकी रचना करने में ही व्यस्त रहे हैं। कविवर तुलसीदास, कबीरदास, नानक भूषण आदि कुछ कवि ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने भक्ति, अध्यात्म और वीरताके दर्शन कराये हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दीके प्रायः सभी कवियोंने शृङ्गार और विलासकी मदिरा से ही अपने काव्यरसको पुष्ट किया है, इसके परिणामस्वरूप भारत अपने कर्तव्यों और आदर्श–चरित्रोंको भूलने लगा और उनमेंसे शक्ति और ओज नष्ट होने लगा। राजाओं तथा जमींदारोंके आश्रित रहनेवाले शृङ्गारी और खुशामदी कवियोंने उन्हें कामिनीकटाक्षोंसे बाहर नहीं निकलने दिया। वास्तवमें भारतके पतनमें ऐसे विलासी कवियोंने अधिक सहायता पहुँचाई है और जनताका मनोबल नष्ट करनेमें उनकी शृङ्गारी कविताने जहरका काम किया है। साहित्य का प्रधान लक्ष्य जनतामें सच्चरित्रता, संयम, कर्तव्यशीलता और वीरत्वकी पुष्टि करना है और उन्हें पवित्र आदर्शकी ओर लेजाना ही काव्यका सर्वश्रेष्ठ गुण है। आनंद और विनोद तो उसका गौण साधन है। जैन कवियोंने शृङ्गार और विलासरससे पुष्ट किये जाने वाले साहित्यके युगमें भी उससे अपनेको सर्वथा विमुख रक्खा है यह उनकी अपूर्व जितेन्द्रियता और सच्चरित्रताका परिचायक है, वे केवल शृङ्गारकाव्यसे उदासीन ही नहीं थे किन्तु उसके कट्टरविरोधी रहे हैं। कविवर बनारसीदास, भैया भगवतीदास और भूधरदासजीने अपने काव्योंमें शृंगाररस और शृंगारी कवियोंकी काफी निंदा की है। जैनकवियोंने मानव कर्तव्य और आत्मनिर्णयमें ही अपनी काव्यकलाको प्रदर्शित किया है। उनका लक्ष्य मानवोंकी चरम उन्नतिकी ओर ही रहा है, वे पवित्र लोकोद्धारके लक्ष्यको लेकर ही साहित्य-संसारमें अवतीर्ण हुए हैं और उन्होंने उस दिशामें पूर्ण सफलता प्राप्त की है। आत्म-परिचय और मानव-कर्तव्यके चित्रोंको उन्होंने बड़ी कुशलताके साथ चित्रित किया है, भक्ति, वैराग्य, उपदेश और तत्वनिरूपण-विषयक जैन-कवियोंकी कविताएं एकसे एक बढ़कर हैं। वैराग्य और संसारकी अनित्यता पर जैसी उत्तम रचनाएं जैन–कवियोंकी हैं वैसी रचना करनेमें बहुत कम समर्थ हुए हैं।

हिन्दी जैनसाहित्यमें चार प्रकारका साहित्य प्राप्त होता है—१ तात्विक ग्रंथ २ पद-भजन-प्रार्थनायें ३ पुराण-चरित्र-कथादि, ४ पूजापाठ। जैनियोंके प्रथम श्रेणीके कविवर बनारसीदास, भगवतीदास और भूधरदास आदि कवियोंने प्रायःआध्यात्मिक तथा आत्मनिर्णयके गंभीर विषयों पर रचना की और है इन रचनाओंमें उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

कविवर द्यानतराय, दौलतराम, भागचंद और बुधजन आदि कवि दूसरी श्रेणीके कवि हुए हैं। इन्होंने अधिकतर पद-भजन और विनतियोंकी ही रचना की है। आपके पदोंमें आध्यात्मिकता, भक्ति और उपदेशोंका गहरा रंग है। भाषा और भाव दोनों दृष्टियोंसे इनके पद महत्वशाली हैं। इनके अतिरिक्त सहस्रों जैन कवियोंने पुराण, चरित्र, पूजा-पाठ और भजनोंकी रचना की है जो साहित्यिक दृष्टिसे इतनी महत्व-शाली नहीं है जितनी कि आदर्श और भक्तिके रूपमें हैं।

उच्च श्रेणीके कवियोंका क्षेत्र आध्यात्मिक रहा है, इस लिये साधारण जनता उनके काव्यके महत्व तक नहीं पहुँच सकी। यदि इन कवियोंने चरित्र या कथा ग्रन्थोंकी रचना की होती या भक्ति रसमें रहे होते तो आज इनका साहित्य सारे संसारमें उच्च मान पाता, किन्तु उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त गौरवकी वस्तु है। उसे भारतीय साहित्यसे अलग नहीं किया जा सकता है। आज हमारा बहु-विस्तृत हिन्दी जैनकाव्य-भंडार छिन्न-भिन्न पड़ा हुआ है, यदि उसकी खोज की जाय तो उसमेंसे ऐसे अनेक काव्य-रत्नोंकी प्राप्ति हो सकती है जिनसे हिन्दी साहित्यके इतिहास में नवीनताकी वृद्धि हो सकती है। साहित्यिक विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे इस दिशामें प्रयत्नशील हों और प्राचीन साहित्यके गौरवसे साहित्यिक जनताको परिचित कराएँ।

दुखका स्वरूप

(पुरुषोत्तमदास मुरारका. साहित्यरत्न)

"तू भ्रम वह तम मेरा प्रियतम, आ सूनेमें अभिसार न कर" —महादेवी वर्मा

दुखका स्वरूप अंधकारमय है तथा आनन्दका प्रकाश-पूर्ण है। मानव-हृदयकी आदिम अवस्थासे सुख तथा दुख उसके हृदय पर पूर्णरूपसे आधिपत्य एवं प्रभुत्व प्रस्थापित करते दृष्टिगोचर होते हैं। बालकके हृदयमें भी सबसे पूर्व सुख-दुखकी ही अनुभूति होती है। समस्तभावों अथवा मनोविकारोंमें दुखका अन्यतम स्थान है। वेदना ही कई भिन्न २ प्रतीत होने वाले विकारोंका मूल स्थान है। जब हम किसी भी व्यक्तिकी हीन दशासे प्रेरित हो दयावश करुणासे आप्लावित होते प्रतीत होते हैं उस समय हमारे हृदयके किसी अज्ञात स्थल पर निर्मम चोट पहुँची हुई सी दिखलाई पड़ती है, अथवा यदि हम किसी बदमाशसे किसी अबलाको छुड़ानेके लिये क्रोधसे प्रेरित होते हैं तब भी उस की विपन्न तथा असहाय दशा हमारे हृदयमें दुःख नामक भावका संचार करते दृष्टिगोचर होती है।

दुखका स्वरूप जैसा अंधकारमय है उसी प्रकार उसका आकार भी अत्यन्त विस्तीर्ण है। दुःखानुभूतिके समय हम इस भौतिक पार्थिव स्थलका परित्याग कर एक निर्मल एवं निःस्वार्थ भावोंसे पूर्ण अलौकिक भूमि पर आविर्भूत हो जाते हैं। दुखके समय हमारी समस्त मायाजनित शक्तियाँ तथा उनके बंधन ढीले हो जाते हैं तथा हमें वैराग्य और विश्वप्रियताके सुन्दर सिद्धान्तोंका बोध होता सा प्रतीत होता है।

जिस प्रकार प्रकाशका अभाव ही अंधकार है उसी प्रकार सुखका अभाव ही दुख है। दुखकी अनुभूति भी बड़ी ही तीव्र होती है। उसके प्रवाहमें हमारे सब मनोविकार पलायन करतेसे प्रतीत होते हैं। दुखके प्रकार भी असंख्य हैं। साधारण दुख, विरह, आध्यात्मिक विरह आदि सब वेदनाकी कोटिमें ही आते हैं। भक्तोंको वेदना एक अत्यन्त प्रिय साथी सी प्राचीन कालसे ही रहती आई है। वेदनाकी आँचमें तप कर प्रेमविशुद्ध बन जाता है। उसका कलुषित अंश, उसका मलीन भाग वेदनाकी तप्त बयार पाकर पिघलने लगता है तथा अपने स्वच्छ एवं निर्मल स्वरूपमें दृष्टिगोचर होता है। विशुद्ध प्रेमकी साकार प्रतिमा मीरा जब अपने कोकिल कण्ठोंसे माधुर्य भावसे पूर्ण होकर—

'हेरि मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय'

अपने 'प्रेम मतवालेपन' का तथा अभिनव दर्दका व्याख्यान करती थी उस समय किसी भी भावुक हृदयमें स्पंदन तथा चेतना व्याप्त हो जाने लगती थी। सूर भी—

"निशिदिन बरसत नैन हमारे,
सदा रहत पावस ऋतु हम पर
जबसे श्याम सिधारे!"

प्रीतमके वियोगमें अपने नयनोंसे जल प्रवाहित करते हुएसे दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य यह है कि दुख अथवा वेदना प्राचीन युगसे ही भक्तोंकी बड़ी भारी संबल एवं सहायक रही है। दुखकी सार्वभौम सत्ताको, उसकी अविच्छिन्न परम्पराको तथा उस की परिपूर्ण स्थितिको अस्वीकार करना भयानक मूर्खता होगी, केवल मिथ्या अहंकार होगा तथा तिरस्करणीय एवं अभिमानपूर्ण कृत्य होगा। इस विश्वके वक्षस्थल पर जन्म लेकर जिसने वेदनाको नहीं ललकारा, ऐसा अबोध अकिंचन शायद ही कहीं दिखलाई पड़े।

अनेकान्त-साहित्यके प्रचारकी योजना

अनेकान्तमें जो महत्वका उपयोगी ठोस साहित्य निकलता है, हम चाहते हैं। उसका जनतामें अधिकाधिक रूपसे प्रचार होवे। इस लिए यह योजना की गई है कि चतुर्थ वर्ष और पाँचवें वर्षके विशेषाङ्कों को, जिनकी पृष्ठसंख्या क्रमशः १२० व १०४ और मूल्य ।।।) व ।।=) है, नाममात्रके मू० ।) व ≡) पर वितरण किया जावे। अतः दानी महाशयोंको मंदिरों, लायब्रेरियों, परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों और अजैन विद्वानों आदिको भेंट करने के लिए शीघ्र ही चाहे जिस अंककी २५, ५०, १०० कापियां एक साथ मँगाकर प्रचारकार्यमें अपना सहयोग प्रदान करना चाहिये। प्रचारार्थ पोष्टेज भी नहीं लिया जायगा।

वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर।

आज का मेस्मेरिज़्म और जैनधर्मका रत्नत्रय

(ले०—कौशलप्रसाद जैन व्यवस्थापक 'अनेकान्त')

भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंका दौरा करता हुआ मैं बिल्कुल नये स्थानकी एक धर्मशालामें ठहरा हुआ था। दिसम्बरका महीना था और अन्दाजन रात्रिका एक बजा होगा कि किसी स्त्रीकी करुण चीत्कारसे अचानक आँख खुल गई। रोनेका शब्द पास के कमरेसे आरहा था और क्रमशः इतना तेज आरहा था कि जब पड़ा रहना असम्भव हो गया तो रजाईसे मुँह लपेट कर बाहर निकल आया। मेरी ही तरह धर्मशालामें ठहरे हुए अन्य मुसाफिर भी बाहर निकल आये थे और कारण जाननेका प्रयत्न कर रहे थे। उनकी बातचीतसे जो कुछ पता लगा उसका आशय यह था कि पासके कमरेमें ठहरे हुये सद्गृहस्थ किसी अन्य रिश्तेदारीसे अपनी पत्नीको लेकर आरहे थे, उन्हें पासके ग्राममें अपने घर जाना था, स्त्रीको सात मासका गर्भ था और इस समय उसको बच्चा पैदा होनेका दर्द हो रहा था। समस्या यह थी कि धर्मशालामें ठहरे हुवे सभी व्यक्ति मेरी तरह वहां के लिये अजनबी थे और कोई डाक्टरी सहायता किसी प्रकार नहीं मिल सकती थी, इधर स्त्रीका करुण क्रन्दन बराबर बढ़ता जारहा था। इतनेमें ही पासकी एक और कोठरीसे एक अपरिचित सज्जन बाहर आये—उन्नत ललाट, गौरवर्ण, आँखोंमें एक अजीब प्रकारकी चमक थी। आते ही उन्होंने भी हमारी तरह प्रश्न किये और फिर एक दम स्त्रीके पास चले गये। अपनी उत्सुकता दबा न सकनेके कारण हम लोग भी उनके पीछे पीछे अन्दर चले गये। हमारे देखते २ उन्होंने स्त्रीके पेट पर दस-बीस बार हाथ फिराया। हमारे आश्चर्यका ठिकाना न रहा जब स्त्रीने हमें बाहर होजानेको कहा और हमारे चौखटसे बाहर पैर रखते ही नवजात शिशुके रोनेकी ध्वनि हमारे कानोंमें पड़ी। अपनी प्रशंसा सुने बिना तथा अपनी सफलता देखे बिना वह अजनबी यात्री महाशय तेजीसे अपनी कोठरीमें घुस गये और जब तक हम लोग वहां पहुँचे उन्होंने अपनी कोटरीके किवाड़ बन्द कर लिये। अब बाहर उनके विषयमें चर्चा होने लगी—कोई उनको मंत्रवादी, कोई तांत्रिक और कोई २ तो सिद्ध महात्मा कहनेमें भी नहीं चूके। पर एक स्थान पर शायद सब एक मत थे और वह था उनका हृदयपटल, जहां पर सबको एक ही बात थी कि किसी प्रकार भी उनसे यह विद्या उड़ाई जावे या फिर दो २ चार २ वरदान तो अवश्य ही मांगे जाएँ। कोई लक्ष्मी पानेका नकशा बना रहा था तो किसीकी गोदमें काल्पनिक बच्चा खेल रहा था। कोई मुकद्दमा जीतनेकी तरकीब सोच रहा था तो किसीने नौकरी पानेकी अर्जी तैयार की थी। मैं भी अजीब किस्मकी उधेड़ बुनमें अपनी कोठरीमें आगया और बिस्तरमें पड़ कर अद्भुत यात्री के सम्बन्धमें सोचने लगा।

पौ फटी ही थी, दिन अभी अच्छी प्रकार निकला भी नहीं था कि मेरी आँख खुली और मैं शीघ्रतासे अपनी कोठड़ीसे उस अद्भुत यात्रीकी ओर इस लिये भागा कि कहीं वह जल्दी चला न जाय। वहां पहुँच कर मैंने देखा कि वह अपने बिस्तर पर बैठे हुए धर्मशालाके अन्य यात्रियोंके साथ वार्तालाप कर रहे हैं जो शायद मेरी ही तरह उनके पास उनके चले न जानेके डरसे जल्दी ही पहुँच गये थे।

"महाराज ! आप सब कुछ कर सकते हैं—आप सर्वशक्तिमान् हैं" बैठे हुए यात्रियोंमेंसे एकने कहा।

"भाई यह तुम्हारी भूल है, मैं तो तुमसे भी अधिक पतित साधारण मनुष्य हूँ", उनका संक्षिप्त सा उत्तर था।

"सभी पहुँचे हुए सिद्ध महात्मा इसी प्रकार कहा करते हैं, यह तो दूसरे ठगने वाले लोग ही उछला

करते हैं और कहा करते हैं कि मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ" एक वृद्धसे व्यक्तिके शब्द थे, जो शायद अपनी मनोकामना पूर्तिके स्वप्न देख रहा था।

'भाई! न मैं कोई योगी हूँ न महात्मा, और न ही कोई अन्य सिद्धिप्राप्त साधु, मैं तो आप लोगों जैसा साधारण गृहस्थ हूँ। अन्तर केवल इतना है कि मैंने अपनी आत्मिक शक्तिको समझ लिया है और आप लोग अपने आपको बहुत कमजोर समझे हुए हैं। यदि आप लोग भी अपनेको समझलो, अपनी शक्तिको पहिचानलो तो मेरेसे भी बहुत आगे बढ़ सकते हो और सारे संसारकी शक्तियां तुम्हारे चरणों पर लोटती हुई नजर आवेंगी", ओजपूर्ण स्वरमें धाराप्रवाह वह बोल रहे थे।

"जब तक मनुष्य अपनी आत्मिक शक्तिको नहीं पहिचानता है और अपने आपको कमजोर समझता रहता है तब तक वह कुछ नहीं कर सकता यह बात आजकी ही नहीं है हिन्दू शास्त्रों और पुराने ग्रन्थोंमें इसके सैंकड़ो उदाहरण भरे पड़े हैं कि जो व्यक्ति अपने आपको कुछ नहीं समझा करते थे जब उनको उनकी आत्मिक शक्तिका परिचय कराया गया तो उन्होंने वह अद्‌भुत कार्य किये हैं कि संसारमें उनका नाम अमर हो गया है। दूर क्यों जाते हैं रामायण को ही लेलीजिये "हनुमान" जैसा वीर प्रतिभाशाली और विद्वान व्यक्ति ब्राह्मणका वेश बना कर श्रीरामचंद्र के पास आता है कि कहीं दुश्मनके गुप्तचर न हों पर जब रामचन्द्र उसे उसकी आत्मिक शक्तिका परिचय करा देते हैं तो वही "हनुमान" अकेला लंकामें जाकर न केवल दुश्मनके घरमें जाकर सीता मातासे वार्तालाप करता है वरन कई हजार राक्षसोंको अकेला ही मार कर लंका फूंक कर वापिस आता है, इसी प्रकार के और सैंकड़ों उदाहरण दिये जासकते हैं"।

बात-चीत लम्बी होती जारही थी और वहां बैठे किसी व्यक्तिका (जो वास्तवमें ज्ञान सुनने नहीं, वरदान मांगने आये थे) मन नहीं लग रहा था।

"महाराज! ये लोग तो गँवार आदमी हैं ये ज्ञानकी बातें क्या समझें?" मैंने बात खत्म सी करनेके विचारसे कहा।

"तो आखिर यह लोग मुझसे चाहते क्या हैं?" उनका प्रश्न था।

"आपके रातके किये हुए सफलताकार्यको देख कर ये लोग आपको सिद्ध, महात्मा सर्वशक्तिमान और न जाने क्या २ समझने लगे हैं और अब आप के पास यह आशा लेकर आये हैं कि आप इन सब की मनोकामना पूरी करदें", मैंने और स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे कहा।

"मैंने तो वह कोई बहुत बड़ा कार्य नहीं किया है। योगका जानने वाला तो उससे भी बड़े कार्य कर सकता है, वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालकी बातें जानता है, इच्छानुसार प्राकृतिक कार्यों तकमें दखल दे सकता है; जैसे जब चाहे वर्षा रोक सकता है, सूर्य छिपा सकता है, कैसे ही बीमार आदमीको नीरोग कर सकता है, आकाश और जमीनके अन्दर तक गमन कर सकता है, आँखोंसे अदृश्य हो सकता है, चाहे जिसको वशमें करके उससे जो चाहे कार्य लेसकता है, मृतात्माओंको बुला सकता है और भी न जाने क्या २ कर सकता है। योगके बलसे ही श्रीकृष्णजीने पालनेमें ही पूतना राक्षसीको मार दिया था, बाल्यकालमें ही कंसकी हत्या की थी, अंगुली पर गोवर्धन उठा लिया था। हनुमानजी एक रातमें ही लक्ष्मणकी बेहोशी पर इतनी दूरसे बूटी ले आये थे। 'बलि' अपने सामने वाले योधाकी आधी शक्ति अपनेमें खींच लेता था, अहिरावण रावणके आह्वान पर पातालसे आकर राम लक्ष्मणको उठा ले गया था। युद्धसे दूर बैठे हुए भी संजय धृतराष्ट्रको युद्धका सारा समाचार ऐसे देते थे जैसे अपनी आखोंसे देख रहे हों। तात्पर्य यह है कि संसार का ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे योगी न कर सकता हो और मैं उसी योगके एक साधारण अंगका साधारण सा विद्यार्थी हूँ।" आप लोगोंकी मैं कोई मनोकामना पूरी नहीं कर सकता हूँ, इससे मेरी साधनामें बाधा पड़ती है; अलबत्ता आप लोगोंको यह विद्या बतला और समझा सकता हूँ ताकि आप भी मेरे ही

जैसे 'शक्तिमान्' बन जायें और अन्य लोग स्वयं आप के पास अपनी प्रार्थना लेकर आया करें"। उन्होंने खुलासा किया।

"पर महाराज सुना है योगकी क्रियाएं तो बड़ी कठिन हैं, हम जैसे गृहस्थ मनुष्य उनकी साधना कैसे कर सकते हैं? वे तो संसारत्यागी साधू-महात्माओंको ही शोभा देती हैं"। मेरी शंका थी।

"यह ठीक है भाई कि योगकी पूर्ण साधना बड़ी कठिन है और वह किसी अच्छे गुरुके बिना हो भी नहीं सकती है, फिर भी उसके कुछ अंग इतने आसान हैं जो थोड़ा सा प्रयत्न करने पर छोटा बच्चा भी आसानी से कर सकता है। उदाहरणके लिये आजका मेस्मेरिज्म ही लेलीजिये, यह तो योगका एक आसान अंग ही है, अन्तर केवल इतना है कि इसे योरूपके निवासीने अपने नामसे नवीन रूपमें जनताके सामने रक्खा है। योरूप और अमेरिकामें साधारण लोग इसको जानते हैं, सीखते हैं और संसारको अपने अद्भुत करिश्मे दिखा कर आश्चर्यमें डाल देते हैं, वहां इस विद्याके स्कूल हैं, सिखाने वाले हैं जो जनता की मनोवृत्तिका लाभ उठा कर उससे पैसा और यश दोनों कमाते हैं। हमारे दुर्भाग्यसे भारतवर्षमें यह विद्या अपढ़ और निम्न श्रेणीके लोगोंके हाथमें पहुँच गई है जो विद्यासे केवल जनताको ठगनेका कार्य करते हैं, इसके नाम पर छोटे बच्चों स्त्रियों और लड़कियोंको बहका कर उनसे व्यभिचार करते हैं। अतः लोग अक्सर यही कहते सुने जाते हैं कि यह सब धोखा है और ऐसी कोई विद्या या तो हो नहीं सकती है और यदि है तो आज उसके जानने वाले नहीं हैं, पर वास्तवमें यह बात गलत है यह विद्या है और वास्तव में है तथा इसके जानने वाले भी काफी व्यक्ति मौजूद हैं, पर चूँकि उन लोगोंने यह विद्या अपनी आत्मिक उन्नति और आनन्दके लिये सीखी है, संसारिक लोगों के लाभके लिये नहीं तथा न ही अपना कोई निजी निकृष्टस्वार्थ साधनेके लिये। इसीसे वे लोग न तो इस का प्रदर्शन करते हैं और न किसीको यह प्रकट ही होने देते हैं कि हम इसे जानते हैं। क्यों कि दोनों ही दशाओंमें उनकी साधनामें बाधा पड़ती है, अतः आवश्यकता इस बातकी है कि योरूप और अमेरिका की तरह यहाँ भी इस विद्याका काफी प्रचार हो, विद्वान लोग इसके विषयमें क्रियात्मक खोज करें और अपनी खोज आप लोगोंके सामने रखें, तभी हम समझ सकेंगे कि वास्तवमें हमारे घरमें कितना बड़ा खजाना था और उसे लुटा कर आज हम अन्य लोगोंके सामने हाथ फैला रहे हैं।" उनका समाधान था।

"पर महाराज मेस्मेरिज्मकी मूल आधार भित्ति क्या है?" मेरा प्रश्न था।

"मनकी एकाग्रता, इंद्रियोंकी इच्छाओंका निरोध और श्रद्धा ज्ञान तथा चरित्र। खुलासा रूपमें यह कि मन शरीरका राजा है। आवश्यकता इस बातकी है कि वह इतना बलवान हो कि सारा शरीर उसकी इच्छा के अनुसार ही कार्य करे—जब २ इन्द्रियां इधर उधर भागना चाहें तो मन अपनी एकाग्रतासे उन्हें वहीं बान्ध ले और भागने न दे। यह एक दम नहीं हो सकता, इसके लिये साधनाकी आवश्यकता है और साधना होती है तब जब कि पहिले किसी वस्तु पर पूरा श्रद्धान हो—विश्वास हो, उसका पूर्ण ज्ञान हो और उस ज्ञानका हम अपने कार्यों द्वारा उपयोग करें, तभी हम सफलताकी मंजिलकी ओर बढ़ना आरम्भ कर देंगे"। उनका उत्तर था।

सुनते ही मैं जैसे सोतेसे जाग उठा। ओह! यही तो जैन धर्म है, यही जैन आचार्य चिल्ला २ कर हमें कह रहे हैं, इसी पर तो जैन धर्मका सारा साहित्य ही खड़ा है। हमें भी तो जैन धर्मका यही उपदेश है कि जब तक सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चरित्र नहीं होगा हमारी आत्मा ऊँचा नहीं उठ सकती—हम मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। ओह! जब यह साधारणसे लोग जरा जरासे अंगोको जानते हुए केवल इन उच्च आदर्शों पर खड़े होनेके कारण इतने शक्तिशाली और लोकमें पूज्य हो जाते हैं तो वह तिल-तुष-मात्र परिग्रहके त्यागी, राग-द्वेषसे रहित जितेन्द्रिय जैन आचार्य कितने शक्तिशाली होंगे और यदि उनके

चरणोंमें सारे संसारकी ऋद्धि-सिद्धि लौटती होंगी तो कौन आश्चर्यकी बात है। आज हम अपने ऋद्धि-धारी मुनियोंके बारेमें शंका करते हैं और पूछते हैं कि क्या ये बातें ठीक हो सकती हैं पर जब हमारे सामने कोई मेस्मेरिज्मका समाचार और उसको जानने वाला व्यक्ति आता है तो हम उसके कारनामों पर विश्वास कर लेते हैं, आखिर यह क्यों ?

कारण केवल एक है कि आज जैनधर्म केवल किताबी धर्म रह गया है, प्रेक्टीकल नहीं। यदि व्यावहारिक रूपमें जैनधर्मकी साधनासे आज हम संसारके सामने कोई भी चमत्कार रक्खें तो सारे संसारमें आज फिरसे धर्मका डंका बज जाये। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि धर्मकी व्यावहारिक साधनाके लिये कोई अच्छा शिक्षा स्थान हो जहां केवल खान-पीनमें ही धर्म समाप्त न समझा जाकर आत्मा की शान्तिके लिये साधारण और सरल प्रयोगोंकी साधना पूर्ण सावधानीके साथ आरम्भ कराई जावे।

भविष्यमें मैं इस विषय अर्थात् मेस्मेरिज्मके प्रैक्टीकल रूप पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूंगा।

क्या गृहस्थके लिये यज्ञोपवीत आवश्यक है ?

(ले०—पं० रवीन्द्रनाथ जैन, न्यायतीर्थ)

चातुर्मासमें जनेऊकी प्रथा अधिक जोर पकड़ जाती है; क्योंकि त्यागीवर्ग ४ माह तक एक स्थान पर रहते हैं। चार माह तक ऐसा नहीं हो सकता कि उनके पास न जाया जाय; ज्यों ही एकाध बार गये, और जनेऊका रस्सा जबरन गलेमें डला! यदि उसके डालनेमें जरा हिचकिचाहट की गई तो धर्म-भ्रष्ट समाज-भ्रष्ट आदिके असह्य दुख सामने आये! अब देखना यह है कि क्या जनेऊ-प्रथा गृहस्थके लिये आवश्यक है ? जहाँ तक हमने इस प्रश्न पर विचार किया है, हमें तो जनेऊकी प्रथा जैन गृहस्थके लिये आवश्यक मालूम नहीं होती। क्योंकि :—

(१) भगवान आदिनाथ और उनके गृहस्थके समय तक किसीने कभी जनेऊ नहीं पहिना।

(२) भगवान आदिनाथने विदेहमें प्रचलित प्रथाओंको कर्मभूमिमें चलाया, परन्तु ब्राह्मण वर्ण और जनेऊ प्रथाको नहीं चलाया।

(३) त्रेपन क्रियाओंमें इस क्रियाको जैसे-तैसे जोड़दिया गया है, पर उनमें भी गृहस्थके लिये आवश्यक नहीं बताया गया। लिपि-संख्यान क्रिया नं० १३ है उसके बाद १४ वीं क्रिया यज्ञोपवीतकी और १५ वीं क्रिया व्रतचर्या (मंत्रविधि) की है अर्थात् बालक अक्षराभ्यासके योग्य होनेपर अक्षर सीखे, यज्ञोपवीत पहिने और मंत्रविधिसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करे, लंगोट पहिने, भिक्षावृत्तिसे भोजन करे, शिर-मुंडन करे, गुरुकुलमें रहे इत्यादि। पर ज्योंही विद्याभ्यास पूर्ण कर चुके तो १६ वीं क्रिया 'व्रतावतार' है। इसमें ब्रह्मचर्य छोड़ स्वदारसंतोषी हो वे, लंगोट छोड़ सुन्दर वस्त्र पहिने, मुंडन छोड़ देश-कालानुसार शिर की शोभा करे और यज्ञोपवीत छोड़ आभूषणादि पहिने; क्योंकि व्रतावतारका तात्पर्य लिये हुये व्रतको उतार डालना है, अन्यथा गृहस्थाश्रममें प्रवेश कैसे करे। इस तरह ब्रह्मचारी विद्याभ्यासके समय जिस यज्ञोपवीतको धारण करता है वह गृहस्थावस्थामें प्रवेश करते समय उतार दिया जाता है, और इस लिये गृहस्थाश्रमके लिये यज्ञोपवीतकी जरूरत नहीं रहती यह साफ ध्वनित होता है। जैनोंमें यज्ञोपवीतकी प्रथा हमें तो सनातनी हिन्दुओंके प्रभावयुक्त होनेसे दक्षिणसे आई हुई जान पड़ती है; क्यों कि वहाँ शैवादिसंप्रदायोंका जोर रहा है और वे यज्ञोपवीतादि क्रियाओंके बिना जैनोंको 'वर्णान्तःपाती' तक कहते थे, जो उस समय असह्य जान पड़ा।

(४) यज्ञोपवीतकी एक बड़ी विचित्रता भी है कि

स्त्री जनेऊ न पहिने उसका पुरुष पहिने—अर्थात् स्त्री चाहे जितना पाप-पुण्य करे पुरुषके पुण्य करनेसे वह तर सकती है। इस प्रथानुसार चक्रवर्तीको तो ९६००० जनेऊ पहिनना चाहिये, जिसका कहीं विधान नहीं; तब उसके लिये इनका ही बोझ असह्य हो जावेगा, वह उन्हींसे ढक जावेगा, कान पर किस किसको टांगेगा आदि बड़ी अजीब बातें हैं।

(५) पूजामें अर्घके साथ दक्षिण प्रान्तमें जनेऊ भी चढ़ाया जाता है—समझ नहीं पड़ता इसका क्या उद्देश्य है?

(६) जनेऊ प्रथाने समाजमें भयंकर फूट फैला रक्खी है। जो जनेऊ न पहिने वह "शूद्र" ऐसा कहा जाता है, इससे आदि प्रभु श्री ऋषभदेव पहिले शूद्र कहलायेंगे—तब हमें शूद्र होनेमें ही महान् गौरव है, क्यों ब्राह्मण बनें?

(७) पद्मपुराणमें श्री रविषेणाचार्यने ब्राह्मणोंको 'सूत्रकण्ठाः'—गलेमें तागा डालने वाले—जैसे उपहासास्पद या हिक़ारतके शब्दोंसे उल्लेखित किया है। यदि उस समय तक जैनियोंमें जनेऊका रिवाज हुआ होता तो वे ब्राह्मणोंके लिये ऐसे हीन पदोंका प्रयोग न करते।

(८) यदि धार्मिक नियमोंके लिये यह आड़ मात्र है तो आड़ तो कोई भी हो सकती है—जैसे चोटी रखना, डाढ़ी रखना, मूछें मुंडवाना इत्यादि; फिर गलेमें तागा डालनेकी ही क्या जरूरत है?

ऐसी हालतमें यज्ञोपवीतकी प्रथा गृहस्थ जैनोंके लिये अनिवार्य न होकर निस्सार प्रतीत होती है। अतः हमारे पूज्य त्यागीवर्गको चाहिये कि वे इस पर व्यर्थका जोर लगा कर आपसमें फूट न फैलाएँ—उन्हें तो सामान्यतया मूल गुणोंका उपदेश देकर जैनी बनाना और पुराने जैनियोंका रक्षण करना चाहिये।

पुरुस्कार-सूचना

कानपुर अधिवेशनके अवसर पर जैन परिषद्ने भगवान महावीरकी जीवनीके उत्तमोत्तम लेखकको चार हजार रुपयेका पुरुस्कार देनेका प्रस्ताव पास किया था और उसकी निर्णायक कमेटी भी बनाई गई थी। इस ओर कौन कौनसे विद्वान प्रयत्नशील हैं, वे हमे ३० अक्टूबर तक सूचित करदें, ताकि हमको मालूम हो सके कि कितने विद्वान पुरुस्कार-प्रतियोगितामें भाग ले रहे हैं।

डालमियानगर
ता० १० सितम्बर १९४३

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

जैनधर्मकी एक झलक

(ले०—पं० सुमेरुचंद्र दिवाकर शास्त्री, बी० ए० एल-एल० बी०, न्यायतीर्थ)

संसारके सभी प्राणी सुख और शान्ति चाहते हैं। आत्मघात करने वाला व्यक्ति तक इस नियमका अपवाद नहीं है; कारण वह भी आत्म-संतुष्टिको लक्ष्य बना कर ही कार्य करता है। इस शान्तिके लिए प्रयत्न-शील यद्यपि तमाम दुनिया पाई जाती है, किन्तु अपने प्रयत्नमें पूर्णसफल पुरुषके दर्शन नहीं होते। वैसे तात्कालिक शांति या अल्प-कालीन सुख तो बहुतोंको मिलता है, किन्तु वह टिकाऊ नहीं होता है।

कोई कोई विश्वकी वस्तुओंकी बहुलताको सुखका कारण मानते हैं, किन्तु विश्वका महान समृद्धिशाली हेनरी फोर्ड उन सामग्रियोंके बीचमें सुखी नहीं मालूम पड़ता, इसीसे वह कहता है, कि "मेरे कारखानेमें काम करने वाले श्रमजीवियोंकी निराकुलता देखकर मुझे उनके प्रति ईर्षा पैदा होती है"। संसारमें अध्ययनशील महापुरुषोंने अनुभव कर यह तत्वज्ञान दिया है, कि भौतिक वस्तुओंसे यथार्थ नहीं, नकली आनन्द मिलता है। वह सुख नहीं है; सुखकी झलक है। जैसे मृग-तृष्णा (mirage) को असली पानीका सरोवर समझ कर पीछा करने वाले हरिणकी प्यास नहीं बुझती और वह बहुत दुःखी होता है, उसी तरह जगतके दूसरे प्राणियोंकी भी हालत है। इसीको मद्देनजर रखने वाला संत कवि भूधरदास कहता है:—

दाम विना निरधन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसारमें, सब जग देखा छान॥+

इस सुखकी खोज करने वाले प्राणीको जो उसके ध्येयको प्राप्त करा दे उसे ही महापुरुषोंने 'धर्म' कहा है×। आजकल भौतिकताकी प्रबल भक्तिके कारण कुछ लोग यह समझते हैं, कि हमारे सुखोंका—उन्नतियोंका सबसे बड़ा शत्रु यही धर्म है। एक पश्चिमका विद्वान लिखता है- "यदि हम मनुष्य जातिका कल्याण चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें धर्म और ईश्वरको गद्दीसे उतारना चाहिए। धर्म ही हत्याकी जड़ है। कितने पशु धर्मके नाम पर रक्तके प्यासे ईश्वरके लिए संसारमें काटे जाते हैं। समय आवेगा जब कि धर्मकी बेहूदगीसे संसार छुटकारा पाकर सुखी होगा।"†

यहां जो टीका की गई है, वह धर्मका जामा पहने हुए, किन्तु यथार्थमें, अधर्मकी है। दुनिया प्रायः धर्मके सही उसूलों—सत्य तत्वोंसे अपरिचित रहती है, और वह अंधश्रद्धाके सहारे अपने जीवनकी डोर ऐसे तत्वोंसे बांध लेती है, जो कि यथार्थमें धर्मसे उतना ही दूर रहते हैं, जितना आकाशसे पाताल।

कुछ विपरीतदृष्टि अतत्वज्ञ व्यक्तियोंने नामवरीके लिए भोले-भाले प्राणियोंको भुलावेमें डालनेके लिए ऐसे तरीकों और सिद्धान्तोंका आविष्कार किया, जो यथार्थमें अधर्म होते हुए भी धर्मके नाम पर जाहिर होते हैं। किन्तु विना असलियतके नकली चीज़से कार्य सिद्ध कैसे हो सकता है? रहीम कवि कहता है—

"बड़े न हूजे गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ्यो न जाय॥"

सुवर्ण अर्थ वाले 'कनक' का कार्य उस धतूरेसे नहीं निकलता है, जिसे शब्दशास्त्रमें 'कनक' बताया गया है। उसका सेवन तो प्राण विनाशका कारण होगा। इसी प्रकार जो जो धर्म नामपर चीज़ विश्वके बाजारमें मूल्य पर या विना मूल्य बेची जाती है, वह सब धर्म है, यह समीचीनदृष्टि नहीं कही जा सकती।

धर्म अंधविश्वासकी वस्तु नहीं है और न वह ऐसी कुम्हड़ बतियां हैं, जो विवेक या विचारकी 'तर्जनी' देख कर कुम्हला जायेगी। वास्तवमें धर्म एक विज्ञान है, जो

+पारसपुराण हिन्दी पद्यमय

×संसार-दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे—रत्नकरंडश्रावकाचार
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः योगसूत्र

†देखो प्रपंचपरिचय पेज २१६

तर्कणाकी कसौटी पर कसनेसे ही अपने असली महत्वको प्रकट करता है। खोटा सोना अग्नि-परीक्षणसे भय खाता है, किन्तु असली सोनेकी कीमत अग्नि परीक्षणसे पूर्णतया प्रकाशमें आती है। इस प्रकार अनुभव तथा विचारणाके द्वारा नकली धर्माभासोंके बीचमे उस सच्चे धर्मकी खोज की जा सकती है, जिससे इस जीवको सच्ची शांति और मुकम्मिल जीवनकी प्राप्ति हो सकती है। यूरोपियन जैन महिला मिस फ्रेजरने लिखा है—

True religion must be a science. It is indeed the science of sciences since it is the science of life and living ?"[१]

सच्चे धर्मको वैज्ञानिक—विज्ञान-सम्मत होना चाहिए। वह तो विज्ञानोंका विज्ञान है, चूंकि वह जीवन और जीवित रहनेका विज्ञान है।

सच्चे धर्मके परीक्षणके लिए ईसाकी पहली सदीके महर्षि स्वामी कुंदकुंदने यह बताया कि जो वस्तुका स्वभाव है—निज गुण है—असलियत है, वह धर्म है; जहां वह है, वहां धर्म है जहां वह नहीं है, वहां धर्म भी नहीं है। इसे दूसरे शब्दोंमें कहेंगे, कि स्वाभाविकता (असलियत) या उसको प्राप्त कराने वाले मार्गका नाम धर्म है। विकृति-अस्वाभाविकता, बनावटीपना अधर्मके पर्यायवाची—दूसरे नाम हैं। अग्निका स्वभाव जैसे जलना, प्रकाश देना है, उसी प्रकार आत्माका स्वभाव समता है, शान्ति है, मोह क्रोध मत्सर आदि विकारोंसे रहितपना है। 'आत्माकी मोह और क्रोध-रागद्वेषसे रहित परिणति ही धर्म है'[२]।

इस आत्माको क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से दूर करने पर समतामय जो आनन्द होता है, वह एक साधकके शब्दोंमें 'मनुज नागनरेन्द्रके नाहीं कह्यो'।

जैन तीर्थंकरोंने विश्वके दुःखोंके मध्य प्राणियोंको फंसा हुआ देख कर यह रास्ता बताया, कि यदि तुम अपने अंदरसे विकारों और कमज़ोरियोंको हटाओ तो तुमको सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है; उसकी प्राप्ति केवल भक्तिसे, या ज्ञानमात्रसे अथवा कोरे क्रियाकांडसे नहीं हो सकती, बल्कि विवेकपूर्ण सत्य श्रद्धा, सत्यज्ञान और सत्य आचरण रूप रत्नत्रयमयी मार्गसे हो सकती है। जिस तरह अंध, पंगु और आलसी मिल कर अग्निके संकटसे बच जाते हैं, इसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रके समीचीन समन्वयसे यह प्राणी संसारके संतापसे मुक्त हो सकता है। इस रत्न-[illegible]मार्गकी प्रशंसा करते हुए नागपुर हाईकोर्टके जज श्री नियोगी महाशयने गत ही महावीर जयंतीके अभिभाषणमें कहा था "The happy combination of heart head and hand leads to liberation." हृदय (भक्ति), दिमाग (ज्ञान) और हाथ (आचरण) की मधुर एकता मुक्ति प्रदान करती है। इस रत्नत्रय मार्गमें ज्ञान, भक्ति तथा क्रियाकांडका समन्वय है, और उनका समुदाय एक दूसरेकी त्रुटियोंका पूरक है।

तात्विकदृष्टिसे इस बातकी श्रद्धा जरूरी है कि मेरी आत्मा शरीर, मकान वस्त्र आदि पदार्थोंसे पृथक् है—जुदी है। ज्ञान तथा आनंदका अक्षय भंडार है, उसमें अनंत शक्ति है। यदि मैं विकारोंसे अपनी आत्माको हटालूं तो मैं भी परमात्मा बन सकता हूँ। परमात्मा मेरी आत्माकी ही शुद्ध हालत है। आत्मश्रद्धाके समान आत्मज्ञान भी जरूरी है, दृढ़ आत्मश्रद्धा और ज्ञानवाला व्यक्ति जब मोह, द्वेष, क्रोध आदि दोषोंसे अपनी चित्तवृत्तिको दूर कर आत्म-स्वरूपमें लीन हो जाता है, तब वह अनंतज्ञान, दर्शन, सुख तथा शक्तिको प्राप्त करता है।

प्रत्येक आत्मा रत्नत्रय (Right faith, Right knowbdge and Right conduct) की औषधिके प्रयोगकेसे अपने मोहज्वरको दूर कर परमात्मा, जिनेन्द्र, भगवानकी प्रतिष्ठाको प्राप्त कर सकता है। परमात्म-पद विश्वके प्रत्येक प्रयत्नशील योग्य प्राणीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यथार्थमें देखा जाय, तो प्रत्येक आत्मामें परमात्मत्वकी शक्ति छुपी (latent) है और यह आत्मविश्वास, आत्म-ज्ञान आदिके द्वारा अभिव्यक्त-जाहिर होती है (Patent)।

---

१ देखो—A Seicntific Interpreattion of Christianity. पेज २

२ वत्थुसहावो धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्कोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥—कुंदकुंदाचार्य

इस विषयमें अध्यात्म विद्याके कवि भैया भगवतीदासजी कहते हैं—

घट घट अंतर जिन वसै, घट घट अंतर जैन।
मोह–मद्यके पान सों, मतवारो समझैं न ॥+

जैन कोई सांप्रदायिक पद नहीं है; जो भी व्यक्ति आत्माको पवित्र करनेका पुरुषार्थ करता है—आत्माकी दुर्बलता पर विजय प्राप्त करता है—वह उतना जैन है। ऐसा आत्मविकार-विजेता व्यक्ति किसी भी देश, जाति, वर्ण, वर्गका भले ही हो। इसके विपरीत जैन नामक धर्मका धारी भी यदि कषायों-क्रोधादि पापाचारोंसे अपनेको निरंतर मलिन करता है, तो वह वास्तवमें जैन नहीं कहा जा सकता है। जैन शब्द ही विकार-विजेता-पने तथा उस ओर आराधनाके भावको घोषित करता है×।

इस जीवके उत्थान या पतनकी जिम्मेदारी किसी अन्य पर नहीं है। अपनी पाशविक शक्तिओंको बढ़ा कर या उन के लिए प्रयत्न करते रह कर यह अपने सुखके मार्गमें दुःख के कांटोंको बोता है, और पश्चात्ताप करता है। कदाचित-यह आध्यात्मिक या दैविक संपत्तियोंको उत्पन्न करता है, या पुण्य-विचारों तथा आचरणसे अपनी जिंदगीको निर्मल करता है, तो ऐसे भविष्यका निर्माण करता है, जहां सुख और शांतिका अखंड साम्राज्य प्राप्त होता है।

इस आत्मनिर्भरताकी शिक्षाके अभावमें जहां संकट आने पर या मुसीबतग्रस्त होनेसे अन्य अदृष्ट शक्तिकी कृपाके लिए दीनतापूर्वक आरजू मिन्नत करता नजर आता है, वहां वैज्ञानिक धर्मका पालक अपनी आत्मशक्तिको-रुहानी ताकतको जागृत करता है। कारण, वह यह खूब समझता है, कि मैंने ही अपने कर्मोंसे ऐसी परिस्थिति निर्माण की है। 'बोए पेड़ बबूलके आम कहाँ ते होय'। उसकी यह दृढ़ श्रद्धा रहती है कि* सुख दुःख देने वाला कोई अन्य नहीं है, मोहवश यह जीव अन्यको निमित्त जानता है (और रागद्वेष करता है), यथार्थमें जैसे कर्मोंका संचय–संग्रह इसने किया है, वैसा ही फल यह पाता है। एक विवेकी जैन कवि कितनी सुंदर शिक्षा देता है—

को काकों दुख देत है, देत करम झकझोर।
उरझै सुरझै आप ही ध्वजा पवनके जोर ॥+

इस आत्मनिर्भरताकी तालीमका यह तात्पर्य नहीं है, कि जीव स्वच्छन्द आचरण करे। इसका ध्येय है, कि यह जीव परका अवलंबन छोड़ कर स्व (self) का—अपने पवित्र अंतःकरणका अवलंबन करे, कारण सच्ची लौकिक अथवा आत्मिक उन्नतिका कारण स्वावलंबन है।

जब यह आत्मा विकारोंके बोझसे अधिक दबी हुई रहती है, क्षण क्षणमें जरा जरासे कारण इसे लालच, घमंड, छल प्रपंच आदिसे पददलित करते हैं, तब यह एक दम आत्म अवलंबनकी उच्च सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकती है। उस अवस्थामें इसे वीतरागता तथा शुद्धताके आदर्शोंकी आराधनाकी जरूत पड़ती है, जिससे पवित्रताका ध्येय, इस जीवका, सदा जागृत बना रहे।

यह वीतराग, शान्त, प्राकृतिक वेषधारी अंत र्दृष्टिधारी तीर्थंकरों—पूर्ण आत्माओंकी पूजा करता है, ताकि उनके निमित्तसे इस जीवको आत्म-स्मृति हो जाय। यह यथार्थमें मूर्तिकी पूजा नहीं है। मूर्ति तो शुद्ध भावनाओंका अवलंबन मात्र है। जिनेन्द्र-अर्हंत तीर्थंकरकी पूजाका अर्थ मूर्तिकी (Idol) पूजा नहीं है वह आदर्श (Ideal worship) की आराधना है। आदर्श बननेका मार्ग भी संसार भरके लिए व्यापक है। आराधनाका ध्येय आदर्शका दास बनना नहीं—आदर्श के समान पूर्ण और पवित्र बन जाना है। यहां पूजाका ध्येय बड़ा विशुद्ध है। देखिए महान् जैन आचार्य उमास्वामी महाराज कितने महत्वपूर्ण शब्द कहते हैं:— [क्रमशः]

+प्रत्येक हृदयमें जिनभगवान मौजूद हैं, इसी तरह उनका भक्त जैन भी है। मोहमयी शराब पीनेके कारण मत्त प्राणी इस रहस्यको नहीं जानता।

×जो कर्म शत्रुओं पर विजय लाभ करे, उसे जिन या जिनेन्द्र कहते हैं। उनके पूजकोंका नाम 'जैन' है।

सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
*अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

+कौन किस जीवको दुःख देता है? कर्मका वेग ही दुःखका कारण है। देखो, ध्वजा हवाके निमित्तसे स्वयं उलझती है और अपने आप ही सुलझ भी जाती है इसी प्रकार यह आत्मा अपने कर्मोंसे मुसीबतमें फंसता है और अपने पुरुषार्थसे कर्मोंके जालको काट कर मुक्त होता है।

ऐतिहासिक सामग्री पर विशेषप्रकाश

(ले०—श्री अगरचन्द नाहटा जैन)

भारतीय इतिहास-लेखनमें जैन ऐतिहासिक सामग्री बहुत ही उपयोगी होने पर भी खेद है उसका उपयोग अभी तक बहुत ही कम किया गया है। इसके मुख्य दो कारण हैं—(१) जैनेतर विद्वानोंकी सांप्रदायिकता (२) और जैन ऐतिहासिक सामग्रीकी जानकारीका अभाव। दूसरे कारणके लिये कुछ ज़िम्मेदारी जैन विद्वानोंकी भी स्वतः हो जाती है, क्यों कि उन्होंने जैनेतर विद्वानोंको परिचय करानेका कर्त्तव्य पालन नहीं किया। गुजरात प्रान्त में मुनि जिनविजयजी आदिके भाषणों* एवं लेखों द्वारा उस प्रान्तके जैनेतर विद्वानोंका ध्यान इस महत्वपूर्ण सामग्री की ओर आकृष्ट हुआ है। अन्यथा गुजरातका इतिहास प्रबन्धचिंतामणि आदि जैन ऐतिहासिक ग्रन्थोंके उपयोग किये बिना बहुत कुछ अपूर्ण ही रहता। अब भी अपूर्ण है। हमने अद्यावधि हमारी इस सामग्रीके प्रकाशन एवं खोजका भी प्रयत्न बहुत ही कम किया है।

इसका एक कारण ऐतिहासिक अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियोंकी कमीके कारण प्रकाशित ऐति० ग्रन्थोंका प्रचार न होना है; फलतः प्रकाशक घाटेमें ही रहता है और भविष्य के लिये प्रकाशन कार्य रुक सा जाता है। जैन समाजमें तो एक इसी विषयके नहीं तत्वज्ञान आदि सभी प्रकारके उच्च कोटिके साहित्यका प्रेम नगण्य होनेके कारण ग्रन्थोंका प्रचार नहीं हो पाता। अतः जिस किसी प्रकारसे प्रचार बढ़े वैसा प्रयत्न करना आवश्यक है।

अनेकान्तके गत अंकमें श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल का 'जैनसाहित्यमें प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री' शीर्षक लेख छपा है। प्रस्तुत लेखमें श्री वासुदेवशरणजीके लेखके अतिरिक्त ज्ञात ऐ० सामग्रीका परिचय प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है इतिहास-क्षेत्रमें काम करने वालोंको यह उपयोगी होगा।

*गुजरात साहित्य सभामें।

(१) प्राचीन ऐतिहासिक काव्य—उक्त लेखमें उल्लिखित (१) ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह (२) ऐति० गुर्जरकाव्य संचय (३-४) ऐतिहासिक रास संग्रह भा० १-२. के अतिरिक्त जो संग्रह और प्रकाशित हुए हैं उनका परिचय इस प्रकार है:—

१—२ ऐतिहासिक रास संग्रह भा० ३-४, प्र० यशोविजय-ग्रन्थमाला भावनगर।

३ ऐतिहासिक सज्झाय संग्रह, प्र० यशोविजयग्रन्थमाला, भावनगर।

४ जैन ऐ० रासमाला भा० १ (सं-देशाई), प्र०आध्यात्म-ज्ञान प्रसारकमंडल, पादरा।

५ आनन्दकाव्यमहोदधि भा० ५ वाँ, प्र० देवचन्दलाल भाइ पु०फंड-सूरत (हीरविजय सूरिरास ऋषभदासकृत)

६ कुमारपालरास (जिनहर्षकृत), प्र० मोहनलाल दल-सुखराम, अहमदाबाद।

७ आनंदकाव्य महोदधि भा० ८ (ऋषभदासकृत) प्र० देवचंद लालभाई पु० फंड-सूरत।

८ सुजसबेलि (यशोविजय जीवनी) प्र० ज्योति-कार्यालय अहमदाबाद।

९ पुंजा ऋषिरासद्वय, माणकदेवी रास, प्र० शा० गोकुल-दास मंगलदास, अहमदाबाद। (पु० जैनरासमंग्रह भा०१)

१० विमल-प्रबन्ध, ११ प्रतापसिंह रास।

इसके अतिरिक्त जैन साहित्यसंशोधकमें वस्तुपाल-तेजपालरास, जैनयुगकी फाइलोंमें कई रास व गीत छपे हैं। आत्मानंदप्रकाशमें धर्मसागररासका सार छपा है। जैनसत्यप्रकाशकी फाइलोंमें हमारे लिखित ऐ० काव्योंके सार आदि प्रकाशित हैं। इस प्रकारकी अप्रकाशित सामग्री की तो इतनी प्रचुरता है कि केवल हमारे संग्रहसे ही १००० पृष्ठका संग्रह प्रकाशित हो सके इतनी ऐ० कृतियें पड़ी हैं जिनमें कई बड़े महत्वकी हैं।

(२) प्रबन्धसंग्रह—उपदेश-तरंगिणी उपदेश-

सप्तति आदि ग्रन्थोंमें भी कई ऐतिहासिक प्रबन्ध प्रकाशित हैं एवं शुभशील-रचित कथाकोषमें एवं स्वतंत्ररूपसे बहुतसे प्रबन्ध मिलते हैं जो अप्रकाशित हैं।

(३) पट्टावली—खरतरगच्छ पट्टावलियोंका १ संग्रह बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरने प्रकाशित किया था। हमारी प्रेषित खरतरगच्छ+गुर्वावली नामक अपूर्वकृति सिंघी ग्रन्थ-मालासे छप चुकी है और शीघ्र ही प्रकट होगी। मुनि जिनविजयजी पट्टावलियोंका एक स्वतंत्र संग्रह भी छपा रहे हैं जिसमें अनेक गच्छोंकी पट्टावलियें हैं। उपकेशगच्छ-चरित्र भी वे प्रकाशित करने वाले हैं। उपलब्ध पट्टावलियों का ऐतिहासिक सार 'जैन गुर्ज्जर कवियों' भा० २-३ के परिशिष्टमें छपा है एवं गच्छमत-प्रबन्ध, अंचलगच्छीय मोटी पट्टावली पार्श्वचन्द्रगच्छ-पट्टावली, पार्श्वपट्टावली आदि अन्य छपे हैं। जैन साहित्यसंशोधकमें वीरवंशावली जैनयुगमें तपागच्छ पट्टावली, पूर्णिमा गच्छपट्टावली छपी थी। हमने जैन सत्यप्रकाशमें आगमगच्छ, बड़गच्छकी गुर्वावली प्रकाशित की है और आत्मानंद शताब्दी स्मारक ग्रन्थमें पल्लीवाल गच्छपट्टावली। मुनि सुन्दरसूरिरचित गुर्वावली-यशोविजय ग्रन्थमालासे प्रकाशित है।

दिगम्बर सम्प्रदायकी कुछ पट्टावलियें जैनहितैषी वर्ष ६ और जैनसिद्धान्त भास्कर वर्ष १ में प्रकाशित हुई हैं। दिगम्बरोंका कर्तव्य है कि वे एक संग्रह शीघ्र प्रकाशित करें।

(४) प्रशस्तिसंग्रह—जिनविजयजी संपादित प्रशस्ति-संग्रहके अतिरिक्त श्वे० समाजका एक और संग्रह× भी देशविरति-धर्माराधकसमाज-अहमदाबादसे प्रकाशित है और दि० समाजका एक संग्रह जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित हुआ है। विशेषके लिये देखें "प्रशस्ति संग्रह और दि० समाज*" नामक मेरा लेख।

(५) प्रतिमालेख संग्रह—पूर्णचंदजी नाहरके प्रकाशित जैनलेख-संग्रहके अतिरिक्त निम्नोक्त जैनलेख-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—

श्वेताम्बर—१-२ जैन धातुप्रतिमा लेखसंग्रह भा० १-२, प्र० अ० ज्ञा० प्र० मंडल-पादरा।

३ प्राचीनलेख संग्रह भा० १ यशो० ग्रंथमाला भावनगर।

४ अर्बुद प्राचीन जैनलेखसंदोह, प्र० विजय-धर्मसूरि ग्र० उज्जैन।

५ देवलवाडा, सं० विजयेन्द्रसूरि-यशोविजय-ग्रन्थमाला भावनगर।

६ ब्राह्मणवाडा—सं० जयन्तविजयजी, प्र० विजयधर्मसूरि ग्रंथमाला उज्जैन।

७ सूरतके लेख—(सूर्यपुर नो स्वर्णयुग) प्र० मोतीचन्द मगनभाई—सूरत।

८-९-१० प्रा० जैनलेख-संग्रह भा० १, २—सं० जिनविजय, प्र० आत्मानंदसभा भावनगर

इसी प्रकार जैनयुग, जैनसत्यप्रकाशमें भी लेख प्रकाशित हुये हैं। यतीन्द्रविहार दिग्दर्शन भा० १ से ४ खंभात नो प्राचीन जैनइतिहास, केसरीया तीर्थ इतिहास संखेश्वरमहातीर्थ आदिमें छपे हैं।

दिगम्बर—

१ जैन शिलालेख-संग्रह (सं० प्रो० हीरालाल) प्र० माणिकचंद्र दि० ग्रन्थमाला बम्बई।

२ जैन प्रतिमायंत्र लेखसंग्रह (सं० छोटेलाल जैन) पुरा-तत्त्वान्वेषणी परिषद् कलकत्ता।

३ प्रतिमालेखसंग्रह—(सं० कामताप्रसाद जैन) प्र० जैनसिद्धान्तभवन, आरा।

लेखरूपमें दि० लेख नामक हमारा लेख जैनसिद्धान्त-भास्कर वर्ष ७ अं० १ में एवं मुनिकांतिसागरजीका अने-कान्त वर्ष ४ अं० ८, ९ में प्रकाशित है। बीकानेर जैन लेखसंग्रहका संपादन कार्य हम कर रहे हैं।

(६) विज्ञप्तिपत्र+—वास्तवमें श्वे० समाजकी यह बड़ी आकर्षक वस्तु है। जो कला और साहित्य उभयदृष्टि से महत्वपूर्ण है। चित्रित विज्ञप्तिपत्रोंमें बीकानेरके दो विज्ञप्तिपत्रोंका भी महत्वपूर्ण स्थान है। जिनमेंसे १ हमारे

+देखें हमारा खरतरगच्छ गुर्वावली और उसका ऐतिहासिक महत्व नामक लेख जो भारतीय विद्या में प्रकट है।

×देखें प्रशस्ति-संग्रह और जैन जातियोंके इतिहासकी सामग्री नामक मेरा लेख (ओसवाल वर्ष ५ अंक २।

*'अनेकान्त' वर्ष ५ अंक १-२।

+ विज्ञप्तिपत्रोंके अतिरिक्त, आपसी व्यवहारके प्राचीनपत्र भी हजारों मिलते हैं, जो बड़े महत्वके हैं।

संग्रहमें है जिसमें उदयपुरके सभी दर्शनीय स्थानोंके चित्र हैं। यह पत्र करीब ७५ फुट लंबा है दूसरा इससे भी बड़ा, यहांके ज्ञानभंडारमें है जिसमें बीकानेरके चित्र हैं। इस प्रकारके दो सचित्र पत्र पूर्णचन्द्रजी नाहरके संग्रहमें भी हैं, विज्ञप्तिपत्रोंका एक बड़ा संग्रह मुनि जिनविजयजी छपा रहे हैं। वासुदेवशरणजीके उक्त लेखमें विज्ञप्ति त्रिवेणीका परिचय छपा है वह कुछ भ्रान्त है क्यों कि उक्त ग्रंथमें विज्ञप्ति पत्र ३ नहीं पर एक ही है और वह मुनि सुन्दरसूरिका दिया हुआ न होकर (इसका तो केवल प्रस्तावनामें उल्लेख ही है यह पूर्णरूपमें मिलता भी नहीं है) सं० १४८४ में खरतरगच्छीय उ० जयसागरने जिनभद्रसूरिजीको नगरकोट यात्रा विवरणके रूपमें भेजा वही है।

(७) तीर्थमाला—विविध - तीर्थकल्पके अतिरिक्त, तीर्थोंके कई प्रबन्ध 'उपदेश सप्तति' ग्रन्थमें भी प्रकाशित हुए हैं और 'प्राचीन तीर्थमाला' के अतिरिक्त अनेक तीर्थमालायें जैनयुग आदिमें प्रकाशित हैं। हमारे संग्रहमें भी बहुत सी तीर्थमालायें एवं ऐतिहासिक तीर्थरास अप्रकाशित पड़े हैं, जिनसे १ ग्रन्थ तैयार हो सकता है।

शत्रुंजयके सम्बन्धमें १ शत्रुंजयतीर्थोद्धार-प्रबन्ध और २ नाभिनंदनोद्धारप्रबंध नामक स्वतंत्र ग्रन्थ प्रकाशित हैं। स्थंभनकपार्श्वनाथचरित्रादि अप्रकाशित हैं।

(८) चरित्रकाव्य—उक्त लेखके अतिरिक्त महत्वपूर्ण चरित्र काव्य इस प्रकार हैं—

१ विजयप्रशस्ति, २ कर्मचंद्र-वंश-प्रबन्ध (मूल ओझाजी ने छपा रखा है—प्रकाशित नहीं हुआ है) इसकी वृत्ति भी हमारे संग्रहमें है।

३ विजयदेवमहात्म्य ४ वस्तुपालचरित्र ५ जगडूचरित्र ६ सुकृतसंकीर्तन ७ द्व्याश्रय काव्य सोमसौभाग्य ६ वर्धमान पद्मसिंह चरित्र १० हमीरामदमर्दन ११ गुरुगुणरत्नाकर १२ धर्माभ्युदयकाव्य १३ हमीर महाकाव्य १४ सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी १५ कुमारपाल, वस्तुपाल, तेजपालके कई काव्य १६ भद्रबाहुचरित्र, १७ जम्बूस्वामिचरित्र, १८ हरिषेण कथाकोश, १६ ब्रह्मनेमिदत्तकथाकोश २० कर्पूरकथानक आदि। इनके अतिरिक्त १ विमलचरित्र २ वादिदेवसूरिचरित्र (अपूर्ण हमारे संग्रहमें) आदि अप्रकाशित दशामें पड़े हैं। उपर्युक्त ऐतिहासिक सामग्रीके अतिरिक्त दो और महत्वपूर्ण साधन हैं पर अभी तक उनके प्रकाश में न आनेके कारण विद्वान लोग भी उनसे अनभिज्ञसे हैं। वे साधन इस प्रकार हैं—

(६) वंशावली—जैन श्रावक संघके इतिहासके लिये वंशावलियोंका बड़ा महत्व है पर अभी तक इनको प्रकाशमें लानेका प्रयत्न नहीं हुआ, केवल एक वंशावली जैनसाहित्य संशोधक एवं आत्माराम शताब्दी स्मारक ग्रन्थमें छपी है। इस प्रकारकी वंशावलियें यद्यपि प्राचीन बहुत कम मिलती हैं फिर भी वंशावलि लेखक भाट मथरेण एवं जैनयतियों के पास खोजने पर बहुत सी मिलेंगी। संखवाल गोत्रकी वंशावलि हमने कृपाचन्द्रसूरि ज्ञानभंडारमें देखी थी और ओसवंशके कई गोत्रोंकी वंशावलिकी बहीयें हमारे संग्रह में भी हैं।

(१०) श्री पूज्योंके दफ्तर—प्रत्येक गच्छके आचार्य अपनी दफ्तरबही रखते थे, जिसमें दीक्षित मुनियोंका पूर्व नाम, गुरुका नाम, दीक्षाका नाम, समय, स्थान, दीक्षित करने वालेका नाम रहता था एवं श्रीपूज्य लोग जहां २ जाते, वहांके मुख्य मुख्य श्रावकों एवं धर्मकृत्योंका विवरण लिखते थे ऐसे दफ्तर सं० १७०० के बाद खरतरगच्छकी ५ शाखाओंके हमारे अवलोकनमें आये हैं। विद्वानोंको उचित है कि श्रीपूज्य-भट्टारकोंके स्थानों पर इनकी विशेष रूपसे खोज करें। श्री पूज्योंके पास प्राचीन पट्टे, परवाने, शाही फरमान, ताम्रपत्र, आदेशपत्र, विजय पट्टे, राजादि विशिष्ट व्यक्तियोंके पत्र आदि बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री मिलती है जिससे अनेक नई बातें प्रकाशमें आ सकती हैं।

कवि-प्रतिबोध

मानवताकी रीती प्याली—
लेकर जगको मत बहकाओ !

कपूरचन्द जैन 'इन्दु'

उसका रस मुद्दत पहिलेका
हृदय-खीजमें सूख चुका है
'कुछ' क्या ? गीलापन भी उसमें
दिखलाने को नहीं बचा है
दानवता का रंग जमा है
मानवता के गीत न गाओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

समझें क्या ? सब समझ चुके हैं
सुख-दुख का तो रूप बड़ा है
छोटा-सा यह प्रश्न नहीं है
इस पर ही संसार खड़ा है
मुक्ति-मार्गके बाधक दोनों
दुखमें मत सुखको ललचाओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

ये सब तो पीछे की चीजें
माया, तृष्णा, त्याग—तपस्या
जब आगे तांडवता लेकर—
नाच रही है विश्व-समस्या
जग में पैदा होकर उसका—
बनने में अब मत शर्माओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

माना, माया मकड़ी-जाला
पर उस का सुलझाना मुश्किल
एक त्याग को लेकर किसने
पाया अब तक है—लक्ष्य स्थल ?
फिर निष्कंटक क्या कंटक-मय
परिभाषामें उलझ न जाओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

शान्ति हुआ करती है पीछे
पहिले होता है कोलाहल
हिंसा ही जननी उस की है
जिसे अहिंसा कहता भूतल
है सामर्थ्य छिपी यदि भीतर
हृदय खोल कर वह दिखलाओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

दम्भ-द्वेष ने समय-समय पर
जगती को सन्तोष दिया है
आत्म-ज्ञान ने मौन साध—
तब-तब उसको ही योग दिया है
पूरब, पूरब-सा न रहा है
पश्चिमसे मत द्वेष कराओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

मान रहे संकट को जग में
कहते मैला मानवता को
ज्ञान-तरणि हो रहा तिरोहित
पाएँ कैसे अभिनवता को ?
आम-बबूल जगत के दो तरु
यह पाकर मत वह ठुकराओ !
मानवता की रीति-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ

जिसकी करनी उसकी भरनी
पाप, पुण्य इसका सहचर है
दुख तो दुख ही रहा सदा है
सुख कहना मन पर निर्भर है
क्या पंडित ! क्या मूढ़ ! सभीको
नियम नियतिका एक बताओ !
मानवता की रीती-प्याली
लेकर जगको मत बहकाओ !

सासादन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें शासन-भेद

(ले०—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०)

गुणस्थानोंकी चर्चा जैनदर्शनका प्राण है, क्योंकि यहां यह विवेचन किया जाता है कि जो जीव अनादि कालसे अपने स्वरूपको भूला हुआ है वह किस प्रकार अपने स्वरूपको पहिचान सकता है और तत्पश्चात् यथार्थ ज्ञान और सच्चारित्रके द्वारा अपने आपको परमात्मपद पर पहुँचा सकता है। इस आत्मप्राप्तिका सुयोग तभी मिल पाता है जब अनेक संस्कारोंके बलसे आत्मामें एक विशेष शुद्धि उत्पन्न हो जाती है और जीव अपने कुसंस्कारोंका घात करता हुआ उत्तरोत्तर निर्मल भावोंको प्राप्त करता है। उचित समय पर यह आत्म-शुद्धिकी क्रिया अन्तर्मुहूर्त-काल में अर्थात् ४८ मिनटके भीतर ही भीतर हो जाती है और जीव अपने कुसंस्कारोंको दबा कर मिथ्यात्वको छोड़ सम्यक्त्वी व आत्मश्रद्धानी हो जाता है। चूंकि यह श्रद्धान मिथ्यात्व-भावके दमन या उपशमनसे प्राप्त होता है इस लिये इसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

किन्तु यह उपशम सम्यक्त्व दीर्घकाल तक टिकता नहीं है। मिले हुए मैलके नीचे बैठ जानेसे जो पानी शुद्ध होता है उसके ज़रासे हिल जाने पर वह मैल फिर ऊपर उठ आता है और सारे पानीको पुनः गंदला कर देता है। उसी प्रकार यह उपशम सम्यक्त्व एक अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रह पाता है और पश्चात् पूर्व संस्कारोंके प्राबल्यसे जीवका पुनः मिथ्यात्वमें आ गिरना संभव है। जिस समय जीव तीव्र कषायके वशसे सम्यक्त्वसे तो च्युत हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व तक नहीं पहुँच पाता उसी अल्पकालीन अन्तराल अवस्थाको सासादन भाव कहते हैं। इस अवस्थामें सम्यक्त्वका अभाव होने पर भी भूतपूर्व न्यायानुसार उसे सम्यक्त्व ही कहते हैं, क्यों कि मिथ्यात्वभावका तो अभी पुनः उदय ही नहीं हो पाया।

कभी कोई उपशम सम्यक्त्वी जीव उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर भी अपनेको सम्हाल लेते हैं और पुनः मिथ्यात्वी होनेसे बच जाते हैं। मिथ्यात्वका एक अति विशुद्ध अंश भी सम्यक्त्व कहलाता है। ये जीव इसी सम्यक्त्वके आश्रित हो जाते हैं और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी कहलाते हैं। ये जीव कभी कभी व्रत संयम आदि द्वारा सच्चारित्र भी ग्रहण कर लेते है और अपनी योग्यता बढ़ाते बढ़ाते अप्रमत्तसंयत हो जाते हैं। चारित्रकी इस अवस्थामें कभी जीव फिर उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है। परिणामोंकी जिस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विशुद्धिके द्वारा यहांसे उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है उसी क्रमवर्ती श्रेणीका नाम उपशम-श्रेणी है।

उपशान्तकषायसे सासादन हो सकता है या नहीं?

उपशम श्रेणीके द्वारा जो जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह फिर सासादन सम्यक्त्वी हो सकता है या नहीं इसके सम्बन्धमें जैनाचार्योंमें मतभेद है। षट्खंडागम-सूत्रोंके रचयिता भूतबली आचार्यका मत है कि उपशम-श्रेणीसे उतरा हुआ जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं होता। इस मतका उल्लेख लब्धिसारकी निम्न गाथामें किया गया है—

उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥ ३४८ ॥

किन्तु कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंके रचयिता यतिवृषभ आचार्यका मत है कि उपशम श्रेणीसे उतर कर जीव असंयत सम्यग्दृष्टी भी हो सकता है, देशसंयमी भी हो सकता है और सासादन-गुणस्थानवर्ती भी हो सकता है। और इस सासादन गुणस्थानसे ही यदि उसका मरण हुआ तो वह एकमात्र देव गतिको ही जाता है। नरक, तिर्यंच व मनुष्य गतिमें नहीं जाता; क्योंकि इन तीन गतियोंकी आयुको बांध लेने वाला जीव तो मोहकर्मका उपशम ही नहीं करता। यह मत लब्धिसारकी निम्न तीन गाथाओंमें प्रकट किया गया है—

तस्सम्मत्तद्धाए असंजमं देशसंजमं वा पि।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि ॥ ३४९ ॥

जदि मरदि सासणो सो णिरय-तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण ॥ ३४६ ॥
णरयतिरिक्ख-णराउगसत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदुं ।
तम्हा तिसु वि गदीसु ण तस्स उप्पज्जणं होदि ॥ ३४७ ॥

षट्खंडागमकी धवला टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यने इसी मतभेदका उल्लेख 'जीवट्ठाण' खंडकी सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिकामें इस प्रकार किया है—

"एदिस्से उवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरादो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज, छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज। आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं, णियमा देवगदिं गच्छदि। एसो पाहुडचुण्णिसुत्ताभिप्पाओ। भूदबलिभयवंतस्सुवएसेण उवसमसेडीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिवज्जदि। हंदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण ण सक्को कसाए उवसामेदुं, तेण कारणेण णिरय-तिरिक्ख-मणुसगदीओ ण गच्छदि"।

लब्धिसारकी उपर्युक्त चारों गाथाएं ठीक इन्हीं वाक्यों की रूपान्तर हैं। केवल जहां वीरसेन स्वामीने पाहुडचुण्णि-सुत्तका उल्लेख किया है वहां लब्धिसारके कर्ताने पाहुड चूर्णिसूत्रके कर्ता यतिवृषभ मुनीन्द्रका नामोल्लेख कर दिया है। और वीरसेनस्वामीने तो यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्र प्राय: जैसेके तैसे उद्धृत किये हैं, क्यों कि उनके उपर्युक्त वाक्य जयधवलान्तर्गत चूर्णिसूत्रोंमें इस प्रकार पाये जाते हैं—

"एदिस्से उवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरदो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज दो वि गच्छेज्ज। छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज। आसाणं पुण गदो जदि मरदि ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं, णियमा देवगदिं गच्छदि। हंदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण आउगेण ण सक्को कसाए उपसामेदुं। कुदो, देवाउअं मोत्तूण सेसाणं तिण्हमाउआणं मज्झे एक्केण वि आउएण बद्धेण उवसमसेढिसमारोहणस्स अच्चंताभावेण पडिसिद्धत्तादो। एदेण कारणेण णिरयगदि-तिरिक्खजोणि-मणुस्सगदीओ ण गच्छदि।"

(अमरावती, प्रति पत्र १०५७)

इन छह सूत्रोंकी जयधवलामें अलग अलग टीका की गयी है।

जीवट्ठाणकी गति-आगति चूलिकाके सूत्र ७६ की टीका करते हुए धवलाकारने यह बतलाया है कि किस प्रकार देव या नारकी जीव सम्यक्त्वसहित मनुष्यगतिमें प्रवेश करके सासादन-गुणस्थान-सहित ही वहांसे निर्गमन भी कर सकते हैं। यहां उन्होंने कहा है कि सम्यक्त्व-सहित मनुष्यगतिमें आकर उपशमश्रेणी चढ़ कर पुन: नीचे उतर कर सासादन गुणस्थानमें पहुँचने और वहीं पर मरण करने वाले जीवोंमें उक्त बात घटित हो जाती है। यहीं पर धवलाकार स्पष्टीकरण करते हैं—

"एदं पाहुडसुत्ताभिप्पाएण भणिदं। जीवट्ठाणाभिप्पाएण पुण संखेज्जवस्साउएसु ण संभवदि, उवसमसेढीदो ओदिण्णस्स सासणगुणगमणाभावा। एत्थ पुण संखेज्जासंखेज्जवस्साउए मोत्तूण जेण भणिदं तेणेदं घडदे।"

अर्थात्—यहां जो उपशम श्रेणी चढ़ कर उतरते हुए सासादन गुणस्थानसे मरण कर निर्गमनकी बात कही है वह कषाय प्राभृतके चूर्णिसूत्रोंके अभिप्रायसे कही गयी है। किन्तु जीवट्ठाणके अभिप्रायसे संख्यातवर्षायुवाले मनुष्योंमें यह बात संभव नहीं हो सकती, क्योंकि जो जीव उपशम-श्रेणीसे उतरा है वह सासादन गुणस्थानमें पहुँच ही नहीं सकता। किन्तु यहां संख्यात व असंख्यात वर्ष आयुओंकी अपेक्षा न करके सामान्यसे कहा गया है, जिससे उक्त बात घटित हो जाती है।

भूतबलि आचार्यका यह मत कि उपशमश्रेणीसे उतर कर जीव सासादन गुणस्थानमें नहीं जाता, जीवट्ठाणमें कहीं पृथक् और स्पष्ट रूपसे नहीं पाया जाता। किन्तु उनके उक्त अभिप्रायका पता उनकी स्पर्शन प्ररूपणाके सूत्र ७ से लगता है जहां उन्होंने एक जीवकी अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टिका जघन्य अन्तरकाल पल्योपमका असंख्यातवां भाग बतलाया है—'एगजीवं पडुच्च जहण्णेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो'। इसी अन्तरके प्रमाणकी उपपत्ति बतलाते हुए धवलाकारने प्रश्न उठाया है कि—

"सासणपच्छायदमिच्छाइट्ठि संजमं गेण्हाविय दंसणतियमुवसामिय पुणो चरित्तमोहमुवसामेदूण

हेट्ठा ओयारिय आसाणं गदस्स अंतोमुहुत्तंतरं किण्ण परूविदं" ?

अर्थात्—सासादनके पश्चात् मिथ्यादृष्टि हुए जीवको संयम ग्रहण कराकर व दर्शनत्रयका उपशमन कराकर पुनः चारित्रमोहको उपशमाकर नीचे उतर सासादन गुणस्थान में जाने पर सासादन सम्यक्त्वका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तर भी तो हो सकता है, सो क्यों नहीं प्ररूपण किया ? इसका उन्होंने यों समाधान किया है कि—

"ण, उवसमसेढीदो ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? एदम्हादो चेव भूदबलीवयणादो।"

अर्थात्—उस तरह सासादनका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अंतर नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि उपशमश्रेणीसे उतरे हुए जीव सासादनभावको प्राप्त ही नहीं होते। यदि कहा जाय कि यह कैसे जाना जाता है ? तो उसका उत्तर है कि प्रस्तुत सूत्र ही तो भूतबली आचार्यका वह वचन है जिससे उपशम श्रेणीसे उतरा हुआ जीव सासादन नहीं हो सकता। यहां प्रश्न यह होता है कि इस मतभेदका कारण क्या है ? यही मतभेद श्वेताम्बर कार्मिक ग्रंथोंमें भी पाया जाता है। कर्मप्रकृतिके उपशमना अधिकारकी गाथा ६२ तथा पंचसंग्रहके उपशमना अधिकारकी गाथा ६३ में भी उपशमश्रेणीसे गिर कर सासादन गुणस्थानमें आनेका उल्लेख पाया जाता है। उन गाथाओंके टीकाकार मलयगिरि व यशोविजय उपाध्याय दोनोंने यह स्पष्टीकरण किया है कि जिन आचार्योंके मतसे अनन्तानुबन्धीकी उपशमना होती है उनके मतसे ही श्रेणीपतित जीव सासादन हो सकता है—"येषां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमना भवति तेषां मतेन कश्चित् सासादनभावमपि गच्छति।" यह मत बहुत युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्यों कि जब अनन्तानुबन्धी कषायोंको उपशमकालमें उपशान्त माना है, तब उनका परिणामोंके निमित्तसे अनुपशान्त होकर उदयमें आजाना और जीवको सासादन बना देना संभव हो सकता है। और जहां दर्शनमोहका उपशम होनेसे पूर्व समस्त अनन्तानुबन्धी कषायोंका विसंयोजन अर्थात् अपनी जातीय पर-प्रकृतियोंमें संक्रमण द्वारा विनाश माना गया है, वहां उपशान्त कषायकालमें अनन्तानुबन्धीके सत्व और बन्ध दोनोंका अभाव होनेसे अकस्मात् उनका उदयमें आना और जीवको सासादन बना देना संभव नहीं जँचता। अतएव अनुमान होता है कि भूतबलि आचार्य अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन स्वीकार करनेके कारण उपशान्त कषाय से सासादनमें जाना नहीं मानते और संभवतः यतिवृषभाचार्य अनन्तानुबन्धीका उपशम मान कर उपशान्तसे सासादनमें गमन संभव बतलाते हैं। किन्तु जब हम यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोंको देखते हैं तो वे श्रेणी चढ़नेके समय अनन्तानुबन्धीका उपशम नहीं किन्तु विसंयोजन ही स्वीकार करते हैं, जैसा कि जयधवलाकारकी उत्थानिका व टीकासहित निम्न चूर्णिसूत्रसे स्पष्ट है—

"तत्थ ताव अणंताणुबंधिविसंजोयणा परूवेयव्वा, अविसंजोइदाणंताणुबंधीचउक्कस्स वेदयसम्माइट्ठिस्स कसायोवसामणाणिबंधणदंसणमोहोवसामणादिकिरियासुपवुत्तीए असंभवादो। तदो तव्विसंजोयणमेव पुव्वं परूवेमाणो तदवसरकरणट्ठमुत्तरसुत्तं भणइ—

वेदयसम्माइट्ठी अणंताणुबंधी अविसंजोएदूण कसाये उवसामेदुं णो उवट्ठदि। (चू० सूत्र)

जो अट्ठावीससंतकम्मिओ वेदयसम्माइट्ठी संजदो सो जाव अणंताणुबंधिचउक्कं ण विसंजोएदि ताव कसाए उवसामेदुं णो उवक्कमेदि। कुदो ? तेसिमविसंजोयणाए तस्स उवसमसेडिचडणपाओग्गभावासंभवादो। तदो अणंताणुबंधिविसंजोयणाए चेव पढममेसो पयट्टदि त्ति जाणावणट्ठमुत्तरसुत्तारंभो—

सो ताव पुव्वमेव अणंताणुबंधी विसंजोएदि। सुगमं।" (चू० सू०)

अर्थात्—"अब यहां अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना बतलाने योग्य है; क्योंकि, जिस वेदकसम्यग्दृष्टि जीवने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना नहीं की उसकी कषायोपशामनाके निमित्तभूत दर्शनमोहकी उपशामना आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति होना असंभव है। इस लिये उन अनन्तानुबन्धी कषायोंके विसंयोजनको ही पहले बतलाते हुए (आचार्य यतिवृषभ) उसके अवसरकी प्राप्तिके लिये अगला सूत्र कहते हैं—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन किये बिना कषायोंको उपशान्त करनेके लिये उद्यत नहीं होता। (चूर्णि सूत्र)

(टीका) जो अट्ठाइस मोहनीय कर्मोंकी सत्ता वाला वेदक सम्यग्दृष्टि संयत है वह जब तक अनन्तानुबन्धी-चतुष्कका विसंयोजन नहीं कर डालता, तब तक वह कषायों के उपशम करनेका उपक्रम नहीं करता, क्यों कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना किये विना उस जीवके उपशमश्रेणी चढ़ने योग्य भाव उत्पन्न होना संभव नहीं है। इस लिये अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेमें ही वह जीव पहले प्रवृत्त होता है। इसी बातको समझानेके लिये अगले सूत्र का आरंभ होता है—

"वह वेदक सम्यग्दृष्टि संयत उपशम श्रेणी चढ़नेसे पूर्व ही अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करता है।" (चूर्णि सूत्र)

(टीका) "यह सूत्र सुगम है।"

इस प्रकार जब यतिवृषभाचार्य अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना मानते हैं और फिर भी उपशान्त कषायसे सासादन गुणस्थानमें जानेका प्रतिपादन करते हैं, तब उनके और भूतबलि आचार्यके बीच मतभेदका कारण स्पष्टतः समझमें नहीं आता। अतएव यह विषय गवेषणीय है।

श्वेताम्बर पंचसंग्रहमें कहा गया है कि जब क्षपकश्रेणी चढ़ने वाला जीव बद्धायु होनेके कारण अनन्तानुबन्धीका क्षय करके ही ठहर जाता है, तब वह कदाचित मिथ्यादर्शन के उदयसे पुनः अनन्तानुबन्धीका उपचय करने लगता है, क्योंकि यद्यपि उसके अनन्तानुबन्धीकी सत्ता शेष नहीं रही थी पर मिथ्यात्वकी तो सत्ता थी ही, और मिथ्यात्वमें ही अनन्तानुबन्धीके बीज सन्निहित रहते हैं। अतएव कोई कोई जीव परिणामविशेषके द्वारा मिथ्यात्वमेंसे अनन्तानुबन्धीका उपचय कर उसे उदयमें ले आते हैं। पर जिस जीवने मिथ्यादर्शनका भी क्षय कर दिया है उसके फिर अनन्तानुबन्धीका उदय कदापि नहीं हो सकता, क्यों कि उसके पास अनन्तानुबन्धीके बीज ही नहीं रहते—

"इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते, अनन्तानुबन्धिक्षयानन्तरं च मरणसंभवतो व्युपरमते। ततः कदाचित् मिथ्यादर्शनोदयतो भूतोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्। क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात्।"

(पंचसंग्रह, द्वार १, पृ० २५)

इसी प्रकार उपशान्तकषायके भी अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन द्वारा विनाश हो जाने पर भी उसकी बीजयोनिरूप मिथ्यात्व तो रहता ही है और उसीसे परिणामविशेष द्वारा अनन्तानुबन्धीका उपचय और उदय होना संभव हो सकता है। यद्यपि यह व्यवस्था सर्वथा संतोषजनक नहीं जँचती, क्यों कि अनन्तानुबन्धीकी योनि मिथ्यात्वके उपशमकालमें ही इन बीजोंका उपचय होकर उदयमें आजाना युक्तिसंगत सा नहीं लगता। किन्तु जब तक अन्य आगम-प्रमाण उपलब्ध न हो तब तक इस प्रकार भी उपशान्त कषायकालमेंसे सीधे सासादन गुणस्थानमें जानेकी उपपत्ति स्वीकार की जा सकती है।

सासादन सम्यक्त्वके संबंधमें अन्य प्रश्न

उपशमश्रेणीसे उतर कर सासादन गुणस्थानमें आया हुआ जीव यदि मरण करता है तो नियमसे देवगतिमें ही जाता है, यह तो हम देख ही चुके। अब प्रथमोपशम सम्यक्त्वसे सासादन सम्यक्त्वमें आये हुए जीवके सम्बन्धमें प्रश्न उपस्थित होते हैं वे निम्न प्रकार हैं—

१— सासादन सम्यक्त्वी जीव मर कर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो सकता है या नहीं?

२—यदि हो सकता है तो उक्त जीवोंकी अपर्याप्त अवस्थामें सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है या नहीं?

इन प्रश्नोंके उत्तर भिन्न भिन्न ग्रंथोंमें बहुत भिन्न प्रकार से पाये जाते हैं। इन मतभेदोंका यहां ग्रंथानुसार परिचय कराया जाता है।

सर्वार्थसिद्धिका मत

तत्वार्थसूत्रके टीकाकार पूज्यपाद स्वामीने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकामें कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्शन प्रमाण इस प्रकार बतलाया है-

"लेश्यानुवादेन—कृष्ण-नील-कापोतलेश्यैः मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागाः, पंच, चत्वारो, द्वौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः।"

अर्थात्—"लेश्याके अनुसार कृष्ण, नील और कापोतलेश्या वाले मिथ्यादृष्टि जीवोंद्वारा समस्तलोक स्पृष्ट किया गया है, तथा सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों-द्वारा लोकका असंख्यातवें भाग एवं चौदह भागोंमेंसे कुछ कम पांच, चार

व दो भाग स्पृष्ट किये गये हैं।"

किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि—

"द्वादश भागा कुतो न लभ्यन्ते ?"

अर्थात्—"यदि छठवीं पृथ्वीके सासादन नारकी जीव तिर्यग्लोकमें और तिर्यग्लोकके सासादन जीव लोकाग्रके एकेन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न होते हैं तो उनके द्वारा बारहराजू प्रमाण क्षेत्र क्यों नहीं स्पर्श किया जाता ?"

इसका उत्तर सर्वार्थसिद्धिकार दो प्रकारसे देते हैं। एक तो यह कि—

"तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव।"

अर्थात्—छठे नरककी लेश्याकी अपेक्षा पांचसे अधिक राजू प्रमाण वहांसे निकलने वाले सासादन जीवोंका स्पर्शन क्षेत्र नहीं हो सकता, क्योंकि मध्यलोकसे ऊपर कृष्णलेश्या सहित गमन नहीं होता।

दूसरे प्रकारसे उन्होंने उत्तर दिया है—

"अथवा, येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ताः।

अर्थात् "पक्षान्तरसे, जो आचार्य सासादन जीवका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होना नहीं मानते उनके मतकी अपेक्षा द्वादश राजू प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र नहीं बतलाया।"

यहां सर्वार्थसिद्धिकारने यह स्पष्ट कर दिया है कि सासादन जीवोंके मरण पश्चात् उत्पत्तिके सम्बन्धमें दो मत हैं। एक मतके अनुसार सासादन मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो सकते हैं जिससे उनका स्पर्शन क्षेत्र लोकके बारह भाग प्रमाण हो सकता है। किन्तु दूसरे मतके अनुसार सासादन जीव मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न ही नहीं होते और जिन आचार्योंके वचनोंके आधारपर सर्वार्थसिद्धिकारने उक्त स्पर्शन क्षेत्र बतलाया है, उन्हें वे इसी दूसरे मतके पक्षपाती अनुमान करते हैं। सर्वार्थसिद्धिकारके आधारभूत वे आचार्य कौन हैं व उनके कथनोंसे सासादन जीवोंकी उत्पत्ति-व्यवस्था कैसी निकलती है यह हम आगे चलकर देखेंगे। पर पूर्वोक्त प्रकरणपरसे चाहे स्वयं सर्वार्थसिद्धिकारका मत हमें स्पष्टतः समझमें न आवे, किन्तु ग्रंथ के अन्य अंशों परसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें स्वयं सासादन जीवोंका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होना स्वीकार है। सामान्यसे सासादन सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्शन क्षेत्र बतलाते हुए उन्होंने उनके द्वारा कुछ कम आठ व बारह राजू प्रमाण क्षेत्रका स्पर्श किया जाना माना है। यथा—

"सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ द्वादश वा चतुर्दशभागा देशोनाः।"

सर्वार्थसिद्धिकी श्रुतसागरी टीका

यहाँ सासादन सम्यग्दृष्टियोंका जो बारह राजू प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र कहा गया है वह तभी सिद्ध हो सकता है जब सासादन जीवोंका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होना माना जावे। श्रुतसागरने अपनी टीकामें इसी प्रकार इसकी सिद्धि की है। यथा—

"षष्ठीतो मध्यलोके पंचरज्जवः सासादनो मारणान्तिकं करोति, मध्यलोकाच्च लोकाग्रे बादरपृथिवीकायिक-बादराप्कायिक-बादरवनस्पतिकायिकेषु उत्पद्यते इति सप्त रज्जवः। एवं द्वादशरज्जवो भवन्ति।"

अर्थात् "छठवीं पृथिवीसे मध्यलोक तक पांच राजू प्रमाण सासादन जीव मारणान्तिक समुद्घात करते हैं और मध्यलोक से लोकाग्रमें बादर पृथिवीकायिक, बादर अप्कायिक और बादर वनस्पतिकायिक जीवोंमें सासादन उत्पन्न होते हैं, जिससे सात राजू प्रमाण स्पर्शन हुआ। इस प्रकार पांच और सात राजू प्रमाण मिलाकर सासादन सम्यक्त्वीका कुल बारह राजू प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र हो जाता है।"

श्रुतसागरजीको भी यहाँ उस मतका ख़याल था जिस के अनुसार सासादन सम्यक्त्वी एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते। इसलिये उन्होंने आगे सासादनोंकी उत्पत्तिसम्बन्धी अपना मत स्पष्ट किया है और उसकी पुष्टिमें एक पुरानी गाथा भी पेश की है। यथा—

"सासादनसम्यग्दृष्टिर्हि वायुकायिकेषु तेजःकायिकेषु नरकेषु सर्वसूक्ष्मकायिकेषु चतुःस्थानकेषु नोत्पद्यते इति नियमः। तथा चोक्तम्। गाथा—
वज्जिअठाणचउक्कं तेऊ वाऊ य णरय-सुहुमं च।
अण्णत्थ सव्वठाणे उववज्जदे सासणो जीवो॥"

"अर्थात् "सासादन सम्यग्दृष्टि वायुकायिक, तेजकायिक, नरक और समस्त सूक्ष्मकायिक इन चार जीवस्थानों में नहीं उत्पन्न होता। कहा भी है। गाथा—तेज, वायु, नरक और सूक्ष्म, इन चार स्थानोंको छोड़कर अन्यत्र सभी स्थानोंमें सासादन जीव उत्पन्न होता है।" इस नियमके

वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान

[सम्पादकीय]

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्री वीरभगवानके शासन-तीर्थको उत्पन्न हुए आज कितना समय होगया, किस शुभ-वेलामें अथवा पुण्य-तिथिको उसका जन्म हुआ और किस स्थान पर वह सर्वप्रथम प्रवर्तित किया गया, ये सब बातें ही आजके मेरे इस लेखका विषय हैं, जिन्हें भावी वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवके लिये जान लेना सभीके लिये आवश्यक है। इस सम्बन्धमें अब तक जो गवेषणाएँ (Researches) हुई हैं उनका सार इस प्रकार है:—

किसी भी जैन तीर्थंकरका शासनतीर्थ केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले प्रवर्तित नहीं होता—तीर्थप्रवृत्तिके पूर्वमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका होना आवश्यक है। वीरभगवानको उस केवलज्ञानज्योतिकी संप्राप्ति वैशाख सुदि दशमीको अपराह्णके समय उस वक्त हुई थी जबकि आप जृम्भिका ग्रामके बाहिर, ऋजुकुलानदीके किनारे, शालवृक्षके नीचे, एक शिलापर षष्ठोपवाससे युक्त हुए क्षपक-श्रेणीपर आरूढ थे—आपने शुक्लध्यान लगा रक्खा था। जैसा कि नीचे लिखे वाक्योंसे प्रकट है—

उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे वहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पायछायाए ॥
वइसाहजोण्ह-पक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥

—धवल–जयधवलमें उद्धृत प्राचीन गाथाएँ।

ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

—श्रीपूज्यपाद-सिद्धभक्तिः

वइसाहसुद्धदसमी-माघा-रिक्खम्हि वीरणाहस्स।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥

—तिलोयपण्णत्ती ४–७०१

जंभिय-वहि उजुवालिय तीर वियावत्त सामसालअहे।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स उ उप्पण्णं केवलं णाणं ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति ५२६ पृ० २२७

जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ उसकी उत्पत्तिके अनन्तर, देवतागण आते हैं, भूत-भविष्यत् वर्तमानरूप सकल चराऽचरके ज्ञाता केवलज्ञानी जिनेन्द्रकी पूजा करते हैं—महिमा करते हैं और उनके उपदेशके लिये शक्राज्ञासे समवसरण-सभाकी रचना करते हैं+, ऐसी साधारण जैन मान्यता है। इस मान्यताके अनुसार जृंभकाके पास ऋजुकूला नदीके किनारे वैशाख सुदि दशमीको देवतागणने आकर वीर भगवानकी पूजा की, महिमा की* और उनके उपदेशके लिये—तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त-समवसरण-सभाकी सृष्टि भी की, यह स्वत: फलित हो जाता है। परन्तु इस प्रथम समवसरणमें वीरभगवानका शासनतीर्थ प्रवर्तित नहीं हुआ, यह बात श्वेताम्बर सम्प्रदायको भी मान्य है, जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे।
उप्पण्णो उ जिणाणं, वीरजिणिंदस्स बीयम्मि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, २६५ पृ० १४०

आद्ये समवसरणे सर्वेषामर्हतामिह।
उत्पन्नं तीर्थमन्त्यस्य जिनेन्द्रस्य द्वितीयके ॥ १७-३२

—लोकप्रकाश, खं० ३

इनमें श्री वीर-जिनेन्द्रके तीर्थको द्वितीय समवसरणमें उत्पन्न हुआ बतलाया है, जबकि शेष सभी जैन तीर्थंकरोंका तीर्थ प्रथम समवसरणमें उत्पन्न हुआ है। श्वेताम्बरीय आगमोंमें इस प्रथम समवसरणमें तीर्थोत्पत्तिके न होनेकी

\+ ताहे सक्काणाए जिणाण सयलाण समवसरणाणि।
विक्किरियाए धनदो विरएदि विचित्तरूवेहिं ॥

—तिलोयप० ४–७१०

* केवलस्य प्रभावेण सहसा चलितासना:।
आगत्य महिमां चक्रुस्तस्य सर्वे सुराऽसुरा: ॥

—जिनसेन-हरिवंशपु० २–६०

घटनाको आश्चर्यजनक घटना बतलाया है और उसे आमतौर पर 'अछेरा' (असाधारण घटना) कहा जाता है।

अब देखना यह है कि, दूसरा समवसरण कब और कहाँपर हुआ ? और प्रथम समवसरणमें भगवानका शासनतीर्थ प्रवर्तित न होनेका क्या कारण था ? इस विषयमें अभी तक जितना श्वेताम्बर-साहित्य देखनेको मिला है उसमें इतना ही मालूम होता है कि प्रथम समवसरणमें देवता ही देवता उपस्थित थे—कोई मनुष्य नहीं था, इससे धर्मतीर्थका प्रवर्तन नहीं हो सका। महावीरको केवलज्ञानकी प्राप्ति दिनके चौथे पहरमें हुई थी, उन्होंने जब यह देखा कि उस समय मध्यमा नगरी (वर्तमान पावापुरी)में सोमिलार्य ब्राह्मणके यहाँ यज्ञ-विषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश-देशान्तरोंके बड़े-बड़े विद्वान् आमंत्रित होकर आए हुए हैं तो उन्हें यह प्रसंग अपूर्वलाभका कारण जान पड़ा और उन्होंने यह सोचकर कि यज्ञमें आए हुए विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोधको प्राप्त होंगे और मेरे धर्म-तीर्थके आधारस्तम्भ बनेंगे, संध्या समय ही विहार कर दिया और वे रातोंरात १२ योजन (४८ कोस) चल कर मध्यमाके महासेन-नामक उद्यानमें पहुँचे, जहाँ प्रातःकालसे ही समवसरणकी रचना होगई। इस तरह वैशाख सुदि एकादशीको जो दूसरा समवसरण रचा गया उसमें वीर-भगवानने एक पहर तक बिना किसी गणधरकी उपस्थितिके ही धर्मोपदेश दिया। इस धर्मोपदेश और महावीरकी सर्वज्ञताकी खबर पाकर इन्द्रभूति आदि ११ प्रधान ब्राह्मण विद्वान् अपने अपने शिष्यसमूहोंके साथ कुछ आगे पीछे समवसरणमें पहुँचे और वहाँ वीर भगवानसे साक्षात् वार्तालाप करके अपनी अपनी शंकाओंकी निवृत्ति होनेपर उनके शिष्य बन गये, उन्हें ही फिर वीर प्रभु-द्वारा गणधर-पदपर नियुक्त किया गया*। साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि मध्यमाके इस द्वितीय समवसरणके बाद, जिसमें धर्मचक्रवर्तित्व प्राप्त हुआ बतलाया गया है×, म० महावीरने राजगृहकी ओर जो राजा श्रेणिककी राजधानी थी प्रस्थान किया, जहाँ पहुँचते ही उनका तृतीय समवसरण रचा गया और उन्होंने सारा वर्षा काल वहीं बिताया, जिससे श्रावणादि वर्षाके चातुर्मास्यमें वहाँ बराबर धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती रही+।

परन्तु यह मालूम नहीं हो सका कि प्रथम समवसरणमें मनुष्योंका अभाव क्यों रहा—वे क्यों नहीं पहुँच सके ? समवसरणकी इतनी विशाल योजना होने, हजारों देवी-देवताओंके वहाँ आकर जय जयकार करने, देवदुंदुभि बाजोंके बजने और अनेक दूसरे आश्चर्योंके होनेपर भी, जिनसे दूर दूरकी जनता ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी तक भी खिचकर चले आते हैं, जृम्भकादि आस-पासके ग्रामोंके मनुष्यों तकको भी समवसरणमें जानेकी प्रेरणा न मिली हो, यह बात कुछ समझमें नहीं आती। दूसरे, केवलज्ञान जब दिनके चौथे पहरमे उत्पन्न हुआ था तब उस केवलोत्पत्तिकी खबरको पाकर अनेक समूहोंमें देवताओंके ऋजुकूला नदीके तट पर वीर भगवानके पास आने, आकर उनकी वन्दना तथा स्तुति करने— महिमा गाने, समवसरणमें नियत समय तक उपदेशके होने तथा उसे सुनने आदिके सब नेग-नियोग इतने थोड़े समयमें कैसे पूरे हो गये कि म० महावीरको संध्याके समय ही विहारका अवसर मिल गया ?* तीसरे, यह भी मालूम नहीं हो सका कि केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले जब म० महावीर मोहनीय और अन्तराय कर्मका बिल्कुल नाश कर चुके थे—फलतः उनके कोई प्रकारकी इच्छा नहीं थी; तब वे शासनफलकी एषणासे इतने आतुर कैसे हो उठे कि उस यज्ञ-प्रसंगमें अपूर्व लाभ उठानेकी बात सोचकर संध्यासमय ही ऋजुकूला-तटसे चल दिये और रातोंरात ४८ कोस चलकर मध्यमा नगरीके उद्यानमें जा पहुँचे ? और इसलिये प्रथम समवसरणमें केवल देवताओंके ही उपस्थित होने, संध्या समयके पूर्व तक सब नेग नियोगोंके पूरा हो जाने और फिर अपूर्व लाभकी इच्छा से

* देखो, मुनिकल्याणविजयकृत 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ४८ से ७३।

× अमरणरराय महिओपत्तो धम्मवरचक्कवट्टित्तं।
बीयम्मि समवसरणे पावाए मज्झिमाए उ॥
—आव० नि० ४५० पृ० २२६

\+ देखो, उक्त 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ७४ से ७८।

* स्थानकवासी श्वेताम्बरोंमें केवलज्ञानका होना १०मीकी रात्रिको माना गया है (भ० महावीरका आदर्श जीवन पृ० ३१२) अतः उनके कथनानुसार भी उस दिन संध्या-समय विहारका कोई अवसर नहीं था।

भ०महावीरके संध्यासमय ही प्रस्थान करके रातोंरात मध्यमा नगरीके उद्यानमें पहुँचने आदिकी बात कुछ जीको लगती हुई मालूम नहीं होती।

प्रत्युत इसके, दिगम्बर साहित्य परसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ऋजुकूला-तटवाले प्रथम समवसरणमें वीर भगवानकी वाणी ही नहीं खिरी—उनका उपदेश ही नहीं होसका, और उसका कारण मनुष्योंकी उपस्थितिका अभाव नहीं था किन्तु उस गणीन्द्रका अभाव था जो भगवानके मुखसे निकले हुए बीजपदोंको अपने ऋद्धिबलसे ठीक व्याख्या कर सके अथवा उनके आशयको लेकर वीर-प्ररूपित अर्थको ठीक रूपमें जनताको समझा सके और या यूँ कहिये कि जनताके लिये उपयोगी ऐसे द्वादशाङ्ग श्रुतरूपमें वीर-वाणीको गूँथ सके*। ऐसे गणीन्द्रका उस समय तक योग नहीं भिड़ा था, और इस लिये वीरजिनेन्द्रने फिरसे मौन-पूर्वक विहार किया, जो ६६ दिन तक जारी रहा और जिस की समाप्तिके साथ साथ वे राजगृह पहुँच गये, जहाँ विपुलाचल पर्वत पर उनका वह समवसरण रचा गया जिसमें इन्द्रभूति(गौतम) आदि विद्वानोंकी दीक्षाके अनन्तर श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाह्नके समय अभिजित नक्षत्रमें वीर-भगवानकी सर्वप्रथम दिव्यवाणी खिरी और उनके शासन तीर्थकी उत्पत्ति हुई। जैसाकि श्री जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरं ॥६१॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियं।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥६२॥
ततः प्रबुद्धवृत्तांतैरापतद्भिरितस्ततः।
जगत्सुरासुरैर्व्याप्तं जिनेन्द्रस्य गुणैरिव ॥६३॥
× × × ×
इन्द्राऽग्निवायुभूत्याख्या कौण्डिन्याख्याश्च पण्डिताः।
इन्द्रनोदयनाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः ॥६८॥
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पंचभिः शतैः।
त्यक्ताम्बरादिसम्बन्धा संयमं प्रतिपेदिरे ॥६९॥

प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयं।
जिनेन्द्रं गौतमोपृच्छत्तीर्थार्थं पापनाशनम् ॥८९॥
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुंदुभि ध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना ॥९०॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥९१॥

—हरिवंशपुराण, द्वि० सर्ग

इस विषयमें धवल और जयधवल नामके सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें, श्रीवर्द्धमान महावीरके अर्थकर्तृत्वको—तीर्थोत्पादन को—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूपसे प्ररूपणा करते हुए, प्राचीन गाथाओंके आधार पर जो विशद कथन किया गया है वह अपना खास महत्व रखता है। द्रव्यप्ररूपणामें तीर्थोत्पत्तिके समय महावीरके शरीरका 'केरिसं महावीरसरीरं' इत्यादिरूपसे वर्णन करते हुए उसे समचतुःसंस्थानादि गुणोंसे विशिष्ट, सकल दोषोंसे रहित और राग-द्वेष-मोहके अभावका सूचक बतलाया है। क्षेत्रप्ररूपणामें 'तित्थुप्पत्ति-कम्हि खेत्ते' इत्यादिरूपसे तीर्थोत्पत्तिके क्षेत्रका निरूपण और उसमें समवसरण तथा उसके स्थानादिका निर्देश करते हुए जो विस्तृत वर्णन दिया है उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"………गयणट्ठियछत्तत्तयेण वड्ढमाण-तिहुवणाहि-वइत्तचिंधएण सुसोहियए पंचसेलउर-णेरइदिसा-विसय-अइविउल-विउलगिरिमत्थयत्थए गंगोहोव्व चउहि सुरविरइयधारे हियविसमाण देवविज्जाहरमणु-वजणाण मोहए समवसरणमंडले × × × × होदु णामदिट्ठ जिणदव्वमहिमाणं देविंदसरूवावगच्छंत जीवाण मिदं जिणसव्वण्णुत्तलिंगं चामरछत्तणट्ठादि-साविसयम्मि दिव्वामोयगंधसुरसाराणोयमणिणिवह-फुडियम्मि गंधउडिप्पासायम्मि ट्ठियसिंहासणारूढेण वड्ढमाणभडारएण तित्थुप्पाइदं। खेत्तप्परूवणा।"

इसमें अनेक विशेषणोंके साथ यह स्पष्ट बतलाया है कि, 'पंचशैलपुर ('राजगृह' नगर) की नैऋ्त्य दिशामें जो विपुलाचल पर्वत है उसके मस्तक पर होने वाले तत्कालीन समवसरण मंडलकी गंधकुटीमें गगन-स्थित छत्रत्रयसे युक्त एवं सिंहासनारूढ हुए वर्द्धमान भट्टारक (भ० महावीर) ने तीर्थकी उत्पत्तिको—अपना शासनचक्र प्रवर्तित किया।'

जयधवल ग्रन्थमें इतना विशेष और भी पाया जाता है

*"बीजपदणिलीणत्थपरूवणं दुवालसंगाणं कारओ गणहर-भडारओ गंथकत्तारओ त्ति अब्भुवगमादो। बीजपदाणं वक्खाणओ त्ति वुत्तं होदि।" —धवल, वेयणाखंड

कि पंचशैलपुरको, जो कि गुणनाम था, 'राजगृह' नगरके नामसे भी उल्लेखित किया है, उसे मगधमंडलका तिलक बतलाया है और तीर्थोत्पत्तिके समय चेलना-सहित महामंडलीकराजा श्रेणिकसे उपभुक्त—उनके द्वारा शासित—प्रकट किया है। यथा:—

"कत्थ कहियं ? सेणियराये सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं भुंजंते मगह-मंडलतिलश्र-रायगिहणयर-णेरयि-दीसमहिट्ठिय-विउलगिरि — पव्वए सिद्धचारणसेविएवार हगण वेट्ठिएण कहियं।"

इसके बाद 'उक्तंच' रूपसे जो गाथाएँ दी हैं और जो धवल ग्रन्थमें भी अन्यत्र पाई जाती हैं उनमेंसे शुरूकी डेढ़ गाथा, जिसके अनन्तरकी दो गाथाएँ पंचपर्वतोंके नाम, आकार और दिशादिके निर्देशको लिए हुए हैं, इस प्रकार हैं—

'पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे ॥ १ ॥
महावीरेणत्थो कहिओ भवियय-लोअस्स।'

क्षेत्रप्ररूपणा-सम्बन्धी इस कथनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि महावीरके शासन-तीर्थकी उत्पत्ति राजगृहकी नैऋ'ति दिशामें स्थित विपुलाचल पर्वतपर हुई है, जो उस समय राजा श्रेणिकके राज्यमें था।

अब काल-प्ररूपणाको लीजिये, इस प्ररूपणामें निम्न तीन गाथाओंको एक साथ देकर धवलसिद्धान्तमें बतलाया है कि—'इस भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी-कल्प-सम्बन्धी चतुर्थ कालके पिछले भागमें जब कुछ कम चौंतीस वर्ष अवशिष्ट रहे थे तब वर्षके प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिनमें श्रावणकृष्णप्रतिपदाको पूर्वाह्णके समय अभिजित् नक्षत्रमें भ० महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति हुई थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि श्रावण - कृष्ण - प्रतिपदाको रुद्र-मुहूर्तमें सूर्योदयके समय अभिजित् नक्षत्रका प्रथम योग होनेपर जहाँ युगकी आदि कही गई है उसी समय इस तीर्थोत्पत्तिको जानना चाहिये :—

"इमिस्सेऽवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवाससेसे किंचिविसेसूणए संते ॥१॥
वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मि ॥२॥
सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वा ॥३॥"

श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको तीर्थोत्पत्ति होनेका यह स्पष्ट अर्थ है कि वैशाखसुदि १०मीको केवलज्ञान हो जाने पर भी आषाढ़ी पूर्णिमा तक अर्थात् ६६ दिन तक भ० महावीरकी दिव्यध्वनि—वाणी नहीं खिरी और इसीसे उनके प्रवचन (शासन)तीर्थकी उत्पत्ति पहले नहीं हो सकी—इन ६६ दिनोंमें वे श्री जिनसेनाचार्यके कथनानुसार मौनसे विहार करते रहे हैं। ६६ दिन तक दिव्यध्वनिके प्रवृत्त न होनेका कारण बतलाते हुए धवल और जयधवल दोनों ग्रंथोंमें एक रोचक शंका-समाधान दिया गया है, जो इस प्रकार है—

"छासठदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठं कीरदे ? केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुववत्तीदो। दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थाऽपउत्ती ? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ? काललद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे ? साहावियादो, ण च सहावो परपज्जणियोगारुहो अव्ववत्थापत्तीदो।"

'शंका—केवल कालमेंसे ६६ दिनोंका घटाना किस लिये किया जाता है ?

समाधान—इसलिये कि, केवलज्ञानके समुत्पन्न होने पर भी उस समय तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई।

शंका—दिव्यध्वनिकी उस समय प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई?

समाधान—गणीन्द्रका अभाव होनेसे नहीं हुई।

शंका—सौधर्मेन्द्रने उसी समय गणीन्द्रकी खोज क्यों नहीं की ?

समाधान—काललब्धिके विना देवेन्द्र असहाय था और उसमें उस खोजकी शक्तिका अभाव था।

शंका—अपने पादमूलमें जिसने महाव्रत ग्रहण किया है उसे छोड़कर अन्यको उद्देश्य करके दिव्यध्वनि क्यों प्रवृत्त नहीं होती ?

समाधान—ऐसा ही स्वभाव है, और स्वभाव पर-पर्यनुयोगके योग्य नहीं होता, अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं रहेगी।'

इस शंका-समाधानमें दिगम्बर-मान्यतानुसार केवलज्ञान की उत्पत्तिके दिन वीरभगवानकी देशनाके न होने और ६६ दिन तक उसके बन्द रहनेके कारणका भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है।

श्रीयतिवृषभाचार्यके 'तिलोयपण्णत्ती' नामक ग्रन्थसे भी, जिसकी रचना देवर्द्धिगणिके श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थो और आवश्यक निर्युक्ति आदिसे पहले हुई है, यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीर भगवानके शासनतीर्थकी उत्पत्ति पंचशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर्वतपर श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको हुई है; जैसा कि नीचेके कुछ वाक्योंसे प्रकट है—

सुर-खेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अत्थकत्तारो ॥६५
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६८॥

ऐसी स्थितिमें श्वेताम्बरोंकी मान्यताका उक्त द्वितीय-तृतीय समवसरण-जैसा थोड़ा सा मतभेद राजगृहमें आगामी श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदादिको होनेवाले वीरशासन-जयन्ती-महोत्सवमें उनके सहयोग देने और सम्मिलित होनेके लिये कोई बाधक नहीं हो सकता—खासकर ऐसी हालतमें जबकि वे जान रहे हैं कि जिस श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको दिगम्बर आगम राजगृहमें वीर भगवानके समवसरणका होना बतला रहे हैं। उसी श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको श्वेताम्बर आगम भी वहाँ वीरप्रभुके समवसरणका अस्तित्व स्वीकार कर रहे हैं, इतना ही नहीं किन्तु वहाँ केवलोत्पत्तिके अनन्तर होनेवाले उस सारे चातुर्मास्यमें समवसरणका रहना प्रकट कर रहे हैं। इसके अलावा यह भी मान रहे हैं कि 'राजगृह नगर महावीरके उपदेश और वर्षावासके केन्द्रोंमें सबसे बड़ा और प्रमुख केन्द्र था और उसमें दोसौसे अधिकवार समवसरण होनेके उल्लेख जैनसूत्रोंमें पाये जाते हैं *।'

आशा है शासन-प्रभावनाके इस सत्कार्यमें दिगम्बरोंको अपने श्वेताम्बर और स्थानकवासी भाइयोंका अनेक प्रकारसे सद्भावपूर्वक सहयोग प्राप्त होगा। इसी आशाको लेकर आगामी वीरशासन-जयन्ती-महोत्सव की योजनाके प्रस्तावमें उक्त दोनों सम्प्रदायोंके प्रमुख व्यक्तियोंके नाम भी साथमें रक्खे गये हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि वीर-शासनको प्रवर्तित हुए गत श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाको २४९९ वर्ष हो चुके हैं और अब यह २५०० वाँ वर्ष चल रहा है, जो आषाढी पूर्णिमाको पूरा होगा। इसीसे वीरशासनका अर्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव उस राजगृहमें ही मनानेकी योजना की गई है जो वीरशासनके प्रवर्तित होनेका आद्य-स्थान अथवा मुख्य स्थान है। अतः इसके लिये सभीका सहयोग वाँछनीय है—सभीको मिलकर उत्सवको हर प्रकार से सफल बनाना चाहिये।

इस अवसर पर वीरशासनके प्रेमियोंका यह खास कर्तव्य है कि वे शासनकी महत्ताका विचारकर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करें और लोकमें वीरशासन के प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका—भरसक उद्योग करें अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें मतभेदकी साधारण बातोंपर न जाकर अपना सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करनेमें कोई बात उठा न रक्खें, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि हो सके।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

* देखो, मुनिकल्याणविजयकृत 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ३८४, ३८५।

सूचना

स्थानाभावके कारण इस किरण में 'जैनधर्मपर अजैन विद्वान्' शीर्षक नहीं दिया जा सका, दूसरे भी कुछ लेख नहीं दिये जा सके, पुस्तकोंकी समालोचना भी नहीं जा सकी। अगली किरणमें उनके देनेका जरूर यत्न किया जायगा। —व्यवस्थापक

छठे वर्षमें अनेकान्तके और सहायक

छठे वर्षकी प्रथम किरण प्रकट होनेसे पहले ही अनेकान्तके प्रेमी जिन सज्जनोंने आर्थिक सहायताका वचन दिया था अथवा सहायता भेजनेकी कृपा की थी उन सबके शुभ नाम सहायता की ८३१) रु० की रकमके साथ पिछली किरणमें प्रकाशित किये जा चुके हैं। उनके अलावा अबतक और जो महानुभाव सहायता भेज कर अथवा सहायताका वचन देकर सहायक बने हैं उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं:—

३५) ला० दलीपसिंहजी कागजी, देहली * ।
३५) मेसर्स राजमल गुलाबचंद जैन बैंकर्स, भेलसा * ।
२१) ला० हीरालालजी जैन सोगानी, जयपुर ।
२०) ला० फेरूमल चतरसेनजी वीरस्वदेशी भंडार, सरधना (मेरठ) * ।
१५) सेठ रोडमल मेघराजजी चार दान फंड, सुसारी (बड़वानी) * ।
१४) ला० अरहदास जैन, सहारनपुर * ।
१४) ला० उदयराम जिनेश्वरदास, सहारनपुर * ।
११) ला० तनसुखराय जैन, तिस्सा जि० मुजफ्फरनगर * ।
११) श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमारजी खुरई जि० सागर (जन्म-पिता श्री खुशालचंदजीकी स्मृतिमें निकाले हुए दानमेंसे ।
११) एक गुप्त सहायक * ।
१०) सेठ धर्मदास ऋषभदास जैन, सतना (रीवां) * ।
७) ला० कन्हैयालाल सीतारामजी, किशनगढ़ जयपुर ।
७) बा० रघुवरदयाल जैन, करौलबाग देहली * ।
७) मार्फत जैनसंगठन सभा * ।
७) रा० सा० श्यामलालजी ऐग्जी क्यूटिव आफीसर, रुड़की (सहारनपुर) * ।
७) सिंघई नन्दनलालजी बीना-इटावा * ।
५) ला० पन्नालाल मिश्रीलाल बड़जात्या, इन्दौर (पुत्री शान्तादेवीके विवाहकी खुशीमें) ।
७) चौ० चमनलालजी जैन रईस देहरादून * ।
७) ला० जगेश्वरदासजी सर्राफ देहरादून * ।
५) ला० भगवानजी सरदारमलजी, किशनपुरा, इन्दौर (पुत्र फूलचंदके विवाहकी खुशीमें) ।
५) दि० जैन पंचायत किशनगढ़, जयपुर ।
४) ला० जमुनालाल जैन, चांदा मैचवर्क्स, वर्धा * ।
३॥) ला० भीरीमल मंगलसेन, डिप्टीगंज देहली * ।
३॥) मैसर्स उग्रसेन वंशीलालजी मुजफ्फरनगर * ।
३) मुन्शी सुमेरचन्दजी अर्जीनवीस, देहली (पिताजीके स्वर्गवासके अवसर पर निकले हुए दानमेंसे) ।
१) ला० प्रेमचन्द मोतीचन्द जैन, सतना (रीवां) ।

२७६)

नोट—जिनके आगे * यह चिन्ह लगा है उनकी ओरसे अनेकान्त अजैनादि संस्थाओं तथा खास खास विद्वानों को फ्री भेजा जारहा है। १४) रु० की सहायतामें चारको फ्री भिजवाया जा सकता है। —व्यवस्थापक

आवश्यकता

वीरसेवामन्दिरको दो ऐसे सेवाभावी योग्य विद्वानोंकी जरूरत है जिनमेंसे एक हिसाब-किताबके काममें निपुण हो—बाकायदा हिसाब रखते हुए वीरसेवा मन्दिरकी सारी सम्पत्तिकी जो अच्छी देख-रेख और पूरी सार-संभाल रख सकें। दूसरे विद्वान संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके प्रूफरीडिंग तथा पत्र-व्यवहारके काममें दक्ष होने चाहियें। और यदि वे संस्कृत, प्राकृत, तथा अंग्रेजीका हिन्दीमें अच्छा अनुवाद भी कर सकते हों तो ज्यादा बेहतर है। वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा। जो विद्वान आना चाहें उन्हें अपनी योग्यता और कार्यानुभवके पूरे परिचयके साथ नीचे लिखे पते पर शीघ्र पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

छोटेलाल जैन (कलकत्ता वाले)
सभापति 'वीरसेवामन्दिर समिति'
सरसावा जि० सहारनपुर

संशोधन

पाठक इसी किरणमें पृ० ४६ के प्रथम कालमकी १८ वीं पंक्तिमें जो 'अनुज' शब्द छपा है उसके स्थान पर 'लाल' शब्द बना लेवें, पृ० ५० के दूसरे कालमकी २४ वीं पंक्तिमें 'क्या तोष' के स्थान पर जो 'क्या तो' छपा है उसे सुधार लेवें और पृ० ५२ के दूसरे कालमकी १७ वीं पंक्तिमें जो 'चाह' के ऊपर अर्ध ँ लगा है उसे निकाल कर अगली पंक्तिके 'छाह' शब्द पर उसकी योजना करके संशोधन कर लेवें।

—प्रकाशक

Registere No. A-137.

❀ व्यवस्थापकीय निवेदन ❀

जिस समय 'अनेकान्त' के व्यवस्थापकत्वका भार दो महीने पहिले मैंने स्वीकार किया था उस समय मैं बहुत घबरा रहा था कि कहाँ 'अनेकान्त' जैसे उच्च कोटिके पत्रका व्यवस्थापन-कार्य और कहाँ मेरे जैसा अयोग्य, अनुभव तथा साधन-हीन व्यक्ति; पर केवल बजुर्गोंके आदेश और श्रेद्धय मुख्तार साहबके स्वास्थ्यको दृष्टिमें रखकर [क्यों कि इधर एक वर्षसे पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका स्वास्थ्य बराबर गिरता जारहा है और वे प्राय: अस्वस्थ रहते हैं— कुछ वृद्धावस्थाकी और कुछ अस्वस्थताकी कमज़ोरी उन्हें बराबर सता रही है। साथ ही, वे परिश्रम इतना अधिक करते हैं कि जो एक नवयुवक और शक्तिशाली व्यक्तिको भी नहीं करना चाहिये; पर वे अपनी धुनके ऐसे हैं कि चिकित्सकोंके मना करने पर भी, रिलीफ़का कोई समुचित साधन पासमें न होनेके कारण, अपनी जिम्मेदारीको महसूस करते हुए बराबर १४, १५, घंटे सम्पादन तथा लेखन आदिका कार्य स्वयं करते ही रहते हैं और दिमाग़ तो उनका शायद १९ या २० घंटे रोज़ाना कार्यमें जुटा रहता है। इधर शरीरके प्रति निर्लिप्तता कुछ ऐसी बढ़ गई है कि खाने-पीनेकी ओर अधिक ध्यान भी नहीं देते हैं, जिसका निश्चित परिणाम है शक्तिका ह्रास। पिछले दिनों महीनों तक जब 'पुरातन-जैन वाक्यसूची' का सम्पादन-प्रकाशनादि कार्य हो रहा था तो आपको प्राय: रात्रिके एक २ और दो २ बजे सोना मिला है। शरीर भी एक मशीनरी है आखिर बिना ग्रीस कितने दिन खड़ी रह सकती है, अत: निरन्तर साथ रहनेके अनुभवसे मैं यह बात कह सकता हूँ कि इधर कुछ अर्सेसे मुख्तार साहेबकी शारीरिक शक्ति आधी नहीं रही है और मुझे भय है कि यदि उन्हें समाजकी तरफ़से समुचित रिलीफ़ न दी जासकी तो शायद उनसे उनके जीवनकी वह गाढी कमाई जो कागजके टुकड़ोंमें इधर-उधर बिखरी पड़ी है और अधिकांशत: उनके दिमागमें संचित है तथा समाजके लिये बहुत ही उपयोगी है उसे हम न ले सकें] और साथ ही यह सोच कर कि यदि मैंने 'अनेकान्त' के कार्यमें उनको कुछ सहयोग दिया तो सम्भव है कि वे ऐसे अमूल्य कार्य जिनको वे अनवकाशके कारण पूरे नहीं कर सकते हैं कुछ पूरा कर सकें, मैंने व्यवस्थापकके भारको अपने ऊपर लिया है।

मैं धड़कते हुए हृदय तथा आशा और निराशाकी सम्मलित भावनाओंसे अपनी योजना लेकर समाजके सामने गया और टूटे-फूटे शब्दोंमें अपनी प्रार्थना समाजके सन्मुख प्रस्तुत करदी। मुझे यह प्रकट करते हुए अति प्रसन्नता होती है कि मैं जिन २ महानुभावोंके पास पहुँच सका हूँ उनसे मुझे अच्छा सहयोग मिला है—धनियोंने धनसे, कार्यकर्त्ताओंने समय और परिश्रमसे, विद्वानोंने लेखोंसे, बजुर्गोंने शुभकामना और पथप्रदर्शनसे मेरा हाथ बटाया है। और भी बहुतसे सज्जनोंसे पत्र-व्यवहार हो रहा है तथा बहुतसे महानुभाव ऐसे भी हैं जिन तक व्यस्तता या भूल-वश मैं अभी तक पहुंच भी नहीं पाया हूँ, मुझे आशा है उन सबका सहयोग मिल जाने पर हम 'अनेकान्त' को बहुत ऊंचे स्थान पर पा सकेंगे।

'अनेकान्त' हाथमें लेते समय मैंने यह संकल्प किया था कि हम इस वर्ष 'अनेकान्त' के एक हज़ार ग्राहक और फ्री भिजवाने वाले सहायक बना लेंगे। पर अब एक किरण निकलनेके बाद ही मुझे ऐसा मालूम होने लगा है कि हमें तो अनेकान्तके एक हज़ार ग्राहक और एक हज़ार अजैन संस्थाओं और विद्वानोंको मुफ्त भिजवाने वाले सहायक बनाने चाहियें। चूं कि रोजाना आनेवाले बीसों पत्र यह बता रहे हैं कि अनेकान्तके संचालकोंने इस समय "समयकी पुकारका उत्तर दिया है" और समाजकी उस मांगको पूरा करनेका संकल्प किया है, जिसकी आवश्यकता बहुत दिनसे महसूस की जा रही थी।

अब आवश्यकता इस बातकी है कि अनेकान्तका अधिकसे अधिक प्रचार किया जावे। इसके लिये हमें समाजके स्थानीय कार्यकर्त्ताओंके उदार सहयोगकी अधिक आवश्यकता है ताकि वे अपने २ स्थानकी जनतामें, अनेकान्तका अधिकसे अधिक प्रचार करें और उनमें उसके स्वाध्याय करनेकी भावना पैदा करें। ऐसे सहयोग-दानके इच्छुक बन्धु पत्र लिख कर प्रचारका साहित्य बिना किसी खर्चके यहांसे मँगा सकते हैं।

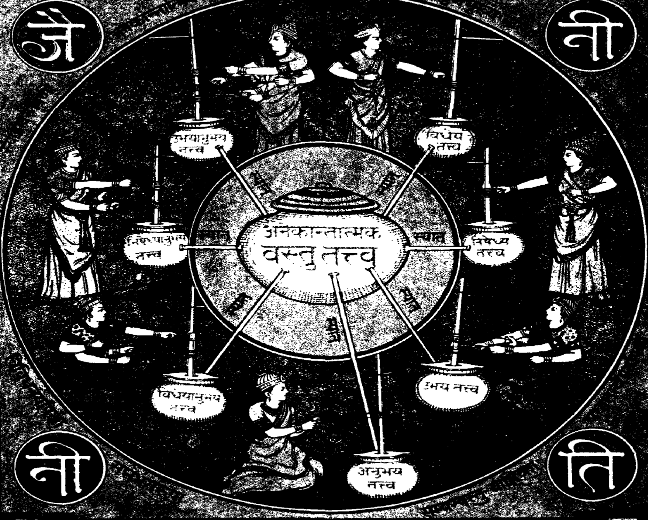
साथ ही, ऐसे दो विद्वानोंकी भी आवश्यकता है जो वेतन पर स्थान २ पर भ्रमण करके जनतामें अनेकान्तके स्वाध्यायकी रुचि पैदा करें। उन्हें किसीसे भी चन्दा नहीं मांगना पड़ेगा।

कौशलप्रसाद जैन आ० व्यवस्थापक "अनेकान्त"
कोर्ट रोड, सहारनपुर

मुद्रक प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुर में मुद्रित

अनेकान्त

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥



वर्ष
किरण

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

सम्पादक – जुगल किशोर मुख्तार

विषय-सूची

वीर-शासनका अर्धद्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव

वीर-शासनको—भ० महावीरके धर्मतीर्थको—प्रवर्तित हुए ढाई हजार वर्ष समाप्त होरहे हैं, अतः ढाई हजार वर्षकी समाप्ति पर कृतज्ञ जनता और खासकर जैनियोंके द्वारा वीर-शासनका 'अर्धद्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव' मनाया जाना समुचित और न्यायप्राप्त है। इसीसे वीरसेवामन्दिर सरसावाने, श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताकी प्रेरणाको पाकर, इस महोत्सवके मनानेका भारी आयोजन किया है। इस महोत्सवके लिये जो स्थान चुना गया है वह है 'राजगृह' तीर्थक्षेत्र।

इस स्थानका कितना अधिक महत्व है यह तो स्वतंत्र लेखका विषय है, फिर भी यहाँ पर संक्षेप में इतना प्रकट किया जाता है कि—

(१) दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिसे यह राजगृह वह स्थान है जहाँ सबसे पहले श्रावण-कृष्ण प्रतिपदाको सूर्योदयके समय वीर भगवानकी दिव्यध्वनि वाणी खिरी, उनके सर्वप्राणि-हितरूप 'सर्वोदय' तीर्थकी प्रवृत्ति हुई और उनके प्रधान गणधर गौतमके द्वारा उनकी दिव्य-वाणीकी उस द्वादशांग श्रुतमें रचना की गई जो वर्तमानके सभी जैनागमोंका आधारभूत है। किसी भी दिगम्बर ग्रन्थमें जहां उसके विषयावतारका निर्देश है वहाँ इसी स्थानके विपुलाचलादि पर्वत पर वीर भगवानका समवसरण आने और उसमें वीर-वाणीके अनुसार गौतम गणधरके द्वारा उस विषयके प्रतिपादनका उल्लेख है।

(२) श्वेताम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिसे यह राजगृह वह स्थान है जहाँ वैशाख सुदि १० मीको होने वाले केवलज्ञानके अनन्तर ज्येष्ठ मासके शुरूमें ही भ० महावीर देशनाके लिये पहुँच गये थे, जहाँ वे ज्येष्ठ तथा आषाढ मास तक ही नहीं किन्तु वर्षाकाल (चातुर्मास्य) के अन्त तक (कोई छह मास तक) स्थित रहे और इस अर्सेमें जहाँ बराबर उनकी समवसरण सभा लगती रही और उसमें उनका धर्मोपदेश होता रहा, जिसके द्वारा हजारों लाखों प्राणियोंका उद्धार तथा कल्याण हुआ है। और जो मुनि कल्याणविजयके शब्दोंमें "महावीरके उपदेश और वर्षा-वासके केन्द्रोंमें सबसे बड़ा और प्रमुख केन्द्र था।" 'जहाँ महावीर का समवसरण दोसौसे अधिक बार होनेके उल्लेख जैनसूत्रोंमें पाये जाते हैं।' और इस लिये जहाँ वीरशासन विशेषरूपसे प्रवर्तित हुआ है।

अतः दोनों सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे राजगृह (राजगिर) वीरशासन-सम्बन्धी महोत्सवके लिये सबसे अधिक उपयुक्त स्थान है, जहांकी प्राकृतिक शोभा भी देखते ही बनती है।

महोत्सवकी प्रधान तिथि श्रावणकृष्णप्रतिपदा है, जो उत्सर्पिणी आदि युगोंके आरम्भकी तिथि *होनेके साथ साथ वर्षारम्भकी भी तिथि है*—इसी तिथिसे पहले भारतवर्षमें वर्षका आरम्भ हुआ करता था, 'वर्ष' शब्द भी वर्षाकालसे अपने प्रारम्भका सूचक है। अतः यह तिथि अन्य प्रकारसे भी इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है।

महोत्सवकी विशेष योजनाएँ आगामी किरणोंमें प्रकाशित होंगी। —अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

* ॐ अर्हम् *

विश्वतत्त्व-प्रकाशक **अनेकान्त** वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४) रु०

एक किरण का मूल्य ।=)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६, किरण ३ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | अक्तूबर १९४३
कार्तिक शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४७०, विक्रम सं० २०००

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१६]

श्रीशान्ति-जिन-स्तोत्र

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजाचिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाऽघशान्तिम् ॥ १॥

'जो शान्तिजिन परसे—शत्रुओंसे—प्रजाजनोंकी रक्षा करके चिरकाल तक अप्रतिम-प्रतापके—अनुपम पराक्रमके—धारक राजा हुए और फिर जिन्होंने स्वयं ही—बिना किसीके उपदेशके—मुनि होकर दया-मूर्तिकी तरह सबसे पहले (हिंसादि) पापोंकी शान्ति की ।'

चक्रेण यः शत्रुभयङ्करेण जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्र-चक्रम् ।
समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम् ॥ २ ॥

'जो (गृहस्थावस्थामें) शत्रुओंके लिये भय उपजाने वाले चक्रसे सर्व नरेन्द्र चक्रको—संपूर्ण राजाओंके समूहको—जीत कर चक्री नृप—चक्रवर्ती सम्राट्—हुए, और (मुनि अवस्थामें) समाधि-चक्रसे—धर्मध्यान-शुक्लध्यानके प्रभावसे—दुर्जय मोहचक्रको—मोहनीय कर्मके मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंचको—जीत कर जो महान् उदयको—अपने पूर्ण विकासको—प्राप्त हुए हैं ।'

राज-श्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राज-सुभोग-तन्त्रः।
आर्हन्त्य-लक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवाऽसुरोदारसभे रराज ॥ ३ ॥

'जो **राजेन्द्र, राजाओंके योग्य सुभोगोंके अधीन हुए अथवा उन्हें स्वाधीन** (अभिलाषक रूपमें प्राप्त) **किये हुए, राजलक्ष्मीसे राजाओंमें शोभाको प्राप्त हुए वे ही फिर** (परम वीतराग अवस्थामें) **आत्माधीन हुए**—आत्माका कर्मबन्धनसे छुड़ा कर स्वाधीन किये हुए—**आर्हन्त्यलक्ष्मीसे**—अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग और अष्ट महाप्रातिहार्यादिरूप बहिरंग विभूतिसे—**देवों तथा असुरों** (अदेवों)—मनुष्यादिकोंकी **महती** (समवसरणवर्तिनी) **सभामें शोभाको प्राप्त हुए हैं।**'

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति-धर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥ ४ ॥

'जिनके राजा होने पर राजाओंका समूह हाथ जोड़े खड़ा रहा, मुनि होनेपर दयाकी किरणों वाला धर्मचक्र प्राञ्जलि हुआ—आत्माधीन बना. **पूज्य होने पर**—धर्मतीर्थका वर्तन करने पर—**देवोंका समूह पुनः पुनः हाथ जोड़े खड़ा रहा, और ध्यानके सन्मुख होने पर**—व्युपरतक्रियानिवर्तिलक्षण योगके चरम समय में—**कृतान्तचक्र**—कर्मोंका अवशिष्ट समूह—**नाशको प्राप्त हुआ।**'

स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान्शरण्यः ॥ ५ ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र

'जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम क्रोधादि विकारोंकी—**शान्ति करके**—पूर्ण निवृत्ति करके—**आत्मामें शान्ति स्थापित की है**—पूर्ण सुखस्वरूप स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है, और (इस लिये) **जो शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता हैं वे भगवान शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं**—शरणभूत हैं। **अतः मेरे संसार-परिभ्रमणकी. क्लेशोंकी और भयोंकी उपशान्तिके लिये निमित्तभूत होवें।**

भावार्थ—आत्माको शान्ति-सुखकी प्राप्ति अपने दोषोंको—राग-द्वेष-काम-क्रोधादि विकारोंको—शान्त करनेसे होती है, और जिस महान् आत्माने अपने दोषोंको शान्त करके आत्मामें शान्ति-सुखकी प्रतिष्ठा की है वही शरणागतोंके लिये शान्ति-सुखका विधाता होता है—उनमें शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुख रूप परिणत करनेमें सहायक होता है, और ऐसा करनेमें उसके लिये किसी इच्छा तथा प्रयत्नकी भी जरूरत नहीं पड़ती—वह स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिकका कोई कारण नहीं पड़ता। श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रने अपने दोषों—रागादिविभावपरिणामोंको पूर्णतया शान्तकरके अपने आत्मामें पूर्ण शान्ति स्थापित की है और इस लिये वे शरणागत भव्यजीवोंमें शान्ति-सुखके विधाता हैं—बिना किसी इच्छा या इत्यादि प्रयत्नके ही उनमें शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें प्रबल सहायक हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्र शान्तिजिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'मैं ऐसे शान्तिमय जिनभगवान्की शरणमें प्राप्त होताहूँ—उनकी शान्ति-पद्धतिको अपनाता हुआ उनका आराधन करता हूँ—,फलतः मेरे संसार-परिभ्रमण की समाप्ति और साँसारिक क्लेशों–दुःखों तथा भयोंकी 'इतिश्री' होवे।'

नयोंका विश्लेषण

(ले०—श्री० पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)

[इस लेखके लेखक महोदय पं० वंशीधरजी जैनसमाजके एक सुलझे हुए सुप्रसिद्ध विद्वान हैं—गम्भीर विचारक होनेके साथ साथ बड़े ही निरभिमान एवं सेवापरायण हैं—समाज-सेवक होनेके साथ साथ देश-सेवक होनेका भी आपको गौरव प्राप्त है, आप अभी अभी सालभरकी जेलयात्रा करके आए हैं। जेलसे आते ही आपने जो लेख लिखा उसे पहली किरणमें 'धर्म क्या है?' इस शीर्षकके साथ पाठक पढ़ चुके हैं। आज यह आपका दूसरा लेख है, जिसे आपके प्रमाण-नय-विषयक अनुभवका निचोड़ कहना चाहिये। लेख अच्छी सधी हुई लेखनीसे लिखा गया है और विद्वानोंके लिये विचारकी तथा सर्वसाधारणके लिये प्रमाण-नय-विषयक ज्ञानकी यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। —सम्पादक]

(१) प्रमाण-निर्णय

"प्रमाणनयैरधिगमः" यह तत्वार्थसूत्रके पहिले अध्यायका ६ठा सूत्र है। इसमें पदार्थोंके जाननेके साधनोंका प्रमाण और नयके रूपमें उल्लेख किया गया है। आगे चल कर इसी अध्यायमें "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" (सू० ९) और "तत्प्रमाणे" (सूत्र १०) इन सूत्रों द्वारा ज्ञानके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच भेद मान कर इनका ही प्रमाणरूपसे उल्लेख किया गया है।

जैनधर्मकी मान्यताके अनुसार मनुष्य, पशु आदि जगतके सब प्राणियोंमें बाह्य शरीरके साथ संबद्ध परिणामी-नित्य एवं अदृश्य आत्मनामा वस्तुका स्वतंत्र अस्तित्व है और यह आत्मा प्रत्येक प्राणीमें अलग अलग है, इसके सद्भावसे ही प्राणियोंके शरीरमें भिन्न २ तरहके विशिष्ट व्यापार होते रहते हैं और इसके शरीरसे अलग होते ही वे सब व्यापार बंद हो जाते हैं।

इस आत्मामें एक ऐसी शक्तिविशेष स्वभावतः जैनधर्म मानता है जिसके द्वारा प्राणियोंको जगतके पदार्थोंका ज्ञान हुआ करता है। इस शक्तिविशेष को उसने आत्माका 'ज्ञानगुण' नाम दिया है और इसको भी आत्मा ही की तरह परिणामी-नित्य, अदृश्य तथा प्रत्येक आत्मामें अलग २ माना है। साथ ही इस ज्ञानगुणको ढकने वाली अर्थात् प्राणियोंको पदार्थज्ञान न होने देने वाली वस्तुविशेषका संबन्ध[१] भी प्रत्येक आत्माके साथ उसने कबूल किया है और इसे ज्ञानावरणकर्म'[२] नाम दिया है इस कर्मके भी पांचों ज्ञानोंके प्रतिपक्षी पांच[३] भेद उसने कबूल किये हैं जिनके नाम ये हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

जिस ज्ञानावरण कर्मके अभावसे आत्माके ज्ञानगुणका मतिज्ञानरूपसे विकास हो अथवा जो आत्माके ज्ञानगुणका मतिज्ञानरूपसे विकास न होने दे उसे मतिज्ञानावरण कर्म कहते हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका स्वरूप समझना चाहिये।

इन पांचों ज्ञानावरण कर्मोंके अभावसे आत्माके ज्ञानगुणका क्रमसे जो मतिज्ञानादि रूप विकास होता है इस विकासको जैनधर्ममें 'ज्ञानलब्धि'[४] नाम दिया गया है। इस ज्ञानलब्धिके द्वारा ही मनुष्य, पशु आदि सभी प्राणियोंको पदार्थोंका ज्ञान हुआ करता है और प्राणियोंको होने वाले इस प्रकारके पदार्थज्ञानको जैनधर्ममें 'ज्ञानोपयोग'[५]

---

१ "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः"॥सू० २

२ "प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः" ॥ सूत्र ३ ॥ आद्यो ज्ञानदर्शनावरण........" सूत्र ४ ॥

३ "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्" ॥ सूत्र ६॥ (तत्वार्थसूत्र ८ अध्याय)

४,५ "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" अ० २ सूत्र १८ (तत्वार्थसूत्र) यहां पर ज्ञानको ही भाव नाम दिया गया है और उसे इन्द्रिय मान कर उसके लब्धि और उपयोग दो भेद मान लिये गये हैं। यद्यपि यह सूत्र सिर्फ पांच इन्द्रियोंसे होने

संज्ञा दी गयी है।

शरीरके अंगभूत बाह्य स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पांच इन्द्रियों और मनकी सहायता[1] से प्राणियोंको जो पदार्थोंका ज्ञान हुआ करता है वह मतिज्ञानोपयोग कहलाता है और इसमें कारणभूत ज्ञानगुणके विकासको 'मतिज्ञानलब्धि' समझना चाहिये अर्थात् ज्ञातामें मतिज्ञानावरणकर्मके अभावसे पैदा हुआ आत्माके ज्ञानगुणका मतिज्ञान—लब्धिरूप विकास ही पदार्थका सान्निध्य पाकर पांच इन्द्रियों तथा मनकी सहायतासे होने वाले पदार्थज्ञानरूप मतिज्ञानोपयोगमें परिणत हो जाया करता है। इसके इन्द्रियादि निमित्तोंकी अपेक्षा छह[2] भेद माने गये हैं—स्पर्शनेन्द्रिय–प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय–प्रत्यक्ष, नासिकेन्द्रिय–प्रत्यक्ष, नेत्रेन्द्रिय–प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय–प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान।

शब्द-श्रवण[3] पूर्वक श्रोताको मनकी[4] सहायतासे जो सुने हुए शब्दोंका अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञानोपयोग कहलाता है और इसमें कारणभूत ज्ञानगुणके विकासको 'श्रुतज्ञानलब्धि' समझना चाहिये अर्थात् श्रोतामें श्रुतज्ञानावरणकर्मके अभावसे पैदा हुआ आत्माके ज्ञानगुणका श्रुतज्ञानलब्धिरूप विकास ही वक्ताके शब्दोंको सुनते ही मनकी सहायतासे होने वाले शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञानमें परिणत हो जाया करता है।

ये दोनों मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐन्द्रियिक ज्ञान माने गये हैं; कारण कि मतिज्ञान पूर्वोक्त प्रकारसे पांच इन्द्रियों और मनकी सहायतासे और श्रुतज्ञान अंतरंग इन्द्रिय स्वरूप मनकी सहायतासे हुआ करता है। श्रुतज्ञान और मानस-प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानमें इतना अन्तर है कि श्रुतज्ञानमें श्रोताको वक्ताके शब्द सुननेके बाद उन शब्दोंके प्रतिपाद्य अर्थका ज्ञान मनकी सहायतासे होता है और मानस-प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञानमें शब्द-श्रवणकी अपेक्षारहित साक्षात् पदार्थका ही ज्ञान ज्ञाताको मनकी सहायतासे हुआ करता है। पदार्थज्ञानमें शब्दश्रवणको कारण माननेकी वजहसे ही श्रुतज्ञानको श्रुत नाम दिया गया[5] है।

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय माने गये हैं; क्योंकि इन तीनों ज्ञानोंमें इन्द्रियादि बाह्य निमित्तोंकी सहायताकी अपेक्षा जैनधर्मने नहीं मानी है। इनके विषयमें जैनधर्मकी मान्यता यह है कि ज्ञातामें अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मोंके अभावसे पैदा हुआ आत्माके ज्ञान गुणका क्रमसे अवधिज्ञानलब्धि, मनःपर्ययज्ञानलब्धि और केवलज्ञानलब्धि रूप विकास ही पदार्थका सान्निध्य पाकर बाह्य इन्द्रियादिककी सहायताके बिना ही स्वभावतः अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्ययज्ञानोपयोग और केवलज्ञानोपयोग रूप परिणत हो जाया करता है।

जैनधर्ममें इन पाँचों प्रकारकी ज्ञानलब्धियों और पाँचों प्रकारके ज्ञानोपयोगोंको प्रमाण माना गया है, इस लिये प्रमाण कहे जाने वाले ज्ञानके उल्लिखित पांच भेद ज्ञानलब्धि और ज्ञानोपयोग दोनोंके समझना चाहिये। चूंकि ज्ञानलब्धि ज्ञानोपयोगमें अर्थात् पदार्थज्ञानमें कारण है इस लिये पदार्थज्ञानरूप फलकी अपेक्षा ज्ञानलब्धिको प्रमाण कहा गया है। और ज्ञानोपयोग अर्थात् पदार्थज्ञान होनेपर ज्ञाता जाने हुए पदार्थको इष्ट समझ कर ग्रहण करता है, अनिष्ट समझ कर छोड़ता है तथा इष्टानिष्ट कल्पनाके अभावमें जाने हुए पदार्थको न ग्रहण करता है और न छोड़ता है बल्कि उसके प्रति वह माध्यस्थ्यरूप वृत्ति धारण

— वाले मतिज्ञानके बारेमें लब्धि और उपयोगकी प्रक्रिया को बतलाता है परन्तु यह लब्धि और उपयोगकी प्रक्रिया पांचों ज्ञानोंमें समान समझना चाहिये।

१ "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सू० १४

२ "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" —तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सू० १३

यहांपर मति शब्दसे स्पर्शनेइन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि ६ भेदोंका तथा स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध शब्दोंसे क्रमशः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानका ग्रहण करना चाहिये।

३ "श्रुतं मतिपूर्वम्………"। —तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सू० २० यहांपर 'मति' शब्दसे शब्दश्रवण अर्थात् कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही ग्रहण किया गया है।

४ "श्रुतमनिन्द्रियस्य"। —तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सू० २१

५ "………सद्दजं पहुमं"।—गोम्मट० जीवकांड गाथा ३१४

कर लेता है इस लिये ग्रहण, त्याग और माध्यस्थ्य वृत्तिरूप फलकी अपेक्षा ज्ञानोपयोगको भी प्रमाण माना गया है। जैनधर्मका दर्शन मुख्यरूपसे इस ज्ञानोपयोगको[1] ही प्रमाण मानता है।

(२) प्रमाणके भेद स्वार्थ और परार्थ[2]

मति आदि ज्ञानावरण—कर्मोंके अभावसे होने वाला आत्माके ज्ञानगुणका मति आदि ज्ञानलब्धिरूप विकास स्व अर्थात् अपने आधारभूत ज्ञाताके ही पदार्थज्ञान रूप ज्ञानोपयोगमें कारण होता है इसी प्रकार पदार्थज्ञान रूप ज्ञानोपयोग भी स्व अर्थात् अपने आधारभूत ज्ञाताकी ही ज्ञातपदार्थमें ग्रहण, त्याग और माध्यस्थ्यभावरूप प्रवृत्तिमें कारण होता है इस लिये ज्ञानलब्धि और ज्ञानोपयोगरूप दोनों प्रकारके ज्ञानोंको स्वार्थप्रमाण कहा गया है। लेकिन स्वार्थप्रमाणके अतिरिक्त एक परार्थ नामका भी प्रमाण जैनधर्ममें स्वीकार किया गया है वह श्रोताको होने वाले शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञानमें कारणभूत वक्ताके मुखसे निकले हुए वचनोंके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता है अर्थात् वक्ताके मुखसे निकले हुए वचन ही श्रोताके शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञानमें कारण होनेकी वजहसे परार्थप्रमाण कहे जाते हैं। चूंकि वचन प्रमाणभूत श्रुतज्ञानमें कारण है इस लिये उपचारसे वचनको भी प्रमाण मान लिया गया है और चूंकि शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञानका आधार श्रोता होता है और उसमें कारणभूत वचनोंका उच्चारणकर्ता वक्ता होता है इस लिये पर अर्थात् वचनोच्चारणका आधारभूत वक्तासे भिन्न श्रोताके ज्ञानमें कारण होनेकी वजहसे वचनको परार्थप्रमाण कहते हैं। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ज्ञान स्वाधिगममें कारण होनेकी वजहसे स्वार्थ प्रमाण ही कहे जाते हैं। लेकिन पूर्वोक्त प्रकार श्रुतके दो भेद हो जानेसे ज्ञानरूप श्रुत स्वाधिगममें कारण[3] होनेकी वजहसे स्वार्थप्रमाण और वचनरूप श्रुत पराधिगममें कारण[4] होनेकी वजहसे परार्थ प्रमाण मान लिये गये हैं। स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुतको स्वार्थश्रुत, ज्ञानश्रुत, भावश्रुत और श्रुतज्ञान भी कहते हैं और परार्थप्रमाणरूप श्रुतको परार्थश्रुत, वचनश्रुत, शब्दश्रुत, द्रव्यश्रुत, अथवा सिर्फ वचन अथवा शब्द भी कहा करते हैं।

जिस प्रकार श्रोताको वक्ताके मुखसे निकले हुए वचनोंद्वारा पदार्थज्ञान होता है उसी प्रकार वक्ताके लेखों द्वारा तथा अंगुलि आदिके संकेतों द्वारा भी उसे पदार्थज्ञान होता है इसलिये इसप्रकारके पदार्थज्ञानको स्वार्थश्रुतमें और लेखों तथा अंगुलि आदिके संकेतोंको परार्थश्रुतमें अन्तर्भूत समझना चाहिये; क्योंकि श्रुतज्ञानमें कारणरूपसे माना गया वचन लेख तथा अंगुलि आदिके संकेतोंका उपलक्षण (संग्राहक) माना गया है इसलिये वचनकी तरह लेख तथा अंगुलि आदिके संकेतों द्वारा जो पदार्थज्ञान होता है उसे[5] भी श्रुतज्ञान कहते हैं। परार्थश्रुतको आध्यात्मिक दृष्टिसे आगम और उससे होने वाले पदार्थज्ञान रूप स्वार्थश्रुतको आगमज्ञान कहते हैं। जैनेतर दार्शनिक इन दोनोंको क्रमसे शब्द और शाब्दज्ञान कहते हैं।

(३) परार्थश्रुतमें प्रमाण और नयका भेद।

वचन अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। इनमेंसे शब्दके अंगभूत निरर्थक अकारादि वर्ण अक्षर कहलाते हैं। अर्थवान् अकारादि अक्षर तथा निरर्थक दो आदि अक्षरोंका अर्थवान् समूह शब्द कहलाता है। अर्थवान् शब्दरूप प्रकृतिका सुप् अथवा तिङ् प्रत्ययोंके साथ संयोग हो जाने पर पदोंका निर्माण होता[6] है। और परस्पर सापेक्ष दो आदि पदोंके निरपेक्ष समूहसे

१ "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" ।-परीक्षा० १-१

२ "प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च" ।—सर्वार्थसिद्धि १—२

३, ४ "अधिगम हेतुर्द्विविधः स्वाधिगमहेतुः पराधिगमहेतुश्च, स्वाधिगम हेतुर्ज्ञानात्मकः, पराधिगमहेतुर्वचनात्मकः"—(राजवार्तिक) १—६ । "ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकंपरार्थम्" (सर्वार्थसिद्धि) १—६ ।

५ "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" परीक्षा० ३—९९ इसमें आदि शब्दसे अंगुलि, लेख आदिको ही ग्रहण किया गया है तथा आगम—शब्दसे श्रुतज्ञान अर्थ लिया गया है।

६ "सुप्तिङन्तं पदम्" १।४।१४—पाणिनिकृत अष्टाध्यायी

वाक्य[1] तथा परस्पर सापेक्ष दो आदि वाक्योंके निरपेक्ष समूहसे महावाक्य[2] का निर्माण होता है। परस्पर सापेक्ष दो आदि महावाक्योंका भी निरपेक्ष समूह हुआ करता है लेकिन वह भी महावाक्य शब्दसे ही व्यवहृत किया जाता है।

इन पांच प्रकारके वचनोंमेंसे व्यवहार अर्थात् प्रयोगमें आने वाले वचन तीन ही हुआ करते हैं पद, वाक्य और महावाक्य। अक्षर और शब्द प्रयोगार्ह नहीं होते हैं और चूंकि वक्ताके हृदयगत पदार्थका बोधक होनेके कारण प्रयोगार्ह वचन ही परार्थश्रुत माना गया है इस लिये परार्थश्रुतको भी पद, वाक्य और महावाक्यरूप ही समझना चाहिये, अक्षर और शब्दरूप नहीं। इन पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पद हमेशा वाक्यका अवयव होकर ही प्रयोगार्ह होता है स्वतंत्र पद कभी भी किसी भी हालतमें प्रयोगार्ह नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वचन-प्रयोग अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये किया जाता है लेकिन स्वतंत्र पद अर्थका प्रतिपादन न करके अर्थके एक अंशका ही प्रतिपादन किया करता है और अर्थके एक अंशका प्रतिपादन कभी भी उपयोगी नहीं हो सकता है। यह एक अनुभवसिद्ध बात भी है कि किसी भी संज्ञापदका प्रयोग किया जावे, उसके साथ कमसे कम एक क्रियापदका तथा किसी भी क्रिया पदका प्रयोग किया जावे, उसके साथ कम से कम एक संज्ञापदका प्रयोग अनिवार्य होता है। अस्तित्व बोधक "है"—क्रियापदके बोलने पर श्रोताके मस्तिष्कमें "क्या है या किसका अस्तित्व है?" यह प्रश्न तब तक चक्कर काटता रहेगा जब तक कि घड़ा, वस्त्र, आदमी आदि किसी संज्ञापदका स्पष्ट उल्लेख न कर दिया जाय अथवा श्रोता अनुकूल बाह्य साधनोंके आधार पर वक्ताके अभिप्रेत अर्थका प्रतिपादक किसी संज्ञापदका खुद आक्षेप न करले। यही समस्या केवल घड़ा, वस्त्र, आदमी आदि संज्ञापदोंके बोलने पर क्रियापदके बारेमें रहती है। इस लिये स्वतंत्र पदको प्रयोगार्ह नहीं माना गया है। वाक्य और महावाक्य का प्रयोग कहीं स्वतंत्र होता है और कहीं किसी महावाक्य के अवयव होकर भी ये दोनों वाक्य और महावाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं। जहां ये स्वतंत्र रूपसे अर्थका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होते हैं वहां इनका प्रयोग स्वतंत्र होता है और जहाँ ये अर्थका प्रतिपादन न करके केवल अर्थके अंशका प्रतिपादन करते हैं वहां ये किसी महावाक्यके अवयव होकर प्रयुक्त किये जाते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पद अर्थके अंशका ही प्रतिपादक होता है और वाक्य तथा महावाक्य कहीं अर्थका और कहीं अर्थके अंश का भी प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार परार्थश्रुत अपने आप दो भेदोंमें विभक्त हो जाता है—एक अर्थका प्रतिपादक परार्थश्रुत और दूसरा अर्थके अंशका प्रतिपादक परार्थश्रुत। इनमेंसे अर्थका प्रतिपादक परार्थश्रुत वाक्य और महावाक्यके भेदसे दो प्रकारका होता है और अर्थके अंशका प्रतिपादक परार्थश्रुत पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे तीन प्रकारका समझना चाहिये। इन्हीं दोनोंकी क्रमसे प्रमाण और नय संज्ञा मानी गयी हैं अर्थात् अर्थका प्रतिपादन करने वाले वाक्य और महावाक्य प्रमाण—कोटिमें और अर्थके अंशका प्रतिपादन करनेवाले पद, वाक्य और महावाक्य नय—कोटिमें अन्तर्भूत होते हैं। क्योंकि प्रमाणको सकलादेशी[3] अर्थात् अनेक धर्मों—अंशोंकी पिंडभूत वस्तुको विषय करने वाला और नयको विकलादेशी[4] अर्थात् अनेक

---

१ "पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्"। —अष्टसहस्री पृष्ठ २८५ पंक्ति १

२ "वाक्योच्चयो महावाक्यम्" (साहित्यदर्पण परिच्छेद २ श्लोक १ का चरण ३) यहां पर "वाक्योच्चयः" पदका विशेषण "योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः" इस श्लोककी टीकामें दिया गया है तब महावाक्यका लक्षण वाक्य इस प्रकार हो जाता है—"परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षसमुदायो महावाक्यम्"।

गोम्मटसार जीवकाँडमें श्रुतज्ञानके जो २० भेद गिनाये हैं इनमें अक्षर, पद और संघात अर्थात् वाक्यके बाद जो भेद गिनाये गये हैं उन सबको महावाक्यमें ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। कारण कि हमने मूलमें स्पष्ट किया है कि वाक्योंके समूहकी तरह महावाक्योंके समूहको भी महावाक्य ही कहते हैं।

३ ४ "·····प्रमाणमनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलमादिशति"····· "नयोधर्ममात्रंवा विकलमादिशति"। (तत्वार्थश्लोकवार्तिकपृष्ठ ११८ पंक्ति १०, ११ "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रकी व्याख्या) समुदायविषयं प्रमाणमवयवविषया नया इति" "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति" —तत्वार्थराज० १—६

धर्मोंकी पिंडभूत वस्तुके एक एक धर्मको विषय करने वाला माना गया है। अथवा यों कह सकते हैं कि जो वचन विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करता है वह प्रमाण और जो वचन विवक्षित अर्थके एक देशका प्रतिपादन करता है वह नय कहलाता है। जैसे, पानीकी ज़रूरत होने पर स्वामी नौकरको आदेश देता है—'पानी लाओ'! नौकर भी इस एक ही वाक्यसे अपने स्वामीके अर्थको समझ कर पानी लानेके लिये चल देता है, इस लिये यह वाक्य प्रमाण-वाक्य कहा जायगा और इस वाक्यमें प्रयुक्त 'पानी' और 'लाओ' ये दोनों पद स्वतंत्ररूपसे अर्थका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हैं, बल्कि अर्थके एक-एक अंशका प्रतिपादन करने वाले हैं, इस लिये इन दोनों पदोंको नय-पद कहेंगे। यहां पर इस बात पर भी ध्यान रखनेकी जरूरत है कि जब तक ये दोनों पद एक वाक्यके अवयव बने रहेंगे तब तक ही नयपद कहे जावेंगे और यदि इनको एक दूसरे पदसे अलग कर दिया जाय तो उस हालतमें ये प्रमाणरूप तो होंगे ही नहीं, क्योंकि ऊपर कहे अनुसार पद प्रमाणरूप नहीं होता है, लेकिन उस स्वतंत्र हालतमें ये दोनों पद नयरूप भी नहीं कहे जावेंगे। कारण कि, अर्थकी अनिश्चितताके सबब ये अर्थके एक अंशका भी उस हालतमें प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

दूसरा उदाहरण महावाक्यका दिया जासकता है; जैसे स्वामी नौकरको आदेश देता है—"लोटा ले जाओ और पानी लाओ" यहां पर विवक्षित अर्थ दो वाक्योंसे प्रकट होता है इसलिये दोनों वाक्योंका समुदायरूप महावाक्य प्रमाणवाक्य कहा जायगा और दोनों वाक्य उसके अवयव होनेके कारण विवक्षित अर्थके एक एक अंशका प्रतिपादन करते हैं इस लिये नयवाक्य कहलावेंगे। यहां पर भी यह बात ध्यान देने लायक है कि जब तक ये दोनों वाक्य एक महावाक्यके अवयव हैं तब तक तो वे नयवाक्य रहेंगे और यदि इन दोनों वाक्योंको एक दूसरे वाक्यसे अलग कर दिया जाय तो उस हालतमें ये प्रमाण वाक्यरूप होजावेंगे क्योंकि वाक्य स्वतंत्ररूपसे भी प्रयोगार्ह होता है जैसा कि इस उदाहरणमें जो वाक्य महावाक्यका अवयव होनेके कारण नय वाक्यरूप से दिखलाया गया है वही पहिले उदाहरणमें स्वतंत्र वाक्य होनेके कारण प्रमाण वाक्यरूपसे दिखलाया गया है।

एक और उदाहरण महावाक्यका देखिये—एक विद्वान किसी एक विषयका प्रतिपादक एक ग्रन्थ लिखता है और उस विषयके भिन्न २ दश अंगोंके प्रतिपादक दश अध्याय या विभाग उस ग्रन्थके कर देता है। यहाँ पर समूचा ग्रंथ तो प्रमाणवाक्य माना जायगा क्योंकि वह विवक्षित विषयका प्रतिपादक है और उसके अंगभूत दशों अध्यायोंको नयवाक्य कोटिमें लिया जायगा; क्योंकि वे विवक्षित विषयके एक एक अंशका प्रतिपादन करते हैं। यहां पर भी जब तक ये दश अध्याय ग्रन्थके अवयव रहेंगे तब तक नयवाक्य कहलावेंगे और यदि उन्हें अपने २ विषयका प्रतिपादन करने वाले स्वतंत्र-ग्रंथसे पृथक्-मान लिये जायँ तो उस हालतमें ये दशों अध्याय अलग २ प्रमाणवाक्य कहलाने लगेंगे।

ज्ञान अपने आपमें एक अखंड वस्तु है, इसलिये ज्ञान-रूप स्वार्थप्रमाणमें नयका विभाग संभव नहीं है। यही सबब है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन चारों ज्ञानोंको प्रमाणरूप ही माना गया है—नयरूप नहीं। लेकिन स्वार्थप्रमाणभूत श्रुतज्ञानमें चूंकि वाक्य और महावाक्यरूप परार्थप्रमाणको कारण माना गया है। इसलिये परार्थप्रमाणमें बतलाई गयी नय व्यवस्थाकी अपेक्षा स्वार्थश्रुतप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें भी नय-परिकल्पना संभव है। अतः विवक्षित पदार्थके अंशका प्रतिपादन करने वाले, वाक्य और महावाक्यके अवयवस्वरूप पद, वाक्य और महावाक्य द्वारा श्रोताको जो अर्थके अंशका ज्ञान होता है वही नय कहलायेगा। इस तरह परार्थश्रुतके समान स्वार्थश्रुतको भी प्रमाण और नयके भेदसे दो प्रकार का समझना चाहिये।

(क्रमशः)

हमारी विभूतियाँ

जैन-जागरणके दादा भाई बाबू सूरजभान

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

[हमारे समाजमें इस समय भी ऐसे साहित्य-सेवी, दार्शनिक, लेखक, कवि, दानवीर, धर्मवीर, कर्मवीर, देशभक्त और लोकसेवक विद्यमान हैं, जिनपर हमें क्या समाजको अभिमान हो सकता है। 'अनेकान्त' के इस स्तम्भके अन्तर्गत ऐसी ही कुछ विभूतियोंका संक्षिप्त परिचय देनेका आयोजन किया गया है। —सम्पादक]

हमारे चिर अतीतमें, जीवनकी एक विषम उलझनमें फँसे, संस्कृतके कविने दुखी होकर कहा था—

"जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः !
जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः !"

धर्मको मैं जानता तो हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है ! अधर्मको भी मैं जानता हूँ, पर हाय, उससे मैं बच नहीं पाता !

जीवनकी यह स्थिति बड़ी विकट है। अचानक गिरना सरल है, जानकर गिरना कठिन, जानकर और फिर रुकनेकी इच्छा रहते ! भूलसे गिरनेमें शरीरकी क्षति है, जानकर गिरनेमें आत्माका हनन है। हमारा समाज आज इसी आत्म-हननकी स्थितिमें जी रहा है। कौन नहीं जानता कि स्त्रियोंको पर्देमें रखना, अपनी वंशवेलि पर हल्का तेजाब छिड़कना है ! विवाहकी आजकी प्रथा किसे सुखकर है ? और संक्षेपमें हमारा आजका जीवन किसे पसन्द है ? हम आज जिस चक्रमें उलझे घूम रहे हैं, उसे तोड़ना चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते !

परम्पराके पक्षमें एक बहुत बड़ी दलील है, उसकी गति। परम्परा बुरी है या भली चलती रही है, उस के लिये किसी उद्योगकी ज़रूरत नहीं है। कौन उससे लड़ कर उद्योग करे, नया झगड़ा मोल ले। फिर हम समाज-जीवी हैं। जब सारा समाज एक परम्परामें चल रहा है, तो वह इकला कौन है, जो सबसे पहिले विद्रोहका झण्डा खड़ा करे, नक्कू बने ?

अच्छा, कोई हिम्मत करे, नक्कू बननेको भी तैयार हो चले, तो उसके भीतर एक हड़कम्प उठ आता है—लोग क्या कहेंगे ? और ये लोग ? जिन्हें सहीको गलत कहनेकी मास्टरी हासिल है और जो नारदके खानदानी एवं मन्थराके भाईबहन हैं, ऐसा बवण्डर खड़ा करेंगे, सत्यके विरुद्ध ऐसा मोर्चा बाँधेंगे कि यहीं प्रलयका नज़ारा दिखाई देगा।

चलो, इस मोर्चेसे भी लड़ेंगे ! असत्यका मोर्चा, सत्यके सिपाहीको लड़ना ही चाहिये, पर चारों ओरके ये समझदार साथी जो घेर बैठे—"हाँ हाँ, बात तुम्हारी ही ठीक है, पर तुम्हीं क्यों अगुवा बनते हो। इकला चना भाड़को नहीं फोड़ सकता ! इन सब बुराइयोंको तो समय ही ठीक करेगा। याद नहीं, रामूने सिर उठाया, बिरादरीके पंचोंने उसे कुचल दिया। फिर तुम्हीं तो सारे समाजके ठेकेदार नहीं हो। बड़ों से जो बात चली आरही है, उसमें जरूर कुछ सार है। तुम्हीं कुछ अक्लके पुतले नहीं हो—समाजमें और भी विद्वान हैं। चलो, अपना काम देखो, किस झगड़ेमें पड़े जी !"

विचारका दीपक भीतर जल रहा है, धुँधला-सा, नन्हा-सा, टिमटिमाता। तेल उसमें कोई नहीं डालता, उसे बुझानेको हरेककी फूंक बेचैन है। दीपकमें गरमी है, वह जीवनके लिये संघर्ष करता है, उसकी लौ टिमटिमाती है, ठहर जाती है, पर अन्तमें निराशा का झोंका आता है, वह बुझ जाता है। पता नहीं, हमारे समाजमें रोज तरुण-हृदयोंमें विचारोंके दीपक कितने जलते हैं और यों ही बुझ जाते हैं। काश, वे सब जलते रह पाते, तो आज हमारा समाज दीपमालिकाकी तरह जगमग जगमग दिखाई देता।

सुना है, हाँ, देखा भी है, दीपक हवाके झोंकेसे बुझ जाता है, हवा नहीं चाहती कि प्रदीप जले, दोनों में शत्रुता है; पर वनमें ज्वाला जलती है, तो आँधी ही उसे चारों ओर फैलाकर कृतार्थ होती है, दोनोंमें

अभिन्न मित्रता है। बा० सूरजभान एक ज्वालाकी तरह, अपनी तरुणाईकी मदभरी अंगड़ाइयोंमें, समाज के अँधेरे आँगनमें उभरे। विरोधकी आन्धियाँ उठीं, घहराईं, पर वे दीपक न थे, कि बुझ जाते, अज्ञानके दारुण दर्पको दहते, चारों ओर फैल गये। भारी लक्कड़के बोझसे दब, छोटी चिनगारी बुझ जाती है, पर होलीकी लपट, इन्हीं लक्कड़ोंकी सीढ़योंपरसे चढ़ आसमानके गले लगती है। पता नहीं, जब बाबू जी जन्मे, किस ज्योतिषीने उनकी भावीका लेख पढ़ा और उस सुकुमार शिशुको यह जलता नाम दिया—सूर्य की तरह वे अन्धेरेमें उगे और उसे छिन्न-भिन्नकर आसमानमें आ चमके! इन सब परिस्थितियोंका हम अध्ययन न करें, अपने मनमें विरोधकी आन्धियोंक झकोरोंका बल न तोल पायें, तो देवताकी तरह हम बाबू सूरजभानकी मूर्तिपूजा भले ही करलें, उनके कार्योंका महत्व नहीं समझ सकते। तब उनके कार्य हमारे उत्सव-गीतोंमें स्वर भले ही भरें, हमारे अन्धेरे अंतर का आलोक और टूटे घुटनोंका बल नहीं हो पाते! ऐसा हम कब चाहेंगे?

तब आजकी तरह हरेक दफ्तरपर 'नो वेकेंसी' की पाटी नहीं टँगी थी, वे चाहते तो आसानीसे डिप्टी-कलक्टर हो सकते थे, पर नौकरी उन्हें अभीष्ट न थी, वे वकील बने और थोड़े ही दिनोंमें देवबंदके सीनियर वकील होगये। वकीलकी पूंजी है वाचालता और सफलताकी कसौटी है झूठ पर सचकी सुनहरी पालिश करनेकी क्षमता। और बाबू सूरजभान एक सफल वकील, मूक साधना जिनकी रुचि और सत्य जिन की आत्माका सम्बल! काबेमें कुफ्र हो, न हो, यहाँ मयखानेसे एक पैगम्बर जरूर निकला।

बाबू सूरजभान वकील; अपने मुवक्किलोंके मुकदमे तो उन्होंने थोड़े ही दिन लड़े—वे कचहरियाँ उनके लायक ही न थीं—पर वकील वे जीवन भर रहे, आज ७४ वर्षके बुढापेमें भी वे वकील हैं और रात दिन मुकदमे लड़ते हैं; न्यायकी अदालतमें, खोजकी हाईकोर्टमें, असत्यके विरुद्ध सत्यके मुकदमे। संस्कृति की सम्पदा पर कुरीतियोंके कब्जेके विरुद्ध वे बराबर जिरह और बहस करते रहे हैं और सच यह है कि इन मुकदमोंकी कहानी ही, इस नररत्नका जीवनचरित्र है।

प्रेसका तब आविष्कार न हुआ था और पुस्तकें आजकी तरह सुलभ न थीं। बड़े यत्नसे लोग पुस्तकें लिखवाते और बड़े प्रयत्नसे उन्हें रखते थे। साम्प्रदायिक वातावरणकी व्यामोहकशानने इस प्रयत्नमें एक रहस्यभरी निगूढ़ताकी सृष्टि करदी थी और इस प्रकार पुस्तकें दर्शनीय न होकर, पूजनीय हो चलीं थीं। रत्नों की तरह वे छिपाकर रखने और कभी कभी पर्व-त्यौहारोंपर समारोहके साथ दिखानेकी चीज़ बन गई थी। आज हम भले ही इसपर एक कहाका मारें, उस युगमें पुस्तकोंके प्रति यह आत्मीय श्रद्धा न होती, तो हमारे इतिहासकी तरह, हमारा साहित्य भी आज अप्राप्य होता! युग युग तक लोगोंने युद्धके रहस्योंकी तरह पुस्तकोंको अपने प्राणोंमें सँजोकर रक्खा है।

समयके प्रवाहकी सीढियों परसे उतरते उतरते संस्कृत हिन्दी बन गई, तो इसमें क्या आश्चर्य कि प्रयत्नकी इस घनताने अन्धश्रद्धाका रूप धारण कर लिया!!! समयने करवट बदली, प्रेसकी सृष्टि हुई, युगने उन पुस्तकोंके प्रचार-प्रकाशनकी माँग की, पर युगकी माँग हरेक सुनले, तो महापुरुषोंकी पूजाका अवसर जातियोंको कहाँ मिले? जैन समाजमें प्रायः सबसे पहले बाबू सूरजभानने युगकी यह माँग सुनी और जैन शास्त्रोंके छपानेकी आवाज उठाई! युगने अपने इस तेजस्वी पुत्रकी ओर चावसे देखा, पर अन्धश्रद्धाने उनके कार्यको धर्मद्रोह घोषित किया, शास्त्रोंकी निगूढताके पक्षमें युग युगसे संचित समाज की कोमल भावनापर एक हथौड़ासा पड़ा और युद्ध के लिये समाजको उभारकर वह सामने ले आई। धर्म का सैनिक शैतानका अग्रदूत घोषित किया गया, पर लाँछनोंसे लचा, तो सुधारक क्या? उन्हें मार डालने की धमकियाँ दी गईं, वे मुस्कराये। उनके प्रेसमें बम रक्खा गया, तो वे हँसे। धर्मके पुजारी क्रोधकी घृणा से उन्मत्त होरहे थे और 'अधर्म' का सिपहसालार था शान्त, प्रसन्न, प्रेमपूर्ण! पृथ्वीपर युगदेवता और आकाशमें भगवान हँस रहे थे। ज्ञान विजयी रहा,

अन्धश्रद्धा पराजित हुई—आज उन विरोधियोंके वंशधर छपे हुए "शास्तरजी" का पाठकर कृतार्थ होरहे हैं।

एक वाक्यमें बाबू सूरजभानका स्कैच है—अंधेरा देखते ही दिया जलानेको तैयार ! उन्होंने अंधेरा देखा और दीपक संजोने चले। अन्धेरा, अज्ञानका, अन्यायका और दीपक ज्ञानका, सुधारका। उन्होंने व्याख्यान दिये, लेख लिखे, पुस्तकें तैयार कीं और संस्थाएं खोलीं, पर सबका उद्देश्य एक है, अन्धेरेके विरुद्ध युद्ध ! वे अनथक योद्धा हैं। न थकना ही जैसे उनका 'मोटो' हो। इस बुढ़ापेमें भी वीर-सेवा-मन्दिर (सरसावा, सहारनपुर) में जाकर रहे, दो घण्टे कन्या पाठशालाके अध्यापक, दो घण्टे शास्त्रस्वाध्यायके पण्डितजी, और ४-६ घण्टे गम्भीर अध्ययन और अपनी खोजोंपर लेख, यह एक ७२ वर्षके वृद्धकी वहाँ दिनचर्या थी।

भारतकी नवीन राजनीतिमें दादा भाई नौरोजी और हिन्दी गद्यके नवविकासमें प्रेमचन्दका जो स्थान है, जैन समाजकी नवचेतनाके इतिहासमें वही स्थान बाबू सूरजभामका है। जैन समाजके वे ईश्वरचन्द्र हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर अजैन समाजकी कौन कहे, जैन समाजमें ही लोग उन्हें ठीक २ नहीं जान पाये। क्यों ? उन्होंने जान बूझकर, अपनेको प्रसिद्धिसे बचाया। जैन संस्थाओंके वे आदिसंस्थापक, पर संस्था बन गई, चल गई और दूसरोंको सौंप दी। किसी संस्थाके साथ उन्होंने अपनेको नहीं बाँधा। हमारे देशमें धर्मसुधारक आगे चलकर एक नये धर्मके संस्थापक होजाते हैं। बाबू सूरजभानने अपनेको इस महन्ताईसे, नेतागिरीसे सदा बचाया और महिमाके माधुर्यमें निन्दाका नमकान ही सदा उन्हें रुचिकर रहा। हम मरनेके बाद भी जीनेके लिये पत्थरोंपर नाम खुदानेको बेचैन हैं, उन्होंने जीतेजी ही अपनेको बेनाम रहकर जैसे अमरत्वका रस लिया।

यह अपरिग्रह, यह अलगाव, अपना श्रेय दूसरोंको बाँटनेकी यह वृत्ति ही बाबू सूरजभान है। वे महान हैं और सदैव इतिहासके एक पृष्ठकी तरह महान रहेंगे, पर जैनसमाज संगठितरूपसे उनकी अब हीरक जयन्ती मनाए, इसीमें उसकी शोभा है। यह उत्सव उनकी जीवनी शक्तिका प्रमाण हो और बाबू सूरजभानके बोए और अपने रक्तसे सींचे सुधार-बीजोंकी प्रदर्शिनी भी, यह आजके युगकी माँग है। क्या हम इसे सुनेंगे !

कहानी

माधव मोहन

(ले०—आचार्य पं० जगदीशचंद्र)

(१)

माधवको कालेज छोड़ते ही घरकी चिन्ताओंने आ घेरा। एम० ए० की कठिन पाठ्य-प्रणालीमें परिश्रम करते २ माधवके मस्तिष्ककी नसें ढीली होगई थीं। सारा वीर्य, सारा ओज, मैथमेटिक्स और जामेट्रीकी टेढ़ी-मेढ़ी लाइनोंको क्रमबद्ध करनेमें ही समाप्त हो चुका था। आज बड़ी कठिनतासे बेचारे ग़रीबने, अनेक दुर्बलताओंके साथ साथ एक कागज के नन्हेंसे टुकड़ेपर अपनी अगाध विद्वत्ताका प्रमाण-पत्र प्राप्त किया था।

उसने सोचा था कि अब जीवनकी कठिनाइयाँ पार कर चुका हूँ—शीघ्र ही किसी उच्च पदपर जा बैठूँगा, फिर स्वास्थ्य और प्रतिष्ठाके साथ साथ रुपयों के ढेर के ढेर मेरे चरणोंमें लुढ़का करेंगे।

किन्तु लगभग दो वर्ष तक घरके आँगनमें प्रतीक्षा करनेके बाद भी जब भाग्यानुमान सत्य न हुआ तो घरवालोंने उसे परेशान कर डाला। उसके विशाल मस्तिष्कमें कुछ दिन तक यह समाया ही नहीं; कि घरवाले क्यों मेरे पीछे पड़े हैं?

ग्रामीण पिता जब उसके पास आकर बैठते तब अपनी बेबसी और तंगदस्तीके वर्णनमें ही अपनी ममताका व्याख्यान करते।

माधवका मन इन बेमतलबकी बातोंसे ऊब जाता। अन्ततः यह सोचकर कि पिताजी दो चार संस्कृतके श्लोक रटकर किसी प्रकार अपना धंधा चला रहे हैं। उन्हें एम० ए० की फिलास्फीका क्या ज्ञान, अपनी अधीरता छुपानी पड़ती।

\+ \+ \+

बरसातकी हवा, झंझाके झटकोंकी भाँति, ग्राम्य पादपोंको झकझोर कर रही थी। ऊँचे आसमानसे पृथ्वीकी असीम करुणा संचित होकर मेघ मालाके मिस जोर जोरसे बरस रही थी। सभी दुबक कर घरमें बैठे थे। किन्तु माधवके पिता पं० बालकराम को आज भी चैन नहीं था। उन्होंने माधवकी माँ दुर्गाको पुकार कर कहा—अजी सुनती हो न? तुम्हारे लल्लाको तो रैनाल्ड और गोटेकी काव्य-नायिकाओंके अंगन्यासमें फिलोस्फीकी गवेषणा करते २ घोरनिद्रा आ गई है। और उसीमें यह सारा कुटुम्ब अपनी असीम दरिद्रता लेकर जा छुपा है! जरा मेरी पोथी-पत्रा तो निकाल ला दो मुझसे तो इस प्रलयमें भी शान्तिपूर्वक बैठा न जा सकेगा।

दुर्गाका मन पतिकी कातरतापर सौ २ बार वलि होने लगा। उसने कहा—माधव तो सुशिक्षित है, जरा उसे भली भाँति चेता दीजिये। उसके साधारण परिश्रमसे ही आपको निश्चिन्तता मिल सकेगी।

मेरे बशका रोग है नहीं रानी! तुम्हीं कर देखो, मैं तो कह सुनकर हार गया।

दुर्गाने दुलारसे कहा—आज न जानेसे भी काम चल सकेगा? चल सकेगा कैसे, मेरी भाग्यलक्ष्मी! जानती हो सेठजी कितने कृपालु हैं; उनकी आज्ञा उल्लंघन करनेसे पहिले तो इस भारी कुटुम्बको विष दे देना होगा।

दुखी हृदयसे दुर्गाने पंडितजीका पोथी पत्रा दे दिया। बूढ़े बालकराम दारिद्र पीड़ाके आवेशमें तूफान सरीखे हवा पानीसे टकराते हुए अग्रसर हुए।

(२)

मोहन, माधवकी छोटी श्रेणीमें सहपाठी रहा था। किन्तु बीच हीमें उसने पराधीन देशकी शिक्षाको जीवनोपयोगी न जानकर मस्तक नवा दिया था। माधवके कालेजमें प्रवेश करते ही उसने थोड़ी सी पूँजीसे एक गौ शाला स्थापित कर दी थी। दो तीन साल लगातार नुकसान उठाकर भी अपने धैर्य और परिश्रमके बलपर उसने उसे एक बृहत्तर रूप दे दिया था। उसकी गौशालामें आज कल २०० गाएँ और १५० भैंसें थी। इलाहाबाद जैसे विशाल नगरमें उस के दूधकी खपत इतनी थी कि प्रतिदिन उसपर दूधकी माँग बनी ही रहती थी। स्वच्छ, जलविहीन दूध और

खेतीके लिए अच्छे नस्लके बैल जनताको देकर वह जनताके प्रेम और धन दोनोंका उपयोग कर रहा था। वह उच्च शिक्षित न था। उसके दिमागको गणितका सूक्ष्म विवेचन, फिलास्फीका अगाध पाण्डित्य छू न गया था। किन्तु इस साधारणसे व्यवसायमें उसे नयी नयी बातें सूझती थीं। वह कहा करता यदि देशके धनी—जमींदार इस प्राचीन व्यवसायको अपनालें तो देशके धन और स्वास्थ्य दोनों हीमें आशातीत वृद्धि हो। उसके पिता प्रारम्भमें तो उसके पागलपनपर उदासीन रहे, किन्तु जब मोहनने अपने अटूट परिश्रमसे गोशालाके लाभोंको उनके सन्मुख कार्यरूपमें उपस्थित कर दिया तो वह तन, मन, धनसे उसकी उन्नतिमें दत्तचित्त हो गए। सारा परिवार मोहनकी गौशाला पर रीझ रहा था। दोनों समय गौशालाकी सेवा, अमृत समान स्वच्छ दूधका भरपेट भोजन और उसके साथ ही धर्म और धनका बहुलाभ ?

माधव मोहन कुछ दिनों तक एक साथ रहे थे। किन्तु इस अवकाश विहीन कारबारमें फँसे रहनेके कारण मोहनको माधवसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, इस बार जब उसने सुना कि उसका पुराना सहपाठी माधव सम्मान सहित दर्शन शास्त्रकी उच्च परीक्षामें उत्तीर्ण होकर लौटा है, तबसे उससे मिलने की उत्कण्ठा दिनोदिन तीव्र हो रही थी। किन्तु जब २ उसने जाना चाहा तब तब कोई न कोई बाधा उपस्थित होती ही रही। इस बार जबकि उसके पिताने गोरखपुर जैसे सुन्दर प्रदेशमें एक शाखा उपस्थित कर दी थी। माधवके परामर्शसे लाभ उठानेकी मोहनकी कामना प्रबल होगई थी। किन्तु माधव सरीखे बहुश्रुत विद्वानको अपने पुराने सहयोगीकी स्मृतिको सुरक्षित रहनेका अवकाश मिला होगा? यह संशयपूर्ण जिज्ञासा उसे डाँवाडोल कर देती थी। इसीसे साहस कर भी वह माधवके पास न जा सका था।

(३)

खुली हुई छतपर बैठी हुई दुर्गाने कहा—ओ लक्ष्मी बहू! जरा इधर सुन देख! तेरे माधव ही पर तो सारा कुटुम्ब आँख लगाए बैठा है। उसका पढ़ा लिखा कब काम आयेगा। तुम्हारे बूढ़े ससुर तो दो दिनके मेहमान हैं, उनका क्या भरोसा। फिर भी तो कुछ करना ही पड़ेगा, उनके जीते जी यदि माधव कुछ करने लगे तो उनका अंतिम समय संतोषसे बीत जाये।

लक्ष्मीपर सौ घड़े पानी ढल गया। सासकी कटूक्तियें तीरकी तरह उसका हृदय बेधने लगीं उसकी आँखें छलछला आईं। उसने कहा— मैं कब मना करती हूँ अम्मा जी! कि तुम कोई काम न करो।

गुस्सा न करो बहू रानी— दुर्गाने कहा—तुम उस पिताके कष्टको जान सकती हो। जिसने जीवन भर पेट काट कर, मोटा पहिन कर, अपने पुत्रको सुखी बनानेमें ही अपने प्राण लगा दिये हों। और फिर उसके अन्तिम समयमें समर्थ होकर भी वह आलसी बना, घरमें दुबककर पुस्तकोंके पन्ने ही पलटता रहे और उसका वह पिता पेटकी पीड़ासे दर दर भटकता फिरे।

लक्ष्मीकी आँखें भर आईं। रोते २ उसने कहा— अम्माजी! मैं ही अभागिनी हूँ, आपकी बातें सुनने के पहिले मैं मर क्यों न गई।

दुर्गा बोली—नहीं बेटी, तुम्हारा क्या दोष? यह तो सब मेरे ही भाग्यका फल है।

दुर्गा चली गई, लक्ष्मी बहू खुली छतके ऊपर फैली हुई उज्वल चाँदनी पर दृष्टि गड़ाकर सोचने लगी।

माधवने आकर देखा, आज बहू रानी चुपचाप आकाशसे उतरती हुई तरल वीचियोंमें भटक गई हैं। उसने जरा पास जाकर नागिनकी तरह बल खाई हुई बहूरानीकी जुल्फोंको मृदु-मंजु कपोलों पर सीधी कर दिया। किन्तु बहू रानीके भावोंमें जरा भी ऊँच-नीच न देख माधवने उसके दोनों कोमल कर भी उसकी सीमित उरस्थलीपर सटाकर छोड़ दिये।

बहू रानी मानों आज थी ही नहीं। माधवकी मौन साधना दीवार सी ढह पड़ी।

उसने कहा—उफ? इतना मान.....................

बहू रानीको आज यह अच्छा नहीं लग रहा था। उसने कहा—जाने दो—तुम्हें सब समय ऐसे ही

उत्पातकी बात सूझनी है।

—क्या अच्छा नहीं हुआ ?

नहीं ! इस सत्य और स्पष्टोक्ति पर अपराधीकी नाईं माधवने कहा—क्या कहूँ बहू रानी बहुत सोचता हूँ तुम्हारी ही तरह मुँह फुलाकर सुदूर एकान्तमें जा बैठूं पर उसमें भी तो सफल नहीं होता।

—तुम जैसे आलसियोंसे क्या कुछ हो सकेगा, बहू रानी ने कहा—

—इसमें भी तो रानी, तुम्हीं बाधक हो। तुम्हें देखकर ही तो भयके मारे मेरा सारा संयम, सारा मान अतीत बनकर आँखोंसे दूर हो जाता है और वर्तमान ... बस आगे नहीं कहता—नाराज हो जाओगी।

जिसने दूसरोंके सन्मुख हाथ पसारकर भी, अपना गौरव अक्षुण्ण समझा हो, या जिसे पढ़ लिखकर भी अपने आत्म सम्मानका तथा अपने माता पिताकी दीनदशाका ध्यान न आता हो उसे दूसरोंकी नाराजगी की इतनी चिन्ता ?

—बहू रानी ! मामला बेढब है, क्या अम्माजीने कुछ बुरा भला कहा है ?

—यदि कहा हो तो क्या तुम उसका प्रतिकार करोगे ?

यदि कर सका—

—तो मनोभिलाषित वरदान !

—यदि न कर सका !

—तो तुम्हारा यह घर बार छोड़कर चली जाऊँगी।

—कहाँ पर।

जहाँपर तुम्हारे जैसे अकर्मण्योंका वास न होगा—कहकर बहू रानीको अपनी सीमा उल्लंघन करनेका ध्यान हो आया।

माधव ढीठ बहूका मुख देखने लगा—किन्तु उस कटु वचनमें जो सत्यता थी वह उसके सामने आकर कहने लगी बहू जो कुछ कह रही है वह ठीक है तुमने इतना जानकर भी माता पिता तथा स्त्रीकी आवश्यकताओंको न समझा।

(४)

जिन्हें कभी गृहस्वामिनीकी प्रसन्नतासे वास्ता पड़ा हो और साथ ही साथ धनहीन परिवारके आर्थिक संकटोंकी सतत् चिन्तामें निरत रहनेका अवसर मिला हो उन्हें माधवकी बेबसीका परिचय होगा। घरवालों की दृष्टिमें वह आलसी था और अकर्मण्य ! किन्तु सचमुच ऐसा न था। लीडर (Leader) के मुखपृष्ठ पर छपी हुई कमसे कम वेतनकी वान्ट (want) पर वह अविलम्ब जानेको तैयार रहता था किन्तु दुर्भाग्य को कुछ सुहाता न था ! इन दिनों कितने घरोंमें बड़ी बड़ी आशायें हृदयमें भरकर उसे जाना पड़ा था, और न जाने कितने धनिकोंके सन्मुख याञ्चाका अकरुण नीरव रोदन हृदयमें भर उपस्थित होना पड़ा, कितने दफ्तरोंमें, कितनी अदालतोंमें, कितने विद्यालयोंमें अपनी दरिद्र परिस्थितिका वर्णन करते २ उस की आँखोंसे पानी बह चला, किन्तु कहीं भी एक कुर्सी भर जगह उसे शान्तिसे बैठनेके लिए नसीब नहीं हुई। अभावका अवांछनीय दया भाव सब जगह ही शिष्ट निषेधके साथ उपस्थित होता रहा।

घोर चिन्ता और आहार विहारकी अव्यवस्थाने उसके स्वास्थ्य को और भी डावाँडोल कर दिया था। अब विशेष प्रतीक्षा या सन्धान करनेकी शक्ति उसमें शेष न रह गयी थी—मोहनकी डेयरीका नाम उससे छिपा हुआ न था—उस उद्योगकी सफलता पर 'लीडर' के कालमके कालम रंगे जारहे थे। अन्ततः हारकर उस डेयरीमें ही क्लर्की करनेमें ही उसने निश्चय किया और दूसरे ही दिन वह गोरखपुरको रवाना हो गया। स्टेशन पर ही कर्मचारीगण उपस्थित थे। एक अवैतनिक प्रधान कर्मचारीने यह कहते हुए उसे डेयरीका कार्यभार सौंप दिया कि यद्यपि आपकी दरखास्त एक क्लर्क-पदके लिये प्राप्त हुई थी, किन्तु डेयरीने यही उचित समझा कि उस पदपर रहकर आप डेयरीकी उन्नतिमें विशेष साहाय्य न दे सकेंगे। अतः इस शाखाका सारा प्रबन्ध आपके सुपुर्द किया जाता है। आजसे आप इसके प्रधान मैनेजर नियुक्त हुए। इस कार्यको उत्तरोत्तर उन्नत करना ही आपका ध्येय होना चाहिये। वेतन यद्यपि बहुत कम है तथापि इसे आप स्वीकार कीजिये—पेशगी दे देनेकी हमारी विशेष प्रथा है यह कहकर एक सौ दस रुपये के नोट माधवके हाथमें

पकड़ा दिये गये।

क्षणभर माधव इस अद्भुत व्यापार और आश्चर्यजनक नियुक्ति पर चकित होकर रह गया।

(५)

माधवको डेयरीका कार्य सम्भाले लगभग दो वर्ष होगए। उसने अपनी योग्यताका अच्छा परिचय दिया। उसके रहते डेयरीके सभी काम उन्नत होगए। पशुओंके स्वास्थ्यका उसने विशेष प्रबन्ध किया। विदेशी वैज्ञानिक उपायोंसे दूधके विभिन्न लाभप्रद मिश्रण निर्माणकर उसने आशासे अधिक मुनाफा कर दिखाया था—उसके नम्र व्यवहारसे सभी कर्मचारी प्रसन्न थे और पशु जिनपर उसे अगाध ममता थी, उससे स्नेह रखने लगे थे।

दोनों समय वह स्वयं अपने सामने उनके चारे और दानेकी देखभाल किया करता था। वह भी अत्यन्त प्रसन्न था, किन्तु इतने लंबे समयमें भी हव सज्जन जिन्होंने उसके आर्थिक संकटका निराकरण कर असीम उदारताका परिचय दिया था, फिर कभी उस के पास न आये और न उसे बुलाया। मोहनने कितनी ही बार उनसे मिलनेकी चेष्टायें कीं; किन्तु सब विफल!

भारी उपकारसे उसकी आत्मा दबी हुई थी। मोहनसे साक्षात कर धन्यवाद देनेकी अभिलाषा इसी से दिन २ बढ़ी जा रही थी। मोहनकी इस उपेक्षाका उसकी समझमें कोई अर्थ न लगता था। यह आकांक्षा कभी २ इतनी तीव्रतासे जाग उठती थी कि उसे अपने इस सम्माननीय पदसे घृणा होने लगती थी। वह मोहनकी इस विरक्तिका अर्थ कभी २ असीम उदारता और कभी अकारण निस्पृहता लगानेके लिए बाध्य हो जाया करता था। माधवके सभी विचारात्मक प्रश्न जो डेयरीसे सम्बन्ध रखते थे, पत्रद्वारा तय हो जाते थे, कितनी बार जब उसने आग्रह पूर्वक लिखा कि मालिकको अपने कारोबारको एकदम किसी अनजान के हाथोंमें छोड़कर निश्चिन्त होजाना कभी २ भयानक विपत्ति ला देता है, अतः मेरा सामह अनुरोध है कि एक बार मेरे सामने आकर डेयरीका निरीक्षण कर लीजिये।

किन्तु इस विशेष आग्रहको मोहन यह कर कि तुम जैसे कुशल पण्डितको पाकर भी डेयरीको यदि मेरी आवश्यकता रही तो इससे विशेष मेरे दुःखका कारण और क्या हो सकता है, टाल देता।

माधवसे मोहनकी कृपाका स्नेहमय धन्यवाद देनेका अवकाश ज्यों २ दूर होता रहा, त्यों २ उसकी उद्विग्नता बढ़ती ही रही। अन्ततः एक दिन ऐसा आगया कि वह उस आकांक्षाको किसी तरह भी दबा न सका और उसी आवेशमें उसने कुछ सोच कर मैनेजरके पदसे त्यागपत्र दे दिया। माधवने सोचा था कि त्यागपत्रके पाते ही मोहन दौड़ आयेगा। किन्तु यह देखकर उसके दुःखकी सीमा न रही कि त्यागपत्र स्वीकृत होगया और मोहनसे मिलनेकी भविष्यमें आशा भी न रही।

आज उसे डेयरी छोड़ते हुए कठोर मानसिक पीड़ा अनुभव हुई। नीचेके कर्मचारी और डेयरीके मूक पशुओंमें उसका स्नेहपाश बिखर पड़ा था। उस को समेटकर चले आना उसे दुःखजनक ही नहीं किन्तु अपमान-जनक भी प्रतीत होने लगा। क्या उस के दो वर्षके कठिन परिश्रमका यही मूल्य था? एक बार क्या यह भी जाननेकी अभिलाषा निर्मोही मोहन के अन्तःकरणमें नहीं उपजी कि इस त्यागपत्रका मूल कारण क्या है?

× × ×

गाड़ीका समय निकट आने लगा, किन्तु मोहनके आनेकी कोई आशा न रही। माधव निराशचित्तसे घर चला गया। सप्ताह पर सप्ताह बीतने लगे। किन्तु, मोहनसे मिलनेकी अभिलाषा अभी भी बनी हुई थी। डेयरीका ध्यान रह रहकर उसे सताने लगा। उन मूक पशुओंकी स्नेह स्मृतियाँ अन्तरके प्रदेशसे उछल २ कर कभी २ उसे बेचैन कर देती थीं।

मोहनकी डेयरीमें रहकर उसने वाणिज्यकी महिमा जान ली थी। उस व्यवसायमें उसका मन भी खूब लगा था। इसलिये शिक्षाप्रदत्त ज्ञानकी शक्तियाँ

अपना सदुपयोग कर डेयरीके संग्राममें विजयोल्लाससे चमत्कृत हो उठी थीं। परन्तु, दुर्भाग्यने वहाँ भी साथ न छोड़ा।

अब बहूरानीके सद् परामर्षसे माधवने भी थोड़ी सी पूंजी लेकर इसी व्यवसायको अपनानेकी बात सोचली थी।

दोपहरका समय था। भोजनके उपरान्त भावी जीवनकी बातोंको लेकर बहूरानी और माधव दोनों ही व्यस्त होरहे थे।—ठीक उसी समय एक अनजान आदमीने एक लम्बा लिफाफा सामने पटक कर दोनों को चकित कर दिया।

आदमी लौट गया। माधवकी आँखें उसपर पड़ गईं। चेहरेपर कुछ अनजान भावोंने आकर स्नेह मिश्रित दीनताके भाव अभिव्यक्त कर दिये। शरीर हर्ष और कृपाके भारसे शिथिल होने लगा। बहू रानी मौन थी, किन्तु अब उससे कौतुहल दबाया न गया— उसने माधवके आगेसे पत्र खींच लिया। उसमें लिखा था—

गोरखपुर

परम स्नेहास्पद माधव, नमस्कार !

यकायक तुम्हारा त्यागपत्र पाकर मैं हर्षसे उछल पड़ा। तुम जैसे बहुश्रुत विद्वानको तुच्छ वेतनपर रख कर मुझसे एक अक्षम्य अपराध होगया था, जिसका निराकरण तुमने स्वयं ही कर दिया। मैं तुम्हारा प्राचय साध्यायी हूँ। तुममें सदासे मेरी अगाध श्रद्धा रही है। मालिक के रूपमें तुम्हारे सन्मुख उपस्थित होनेमें मुझे महान संकोच होता था। किन्तु, फिर भी निर्लज्ज होकर व्यापारी होनेके कारण तुम्हारे जैसे सहृदय सच्चे मित्रकी कार्यप्रणाली जांचनेके लिये अवैतनिक मन्त्रीके रूपमें तुम्हारे पास ही रहना पड़ा है। तुम्हें क्या मालूम, जिस समय तुम माहवारी हिसाब, चिट्ठियाँ और नये २ उपायोंकी स्वीकृति लेने मेरे पास आकर अपने मधुर शब्दोंमें डेयरीके भविष्यकी कल्पनाके चित्र खींचा करते थे, मेरा हृदय तुम्हारे चरणोंमें लोटनेके लिये कितना व्यग्र होजाता था किन्तु, फिर भी अपनेको सावधान कर आपकी बातें सुनता तथा आपके मधुर दर्शनसे अनन्त संतुष्टी प्राप्त करता रहा। अस्तु !

तुम्हारे सहवाससे (जो यद्यपि तुम पर प्रगट नहीं था) यदि मैं भूल नहीं करता तो मैं यह कहनेकी धृष्टता करता हूँ कि डेयरी का कार्यक्रम तुम्हें पसन्द है और उससे तुम्हें अधिक स्नेह भी है। अतः गोरखपुरवाली डेयरी पिताजीके आग्रहसे तुम्हारे निरीक्षण में दस वर्षके लिये दे दी गई है, जिसमेंसे प्रतिवर्ष दो आने रुपया हमें देकर बाकी मुनाफा ले लेनेके तुम पूर्णरूपसे अधिकारी हो। यह कार्यवाही रजिष्ट्री करा दी गई है और उसकी नकल तुम्हारे पास भेजी है। अब तुम्हें वापिस आना ही होगा, तुम्हारी इच्छा का अधिकार भी पहिले ही छीन लिया गया है। शायद तुम कभी न आते। मैं भी तो तुम्हारे बिना रह न सकूँगा। सबको यथायोग्य।

तुम्हारा सहपाठी—मोहन।

माधव अभी भी उसी तरह बैठा था। किन्तु, बहु रानी डयरी देखनेकी उत्सुकतासे उसे हिला डुला कर कह रही थी—स्नेहका यह मधुर आस्वादन अब की बार एकाकी होकर न भोग सकोगे—उसमेंसे मैं बहुत भाग जबरदस्ती छीन लूँगी।

मुफ्त नमूना माँगनेवालोंके प्रति

अनेक सज्जन 'अनेकान्त'का मुफ्त नमूना भेजनेके लिये व्यर्थ पत्र व्यवहार करते हैं, जिससे उनको और कार्यालय दोनोंको ही व्यर्थका पोस्टेज और समय खराब करना पड़ता है। उनसे प्रार्थना है कि अनेकान्तकी प्रायः उतनी ही प्रतियाँ छपाई जाती हैं जितने ग्राहक होते हैं अतः नमूना भेजना कठिन है। पूरे वर्षका चन्दा ४) रुपये हैं। अजैन संस्थाओं और फ्री भिजवाने वालों से ३॥) रु० हैं वर्ष अगस्तसे आरम्भ और जौलाई तक समाप्त होता है।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

कवि-प्रतिबोध

रिक्त न मानवताकी प्याली
रसमें सराबोर रहती है

मामराज शर्मा 'हर्षित'

स्वतः रसमयी, अमर आत्मा,
कहाँ सूखने वाली ? प्रियवर !
सदा दयासे आर्द्र, करुण है,
देखो झाँक तनिक निज अन्तर !
'जमा हुआ दानवताका रँग—
यह, पागल-दुनिया कहती है !
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

'जग' अव्यक्त अनादि प्रकृतिमय,
तथ्य-तत्त्वके खड़ा सहारे ।
समझो ! सुख-दुख राही, उनको—
क्यों महत्त्व दो बिना विचारे !
मानव सदा 'मुक्त' सुख-दुख तो—
केवल स्थूल प्रकृति सहती है !
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

मानवताके सम्मुख बोलो—
कब न रही है विश्व-समस्या !
आँखों-देखो ! मनके आगे—
माया-तृष्णा, त्याग-तपस्या !
पर मनके हित त्याग-तपस्या—
की गरिमा सचमुच महती है ।
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

माया स्वयं प्रवृत्ति-प्रथा है,
इसका सुलझाना मुश्किल कब ?
केवल त्याग-मात्रसे अपना—
'लक्ष्यस्थल' पा जाते हैं सब ।
निष्कण्टक केवल प्रबुद्ध है,
कण्टक विषय-नदी बहती है ।
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

दोनों साथ-साथ रहते हैं,
जगमें शान्ति तथा कोलाहल !
हिंसासे यदि जनी अहिंसा ?
तो तुमको प्रणाम है अविरल !
शक्ति देखनी, तो अन्तरको—
देखो; शक्ति स्वयं रहती है !
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

आशाऽक्षय, सन्तोष परमसुख,
दम्भ-द्वेष दुखमय आशा है ।
आत्म-ज्ञानकी राग-द्वेषसे—
सदा हीन विभु परिभाषा है !
पूरब-पूरब-सा न रहा क्यों ?—
पश्चिमकी रिपुता दहती है !
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

संकट कुसंस्कारकी छाया,
जो करती है मनको मैली ।
मानवता मैली न कवीश्वर !
उज्ज्वल है, जो जगमें फैली !
'आम' धर्मका मीठा फल है ।
की-कर काँटे ही लहती है !
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

सदा कर्मकी प्रकृति गहन है,
पाप-पुण्य जन्मोंका दाता ।
सुख तो सुख, पर दुख-सुख होता,
सत्यवाद किसको बहकाता !
नियतिनियम कब एक बन सका ?
असद्भावना उर दहती है !
रिक्त न मानवताकी प्याली—
रसमें सराबोर रहती है !

सासादन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें शासन-भेद

(ले०—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल०-एल० बी०)

[गत किरणसे आगे]

और उसके चूर्णिसूत्रोंके कर्ता यतिवृषभाचार्य हैं। प्रथमपक्ष यतिवृषभाचार्यके मतानुसार है या नहीं यह भी अभी हम निश्चयत: नहीं कह सकते जब तक कि चूर्णिसूत्रोंकी उस दृष्टिसे जाँच न कर ली जाय। दूसरे पक्षको संस्कृतटीकाकार ने स्पष्टत: भूतबलि आचार्यादिका कहा है। यथा—

"अथ भूतबल्याचार्यादिप्रवाहोपदेशेनाह—" इसी के आधारसे पं० टोडरमलजीने कहा है 'आगैं भूतबलि आचार्यकृत धवलशास्त्रका उपदेश इत्यादिरूप दूसरा पक्ष कवि कथन करैं हैं—" हम आगे देखेंगे कि भूतबलि आचार्यके षट्खंडागम सूत्रोंसे वह दूसरा मत सिद्ध नहीं होता। 'आदि' शब्दमे टीकाकारका किन आचार्योंसे अभिप्राय है यह कहा नहीं जा सकता। 'प्रवाहोपदेश' कहनेसे जान पड़ता है कि उस मतकी परम्परा टीकाकार तक बराबर प्रचलित थी। कर्मकांडकी पूर्वोक्त गाथा ११३ आदिमें उसी प्रवाहरूप उपदेशका ग्रहण पाया जाता है।

षट्खंडागमके जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणादि

अब हम पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंके षट्खंडागम सूत्रोंपर आते हैं। जीवस्थान खंडकी सत्प्ररूपणामें इन्द्रियमार्गणानुसार गुणस्थान-व्यवस्था करते हुए पुष्पदन्ताचार्य सूत्र कहते हैं—

एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे ॥ ३६ ॥

इसके अनुसार एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञि पंचेन्द्रिय जीवोंमें सामान्यसे केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही ठहरता है। कायमार्गणा सम्बन्धी "पुढविकाइया आउकाइया तेउकायिका वाउकायिका वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे" ॥ ४३ ॥

इस सूत्रसे भी पृथिवी - कायादि एकेन्द्रिय जीवोंके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका ही प्रतिपादन पाया जाता है। द्रव्यप्ररूपणाके सूत्र नं० ८८ आदिमें बादरपृथिवीकायादि जीवोंकी गुणस्थानभेदके विना ही प्ररूपणा की गई है जिससे उनमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान माना जाना सिद्ध होता है। क्षेत्रादि प्ररूपणाओंके सूत्रोंमें भी एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय जीवोंके गुणस्थानभेदका कथन नहीं पाया जाता। पर इस सम्बन्धमें स्पर्शनप्ररूपणा के कुछ सूत्र ध्यान देने योग्य हैं। जैसे—

सासणसम्माइट्ठीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। अट्ठ बारह चोद्दसभागा वा देसूणा ॥ ३-४ ॥

लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय-णीललेस्सिय-काउलेस्सियमिच्छाइट्ठी ओघं। सासणसम्माइट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। पंच चत्तारि वे चोद्दसभागा वा देसूणा ॥१४६-१४८॥

ये ही वे सूत्र हैं जिनके आधार पर सर्वार्थसिद्धिकारने अपनी उपर्युक्त रचना की है। अतएव सर्वार्थसिद्धिकारके कथनानुसार इन सूत्रोंके रचयिताको सासादन सम्यग्दृष्टियोंका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होना मान्य नहीं है। यह बात उपर्युक्त सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणाणुगमके सूत्रोंसे भी प्रतीत होती है। पर यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सासादन सम्यक्त्वी एकेन्द्रियोंमें नहीं जाते तो उनका बारह राजू प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन करना कैसे घटित हो सकता है ? इसके लिये हमें यह मानना ही पड़ता है कि सासादन जीव एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक समुद्घात तो करते ही हैं।

जीवट्ठाणकी गति-आगति चूलिका

अब जीवट्ठाणकी गति-आगति चूलिकाके कुछ सूत्रोंको देखिये—

तिरिक्खसासणसम्माइट्ठी संखेज्जवस्साउआ तिरिक्खा तिरिक्खेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति ? तिण्णि गदीओ गच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुस्सगदिं देवगदिं चेदि। तिरिक्खेसु गच्छंता एइं-

दिय—पंचिंदिएसु गच्छंति, णो विगलिंदिएसु। एइंदिएसु गच्छंता बादरपुढविकाइय-बादरआउकाइय-बादरवणप्फइकाइयपत्तेयसरीरपज्जत्तएसु गच्छंति, णो अपज्जत्तेसु। पंचिंदिएसु गच्छंता सण्णीसु गच्छंति, णो असण्णीसु ॥ ११६—१२३ ॥

मणुस्समासणसम्माइट्ठी संखेज्जवासाउआ मणुसा मणुसेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति? तिण्णि गदीओ गच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुसगदिं देवगदिं चेदि। तिरिक्खेसु गच्छंता एइंदिय--पंचिंदिएसु गच्छंति, णो विगलिंदिएसु। एइंदिएसु गच्छंता बादरपुढवी-बादरआउ-बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर पज्जत्तएसु गच्छंति, णो अपज्जत्तेसु। पंचिंदिएसु गच्छंता सण्णीसु गच्छंति, णो असण्णीसु ॥ १५१-१५५ ॥

देवा मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी देवा देवेहि उवट्टिद-चुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति? दुवे गदीओ आगच्छंति—तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेव। तिरिक्खेसु आगच्छंता एइंदिय-पंचिंदिएसु आगच्छंति, णो विगलिंदिएसु। एइंदिएसु आगच्छंता बादरपुढविकाइय-बादरआउकाइय-बादरवणप्फदिकाइय पत्तेयसरीरपज्जत्तएसु आगच्छंति, णो अपज्जत्तएसु। पंचिंदिएसु आगच्छंता सण्णीसु आगच्छंति णो असण्णीसु।
॥ १७३—१७७ ॥

इन सूत्रोंमें व्यवस्थित, स्पष्ट और बिना किसी भ्रान्ति की सम्भावनाके भूतबलि आचार्यने यह प्रतिपादित किया है कि तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन तीनों गतियोंके सासादन सम्यक्त्वी जीव बादर पृथ्वी, बादर जल और बादर वनस्पति कायिक प्रत्येकशरीर जीवोंमें उत्पन्न होते हैं, किंतु विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते।

षट्खंडागमकी टीका धवला

उपर्युक्त सत्प्ररूपणादिके एकेन्द्रियोंमें केवल एक गुणस्थानको स्वीकार करनेवाले सूत्रों और इन गति-आगति के तीनों गतियोंसे सासादन जीवोंका एकेन्द्रियोंमें जाकर उत्पन्न होना प्रतिपादित करनेवाले सूत्रोंकी संगति बैठानेका भार षट्खंडागमकी धवला टीका लिखनेवाले आचार्य वीरसेनपर पड़ा है। पहले तो वे एकेन्द्रियोंमें सासादन गुणस्थान माने जाने व न माने जानेके विरोधको स्वीकार करते हैं। सत्प्ररूपणाके ऊपर उद्धृत सूत्र ३६ की टीकामें उन्होंने कहा है—

"एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि तं कधं घडदे? ण, एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो। विरुद्धत्थाणं कधं दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि? ण, दोण्हमेगदरस्स सुत्तत्तादो। दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कधं णव्वदि? उवदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करेंतो संसयमिच्छाइट्ठी होदि त्ति? तण्ण, सुत्तद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। उत्तं च—

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो ॥

यहाँ शंका-समाधानके रूपमें उपर्युक्त विरोधको आचार्य वीरसेनने इस प्रकार समझाया है—

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी तो सुना जाता है, वह किस प्रकार घटित होता है?

समाधान—वह नहीं घटित होता, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उसका निषेध कर दिया गया है।

शंका—तो फिर एकेन्द्रियोंमें सासादन गुणस्थान होता है और नहीं होता है। इन दो विरोधी अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाले दोनों वचनोंमें सूत्रपना कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं बन सकता, उनमेंसे कोई एक ही सूत्र माना जा सकता है।

शंका—पर यह जाना कैसे जाय कि इन दोनोंके बीच यह सूत्र है, और यह सूत्र नहीं है?

समाधान—बिना किसी कुशल आचार्यके उपदेशके यह बात नहीं जानी जा सकती, अतएव दोनों मतोंका संग्रह करना चाहिये।

शंका—दो विरोधी मतोंका संग्रह करनेवाला तो संशय-मिथ्यादृष्टि हो जायगा?

समाधान—नहीं होगा, क्योंकि यह बात सूत्रोपदिष्ट ही है, ऐसा श्रद्धान करनेवालेके संदेह नहीं रहेगा। कहा भी है—

सूत्रके द्वारा भले प्रकार दर्शाये जानेपर भी जब कोई श्रद्धान नहीं करता तब वही जीव उसी समयसे मिथ्यादृष्टि होता है।

यहां आचार्य वीरसेनने सासादन सम्यक्त्वीके एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होने और न होनेका प्रतिपादन करने वाले दोनों मतोंमें समानरूपसे सूत्रत्व स्वीकार किया है, और यह आदेश दिया है कि उनमें विवेचक उपदेशके अभावमें दोनों मतोंका संग्रह किया जाना आवश्यक है। पर वीरसेनस्वामीने अपनी यह दोनों मतों पर समानदृष्टि स्थिर नहीं रखी जैसा कि स्पर्शन प्ररूपणाके सूत्र ४ की टीकासे स्पष्ट होजाता है। वहां प्रश्नोत्तर इस प्रकार हुए हैं—

"जदि सासणा एइंदिएसु उप्पज्जंति, तो तत्थ दो गुणट्ठाणाणि होंति। ण च एवं, संताणिओगद्दारे तत्थ एक्कमिच्छादिट्ठिगुणप्पदुप्पायणादो, दव्वाणिओगद्दारे वि तत्थ एगगुणट्ठाणदव्वस्स पमाणपरूवणादो च? को एवं भणदि जधा सासणा एइंदिएसुप्पज्जंति त्ति। किंतु ते तत्थ मारणंतियं मेल्लंति त्ति अम्हाणं णिच्छओ, ण पुण ते तत्थ उप्पज्जंति त्ति, छिण्णाउअकाले तत्थ सासणगुणाणुवलंभादो। × × × जे पुण देवसासणा एइंदिएसुप्पज्जंति त्ति भणंति, तेसिमभिप्पाएण बारह-चोद्दसभागा देसूणा उववाद-फोसणं होदि। एदं पि वक्खाणं संत-दव्वसुत्तविरुद्धं ति ण घेत्तव्वं"।

शंका—यदि सासादन जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं तो एकेन्द्रियोंमें दो गुणस्थान होने चाहियें। पर ऐसा तो है नहीं क्योंकि सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वारमें एकेन्द्रियोंमें एकमात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका प्रतिपादन किया गया है, और द्रव्यानुयोगद्वारमें भी एकेन्द्रियोंमें एक गुणस्थान सम्बन्धी द्रव्य का ही प्रमाण बतलाया गया है।

समाधान—कौन ऐसा कहता है कि सासादन जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं? किन्तु सासादन जीव एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक समुद्घात करते हैं, यह हमारा निश्चय है। पर वे वहां उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि आयु छिन्न होनेके कालमें ही उनका सासादन गुणस्थान नष्ट हो जाता है और वह आयु छिन्न होनेके पश्चात् कालमें पाया नहीं जाता। × × × पर जो ऐसा कहते हैं कि सासादन सम्यग्दृष्टि देव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं उनके अभिप्राय से सासादन जीवोंका उपपादस्पर्शन बारह राजू प्रमाण होता है। किन्तु यह व्याख्यान सत्प्ररूपणा और द्रव्यप्रमाण के सूत्रोंके विरुद्ध है इसलिये ग्रहण नहीं करना चाहिये।

इस प्रकरणमें धवलाकारने उतने ही जोरसे एकेन्द्रियोंमें सासादनोंकी उत्पत्ति मानने वाले मतका निषेध किया है जितने जोरसे कि उन्होंने पहले दोनों मतोंका संग्रह करने का उपदेश दिया था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यहाँ उन्हें सासादनोंके स्पर्शन क्षेत्रको बारह राजू प्रमाण मानने और फिर भी एकेन्द्रियोंमें एक ही गुणस्थान स्वीकार करनेकी एक युक्ति मिल गयी। उन्होंने इन विरोधी मतोंका सामञ्जस्य इस प्रकार बैठा लिया कि सासादन जीव अपने मरणकालसे पूर्व आयुबन्धके बलसे एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक समुद्घात तो करते हैं और इस प्रकार उन का स्पर्शन क्षेत्र बारह राजू हो सकता है। पर वे ही जीव *मरते समय सासादन गुणस्थानसे च्युत होकर* मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, और इसलिये एकेन्द्रियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें भी सासादन गुण प्रकट नहीं होता, केवल मिथ्यादृष्टि गुण ही रहता है। आगे सर्वत्र धवलाकारने इसी युक्तिसे निर्वाह किया है। गति-आगति चूलिकाके उपर्युक्त सूत्रोंकी भी उन्होंने इसी प्रकार उपपत्ति बैठाई है कि आयु छिन्न होने के समय ही सासादन गुणस्थान छूट जाता है। उदाहरणार्थ—

जदि एइंदिएसु सासणसम्माइट्ठी उप्पज्जदि तो पुढवीकायादिसु दो गुणट्ठाणाणि होंति त्ति चे ण, छिण्णाउअपढमसमए सासणगुणविणासादो।

(सूत्र १२१ टीका)

जदि एइंदिएसु सासणसम्माइट्ठी उप्पज्जंति तो एइंदिएसु दोहि गुणट्ठाणेहि होदव्वमिदि? होदु, चेण, एइंदियसासणदव्वस्स दव्वाणिओगद्दारे पमाणपरूवणाभावा? एत्थ परिहारो वुच्चदे। तं जहा—सासणसम्माइट्ठी एइंदिएसु उप्पज्जमाणा जेण अप्पणो आउअस्स चरिमसमए सासणपरिणामेण सहिया होदूण तदो उवरिमसमए मिच्छत्तं पडिवज्जंति तेण एइंदिएसु ण दोण्णि गुणट्ठाणाणि, मिच्छाइट्ठिगुणट्ठाणमेक्कं चेव। (सूत्र १५३ टीका)

श्वेताम्बर आगम

अब श्वेताम्बर ग्रंथोंमें सासादन गुणस्थानकी प्रस्तुत विषय सम्बन्धी क्या व्यवस्था है वह भी देख लेना चाहिए।

श्वेताम्बर आगमोंमें एकेन्द्रिय जीवोंमें केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही माना गया है। किन्तु द्वीन्द्रियादिके ऊपरके सब जीवनिकायोंमें सासादन गुणस्थान माना गया है। यह बात भगवती शतक ८, उद्देश २ सूत्र ३१७ के प्रश्नोत्तरोंसे स्पष्ट हो जाती है। वह प्रकरण इस प्रकार है--

"पुढविक्काइया णं भंते किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी, अन्नाणी। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी–मइअन्नाणी य सुयअन्नाणी य। एवं जाव वणस्सइकाइया। बेइंदियाणं भंते किं नाणी किं अन्नाणी? गोयमा! णाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुन्नाणी। तं जहा–आभिणिबोहिय-नाणी य सुयनाणी य। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी। तं जहा–आभिणिबोहिय अन्नाणी सुयअन्नाणि। एवं तेइंदिय-चउरिंदिया वि।" इत्यादि।

राजगृहमें भगवान् महावीरसे गौतमगणधरने प्रश्न किया–भगवन् पृथिवीकायिक जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी?

उत्तर—हे गौतम पृथिवीकायिक जीव ज्ञानी नहीं होते अज्ञानी ही होते हैं। और जो अज्ञानी होते हैं वे नियमसे दो अज्ञानों वाले होते हैं—मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी।

इसी प्रकार अप्कायिक आदि वनस्पतिकायिक पर्यंत जीवोंके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तरी समझना चाहिये। फिर प्रश्न होता है—

प्रश्न—भगवन् द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी?

उत्तर—हे गौतम, द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। जो ज्ञानी होते हैं वे नियमसे दो ज्ञानों वाले होते हैं–आभिनिबोधिक ज्ञानी और श्रुतज्ञानी। जो अज्ञानी होते हैं वे नियमसे दो अज्ञानों वाले होते हैं–आभिनिबोधिक अज्ञानी और श्रुतअज्ञानी।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंके सम्बन्ध में प्रश्नोत्तरी समझना चाहिये।" इत्यादि

द्वीन्द्रियादिक जीवोंको दो ज्ञानों वाले किस अपेक्षासे कहा यह टीकाओंमें बतलाया गया है। प्रज्ञापना-टीकामें कहा है—

"बेइंदियस्स दो णाणा कहं लब्भंति? भण्णइ, सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो णाणा लब्भंति।"

अर्थात्– 'द्वीन्द्रिय जीवके दो ज्ञान किस प्रकार पाये जा सकते हैं? इसका उत्तर कहते हैं कि सासादन सम्यक्त्वकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक जीवके दो ज्ञान पाये जाते हैं।"

अभयदेवीया वृत्तिमें भी कहा गया है कि—

"द्वीन्द्रियाः केचित् ज्ञानिनोऽपि सास्वादनसम्यग्दर्शनभावेनापर्याप्तकावस्थायां भवन्तीत्यत उच्यते 'नाणी वि अन्नाणी वि' त्ति।"

जीवाभिगम सूत्रमें भी इसी प्रकार कथन पाया जाता है। इनसे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर आगमकार सासादन सम्यक्त्वी जीवका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होना नहीं मानते, किन्तु विकलेन्द्रियोंमें उत्पन्न होना मानते हैं और उनकी अपर्याप्त दशामें सासादन गुणस्थान पाया भी जाता है। इसीसे उनके दो ज्ञान होना भी माना गया है, जिसका विचार आगे चलकर करेंगे।

श्वेताम्बर कर्मग्रन्थ

किन्तु श्वेताम्बर कर्मग्रन्थोंमें आगमके विरुद्ध एकेन्द्रियों में भी सासादन गुणस्थान माना गया है। चौथे कर्मग्रन्थकी तीसरी गाथा है—

'बायर-असंनि-विगले अपज्जि पढमबिय संनि अपज्जत्ते।
अजयजुअ संनि पज्जे सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु॥

अर्थात्—'अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञि-पंचेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रियमें पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान पाये जाते हैं। अपर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियमें पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान हो सकते हैं। पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियमें सब गुणस्थानोंका होना संभव है। शेष सात जीव स्थानोंमें, अर्थात् अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रयमें पहला ही गुणस्थान होता है।"

यही बात उसी कर्मग्रंथकी ४५ वीं गाथा में भी सूचित की गयी है जहां कहा गया है कि—

"सव्व जियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।"

अर्थात्—मिथ्यात्व गुणस्थानमें सब जीव स्थान होते हैं। सासादनमें पांच अपर्याप्त–बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय,

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि पंचेन्द्रिय—तथा दो संज्ञी-अपर्याप्त और पर्याप्त—कुल सात जीवस्थान हैं।

यही नहीं किन्तु इस कर्मग्रंथके कर्ताने एक गाथामें यह भी प्रकट कर दिया है कि वे कौन कौनसी बातें हैं जो आगम सम्मत होने पर भी उक्त कर्म ग्रंथमें स्वीकार नहीं की गयीं—

"सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि॥ ४६॥

अर्थात् सासादन अवस्थामें सम्यग्ज्ञान, वैक्रिय शरीर तथा आहारक शरीर बनानेके समय औदारिकमिश्रकाययोग और एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थानका अभाव, ये तीन बातें यद्यपि आगम सम्मत हैं तथापि यहाँ उनका अधिकार नहीं स्वीकार किया गया'।

श्वेताम्बर पंचसंग्रह

पंचसंग्रहके प्रथम द्वारकी गाथा २८ में भी एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय जीवोंमें दो गुणस्थान स्वीकार किये गये हैं—

'सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे।
इगि-विगलेसु जुयलं सव्वाणि पणिंदिसु हवंति॥

अर्थात्—देव और नारकोंमें प्रथम चार गुणस्थान होते हैं, तिर्यंचोंमें प्रथम पाँच, मनुष्योंमें चौदहों। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंमें दो–मिथ्यादृष्टि और सासादन–तथा पंचेन्द्रियोंमें सभी गुणस्थान होते हैं।' किन्तु आगेकी गथामें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एकेन्द्रियोंमें वायु और तेज कायिक जीवोंमें सासादन गुणस्थान नहीं होता—

सव्वेसु वि मिच्छो वाउ-तेउ-सुहुमतिगं पमोत्तूणं।
सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि॥ २६॥

अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान तो सभी जीव निकायोंमें होता है और सासादन गुणस्थान वायुकायिक और तेज-कायिक तथा पृथ्वी, जल और वनस्पति इन तीन कायोंके सूक्ष्म शरीरी जीवोंको छोड़ शेष सबमें होता है। इत्यादि यह व्यवस्था गोम्मटसार–कर्मकाण्डकी व्यवस्थासे ठीक मिलती है।

मत-मतान्तरोंका मथितार्थ

उपर्युक्त सब मत-मतान्तरोंका मथितार्थ यह निकलता है कि—

(१) श्वेताम्बर आगम सासादन सम्यग्दृष्टियोंका एकेन्द्रियोंमें होना सर्वथा नहीं मानते, किन्तु विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियोंमें उनका होना मानते हैं।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड और श्वेताम्बर कर्म ग्रंथ पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पति-कायिक बादर-निर्वृत्यपर्याप्तक एकेन्द्रियों तथा विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियोंमें सासादन गुणस्थान मानते हैं।'

(३) अमितगति कृत पंचसंग्रहमें तेज और वायु-कायिक जीवोंको छोड़ शेष सातों अपर्याप्त जीवसमासोंमें सासादन गुणस्थान माना है जिससे सूक्ष्म पृथिवी, अप् वनस्पति कायिक जीवोंमें भी सासादन सम्यक्त्वकी प्राप्तिका प्रसंग आता है।

(४) गोम्मटसार जीवकाण्ड तथा षट्खंडागम जीव-स्थानके सत्प्ररूपणादि अधिकारोंमें समस्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें केवल एक ही गुण-स्थानका विधान है, सासादन सम्यक्त्वका नहीं।

(५) सर्वार्थसिद्धिकार एकेन्द्रियोंमें सासादन सम्यक्त्वी जीव के उत्पन्न होने वाले मतका उल्लेख करते हैं।

(६) षट्खंडागम जीवट्ठाणकी गति-आगति चूलिकामें तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके सासादन सम्यक्त्वियोंका बादर पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर एकेन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न होनेका विधान तथा विकलेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेका निषेध करते हैं।

(७) धवलाकार वीरसेनस्वामी एक स्थानपर एकेन्द्रियोंमें सासादन सम्यक्त्वी के उत्पन्न होने सम्बन्धी मत का सूत्रत्व स्वीकार कर उसको भी माननेका उपदेश देते हैं। किन्तु दूसरे स्थल पर उस मतका निषेध करते हैं। वे समस्त एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही स्वीकार करते हैं। हां, सासादन जीवोंका एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक समुद्घात करना मानते हैं, किन्तु आयु क्षीण होनेके साथ ही वह गुणस्थान छूट जानेसे उन जीवोंमें सासादन भावको नहीं मानते। और इसी युक्तिसे वे सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणादि व गति-आगति चूलिकाके सूत्रोंमें संगति बैठाते हैं।

जहां इस प्रकारका शासन-भेद हो वहां, वीरसेन

स्वामीके शब्दोंमें, 'सत्य क्या है वह तो केवली और श्रुत-केवली ही जान सकते हैं' किन्तु यदि सर्वमान्य नियमोंके भीतर युक्ति और तर्कके बल पर निर्णय किया जाय तो इस प्रकार हो सकता है—सासादन सम्यक्त्वका काल कम से कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली प्रमाण कहा गया है। इन सीमाओंके भीतर उपशम सम्यक्त्वके कालमें जिस जीवके जितना समय शेष रहने पर अनन्तानु-बन्धीके उदयसे सासादन गुण प्रकट होता है, उतने ही काल तक वह जीव सासादन रह सकता है। अतएव यदि वह जीव उक्त काल पूर्ण होनेसे पहिले ही आयुक्षयसे मरण करता है तो अगले भवमें उतना काल पूरा करेगा और इस लिये उतने काल तक अपर्याप्त दशामें उसके सासादन गुणस्थान पाया जायगा। जिस जीव में निकट कालमें उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करनेकी शक्ति हो उसके वायु और अग्निकाय तथा सूक्ष्म, साधारण व लब्ध्यपर्याप्तक जैसी अत्यन्त अशुभ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। पर जो जीव एक तरफ एकेन्द्रिय बादर कायमें और दूसरी तरफ संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो सकता है वह विकलेन्द्रिय व असंज्ञियोंमें क्यों उत्पन्न नहीं हो सकता यह कुछ समझमें नहीं आता। इस प्रकार अन्य प्रबलतर प्रमाणके अभावमें उपर्युक्त मत-मतान्तरों परसे यह मानना अनुचित न होगा कि सासादन सम्यक्त्वी जीव सूक्ष्म, साधारण व लब्ध्य-पर्याप्तक तथा वायुकायिक और अग्निकायिक जीवोंमें नहीं उत्पन्न होता, शेष सबमें हो सकता है, और यदि आयु क्षयके साथ ही उसका सासादन सम्यक्त्वकाल समाप्त हो जाता है तो उस के नये भवमें मिथ्यात्व गुणस्थान ही प्रकट होता है, अन्यथा जितना सासादनका काल शेष रहा हो उतने काल तक वह अपर्याप्त अवस्थामें सासादन रहेगा।

सासादन कालमें ज्ञान व अज्ञान

अब सासादन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें मतभेदकी एक और बात पर विचार कर लेना उचित है। ऊपर श्वेताम्बर आगम भगवती सूत्रसे जो अवतरण दिया गया है उसमें सासादन जीवके मति व श्रुतज्ञानको अज्ञान न कह कर सद्ज्ञान माना है। किन्तु श्वेताम्बर कर्मग्रंथों तथा समस्त दिगम्बर साहित्यमें सासादन सम्यक्त्वी जीवके ज्ञानको मिथ्या ज्ञान ही माना है। इस सम्बन्धके अवतरण देनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि किसी भी ग्रंथमें जहाँ मार्गणा स्थानों और गुणस्थानोंकी परस्पर योजना की गई है वहाँ देखा जा सकता है कि सासादन सम्यक्त्वके साथ मति-श्रुत-अज्ञानका ही सम्बन्ध बतलाया गया है। षट्खंडागमके जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके सूत्र ११६ में इस विषयका प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार है—

"मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति।"

इस सूत्रकी टीका धवलाकारने इस प्रकारसे की है जैसे उन्हें सासादनमें सद्ज्ञान मानने वाले मतका ध्यान रहा हो। वे लिखते हैं—

"मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम, तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात्। मिथ्यात्वोदयस्यासत्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति? न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः, स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते। समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय इति"।

शंका—मतिअज्ञान और श्रुताज्ञान ये दोनों अज्ञान मिथ्यादृष्टि जीवके भले ही हों, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्वका उदय विद्यमान रहता है। किन्तु सासादन जीव के तो मिथ्यात्वका उदय रहता ही नहीं है, अतएव सासादन जीवके उक्त दोनों अज्ञान रूप नहीं होना चाहिये?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व विपरीताभिनिवेशका ही नाम है, और यह विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्वसे भी उत्पन्न होता है और अनन्तानुबन्धीसे भी उत्पन्न होता है। और चूंकि सासादन जीवके अनन्तानुबन्धीका उदय हो ही जाता है, अतएव उसके ज्ञानको अज्ञान ही कहना चाहिये।

किन्तु यह समाधान सर्वथा सन्तोषजनक नहीं हुआ। यदि विपरीताभिनिवेशका ही नाम मिथ्यात्व है और वह विपरीताभिनिवेश सासादन जीवके अनन्तानुबन्धीके उदय से हो जाता है तो फिर उस जीवको सम्यक्त्वी न कहकर मिथ्यात्वी ही कहना चाहिये। सत्प्ररूपणा सूत्र १० की टीकामें धवलाकारने कहा है कि "विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेः।"

अर्थात्—यद्यपि सासादन गुणस्थानमें जीव विपरीताभिनिवेशसे दूषित हो जाता है, फिर भी उसे भूतपूर्वन्यायसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यदि यही बात है तो उसी न्यायसे उसकी मति और श्रुतको भी ज्ञानरूप मानना कोई अनुचित नहीं। नामोंमें एकरूपताकी दृष्टिसे भी वैसा मानना अयुक्तिसंगत नहीं है। आखिर यहाँ ज्ञान और अज्ञानमें कोई आन्तरिक भेद तो होता नहीं है। वही ज्ञान सम्यक्त्वके सद्भावमें सद्ज्ञान और मिथ्यात्वके सद्भावमें मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

श्वेताम्बर आगमका यह दृष्टिकोण निम्न अवतरणसे स्पष्ट हो जाता है। भगवती शतक १ उद्देश ५ के सूत्र ४६ की टीका करते हुए अभयदेव कहते हैं—

"ननु पृथिव्यम्बुवनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रंथेष्वभ्युपगम्यते, तत एव च ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च × × नैवं पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेनाविवक्षितत्वात्, तत एवोच्यते "उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होज्ज उववण्णो।"

अर्थात्—यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कर्मग्रंथोंमें दर्शनद्वारमें पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके सासादनभावसे सम्यक्त्व स्वीकार किया गया है जिसके अनुसार ज्ञानद्वारमें उक्त पृथिवीकायिक आदिमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी मानना चाहिये, इसका उत्तर यह है कि वैसा माना नहीं है, क्योंकि पृथिवीकायादि एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादनभाव अत्यन्त विरल रूपमें पाये जानेसे उसकी विवक्षा नहीं की गई। और इसी लिये कहा गया है कि "पृथिवीकायादिमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का अभाव है तथा विकलेन्द्रियोंमें उनका सद्भाव मानना उचित है।'

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि सासादन गुण को सम्यक्त्व रूप ही स्वीकार किया है और सासादनोंके ज्ञानको पृथिवीकायादिमें केवल इसी लिये सद्ज्ञान रूप स्वीकार नहीं किया क्यों कि उनमें सासादनभाव इतना कम पाया जाता है कि सामान्य कथनमें उसकी विवक्षा नहीं की जाती।

सासादन संज्ञाकी निरुक्ति

सासादन जीवके ज्ञानको सत् व असत् माननेमें भेदका एक और कारण भी होसकता है और वह यह कि सासादनके स्वरूपसंबंधमें यद्यपि यथार्थतः कहीं कोई भारी मतभेद नहीं है तो भी सासादन संज्ञाका अर्थ भिन्न भिन्न प्रकारसे किया गया पाया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें इस नामकी जो सार्थकता प्रचलित है वह धवलाकारके शब्दोंमें इस प्रकार है—

"आसादनं सम्यक्त्वविराधनम्। सह आसादनेन वर्तते इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते। (सत्प्ररूपणा १, १० टीका)

अर्थात्—"आसादनका अर्थ सम्यक्त्वका विनाश। इस विनाशसे सहित जो जीव होता है वह सासादन है जिस जीवने सम्यग्दर्शनका विनाश कर डाला है, किन्तु अभी भी मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न परिणामोंको प्राप्त नहीं किया है, पर मिथ्यात्वके अभिमुख है वह सासादन कहा जाता है।"

इस अर्थमें सम्यक्त्वके विनाश पर ज़ोर दिया गया है और सासादन संज्ञाकी सार्थकता भी इसी पर निर्भर की गयी है। अतः सम्यक्त्वके विनाश पर ज़ोर होनेके कारण उस जीवके ज्ञानमें भी सद्भावके विनाश पर ज़ोर देकर उसे असद्ज्ञान मानना स्वाभाविक है।

किन्तु सासादन प्राकृत रूपका एक संस्कृत रूपान्तर सास्वादन भी किया जाता है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह संज्ञा विशेष रूपसे प्रचलित है। इसकी सार्थकता पंचसंग्रह टीकाकारने इस प्रकार बतलायी है—

"सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति वा पाठः। तत्रायं शब्दार्थः—सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तते इति सास्वादनः। यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथैषाऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति। ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च स सास्वादनसम्यग्दृष्टिः तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्।" (पंचसंग्रह १, पृ० १८)

अर्थात्—"सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानकी जगह सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, ऐसा पाठ भी पाया जाता

है। इस पाठका शब्दार्थ इस प्रकार है—जो जीव सम्यक्त्वलक्षण रसके आस्वादन सहित है, अर्थात् सम्यक्त्वका रस अभी भी चख रहा है, वह सास्वादन है। जैसे कोई पुरुष क्षीरभोजन कर लेनेके पश्चात् व्याकुल चित्त होकर उसका वमन करने लगता है और वमनकालमें भी उस क्षीरान्नका स्वाद पाता है, इसी प्रकार जीव सम्यक्त्व पाकर भी व्याकुल चित्त हो सम्यक्त्वका वमन करता हुआ उसके रसका आस्वादन करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि है और उसके गुणस्थानको सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।"

द्वितीय गुणस्थानके नामकी इस व्युत्पत्तिमें सम्यक्त्वके स्वाद पर जोर दिया गया है और उसी पर उस संज्ञाकी सार्थकता अवलम्बित की गई है। अतएव इस दृष्टिकोणसे सासादन जीवमें सम्यक्त्वके स्वादकी सत्ताको स्वीकार करते हुए उसके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाय तो कोई विरोध नहीं आता। इस प्रकार सासादनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान या सम्यग्ज्ञान मानने वाला मतभेद सासादनसंज्ञाकी सार्थकता सम्बन्धी मतभेद या दृष्टिकोण-भेद पर अवलम्बित हो तो आश्चर्य नहीं।

सासादन गुणस्थानमें आहारक प्रकृतिकी सत्ता

कर्मकाण्डकी गाथा ३३३ में बतलाया गया है कि सासादनगुणस्थानमें आहारक प्रकृतिकी सत्ता नहीं हो सकती—

"तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए।"

किन्तु आगे गाथा ३७२-३७३ में कहा गया है कि सासादन गुणस्थानमें कोई आचार्य सात प्रकृतियाँ हीन मानते हैं और कोई तीन प्रकृतियाँ हीन मानते हैं। अर्थात् किसीके मतसे उस गुणस्थानमें आहारकादि चार प्रकृतियाँ हो सकती हैं और किसीके मतसे नहीं हो सकतीं—

"सत्ततिगं आसाणे मिस्से तिगसत्तसत्तएयारा।
परिहीण सव्वसत्तं बद्धस्सियरस्स एगूणं॥
तित्थाहारचउक्कं अण्णदराउगदुगं च सत्तदे।
हारचउक्कं वज्जिय तिण्णि य केइं समुद्दिट्ठं॥"

इस प्रकार कर्मकाण्डकारके निजी मतानुसार तो सासादन गुणस्थानमें आहारक प्रकृतिकी सत्ता होती ही नहीं है। अर्थात् जिस जीवने आहारक प्रकृतिका बन्ध कर लिया है वह सासादन गुणस्थानमें जा ही नहीं सकता। किन्तु कर्मकाण्डकारको एक ऐसे मतका भी परिचय है जिसके अनुसार सासादन गुणस्थानवर्ती जीव आहारक सत्ता वाला हो सकता है। यह मत हमें श्वेताम्बर कर्मग्रंथोंमें मिलता है। कर्मप्रकृतिकी गाथा ६ में कहा गया है कि आहारक प्रकृतिकी सत्ता सभी स्थानोंमें विकल्पसे हो सकती है—

"आहारग-तित्थयरा भज्जा दुसु णत्थि तित्थयरं।"

यही बात पंचसंग्रहकी गाथा ३४८ में भी कही गयी है—

"सव्वाण वि आहारं सासण-मीसेयराण पुण तित्थं।
उभये संति न मिच्छे तित्थगरे अंतरमुहुत्तं॥"

पंचम कर्मग्रन्थ 'शतक' की गाथा १२ में भी यही मत स्थापित किया गया है—

"आहारसत्तग वा सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मतके अनुसार आहारक प्रकृतिकी सत्तावाला जीव सासादन गुणस्थानमें जा सकता है और दूसरे मतके अनुसार नहीं जा सकता। यदि यहाँ भी युक्तिके बल पर विवेक किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि चूंकि आहारक प्रकृतिका बन्ध केवल विशेष संयमी जीव ही कर सकते हैं, अतएव जिस मतके अनुसार उपशमश्रेणीसे उतरा हुआ जीव सासादन हो सकता है उस मतके अनुसार तो सासादन गुणस्थान में आहारक प्रकृतिकी सत्ता संभव मानी जा सकती है। किन्तु जिस मतमें उपशमश्रेणी वाला जीव सासादन नहीं हो सकता उस मतके अनुसार सासादन गुणस्थानमें आहारक प्रकृतिकी सत्ता भी नहीं मानी जा सकती।

संशोधन—इस लेखमें गत किरणके पृष्ठ ७० के दूसरे कालमकी २३ वीं पंक्तिमें 'प्ररूपणा' के पहले जो 'स्पर्शन' शब्द छपा है उसके स्थान पर पाठक 'अन्तर' बना लेवें।

जैनधर्मकी एक झलक

(ले०—पं० सुमेरचंद्र दिवाकर बी० ए० एल०-एल० बी० शास्त्री, न्यायतीर्थ)

[गत किरणसे आगे]

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये[1] ॥

'मैं मोक्षमार्गके नेता—संसारके दुःखोंसे बचाकर सच्चे सुखके मार्गको बताने वाले, कर्मरूपी पर्वतोंका विनाश करने वाले—आत्माका पतन करनेवाली कर्मराशिको चूर्ण करने वाले, संपूर्ण तत्वोंके ज्ञाता—सर्वज्ञ तथा सर्वांगीण सत्यके द्रष्टा को, उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए, प्रणाम करता हूं।'

इनसे आराधनाके आदर्श तथा ध्येयका चित्र नेत्रोंके सामने खड़ा हो जाता है।

आत्माके विकास या ह्रासका उत्तरदायित्व उसके भावों पर है। उपरोक्त वर्णित आदर्शकी आराधनामे—गुण चिंतनसे उज्वल भाव होते हैं, इससे प्रारंभिक साधनके लिए यह बहुत आवश्यक अंग है। यह आराधना सच्ची वीर-पूजा (Hero worsip) है। यह बुतपरस्तीसे बिल्कुल जुदी है। इस आराधनामें दीनताकी भावना नहीं रहती है। यदि कोई भावना की जाती है, तो यह कि वह रत्नत्रयका प्रकाश आत्मामें उत्पन्न हो, जो मुक्ति—स्वाधीनताका अद्वितीय साधन है। देखिए भक्त कवि दौलतरामजी कितनी भावपूर्ण स्तुति करते हैं—

"आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परणति न जाय
मैं रहूँ आपमें आप लीन, सो करो, होहुँ ज्यों निजाधीन
मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश।...."

जैनधर्म किसी व्यक्तिके कथन या पुस्तक चमत्कार या व्यक्ति विशेषपर निर्भर नहीं है। यह तो सत्यके अखंड भंडार विश्वका धर्म है, यह प्रकृतिके पत्ते पत्तेमें लिखा हुआ है। अनुभव इसका आधार है। युक्तिवाद इसकी आत्मा है। इस धर्मको, कालकी मर्यादाके भीतर कैद. इसी कारण, जैन परंपरामें नहीं कहा गया है, कि जिन पदार्थोंके स्वरूपका प्रदर्शक यह है, वे स्वयं दो दिनके तमाशेकी चीज नहीं हैं, बल्कि त्रिकाल अबाधित सत्यरूप हैं। जब वस्तु अनादि अनंत है तथा उसका स्वरूप प्रकाशक तत्वज्ञान भी उसके समान होना चाहिये।

अनुभव यह बताता है कि जो दूसरोंके मार्गमें काँटे बोनेका प्रयत्न करता है वह शीघ्र नहीं तो कालान्तरमें स्वयं काँटोंसे दुःख पाता है। प्रकृतिके इन अटल नियमोंके अनुसार तीर्थंकरोंने यह तत्व-देशना की—यदि तुम चाहते हो कि तुमको कोई भी किसी भी तरहका कष्ट न दे, तो तुमको कभी किसीको कष्ट देनेका विचार तक न करना चाहिए। विश्व मैत्रीके पाठको पढ़ने वालेकी प्रकृति देवी अर्चना करती है, और प्रकृतिकी छोटी बड़ी वस्तुएँ उसकी आत्माको पीड़ा नहीं देतीं। वह छोटे बड़े सभी जीवधारियों पर करुणाका भाव धारण करता है। इस विषयमें महर्षि अमितगतिका यह पद्य बड़ा मार्मिक है, जिसमें जैनधर्मका एक महत्वपूर्ण तथा शांतिदायक संदेश भरा हुआ है—

"सत्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं
माध्यस्थ्य-भावं, विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!

प्रभो! मेरी आत्मा इस रूप होजाय कि मैं प्राणीमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखूं, गुणी पुरुषोंको देखकर मेरा हृदय आनंदित हो जाय; पीड़ित-दुखी जीवोंको देखकर मेरा हृदय करुणापूर्ण हो जाय; जो मुझसे विपरीत वृत्ति वाले—शत्रुता धारण करने वाले हों उनके प्रति मेरे हृदयमें माध्यस्थ्य भाव हो—मैं उनकी ओर द्वेष या घृणाकी दृष्टि न रखूं।

आज यह विश्वमैत्रीकी शिक्षा विश्वमें व्याप्त हो तो एक प्रकारसे यहीं स्वर्ग उतर आए। क्रोध, स्वार्थ, लालच, अभिमान आदिके कारण प्राणियोंकी प्रवृत्ति इस मार्गकी ओर नहीं होती है, इसीसे मुसीबतका नारकीय जीवन बिताना पड़ता है।

---

१ देखो तत्वार्थसूत्रका आदि श्लोक।

यह विश्वमैत्रीकी शिक्षा बौद्धिक रूपको प्राप्तकर अनेकान्तवाद नामकी दार्शनिक विचारप्रणालीको उत्पन्न करती है, जो यह बताती है कि दुराग्रहपूर्ण दृष्टिकोणको छोड़कर उदारताके साथ सपूर्ण सत्यका दर्शन तथा समादर करो। वह विश्वमें विद्वानोंके धार्मिक मतभेदको दूरकर एकताका मार्ग बनाती है। जो कोई ज्ञानका कोई भक्तिका कोई क्रियाकाण्डका एकान्त पकड़कर अन्यको निरुपयोगी कहता है, तो यह तीनोंकी एकताको कल्याणकारी बताती है[१]।

इस अनेकान्तवादकी बौद्धिक उदारता मतभेद-सहिष्णुताकी उत्पत्ति होती है। प्रोफेसर फणिभूषण अधिकारी एम० ए० का कथन है कि "इस बौद्धिक निष्पक्ष-अनेकान्त नीतिके विना कोई दार्शनिक या वैज्ञानिक अनुसंधान-खोज का काम पूर्ण नहीं हो सकता है।"

इस विश्वमैत्री की भावनाका व्यावहारिक रूप अहिंसा का तत्वज्ञान है। इसका अर्थ है कि, प्रायः प्रत्येक धर्ममें वर्णन किया गया है; किन्तु पूर्ण वैज्ञानिक और व्यावहारिक रूप देकर हृदयंगम करनेका कार्य जैनग्रंथोंमें मिलता है। इस अहिंसाके आचरणसे यह प्राणी रागद्वेषादि दोषोंसे मुक्त होकर आत्माकी निर्मल अवस्थाको प्राप्त करता है। किसी प्राणीको न मारना, मांस न खाना, शिकार न खेलना, मदिरा न पीना, जिन पदार्थोंमें जीव हों, या जो जीवघात करके तैयार होते हैं उनका उपयोग न करना आदि अहिंसा के बाह्य रूप हैं। वास्तवमें क्रोधादि विकारोंपर विजय प्राप्त करना अहिंसा है। जीवोंकी रक्षा करते हुए भी यदि हमारी मनःशुद्धि न हो सकी, तो हम अहिंसासे दूर ही रहेंगे। सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, अपरिग्रह अहिंसाके ही रूपान्तर हैं।

इसका पूर्णतया पालन करनेवाले महान साधकोंको दिगम्बर मुनि कहते हैं, जो मनसा, वाचा, कर्मणा जीव-रक्षा तथा आत्मशुद्धिमें संलग्न रहते हैं। इस पदको प्राप्तकर यह जीव अपूर्व शान्ति प्राप्त करता है। वह रागद्वेषसे अपनेको सतर्कतापूर्वक बचाता है। उसकी समतापूर्ण अवस्था तथा दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए एक कवि कहता है—

अरि-मित्र महल-मसान कंचन-काँच निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन-असिप्रहारनमें सदा समता धरन ॥

इस विषयको पढ़कर आजकी अशान्त दुनियामें रहने वाला व्यक्ति यह सहसा कह उठेगा यह तो स्वप्नसाम्राज्य जैसी बात है। कुछ ऐसा मार्ग हो, जिसका हम जैसे साधारण स्थिति वाले पालन कर सकें और शांति लाभ करें।

आशंका अनुचित नहीं है। मध्यम स्थितिके व्यक्तियों को मद्देनजर रखते हुए आचार्योंने शिक्षा दी है कि तुम मोटे पापोंसे बचो, अन्यायरूप आचरण न करो, दूसरोंको न सताओ। झूठ न बोलो, चोरीसे बचो अपनी पत्नीमें संतुष्ट रहकर अन्य नारियोंमें मातृभाव, बहन या बेटीकी यथायोग्य दृष्टि रखो, अपनी आवश्यकताओंको मर्यादित करो दुखी तथा असमर्थ प्राणियोंको द्रव्यका, औषधिका ज्ञानका, अभयपनेका दान दो, न्यायपूर्ण आजीविका करो। धर्मके साथ समाज-राष्ट्रके संरक्षण तथा लोकोपकारका भी ध्यान रखो। कर्तव्य पालनसे पीछे न हटो। वीरतासे मुख न मोड़ो, क्रूरतासे बचे रहो। संक्षेपमें गृहस्थका धर्म है। Do your duty amd do it ar humamity as you can.
अपना कर्तव्य पालन करो, और यह जितना अधिक करुणा पूर्वक बन सके, उतनी दयापूर्वक करो।

आज जो विश्वकी बुरी हालत हो रही है, ज्ञानकी उन्नति होते हुए भी मनुष्य मनुष्यके रक्तका प्यासा होरहा है, सर्वत्र अशान्ति, क्षोभ, कलहका बाजार गरम नज़र आता है, उसका इलाज यही है, कि मनुष्य अपने कार्योंका उत्तरदायित्व अन्य शक्तिके ऊपर न डालकर अपनी आत्मा को ही अपने कर्मोंका भोक्ता श्रद्धान करे। इस नैतिक जिम्मेदारीसे दृष्टि(outlook)में अंतर होगा हिंसासे विमुख हो। जरूरतसे अधिक पदार्थोंकी लालसाको छोड़े। सत्यका व्रत ले। अन्यायपूर्ण वृत्तिको छोड़े। पवित्र सात्विक आहारपान करे, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृष्टिको लेकर काम करे, तो दुनियाकी कायापलट हो सकती है।

कुलभद्र आचार्यकी गृहस्थके लिए कितनी अच्छी और उपयोगी शिक्षा है कि—

१ इसका खुलासा विवेचन C. R. Jain Bar-at-law की 'Confluence of opposites' या इत्तिहादुल मुखालफीन' पुस्तकमें देखना चाहिए। इस लेखमें विशेष वर्णनका स्थान नहीं है।

तृण-तुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत्।
पर-समा समा मातुः पश्यन याति परं पदम् ॥

अर्थात्—दूसरेकी वस्तुको तृणतुल्य—अपने लिए संग्रह या ममताके अयोग्य, दूसरे जीवोंको अपने शरीरके समान—जिस प्रकार मुझे पीड़ा होती है उसी प्रकार अन्यको भी पीड़ा होता है, तथा दूसरेकी स्त्रीको अपनी माताके समान समझनेवाला व्यक्ति उत्कृष्ट पदको प्राप्त करता है।

इस प्रकार पुण्य आचरणसे आत्मा उन्नत होती है। वह जीव आत्माको शरीर तथा भौतिक पदार्थोंसे भिन्न श्रद्धान करता है। गृहस्थ होते हुए भी वह दिव्य लोकका सा-सा रहता है। उसकी मनोवृत्तिका इस प्रकार एक जनकवि चित्रण करता है—

गेही पै गृहमें न रचे ज्यों जलसे भिन्न कमल है।
नगर-नारिको प्यार यथा कादेमें हेम अमल है[1] ॥

इस संसारके भोगोंके बीचमें रहता हुआ भी वह उन में आसक्त नहीं होता है। मोहरूपी समुद्रके तीर पर रहते हुए भी वह उसके भीतर नहीं डूबता है और इससे धीरे धीरे आत्मबलका विकास करता हुआ इस उच्च अवस्था को प्राप्त करता है, जब वह उस अक्षय शांतिके भंडारका अधिपति बन जाता है, जिससे विश्वकी आत्माओंकी क्षुधा शांत होती है। वह उस आत्मीक प्रकाशपुंजको प्राप्त करता है जिसके निमित्तसे स्नेहपूर्ण अनंत बुझे हुए जीवन दीप जगमगा जाते हैं। वह विश्वविजेता आदि नामोंसे संस्तुत किया जाता है। वह जन्म-जरा मृत्युके संतापसे सदाके लिए मुक्त हो जाता है। संक्षेपमें यह कह सकते हैं कि रत्नत्रयके प्रसादसे पीड़ित, पतित, संत्रस्त जीव भी साधारण मानवसे महामानव बन जाता है, जो ईश्वर या परमात्माके साम्राज्यका अधिपति ही नहीं होता है, बल्कि जो स्वयं परमात्मा बन जाता है। ऐसी ही आत्मा तीर्थंकर, अर्हंत, जिन, बुद्ध, वीर आदि शुभ संज्ञाओंको प्राप्त करती है। यही आत्माका स्वभाव है—धर्म है, उसीको प्राप्त करने की तीर्थंकर महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ तथा उनके पूर्ववर्ती २१ तीर्थंकरोंकी तत्वदेशना हुई थी। वही जैनधर्म है और सच पूछिये तो विश्वधर्म भी वही है।

[1] अर्थात् वह गेही—गृहवासी रहता है किन्तु गृहस्थीके बहुतसे कार्योंमें वह आसक्त नहीं होता है। जिस प्रकार पानीके बीचमें रहनेवाला कमल पानीसे जुदा रहता है, या जैसे वेश्या किसी पुरुषपर आंतरिक प्रेम नहीं रखती है अथवा सुवर्ण कीचड़में गिरनेसे केवल ऊपरी मलिनता को दिखाता है, किन्तु भीतरी तौर पर सुवर्ण अपने गुण-धर्मसे युक्त रहता है उसी प्रकार विवेकी गृहस्थ जगत् कार्य करते हुए भी उनसे अलिप्त सी मनोवृत्ति रखता है। छहढाला

सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं

(ले०—पं० इन्द्रचन्द्र जैन शास्त्री)

आत्माको ज्ञानस्वरूप स्वीकार करनेमें प्रायः सभी सहमत हैं। ज्ञान और आत्मा दो भिन्न २ पदार्थ नहीं किन्तु एक ही रूप हैं। आत्माको छोड़ कर ज्ञान गुणका अन्यत्र सर्वथा अभाव पाया जाता है, इसी लिये अन्य पदार्थ जड़रूप कहलाते हैं।

ज्ञान-गुण आत्मामें सदा विद्यमान रहने पर भी, ज्ञानावरण कर्मरूप आवरणके कारण पदार्थोंको जानने में असमर्थ रहता है। ज्ञानावरण कर्म जितने अंशोंमें नष्ट हो जाता है, उतने ही अंशोंमें पदार्थोंको जानने की शक्ति आवरण-रहित होती जाती है, इसीको जैन-सिद्धान्तमें "लब्धि" कहा है। इसके पश्चात् पदार्थोंको जाननेरूप जो व्यापार होता है उसे—उपयोग कहते हैं।

क्षायोपशमिकरूप लब्धिको उपयोगरूप करनेमें इन्द्रिय, मन आदिकी आवश्यकता होती है। क्षायिक अवस्थामें किसी प्रकारके सहारेकी—आवश्यकता नहीं होती। इसी सहारे और विना सहारेके कारण ज्ञान की परोक्ष और प्रत्यक्ष कल्पना की गई है। वास्तवमें ज्ञान परोक्ष नहीं हो सकता। ज्ञानका कार्य तो जानना

है, जानना परोक्ष कैसा ? वह तो प्रकाशके सदृश पदार्थोंको स्पष्ट करता है ! बहिरंग कारणोंसे प्रकाशमें अन्तर आ सकता है। नानारंगके कांचोंसे प्रकाशके रूपमें अन्तर आसकता है, वास्तवमें प्रकाश तो शुद्ध एक रूप ही है। उसी प्रकार बहिरंग इन्द्रियादि कारणों की अपेक्षा ज्ञानमें परोक्ष कल्पना की गई है, वास्तवमें ज्ञानमात्र विशद रूप—प्रत्यक्ष ही है।

यदि हम और भी विचार करें तो अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी उत्पत्तिमें परापेक्ष हैं। गोम्मटसार जीवकाण्डकी ३७० वीं गाथामें अवधिज्ञानके स्वामीका वर्णन करते हुए, यह भी बताया है कि *गुणप्रत्यय अवधिज्ञान*—शंखादिक चिन्होंके द्वारा हुआ करता है, तथा भवप्रत्यय अवधिज्ञान संपूर्ण-अंगसे प्रकट होता है। इसीप्रकार मनःपर्ययज्ञान भी द्रव्यमनको आधार लेकर होता है। इस प्रकार परापेक्ष होने पर भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष ही कहलाते हैं, क्योंकि उपयोगके समय ये आत्ममात्र सापेक्ष हैं। इसी प्रकार जब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष होते हैं, तब प्रत्यक्ष—ही होते हैं।

जितने अंशमें ज्ञान हो रहा है, उतने अंशमें ज्ञानावरण कर्मका—सर्वथा अभाव है। अन्य अंशोंमें आवरण विद्यमान होनेसे तथा उपयोग-रूपमें लाने वाले कारणोंके कारण ज्ञानको क्षायोपशमिक कहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक—तथा केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्षज्ञान—कहा है, क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायता से उत्पन्न होते हैं। उमास्वामीने—"तन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" इस सूत्रमें मतिज्ञान उत्पन्न करनेके लिये-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये छह बहिरंग कारण बताये हैं। ये वास्तवमें ज्ञानको उपयोगरूप लानेमें कारण हैं। लब्धिकी अवस्थामें वह मतिज्ञान, (उतने अंशमें) विशद प्रत्यक्षके समान ही है।

ज्ञानावरणकर्मका आवरण आत्माके जितने अंश में विद्यमान रहता है, उतने अंशमें ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता। अतः क्षायोपशमिक अवस्थामें—लब्धिरूपसे निरावरण अंश प्रत्यक्षके समान निर्मल और विशुद्ध होना चाहिये। मैं पहिले बता चुका हूँ कि क्षायोपशमिकज्ञानके समय आत्माके साथ अन्य अंशों में ज्ञानावरण कर्मका सम्बन्ध रहता है, तथा क्षायिकज्ञानके समय आत्माके किसी भी अंशके साथ ज्ञानावरण कर्मका सम्बन्ध नहीं रहता। इसी लिये क्षायिक और क्षायोपशमिक दो भेदोंकी कल्पना की गई है। वास्तवमें जितने भी ज्ञान हैं, सभी प्रत्यक्षज्ञान हैं। पंचाध्यायीकारने कहा है—

अपि किं वाभिनिबोधकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्॥

अर्थात्—केवल स्वात्मानुभूतिके समय जो ज्ञान होता है, वह यद्यपि मतिज्ञान है, तो भी वह वैसा ही प्रत्यक्ष है. जैसा कि आत्ममात्र सापेक्ष प्रत्यक्षज्ञान होता है। यहां मतिज्ञानको भी जब इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं होती, अर्थात् जब केवल लब्धिरूप अवस्था होती है, उस समय प्रत्यक्षज्ञान कहा है। अतः सभी ज्ञान प्रत्यक्षरूप ही हैं। केवल बहिरंग कारणोंके कारण ज्ञानकी परोक्ष कल्पना करनी पड़ी है।

जागो जागो हे युगप्रधान !

[ले०—साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त']

है शक्ति निहित सारी तुममें, तुम ही हो जगके नर महान
जागो जागो हे युगप्रधान !

क्षितिपर हरियाली छाई है, पर सूख रहे मानव-आनन,
सरिताएँ वनमें उमड़ रहीं, पर खाली है मानस-कानन,
घन-घटा व्योममें घुमड़ रहीं, पर भूपर है ज्वाला-वितान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

नभसे होती है बोम्बवृष्टि, क्षितिपर सरिताएँ लहरातीं,
जठरोंमें नरके ज्वालाएँ हैं बढ़ीं भूखकी हहरातीं,
है सुलभ नहीं दाना उनको, आँखोंमें छाया तम महान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

कितने ही भाई बिलख रहे, कितनी ही बहिनें रोती हैं,
कितनी ही माताएँ प्रतिपल, अपने शिशु-धनको खोती हैं,
जग भूल गया कर्तव्य-कर्म, जिससे पाता था सुख-निधान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

है रणचण्डीका अतुल नृत्य, दिखलाता जगमें विकट खेल,
है बन्धु बन्धुमें द्वेष बढ़ा, है नहीं किसीके निकट मेल,
कंकालमात्र अब शेष रहा, सब दूर हुआ बल सौख्य दान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

यह लाल-दैत्य-ज्वालाभितप्त करता आता है ध्वंस आज,
यह प्रलय रुद्र उत्तप्त हुआ है सजा रहा संसार साज,
बन, उठो वीर हे! सजल मेघ, कर दो जगसे ज्वालाऽवसान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

जगतीमें छाया निविड़ध्वान्त, पथ भूल रहे नर सुगमकान्त,
दिखता है मानव-हृदय क्लान्त, सागर लहराता हो अशान्त,
लेकर प्रकाशकी एक किरण, करने जगमें आलोक-दान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

हैं पुरुष आप पुरुषार्थ करें, नर ओज विश्वमें प्राप्त करें,
हैं तरुण, तभी तरुणाईसे नभमें महान आलोक धरें,
भर कर उरमें संदेश दिव्य, फैलाने जगमें अतुल ज्ञान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

बीती रजनी, आया प्रभात, प्राचीमें फूट उठी लाली,
खगदलके मञ्जुल विहागसे, हो उठी लसित डाली डाली,
जग भर कर निज चैतन्य-साज, है चला दिलाने स्वावदान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

फैले जगमें फिर एक बार, वीरोंका वह कमनीय गान,
जागो जागो हे युगप्रधान !

वर्तमान संकटका कारण

(ले० — बा० उग्रसेन जैन, एम० ए० एल० एल० बी०)

आज संसार एक महाभयानक युद्धमें फंसा हुआ है। प्रत्येक देशमें त्राहि २ की पुकार सुनाई पड़ती है, जिसे देखो वह ही युद्धकी समाप्तिके लिये अपने हृदयस्थलमें प्रबल इच्छाको लिये हुए हैं। परन्तु हम यह विचार नहीं करते कि इस सारे संकटका कारण क्या है? जब तक मूल-कारणको जान कर उसके निर्मूल करनेका उपाय नहीं सोचा जाता और उस पर अमल नहीं किया जाता, उस समय तक युद्धका सिलसिला जारी ही रहता रहेगा। कभी कुछ दिनोंके लिये बंद हुआ तो फिर कटसे द्वेषकी अग्नि प्रज्वलित होने पर युद्ध छिड़ जाता है, प्रजा दुःखी होती रहती है। हमारी वर्तमान सभ्यता ही इस संकटका मूलकारण है। वर्तमान सभ्यताकी नींव विषय-कषायकी पूर्ति पर ही रक्खी है, जड़वाद इसकी तहमें है, चारों ओर आध्यात्मिक अराजकताका साम्राज्य छाया हुआ है, शिक्षित होते हुए भी हमें यह भान नहीं कि हम क्या हैं? हम संसारमें क्यों हैं? हमारे इस मनुष्य-जीवनका उद्देश्य क्या है? यथार्थमें वस्तुस्वरूपका ज्ञान ही नहीं है। नवीन विचार-धाराओंने हमारे दिल और दिमाग़ पर अपना कुछ ऐसा सिक्का जमाया है कि हमारे दैनिक आचार-विचारमें बड़ा भारी परिवर्तन होता जारहा है। आत्मज्ञान-विहीन कुछ ऐसी विचार धारायें आज प्रचलित हो रही हैं, कि जिनके निमित्तसे आध्यात्मिक एकता तथा पारस्परिक प्रेम और सहानुभूतिकी सद्भावनायें मनुष्यजातिसे लुप्त ही हो गई हैं। स्वार्थान्धताने एक विकरालरूप धारण किया है। व्यक्तिवाद दिन-ब-दिन बढ़ता जारहा है, इसीसे सामाजिक संगठनके दृढ़ बन्धन नितप्रति ढीले पड़ते चले गये और वे सब धार्मिक तथा नैतिक भावनायें नष्ट होगई जिनके कारण समाज एकताके सूत्रमें बँधा हुआ था। सत्य, अहिंसा, विश्व-प्रेम, दया, सेवा, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ, स्वार्थ-त्याग, दान तप शील भावना आदि अनेक गुण जो हमारे दैनिक जीवनके खास सहारे थे और जिन पर कि सामाजिक और धार्मिक एकताकी गहरी नींव टिकी हुई थी, जाते रहे; इनको ढकोसला समझा जाने लगा, पौद्गलिक भावोंकी गृद्धि बढ़ती गई, भोग-विलासका जीवन व्यतीत करना ही अन्तिम ध्येय बनता गया, मौज-शौककी सामग्रीका अधिकाधिक मात्रामें संग्रह कर लेना ही जीवनकी सफलता समझी जाने लगी। फल क्या हुआ? यही कि अपने निज स्वरूपके भुला कर परके पीछे हाथ धोकर जा पड़े धर्म, अर्थ और काम-पुरुषार्थका साधन यथायोग्य नहीं रहा, धर्मकी तो चर्चा तक भी नहीं अगर कहीं हो भी तो लोकलाजके लिये और केवल बाहरी दिखावटकी खातिर। मोक्ष-पुरुषार्थका तो प्रश्न ही नहीं। संसारी विभूतिको हथिया लेनेकी धुनमें प्रत्येक राष्ट्र लगा हुआ है, वह विभूति सीमित है, प्रत्येककी इच्छाओंकी पूर्ति उसके द्वारा कैसे होवे? हां, यदि यह अहिंसात्मक सद्भावना प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें होवे कि मैं भी सुख और सन्तोषके साथ रहूं और दूसरे भी सुखी रहें तो बेशक समाजकी काया पलट हो सकती है। इसके लिये आवश्यकता है कि हम यह समझें कि संसार क्या है और हमारा इसके साथ कैसा सम्बन्ध है? हमें अपने अंतिम ध्येयको अधिक स्पष्टताके साथ समझनेकी ज़रूरत है। हमें अपना आदर्श स्पष्ट रूपसे अपने सामने रखना चाहिये, क्यों कि जैसी भावना होती है वैसा बननेका ही सर्व प्राणियोंका उद्देश्य हुआ करता है। यदि हमारी अपनी भावना सुख और शान्तिमय जीवन बितानेकी होती है और हम उस ध्येयकी ओर प्रयत्न-शील होते हैं तो अवश्य हमारा जीवन सुख-शान्तिमय हो जाता है। इस भावनाको निश्चित कर इसकी मूर्ति हमें अपने हृदयमें निर्मित कर लेनी चाहिये, उस मूर्तिके निर्माण होने पर ही हमारी प्रवृत्ति उस ओर चलती है। इस लिये जो संसारसे अशांतिको मिटाना चाहते हैं और इसके लिये प्रयत्नशील हैं उनका कर्तव्य यह है कि वे प्राणीमात्रको अपने बराबर समझें, सबके प्रति प्रेमकी भावना अपनेमें जागृत करें, विषय-कषाय

की पूर्तिको ही अपना ध्येय न समझें, बल्कि उसे अपनी गिरावटका मूल कारण जाने; संसारी जीव पौद्गलिक पदार्थोंका त्याग नहीं कर सकते यह ठीक है, परन्तु उसमें आसक्ति कम रखें, दूसरोंके लिये भी जीवन-निर्वाह करनेके लिये कुछ छोड़ें, प्रकृतिके नियमोंका उल्लङ्घन न करें और आत्माके सत्यस्वरूपको समझ इस संसारके साथ अपने सम्बन्धकी वास्तविकताको समझें। ऐसा होने पर ही हमारा उत्थान हो सकता है और हम सुख और शान्तिमय जीवन बितानेके योग्य हो सकते हैं और इसीसे हम बार २ युद्ध होनेकी सम्भावनाको कम कर सकते हैं। समाज व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम है। जब व्यक्तिगत जीवन धार्मिक नींव पर टिका होगा तो सामाजिक जीवन स्वयम् धार्मिक होगा, धार्मिक जीवन होने पर जीवन संतोषमय होगा, व्यर्थके झगड़े किसीको न सुहावेंगे, साधारण जनता शान्ति स्थापित करनेके लिये उत्सुक होगी और शान्तिको स्थापित करके ही चैन लेगी।

विश्वको अहिंसाका संदेश

(ले०—बा० प्रभुलाल जैन 'प्रेमी')

मनमें यह दृढ़ संकल्प कर लेने पर कि इस मासमें सम्पादकजीकी सेवामें लेख भेज कर उनकी आज्ञा-पालन करना अनिवार्य है; हृदयमें अनेक विचार-धारायें उठने लगीं! किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता-वश नहीं। अपितु निर्वाणोत्सव जैसे भारतके अद्वितीय पर्वका स्वागत करनेके लिये पुष्प वाटिकाके किन सुमन संचयोंसे माल गूंथी जाय? एक नहीं अनेक संकल्प विकल्प उठे और अन्तर्द्धान हो गये। कई दिनकी मानसिक उधेड़ बुनके पश्चात् यही निश्चय हुआ, कि आज जब सारे विश्वमें अशान्ति छाई हुई है। एक देश दूसरे देशको हड़पनेके लिये सुरसा जैसा मुंह फाड़े खड़ा है। हमारे ही देशमें जहां कभी घी, दूध, दहीकी नदियां बहा करती थीं जिसमें जन्म धारण करनेके लिये मनुष्यों की कौन कहे, देवताओंका भी मन ललचाया करता था, उसी भारतमें आज अन्न और वस्त्रके लिये त्राहि २ मची हुई है। बिना ही कारण प्रतिदिन हजारों ही नहीं लाखों नर-नारी और बालक रणचन्डीकी भेंट चढ़ाये जारहे हैं। ऐसे समयमें अशाँतिको मिटा कर शान्तिका स्थापन कराना, और भूले भटकोंको सुपथ पर लाना ही हमारी सच्ची राष्ट्रसेवा, धर्मसेवा और समाज सेवा कही जासकती है। अत: आज मैं पाठकोंका ध्यान ऐसे ही विषयकी ओर आकर्षित करना चाहता हूं, जिस पर आचरण करनेसे विश्वमें शाँति होनेके साथ २ हमारे अशांत हृदयोंको भी शान्ति मिल सके। अतः प्यारे पाठको! आइये, आज लेखके विषय "विश्वको अहिंसाका संदेश" पर न केवल विचार-विनिमय करें, अपितु पूर्वजोंके महान त्याग और तपश्चर्यासे संग्रहीत 'अहिंसा रत्न' की शीतल आभासे विश्वकी अशांति को मिटादें और सभी स्वार्थान्ध राष्ट्रोंको उसी अमोघ रत्नकी दिव्य-ज्योतिसे आलोकित करदें जिसकी प्रबल आभाके प्रकाशसे मनसा, वाचा, कर्मणा, लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकारकी अशांति मिट जाती है।

"विश्वको अहिंसाका संदेश" यह आजके स्वार्थान्ध और हिंसा वृत्तिको ही साफल्य साधनाकी कुंजी समझने वाले लोगोंको अवश्य ही हास्यास्पद और विस्मयजन्य मालूम होगा। क्योंकि आज संसारकी सारी व्यवस्था राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक हिंसा वृत्ति पर ही टिकी और उसी पर अवलम्बित मालूम होती है! जब मानव समाजका अधिकांश भाग अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो, जब सारे विश्वमें जिधर दृष्टि डालें उधर ही एक देश दूसरे देशको, एक जाति दूसरी जातिको हड़पनेमें लगी हो छल और कपट ही जब राजनीति समझे जाते हों, तब साधारणतया अधिक जनसमुदायका यही विचार हो जाता है, कि ऐसे समयमें अहिंसाकी बात मूर्खता ही है। पर

अंधकारमें ही प्रकाशकी आवश्यकता पड़ती है। समुद्रका खारी पानी ही बढ़के शीतल, सुस्वादमय जलका मिठास बना सकता है और किसी भी प्राप्त करने योग्य वस्तुका वास्तविक मूल्य उसकी अप्राप्त दशामें ही कूता जा सकता है। यदि पथभ्रान्त मनुष्य उचित पथप्रदर्शित करा देने पर भी उस पथको छोड़कर अन्यत्र भटकता फिरता है, तो यह उसीकी बुद्धिभ्रान्तिताका परिणाम समझना चाहिये।

पाश्चात्य वैज्ञानिक यह सोच कर कि आजकी उनकी प्रगति संसारको चकाचौंध करने वाली है भले ही अपने मुंह मियां मिट्ठू बनते रहें, क्योंकि वह भी उनकी वस्तु नहीं है। पर यदि उनसे भी हृदय पर हाथ रख कर पूछा जाय तो मानना पड़ेगा कि आज समस्त विश्व आध्यात्मिक शान्तिके लिये जलसे पृथक हुई मछली और मणिविहीन सर्पकी तरह तड़फड़ा रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिक विज्ञान की जिन गुत्थियोंको आज सुलझा रहे हैं उन्हें हमारे ही विज्ञानवेत्ता आचार्य आजसे हजारों वर्ष पहिले निश्चित कर चुके थे। पर हमारे पूर्वज बाह्यजगत्के जड़ पदार्थोंके मोहग्रस्त नहीं होते थे; वे तो सदैव अन्तरजगतके अमृत पारावारमें ही मग्न रहते थे। प्राचीन ग्रन्थ साक्षी हैं कि वे कैसे प्रकृतिप्रेमी, अहिंसाप्रेमी और ईशप्रेमी थे। यही कारण था कि वे शांतिके समुद्र थे, प्रेमके प्रतिनिधि थे, और दयाके अवतार थे। उनके दर्शनों मात्रसे ही पशु और पक्षियों तकका कल्याण होजाता था, ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरणोंसे हमारा अतीत इतिहास रंगा पड़ा है। आज भी दूसरोंकी हत्यामें रत, पथभ्रान्त, अशांत स्वार्थान्ध विश्वको प्रेम-पाशमें बांधनेके लिये किसी ऐसे ही एक गुरु मंत्रकी आवश्यकता है, जिसकी साधना द्वारा इसका कल्याण हो सके। और ऐसा अचूक गुरुमंत्र जिस एककी साधनासे सभी साधनायें सुलभ हो जायें अहिंसा ही है। "अहिंसा परमोधर्मः यतो धर्मस्ततो जयः"—अहिंसा ही परम धर्म है और धर्मकी ही जय होती है। इसकी शक्ति महान है। अहिंसाका अर्थ है पशुबलका द्वेषरहित विरोध तथा विश्व-प्रेम जहाँ बन्दूकें, तलवारें, तोपें, मशीनगनें, बम, जहरीली गैसें तथा तारपीडो जैसे भयानक अस्त्र-शस्त्र भी हार मान कर बैठ जाते हैं, वहां अहिंसाका सिद्धान्त ही अपना अक्षय अमिट और अतुल प्रभाव दिखलाता है। यदि अहिंसाकी शक्ति तलवारों और बन्दूकों पर विजय न पाती होती, तो वह अशोक जिसने लाखों खून करके कलिंग विजय किया था, और जिसकी आज्ञासे चन्डीगिरिने बौद्ध भिक्षुओंके सर्वनाश जैसा घृणितआचरण ही अपने जीवनका ध्येय बना रक्खा था, अन्तमें अहिंसाका उपासक बन कर अपने राज्यमें अहिंसा की ढ्योंढी न पिटवाता और न अहिंसाके संदेशको विश्व-व्यापी बनानेके लिये अपने लड़के और लड़कीको विदेशोंमें भेज कर आज भारतके इतिहासमें "महान् अशोक" कहलाता। मौर्य और गुप्त साम्राज्य अहिंसाकी ही प्रधानताके कारण आज भी विश्वके इतिहासमें स्वर्ण-युगके नामसे पुकारे जाते हैं।

इन्द्रने जब प्रव्रज्याके लिये उद्यत नमिराजसे कहा कि तुम अपने शत्रुको पराजित कर फिर सुख संयम धारण करो, तब उस राजर्षिने भी शत्रु–दमनका केवल एक यही उपाय बतलाया कि, 'संग्राममें जाकर हजारों और लाखों योद्धाओंको जीतना आसान है लेकिन अपने आपको जीतना कठिन है। आत्मजय ही परम जय है। इस परम जयको छोड़ मैं तुच्छ जयके पीछे क्यों पड़ूं? आध्यात्मिक युद्ध जब मेरे समक्ष है, इस बाह्य युद्धमें क्यों फँसूं? युद्धका उद्देश्य यदि सुख ही है और यदि वह सुख भी मुझे अपने ऊपर जय करने पर मिल सकता है तो मैं क्यों व्यर्थ ही सबको मारता फिरूं? क्यों कि मैं ज्यों २ क्रोधावेगसे दूसरोंको मारता फिरूंगा वैसे २ क्रोध और वैर अधिकाधिक बढ़ता जावेगा, जो अन्तमें मेरे ही विनाशका कारण होगा। अतः ज्ञानवान मनुष्यको अपने ही हृदय स्थित क्रोध रूपी बैरीको नष्ट करनेका ही प्रयत्न क्यों न करना चाहिये? क्यों कि इससे किसी दूसरे व्यक्तिको तो कष्ट होता ही नहीं है है और स्वयं भी सुख-शांति प्राप्त करलेता है"। यही है अहिंसाका सच्चा संदेश तथा हमारे भारतीय राजकुमारोंकी इन्द्रियजयता और अहिंसक आदर्शवादिताका ज्वलन्त प्रमाण। क्या अहिंसाका ऐसा आदर्शरूप और अनुकरणीय उदाहरण हमें विश्वके इतिहासमें अन्यत्र भी प्राप्त हो सकेगा? उपर्युक्त अहिंसक वीरोंके उदाहरणोंसे "अहिंसा वीरस्य भूषणम्" अर्थात अहिंसा वीरोंका धर्म है कायरोंका नहीं यह स्पष्ट हो जाता है। अत: दूसरोंकी हत्यामें रत विश्व यदि अपनी वास्तविक वीरताका परिचय देना चाहता है,

यदि वह सचमुच ही वीर पूजाका उपासक है, और विश्वके आधुनिक इतिहासके प्रातःस्मरणीय वीरोंमें अपना नाम अंकित करनेका इच्छुक है, तो अपने ही हृदय स्थित क्रोधादि बैरियोंके दमनमें अपनी वीरताका परिचय देना चाहिये। आत्मा ही परमात्मा है, जिसने अपने आपको जीत लिया, उसीने परमात्माको जीत लिया! और जिसने परमात्माको जीत लिया फिर उसे अशांति कहां?

यद्यपि अहिंसा जैनधर्मका प्राण है, पर विश्वका कोई ऐसा धर्म नहीं जिसने अहिंसाका विरोध किया हो। चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे इसलाम हो, चाहे बौद्ध हो अथवा क्रिश्चियन। उन भिन्न-भिन्न मतानुयायियोंने अहिंसा जैसे रत्नको पाकर उसके आलोकसे संसारको आलोकित किया अथवा केवल धार्मिक ग्रन्थोंके पृष्ठोंको सुशोभित करने तक ही उसे सीमित रक्खा या गुदड़ियोंमें छिपाकर उसकी स्वयं की आभाको भी विकृत करनेका असफल प्रयत्न किया, यह दूसरी बात है; और इसके समुचित उत्तर देनेका पूर्ण उत्तरदायित्व उन्हीं पर छोड़, अपना रास्ता नापना अधिक श्रेयस्कर दीखता है! अहिंसाके सम्बन्धमें व्यासजीके वाक्य स्मरण रखने योग्य हैं! वे कहते हैं:—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय पर-पीड़नम्॥
कषाय-पशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः।
शममंत्रहतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः॥
प्राणघातात्तु योधर्ममीहते मूढ़मानसः।
स वांछति सुधावृष्टिं कृष्णाहि-मुखकोटरात्॥

अर्थात् अठारह पुराणोंमें अनेक बातें रहते हुए भी मुख्य दो ही हैं, पहिली यह है कि दया यानी अहिंसारूपी परोपकार होनेसे पुण्य होता है। और हिंसा अर्थात् दूसरों को कष्ट पहुंचानेसे पाप होता है। इसलिये क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायरूप दुष्ट पशुओंको, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको नष्ट करने वाले हैं, शमरूप मंत्रसे मारकर पंडितोंसे किये हुए यज्ञको करो। जो प्राणियोंकी हिंसासे धर्मकी इच्छा करता है, वह श्याम वर्ण सर्पके मुँह से अमृतकी वृष्टि चाहता है।

महाभारत शान्तिपर्वके प्रथम चरणमें भी अर्जुनको समझाते हुए कहा है—

सर्ववेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत् कुर्यात् प्राणिनां दया॥
अहिंसा लक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्त्तव्या प्राणिनां दया॥

अर्थात्—हे अर्जुन जो दया फल देती है, वह फल चारों वेद भी नहीं देते, और न समस्त यज्ञ देते हैं तथा सब तीर्थोंके स्नान वंदन भी वह फल नहीं दे सकते हैं। अहिंसा ही धर्म है, और प्राणियोंका वध ही अधर्म है, इस लिये धार्मिक पुरुषोंको हमेशा धार्मिक सिद्धान्त दया पर ही चलना चाहिये।

अहिंसाके सम्बन्धमें लोग नाना प्रकारकी शंकायें उठाते हैं, कि अहिंसा संसारकी वस्तु नहीं, स्वर्गका आदर्श है, तथा जीवनके सब प्रसंगोंपर इसका उपयोग नहीं हो सकता इस सबका कारण इसके व्यापक अर्थको ही नहीं समझना है। अहिंसाका अर्थ केवल हिंसा ही न करना हो, तब तो उसे कायरताकी पोषक और सब अवसरों पर काममें न आने वाली वस्तु समझा जा सकता है। पर निश्चयरूपसे पशुबलका द्वेषरहित विरोध अहिंसाके सिद्धान्तका मुख्य अंग है। अहिंसा निषेधात्मक गुण नहीं है। यह मनुष्योंकी शक्तियोंमें सर्वोच्च है। वास्तवमें अहिंसक वृत्ति ही मनुष्य को पशुसे ऊपर उठाती है। अहिंसाका मूल प्रेम है। शत्रुके प्रति क्रोध न करना, केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, पर सच्चे अहिंसकके हृदयमें तो उसके प्रति प्रेम और सद्भावका संचार होना चाहिये। सच तो यह है कि विश्वके इस संघर्षके बीच प्रेम ही वह तत्त्व है, जो इसको टिकाये हुये है। क्योंकि 'Love is god and god is love' अर्थात् प्रेम परमात्माका रूप है और परमात्मा प्रेमरूप है। अतः ऐसी अहिंसामें कायरताकी झलक खोजना या उसे निष्कर्म और स्वप्नलोकका आदर्श बतलाना यह हमारे दिमागोंका ही परिणाम है। आजकल हर एक प्रकारकी नैतिकताकी खिल्ली उड़ाना एक फैशन हो गया है। पर यदि समानताकी दृष्टिसे देखा जाय, तो आजकलके वातावरणमें मानवजातिके निस्तारका यदि कोई साधन है, तो वह केवल अहिंसा है।

विश्वकी वर्तमान विभूति महात्मा गांधीने जो सबसे बड़ी बात की है और जिसने आज संसारके सभी विचारकों

का ध्यान आकर्षित किया है. वह है सार्वजनिक क्षेत्रमें अहिंसा और सत्यके सिद्धान्तोंका प्रयोग। उन्होंने अपने जीवनके प्रत्येक क्षणसे, अपने प्रत्येक कार्य और उपदेशसे यह साबित करनेका सतत प्रयत्न किया है कि अहिंसा केवल मन्दिर या घरके किसी कोनेमें बैठकर ध्यान करनेकी चीज नहीं है, पर जीवनके प्रत्येक क्षणमें उपयोगमें लेने की है। वे स्वयं कहते हैं कि जो बात मैं करना चाहता हूं जो करके मरना चाहता हूं, वह यह है कि अहिंसा और सत्यको संगठित करूं. अगर वह अहिंसा और सत्य सब स्थानोंके लिये उपयुक्त नहीं है, तो वह झूठ है। याद रहे अहिंसा मठवादी सन्यासियोंके लिये ही नहीं है, अदालतों धारासभाओं और अन्य व्यवहारोंमें भी यह सनातन सिद्धान्त लागू होता है।

पाश्चात्य विद्वान् स्वर्गीय दीनबन्धु एण्ड्रूजका भी यही मत है कि यदि पाश्चात्य देश सुख और शान्तिका अनुभव करना चाहते हैं, तो उन्हें अहिंसक ही संदेश विश्वको देना पड़ेगा। उनके शब्द हैं "जब तक यूरोप और अमरिका सर्व प्राणी समभावके सिद्धान्तको समझ कर जीवनके अहिंसक आदर्शको स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक पश्चिममें उत्पन्न हुए जात्याभिमान और साम्राज्यवाद जो युद्ध और संहारके दो मुख्य कारण हैं, और जिनके कारण ही सारी मानव जाति अकथनीय वेदना पारही है. नष्ट नहीं होंगे।"

अहिंसाका उपयोग ही शांति और कल्याणका देने वाला है। अहिंसाके सम्बन्धमें कुतर्क करना सुमतिका नाशक है, शांतिमें बाधक है, विश्वासको हिला देने वाला है, अभिमानको बढ़ाता है, और इस प्रकार कुतर्क हमारी आत्माका भयानक शत्रु है। अतः प्रत्येक दैनिक स्मरणमें उसे कार्यान्वित करे, और अहिंसाके संदेशको विश्वव्यापी बनानेका सतत प्रयत्न करे। हमें गर्व होना चाहिये, कि हमें भी उसी वसुन्धरा पर जन्म धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसमें जन्म धारण कर भगवान महावीर और बुद्ध ने अपने अहिंसावाद और विश्वप्रेमके नाद द्वारा स्वर्गीय आदर्श स्थापित किया था। आज भी हमारा वही वह पुराना भारत है, और प्रकृति आज भी हमें पूर्ण सहयोग दे रही है! क्योंकि:—

"इस बात की साक्षी प्रकृति भी है अभी तक सब कहीं।
होता प्रभाकर पूर्व से ही, उदित पश्चिमसे नहीं॥"

विश्व आज दुखी है, अशांत है, पंगु है, पथ भ्रष्ट है, अंधकारमें है, शक्तिका प्रयोग करते हुए भी शक्ति विहीन है। अतः प्यारे भाइयो! अब यही तो वह समय है जब कि हमें अहिंसाके झंडेके नीचे आजाना चाहिये और अपने अहिंसाके अक्षय आलोकमे हिंसाके अन्धकारको नष्ट कर विश्वको अहिंसक बनाकर शान्तिका पाठ पढ़ाना चाहिये जो अहिंसक है वही जितेन्द्री है, और जितेन्द्रियता ही वीरधर्म और वीरपशु है। जब इस प्रकारसे समस्त विश्व प्रेम-पुजारी और सच्चा अहिंसक वीर बन गया. फिर ईर्षा, द्वेष, वैमनस्य, वैर, विरोध और कलह कहाँ? इस प्रकारसे समस्त विश्वके अहिंसकवादको अपनाने पर, फिर धार्मिक विभिन्नता जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जब धार्मिक विभिन्नता ही नहीं. तो जिन बातोंका स्वपना हम ऋषि प्रणीत ग्रन्थोंमें देखा करते हैं, और एकाएक जिनकी सत्यता पर विश्वास भी नहीं करते, वही आदर्शवादिताका समय हम स्वयं निर्माण कर सकेंगे। और इस प्रकारका निर्माण होजाने पर विश्व शान्तिके सरोवरमें स्वयं ही गोते लगाने लगेगा। पर शान्ति स्थापन हेतु, विश्वको अहिंसाके जिस सन्देशको देना चाहते हैं, वह केवल कागजोंको रंग कर, अथवा केवल विद्वत्तापूर्ण भाषणों द्वारा ही विश्वव्यापी नहीं बन सकेगा। इसको विश्वव्यापी बनानेके लिये प्रत्येक परिवारको अपना एक एक होनहार बालक 'अहिंसक वीरों' की सेनामें भरती करना होगा। सैनिकोंका कर्तव्य होगा कि स्थान-स्थान पर होने वाली हिंसाको बन्द करावें। अपने नम्र पर हृदयग्राही उपदेशों द्वारा लोगोंको हिंसक वृत्तिसे ग्लानि उत्पन्न करावें। अहिंसा विषयक लेख प्रतियोगिताओंको जन्म दें। जो हिंसक वृत्तिके घृणित व्यवहारसे ऊबकर नव दीक्षित अहिंसक बने, और अहिंसा के सन्देशको अन्य पथ भ्रान्त लोगों तक पहुंचानेमें सहयोग दे, उसे प्रोत्साहन दें। उसका उदाहरण अन्य लोगोंके सामने रक्खें, अथवा उसे किसी अन्य प्रकारसे सम्मानित करें। जिन महान् विभूतियोंने, अथवा आचार्योंने अहिंसा के सिद्धान्तको विश्वव्यापी बनानेके लिये आत्म समर्पण कर दिया था, अपने परिवार तथा संसार सुखको त्याग दिया था, और जो कर रहे हैं, अथवा भविष्यमें करें उनका

स्मरण करें। उनकी पवित्र जन्म तिथि, कर्म तिथि तथा स्वर्गगमन तिथि पर उनके यशको गाकर उनके गुणों और त्यागकी प्रशंसा करें, तथा उन्हें महामन्त्र समझकर अपनावें और इन्हींको हम अपने राष्ट्रीय, धार्मिक तथा सामाजिक त्यौहार समझें। यदि हम 'विश्वको अहिंसाका सन्देश' इस रूपमें पहुंचा सकेंगे, तो संसारकी कोई भी शक्ति हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, और निकट भविष्यमें सम्भावित भावी भारतीय युद्धके समय भी हम केवल अहिंसा रूपी तलवार और प्रेम रूपी ढालके अवलम्बन पर उसी सुख शांतिका रसास्वादन कर सकते हैं, जिसे विश्वके कोने-कोनेमें पहुंचा देनेकी हमारी उत्कट इच्छा है।

मानवताके पुजारी हिन्दी-कवि

(श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर')

'अनेकान्त' के अगस्त-अंकमें एक लेख छपा है—'हिन्दीके जैन-कवि'। लेख ३ पृष्ठोंका है, पर ३ वाक्य उद्धृत करनेसे उसका सार सामने आजायेगा।

१—"सचमें आज हिन्दी-साहित्यके भीतर शब्द-क्षेत्रमें कतिपय कविश्रेष्ठोंको छोड़कर अश्लीलता और गुण्डत्वकी भरमार होरही है।"

२—"जब हिन्दी साहित्यमें उच्च माने जाने वाले कविगण पाशविकताका प्रचार करनेमें तल्लीन हैं, तब जैन कविगण देवत्वकी महत्ताको भूल नहीं गये हैं।"

३—"आज हिंदी साहित्यमें ....गीत.......... साहित्यको कलंकित कर रहे हैं, परन्तु वे जैन कवि ही हैं, जिनकी आध्यात्मिक गंगा निरंतर प्रवाहित ही है।"

इन 'गुण्डत्व' फैलानेवालोंमें लेखकने श्री अंचलका कई बार उल्लेख किया है। सच यह है कि लेखक समाज और साहित्यकी विचारधाराओंसे अपरिचित है। उसे पता नहीं है कि हिन्दीके कवि गत थोड़ेसे दिनोंमें कहाँसे कहां आगये हैं और आज रीतिकालीन शब्दोंके व्यायामसे दूर एवं निर्जीव देवत्वके स्तुतिगानोंसे ऊपर; मुक्त मानवताकी पुण्य पताका वे अपने सुदृढ़ हाथोंमें थामे हुए हैं।

हमारा समाज आज विद्रोहका केन्द्र बनता जारहा है और कवि उसका प्रतिनिधित्व सम्भालनेमें लग चुके हैं। 'अंचल' इसी विद्रोहके कवि हैं। उनकी 'अपराजिता' में जो विरह, बेचैनी, क्रन्दन और प्रेम है, वह क्या केवल एक प्रेमिकाके प्रति एक निराश प्रेमीका ही हाहाकार है? हमारे समाजने अपनी जर्जरताके युगमें, मानवकी स्वतन्त्रताका अपहरणकर, मानव और मानवके बीच जो नियमोंकी दीवार खड़ी करदी है, क्या उसके ईंट ईंट गिरनेकी प्रतिध्वनि उसमें नहीं है? फिर आज 'अंचल' अपराजिताका नहीं, 'किरण बेला' का कवि है, जहां वह ललकारता है—

"संघर्षोंकी लहरोंपर तिर तेरी अंगार तरी चलती,
असफल विद्रोहोंके सिरपर, तेरी नूतन ज्वाला जलती,
इस प्रेमकला संसृतिका क्षयहो,क्षयहो युगकी माँग अड़ी,
होयह समाज चिथड़ेचिथड़े,शोषणपर जिसकी नींव पड़ी"

'अंचल' की अपराजिता आज प्यारके चोचले नहीं रखती। आज तो वह एक नये ही रंगमें है—

"भर लाई हो तख कठिन अंगोंमें तूफानोंका आसव,
आज तुम्हें क्या विश्व बदलना, आज तुम्हें क्या कठिन असंभव?
आज तुम्हारी रणभेरीमें घर घरसे निकलें अंगारे,
आज बँधे ज्वालागिरि खुलते इंगितपर सुन्दरी! तुम्हारे!"

आजके दुखी संसारकी उपेक्षापर स्वप्नोंके महल खड़े करनेवालोंको उसने कैसी फटकार बताई है—

"आज किस अन्तर्मुखी गतिहीनतामें बद्ध कविगण?
क्या कुरेदा ही करेंगे खोखले अपने सड़े व्रण?

× × ×

चाहता मैं ध्वस्तके विश्वासकी नींवें हिलाकर,
खोलना उनकी प्रगतिमूलक कलाकी पोल जर्जर !"

इस युगके कवियोंने आज अपनी वीणामें जो नये स्वर भरे हैं, वे मल्हारके नहीं भैरवके हैं—

"गा एक बार, हाँ एक बार !"

'अनुभूतिगीत' के गायक भावुक कवि श्री हर्षितके इस गीतमें जैसे आजके समस्त काव्यकी आत्मा चीत्कार कर उठी है—

"वह गीत सखे, सुनकर जिसको पाषाण कर उठें चीत्कार !
× × ×
विधिकृत विधान औ' पुण्य-पाप,
यह दानव-लीला, शक्ति सकल,
मायाका चलता चक्र विषम,
लय-उदय, चार हो जायें जल,
टूटी वीणामें वह स्वर भर, हिल उठे विश्वका चित्रकार !"

'मायाके इस विषमचक्र' के विरुद्ध आज संसारमें जो भयंकर युद्ध होरहा है, वह क्षुद्र है, वास्तविक युद्ध तो हमारे मनमें होरहा है, जिसके लिये कवि सर्वदानन्द वर्माके शब्दोंमें हमारा अणु अणु पुकार रहा है—

"फिरसे महलोंमें आज पुराने जौहरकी ज्वाला जागे,
फिरसे रण-थलमें जानेको, सुत माँसे वर भिक्षा माँगे,
फिरसे वधुएँ निज पतियोंके शिरपर करदें अक्षत-रोली,
फिरसे घर २ से निकल पड़े, मरमिटनेवालोंकी टोली।"

और इस टोलीमें कैसे कैसे वीर हैं, इसका पता ताण्डव के गायक कवि 'दिनकर' से पूछिये—

"शिर देकर सौदा लेते हैं, जिन्हें प्रेमका रंग चढ़ा,
फीका रंग रहा, तो घर तज क्या गैरिक परिधान करे !
उस पदकी जंजीर गूँजती, हो नीरव सुनसान जहाँ,
सुनना हो, तो तज वसन्त, निजको पहले वीरान करे !"

अपने 'वसन्त' को स्वयं वीरान करनेवाले ये लोग अन्धेरी अमावसमें आलोक फैलानेका श्रेय लूटते हैं। कवि 'अज्ञेय' ने जैसे सारे राष्ट्रकी आत्मामें बैठकर स्वयं अपनेसे ही कहा है—

"एक बार इस अन्धकारमें फिर आलोक दिखादो !
अभी मुन्दी हैं मेरी आँखें, पर मैं सूर्य देख आया हूँ,
आज पड़ी हैं कड़ियाँ पर मैं, कभी भुवनभरमें छाया हूँ।
इस अबाध आतुरता को कवि, तुम फिर छेड़ जगादो !"

'अन्धकारमें आलोक' फैलानेवाला यह आजका कवि बड़ा सूक्ष्मदर्शी है। वैज्ञानिकताकी तेज रोशनीमें यह समय के बहते प्रवाहकी छानबीन करता है। समाजके दकियानूसी विधान, धर्मशास्त्रकी पालिश और परम्परा किसीमें यह नहीं उलझता। गरीबोंको देखकर, उनके लिये यह दयाकी पुकार नहीं करता, उनकी गरीबी के मूलकारणोंकी यह खोज निकालता है और समाजके शोषकोंको श्री हरिकृष्ण प्रेमीके शब्दोंमें ललकारकर कहता है—

"तुम हंसते हो, इठलाते हो,
टुकड़े देकर मुसकाते हो,
तुम उपकारी कहलाते हो,
लेकर हमें, हमारा ही लूटा धन !
ये घायल दिल महाप्रलयके वाहन !!"

श्री भगवतीचरण वर्मा हिन्दी कवियोंमें इन 'घायल दिलों' के बहुत बड़े वकील हैं। उनका 'मानव' पढ़नेकी चीज़ है, सुननेकी चीज़ है, सुनानेकी चीज़ है।

यह तो हुआ हिन्दी कवियोंकी वर्तमान प्रवृत्तिका एक चित्र, अब देखें उस लेखका दूसरा अंश—हिन्दीके जैन कवियोंका कार्य ! साहित्यमें जैन अजैनकी दीवारें खड़ी कर के देखना, अनुचित है, पर जब यह सामने आ गया, तो मुझे उसपर कुछ कहना है। जैन कवियोंकी जो कविताएँ उस लेखमें उद्धृत की गई हैं, उनकी कलात्मक असाधारणता मैं नहीं मानता—यों आप किसीको भी कालिदाससे श्रेष्ठ और शेक्सपीयरसे आगे कह सकते हैं, आपको कोई रोकेगा नहीं।

साहित्यके इस नवजागरण कालमें जैन समाजने एक भी ऐसा कवि उत्पन्न नहीं किया, जो भारतके प्रतिनिधि-कवियोंमें स्थान पा सके ! क्यों ? यह जैन अजैनका प्रश्न नहीं, भारतीय समाजशास्त्रका एक गम्भीर प्रश्न है। मैं इस पर विस्तारसे दूसरे लेखमें लिखूंगा।

जैनधर्म पर अजैन विद्वान्

प्रसिद्ध जर्मन लेखिका भारतीय साहित्य विशारदा डा० चारलोटी क्रौज Ph. D.—

"जैनधर्म भारतवर्षके अति प्राचीन धर्मोंमेंसे एक है, जोकि बौद्ध धर्मसे भी प्राचीन है और प्रायः वर्तमान अभिप्रायके अनुसार अति प्राचीन हिन्दू शास्त्रसे भी पूर्व अवस्थितिका है। इस धर्मने एक समय भारतीय धर्मों पर बड़ा प्रभाव डाला था।"

हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक आचार्य श्रीचतुरसेनजी शास्त्री

मैं यह स्वीकार करता हूं कि जैन सिद्धान्तोंमें समाज संगठनकी अपेक्षा आत्म संस्कार और आत्म निर्माण पर ही बड़ा भारी और वैज्ञानिक जोर दिया गया है। निस्सन्देह इस एकाङ्गी बातके कारण ही जैन समाजकी वृद्धिमें तूफ़ानी बाढ़ नहीं आई, जैसी कि बौद्ध समाजमें आई थी। और यह कहना तो व्यर्थ ही है कि बौद्धोंको राज्य सत्तायें प्राप्त हो गई थीं—क्योंकि जैन महाराजाओंकी कथाओंसे मसीहकी प्रथम शताब्दियोंका भारतका इतिहास भरा पड़ा है। परन्तु मैं इस आश्चर्यजनक बात पर तो विचार करूंगा ही कि लगभग समान कालमें, समान भावनासे उदय होकर बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ उठी, बौद्ध संस्कृति तूफ़ानकी तरह एशिया भरमें फैलकर अति शीघ्र समाप्त हो गई, जैन संस्कृति धीमी चालसे अभी तक भी चली आ रही है।

दोनों संस्कृतियाँ आत्म संस्कारको प्रधान मानती रही, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर जैन और बौद्ध दोनों ही महाराजाओंने प्रबल युद्ध किये जिनमें लक्षावधि प्राणियोंका हनन हुआ। परन्तु जिस प्रकार महान् प्रशान्त प्रेम और क्षमाके आचार्य मसीहके विश्वासी योरुपकी महा शक्तियां लोहूकी धार बहानेमें प्रति क्षण सन्नद्ध रहती हैं फिर भी वे उस पवित्र और दया-क्षमा पूर्ण ईसाई धर्मकी विश्वासी हैं, उसी प्रकार जैन और बौद्ध राजाओंकी यही परिस्थिति थी। तब बौद्धोंके विनाशका कारण एक ही हो सकता है, कि उन्होंने न्याय और अधिकारकी रक्षाके लिये नहीं, प्रत्युत लिप्सासे मानव रक्त बहाया। इसके विरुद्ध जैन महात्माओंने संयम और शासनका सामञ्जस्य प्रकट किया। यही कारण है, कि तत्कालीन राज सत्तावादका विध्वंस होते ही बौद्धोंका विनाश हो गया और जैन समाज एक राष्ट्रकी हैसियतसे बच गया।

श्री उपेन्द्रनाथ काव्य-व्याकरण-साँख्यतीर्थ, भिषगाचार्यः-

श्रीमद्भागवतकी वर्णनाको देखकर मेरा विश्वास है कि क्षत्रिय वंशजनाभि राजाके पुत्र श्रीमान् ऋषभदेव जी राज्य की लालसाको छोड़ सर्व भूतोंको समान देखने वाले सन्यासी बन गये थे। उन्होंने स्वयं सिद्ध होकर निवृत्ति प्रधान धर्मका उपदेश दिया, समदृक अर्थात् सबको समान देखने वाले ऋषिके पास जाति भेदका प्रश्न ही नहीं उठ सकता है, इससे मालूम होता है कि उस समयमें जो लोग उनके उपदेशसे निवृत्ति प्रधान धर्मको स्वीकार कर लिये थे वे लोग और उनके वंशधर जैनी कहलाने लगे, इसके बाद भी जैनाचार्योंके उपदेशसे सर्वदा ही अजैनी जैन बनते रहे।

प्रो० श्रीशिवपूजनसहायजी अध्यक्ष हिन्दी विभाग श्री राजेन्द्र कालेज छपरा (बिहार):—

मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि जैन धर्मके सिद्धान्त बड़े निर्मल और कल्याणकारी हैं। यह भारतका एक अत्यन्त प्राचीन एवं जगत्प्रसिद्ध धर्म है। मनुष्यकी अन्तः-शुद्धिके विधानमें यह विशेष तत्पर है। यदि इसके सम्यक्-चारित्रिक उपदेशों या आध्यात्मिक शिक्षाओं पर मानव जाति वस्तुतः ध्यान दे तो संसारमें अशान्ति ही न रहे।

श्री रामरत्नजी गुप्त एम० एल० ए० (केन्द्रीय)—

जैनधर्म वास्तवमें एक कर्त्तव्य प्रणाली है। वह मनुष्यको मनुष्य बननेकी शिक्षा पहिले देता है और इसी शिक्षाके साथ ही वह यह भी निर्देश करता है कि यह मनुष्य शरीर भी एक भार है। एक झंझट है। इसे छोड़ देना, इसे त्याग देना तथा इसके सम्बन्धमें समूचा परित्याग कर देना ही वास्तविक धर्म है। इस महापन्थका मुख्य तत्व पांच 'मूलगुणों' में सन्निहित है। इन मूल गुणोंमें पंचम गुण है 'अपरिग्रह।'

श्री अवनीन्द्रकुमारजी विशालंकार नई दिल्ली—

भारतीय सभ्यता और संस्कृति जिन महाविभूतियोंके कारण गौरवशालिनी और महिमा मंडित हुई है, उनमें भगवान् महावीरका स्थान अद्वितीय है। भारतीय समाज का स्वरूप और ढांचा बदलनेके लिये, प्राचीन रूढ़ियों परम्पराओंके विरुद्ध जिन लोगोंने अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया और अपनी ज़ोरदार आवाज़ उठाकर एवं जिन्होंने विधि-विधान कर्मकाण्ड प्रधान धर्मके विरुद्ध क्रांति की पुण्य पताका फहराई है। उनमें भगवान महावीरका स्थान अनुपम और अद्भुत है।

श्रीयुत महात्मा शिवव्रतलालजी वर्म्मन M. A —

जो जैसा हो उसको वैसा ही देखो। यह अहिंसाकी परम ज्योति वाली मूर्तियां वेदोंकी श्रुति "अहिंसा परमो धर्मः" कुछ इन्हीं पाक बुज़ुर्गोंकी जिन्दगीमें अमली सूरत अख्तियार करती हुई नज़र आती हैं। ये दुनियाके ज़बरदस्त रिफार्मर मोहसिन और बड़े ऊँचे दरजेके वाइज और प्रचारक गुज़रे हैं, यह हमारी क़ौमी तवारीख़के क़ीमती रत्न हैं। तुम कहां और किनमें धर्मात्मा प्राणियोंकी तलाश करते हो? इनको देखो, इनसे बेहतर साहब कमाल तुमको कहां मिलेंगे? इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमें धर्मका कमाल था ये इन्सानी कमजोरीसे बहुत ऊँचे थे, इनका खिताब 'जिन' है, जिन्होंने मोह मायाको और मन और कायाको जीत लिया था। ये तीर्थंकर हैं, ये परमहंस हैं, इनमें तमन्ना नहीं थी। बनावट नहीं थी, जो बात थी साफ़-साफ़ थी। तुम कहते हो ये नग्न रहते थे, इसमें ऐब क्या है? परम अन्तर्निष्ठ, परमज्ञानी, कुदरतके सच्चे पुत्र, इनको पोशिशकी ज़रूरत कब थी?

व्यवस्थापकीय निवेदन

मेरे जैसे तुच्छ व्यक्तिकी प्रार्थना पर ध्यान देकर जैनसमाजके महानुभावोंने अपनी ओरसे अजैन संस्थाओं और विद्वानोंको अनेकान्त मुफ्त भिजवानेका आदेश दिया है, उनके शुभ नाम और किन-किनकी ओरसे कहाँ कहाँ जाता है प्रकाशित किये जा रहे हैं। अभी समाजके अन्य दानी महानुभावोंसे भी पत्र व्यवहार हो रहा है आगामी किरणमें उनके नाम और कहाँ-कहाँ जायेगा यह भी प्रकाशित किये जायेंगे। अभी हमारे पास कई सौ ऐसे महत्वपूर्ण स्थान हैं जहाँ अनेकान्त की भिजवानेकी अत्यन्त आवश्यकता है वहाँ पहुंचनेसे धर्मका अच्छा प्रचार होगा और हमारे धर्मके सम्बन्धमें फैली हुई गलत धारणायें दूर हो सकेंगी। आशा है समाजके दानी महानुभाव धर्म प्रचारके इस पुण्यकार्यमें हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देंगे। १४) रु० में वर्ष भरके लिये चार स्थानों पर मुफ्त भेजा जा सकता है।

—कौशलप्रसाद जैन

१ मेसर्स फेरूमल चतरसेन जी सरावगीकी ओरसे—
- १—लायब्रेरियन हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस
- २—श्री दि० जैन मन्दिर पो० टीकरी (मेरठ यू० पी०)
- ३—श्री जैन अनाथाश्रम दरियागंज, देहली
- ४—प्रो० गुलाबरायजी एम. ए. सम्पादक 'साहित्य-सन्देश' आगरा
- ५—डा० रामकुमार जी वर्मा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी इलाहाबाद

२ श्री जमनालाल जी वर्धा वालोंकी ओरसे—
- १—दी कामर्स कालेज वर्धा सी० पी०

३ सिंघई श्रीनन्दलालजी बीनाकी ओरसे—
- १—सेक्रेटरी वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद टीकमगढ़ सी-आई
- २—प्रो० बल्देव जी उपाध्याय एम० ए० हिन्दू विश्व-विद्यालय, बनारस

४ ला० जिनेश्वरदासजी सर्राफ देहरादून की ओरसे—
- १—खुशीराम पब्लिक लायब्रेरी, देहरादून
- २—मैनेजर सार्वजनिक पुस्तकालय, बूंदी (कोटा)

५ चौधरी चमनलालजी देहरादून की ओरसे—
- १—मैनेजर पब्लिक लायब्रेरी जुबलीबाग, सहारनपुर
- २—मैनेजर काशीराम हाई स्कूल, सहारनपुर

६ ला० रूड़ामलजी शामियानेवाले सहारनपुरकी ओरसे—
- १—बौद्ध विहार लायब्रेरी, सारनाथ (बनारस)
- २—ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, हरिद्वार (सहारनपुर)
- ३—बाबू माताप्रसादजी 'गुप्त' प्रो० प्रयाग यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद
- ४—हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद
- ५—मैनेजर 'नागरी प्रचारिणी सभा', बनारस
- ६—लायब्रेरियन 'विक्टोरिया कालेज' ग्वालियर
- ७—लायब्रेरियन 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी' कलकत्ता

७ ला० प्रद्युम्नकुमार जी रईस सहारनपुर वालों की ओर से—
- १—लायब्रेरियन 'किंग एडवर्ड कालेज' अमरावती
- २—लायब्रेरियन 'ओरियन्टियल कालेज' लाहौर
- ३—लायब्रेरियन 'शान्ति निकेतन' बोलपुर (बंगाल)
- ४—लायब्रेरियन 'ज्वालापुर महाविद्यालय' ज्वालापुर (सहारनपुर)
- ५—लायब्रेरियन 'थामसन इंजनीयरिंग कालेज' रुड़की (सहारनपुर)
- ६—लायब्रेरियन 'रामजस कालेज' देहली

८ मैसर्स उग्रसेन वंशीलाल जी जैन नई मण्डी मुजफ्फरनगर की ओर से—
- १—श्रीसनातनधर्म इन्टरमीजियट कालेज, मुजफ्फरनगर

९ बाबू रघुवरदयालजी करौलबाग देहलीकी ओरसे—
- १—सेक्रेटरी 'भंडारकर ओरिन्टियल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' पूना नं० २
- २—श्री जमुनादास जी मेहता M L. A. बानगंगा, मालाबारहिल, बम्बई

१० बाबू मंगलकिरण जी सहारनपुर की ओर से—
- १—श्री आर० एन० चतुर्वेदी डिप्टी कलक्टर, बुलन्दशहर
- २—श्री ठाकुर ज्वालासिंहजी डिप्टी कलक्टर, सहारनपुर

३–यूनिवर्सिटी कालेज आफ़ ला, नागपुर सी० पी०
४–लायब्रेरियन 'लखनऊ यूनिवर्सिटी' लखनऊ
११ बाबू विमलप्रसादजी सदरबाजार देहलीकी ओरसे–
१–लायब्रेरियन 'बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च इन्सटीट्यूट' पटना (बिहार)
२–सेक्रेटरी अरचेकोलोजीकल डिपार्टमेंट मैसूर आफ़ बैंगलौर (मैसूर)
३–लायब्रेरियन 'मारवाडी पुस्तकालय' बड़ाबाजार कलकत्ता
१२ ला० अर्हद्दास जी सहारनपुर की ओर से—
१–मैनेजर 'काशी विद्यापीठ' बनारस
२–लायब्रेरियन 'वैश्य हाई स्कूल' रोहतक (पंजाब)
३–लायब्रेरियन 'गयाप्रसाद पब्लिक लायब्रेरी' ए० बी० रोड, कानपुर
४–लायब्रेरियन 'इन्टर मीजियट कालेज' खुर्जा
१३ श्रीमेघराज रोडमल धारदान फण्ड सुसारी (बडवानी) की ओर से—
१–मंत्री 'श्री रणजीत पब्लिक वाचनालय' बडवानी C. I.
२–मंत्री 'श्री पब्लिक वाचनालय' अंजड (बडवानी)
३–मंत्री 'श्री पब्लिक वाचनालय' मनावर (धार स्टेट)
४–मंत्री 'श्री पब्लिक वाचनालय' धार C. I.
१४ जैन संगठन सभा पहाड़ीधीरज देहली की मार्फत–
१–लायब्रेरियन 'क्रिश्चियन कालेज' लाहौर
२–श्री महात्मा मोहनदास कर्मचन्द जी गांधी, गांधी आश्रम, सेवाग्राम (वर्धा) सी० पी०
१५ सेठ राजमल जी भेलसा वालों की ओर से—
१–मैनेजर 'सार्वजनिक वाचनालय' भेलसा
२–लायब्रेरियन 'गायकवाड ओरियण्टल लायब्रेरी' बड़ौदा
३–लायब्रेरियन 'बम्बई यूनिवर्सिटी' बम्बई
४–लायब्रेरियन 'मद्रास यूनिवर्सिटी' मद्रास
५–लायब्रेरियन 'वाडिया कालेज' पूना
६–लायब्रेरियन 'महाराणा कालेज' उदयपुर
७–लायब्रेरियन 'गुजरात पुरातत्व विद्यामन्दिर' अहमदाबाद
८–लायब्रेरियन 'हर्बर्ट कालेज' कोटा स्टेट
९–लायब्रेरियन 'पंजाब यूनिवर्सिटी' लाहौर
१०–सेक्रेटरी 'मारवाड़ी रिलीफ़ सोसाइटी' कलकत्ता
१६ मशीर बहादुर सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर की ओर से—
१–'इन्दौर जनरल लायब्रेरी' इन्दौर
२–सरदार माधवराव कीबे एम. ए. एलएल. बी. और श्रीमती सौ० कमलाबाई कीबे संयोगितागंज, इन्दौर
३–पं० रामनारायणजी आयुर्वेदाचार्य, मल्हारगंज, इन्दौर
४–मंत्री 'महेश वाचनालय' बड़ासराफ़ा, इन्दौर
५–मंत्री 'मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर
६–मंत्री 'सार्वजनिक वाचनालय' गोराकुण्ड, इन्दौर
७–मंत्री 'सार्वजनिक पुस्तकालय' मोरसलीगली, इन्दौर
८–श्रीचन्द्रशेखरशास्त्री प्रिंसिपल संस्कृत महाविद्याय, इंदौर
९–श्री सिक्ख लायब्रेरी गुरुद्वारा, न्यूयशवन्त रोड, इन्दौर
१०–महावीर वाचनालय पो० सोनकच्छ (उज्जैन)
११–महावीर वाचनालय पो० हाट पिपलिया वाया इन्दौर
१७ ला० तनसुखरायजी जैन तिस्सा वालोंकी ओरसे—
१–मंत्री सत्तर्क दि० जैन विद्यालय मोरा जी बिल्डिंग, सागर सी० पी०
२–सुप्रिन्टेन्डेन्ट 'स्याद्वाद महाविद्यालय' भदैनीघाट बनारस
३–मैनेजर 'ऐलक पन्नालाल जैन सरस्वती भवन, ब्यावर (राजपूताना)
१८ ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुरकी ओरसे–
१–रजिष्ट्रार संस्कृत क्विन्स कालेज, बनारस
२–अधिष्ठाता 'गुरुकुल कांगड़ी' हरिद्वार (सहारनपुर)
३–लायब्रेरियन श्री दि० जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)
४–मंत्री श्री दि० जैनमिडिल स्कूल खतौली (मुजफ्फरनगर)
१९ रा० ब० नान्दमलजी अजमेर की ओर से—
१–मंत्री 'राजाराम लायब्रेरी' नागपुर सी० पी०
२–लायब्रेरियन 'गवर्नमेंट हाई स्कूल' सागर सी० पी०
३–लायब्रेरियन 'राजाराम कालेज' कोल्हापुर
४–श्री बाबू जी महाराज, दयालबाग आगरा यू० पी०
२० रा० सा० बा० श्यामलाल जी एक्जीक्यूटिव आफिसर रुड़की की ओर से—
१–आर्य समाज रुड़की

नोट—इनके बाद जिन सज्जनोंकी ओरसे 'अनेकान्त' फ्री भेजा जा रहा है उनके शुभ नाम आगामी किरण में प्रकाशित किये जायेंगे।

———

छठे वर्षमें अनेकान्तके और सहायक

गत दो किरणोंमें प्रकाशित सहायताके बाद जो और सहायता नकद तथा वचनरूपमें प्राप्त हुई हैं और जिनके लिये सहायक महाशय धन्यवादके पात्र हैं उसकी सूची सहायकोंके शुभ नाम सहित इस प्रकार है—

५) सेठ वंशीधरजी जैन सतना (नई दुकान खोलनेकी खुशीमें) ।

२) सेठ श्रीपाल हीरालालजी जैन काला कन्नौज (माताजीके स्वर्गवासके उपलक्ष्यमें) ।

५) सेठ नेमीचंदजी बी० सेठी (झालरापाटनवाले) मऊ ।

१७) सेठ गुलाबचंदजी टोंग्या, इन्दौर (पहलेकी २५ रु०) की सहायताके अतिरिक्त) *

८) सिंघई नन्दनलालजी मालगुजार बीना-इटावा(सागर)*

४) सेठ कोमलचंदजी जैन सतना (रीवां)*

१४) ला० मित्रसेनजी जैन (रि०मुनसरिम मुजफ्फरनगर)*

१४) रायबहादुर नान्दमलजी जैन अजमेर ।*

१४) चौ० संतूलाल हुकमचंदजी जैन, कटनी ।*

१४) ला० जुगलकिशोरजी जैन कागजी देहली ।*

१४) ला० मुलतानसिंहजी जौहरी, देहली ।*

१४) ला० पी० एल० बच्चूमलजी कागजी, देहली ।*

२१) बा० महेन्द्रकुमारजी जैन रईस नानौता सहारनपुर ।*

२१) श्री भँवरलालजी छाबड़ा (मेसर्स भँवरलालटीकमचंद) भेलसा ।*

२५) बा० महाबीरप्रसादजी जैन, महावीर स्वदेशी भण्डार, सरधना (मेरठ) । (पहली २५) रु० की सहायताके अतिरिक्त) ।*

नोट—जिनके आगे * यह चिन्ह लगा है उनकी ओरसे अनेकान्त अजैनादि संस्थाओं तथा खास खास विद्वानोंको फ्री जारहा है । १४) रु० की सहायतामें चारको फ्री भिजवाया जा सकता है ।—व्यवस्थापक

भूलसुधार

पिछली किरणके तृतीय टाइटिल पेजपर ला० दलीपसिंहजी कागजीकी ओरसे जो ३५) रु० की सहायता छपी है उसे पाठक १४) रु० समझें । उसमें कुछ सहायता दूसरोंकी ओरसे थी, हालमें उन्होंने दूसरोंकी सहायताको ४२) रु० कर दिया है और देहलीके तीन सज्जनोंके नाम उसके लिये भेज दिये हैं जो सहायताकी सूचीमें दर्ज हैं ।

—व्यवस्थापक

अनेकान्त-साहित्यके प्रचारकी योजना

अनेकान्तमें जो महत्वका उपयोगी ठोस साहित्य निकलता है, हम चाहते हैं उसका जनतामें अधिकाधिक रूपसे प्रचार होवे । इस लिए यह योजना की गई है कि चतुर्थ वर्ष और पाँचवें वर्षके विशेषाङ्कोंको, जिनकी पृष्ठसंख्या क्रमशः १२० व १०४ और मूल्य ॥।) व ॥≈) है, नाममात्रके मू० ।) व ≋) पर वितरण किया जावे । अतः दानी महाशयोंको मंदिरों, लायब्रेरियों, परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों और अजैन विद्वानों आदिको भेंट करनेके लिये चाहे जिस अंककी २५, ५०, १०० कापियाँ एक साथ मँगाकर प्रचार-कार्यमें अपना सहयोग प्रदान करना चाहिये ।

प्रचारार्थ पोष्टेज भी नहीं लिया जायगा ।

वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर

आवश्यकता

वीरसेवामन्दिरको दो ऐसे सेवाभावी योग्य विद्वानोंकी आवश्यकता है जिनमेंसे एक हिसाब किताबके काममें निपुण हो—बाकायदा हिसाब-किताब रखते हुए वीरसेवामन्दिर की सारी सम्पत्तिकी अच्छी देख-रेख और पूरी संभाल रख सके । दूसरे विद्वान संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके प्रूफ रीडिंग तथा पत्र-व्यवहारके काममें दक्ष होने चाहियें और यदि वे संस्कृत, प्राकृत तथा अंग्रेजीका हिन्दीमें अच्छा अनुवाद भी कर सकते हों तो ज्यादा बेहतर है । वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा । जो विद्वान आना चाहें उन्हें पूरे परिचयके साथ नीचे लिखे पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये ।

छोटेलाल जैन (कलकत्ता वाले)
सभापति 'वीरसेवामन्दिर-समिति'
सरसावा जि० सहारनपुर

प्रचारक चाहिये

अनेकान्तके बढ़ते हुये प्रचार कार्य के लिये एक ऐसे योग्य प्रचारककी आवश्यकता है जो स्थान २ पर जाकर इसके स्वाध्यायकी प्रेरणा कर सके और कार्यालयमें भी रहकर कार्यमें योग दे सके ।

उन्हें कहींसे भी चन्दा माँगना न पड़ेगा ।

वेतन योग्यतानुसार दिया जायेगा ।

—व्यवस्थापक

Registere No. A-731.

वयोवृद्ध पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका सम्मान-समारोह

सहारनपुरमें स्वागत-समितिका संगठन

विद्वान लोग अपनी शुभ कामनायें और निबन्ध भेजें !

भारतवर्षके विद्वत्समाजमें यह समाचार अत्यन्त हर्षके साथ सुना जायेगा कि वयोवृद्ध, निस्पृही, पुरातत्व विशेषज्ञ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार सम्पादक 'अनेकान्त' का सम्मान समारोह उनकी ६७ वी वर्ष गांठके अवसर पर मनानेके लिये सहारनपुरमें प्रतिष्ठित व्यक्तियोंकी एक स्वागत समितिका निर्माण हो चुका है।

मुख्तार साहेबके त्यागमय बृहत् सेवा कार्यसे जैन समाज अपरिचित नहीं है उन्होंने पिछले ३० वर्षसे अपना तन मन धन सब कुछ जैन साहित्यकी खोज, जैन ग्रन्थोंके निर्माण और अनुवाद तथा पत्रोंके सम्पादनमें लगा दिया है आज उनके लेखोंकी प्रमाणिकता की धाक न केवल जैन विद्वानों पर है बल्कि अजैन विद्वान भी उनका लोहा मानते हैं।

यह सचमुच जिले सहारनपुरका सौभाग्य है कि उसने न केवल ऐसे नररत्नको पैदा किया बल्कि उनकी शिक्षा दीक्षा और समाज तथा साहित्य सेवाका क्षेत्र भी यही जिला रहा है आज जिला सहारनपुर अपने इस सौभाग्यको समझ कर फूल उठा है और अपनी वह प्रसन्नता इस रूपमें प्रकट कर रहा है।

जैन समाजके विद्वानों, नेताओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओंसे प्रार्थना है कि वे अपनी शुभ कामनायें, पंडितजीके सम्बन्धमें निबन्ध और कवितायें--

ला० अर्हद्दासजी जैन रईस और ज़मीदार

मौहल्ला बड़तला सहारनपुर

संयोजक—जुगलकिशोर मुख्तार सम्मान-समारोह समिति के पते पर १ दिसम्बरसे पहिले भेजदें।

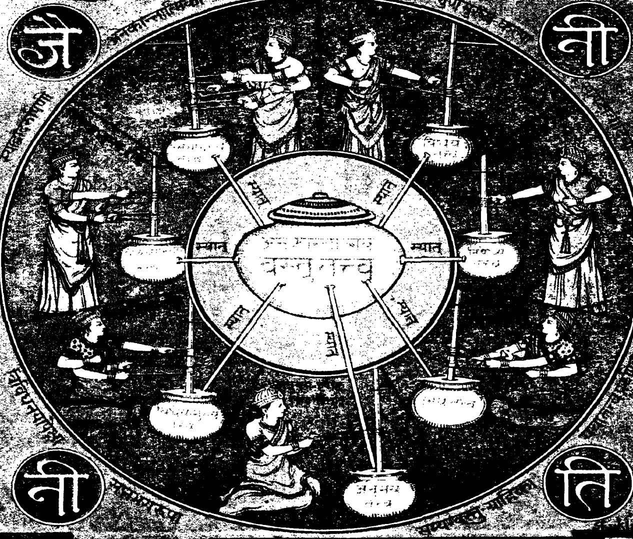
समारोहकी तारीख ५ दिसम्बर १९४३ ईसवी है

मुद्रक,प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुर में मुद्रित

अनेकान्त

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

जै ती



नी ति

वर्ष ९
किरण ४

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

[illegible] १९४८

सम्पादक – जुगल किशोर मुख्तार

विषय-सूची

वीर-शासनका अर्धद्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव

वीर-शासनको—भ० महावीरके धर्मतीर्थको—प्रवर्तित हुए ढाई हजार वर्ष समाप्त होरहे हैं, अतः ढाई हजार वर्षकी समाप्ति पर कृतज्ञ जनता और खासकर व जैनियोंके द्वारा वीर-शासनका 'अर्द्धद्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव' मनाया जाना समुचित और न्यायप्राप्त है। इसीसे वीरसेवामन्दिर सरसावाने, श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताकी प्रेरणाको पाकर, इस महोत्सवके मनानेका भारी आयोजन किया है ! इस महोत्सवके लिये जो स्थान चुना गया है वह है 'राजगृह' तीर्थक्षेत्र।

इस स्थानका कितना अधिक महत्व है यह तो स्वतंत्र लेखका विषय है, फिर भी यहां पर संक्षेप में इतना प्रकट किया जाता है—

(१) दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिसे यह राजगृह वह स्थान है जहां सबसे पहले श्रावण-कृष्ण प्रतिपदाको सूर्योदयके समय वीर भगवानकी दिव्यध्वनि वाणी खिरी, उनके सर्वप्राणि-हितरूप 'सर्वोदय' तीर्थ की प्रवृत्ति हुई और उनके प्रधान गणधर गौतमके द्वारा उनकी दिव्य-वाणीकी उस द्वादशांग श्रुतमें रचना की गई जो वर्तमानके सभी जैनागमोंका आधारभूत है। किसी भी दिगम्बर ग्रन्थमें जहां उसके विषयावतारका निर्देश है वहां इसी स्थानके विपुलाचलादि पर्वत पर वीर भगवानका समवसरण आने और उसमें वीर-वाणीके अनुसार गौतम गणधरके द्वारा उस विषयके द्वारा प्रतिपादनका उल्लेख है।

(२) श्वेताम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिसे यह राजगृह वह स्थान है जहां वैशाख सुदि १० मीको होने वाले केवलज्ञानके अनन्तर ज्येष्ठ मासके शुरूमें ही भ० महावीर देशनाके लिये पहुंच गये थे, जहां वे ज्येष्ठ तथा आसाढ मास तक ही नहीं किन्तु वर्षाकाल (चातुर्मास्य) के अन्त तक (कोई छह मास तक) स्थित रहे और इस अर्सेमें जहाँ बराबर उनकी समवसरण सभा लगती रही और उसमें उनका धर्मोपदेश होता रहा, जिसके द्वारा हजारों लाखों प्राणियोंका उद्धार तथा कल्याण हुआ है। और जो मुनि कल्याणविजयके शब्दोंमें "महावीरके उपदेश और वर्षा-वासके केन्द्रोंमें सबसे बड़ा और प्रमुख केन्द्र था।" 'जहाँ महावीरका समवसरण दोसौसे अधिकवार होनेके उल्लेख जैनसूत्रोंमें पाये जाते हैं।' और इस लिये जहां वीरशासन विशेषरूपसे प्रवर्तित हुआ है।

अतः दोनों सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे राजगृह (राजगिर) वीरशासन-सम्बंधी महोत्सवके लिये सबसे अधिक उपयुक्त स्थान है, जहाँकी प्राकृतिक शोभा भी देखते ही बनती है।

महोत्सवकी प्रधान तिथि श्रावणकृष्णप्रतिपदा है।, जो उत्सर्पिणी आदि युगोंके आरम्भकी तिथी होनेके साथ साथ वर्षारम्भकी तिथि है—इसी तिथिसे पहले भारतवर्षमें वर्षका आरम्भ हुआ करता था, 'वर्ष' शब्द भी वर्षाकालसे अपने प्रारम्भका सूचक है। अतः यह तिथि अन्य प्रकारसे भी इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है।

महोत्सवकी विशेष योजनाएँ आगामी किरणोंमें प्रकाशित होंगी। —अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

* ॐ अर्हम् *

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

अनेकान्त

वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४) रु०

एक किरण का मूल्य ।=)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६, किरण ४ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | नवम्बर १९४३
मार्गशीर्ष शुक्ल, वीरनिर्वाण संं० २४७०, विक्रम सं० २०००

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१७]

श्रीकुन्थु-जिन-स्तोत्र

कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्त्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वर-चक्रपाणिः ॥ १ ॥

'कुन्थ्वादि सकल प्राणियों पर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए हे कुन्थुजिन ! आपने पहले (गृहस्थावस्थामें) राज्यविभूतिके निमित्त राजाओंके स्वामी चक्रवर्ती होकर बादको ज्वरादि रोग, जरा (बुढ़ापा) और मरणकी उपशान्तिरूप मुक्ति-विभूतिके लिये इस लोकमें धर्म-चक्रको प्रवर्तित किया है—अर्थात्– आप चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों पदोंको प्राप्त हुए हैं ।'

तृषार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थ-विभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव काय-परितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत ॥ २ ॥

'तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि ज्वालाएँ स्वभावसे ही संतापित करती हैं । इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंकी संपत्तिसे—प्रचुर परिमाणमें संप्राप्तिसे—नहीं होती, उल्टी वृद्धि ही होती है; क्यों कि वस्तु-स्थिति ऐसी ही है—इन्द्रिय-विषयोंको जितना अधिक सेवन किया जाता है उतनी ही अधिक उनके और सेवनकी

तृष्णा बढ़ती रहती है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके संतापको मिटानेमें निमित्त-मात्र हैं— तृष्णारूप अग्निज्वालाओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते। यह सब जानकर हे आत्मवन्—इन्द्रिय-विजेता भगवन्!—आप विषय-सौख्यसे पराङ्मुख हुए हैं—आपने चक्रवर्तित्वकी सम्पूर्ण विभूतिको हेय समझते हुए उनसे मुख मोड़ कर अपना पूर्ण आत्मविकास सिद्ध करनेके लिये स्वयं ही वैराग्य लिया है-जिनदीक्षा धारण की है।'

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्यतपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥ ३ ॥

'(वैराग्य लेकर) आपने आध्यात्मिक तपकी—आत्मध्यानकी—परिवृद्धिके लिये परमदुश्चर बाह्यतप—अनशनादिरूप घोर-दुर्द्धर तपश्चरण—किया है। और (इस बाह्यतपश्चरणको करते हुए) आप आर्त-रौद्र-रूप दो कलुषित (खोटे) ध्यानोंका निराकरण करके उत्तरवर्ती—धर्म्य और शुक्ल नामक—दो सातिशय (प्रशस्त) ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए हैं।'

हुत्वा स्वकर्म-कटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयाऽतिशयतेजसि जातवीर्यः।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ४ ॥

'(सातिशय ध्यान करते हुए हे कुन्थुजिन!) आप अपने कर्मोंकी चार कटुक प्रकृतियोंको—ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंको—रत्नत्रयकी—सम्यग्दर्शन,-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी—सातिशय अग्निमें—परमशुक्लध्यानरूपवन्हिमें—भस्म करके जातवीर्य हुए हैं—शक्ति सम्पन्न बने हैं—और सकल-वेद-विधिके—संपूर्ण लोकाऽलोक-विषयक-ज्ञान-विधायक आगमके—प्रणेता होकर ऐसे शोभायमान हुए हैं जैसे कि घनपटल-विहीन आकाशमें दीप्त-किरणोंको लिये हुए सूर्य शोभता है।'

यस्मान्मुनीन्द्र-तव लोकपितामहाद्या विद्या-विभूति-कणिकामपि नाप्नुवन्ति।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥ ५ ॥

—स्वयम्भू स्तोत्र

'हे मुनीन्द्र श्रीकुन्थुजिन! चूँकि लोकपितामहादिक— ब्रह्मा-विष्णु-महेश-कपिल-सुगतादिक—आपकी विद्या (केवलज्ञान) की और विभूतिकी—समवसरणादि लक्ष्मीकी—एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं हुए हैं, इस लिये आत्महित-साधनकी धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन—गणधरादिक—पुनर्जन्मसे रहित आप अद्वितीय स्तुत्य (स्तुतिपात्र) की स्तुति करते हैं।'

जगत्गुरु अनेकान्त

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अनेगंतवायस्स ॥ १ ॥ —सिद्धसेनाचार्य

'जिसके विना—जिसकी शिक्षाके अभावमें—लोकका व्यवहार भी—दुनियाका कारोबार भी—सर्वथा बन नहीं सकता—सब तरहसे भले प्रकार चल नहीं सकता—उस भुवनैक गुरु—जगतके असाधारण गुरु—अनेकान्त-वादको नमस्कार हो।'

———

अनेकान्त-रस-लहरी

[इस स्तम्भके नीचे लेख लिखनेके लिये मैं शुरूसे ही विद्वानोंको आमंत्रित करता आ रहा हूं, परन्तु अभी तक किसीने भी इस ओर ध्यान देनेकी कृपा नहीं की। पिछली किरणमें लेख न जा सकनेका एक कारण जहां मेरा अनवकाश है वहाँ दूसरा कारण मेरी यह जाननेकी रुचि भी है कि समाजके विद्वानोंके हृदयपर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है—वे यह न समझ बैठें कि 'सम्पादकजी तो लिख ही रहे हैं, हमें इस ओर प्रयत्न करनेकी ज़रूरत नहीं।' मेरे ऊपर वीर-सेवा-मन्दिर-सम्बन्धी कार्योंका इतना अधिक भार है कि मुझे ज़रा भी अवकाश नहीं मिलता और किसी दूसरे आवश्यककार्यकी बलि चढ़ाये बग़ैर तो मैं ऐसे लेख लिख ही नहीं सकता। इसके सिवाय मैं समाजके बड़े-बड़े विद्वानों एवं साहित्य-कलाकारोंसे अधिक महत्वके लेखोंकी आशा लगाये हुए हूँ। आशा है वे उसे शीघ्र पूरा करेंगे और इस लेख-मालाके सिलसिलेको बन्द नहीं होने देंगे। इसी आशाको लेकर और पाठकोंकी इस विषयके लेखोंको पढ़नेकी बढ़ती हुई रुचिको देखकर तथा यह खयाल करके कि उनकी उस रुचिकी पूर्तिमें अधिक व्याघात न होने पाए, मैं आज अपना यह तीसरा लेख उपस्थित कर रहा हूँ।]

—सम्पादक

[३]

बड़ा दानी कौन ?

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने कक्षामें पहुंचकर विद्यार्थियोंसे पूछा—'बड़े-छोटेका जो तत्त्व तुम्हें कई दिनसे समझाया जारहा है उसे तुम खूब अच्छी तरह समझ गये हो या कि नहीं ?' विद्यार्थियोंने कहा—'हाँ, हम खूब अच्छी तरह समझ गये हैं।'

'अच्छा, यदि खूब अच्छी तरह समझ गये हो तो आज मेरे कुछ प्रश्नोंका उत्तर दो, और उत्तर देनेमें जो विद्यार्थी सबसे अधिक चतुर हो वह मेरे सामने आजाय, शेष विद्यार्थी उत्तर देनेमें उसकी मदद कर सकते हैं, और चाहें तो पुस्तक खोलकर उसकी भी मदद ले सकते हैं।' अध्यापक महोदयने कहा।

इसपर मोहन नामका एक विद्यार्थी, जो कक्षामें सबसे अधिक होशियार था, सामने आ गया और तब अध्यापकजीने पूछा—

'बतलाओ, बड़ा दानी कौन है ?'

विद्यार्थी—जो लाखों रुपयोंका दान करे वह बड़ा दानी है?

अध्यापक—तुम्हारे इस उत्तरसे तीन बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि दो चार हजार रुपयेका या लाख रुपयेसे कमका दान करने वाला बड़ा दानी नहीं, दूसरी यह कि लाखोंकी रकमका दान करने वालोंमें जो समान रकमके दानी हैं वे परस्परमें समान हैं—उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं; और तीसरी बात यह कि रुपयोंका दान करनेवाला ही बड़ा दानी है, दूसरी किसी चीजका दान करने वाला बड़ा दानी नहीं।

विद्यार्थी—मेरा यह मतलब नहीं कि दूसरी किसी चीजका दान करनेवाला बड़ा दानी नहीं, यदि उस दूसरी चीज—जायदाद मकान वगैरहकी मालियत उतने रुपयों जितनी है तो उसका दान करने वाला भी उसी कोटिका बड़ा दानी है।

अध्यापक—जिस चीज़का मूल्य रुपयोंमें न आँका जा सके उसके विषयमें तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी—ऐसी कौन चीज़ है, जिसका मूल्य रुपयोंमें न आँका जा सके ?

अध्यापक—निःस्वार्थ प्रेम, सेवा और अभयदानादि; अथवा क्रोधादि कषायोंका त्याग और दयाभावादि बहुतसी ऐसी चीजें हैं जिनका मूल्य रुपयोंमें नहीं आँका जा सकता। उदाहरणके लिये एक मनुष्य नदीमें डूब रहा है, यह देख कर तटपर खड़ा हुआ एक नौजवान जिसका पहलेसे उस डूबने वालेके साथ कोई सम्बंध तथा परिचय नहीं है, उस के दुःखसे व्याकुल हो उठता है, दयाका स्रोत उसके हृदय में फूट पड़ता है, मानवीय कर्तव्य उसे आ घर दबाता है और वह अपने प्राणोंकी कोई पर्वाह न करता हुआ—जान जोखोंमें डालकर भी—एकदम चढ़ी हुई नदीमें कूद पड़ता है और उस डूबने वाले मनुष्यका उद्धार करके उसे तटपर ले आता है। उसके इस दयाभाव-परिणाम आत्मत्याग और

उसकी इस सेवाका कोई मूल्य नहीं और यह अमूल्यता उस समय और भी बढ़ जाती है जब यह मालूम होता है कि वह उद्धार पाया हुआ मनुष्य एक राजाका इकलौता पुत्र है और उद्धार करने वाले साधारण गरीब आदमीने बदलेमें कृतज्ञता-रूपसे पेश किये गये भारी पुरस्कारको भी लेनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की है। ऐसा दयादानी आत्मत्यागी मनुष्य लाखों रुपयोंका दान करनेवाले दानियों से कम बड़ा नहीं है, वह उससे भी बड़ा है जो पुरस्कार में आधे राज्यकी घोषणाको पाकर अपनी जानपर खेला हो और ऐसे ही किसी डूबते हुए राजकुमारका उद्धार करनेमें समर्थ होकर जिसने आधा राज्य प्राप्त किया हो। इसी तरह सैनिकों द्वारा जब लूट खसोटके साथ कत्लेआम हो रहा हो तब एक राजाकी अभय-घोषणाका उस समय रुपयोंमें कोई मूल्य नहीं आंका जा सकता—वह लाखों, करोड़ों और अरबों-खरबों रुपयोंके दानसे भी अधिक होती है, और इसलिये एक भी रुपया दान न करके ऐसी अभय-घोषणा-द्वारा सर्वत्र अमन और शान्ति स्थापित करने वालेको छोटा दानी नहीं कह सकते। ऐसी ही स्थिति निःस्वार्थ-भावसे देश तथा समाज-सेवाके कार्योंमें दिन-रात रत रहने वाले और उसीमें अपना सर्वस्व होम देने वाले छोटी पूँजीके व्यक्तियोंकी है। उन्हें भी छोटा दानी नहीं कहा जासकता।

अभी अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल रही थी और वे यह स्पष्ट करके बतला देना चाहते थे कि 'क्रोधादि कषायों के सम्यक् त्यागी एक पैसे का भी दान न करते हुए कितने अधिक बड़े दानी होते हैं' कि इतनेमें उन्हें विद्यार्थी के चेहरे पर यह दीख पड़ा कि कि 'उसे बड़े दानी की अपनी सदोष परिभाषा पर और अपने इस कथन पर कि उसने बड़े छोटे के तत्व को खूब अच्छी तरह से समझ लिया है कुछ संकोच तथा खेद होरहा है', और इस लिये उन्होंने अपनी व्याख्याका रुख बदलते हुए कहा –

'अच्छा, अभी इस गंभीर और जटिल विषय को हम यहीं रहने देते हैं—फिर किसी अवकाशके समय इसकी स्वतन्त्र रूपसे व्याख्या करेंगे—और इस समय तुम्हारी समान मालियतके दान-द्रव्यकी बातको ही लेते हैं। एक दानी सेनाके लिये दो लाख रुपयेका मांस दान करता है, दूसरा आक्रमणके लिये उद्यत सेनाके वास्ते दो लाख रुपये के नये हथियार दान करता है, तीसरा अपने ही आक्रमण-में घायल हुए सैनिकोंकी मर्हम-पट्टीके लिये दो लाख रुपयेकी दवा-दारूका सामान दान करता है और चौथा बंगालके अकालपीड़ितों एवं अन्नाभावके कारण भूखसे तड़प-तड़पकर मरने वाले निरपराध प्राणियोंकी प्राणरक्षा के लिये दो लाख रुपयेका अन्न दान करता है। बतलाओ इन चारोंमें बड़ा दानी कौन है ? अथवा सबके दान-द्रव्यकी मालियत दो लाख रुपये समान होनेसे सब बराबरके दानी हैं—उनमें कोई विशेष नहीं, बड़े-छोटेका कोई भेद नहीं है?'

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ भौंचकसा रह गया और उसे शीघ्र ही यह समझ नहीं पड़ा कि क्या उत्तर दूँ, और इस लिये वह उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा—दूसरे विद्यार्थी भी सहसा उसकी कोई मदद न कर सके—कि इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ी सोचमें पड़ गये हो ! क्या तुम्हें दानका स्वरूप और जिन कारणोंसे दानमें विशेषता आती है—अधिकाधिक फलकी निष्पत्ति होती है—उनका स्मरण नहीं है ? और क्या तुम नहीं समझते कि जिस दानका फल बड़ा होता है वह दान बड़ा है और जो बड़े दानका दाता है वह बड़ा दानी है ? तुमने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्याय और उसकी टीकामें पढ़ा है—स्व-परके अनुग्रह-उपकारके लिये जो अपनी धनादिक किसी वस्तुका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते हैं, और दानमें विधि, द्रव्य, दाता और पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके तरीके, दानमें दी जाने वाली वस्तु, दाताके परिणाम और पाने वालेमें गुण-संयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-बेशी होती है*; तब इस तात्विक दृष्टिको लेकर तुम क्यों नहीं बतलाते कि इन चारोंमें दान-द्रव्यकी अपेक्षासे कौन बड़ा है ?'

अध्यापकजीके इन प्रेरणात्मक शब्दोंको सुनकर विद्यार्थी को होश आ गया, उसकी स्मृति काम करने लगी और इसलिये वह एक दम बोल पड़ा—

'इन चारोंमें बड़ा दानी वह है जिसने बेबसीकी हालत में पड़े हुए बंगालके अकालपीड़ितोंको दो लाख रुपयेका अन्न दान किया है।'

---

* अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥
विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥ त०सू०

अध्यापक—वह बड़ा दानी कैसे है ? ज़रा समझा कर बतलाओ। और खासकर इस बातको स्पष्ट करके दिखलाओ कि वह घायल सैनिकोंके लिये मर्हमपट्टीका सामान दान करने वाले दानीसे भी बड़ा दानी क्यों कर है ?

विद्यार्थी—माँसकी उत्पत्ति प्रायः जीवघातसे होती है। जो मांसका दान करता है वह दूसरे निरपराध जीवोंके घातमें सहायक होता है और इस लिये मानवतासे गिर कर हिंसात्मक अपराधका भागी बनता है, जिससे उसका अपना उपकार न हो कर अपकार होता है। और जिन्हें मौंस-भोजन कराया जाता है वे भी उस जीवघातके अनुमोदक तथा प्रकारान्तरसे सहायक होकर अपराधके भागी बनते हैं। साथ ही मौंस भोजनसे उनके हृदयमें निर्दयता-कठोरता-स्वार्थपरतादिमूलक तामसी भाव उत्पन्न होता है, जो आत्मविकासमें बाधक होकर उन्हें पतनकी ओर ले जाता है, और इस लिये मांस-दानसे मांसभोजीका भी वास्तविक उपकार नहीं होता—खासकर ऐसी हालतमें जबकि अन्नादिक दूसरे निर्दोष एवं सात्विक भोजनोंसे पेट भले प्रकार भरा जा सकता है और उससे शारीरिक बल एवं बौद्धिक शक्तिमें भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतः ऐसे दानका पारमार्थिक अथवा आत्मोपकार-साधनकी दृष्टिसे कोई अच्छा फल नहीं कहा जासकता—भले ही उसके करने वालेको लोकमें स्वार्थी राजा-द्वारा किसी ऊंची पद या सम्पत्की प्राप्ति हो जाय। जब पारमार्थिक अथवा आत्मोपकारकी दृष्टिसे ऐसे दानका कोई बड़ा फल नहीं होता तो ऐसा दान देनेवाला बड़ा दानी भी नहीं कहा जा सकता।

हथियार हिंसाके उपकरण होनेसे उनका दान करने वाला हिंसामें-परपीड़ामें सहायक तथा उसका अनुमोदक होता है और जिसे दान दिया जाता है उसे उनके कारण हिंसामें प्रोत्साहन मिलता है और वे प्रायः दूसरोंके घातमें ही काम आते हैं। इस तरह दाता और पात्र दोनों ही के लिये वे आत्महितका कोई साधन न होकर आत्महनन एवं पतनके ही कारण बनते हैं, और इस लिये हथियारोंका दान पारमार्थिक दृष्टिसे कोई महान् दान नहीं होता—आक्रमणात्मक-युद्धके सैनिकोंके लिये तो वह और भी सदोष ठहरता है; तब उसका दानी बड़ा दानी कैसे हो सकता है ?

घायल सैनिकोंकी मर्हम-पट्टीके लिये स्वेच्छासे दवा-दारूका दान देने वाला पिछले दो दानियों—मौंसदानी और हथियारदानीसे बड़ा ज़रूर है, परन्तु वह बंगालके घोर अकालसे पीडित प्राणियोंकी रक्षार्थ अन्नका दान करने वालेसे बड़ा नहीं है। क्योंकि अन्यके राष्ट्र पर आक्रमण करनेके लिये उद्यत सैनिक दूसरोंको घायल करने और स्वयं घायल होनेकी ज़िम्मेदारीको खुद अपने सिर पर उठाते हैं, अपराध करते हुए घायल होते हैं और अच्छे होने पर आगे भी अपराध करने—अनेक निरपराध प्राणियों तकका घात करने—की इच्छा रखते हैं, इस लिये वे उतने दयाके पात्र नहीं जितने कि बंगालके उक्त अकाल-पीडित दयाके पात्र हैं, जिनका अकालके बुलानेमें कोई हाथ नहीं, कोई अपराध नहीं और जिन पर अकाल लादा गया है अथवा किसी जिम्मेदार बड़े अधिकारीकी भारी लापर्वाही और गफ़लतसे लद गया है। ऐसी स्थितिमें मुझे तो बंगालके अकाल पीडितोंको दो लाख रुपयेका अन्न दान करने वाला ही चारोंमें बड़ा दानी मालूम होता है।

अध्यापक—जिस दृष्टिको लेकर तुमने उक्त अन्नदानीको बड़ा दानी बतलाया है वह एक प्रकारसे ठीक है; परन्तु इस विषयमें कई विकल्प उत्पन्न होते अथवा सवाल पैदा होते हैं, उनमेंसे यहां पर दो विकल्पोंको ही रक्खा जाता है, जिनमेंसे पहला विकल्प अथवा सवाल इस प्रकार है—

'मानलो, बंगालके अकाल-पीडितोंके लिये दो दो लाख रुपयेका अन्न दान करने वाले चार सेठ है, जिनमेंसे (१) एकने स्वेच्छासे दान नहीं दिया, वह दान देना ही नहीं चाहता था, उस पर किसी उच्च अधिकारीने भारी दबाव डाला और यह धमकी दी कि 'यदि तुम दो लाख रुपयेका अन्न दानमें नहीं दोगे तो तुम्हारा अन्नका सब स्टाक जब्त कर लिया जायगा, तुम्हारे ऊपर इनकमटैक्स दुगुना-चौगुना कर दिया जायगा और भी अनेक कर बढ़ा दिये जावेंगे अथवा डिफेंस आफ इंडिया ऐक्टके अधीन तुम्हारा चालान करके तुम्हें जेलमें डाल दिया जायगा, तुम्हारी जायदाद जब्त करली जायगी और तुम जेलमें पड़े पड़े सड़जाओगे।' और इस लिये उसने धमकीके भयसे तथा दबावमें मजबूर होकर यह दान दिया है। (२) दूसरेने इस इच्छा तथा आशाको लेकर दान दिया है कि उसके दानसे

गवर्नर साहब या कोई दूसरे उच्चाधिकारी प्रसन्न होंगे और उस प्रसन्नताके उपलक्षमें उसे आनरेरी मजिष्ट्रेट या रायबहादुर जैसा कोई पद प्रदान करेंगे अथवा उस के बदले हुए करोंमें कमी होगी और अमुक केसमें उसके अनुकूल फैसला हो सकेगा। (३) तीसरेने कुछ ईर्षा-भाव तथा व्यापारिक दृष्टिको लक्ष्यमें रख कर दान दिया है। उस के पड़ौसी अथवा प्रतिद्वंद्वीने ५० हजारका अन्न दान किया था, उसे नीचा दिखाने, उसकी प्रतिष्ठा कम करने और अपनी धाक तथा साख जमा कर कुछ व्यापारिक लाभ उठानेकी तरफ़ उसका प्रधान लक्ष्य रहा है। (४) चौथेका हृदय सचमुच अकाल-पीड़ितोंके दुखसे द्रवीभूत हुआ है और उसने मानवीय कर्तव्य समझ कर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमें रक्खे वह दान दिया है। बतलाओ इन चारोंमें बड़ा दानी कौनसा सेठ है? और जिस अन्नदानीको तुमने अभी बड़ा दानी बतलाया है वह यदि इनमेंसे पहले नम्बरका सेठ हो तब भी क्या वह उस दानीसे बड़ा दानी है जिसने स्वेच्छासे बिना किसी दबावके घायल सैनिकोंकी बुरी हालतको देख कर उन पर रहम खाते हुए और उनके अपराधादिकी बातको भी ध्यानमें न लाते हुए उनकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेका दान दिया है?'

विद्यार्थी—इन चारोंमें बड़ा दानी चौथे नम्बरका सेठ है, जो दानकी ठीक स्पिरिटको लिये हुए है। बाकी तो दानके व्यापारी हैं। पहले नम्बरके सेठको तो वास्तवमें दानी ही न कहना चाहिये, उसे तो दो लाख रुपयेका अन्न एक प्रकारसे छीना गया है, वह तो दान-फलका अधिकारी भी नहीं है, और इस लिये घायल सैनिकोंकी मर्हमपट्टीके लिये स्वेच्छासे दयाभाव-पूर्वक दो लाखका दान करने वालेसे वह बड़ा दानी कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

अध्यापक—मालूम होता है अब तुम विषयको ठीक समझ रहे हो। अच्छा, इतना और जानलो कि—'चौथे नम्बरका सेठ करोड़ोंकी सम्पत्तिका धनी है, उसके यहाँ प्रतिदिन लाखों रुपये का व्यापार होता है और हर साल सब खर्च देकर उसे दस लाख रुपयेके करीबकी बचत रहती है। उसने दो लाख रुपयेके दानसे अपना एक भोजनालय खुलवा दिया है, भोजन वितरण करनेके लिये कुछ नौकर छोड़ दिये हैं और यह आर्डर जारी कर दिया है कि जो कोई भोजनके लिये आवे उसे भोजन दिया जावे, नतीजा यह हुआ कि उसके भोजनालय पर अधिकतर ऐसे सण्डे-मुसण्डे और गुण्डे लोगोंकी भीड़ लगी रहती है जो स्वयं मजदूरी करके अपना पेट भर सकते हैं—दयाके अथवा मुफ्त भोजन पानेके पात्र नहीं, जो धक्कामुक्की करके अधिकांश गरीब भुखमरोंको भोजनशालाके द्वार तक भी पहुंचने नहीं देते और स्वयं खा-पीकर चले जाते हैं तथा कुछ भोजन साथ भी ले जाते हैं। और इस तरह जिन गरीबोंके वास्ते भोजनशाला खोली गई है उन्हें बहुत ही कम भोजन मिल पाता है। प्रत्युत इसके, धनीराम नामके एक पांचवें सेठ हैं, जो ३-४ लाख रुपयेकी सम्पत्तिके ही मालिक हैं। उनका भी हृदय बंगालके अकाल-पीड़ितोंको देख कर वास्तवमें द्रवीभूत हुआ है, उन्होंने भी मानवीय कर्तव्य समझ कर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमें रक्खे दो लाखका दान दिया है और उससे अपनी एक भोजनशाला खुलवाई है। साथ ही, भोजनशालाकी ऐसी विधि-व्यवस्था की है, जिससे वे भोजनपात्र गरीब भुखमरे ही भोजन पासकें जिनको लक्ष्य करके भोजनशाला खोली गई है। उसने भोजनशालाका प्रबन्ध अपने दो योग्य पुत्रों के सुपुर्द कर दिया है, जिनकी सुव्यवस्थासे कोई सण्डा-मुसण्डा अथवा अपात्र व्यक्ति भोजनशालाके अहातेके अन्दर घुसने भी नहीं पाता, जिसके जो योग्य है वही सात्विक भोजन उसे दिया जाता है और उन दीन-अनाथों तथा विधवा-अपाहजोंको उनके घरपर भी भोजन पहुंचाया जाता है जो लज्जाके मारे भोजनशालाके द्वार तक नहीं आ सकते और इस लिये जिन्हें भोजनके अभावमें घर पर ही पड़े पड़े मरजाना मंजूर है। अब बतलाओ इन दोनों सेठोंमें कौन बड़ा दानी है?—वही चौथे नम्बर वाला सेठ बड़ा दानी है जिसे तुमने अभी बहुतोंकी तुलनामें बड़ा बतलाया है? अथवा पाँचवें नम्बरका यह सेठ धनीराम बड़ा दानी है? कारण सहित प्रकट करो।

विद्यार्थी उत्तरके लिये कुछ सोचने ही लगा था कि इतनेमें अध्यापकजी बोल पड़े—'इसमें तो सोचनेकी ज़रा भी बात नहीं है, यह स्पष्ट है कि चौथे नम्बर वाले सेठकी पोज़ीशन बड़ी है, उसकी माली हालत सेठ धनी-

रामसे बहुत बढ़ी चढ़ी है, फिर भी धनीरामने उसके बराबर ही दो लाखका दान दिया है, दीन-दुखियोंकी पुकारके मुकाबलेमें अधिक धनसंचित कर रखना उसे अनुचित जँचा है और उसने थोड़ी सम्पत्तिमें ही सन्तोष धारण करके उसीसे अपना निर्वाह कर लेना इस विषम परिस्थितिमें उचित समझा है। अतः उसका दानद्रव्य समान होने पर भी उसका मूल्य अधिक है और उसके दानकी विधि-व्यवस्था तथा पात्रोंके ठीक चुनावने उसका मूल्य और भी अधिक बढ़ा दिया है। वह ऐसी स्थितिमें यदि एक लाख नहीं किन्तु अर्धलाख भी दान करता तो भी उसका मूल्य उस चौथे नम्बर वाले सेठके दानसे बढ़ा रहता; क्योंकि दानका मूल्य दानकी रकम अथवा दान-द्रव्यकी मालियत पर ही अवलम्बित नहीं रहता, उसके लिये दान-द्रव्यकी उपयोगिता, दाताके भाव तथा उसकी तत्कालीन स्थिति, दानकी विधि-व्यवस्था और जिसे दान दिया जाता है उसमें पात्रत्वादि गुणोंके संयोगकी भी आवश्यकता होती है। बिना इनके यों ही अधिक द्रव्य लुटा देनेसे बड़ा दान नहीं बनता। सेठ धनीरामके दानमें बड़ेपनकी इन सब बातोंका संयोग पाया जाता है, और इस लिये उसके दानका मूल्य करोड़पति सेठ नं० ४ के दानसे भी अधिक होनेके कारण वह उक्त सेठ साहबकी अपेक्षा भी बड़ा दानी है।'

मैं समझता हूं अब तुम इस बातको भले प्रकार समझ गये होगे कि समान रकम अथवा समान मालियतके द्रव्यका दान करने वाले सभी दानी समान नहीं होते—उनमें भी अनेक कारणोंसे छोटा-बड़ापन होता है; जैसा कि दो लाखके अनेक दानियोंके उदाहरणोंको सामने रख कर स्पष्ट किया जा चुका है। अतः समान मालियतके द्रव्यका दान करने वालोंको सर्वथा समान दानी समझना एकान्त और उन्हें विभिन्न दृष्टियोंसे छोटा-बड़ा दानी समझना अनेकान्त है। साथ ही, यह भी समझ गये होगे कि जिस चीजका मूल्य रूपयोंमें नहीं आंका जा सकता उसका दान करने वाले कभी कभी बड़ी बड़ी रकमोंके दानियोंसे भी बड़े दानी होते हैं। और इस लिये बड़े दानीकी जो परिभाषा तुमने बांधी है, और जिसका एक अंश (परिभाषासे फलित होने वाली तीन बातोंमेंसे पहली बात) अभी और विचारणीय है, वह ठीक नहीं है।

इस पर विद्यार्थी (जिसे पहले ही अपनी सदोष परिभाषा पर खेद हो रहा था) नत-मस्तक होकर बोला—'आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। आपके इस विवेचन, विकल्पोद्भावन और स्पष्टीकरणसे हम लोगोंका बहुतसा अज्ञान दूर हुआ है। हमने जो छोटे-बड़ेके तत्वको खूब अच्छी तरह समझ लेनेकी बात कही थी वह हमारी भूल थी। जान पड़ता है अभी इस विषयमें हमें बहुत कुछ सीखना-समझना बाकी है। लाइनोंके द्वारा आपने जो कुछ समझाया था वह इस विषयका 'सूत्र' था, अब आप उस सूत्रका व्यवहारशास्त्र हमारे सामने रख रहे हैं। इससे सूत्रके समझनेमें जो त्रुटि रही हुई है वह दूर होगी, कितनी ही उलझनें सुलझेंगी और चिरकालकी भूलें मिटेंगी। इस कृपा एवं ज्ञान-दानके लिये हम सब आपके बहुत ही ऋणी और कृतज्ञ हैं।'

मोहनके इस कथनका दूसरे विद्यार्थियोंने भी खड़े होकर समर्थन किया।

घंटेको बजे कई मिनट हो गये थे, दूसरे अध्यापक महोदय भी कक्षामें आगये थे, इससे अध्यापक वीरभद्रजी शीघ्र ही दूसरी कक्षामें जानेके लिये बाध्य हुए।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० २४ नम्बर १९४३ } जुगलकिशोर मुख्तार

नयोंका विश्लेषण

(लेखक—श्री पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)

[गत किरणसे आगे]

(४) प्रमाण-नय-विषयक शंका-समाधान

शंका—अनेक धर्मोंकी पिंड स्वरूप वस्तुको ग्रहण करने वाला प्रमाण माना गया है लेकिन इन्द्रियोंसे होने वाला मतिज्ञानरूप पदार्थज्ञान अनेक धर्मोंकी पिंड-स्वरूप वस्तुका ग्राहक नहीं होता है - नेत्रोंसे हमें रूप-विशिष्ट ही वस्तुका ज्ञान होता है उस वस्तुमें रहने वाले रसादि धर्म इस ज्ञानके विषय नहीं होते हैं। इस लिये प्रमाणका उल्लिखित लक्षण मतिज्ञानमें घटित न होनेके कारण मतिज्ञानको प्रमाण नहीं माना जा सकता है बल्कि वस्तुके एक अंशको विषय करने वाले नयका लक्षण घटित होनेके कारण इसको नय मानना ही ठीक है। इसी प्रकार दूसरी रसना आदि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले रसादि ज्ञानोंको प्रमाण माननेमें भी यही आपत्ति उपस्थित होती है।

समाधान—नेत्रोंसे हमें वस्तुके अंशभूत रूपका ज्ञान नहीं होता है बल्कि रूपमुखेन वस्तुका ही ज्ञान होता है। वस्तु चूंकि रूप, रस आदि धर्मोंको छोड कर कोई स्वतंत्र स्वरूप वाली नहीं है इस लिये वस्तुस्वरूप सभी धर्मोंका हमें रूपमुखेन ज्ञान हो जाया करता है—ऐसा समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यदि हमें नेत्रों द्वारा सिर्फ वस्तुके अंश या धर्मस्वरूप रूपका ही ज्ञान होता है तो उस के फलस्वरूप होने वाली हमारी ग्रहण, त्याग और माध्य-स्थ्यरूप प्रवृत्ति सिर्फ वस्तुके अंशभूत रूपमें होना चाहिये रूपविशिष्ट वस्तुमें नहीं, लेकिन नेत्रों द्वारा ज्ञान होने पर होने वाली हमारी उल्लिखित प्रवृत्ति रूपविशिष्ट वस्तुमें ही हुआ करती है इस लिये यही मानना ठीक है कि हमें नेत्रों द्वारा रूपमुखेन सभी धर्मोंकी पिंडस्वरूप वस्तुका ही ज्ञान हुआ करता है केवल वस्तुके अंशभूत रूपका नहीं। यही प्रक्रिया दूसरे ऐन्द्रियिक ज्ञानोंमें भी समझना चाहिये।

शंका—यदि हमें नेत्रों द्वारा रूपमुखेन समस्त धर्मोंकी पिंडस्वरूप वस्तुका ज्ञान हुआ करता है तो "रूप वस्तुका एक अंश है" ऐसा अनुभव हमें नहीं होना चाहिये, लेकिन होता जरूर है इस लिये यही मानना ठीक है कि नेत्रोंसे हमें वस्तुके रूपका ही ज्ञान होता है समस्त धर्मोंकी पिंड-स्वरूप वस्तुका नहीं।

समाधान "रूप अथवा रस आदि वस्तुके अंश या धर्म हैं" इस प्रकारका ज्ञान हमें नेत्र, रसना आदि इन्द्रियों द्वारा वस्तुका रूपविशिष्ट, रसविशिष्टादि भिन्न२ तरहका ज्ञान होनेके बाद "नेत्रों द्वारा हमें वस्तुका रूपमुखेन ज्ञान होता है रसा-दिमुखेन नहीं," "रसनाके द्वारा हमें वस्तुका रसमुखेन ज्ञान होता है रूपादिमुखेन नहीं" इस प्रकारके अन्वय व्यतिरेक का ज्ञान होने पर अनुमानज्ञान द्वारा हुआ करता है अथवा दूसरे व्यक्तियों द्वारा दिये गये "रूप वस्तुका अंश या धर्म है" इस प्रकारके उपदेशसे होने वाले शब्दार्थज्ञान-रूप श्रुतज्ञान द्वारा हुआ करता है, नेत्रों द्वारा नहीं।

शंका—"रूप या रसादि वस्तुके अंश या धर्म हैं" इस प्रकारका ज्ञान यदि अनुमान द्वारा होता है तो अनुमान भी तो मतिज्ञानका एक भेद है इस लिये अनुमानरूप मतिज्ञान वस्तुके अंशका ग्राहक होनेके सबब प्रमाणकोटिमें नहीं गिना जाकर नयकोटिमें ही गिना जाना चाहिये, ऐसी हालतमें मतिज्ञानको प्रमाण माननेके बारेमें पूर्वोक्त आपत्ति जैसीकी तैसी बनी रहती है।

समाधान—नेत्रों द्वारा हमें रूपमुखेन वस्तुका ज्ञान हो जाने पर उन दोनोंमें रहने वाले अवयवावयवीभाव सम्बन्धका ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ करता है यह संबन्ध वस्तुका अवयव नहीं, बल्कि स्वतंत्र ज्ञानका विषयभूत स्व-तंत्र पदार्थ है इस लिये यह अनुमानज्ञान भी वस्तुके अंश को न ग्रहण करके स्वतंत्र वस्तुको ही ग्रहण करता है अर्थात् इस ज्ञानका विषय रूप और उसका आधार वस्तु दोनोंसे स्वतंत्र है; कारण कि रूप और उसका आधारभूत वस्तुका ज्ञान तो हमें नेत्रों द्वारा पहिले ही हो जाता है

सिर्फ उन दोनों के संबन्धका ज्ञान जो नेत्रों द्वारा नहीं होता है वह अनुमान द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार 'रूप या रसादि वस्तुके अंश या धर्म हैं' इस प्रकारके वाक्यको सुन कर जो हमें शब्दार्थ ज्ञानरूपश्रुतज्ञान द्वारा 'रूप या रसादि वस्तुके अंश हैं' इस प्रकारका अवयवावयवी भावसंबन्ध-ज्ञान हुआ करता है वह भी प्रमाणरूप ही समझना चाहिये, नयरूप नहीं। इस विषयको आगे और भी स्पष्ट किया जायगा।

शंका—गोम्मटसार जीवकांडमें बतलाये गये श्रुतज्ञान के 'अर्थसे अर्थान्तर' का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता[1] है' इस लक्षणमें अनुमानका भी समावेश हो जाता है, इस लिये श्रुतज्ञानसे भिन्न अनुमान प्रमाणको माननेकी आवश्यकता नहीं है।

समाधान—हम पहिले बतला आये हैं कि शब्द-श्रवणपूर्वक हमें जो अर्थज्ञान होता है वह श्रुत कहलाता है, अनुमानसे जो अर्थज्ञान हमें हुआ करता है उसमें शब्द-श्रवणको नियमित कारण नहीं माना गया है। पर्वतमें धुआंको देख कर जो हमें अग्निका ज्ञान हो जाया करता है वह बिना शब्दोंके सुने ही हो जाया करता है। दूसरी बात यह है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान-पूर्वक होता है। इसका अर्थ यह है कि वक्ताके मुखसे निकले हुए वचनोंको सुन कर श्रोता पहिले वचन और अर्थमें विद्यमान वाच्य-वाचक संबन्धका ज्ञान अनुमान द्वारा करता है तब कहीं जाकर शब्दसे श्रोताको अर्थज्ञान होता है यदि श्रोताको 'इस शब्द का यह अर्थ है' इस प्रकारके वाच्यवाचक संबन्धका ज्ञान नहीं होगा तो उसे शब्दोंके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है इस लिये अनुमान-पूर्वक श्रुतज्ञान होता है—ऐसा मानना ठीक है, अनुमान और श्रुतज्ञानको एक मानना ठीक नहीं। गोम्मटसार जीवकांडमें जो श्रुतज्ञानका लक्षण बतलाने वाली गाथा है उसमेंके दो पद महत्वपूर्ण[2] हैं। "आभिणिवो-हियपुव्वं" और "सद्दजं"। इनमेंसे पहिला पद हमें यह बतलाता है कि श्रुतज्ञान अनुमानज्ञानपूर्वक हुआ करता है कारण कि अनुमान ज्ञानका ही अपर नाम आभिबोधिक[3] ज्ञान है। दूसरा पद हमें यह बतलाता है कि चूंकि इसमें शब्द कारण[4] पड़ता है इस लिये इसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इस पर विशेष विचार स्वतंत्र लेख द्वारा ही किया जा सकता है।

शंका—परार्थश्रुतमें पद, वाक्य और महावाक्यका भेद करके जो वाक्य और महावाक्यको प्रमाण तथा इनके अवयवभूत पद, वाक्य और महावाक्यको नय स्वीकार किया गया है। प्रमाण और नयकी यह व्यवस्था "पानी लाओ" इत्यादि लौकिक वाक्यों व महावाक्योंमें भले ही संघटित कर दी जावे लेकिन इसका लोक-व्यवहारमें कोई खास प्रयोजन नहीं माना जा सकता है। साथ ही वस्तुके स्वरूप-निर्णयमें यह व्यवस्थाघातक होसकती है। जैसे वक्ता के समूचे अभिप्रायको प्रकट करने वाला वाक्य यदि प्रमाण मान लिया जाय तो बौद्धोंका "वस्तु क्षणिक है" यह वाक्य अथवा नैयायिकोंका "वस्तु नित्य है" यह वाक्य प्रमाण कोटिमें आजायगा, जोकि अयुक्त है; कारण कि जैनमान्यता-के अनुसार वस्तु न तो केवल नित्य है और न केवल अनित्य ही है बल्कि उभयात्मक है। यही सबब है कि जैन-मान्यताके अनुसार वस्तुके एक एक अंशका प्रतिपादन करने वाले ये दोनों वाक्य नय-वाक्य माने गये हैं।

समाधान—जब नयको प्रमाणका अंश माना गया है तो वचनरूप परार्थ प्रमाणका भी अंश ही नयको मानना होगा, वचनरूप परार्थ प्रमाण वाक्य और महावाक्य ही हो सकता है यह पहिले बतलाया जा चुका है, इस लिये पूर्वोक्त प्रकार वाक्य और महावाक्यके अंशभूत पद, वाक्य

---

१ "अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।"
—जीवकाँड, गाथा ३१४

२"आभिणिवोहिय पुव्वं णियमेणि ह सद्दजं पमुहं"
जीवकांड, गाथा ३१४ (उत्तरार्ध)

३ मतिःस्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्रमें अनुमान ज्ञानको ही आभिनिबोध संज्ञा दी गई है।

४तत्वार्थसूत्र और गोम्मटसार जीवकांडमें जो श्रुतज्ञानके भेद बतलाये गये हैं उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्" त० अ० १ सूत्र २०
"पज्जायक्खरपद संघादंपडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं चय पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥३१६॥"
—गोम्मटसार जीवकाँड

और महावाक्यको ही नय मानना ठीक है। लोक-व्यवहार में इनकी उपयोगिता स्पष्ट है क्यों कि पदार्थज्ञान ही से हम वाक्यार्थज्ञान कर सकते हैं और वाक्यार्थज्ञान हमें महावाक्यके अर्थज्ञानमें सहायक होता है। 'वस्तु क्षणिक है" "वस्तु नित्य है" इन वाक्योंको परार्थप्रमाण मानने पर जो आपत्ति उपस्थित की गयी है वह ठीक नहीं है; क्यों कि जब वक्ताके विवक्षित अर्थको प्रगट करने वाला वचन प्रमाण और वक्ताके विवक्षित अर्थके एक अंशको प्रगट करने वाला वचन नय मान लिया गया है तो इन वाक्योंका प्रयोग करने वाले बौद्ध और नैयायिकके विवक्षित अर्थको पूर्णरूप से प्रतिपादन करनेवाले ये वाक्य प्रमाण ही माने जायेंगे; नय नहीं माने जा सकते हैं; कारण बौद्ध और नैयायिक वस्तुको क्रमसे क्षणिक और नित्य ही मानते हैं। बौद्धोंकी दृष्टिमें वस्तुके स्वरूपमें नित्यत्व और नैयायिकों दृष्टिमें वस्तुके स्वरूपमें क्षणिकत्व शामिल नहीं है। इस लिये 'वस्तु क्षणिक है' इस वाक्यसे प्रतिपादित क्षणिकत्व बौद्धोंका विवक्षित अर्थ ही है, विवक्षित अर्थका एक अंश नहीं, यही बात नैयायिकों के विषय में समझना चाहिये। इन वाक्यों को नयाभास भी नहीं कहा जा सकता है; क्यों कि 'जो वस्तु का अंश नहीं हो सकता है उसको वस्तुका अंश मानना' ही नयाभास है; लेकिन नयाभास का यह लक्षण यहां घटित नहीं होता है क्योंकि यहां तो क्षणिकत्व अथवा नित्यत्व जो वस्तुके अंश हैं उन्हें पूर्ण वस्तु ही मान लिया गया है अर्थात्—यहां पर अंशमें अनंशकी कल्पना है, अनंशमें अंशकी नहीं। इसलिये बौद्ध और नैयायिकोंकी दृष्टिमें क्रमसे ये दोनों वाक्य प्रमाण-वाक्य ही हैं, नयवाक्य नहीं। जैन लोग इन लोगोंकी इस दृष्टिको गलत कहते हैं; क्योंकि इन लोगोंने वस्तुके अंशभूत क्षणिकत्व या नित्यत्वको पूर्ण वस्तु ही मान लिया है इसलिये अंशमें अंशीकी परिकल्पना होनेसे इसका प्रतिपादक वाक्य जैनियोंकी दृष्टिमें प्रमाणाभास हो कहा जायगा; तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु केवलक्षणिक या केवल नित्य नहीं है तो केवल क्षणिकत्व या केवल नित्यत्वके प्रतिपादक वाक्य प्रमाण न होकर प्रमाणाभास तो माने जा सकते हैं। उनको नय अथवा नयाभास मानना ठीक नहीं है। जैनधर्ममें भी 'वस्तु क्षणिक है,' या 'वस्तु नित्य है' ऐसे स्वतंत्र स्वतंत्र वाक्य पाये जाते हैं और जब जिस धर्मकी प्रधानतासे वर्णन करना ज़रूरी होता है उसी धर्मके प्रतिपादक वाक्यका प्रयोग जैनी लोग व्यवहारमें भी किया करते हैं लेकिन जैनधर्मके ग्रन्थोंमें या जैनियों द्वारा लोक व्यवहारमें प्रयुक्त इन वाक्योंको भी—यदि ये अलग-अलग प्रयुक्त किये गये हैं—तो प्रमाण-वाक्य ही कहा जायगा, नय-वाक्य नहीं; कारण कि इन वाक्यों द्वारा एक धर्ममुखेन वस्तुका ही प्रतिपादन होता है। जिस प्रकार नेत्रों द्वारा रूपमुखेन वस्तुका ही बोध होनेकी वजहसे उसज्ञानको प्रमाण माना गया है उसी प्रकार इन वाक्यों द्वारा एक धर्ममुखेन वस्तुका ही प्रतिपादन होनेकी वजहसे उन्हें भी प्रमाण-वाक्य ही मानना ठीक है नयवाक्य मानना ठीक नहीं है। लेकिन जहाँ पर ये दोनों वाक्य 'वस्तु नित्य है और अनित्य है, इस प्रकार मिलाकर प्रयुक्त किये जाते हैं वहांपर दोनों वाक्योंका समुदाय भी प्रमाण-वाक्य है क्योंकि वह विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करता है और उसके अवयव भूत दोनों वाक्य नयरूप कहे जायेंगे क्योंकि वहांपर उनसे विवक्षित अर्थके एक अंशका ही प्रतिपादन होता है। तात्पर्य यह है कि 'वस्तु क्षणिक है' और 'वस्तु नित्य है' इन दोनों वाक्योंका स्वतंत्र प्रयोग करने पर यदि ये वाक्य एक धर्ममुखेन वस्तुका प्रतिपादन करते हैं तो प्रमाण-वाक्य माने जावेंगे। यदि इस एक धर्मको वस्तुका एक अंश न मानकर तन्मात्र ही वस्तु मानली जाती है और फिर इन वाक्योंका प्रयोग किया जाता है तो यह दोनों वाक्य प्रमाणाभास माने जावेंगे। यदि इन दोनों वाक्योंका संमिलित प्रयोग किया जाता है और संमिलित होकर प्रयुक्त ये दोनों वाक्य सही अर्थका प्रतिपादन करते हैं तो ये वाक्य नय माने जावेंगे। यदि संमिलित होकर भी ये दोनों वाक्य गलत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तो नयाभास कहे जावेंगे। जैसे "द्रव्यदृष्टिसे वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टिसे वस्तु अनित्य है, यह तो नय है और पर्याय दृष्टिसे वस्तु नित्य है तथा द्रव्यदृष्टिसे वस्तु अनित्य है," यह नयाभास माना जायगा। इसलिये परार्थश्रुतका विवेचन करते समय विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करने वाले वाक्य और महावाक्यको प्रमाण और विवक्षित अर्थके एक अंशका प्रतिपादन करने वाले, वाक्य और महावाक्यके अंगभूत पद वाक्य और महावाक्यको नय मानकर जो इनका समन्वय

किया गया है वह वस्तु व्यवस्थाके लिये घातक नहीं, बल्कि अधिक उपयोगी है ।

शंका – जिस प्रकार दो पदोंका समुदाय वाक्य औरदो वाक्योंका अथवा दो महावाक्योंका समुदाय महावाक्य होता है और इनके अवयव मानकर पद, वाक्य और महावाक्योंको नय-वाक्य मान लिया गया है उसी प्रकार दो ज्ञानोंके समुदायको एक महा ज्ञान मानकर उसके अंशभूत एक २ ज्ञानको नय ज्ञान भी माना जा सकता है, इसलिये स्वार्थ प्रमाण स्वरूप मतिज्ञानादिक में भी नयकल्पना मानना चाहिये ।

समाधान—जिस तरह दो आदि पदों अथवा दो आदि वाक्यों या दो आदि महावाक्योंका समुदाय अनुभवगम्य है उस प्रकार दो आदि ज्ञानोंका समुदाय अनुभव गम्य नहीं है हमें नेत्रोंसे होने वाले रूप विशिष्ट वस्तुके ज्ञान और रसनासे होने वाले रसविशिष्ट वस्तुके ज्ञानका समुदायरूप से कभी भी अनुभव नहीं होता है । ये दोनों ज्ञान हमेशा स्वतंत्र ही अनुभव गोचर होते हैं । इस लिये स्वार्थ प्रमाण स्वरूप मतिज्ञानादि चार ज्ञानोंमें नय-परिकल्पना किसी भी हालतमें नहीं बन सकती है । इसलिये ये चारों ज्ञान प्रमाण रूप ही हैं । केवल श्रुतज्ञानमें ही पूर्वोक्त प्रकारसे प्रमाण और नयका भेद हो सकता है । सर्वार्थसिद्धिग्रंथमें "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रकी व्याख्या करते समय लिखी गयी—"प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च, तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्, श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् तद्विकल्पा नयाः" इन पंक्तियोंका यही अभिप्राय है ।

जैन धर्म पर अजैन विद्वान्

वैदिक धर्म और जैन धर्म

(श्री महर्षि राधास्वामी शिवव्रतलाल वर्मन, एम० ए०, एल०-एल० बी०)

वैदिक धर्म अपौरषस्य कहलाता है। जैनधर्म पौरषस्य धर्म है। वैदिकधर्मावलम्बियोंका दावा है कि उनका धर्म किसी ख़ास पुरुषकी शिक्षाओं पर निर्भर नहीं है। इसके अतिरिक्त जैन धर्म पौरषस्य होते हुये तीर्थङ्करोंकी शिक्षाओं के आधार पर है। वैदिक धर्ममें बहुत बड़ी गपलचौथ है। यह गपलचौथ जैनियोंमें नहीं है। उनके यहाँ जो बात है स्पष्ट है। वैदिक धर्म वाले वेदोंकी अपौरषस्य हैसियत पर कायम नहीं रहे। अन्तमें उन्हें जैनधर्मवालोंकी तरह आदर्श पुरुषोंके चरित्रको अपनी दृष्टिके सामने रखकर काम करनेकी और अपने जीवनको सुधारनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। चाहे वे लाख वेदाभिमानी हों उन्हें जैनियोंकी नकल करनी पड़ी जैसाकि व्यासजीके इस श्लोकसे स्पष्ट है —

> श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना,
> नसोः मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
> धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
> महाजनो येन गता स पन्थाः॥

इसका अर्थ यह है:—श्रुति स्मृति और ऋषियोंके मन्तव्योंमें भिन्नता है (अर्थात् गलपचौथ है) धर्मका तत्व अति गूढ़ रहस्य है। इसलिए जिस पर बड़े लोग चलते हैं वही पन्थ है।

जैनमतकी प्राचीनता

हमारा यह विचार था कि वैदिक धर्म बहुत पुराना धर्म है और सबसे पुराना है। अपने पहले लेखोंमें हमने कई बार ऐसा भाव प्रकट भी किया है; परन्तु सोचने समझनेसे अब इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि जैनियोंका मत वेदों के मतसे कहीं पुराना है। पहिले हमारा विचार यह था कि वैदिक धर्मानुयायी यज्ञोंमें पशु बध करते थे। जैनी उसके विरोधी बने परन्तु अब वह भाव नहीं रहा। जैनधर्म अहिंसाका मार्ग है, प्रेमका मार्ग है और दयाका मार्ग है। इसलिए यह नया नहीं हो सकता। हां! पशुबध जब देश में अधिकताके साथ होने लगा उस समय यह उसके विरोधी हो गये और जीव दया पालने पर विशेष ज़ोर देने लगे। उस समयसे जैनधर्मको यह नया रूप दिया गया और गोमांस किम्वा अन्य मांस न खानेकी प्रथा उसका मुख्य चिन्ह बन गई।

वैदिक धर्म वाले सदैवसे मांस भक्षक थे

जहाँ तक हिन्दू जातिके सद्ग्रन्थोंमें सम्बन्ध है वह प्राचीन समयसे मांस भक्षण करने वाले पाये जाते हैं। इनके यहाँ नरमेघ, अश्वमेघ, गोमेघ आदि यज्ञ करनेकी प्रथा जारी थी जिससे इनके ग्रन्थ भरे पड़े हैं। यहां तक कि रामायण महाभारत और स्मृतियों तकमें कहीं इसका निषेध नहीं पाया जाता। हिन्दू नर मांस भक्षक थे या नहीं इस पर सम्मति प्रकट करना कठिन काम है। फिर भी अब तक हिन्दुओंमें ऐसे लोग पाये जाते हैं जिनमें इसके गौरवका गीत गाया जाता है। उदाहरणकी रीतिसे अघोर पन्थ और शाक्तिक मतके वाममार्गकी ओर दृष्टि डालो। शाक्तिकधर्ममें नर माँस महाप्रसाद कहलाता है और अघोरी तो अब तक जलती हुई श्मशानोंके इर्द गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं कि कहीं कच्चा या पक्का नर मांस उनके हाथ आ जाय। बाल्मीकीय रामायणमें एक जगह वर्णन किया गया है कि जब भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी खोजमें चित्रकूट जाने लगे तो उनके भोजनके लिए भारद्वाज ऋषिने बछड़ा जिबह किया था। इससे अधिक और क्या प्रमाण दिया जा सकता है? अब गोमांस का निषेध है, परन्तु हिन्दुओंमें कोई जाति ऐसी नहीं मिलेगी जो मांसाहारी न हो और न किसी वर्णके पुरुष इसके विरोधी हैं। जैनियोंकी अवस्था इसके विरुद्ध है और शायद सारी दुनियामें जैन ही एक ऐसा सम्प्रदाय है जो हर प्रकारके मांसको निषिध समझता है। (क्रमशः)

जीवन-चरित्र

(ले०—बा० माईदयाल जैन बी० ए०, आनर्स बी०टी०)

प्रसिद्ध अंगरेज लेखक कारलाइलका कथन है कि मनुष्यको मनुष्य जातिमें बहुत बड़ी दिलचस्पी है। यही कारण है कि हम दूसरे आदमियों—प्रायः महापुरुषोंके जीवन-चरित्रों, आत्म-कथाओं, डायरियों, संस्मरणों और अनुभवोंको बड़ी दिलचस्पीसे पढ़ते हैं। मनुष्य स्वभावसे उत्सुक, गुप्त बातोंको जाननेका इच्छुक और नकल करने वाला होता है। इस लिये मनुष्य दूसरोंके जीवनचरित्र आदि पढ़कर उनके अनुभव, गुप्त बातें, तथा दुख-सुख आदिकी बातें जानना चाहता है और उसके अच्छे कामोंकी नकल करना चाहता है। सभी आदमियोंके जीवनोंकी बड़ी बड़ी बातें समान-सी होती हैं, परन्तु भेद यह होता है कि एक आदमी एक परिस्थितिमें एक प्रकारसे काम करता है और दूसरा आदमी और तरहसे। यह भेद ही एक आदमीको सफल तथा महान बनाता है और दूसरेको असफल और छोटा बनाता है। इसी लिए भिन्न भिन्न लोगोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए सभी क्षेत्रोंके महापुरुषोंके बहुतसे जीवनचरित्र होने चाहियें।

जीवनचरित्रोंके उपयोग और महत्वको एक कवि ने बड़ी सुन्दरताके साथ इस पद्यमें कह दिया है—

Lives of great men all remind us,
We can make our lives sublime,
Anddeprrtng leave behind us,
Footprints on the sands of time.

भावार्थ यही है कि महापुरुषोंके जीवनचरित्र हमें यह बात सिखाते हैं कि हम भी अपने जीवनोंको महान् बना सकते हैं और मरते समय अपना नाम छोड़ सकते हैं। देशभक्त जार्ज वाशिंगटनके जीवन-चरित्रको पढ़कर ही अब्राहम लिंकन देशभक्त बन गया। महात्मा गांधी पर श्री रायचन्द्रजी और टालस्टायके जीवनोंका बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त जीवनचरित्रोंके अध्ययनसे हम अपने इस जीवनको सुन्दर तथा सफलरूपसे व्यतीत करनेकी कलाको सीखते हैं तथा अपने मनोंको संस्कृत और चरित्रको दृढ़ करते हैं। जीवनचरित्रोंका अध्ययन साहित्यिक आनंद (Literary Pleasure) देता है। जीवनचरित्र महापुरुषोंके जीवनोंकी स्मृतियोंको ताजा करते हैं और हमें उनकी साक्षात् संगतिका लाभ प्रदान करते हैं। जिन महापुरुषोंने अपने कामोंसे इतिहासपर छाप लगाई है, इतिहासके प्रवाहको बदल दिया है, संसारको बड़े बड़े दर्शन, महान् विचार, बड़े बड़े आविष्कार और महान् आन्दोलन दिये हैं, जीवनचरित्रोंसे उनके व्यक्तित्वका पता लगता है। जीवनचरित्रोंकी व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि उनके अध्ययनसे हमें शान्ति मिलती है, हमारी सहानुभूतिका क्षेत्र बढ़ता है, हमारा स्वार्थभाव दूर होता है, हमें प्रोत्साहन तथा सच्चा मार्ग मिलता है और उनके उच्चादर्शोंसे हमारे हृदयोंमें महत्वाकांक्षाएँ पैदा होती हैं।

इसी लिये जीवनचरित्र साहित्यका एक बड़ा अंग है। इतिहासमें देशों, राष्ट्रों और जनसमूहके आन्दोलनोंका वर्णन तथा उनके क्रमिक (Gradual) उत्थान या पतनका जिकर होता है, परन्तु जीवनचरित्रमें एक आदमीकी जीवनसे मृत्यु तककी कहानी होती है और उसमें दूसरे आदमियोंका उल्लेख—चाहे वे आदमी कितने ही बड़े क्यों न हों—गौणरूप से आता है। पुराने जीवनचरित्रोंमें लेखकोंने अपने चरित्रनायकों (Heroes) की प्रतिष्ठा तथा कीर्ति का गाना गाया है और उनको देवताओंके रूपमें संसारके सामने पेश किया है। प्रत्यक्ष उपदेश उनमें ठूंस ठूंसकर भरा होता है। बुरे आदमियोंको महाराक्षस, महापतित और अधम चित्रित किया है। उन में चरित्रनायककी परिस्थिति और उसके क्रमिक विकासका बिल्कुल पता नहीं मिलता। चमत्कारों,

रूढ़ियों और इसी प्रकारकी बातोंका इतना संग्रह कर दिया जाता है कि पढ़नेवालेके हृदयमें यह भाव पैदा हो जाता है कि यह किसी आदमीका जीवनचरित्र नहीं है बल्कि किसी अलौकिक और अद्भुत व्यक्तिका जीवनचरित्र है और वह समझने लगता है कि ये बातें उसकी पहुँचसे परे हैं। इस लिये इस प्रकारके जीवनचरित्र आजकल कम पसन्द किये जाते हैं और उनसे पढ़नेवालेकी उत्सुकताको संतोष नहीं मिलता। वर्तमान कालमें जीवनचरित्रकी श्रेष्ठता इसी बातमें मानी जाती है कि वह किसी आदमीका सच्चा चित्र हो और उससे उस आदमीकी परिस्थितियोंका पूरा पता लग जाय; क्योंकि परिस्थितियों (Enviornments) के ज्ञानके बिना चरित्र-नायकके गुणों या दुर्गुणोंका तुलनात्मक पता नहीं लग सकता। जीवन-चरित्रमें चरित्रनायकके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओंका हल होना चाहिये। वर्णनात्मक जीवन-चरित्रसे आलोचनात्मक जीवनचरित्र अच्छा माना जाता है। जीवनचरित्रमें सचाई कितनी होनी चाहिए इसके बारेमें फ्रान्सके प्रसिद्ध विचारक तथा वौलटेयर (Voltair) का यह वाक्य याद रखना चाहिए। "We owe consideration to the living, to the dead we owe truth only" अर्थात् जीवित आदमियोंका हमें आदर और लिहाज करना चाहिये, परन्तु मृत आदमियोंके लिए हमें सच्चाई का आशय नंगापन नहीं है।

जीवनचरित्रोंसे भी अधिक लाभदायक आत्म-चरित्र (autobiography) होता है। परन्तु आत्म-चरित्रका लिखना कठिन है और विरले ही आदमी आत्मचरित्र सफलरूपसे लिख सकते हैं। बड़े आदमियोंके लिखे पत्र तथा उनके पास आए हुए पत्र भी हमें उनके बारेमें बहुत सी बातें बता सकते हैं। इस लिये पत्रोंके संग्रह भी प्रकाशित होने चाहियें। व्यक्तिगत डायरियाँ भी कम उपयोगी नहीं होतीं। एक लेखकका तो यह कथन है कि वह किसी आदमीका चरित्र (character) उसकी आमद और खर्च की बहीको देखकर बता सकता है। परन्तु पत्र, डायरियाँ, खर्च बही जीवनचरित्रोंका स्थान नहीं ले सकते, पर इनका संग्रह होना आवश्यक है।

जीवनचरित्र-लेखकमें भी कुछ आवश्यक गुण होने चाहिएँ, जैसे अपने चरित्रनायकमें बड़ी श्रद्धा, सत्यप्रेम, धुन, निर्भयतापूर्वक गहरा देखनेकी शक्ति, धैर्य, खोज उचित सामग्री चुनने और छोड़नेकी शक्ति (Power of Selection and Omision) और अनुरूप (Proportion) के साथ लिखनेकी आदत होनी चाहिए। जीवन-चरित्र लिखना भी कविता लिखनेके समान है और जैसे अच्छे कवि पैदायशी होते हैं वैसे ही अच्छे चरित्र-लेखक भी पैदायिशी होते हैं। एक सफल चरित्र लेखक देशकी बड़ी सेवा करता है। वह एक मृत महापुरुषको दुबारा बनाकर जनताके सामने पेश करता है। वर्तमान शैलीकी जीवन-चरित्रलेखन-कला अभी अपनी आरम्भ अवस्थामें ही है। यूरुप और अमेरिकामें जीवन-चरित्रोंका इतना प्रचार है कि वहाँ सभी क्षेत्रोंके बड़े बड़े आदमियोंके बहुतसे जीवन-चरित्र मिलते हैं तथा भिन्न २ दृष्टिकोणोंसे लिखे हुए एक आदमीके कई चरित्र मिलते हैं। उनके पत्र और डायरियाँ तक छपती हैं। लेखकोंकी तमाम रचनाओंके संग्रह निकाले जाते हैं। बड़े आदमियोंसे सम्बन्ध रखने वाली सामग्री इकट्ठी की जाती है। एक एक जीवन-चरित्रकी सहस्रों प्रतियाँ चन्द दिनोंमें बिक जाती हैं। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जर्मन डिक्टेटर हिटलरके एक अंग्रेजी जीवन-चरित्रकी चालीस हजार प्रतियाँ चार वर्षमें बिक गई और इंगलैण्डके भूतपूर्व सम्राट एडवर्ड अष्टमके एक ही जीवन-चरित्रके आठ संस्करण तीन महीनेमें छप गए। वहाँ छोटे बड़े सस्ते तथा राज संस्करण निकल जाते हैं। इसीमें उन देशोंकी उन्नतिका रहस्य है।

भारतवर्षमें जीवन-चरित्रोंकी दशा संतोषजनक नहीं है। पिछले वर्षोंमें महात्मा गाँधी और पंडित जवाहरलाल नेहरूके आत्म-चरित्रोंकी गूंज रही है और निःसंदेह वे महान् कृतियां हैं। पुराणों और कथाओंकी शक्लमें पुराने जीवन-चरित्र मिलते हैं। गोस्वामी तुलसी-कृत रामायण जनताका सबसे प्यारा

जीवन-चरित्र है। परन्तु प्रायः आत्म-चरित्र लिखने का रिवाज न था। अपने बारेमें सभी चुप हैं। बड़े२ राजाओं और विद्वानोंका हाल मिलना कठिन हो रहा है। शिक्षाका अभाव होनेसे जीवन-चरित्रोंकी बिक्री भी कम होती है। फिर एक महापुरुषके कई जीवन-चरित्र कैसे हों? अंग्रेजीमें छियासठ भागोंमें "Dictionary of National Biography" 'राष्ट्रीय जीवन-चरित्र-कोष' है। भारतवर्षमें अभी इसकी तरफ किसीका ध्यान भी नहीं। महापुरुषोंके जीवन-चरित्र सम्बन्धी सामग्री संग्रह होनी चाहिए।

जैन समाजके जीवन-चरित्र सम्बंधी साहित्यके बारेमें दो बातें लिखकर मैं इस लेखको समाप्त करना चाहता हूँ। जैन समाजके पुराण और जीवन-चरित्रोंका पुराना साहित्य काफ़ी है। परन्तु नवीन ढंग से लिखा हुआ साहित्य नहींके बराबर है। तीर्थंकरों, आचार्यों, जैन लेखकों, कवियों, सम्राटों, महापुरुषों और प्रसिद्ध स्त्रियोंके जीवन-चरित्र प्रायः नहीं मिलते। पंडित जुगल किशोरजी मुख्तारका लिखा हुआ 'स्वामी समंतभद्र' एक उच्चकोटिकी रचना है। अन्य आचार्यों के जीवन-चरित्र भी उसी ढंगसे तय्यार होने चाहिएँ। कितने दुखकी बात है कि भगवान महावीर तकका भी कोई प्रामाणिक पूरा जीवन-चरित्र नहीं है। जब समाजके सामने कोई आदर्श ही नहीं है, तब उन्नति कैसे हो सकती है? वर्तमानके बड़े आदमियोंमें सेठ माणिकचंदजी, सर सेठ हुकमचन्दजी तथा प्रसिद्ध जैन प्रकाशक देवेन्द्रकुमारजीके चरित्र लिखे गये हैं; पर खेदका विषय है कि जीवन-चरित्र सम्बन्धी साहित्यकी बिक्री बिलकुल नहीं है। क्या जैन समाज साहित्य सम्बंधी अपनी इस कमीको पूरा करनेकी तरफ ध्यान देगा?

नोट—इस निबन्धके लिखनेमें ऐस्क्विथके निबन्ध (Biography) बैनसन लिखित निबन्ध (Art of Biography) और इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनी कासे सहायता ली गई है इसके लिये लेखक उन सबका आभारी है।

प्रयाण

(पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ)

जीवन पट यह बिखर रहा है।

तन्तु जाल सब क्षीण हो गया;
सारा स्तम्भक तत्व खो गया;
पल भर भी रहना अब इसमें
भगवन्! मुझको अखर रहा है।

सम्मोहन की मधुमय हाला,
पी पी कर मैं था मतवाला,
नशा आज उतरा है अब तो;
जीवन मेरा निखर रहा है।

मृत्यु-लहर पर खेल रहा मैं;
सब विपदाएँ झेल रहा मैं;
अन्तर्द्वन्द मचा प्राणोंमें,
यह समीर मन मथित रहा है।

पेड़-पौधोंके सम्बन्धमें जैनमान्यताओंकी वैज्ञानिकता

(लेखक—पं० चैनसुखदास जैन, न्यायतीर्थ)

जैन मान्यताएँ अधिकाधिक वैज्ञानिक हैं, यह कहनेमें मुझे जरा भी संकोच नहीं होता। अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय के द्वारा अगर इन मान्यताओंकी गहराईमें हम प्रवेश करें तो हमें ज्ञात होगा कि ये वर्तमान भौतिक विज्ञानवादके द्वारा भी समर्थित हैं। परोक्ष तत्वके खण्डनमें हम कभी-कभी बहुत अधीरतासे काम लेते है; किन्तु कई बार देखा गया है कि जिस बातको हमने असम्भव समझकर असत्य कह डाला है वही सतत चिन्तनके द्वारा बादको हमारी ठीक समझमें आगई है। कोई बात समझमें नहीं आनेपर यदि उसका सामंजस्य बैठानेके लिये हम अपने विवेकका उचित उपयोग करें तो बहुत बार हमें अपने इस प्रयत्नमें सफलता मिलना भी सम्भव है।

अभी थोड़े दिनों पहले मैं विगत अगस्त मासका 'विज्ञान' देख रहा था। उसमें 'पेड़-पौधोंकी अचरज भरी दुनिया' नामक लेख पढ़नेमें आया था। उस लेखके पढ़ने से मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि वनस्पति-जीवोंके संबंधमें जो जैन-शास्त्रोंकी मान्यता है उसे वर्तमान भौतिक-विज्ञान-द्वारा भी समर्थन प्राप्त होसकता है। जैनोंने जिस तरह यह माना है कि यह सारा लोक साधारण वनस्पतिसे भरा पड़ा है, साधारण वनस्पति अदृश्य है और मनुष्य, पशु, पक्षी कीड़े-मकोड़े, पेड़ आदि सभी प्राणियोंमें इस साधारण वनस्पति का निवास-स्थान है, उसी तरह वर्तमान भौतिक-विज्ञान भी मानता है कि पौधे अर्थात् वनस्पतियोंसे सभी जगत् व्याप्त है। इस विषयपर गहराईसे विचार करनेके लिये उक्त लेखका निम्न लिखित अंश ध्यान देने योग्य है—

"वनस्पति संसारके कुछ अति सूक्ष्म सदस्य—जो कोरी आँखोंके लिए अदृश्य रहते हैं और केवल सूक्ष्मदर्शक में ही दिखलायी पड़ते हैं और जिन्हें लोग भूलसे कीटाणु कहते हैं—हममें रोग उत्पन्न करते हैं और हमारी जान तक ले लेते हैं। एक प्रकारकी अतिसूक्ष्म वनस्पति जब हमारे पेटोंमें पहुँच जाती है तो आहार पचनेके बदले फफदने लगता है। एक दूसरे प्रकारकी वनस्पति जब हमारी त्वचा पर उगने लगती है तो दाद नामक त्वचा-रोग उत्पन्न होता है।

दहीका जमना, पटसनका सड़ना, जलेबी या पाव रोटी के लिए आटे में खमीर उठना, ये सब क्रियाएँ अतिसूक्ष्म निम्न श्रेणीके पौधोंसे होती हैं।

बैकटीरिया अर्थात् दण्डाणु, शैवाल (सेवार) फफूंदी और काई आदि सभी एक प्रकारके पौधे हैं। दण्डाणु एक प्रकारके बहुत सूक्ष्म जन्तु हैं, ये प्राणियों के शरीर में रहते हैं। हवामें, मिट्टीमें, जलमें और वस्तुत: सभी पदार्थोंमें ये रहते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे दीख जाते हैं; पर वैज्ञानिकों का खयाल है कि ऐसे दण्डाणु भी हो सकते हैं जो अधिक से अधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे भी न देखे जा सकें। ये दण्डाणु दो तरहके होते हैं पोषक और हानि-कारक। जो मनुष्य शरीरके लिए उपयोगी हैं वे पोषक, और बाकी सब हानिकारक हैं। ये ही रोगाणु कहलाते हैं। ये ही क्षय, न्यूमोनिया, टाइफाइड, दाद, उपदंश आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। विज्ञान मानता है कि ये एक प्रकार के पौधे अर्थात् वनस्पति है।"

जैनोंने जैसे प्रत्येक वनस्पतिमें भी साधारण वनस्पतिका निवास माना है। इसी तरह विज्ञान भी कहता है कि वृक्षों और लताओंमें भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पौधे रहते हैं। देखिए—

"जब हम अपनी वाटिकाओंमें फल-फूल उत्पन्न करते हैं या खेतोंमें अनाज उगाते हैं तो कभी कभी वनस्पति संसारके कुछ निम्न श्रेणी वाले अतिसूक्ष्म सदस्य हमारे पेड़-पौधोंपर पराश्रयीकी तरह आ बसते हैं।...."

वैज्ञानिकोंने जो पौधोंकी शेवाल, फुफूंदी, लिवरवर्ट, काई, फर्न, नातवीजी और पुष्पद ये सात जातियां मानी हैं। इन सबका विस्तृत वर्णन करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। पर यह कहनेमें कोई हानि नहीं है कि अभी इस वर्गी-

करणमें खोजकी और भी गुंजायश है। जैन शास्त्रोंमें प्रत्येक वनस्पतिकी जाति-संख्या दस लाख मानी है, वैसे वेज्ञानिकों ने भी अनुमान किया है कि वर्तमानमें पौधोंकी जातियोंकी गिनती सवा दो लाखसे कम नहीं होगी।

इन पंक्तियोंके पढ़नेसे हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि वनस्पतिके संबंधमें जैन मान्यता वैज्ञानिकोंकी मान्यताके बहुत नजदीक है। मेरे सामने यह प्रश्न कई बार आया कि जैन इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोद जीवोंको वनस्पति नामसे क्यों व्यवहृत करते हैं किन्तु इसका कोई समुचित उत्तर मुझे न सूझा; पर इस लेखको पढ़कर कोई भी इस प्रश्नका यह उत्तर दे सकता है कि ये एक प्रकारके पौधे हैं इसलिए इन्हें वनस्पति कहते हैं।

'अनेकान्त' का आगामी अंक

"जुगल किशोर मुख्तार सम्मान समारोह अङ्क' होगा

अनेकान्त के पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि श्रद्धेय मुख्तार साहब के प्रबल विरोध के बावजूद अनेकान्त के संचालकोंने यह निर्णय किया है कि अनेकान्त का दिसम्बर का अंक "जुगलकिशोर मुख्तार सम्मान समारोह अंक" होगा।

इस अंक में, ५ दिसम्बरको होनेवाले 'जुगलकिशोर मुख्तार सम्मान समारोह' के विस्तृत समाचार, उनपर लिखे गये जैन अजैन विद्वानोंके निबन्ध, देशके नेताओं और महापुरुषोंकी शुभ कामनायें और सन्देश, दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, पत्रोंकी मुख्तार साहब के सम्बन्धमें टिप्पणियाँ आदि साहित्य होगा।

इस अंकका सम्पादन हिन्दीके लब्धप्रतिष्ठ लेखक, पत्रकार और जीवन परिचय (लाईफ स्कैच) कलाके माने हुए विशेषज्ञ **श्री पं० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' करेंगे।**

यह विशेषाङ्क मुख्तार साहबके शोधकार्यकी रैफरैंस बुक होगी और इसके द्वारा हमारे पाठक मुख्तार साहबकी जीवनव्यापी साधनाकी एक विशेष झाँकी पा सकेंगे।

इस अंकमें हम मुख्तार साहबके जीवनके कुछ निजी संस्मरण भी देना चाहते हैं। इसलिये मुख्तार साहबके मित्रोंसे प्रार्थना है कि वे उनके सम्बन्धमें अपने संस्मरण तुरन्त लिख भेजें।

इस अंकको सफल बनानेमें सहयोग देना हम सबका नैतिक कर्तव्य है। आशा है हमारे साथी इधर ध्यान देंगे।

कौशलप्रसाद जैन व्यवस्थापक

"बुधजन सतसई पर एक दृष्टि"

(लेखक माणिकयचन्द्र जैन, बी० ए० रैनवाल)

विदद्वर्य पण्डित भदीचन्द्रजी वज (बुधजन) का नाम जैन हिन्दी साहित्यमें उल्लेखनीय है। आप अपने समयके प्रगल्भ प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान एवं माननीय कवि और लेखक थे। आपकी शास्त्र बाँचने तथा शङ्का समाधान करनेकी शैली अत्यंत रोचक और निराली थी। आपकी कविता का विषय भव्य प्राणियोंको जैन सिद्धान्त समझाना तथा प्रवृत्ति मार्ग से हटाकर निवृत्ति मार्गपर लगाना है।

आपके बनाए हुए चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। १ तत्त्वार्थ बोध, २ बुधजन सतसई, ३ पंचास्तिकाय, ४ बुधजन विलास। बुधजन-सतसईकी रचना सम्वत् १८७९ में हुई। रचनाकालके सम्बन्धमें स्वयं कविने निम्न दोहा लिखा है।

संवत् ठारासै असी- एक बरसतें घाट।
जेठ कृष्ण रवि अष्टमी, हुवै सतसई पाठ॥

सतसई पढ़नेके पूर्व मैं यह सोचता था कि इस सतसईमें या तो विहारी सतसईकी भांति शृङ्गार रस का निर्झर बह रहा होगा या वृन्द सतसई की तरह नीतिके दोहोंकी भरमार होगी; पर मेरी धारणा असत्य निकली। इस सतसईमें ४ प्रकरण हैं (१) देवानुरागशतक (२) सुभाषित नीति (३) उपदेशाधिकार और (४) विरागभावना। मैं इस पुस्तकको तन्मय होकर पढ़गया। देवानुराग-शतकमें कवि बुधजनजी महात्मा सूर और तुलसीके रूपमें दिखलाई दिए। इसमें तुलसीकी विनय-पत्रिका और सूर की विनय वाणीके छन्दोंकी झलक दिखलाई पड़ी। तुलसीकी भक्ति पद्धतिका बुधजन पर प्रभाव पड़ा है, ऐसा मेरा विचार है। अपने कृत्योंकी आलोचना करना तथा भगवानके महात्म्यको बतलानाही तुलसी की भक्ति पद्धतिका सार है। यह बात बुधजनजीके दोहोंमें द्रष्टव्य है:—

मेरे औगुन जिन गिनौ, मैं औगुन को धाम।
पतित उद्धारक आप हो, करो पतित को काम॥बुधजन
प्रभु मोरे अवगुन चित्त न धरो।
समदर्शी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो॥सूरदास
"राम सों बड़ो है कौन, मों सो कौन छोटो।१।
राम-मों खरो है कौन,मोसों कौन खोटो"—तुलसी

प्रभुके महत्वको सामने होतेही भक्तके हृदयमें लघुत्वका अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार महत्व वर्णन करनेमें आनन्द आता है उसी प्रकार अपना लघुत्व वर्णन करनेमें भी। सुभाषित नीतिपर कविने २०० दोहे लिखे हैं। इनसे कविके अपूर्व अनुभव और ज्ञानका पता लगता है। इनकी तुलना वृन्द, रहीम तुलसीदास और कबीरके दोहोंसे पूर्णतयाकी जासकती है। इतनी बात अवश्य है कि नीति के दोहोंकी रचना करते समय प्रायः इन सभी कवियों का आधार पंचतन्त्र रहा हो। बुधजनजीके नीतिके दोहे हितोपदेशके श्लोकोंका अनुवाद मात्र मालूम पड़ते हैं। पर यह बात इन्हींपर लागू नहीं है, उपर्युक्त प्रायः सभी कवियोंके सम्बन्धमें कही जा सकती है। उदाहरणार्थः—

एक चरनहूँ नित पढ़ै, तौ काटै अज्ञान।
पनिहारीकी लेज सों, सहज कटै पासान॥बुधजन॥
करत करत अभ्यासके,जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिल पर होत निसान॥वृन्द॥
महाराज महावृच्छकी, सुखदा शीतल छाय।
सेवत फल भासे नतौ, छाया तौ रह जाय॥बुधजन॥
सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात् फले नास्ति,च्छाया केन निवार्यते॥हितो०
पर उपदेश करन निपुन ते तो लखे अनेक।
करै समिक बोलै समिक जे हजारमें एक॥बुधजन॥
पर उपदेश कुशल बहुतेरे। तुलसी

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीय मनुष्ठानां कस्य चित्तु महात्मनः॥हितोपदेश

मिनख जनमले ना किया, धम न अर्थ न काम ।
सो कुच अजके कंठमें उपजे गए निकाम ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां, यस्यैकोपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्यैव, तस्य जन्म निरर्थकम् ॥हितोपदेश

नदी, नखी, शृङ्गीनिमें, शस्त्रपानि नरनारि ।
बालक अर राजान ढिग बसिए जतन विचारि॥बुध०

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखीनां शृङ्गिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु, राजकुलेषु च॥हितोप०

दुष्ट मिलत ही साधु जन, नहीं दुष्ट ह्वै जाय ।
चन्दन तरु को सर्प लगि विष नहीं देत बनाय॥ बुध०

बुद्धिवान् गम्भीरको संगत लागै नांहि ।
ज्यों चन्दन ढिग अहि रहित,विष न होय तिहि माँहि॥वृं०

रहिमन् ज्यों उत्तम प्रकृत का कर सकत कुसंग ।
चन्दन विष व्यापे नहीं लिपटे रहत भुजंग ॥ रहीम ॥

विपता को धन राखिए धन दीजे रखिदार ।
आतमहितकौं छांड़िए धनदारा परिवार ॥बुधजन॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षद्ध नैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ हितोपदेश

उपर्युक्त पद्योंकी परस्पर तुलना करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पुरान कवियोंने एक दूसरेके भावों और विचारोंका बहुत कुछ अपनाया है तथा कई कवियोंने तो एक दूसरेकी युक्तियोंको अपनीही युक्ति बना लिया है। अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति अनादिकालसे चली आरही है। यही बात बुधजनमेंभी मिलती है,उन्होंने भी दूसरोंका अनुकरण किया है। उन्होंने हितोपदेश के कई श्लोकोंका हिन्दीके पद्योंमें सम्भवतः इसी दृष्टि कोणसे अनुवाद कर डाला है कि लोगोंका संस्कृतकी ओर झुकाव कम है, और संस्कृत साहित्यके संचित ज्ञानका उपार्जन करनाभी मनुष्योंके लिए अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि भारतीय साहित्यका अधिकांश खजाना संस्कृतमें ही है।

उपदेशाधिकारमें भी कविके भाव और विचार अन्य कवियोंसे मिलते जुलते ही हैं जैसेः—

दुर्जन सज्जन होत नहिं राखौ तीरथ वास ।
मेलो क्यों न कपूर मैं हींग न होय सुवास ॥बुधजन॥

नीच निचाई नहीं तजै, जो पावै सत्संग ।
तुलसी चन्दन विटप बसि विष नहीं तजत भुजंग ॥तुलसी

करि संचित कोरी रहै,मूरख विलसि न खाय ।
माखी कर मींडत रहै,शहद भील लै जाय ॥ बुधजन॥

खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै ले जाय ।
पीछे ज्यों मधु मक्षिका, हाथ मलै पछताय ॥ वृन्द

दुष्ट कहि सुनि चुप रहो बोले ह्वै है हान ।
भाटा मारै कीचमें छींटे लागे आन ॥बुधजन॥

कछु कहि नीच न छेड़िए भलौ न वाको संग ।
पाथर डारौ कीचमें उछरि बिगारै अंग ॥ वृन्द

रिपु समान पितु मातु जो, पुत्र पढ़ावैं नांहि ।
शोभा पावै नाँहि सो, राज सभाके मांहि ॥बुधजन

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभा मध्ये हंसमध्ये वको यथा ॥हितोपदेश

इनके अतिरिक्त विद्या, प्रशंसा, मित्रता, जुआ-निषेध, मांस निषेध, मद्य-निषेध, वैश्या-निषेध, शिकारकी निन्दा, चोरी निन्दा, परस्त्री संग-निषेध, आदि पर अनेक उपदेशात्मक अनुभव पूर्ण उत्तम दोहोंकी रचनाकी है। जिनके पढ़नेसे मनुष्यके विचार निर्मल होकर आत्मा शुद्ध हो सकती है। यदि उन दोहोंको यहां पर लिखा तो लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। अतः इस सम्बन्धमें इतनाही कहना पर्याप्त होगाकि कविवर बुधजनजीने अपने प्रतिपादित विषय का अच्छा विवेचन किया है।

विराग भावनाके वर्णनमें तो कविने कमाल दिखाया है। इस भावनामें कविने संसारकी असारता का हूबहू चित्र खींचकर अपने बृहद्ज्ञान, अपूर्व अनुभवका परिचय दिया है। आप दोहोंको पढ़ते जाइए कबीरके पद्योंका आनन्द आने लगेगा। इस भावना के वर्णनमें कविने अपने अध्यात्म ज्ञान, आत्म अनुभूति और मनुष्य जीवनकी अस्थिरताका वर्णन कर के जैनदर्शन और सिद्धान्तका सार उत्तम रीतिसे समझानेका प्रयास किया है:—

को है सुतको है तिया, काको धन परिवार।
आके मिले सराय में, बिछुरेंगे निरधार॥
परी रहैगी संपदा, धरी रहैगी काय।
छलबल करि क्यौं हु न बचै, काल झपट लै जाय॥
देहधारी बचता नहीं, सोच न करिए भ्रात।
तन तौन जिगे रामसे, रावनकी कहा बात॥
आया सो नांही रह्या, दशरथ लछमन राम।
तू कैसे रह जायगा, झूंठ पाप का धाम॥

इसी प्रकरणमें समता और ममताका उल्लेख करनेमें कविने अपनी कलाके चार चांद जड़ दिएहैं। जैन आचार्यों और तीर्थंकरो, ऋषियों, भद्रपुरुषों और पवित्र आत्माओंके दृष्टान्त देकर वर्णनीय विषयकी स्पष्ट व्याख्याकीहैं। उन दृष्टान्तोंसे काव्यमें रोचकता और सौन्दर्य तो आही गया है, साथ ही में जैन सिद्धान्तोंकी व्यापकताकाभी अच्छा विश्लेषण हुआहै। अनुभव प्रशंसा और गुरु प्रशंसापरभी कविने अपना ज्ञान और अनुभव प्रदर्शित किया है। दोहे बड़े ही रोचक और मनोहर हैं। गुरूका महत्व बतलाते समय कवि हमारे समक्ष महात्मा कबीरके रूपमें आताहै। ग्रन्थके अन्तमें कविने अपनी रचनाकासार इस प्रकार बतलायाहैः—

भूख सहो दारिद सहो, सहो लोक अपकार।
निन्द काम तुम मति करो, यहै ग्रन्थको सार॥

ग्रन्थके सार तथा कविके उद्देश्यसे ज्ञात होताहै कि कवि आदर्शवादी है। संसारी मनुष्योंको सन्मार्ग एवंम् निवृति मार्गपर लगानाही कविके जीवनका उद्देश्यहै। बुधजनजीके दोहोंके साथ साथ हितोपदेश के श्लोकों तथा वृन्द, रहीम और तुलसीके दोहोंको उद्धृत करनेसे बुधजनजीके काव्य सामर्थ्यका पूरा पता लग जाता है। हिन्दीमें रहीम, वृन्द और बिहारी सतसई आदि ग्रन्थोंको अच्छा स्थान प्राप्तहै। पर, जैन साहित्यकारोंके प्रमाद और आलस्यके कारण बुधजन सतसईको हिन्दीमें अभीतक कोई स्थान नहीं मिल सका। यह जैनियोंके लिए, मुख्यतया जैन साहित्यकारोंके लिए अत्यंत खेदकी बात है। उपर्युक्त वर्णनसे यह स्पष्ट होजाता है कि कविवर बुधजनजी रहीम और वृन्दकी श्रेणीके कवि अवश्यहैं। और इनकी सतसई वृन्द सतसईसे पूर्ण समता रखती है।

बुधजन सतसईकी भाषा ठेठ हिन्दी है, पर कहीं कहीं प्रान्तीय (जयपुरी) भाषाका पुट भी है। कहीं-कहीं तुक मिलानेमें छन्दो भङ्ग दोष भी आगया है अथवा प्रति लेखकोंकी उसमें कुछ गलती है। अन्तमें यह कहना उपर्युक्त होगा कि बुधजन सतसई एक पढ़ने और संग्रह करने योग्य ग्रन्थ है।

मृत्यु-महोत्सव

"तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्युमहोत्सव बारी।"—सूरचन्द

(ले०—श्री जमनालाल जैन विशारद)

मृत्यु! मृत्युका नाम सुनता ही मनुष्य काँपने लगता है, थर्राने लगता है और झल्लाकर उसका उच्चारण करनेवाले पर पैनी दृष्टि डालने लगता है। मृत्युका नाम सुनना वह अपना अपमान समझता है, उसे सुनकर वह अनिष्टकी आशंकासे विचलित हो उठता है और यदि किसी शुभकार्य के आदिमें उसे सुननेका सौभाग्य प्राप्त हो गया तो समझ लीजिए उस पर वज्र ही गिर जाता है—वह निराश, हताश, निरुत्साहित तो हो ही जाता है परन्तु अन्दर ही अन्दर क्रोधको जन्म देकर आग-बबूला भी हो उठता है। वही मनुष्य, जो मृत्युके नामको सुनकर या उसका आगमन जान कर इतना अस्थिर हृदय हो उठता है, वही जन्मका नाम सुनकर, हर्षोत्फुल्ल हो, घर-घर बधाई मांगते फिरता है, मंगल

गान गाता है और अनेकों अतिथियोंका आदर-सत्कार कर अपनेको धन्य और सौभाग्यशाली समझता है।

लेकिन मृत्युका वास्तविक तत्त्व, उद्देश्य एवं ध्येय न जाननेके कारण ही आज असंख्य मनुष्योंमें भ्रान्त विचार धारा अपना प्रभुत्व प्रस्थापित किए बैठी है। यद्यपि मृत्युका वास्तविक एवं अन्तिम अर्थ शरीरसे चेतना शक्तिका विलग हो जाना है, तथापि यह अवस्था एक ही प्रकारसे प्राप्तकी जाती हो, इसमें सन्देह है भिन्न-भिन्न विचारकोंने भावी सुख की कल्पनाके आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकारसे देह त्यागनेके मार्ग उपस्थित किए हैं, लेकिन फिर भी यह निश्चितरूपमें नहीं कहा जा सकता कि उन विचारकोंके समस्त मृत्यु द्वार सर्वथा उपादेय एवं उपयुक्त अथवा ग्राह्यणीय है। तब भी, यह निश्चत रूपेण स्पष्टतासे कहा जा सकता है कि सभी विचारकोंका सन्देश यही रहा है कि मृत्युके अवसर पर भावोंमें मलीनता, ममता, मोह और रागद्वेषादिका सर्वथा अभाव वांछनीय है। किसीकी इच्छाको रख मृत्युको प्राप्त होना हेय एवं निंद्य है—कल्याण एवं उद्धारका बाधक है। संक्लेशित परिणामोंसे मृत्युको प्राप्त होना अपने आपको धोका देना समझा गया है, और वह वास्तवमें ठीक भी है।

उन कई प्रकारकी मृत्युमें 'समाधिमरण' का भी एक महत्त्वपूर्ण अथवा सर्वोच्च स्थान है। समाधिमरणके आविष्कर्ताका (यह तो मालूम नहीं कि उसका आविष्कर्ता कौन है, जैन लोग यह अवश्य कहते हैं कि उसके आविष्कर्ता प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवजी थे) यह कहना है कि जिस समय हम यह जान लें कि हमारी या हमारे कुटुम्बीकी मृत्यु अब अति निकट है, उसे जीवनसे, संसारसे, कुटुम्बसे आहारसे, वस्त्रोंसे निर्मोही कर दिया जाय और मृत्युकी महानताका सदुपयोग किया जाय ताकि उसके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल जलकी भांति विकार ही न सुकुमार कोमल हों और भावी जीवन संकटापन्न न हो। हम जीवन भर चाहे जितने पाप करें, अत्याचार करें, अन्याय करें और व्यभिचारी रहे हों परन्तु यदि हमारा मरण समाधि-पूर्वक होगा, तो मृत्यु की विकरालता शान्तिमें, क्रूरता मृदुतामें, और भयानकता महानतामें परिवर्तित हो जाएगी।

समाधिमरणका यह अर्थ कदापि नहीं कि अपने जीवन का अस्तित्वका त्याग मूर्छना वश या मोह वश अथवा 'मेरा-तेरा' करते-करते किया जाय, उसका तो यही मतलब है कि जब हम यह अनुभव करलें कि हमारा जीवन समाज, धर्म, देश और स्वयं अपने लिए भी निरुपयोगी है, धीरे-धीरे संसारके वायुमण्डलमें विलग होते-होते शरीरसे भी ममत्व त्यागकर ज्ञान पूर्वक मृत्युको प्राप्त होना।

जबरदस्ती, बलपूर्वक या और किसी भयानक कारणके वशीभूत होकर जीवन त्यागनेके प्रसङ्गको उपस्थित कर, समाधिमरणका ढोंग रचकर, सारे पदार्थोंसे दूर रहकर मृत्युको प्राप्त होना समाधिमरण तो नहीं, उसकी हत्या करना अवश्य है और आत्मघात करना तो वह है ही। समाधिमरणमें त्याग, तपस्या और विश्व एवं आत्मकल्याण की अत्यन्त श्रेष्ठ भावनाएँ छिपी हुई हैं। समाधिमरणके पथ को स्वीकृत कर हम अनावश्यक जीवनका लोभ और मोह तथा दम्भ एवं अहंकार आदिसे त्याग पत्र ले धर्मके हमारे आदर्शमें विलीन होनेकी महत्वाकांक्षा रखते हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्यका यह अहोभाग्य ही समझना चाहिए कि 'समाधिमरण' के महत्व, उपयोग और आदर्शको प्रकट करनेके लिए दो रचनाएँ सरल, सरस और मृदुलरूपमें उपलब्ध हैं। जिसमें एक है कविवर द्यानतराय जीकी और दूसरी है कविवर सूरचन्दजीकी।

जैनसमाजमें इन दोनोंही रचनाओंको अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है और यदि समय मिला और उपयुक्त स्थान रहा तो प्रत्येक मृत्यु शय्या पर पड़े हुए मनुष्यको ये सुनाई भी जाती हैं।

लेकिन अत्यन्त दुःख और अफसोसके साथ कहना पड़ता है कि बीचमें इन रचनाओंको फूटी आँखों भी नहीं देखा जाता। अंतिम समय ही सुनाई जानेके कारण बेचारा रोगी तो क्या समझता होगा परन्तु स्वयं सुनाने वाले महानुभाव भी उनके रहस्यको समझ नहीं सकते।

हमें क्या पता है हमारी मृत्यु किस दिनसे रास्ता देख रही है, हमें तो यही सोच समझकर प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होना चाहिए कि वह हमारे सिरपर मंडरा रही है—न जाने कब आकर गला घोंटदे। अतएव, हमारा यह प्रथम और प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए कि हम मृत्युको अपना सखा, अपना मित्र, अपना सहोदर समझें और उसका आदर सत्कार करें ताकि वह अपने विकराल एवं भयानक रूपमें उपस्थितहोकर

शत्रुसा व्यवहार न करे।

कविवर सूरचंदजीके समाधिमरणसे हमें अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएं प्राप्त होती हैं, उपदेश उपलब्ध होता है और और उनके प्रति सद्भावनाएं जाग्रत होती हैं। जीवनमें साहस, वीरता और त्यागका प्रादुर्भाव प्रखररूपसे प्रस्फुटित होताहै।

इनके समाधिमरणको पढ़नेसे ज्ञानहोताहै। इस भूतल पर ऐसे २ शूरवीर संत, राजा और मुनि होगएहैं जिन्हें घानीमें पेलागया सिरपर अग्नि सुलगाई गई, तप्त अंगार सदृशलोह बेड़ियाँ पहनाई गई, जिनके शरीरको व्याघ्रों, शूरों और सिंहोंने निर्दयतापूर्वक अपने कलेवरका। कलेवा बनाया, परंतु उन धीर-वीरोंने उससमयभी संक्लेश परिणामों को जन्म नहीं दिया और "चौआराधन" का आश्रय ग्रहण किया, तब फिर हमारा जीवनतो उनसे कई गुना निष्कंटक है, आजतो अंग्रेजों का राज्यहै—चारों ओर सुशासन (?) की पुकार है, अतः हमारे जीवनमें ऐसा कौनसा दुःख है जिससे हम मृत्युसे भयभीत हों करुणाक्रन्दन करें। इसीलिए कवि उन महान आत्माओंके कष्टोंको प्रकट कर प्रत्येक छन्द के अन्तमें कहता है—

"तो तुमरे जिय कौन दुःख है मृत्यु महोत्सव बारी।"

अन्तमें हम पाठकों का अधिक समय न लेकर, केवल एक बातकी ओर जो कविवर सूरचन्दजीकी विचक्षण सूक्ष्म सूझ है ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। सम्भव है जिससे पाठकोंके हृदय पर कुछ प्रभाव पड़े और मृत्युके प्रति सहानुभूति प्रस्फुरित हो, जीवनमें साहस, उत्साह और 'नूतन' निर्माणकी भावनाका संचार हो ताकि समाज, जाति और देशका कल्याण हो; क्योंकि यह सुस्पष्ट है कि किसी भी कल्याण या उद्धारके लिए त्याग, वीरता और बलिदानकी अत्यन्त आवश्यकता होती है।

हम निरन्तर देखते हैं और अनुभव करते हैं कि जब से हमारा जन्म होता है हमारे जीवनमें शकुन-अपशकुनोंको महत्वपूर्ण स्थान-आसन प्राप्त है बात-बातमें शकुन देखनेके लिए पंडितोंकी याद की जाती है और तदनुसार भावी कार्य के परिणामका निष्कर्ष सोचा जाता है। लेकिन आश्चर्य है कि मृत्युके अवसर पर हम शकुनोंका मानों त्यागपत्र दे चुके होते हैं। कितनी सूक्ष्म सूझ है उनकी कि वह मृत्युके समय भी शकुन देखने के लिए निमन्त्रण दे रहा है। उनके विचारमें 'समाधिमरण' सुन्दर और अति शुभ शकुन है। यह कहाँका न्याय कि हम जब दूसरा मकान बदलते हैं तो शकुन देखते है, कहीं दूसर गांव जाते हैं तो शुभाशुभ देखते हैं परन्तु जब परगतीको अर्थात् महान् नगरमें जाते हैं हैं, दूसरे मकान अर्थात् शरीरमें जाते हैं तो तनिक भी खयाल नहीं करते। वह हमें उलाहना देते हुए हमें अपने *कर्तव्य पर आरूढ़ होनेके लिए जो कुछ कर रहा है, वह* उसीके मुखसे सुनिए और आनन्दका रस लूटिये—

"मात-पितादिक और कुटुम सब, जीके शकुन बनावें।
हल्दी, धनिया, पुङ्गी अक्षत, दूध दही फल खावें॥
एक ग्राम जानेके कारण, करें शुभाशुभ सारे।
"जब परगतिको करत पयानो, तब नहीं सोचो प्यारे।

उस समय तो हमें रोना नहीं चाहिए, यह तो हँसनेका समय होता है। क्योंकि उस समय हमारे कुटुम्बीको मलीन मकानकी जगह नूतन महल नसीब होनेका अवसर उपलब्ध होता है। इसी लिए कवि जिसकी मृत्यु हो रही है उसे सम्बोधन कर रहा है, जिसे पढ़कर हमें भी सचेत और सावधान हो जाना चाहिए—

"सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावें सारे।
ये अपशकुन करें सुन तोकों, तू यों क्यों न विचारै॥"

अन्तमें एक बात और, और बस। हमारी उन पाठकों एवं हिन्दीसाहित्यके मर्मज्ञों-समालोचकों एवं कल्याणेच्छुओं से विनीत प्रार्थना है कि वे उक्त कविवरकी रचनाएँ एक बार अवश्य पढ़ें और उसमें जो तत्त्व हो, सार हो, रहस्य हो, जनताके सन्मुख रखें। हिन्दीसाहित्यमें ऐसी ही रचनाओं की आज आवश्यकता है न कि रीतिकुलीन उद्दाम कामपिपासा मूलक शृङ्गारिक रचनाओं की।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

ले०-चन्दगीराम जैन 'विद्यार्थी'

ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ तो ब्रह्ममें चर्या करना अथवा आत्मा में लीन होना है। यदि निश्चय नयसे देखा जाय, तो आत्माको कल्याणकी ओर अग्रसर करके उसे मोक्षमार्ग पर लगाकर परमात्म-पदको प्राप्त कराने वाला एक ब्रह्मचर्य ही है। परन्तु व्यवहारनय अथवा बाह्य-दृष्टिसे इसका लौकिक अर्थ 'वीर्य-रक्षा' है। इसी विषय पर आज विचार करना है। ब्रह्मचर्य ही जीवन है और वीर्यनाश ही मृत्यु है, यह महान् सत्य है। अधिकसे अधिक ब्रह्मचर्यको अपने जीवन में स्थान देना प्रत्येक मनुष्यका परमावश्यकीय कर्त्तव्य है। जो जितने व्यापक रूपमें ब्रह्मचर्य को अपने जीवनमें उतारेगा—उसकी आराधना करेगा, वह उतनाही अधिक बलवान, दीर्घायु, तेजस्वी, मनस्वी और ओजस्वी होगा। वह प्रत्येक प्राणी को अपने ब्रह्मचर्यके ओजसे अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। उसका एक एक शब्द प्रत्येक जीवपर, यदि मैं अत्युक्ति पर नहीं हूँ तो, अजीवपर भी बिजली जैसा सफल प्रभाव डालेगा। प्रत्येक व्यक्ति उसके लिये जीवन न्यौछावर करनेके लिए तय्यार हो जायगा। जो ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपसे उपासक है, जो अखण्ड ब्रह्मचारी है अथवा जिसने ब्रह्मचर्य को अपने जीवनमें पूर्णरूपेण उतार लिया है, वह तो देव ही होजाता है। उसकी मानवता देवताका रूप ग्रहण कर लेती है। तमाम जगत उसके पीछे चलने लगता है। उसके नेतृत्वमें वह गौरव समझता है। हमारे बहुतसे बन्धु शायद यह पढ़कर चौकेंगे कि गृहस्थ भी ब्रह्मचारी रह सकता है और ब्रह्मचर्यका पालन बे-रोक-टोक कर सकता है। विवाहित गृहस्थ यदि केवल सुसंतान उत्पन्न करनेके पवित्र विचारको सन्मुख रखते हुए, नियत समय पर काम सेवन करे, तो उसके ब्रह्मचर्यमें कोई विकृति नहीं आ सकती। गृहस्थ-ब्रह्मचारीपरस्त्रीमें तो मातृभाव रक्खेगा ही, परन्तु स्वस्त्रीमें भी अतिरागका त्याग करके, केवल सन्तानार्थही स्त्रीप्रसंग करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करेगा। वह अपनी स्त्री को अधिकसे अधिक ब्रह्मचर्य पालन करनेकी शिक्षा देगा। गर्भके दिनोंमें पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करके गर्भस्थ बालक की आरोग्यतापर कुठाराघात करनेसे बचेगा। वह समझेगा कि गर्भके दिनोंमें स्त्रीके साथ भी कामसेवन करना महाअनर्थकारी है—अपने पैदा होने वाले बच्चेके सारे जीवनको बर्बाद करना है, उसकी आरोग्यताका हरण करके उसे रोगी और अस्वस्थ बनानेका उत्तर दायित्व अपने सिर पर लेना है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जितना अधिकसे अधिक जीवनमें ब्रह्मचर्यको महत्व प्रदान किया जायगा, उतनी ही अधिक सफलता उसके चरणोंके चेरी बनकर रहेगी और उसके इशारेपर नाचेगी। वह हर जगह सफल होगा। 'नहीं' अथवा 'असंभव' शब्द उसके शब्दकोष-से निकल जायगा।

ब्रह्मचर्य ही रसायन है—सञ्जीवनी बूटी है। एक बार वैद्य-कविद्या-पारंगत धन्वन्तरि महाराज अपनी शिष्यमण्डली को वैद्यक पढ़ा रहे थे। शिष्योंने पूछा कि महाराज! क्या कोई ऐसी औषधि भी है, जो सभी रोगोंमें अचूक हो। धन्वन्तरि महाराज ने उत्तर दिया, हां है। वह अचूक औषधि जो किसी भी रोगमें असफल न हो, ब्रह्मचर्य है। आजकल हमारे बहुतसे वैद्यगण अपनी औषधियोंका विज्ञापन करनेके लिए, किसी भी रोगमें, यहाँतक कि वीर्य रोगोंमें भी ब्रह्मचर्य का परहेज नहीं बतलाते। इसीलिए रोगीको अपनी मूर्खतासे कहिए अथवा वैद्य देवताके प्रसाद से कहिए, निराशाका मुँह देखना पड़ता है।

बहुतसे जिज्ञासु पाठकोंके हृदयमें जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि आखिरकार इस अमूल्य मृत्युञ्जय रसके वा महामंत्रके जिसका गुण गान ऊपर इतने विस्तारसे किया गया है, सिद्ध करनेके कौन २ साधन हैं जिससे सुगमता और निर्विघ्नता पूर्वक इसकी आराधनाकी जासके, अतः संक्षेपसे उनका कुछ वर्णन किया जाता है:—

सबसे पहले भोजन को लीजिए। ब्रह्मचर्यकी आराधना करने वालेको सदा सादा—सात्विक आहार करना चाहिए आहारका मनपर सीधा असर होता है। कहावत भी है कि जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। गेहूँ, चना, जौ, मूंग,

अजहर, पालक, बाथू, घी, दूध, दही, देशी शक्कर (बूरा) सेंधा नमक और शुद्ध पके फल इत्यादि सब सात्विक आहार में सम्मिलित हैं। अत्यन्त गर्म तथा तीक्ष्ण और गरिष्ठ, कामवासनाको भड़काने वाले, उत्तेजक भोजन—लालमिर्च खटाई, तेल, हींग, गर्म मसाले प्याज, लहसन, उड़दकी दाल, मसूर, सरसों, तेल और घीमें तले हुए पदार्थ—पूड़ी, कचौड़ी, मालपुआ, मिठाई, शराब, चाय, काफ़ी, कोकेन, अफ़ीम, भांग, तम्बाकू इत्यादि निकृष्ट भोजनों और चाट, दही-बड़े आदि चटपटी चीजोंसे परहेज रखना चाहिए। सर्वदा हल्के, सादे और पौष्टिक आहारका उपयोग करना चाहिए। तभी हम ब्रह्मचर्य-रक्षामें सफल हो सकेंगे। हमें अपनी जिह्वा पर काबू (control) करना पड़ेगा। किसी अंग्रेज कविने कहा है—When you can conquer your tongue only you are sure to conquer your whole body & mind at ease. अर्थात्—यदि तुम जिह्वाको वशमें कर लो, तो तुम्हारे मन और शरीर अनायास वशमें हो जायेंगे, कोई सन्देह नहीं है। सादा भोजन ही सर्वोत्तम भोजन है। (simplest is the best food) जितने गरिष्ठ कीमती भोजन हैं—वे सार हीन हैं। उनमें कोई तत्त्व नहीं है। पैसे और स्वास्थ्य दोनोंकी बर्बादी है।

दूसरी बात ब्रह्मचर्य रक्षाके लिये जो परमावश्यक है—वह 'व्यायाम' है। हमें नितप्रति थोड़ा बहुत व्यायाम—जिसका सर्वोत्तम प्रकार डण्ड-बैठक करना है—अवश्य करना चाहिए। इससे हमारा शरीर सुदृढ़, बलवान और चुस्त बनेगा। सुस्त-प्रमादी और निर्बल शरीरमें ही प्रायः कामवासना उत्पन्न होती है। इनके सिवाय, हमारे लिये यह आवश्यक है—कि हम सदा सत्संगतिका अवलम्बन करें। विचार सर्वदा शुद्ध और पवित्र रक्खें। उच्च साहित्यका स्वाध्याय करके अपने विचारोंको उन्नत बनायें। गन्देनाविल नाटक, उपन्यास और स्वाँग तथा सिनेमाओंके नाचगानेके साहित्यको पास न आने दें। अपने जीवनको सादगीकी प्रतिमूर्ति बनादें। विलासिता रूपी विषको पास न आने दें। शरीरको भाँति-भाँति शृङ्गार करके उसे कामी न बनावें। शुद्ध स्वदेशी खादी और अन्य शुद्ध स्वदेशी वस्तुओंसे अपने शरीरकी आवश्यकताओंको पूरा करें। तभी हम ब्रह्मचर्य रूपी महामंत्रका आराधन कर सकेंगे और संसार के हृदयमें अपनी धाक जमाते हुए कह सकेंगे—

हम जाग गए, सब समझ गए,
अब करके कुछ दिखला देंगे।
हाँ, विश्व-गगन में अपने को,
फिर एक बार चमका देंगे॥

अनेकान्त-साहित्यके प्रचारकी योजना

अनेकान्तमें जो महत्वका उपयोगी ठोस साहित्य निकलता है, हम चाहते हैं उसका जनतामें अधिकाधिक रूपसे प्रचार होवे। इस लिए यह योजना की गई है कि चतुर्थ वर्ष और पाँचवें वर्षके विशेषाङ्कोंको, जिनकी पृष्ठसंख्या क्रमशः १२० व १०४ और मूल्य ।॥) व ॥=) है, नाममात्रके मू१ ।) व ≤) पर वितरण किया जावे। अतः दानी महाशयोंको मंदिरों, लायब्रेरियों, परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों और अजैन विद्वानों आदिको भेंट करनेके लिये चाहे जिस अंककी २५, ५०, १०० कापियाँ एक साथ मँगाकर प्रचार-कार्यमें अपना सहयोग प्रदान करना चाहिये।

प्रचारार्थ पोस्टेज भी नहीं लिया जायगा।

वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर

आवश्यकता

वीरसेवामन्दिरको दो ऐसे सेवाभावी योग्य विद्वानोंकी आवश्यकता है जिनमेंसे एक हिसाब किताबके काममें निपुण हो—बाकायदा हिसाब-किताब रखते हुए वीरसेवामन्दिर की सारी सम्पत्तिकी अच्छी देख रेख और पूरी संभाल रख सके। दूसरे विद्वान संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके प्रूफ रीडिंग तथा पत्र-व्यवहारके काममें दक्ष होने चाहियें और यदि वे संस्कृत, प्राकृत तथा अंग्रेजीका हिन्दीमें अच्छा अनुवाद भी कर सकते हों तो ज्यादा बेहतर है। वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा। जो विद्वान आना चाहें उन्हें पूरे परिचयके साथ नीचे लिखे पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

छोटेलाल जैन (कलकत्ता वाले)
सभापति 'वीरसेवामन्दिर-समिति
सरसावा जि० सहारनपुर

सहयोगी 'जैनसत्यप्रकाश' की विचित्र सूझ !

"आंखों पर पट्टी बांधकर कुएँमें धकेलना।"

[सम्पादकीय]

वीर-शासनके प्रवर्तनको ढाई हजार वर्ष हुए और जिस स्थानपर वह सविशेषरूपसे प्रवर्तित हुआ वह तत्कालीन राजा श्रेणिककी राजधानी 'राजगृह' नगर है, इसमें कोई विवाद नहीं है। ऐसी हालतमें वीर-शासनका 'अर्धद्वय - सहस्राब्द - महोत्सव' मनाया जाना जहाँ न्याय प्राप्त है वहाँ उसके लिये 'राजगृह' का स्थान चुनना भी समुचित जान पड़ता है। इसीसे वीरसेवामन्दिर सरसावाने, जो कई वर्षसे —अपने जन्मकालसे ही—वीरशासन-जयन्ती मनाता आ रहा है, इस वर्ष एक प्रस्ताव-द्वारा राजगृहमें वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सव' मनानेका आयोजन किया है। वीरशासनकी प्रभावना और प्रचारकी दृष्टिसे, इस महोत्सवके साथमें जैनसाहित्य-सम्मेलन और एक जैन साहित्यिक प्रदर्शिनीकी योजना भी की गई है और उत्सवको अखिल भारतवर्षीय महोत्सवका रूप दिया जा रहा है। इस समाचारको पाकर जहाँ जैनी-मात्रको प्रसन्न होना चाहिये और अपनी शक्तिभर ऐसे सत्कार्यमें सहयोग प्रदान करके अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये वहाँ अहमदाबादसे प्रकाशित होने वाले सहयोगी 'जैनसत्यप्रकाश' नामक मासिक पत्रको कुछ उल्टी सूझी है। उसने वीरशासनकी उत्पत्तिके समय और स्थान-सम्बन्धी उस मतभेदको लेकर, जिसे मैं अनेकान्तकी गतकिरण नं० २ में प्रकाशित 'वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान' नामक अपने सम्पादकीय लेखमें स्वयं प्रकट कर चुका हूँ और जो मत-भेद राजगृहमें वीरशासनका अर्धद्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव मनाने तथा उसमें सभी जैनसंप्रदायोंके सहयोग देने एवं सम्मिलित होनेमें कोई बाधक नहीं है, कुछ विरोध खड़ा किया है, और अपने श्वेताम्बर संप्रदाय वालोंको यह प्रेरणा की है कि वे इस महोत्सवमें शरीक न होवें! इतना ही नहीं, बल्कि वीरसेवामन्दिर के उक्त प्रस्तावमें बन्धु भावसे श्वेताम्बर तथा स्थानक-वासी सज्जनोंसे सहयोगके लिये निवेदनकी जो बात कही गई है, कुछ श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी नेताओंके जो नाम अस्थायी समितिमें चुने गये हैं और जिस आशय तथा आशाको लेकर ऐसा किया गया है उसका मैंने अपने उक्त लेखमें जो स्पष्टीकरण किया है, उस सबको दिगम्बरोंका अपने साथी सम्प्र-दायवालों-श्वेताम्बरों तथा स्थानकवासियोंकी आँखोंपर पट्टी बाँध कर उन्हें कुएँमें धकेलनेका प्रयत्न' बतलाया है !! सहयोगीकी इस कट्टर साम्प्रदायिकताको लिये हुए अनुदार एवं असामयिक मनोवृत्तिको देख कर मुझे बड़ा ही दुःख तथा अफसोस हुआ !!! कहाँ तो देशमें, समयादि-सम्बन्धी अनेक मत-भेदों अथवा विचार-भेदोंके होते हुए भी, विक्रम-द्विसहस्राब्दि-महोत्सव मनाये जानेका आयोजन हो रहा है, और उसमें सभी प्रकारके विचार-भेदवाले अपनी अपनी शक्ति और मतिके अनुसार किसी-न-किसी प्रकारसे सहयोग देनेके लिये उद्यत हो रहे हैं और कहाँ हमारे सहयोगी 'जैनसत्यप्रकाश' के सम्पादकजी, जो वीर-शासनके अर्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव जैसे सत्कार्यमें स्वयं सहयोग देनेके लिये कुंठित और पश्चात्पद ही नहीं किन्तु दूसरोंको भी उसमें सहयोग देनेसे मना कर रहे हैं !! इसे वीरशासनसे द्वेष कहें, वीरशासनके अनुयायियोंसे द्वेष कहें, अपनी मान्यतासे थोड़ा-सा भी मतभेद रखनेवालोंसे द्वेष कहें अथवा सैतियाडाह कहें ? कुछ समझमें नहीं आता !!!

हालमें मुझे 'विक्रम-द्विसहस्राब्दि-स्मृति-ग्रन्थ' की

एक विज्ञप्ति प्राप्त हुई है, जिसका एक पैरेग्राफ़ इस प्रकार है :—

"महाराज विक्रमादित्यका कालनिर्णय अथवा वंशावली विद्वानोंके वाद-विवादका विषय हो सकती है, परन्तु इस विषयमें समस्त जगत एकमत है कि सम्राट विक्रमादित्य नामक एक ऐसी शक्ति, एक ऐसी महान् विभूति भारतमें हुई थी जिसने विदेशी आततायियोंके दुर्दमनीय अत्याचार-भारसे भारतकी रक्षा की और कविकुल-गुरु कालिदासको अपने सौहार्दका प्रश्रय देकर शौर्यके कांचनमें साहित्यकी सुरभि बसा कर संसारको चमत्कृत कर दिया।"

मतभेदके उल्लेख-पूर्वक इस प्रकारकी बातोंको लेकर स्मृति-ग्रंथके सम्पादक महोदय उन विद्वानोंके पास भी पहुँच रहे हैं जो अनेक प्रकारका मतभेद अथवा विचार-भेद रखते हैं, और इस तरह किसी न किसी रूपमें उनका साहित्यिक सहयोग प्राप्त कर रहे हैं। वे दूसरोंको अपना विचार बदलने अथवा उन्हींके विचारानुकूल निबन्धादि लिखनेकी प्रेरणा नहीं करते। इसी तरह वीरसेवामन्दिरके कार्यकर्ता अथवा दिगम्बर समाजके विद्वान वीरशासनके प्रचार, प्रसार और प्रभावनाके नाम पर यदि अपने श्वेताम्बर भाईयोंके पास पहुँचें और उनसे वीरशासनके उपासक होनेके नाते मतभेदकी साधारण बातोंको भुला कर अथवा उन पर न जा कर शासन-सम्बन्धी महोत्सवके कार्यमें अपना यथायोग्य सच्चा सहयोग प्रदान करनेके लिये निवेदन करें तो इसमें वे उनसे वीरशासनके प्रति अपना कर्तव्यपालन एवं कृतज्ञता-व्यक्तीकरणके सिवाय क्या कुछ अधिककी मांग करते हैं? वे उनसे मतभेदकी साधारण बातको भी सर्वथा छोड़ देनेका अनुरोध नहीं करते—नहीं कहते कि वे राजगृहमें होने वाले प्रथम समवसरणको वीरभगवानका तृतीय समवसरण न मानकर द्वितीय समवसरण मानने लगें और वीरवाणीके प्रथम समवसरणमें खिरने और निष्फल रहने जैसी अपनी मान्यताओं को त्याग देवें। वे तो उनसे इतना ही कहते हैं कि वीरशासनको प्रवर्तित हुए ढाई हजार वर्ष होने पर जो वीरशासनका अर्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव मनाया जा रहा है उसके जिन जिन कार्योंमें वे खुशीसे अपना सच्चा सहयोग प्रदान कर सकते हैं उनमें सद्भावपूर्वक अपना सहयोग जरूर प्रदान करें। फिर व्यर्थमें विरोधका वातावरण पैदा करने, दूसरोंकी दृष्टिमें अपनी संघशक्तिको निर्बल बनाने और अपनी अनेकान्त-उपासनाका उपहास करानेसे क्या मतलब? क्या अनेकान्तकी उपासनाका यही उद्देश्य है? क्या अनेकान्त ऐसे विरोधकी इजाजत देता है? और क्या अनेकान्त इस महोत्सवमें शरीक होनेके लिये समन्वयका कोई मार्ग नहीं निकाल सकता? इसे श्वेताम्बर समाजके प्रमुख विद्वानों तथा नेताओंको सोचना चाहिये।

महावीर-जयन्तीके उत्सवोंपर और दूसरे भी अनेक जल्सोंपर जैनियों द्वारा अजैन विद्वानोंको आमंत्रित किया जाता है, उनके सभापतित्वमें जल्से मनाये जाते हैं, और वे ईश्वरवादी अजैन विद्वान यह जानते हुए भी कि जैनियोंके साथ कितनी ही बातोंमें उनका मतभेद है—जैनी उनके ईश्वरको, उनके वेदों को नहीं मानते, उनके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हैं और उनके भ० महावीरने भी ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका खण्डन किया है, हिंसात्मक वेदोंका निषेध किया है और उनके कितनेही सिद्धान्तोंको मिथ्या ठहराया है—खुशीसे उनके जल्सोंमें शरीक होनेकी उदारता दिखलाते हैं, जल्सोंका सभापतित्व करते हैं और अपने भाषणों द्वारा जैनमत तथा भ० महावीरके विषयमें जो कुछ भी अच्छी बातें उन्हें मालूम होती हैं उनकी खुले दिलसे प्रशंसा करते हैं। क्या दिगम्बरोंको अपने श्वेताम्बर भाईयोंसे, जो वीर भगवान और उनके शासनकी उपासनाके समान दावेदार हैं, इन अजैन विद्वानों—जितनी उदारताकी भी इस महोत्सवमें आशा नहीं रखनी चाहिये? और क्या वे इन विद्वानों की तरह अपने मतभेदको सुरक्षित रखते हुए भी महोत्सवमें योग नहीं दे सकते?

श्वेताम्बर समाजने, अपने महावीर जयन्ती और

पर्यूषण पर्वके उत्सवोंमें अनेक बार ईश्वरवादी अजैन विद्वानोंको आमंत्रित करके, उन्हें सभापतिका आसन तक देकर और उनके भाषण कराकर जो सहयोग प्राप्त किया है वह सब क्या उन अजैन विद्वानोंकी आंखोंपर पट्टी बांधकर उन्हें कुएँमें धकेलनेका ही उसका प्रयत्न था? यदि नहीं तो फिर दिगम्बरोंका श्वेताम्बर भाइयोंको वीरशासन-सम्बंधी महोत्सवमें शरीक करनेके लिये जो प्रयत्न चल रहा है उसे किस मुँहसे 'आँखों पर पट्टी बाँध कर कुएँमें धकेलना' कहा जाता है? अपनी इस विचित्र सूझ पर सम्पादक सत्यप्रकाशजीको स्वयं सोचनेका कुछ कष्ट उठाना चाहिये। साथ ही, यह भी सोचना चाहिये कि श्वेताम्बर समाजके जिन प्रमुख विद्वानों और प्रतिनिधि व्यक्तियोंको—बाबू बहादुरसिंहजी सिंघी, बा० विजयसिंहजी नाहर, पं० सुखलालजी संघवी, पं० बेचरदास जी, मुनिश्रीपुण्यविजयजी, श्रीजिनविजयजी, श्रीकृष्णचन्द्रजी अधिष्ठाता जैनगुरुकुल-पंचकूला आदिको—सहयोगके लिये वीरसेवामन्दिरके प्रस्तावमें चुना गया है वे क्या सम्पादकजीकी दृष्टिमें इतने असावधान विद्वान हैं जिनकी आँखोंपर पट्टी बाँधी जा सकती है? उन्हें ऐसा समझना और अपनेको अधिक सावधान मान कर उन्हें विरोध प्रदर्शनके लिये चेतावनी देना उनकी विद्या, बुद्धि और व्यक्तित्वका अपमान करनेके साथ साथ अपनी अनधिकार चेष्टाको व्यक्त करना है।

एक ही तीर्थंकरका शासन मानने वालोंमें मतभेद का होना कहीं किसीकी गलती, गलतफहमी अथवा परिस्थिति-वश अन्यथा प्रवृत्तिका ही परिणाम हो सकता है, और इस लिये जो लोग यथार्थताको मालूम करने और इस मतभेदको दूर करनेकी इच्छा रखते हैं वे सदा ऐतिहासिक अनुसन्धान, तात्त्विक पर्यालोचन और युक्तिवादका आश्रय लेते हैं और इस प्रकारके विवेचनोंके लिये अपना हृदय खुला रखते हैं—उनका विचार और व्यवहार सदा उदार होता है; तभी वे सत्यका निर्णय और अपने मतभेदको दूर कर ऊँचा उठ पाते हैं। उनकी ऐसी प्रवृत्ति कदापि नहीं होती कि दूसरे मतकी आवाज़ भी उनके कानोंमें सुनाई न पड़े और न ऐसी निर्हेतुक मान्यता (अन्ध-श्रद्धा) ही होती है कि जो बात अपने किसी शास्त्रमें लिख दी वह तो आगम-कथित सत्य अथवा आप्त-वाक्य है और जो दूसरे सम्प्रदायके शास्त्रमें लिखी है वह अनाप्त-वाक्य और मिथ्या है। जिनकी ऐसी प्रवृत्ति, मान्यता अथवा श्रद्धा होती है वे ही अक्सर साम्प्रदायिक कट्टरताके शिकार बनते हैं और साम्प्रदायिक मनोमालिन्यको बढ़ा कर समाजके गौरवको गिरानेमें सहायक होते हैं। जान पड़ता है सम्पादक सत्यप्रकाशजी ऐसी ही कुछ परिणति, प्रवृत्ति अथवा श्रद्धाके जीव हैं, इसीसे वे मेरे उक्त अनुसन्धानात्मक लेखको पढ़ कर कुछ विचलित हो उठे हैं जो अनेकान्तकी गत दूसरी किरणमें ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर लिखा गया है और जिसमें मैंने दोनों सम्प्रदायोंका जो मतभेद है उसे व्यक्त करते हुए यह बतलाया है कि यह मतभेद ऐसा नहीं है जो श्वेताम्बरोंको इस महोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये बाधक हो सके। लेखमें श्वेताम्बरीय कथनकी दो एक बातों पर, जो अपनी समझमें नहीं आईं, कुछ सन्देह भी कारण-सहित व्यक्त किया गया है, और ऐतिहासिक पर्यालोचनमें ऐसा होता ही है; क्यों कि ऐसे लेख मुख्यतया उन लोगोंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं जो सत्य के खोजी तथा निर्णयबुद्धि होते हैं और हर एक विषयमें आधार-प्रमाणको जानना चाहते हैं। संभवतः इतनी बातको लेकर ही सम्पादकजी, विरोधकी कोई दूसरी बात न देख कर, दिगम्बरोंके इस महोत्सव-प्रयत्नका एक मात्र यह आशय बतलानेके लिये उतारू हो गये हैं कि 'श्वेताम्बर अपनी जिनभाषित आगमों की मान्यताको भूल कर दिगम्बर शास्त्रोंकी मान्यता को मानने लगें!' परन्तु उनकी वह मान्यता किस आधार पर जिनभाषित है उसे बतलाने और जो सन्देह उपस्थित किया गया है उसका सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे निरसन करनेका उन्होंने अपने लेखमें कोई प्रयत्न नहीं किया!! प्रत्युत इसके, उन्होंने श्वेताम्बरोंको इस महोत्सवमें शरीक होनेसे रोकनेके लिये एक दम यह फतवा दे डाला अथवा उनके नाम

इस आशयका आर्डर जारी कर दिया है कि 'जो श्वेताम्बर भाई इस उत्सवमें भाग लेंगे उनकी बाबत यह समझ लिया जायगा कि उन्होंने अपनी आगम-कथित मान्यताको अलग रख छोड़ा है और दिगम्बर शास्त्रोंकी मान्यताको अपना लिया है—स्वीकार कर लिया है' !!! सम्पादकजीकी यह प्रवृत्ति और परिणति कहाँ तक न्याय-संगत है, इस पर श्वेताम्बर समाजके विचारवानोंको गंभीरताके साथ विचार करना चाहिये।

यदि सम्पादकजी ऐसे ही साम्प्रदायिक हैं कि अपने किसी भी आगमके विरोधमें कोई बात, चाहे वह कैसी भी युक्तियुक्त क्यों न हो, सुनना नहीं चाहते और न उस दिशामें किसी ऐतिहासिक पर्यालोचन एवं तात्विक विवेचनको ही पसन्द करते अथवा सहन करनेके लिये तय्यार होते हैं, तो मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि जहाँ आगम आगममें परस्पर विरोध है वहाँ वे क्या करेंगे?—किसको जिनभाषित प्रमाण, किसको अजिनभाषित अप्रमाण करार देंगे? और किस आधार पर? साथ ही, यह भी पूछना चाहता हूँ कि हालमें मुनि कल्याणविजयजीने भ० महावीरका जो जीवन-चरित्र लिखा है उसमें उन्होंने आगम सूत्रों से उन चरितांशोंको ही लेनेकी सूचना की है जो "ठीक समझे गये"[1]—शेषको जो ठीक नहीं समझे गये उन्हें छोड़ दिया है—, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि श्वेताम्बरीय आगमोंमें महावीरके चरित-संबंधी कुछ ऐसी भी बातें हैं जो स्वयं श्वेताम्बर साधुओंकी दृष्टिमें भी ठीक नहीं हैं। उन्होंने उक्त जीवन-चरित में श्वेताम्बरीय शास्त्रोंकी कितनी ही बातों पर स्पष्टतया अश्रद्धा भी व्यक्त की है, जिसका एक उदाहरण 'सिद्धार्थ व्यन्तर' वाला प्रसंग है। मुनिजीने इस पूरे प्रसंगको महावीरके जीवन-चरितसे निकालते हुए प्रस्तावना (पृ० २४, २५) में जो कुछ लिखा है उसके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

"आवश्यक टीका और संस्कृत-प्राकृत सभी ग्रन्थोंमें सिद्धार्थ व्यन्तर और गोशालक मंखलिपुत्रका नामोल्लेख बार बार आता है परन्तु हमने अपने इस ग्रन्थमें सिद्धार्थ व्यन्तरका उल्लेख नहीं किया।.... वास्तवमें भगवान्के लोकोत्तर जीवनके साथ सिद्धार्थ वाला प्रसंग अन्तर्गडुकी तरह निरर्थकसा प्रतीत है।.... तब क्या आवश्यकता है कि एक भूतकी तरह सिद्धार्थ को भगवान्के पीछे लगा कर उनके धीर-वीर जीवन का महत्व घटाया जाय? कदाचित् यह कहा जा सकता है कि छद्मस्थावस्थामें भगवान् मौन रहते थे इस लिये गोशालकके साथ वार्तालाप करने वाला कोई दूसरा ही होना चाहिये। इसका भी हमारे पास उत्तर है। भगवान् छद्मावस्थामें मौन रहते थे, यह सत्य है, तथापि ऐकान्तिक नहीं।... इसी कारणसे हमने इन (भ० महावीर) के चरित्रमेंसे सिद्धार्थका प्रसंग हटा कर सिद्धार्थसे कहलाई गई बातें भगवान् के ही मुखसे कहलाई हैं।"

तब, क्या सम्पादकजीने मुनि कल्याणविजयके इस ग्रन्थ पर कोई आपत्ति की है और इसका बाईकाट करनेके लिये श्वेताम्बर समाजको कोई चेतावनी दी है? यदि ऐसा कुछ भी नहीं किया तो फिर मेरे उक्त गवेषणात्मक लेखको पढ़ कर आप इतने विचलित क्यों हो उठे कि, वीरशासनके महोत्सव जैसे सत्कार्यका भी विरोध करनेके लिये उद्यत हो गये? इसे तब साम्प्रदायिक कट्टरताके वश ईर्षा, द्वेष और अदेखसका भावका परिणाम नहीं तो और क्या कहा जासकता है? इसे सहृदय पाठक स्वयं सोच सकते हैं सम्पादकजीसे अनुरोध है कि वे मेरे उक्त लेख और इस लेखको भी अविकलरूपसे अपने पत्रमें प्रकाशित करनेकी कृपा करें, जिससे उनके पाठक स्वयं औचित्य और अनौचित्यका निर्णय करनेमें समर्थ हो सकें।

अन्तमें इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि वीरसेवामन्दिर शुरूसे ही दिगम्बरोंके साथ श्वेताम्बरों तथा स्थानकवासी सज्जनोंको भी वीर-शासन-जयन्तीके उत्सवोंमें शामिल होनेके लिये निमंत्रित करता आ रहा है—उसका यह प्रयत्न आजका नया नहीं है। फलतः अनेक सज्जन उत्सव में शामिल भी हुए हैं—एक वर्षतो उत्सव एक प्रमुख स्थानकवासी साधुजीके सभापतित्वमें ही मनाया गया

[1] श्रमण भगवान महावीर, प्रस्तावना पृ० २३

था, जिन्होंने अगले वर्ष भी अपने कुछ विद्यार्थियोंके साथ उत्सवमें पधारनेकी कृपा की थी। इसके सिवाय अनेकान्तादि पत्रोंमें वीर-शासन-जयन्ती-सम्बन्धी कितना ही साहित्य बराबर प्रकाशित होता आ रहा है और उसके द्वारा दूसरोंको सोचने-समझनेका काफी अवसर मिलता रहा है; परन्तु सात वर्षके भीतर कहीं से भी विरोधकी कोई आवाज़ नहीं सुन पड़ी। आज सम्पादक सत्यप्रकाशजीको जब विरोधके लिये कोई उचित बात न मिली तो आप वीरसेवामन्दिर और दिगम्बर जैनोंकी नीयत पर आक्षेप करने चले हैं! उनके इस उत्सव-प्रयत्नको 'विशुद्धभावना और सरल वृत्तिसे' प्रेरित नहीं बतलाते!! श्वेताम्बरोंकी आँखों पर पट्टी बाँधकर उन्हें कुएँमें गिरानेका प्रयत्न सुझाते हैं!!! यह सब देखकर बड़ा ही आश्चर्य तथा खेद होता है!!!

आशा है उदारचेता श्वेताम्बरीय नेता और विद्वान, वस्तुस्थिति पर सम्यक् विचार करके सम्पादकजीके इस विरुद्ध प्रचारको नियंत्रित करेंगे और महोत्सवके कार्योंमें अनेक प्रकारसे अपने सहयोगकी घोषणा करके दिगम्बर समाजको अपना आभारी बनाएँगे।

ता० १८-११-४२　　　　वीरसेवामन्दिर सरसावा

हमारी विभूतियाँ　पण्डिता चन्दाबाई

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

पति मर गया, पत्नीकी उम्र १६ वर्ष है। मां बाप बिलख रहे हैं, भाई रो रहे हैं, बहनें बेहाल हैं, शहर भरमें हाहाकार है, पर जिसका सब कुछ लुट गया, वह स्नान करके शृंगार कर रही है, आंखोंमें अंजन, माँगमें सिन्दूर और गुलाबी चुनरिया-चेहरे पर रूप बरस पड़ा है, अंग २ में स्फुरणा है और जिह्वामें मिश्री जिनसे कभी सीधे मुंह नहीं बोली, आज उनसे भी प्यार।

शहर भरके लोग एकत्रित, युवककी अर्थी उठी, अर्थी के आगे, नारियल उछालती, पर्देके उस बीहड़ अंधकारमें भी खुले मुंह गीत गाती, ढोलके मद भरे घोष पर थिरकती, उसीके ताल पर अपनी नई चूड़ियां खनखनाती, वह १६ वर्षकी सुकुमारी नारी श्मशानकी ओर जाती, भारतके चिर अतीतमें हमें दिखाई देती है।

उसका पति मर गया, पर वह विधवा नहीं; यह हमारी संस्कृतिका महा वरदान है। पतिके साथ रही है, पतिके साथ रहेगी—चिताके ज्वालामय वाहन पर आरूढ़ हो, किसी अपयलोककी ओर जैसे देहधरे ही वह उड़ी जा रही है, जहाँ रूप है, कुरूप नहीं, मंगल है अमंगल नहीं, मिलन है, वियोग नहीं। यह भारतके स्वर्ण युगकी महामहिमामयी सती है, उसे शतशत प्रणाम!

× + × ×

पति मर गया है, पत्नीकी उम्र १६ वर्ष है—उसके जीवनमें अब आल्हाद नहीं, आशा नहीं, दुनियाके लिये वह एक अशकुन है—सासके निकट डायन, मांके लिये बदनसीब, वह मानव है, भगवानके निवासका पवित्र मन्दिर, पर मानवका कोई अधिकार उसे प्राप्त नहीं। समाज और धर्मशास्त्र दोनोंने उसके पथमें ऊंचे २ 'बोर्ड' खड़े किये हैं, जिनपर लिखा है, संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, सतीत्व, और वन्दनीय, पर व्यवहारमें प्राय: जेठ, देवर, श्वसुर और जाने किस २ की पशुताका शिकार। रेलवे डिपार्टमेण्टके 'सफ़री' विभागके कर्मचारियोंकी तरह जब आवश्यकता हो, पिताके घर और जब जरूरत हो श्वसुरके द्वार जा 'कर्तव्य पालन' के लिये बाध्य, ऐसा कर्तव्य पालन जिसमें रस नहीं, अधिकार नहीं, ममता नहीं—कैदीकी मुसक्कतकी तरह अनिवार्य, पर महत्वहीन और मानहीन! यह हमारे राष्ट्र के मध्ययुगकी विधवा है, समाजका अंग होकर भी, सामाजिक जीवनके स्पन्दनसे शून्य। सांस चलता है, केवल इसी लिये जीवित; अन्यथा जीवनके सब उपकरणोंसे दूर, जिसने सब कुछ देकर भी कुछ नहीं पाया, बलिदानके बकरेकी तरह वन्दनीय। जिसने ठोकरें खाकर भी सेवा की और रोम रोममें अपमानकी सुइयोंसे बिंध कर भी विद्रोह नहीं किया। हमारे सांस्कृतिक पतनकी प्रतिबिम्ब और सामाजिक

हासकी प्रतीक इस वैधव्य मूर्तिको भी प्रणाम !

× × × ×

पति मर गया है, पत्नी १६ वर्षकी है। हंसनेको उत्सुक-सी कली पर विपदाका जब पहाड़ टूटा, माँके विलापका धुवां जब आकाशमें भर चला, परिवार और पास पड़ौस जब कलेजेकी कसकमें कराह उठे, तब पिताने धीमें, पर दृढ स्वरमें कहा—रोओ मत, इसकी चूड़ियां मत उतारो, मैं अपनी बेटीका पुनर्विवाह करूंगा। तो जैसे बाढ़ भरको बहती नदी ठहर गई। साथियोंने हिम्मत तोड़ी, पंचोंने पंचायतके प्रपंच रचे, मुल्लाह वालोंने कानूनी किकंर्रोंकी खूंटियाँ ऐंठ कर देखीं पर सुधारक पिता दृढ रहा, उसने युगकी पुकार सुनी और एक योग्य वरके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया, धूमधामसे, उत्साहसे, गम्भीरतासे। कन्याका मन आरम्भमें हिरहिराया, फिर अनुकूल हुआ और फिर उसका मन अपने नये घरमें रम गया। पतिके प्रति अनुरक्त, परिवारके प्रति सहृदय और अपनी सन्तानमें लीन वह जीवनकी नई नाव खे चली।

यह हमारे युगकी नई करवट, परम्पराकी नई परिणति, नारीकी असहायताका नया अवलम्ब, समाजके निर्माणकी नव सूचनाका एक प्रतीक है, जिसे आरम्भमें वर्षों पतिका प्यार तो मिला, पर समाजका मान नहीं, जिसे परिवार मिला, जिसने परिवारका निर्माण किया पर जिसे बरसों पारिवारिकता न मिली, जिसे बरसों नई आबादीके मधुर कोलाहलमें भी विगत वीरानेकी शून्यताका भार ढोना पड़ा, पर जो धीरे २ युगका अवलम्ब लिये स्थिर होती गई और जो आज भी कुलीनताके निकट व्यंग की तो नहीं, हाँ इंगितकी पात्र है। नवचेतनाके इस साधना-स्रोतको भी प्रणाम !

× × × ×

पति मर गया है, पत्नी १६ वर्षकी है। आशाओंके सब प्रदीप एक ही झोंकेमें बुझ गये। कहीं कोई नहीं, कहीं कुछ नहीं, बस शून्य—सब शून्य। स्थिरता जीवनमें सम्भव नहीं, पैर हिलनेकी भी शक्तिसे हीन। सहसा हृदयमें एक आलोक, आलोकमें जीवनकी स्फुरणा और स्फुरणामें चिन्तन !—

पति ! नारीके जीवनमें पतिका क्या स्थान है ? पति ? क्या विवाह द्वारा प्राप्त एक साथी ? और विवाह ? आज की भाषामें एक ऐग्रीमेण्ट ? तो पति मर गया और वह ऐग्रीमेण्ट भंग ! अब नारी स्वतन्त्र, चाहे जिधर जावे, चाहे जो करे ? है न यही ? हां; तो फिर हमारी संस्कृतिमें, इन शास्त्रोंमें, विवाहके ये गीत क्यों ? इस हां के साथ जैसे भीतरका, आत्माका सब रस सूख चला।

फिर चिन्तन, गम्भीर चिन्तन, अन्तरमें भाव-धाराकी सृष्टि। जीवनमें साथी तो अनेक हैं, पतिका अर्थ है प्रतीक—व्रतका प्रतीक, लक्ष्यका प्रतीक। पतिव्रतका अर्थ है पतिका व्रत ! पतिकी पूजा ? दुनिया कहती है हां ! धर्म कहता है नहीं, पतिका व्रत, पतिकी पूजा ? यह अर्थका अनर्थ है। मानव मानवकी पूजा करे, मानव ही मानवका व्रत हो यह ईश्वरके प्रति द्रोह है। फिर ! पतिव्रत— पतिके द्वारा व्रत, पतिके द्वारा पूजा। पूजा लक्ष्यकी, व्रत साध्यकी प्राप्तिका।

तब यह लक्ष्य क्या है ? साध्य क्या है ? व्यक्तिकी समष्टिके प्रति एकता, अणुकी विराटमें लीनता, भेद उपभेदोंकी दीवारें लांघ कर, अज्ञान गिरिके उस पार हंसते खेलते प्रभु-परमात्मामें जीवकी परिणति।

ओह, तब पति है साधन, पति है पथ, पति है अवलम्ब, न साध्य ही न लक्ष्य ही ! पर साधन नहीं, तो साध्य कहां, पथके बिना प्रिय प्राप्ति कैसी और वह होगया भंग ?

भगवानकी कृपासे फिर ज्ञानका आलोक। भंग कैसा ! लहर जब सरितामें लीन होती है, तब क्या वह नाश है ? बीज जब मिट्टीमें मिल वृक्षमें बदलता है, तब क्या वह नाश है ? ऊंहुं: यह नाश नहीं है, वह परिणति है। पति है लहर, सरिता है समाज, पति है बीज, वृक्ष है समाज। पति नहीं है ! इस नहींका अर्थ है प्रतीककी परिणति।

नारी लक्ष्यकी ओर गतिशील, कल भी थी, आज भी है यही उसका व्रत है। कल इस व्रतका प्रतीक था पति। आज है समाज। गतिके लिये तल्लीनता अनिवार्य है। कल तल्लीनताका आधार था पति, आज है समाज। कल नारी पतिके प्रेममें लीन थी आज समाजके प्रेममें लीन है। यह लीनता स्वयं अपनेमें कोई पूर्ण तत्व नहीं, पूर्णताका प्रशस्त पथ है। नारीका लक्ष्य अविचल है, जो कल था, वही आज है, पर पथ परिवर्तित हो गया—प्रतीक बदला, साधन बदले, इंगलैंडका यात्री अदन पर अपना जलपोत त्याग हवाई जहाज पर उड़ चला। उसे इंगलैण्ड ही जाना था,

और इंगलैंड ही जाना है—यात्राके साधनोंका परिवर्तन यात्राके लक्ष्यका परिवर्तन नहीं।

ज्ञानके आलोककी इस किरणमालामें स्नानकर नारी जैसे जाग उठी, जी उठी। निराशा आशाके रूपमें बदल गई, वेदना प्रेममें अन्तर्हित, स्तब्धता स्फुरणामें, सामने स्पष्ट लक्ष्य, पैरोंमें गति, मनमें उमंग, जीवनमें उत्साह। मस्तिष्क सद्भावनाओंसे पूर्ण, हृदय प्रेमसे। कहीं किसीका कष्ट देखा और पैर चले, कहीं किसीका कष्ट देखा और भुजाएं उठीं, कहीं किसीका कष्ट देखा और मस्तिष्क चिन्तित—विश्वभरके जीवनमें ओतप्रोत—पत्नी अब वह किसीकी नहीं, माता सारे विश्वकी, सबके लिये विश्वसनीय, सबके लिये वन्दनीय।

यह नारीके नारीत्वका चरम विकास है, उसके सतीत्व की परम गति है, उसकी गतिकी अन्तिम सीमा है, जहां वह अपना लक्ष्य पाती है, यही उसके जीवनका गंगा-सागर है, जहां वह भगवान सागरमें लीन हो, परम सुख का लाभ लेती है। निर्माणमयी, निर्वाणमयी नारीकी इस नित नूतन मूर्तिको लाख लाख प्रणाम।

× × × ×

भारतीय संस्कृतिके सबल साधक गान्धीजीने नारीकी इसी शक्तिको, वैधव्यके इसी दिव्य रूपको 'हिन्दूधर्म'का शृंगार कहा है। शृंगारकी इसी दीप्तिसे प्रोज्ज्वल आज एक नारी हमारे मध्यमें है—पण्डिता चन्दा बाई!

× × × ×

पण्डिता चन्दा बाई—एक वैष्णव परिवारमें जन्मी, राधाकृष्णकी रसमयी भक्तिधाराके वातावरणमें पली। माकी लोरियोंमें उन्हें श्रद्धाका उपहार मिला; पिताके प्यारमें उन्होंने कर्मठताका दान पाया और ११ वर्षकी उम्रमें एक सम्पन्न जैन परिवारमें उनका विवाह हुआ।

विवाह हुआ; उनके निकट इसका अर्थ है, विवाह संस्कार हुआ और १२ वर्षकी उम्रमें उनका सब कुछ छिन गया—वे ठीक ठीक जान भी न पाईं और वैधव्यकी ज्वाला में उनका सर्वस्व भस्म होगया।

१२ वर्षकी एक सुकुमार बालिका, जो दुनियाको देखती है, पर समझ नहीं पाती। जो समझती है, अपने व्याकरणसे, अपने कोशसे, अपने ही लक्षणसे। इतना विशाल विश्व और इकली यात्रा यहां भाग्यका अस्तित्व है, योग्य अभिभावक मिले, पथ बना। वैष्णव की श्रद्धाका सम्बल लिये वे चलीं जैनत्वकी साधनाने उन्हें प्रगति दी। श्रद्धा और साधना दोनों दूर तक साथ साथ चलीं। श्रद्धा समर्पणमयी है साधना ग्रहणशील, श्रद्धा साधनामें लीन होगई।

श्रद्धामयी साधना मूक भी है, मुखरित भी मुखरित साधना, जिसमें अन्तर और बाह्य मिलकर चलते हैं—बुद्ध, महावीर और गान्धीकी साधना, जिसमें आत्म चिन्तन भी है जग-कल्याण भी यही पथ चन्दाबाईजीने चुना। विगत वर्षोंमें उन्होंने जो आत्मसाधनाकी अन्तरमें तप तपा, वह उनकी आकृतिमें, जीवनके अणु अणुमें व्याप्त है। प्रत्यक्ष, जिसके अनुसन्धान में श्रम अभीष्ट नहीं और इन्हीं वर्षोंमें उन्होंने लोक-कल्याणकी जो साधनाकी, उसका मूर्तरूप आराका 'जैनबाला विश्राम' है, देशकी एक प्रमुख सेवा-संस्था। आत्मसाधनामें सन्यासी, लोकव्यवहारमें सांसारिक, विश्व और विश्वात्माका समन्वय ही इस महिमामयी नारीकी जीवन-साधना है। जीवनमें धार्मिक, व्यवहारमें देशसेवक, सिद्धान्तोंमें अतीत की मूलमें, प्रगतिमें नवयुगकी छायामें, जिसकी एक मुट्ठीमें भूत, दूसरीमें भविष्य और वर्तमान जिसके जीवनोच्छ्वासमें व्याप्त, यही पण्डिता चन्दाबाई हैं। युगका सन्देश वहन करती साधनामयी इस नारीको भी शत शत प्रणाम!

"असत्यके भयसे अपने अन्तरका द्वारदेश अवरुद्ध कर मैं बैठ गया। बाहरसे सत्यने पुकारा द्वार बन्द है, मैं भीतर कैसे आऊं?"

—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुकरणीय

(जिन सज्जनोंकी ओरसे अनेकान्त जहाँ फ्री भेजा जा रहा है उनकी सूची इससे पिछली किरणमें प्रकाशित हो चुकी है। उससे आगे की सूची निम्न प्रकार है। —व्यवस्थापक)

(२१) ला० दलीपसिंहजी कागजी देहलीकी ओरसे—
१ सेक्रेटरी लेजिस्लेटिव असेम्बली डिपार्टमेण्ट, न्यू देहली
२ सेक्रेटरी हार्डिंग लायब्रेरी, कम्पनीबाग, देहली
३ मौलाना ख्वाजाहसननिजामी, दरगाहहजरतनि., देहली
४ श्री पं० माखनलालजी चतुर्वेदी, खण्डवा सी० पी०

(२२) ला० जुगलकिशोरजी कागजी, देहलीकी ओरसे
१ कवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, चिरगांव झाँसी
२ लायब्रेरियन हिन्दूकालेज, देहली
३ मैनेजर देशहितैषी पुस्तकालय, खारी बावड़ी, देहली
४ पं० रामचन्द्रजी शर्मा, गली बहूजी सदरबाजार, देहली

(२३) ला० पी० एल० बच्चूमलजी कागजी, देहलीकी ओरसे—
१ पं० सीतारामजी शास्त्री, विद्याभान, सदरबाजार देहली
२ मैनेजर मारवाड़ी पुस्तकालय चांदनीचौक देहली
३ श्री० काकाकालेलकरजी गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
४ सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर

(२४) ला० सुलतानसिंहजी जौहरी, देहलीकी ओरसे—
१ लायब्रेरियन नेपालस्टेट लायब्रेरी काठमांडू
२ डा० भगवानदासजी बनारस
३ लायब्रेरियन रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता
४ मैनेजर शिक्षामन्दिर योजना, वर्धा सी० पी०

(२५) बाबू महावीरप्रसादजी महावीर स्वदेशी भंडार, सरधनाकी ओरसे—
१ श्री अरविंदयोगाश्रम पाण्डीचेरी
२ श्री रामतीर्थ सेवाश्रम, कलकत्ता
३ मैनेजर आलइण्डिया हिन्दू महासभा न्यू देहली
४ लायब्रेरियन लायल लायब्रेरी टाउनहाल, मेरठ
५ मैनेजर श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार
६ डा० दुर्गाशंकर नागर सम्पादक 'कल्पवृक्ष' उज्जैन
७ श्री बा० शंभूदत्तजी मार्फत महावीर स्वदेशी भंडार

(२६) श्री बा० महेन्द्रकुमार जी जैन रईस नानौताकी ओरसे—
१ प्रो० डा० भीखनलाल आत्रेय, हिन्दूयूनिवर्सिटी बनारस
२ विरला कालेज पिलानी
३ प्रो० सर यदुनाथ सरकार कलकत्ता
४ डा० सर० पी० सी० राय ,,
५ लेडी ठेक्कर सें पूना
६ लायब्रेरी विडला मन्दिर, न्यूदेहली
७ स्वामी शंकराचार्य .

(२७) ला० मित्रसैनजी रि० मुन्सरिम मुजफ्फरनगर की ओरसे—
१ मंत्री, श्री गोपाल दि० जैन सिद्धान्त विद्यालय, मोरेना (ग्वालियर)
२ वीर जैन लायब्रेरी जैनस्कूल कुन्दनपुरा मुजफ्फरनगर
३ महावीर जैन पाठशाला आनन्द चौक देहरादून

(२८) श्री भंवरलालजी छावड़ा (मेसर्स भंवरलाल टीकमचंद) भेलसाकी ओरसे—
१ लायब्रेरियन मारवाड़ी पुस्तकालय, बड़ाबाजार, कलकत्ता
२ गयाप्रसाद पब्लिक लायब्रेरी ए० बी० रोड, कानपुर।
३ श्री ग्रामउद्योग संघ मगनवाड़ी वर्धा सी० पी०
४ लायब्रेरियन यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, नागपुर
५ श्रीकृष्ण पब्लिक वाचनालय, बड़वानी सी० आई०
६ मैनेजर पब्लिक लायब्रेरी, मन्दसौर (ग्वालियर)

(२९) चौ० संतूलाल हुकमचंदजी कटनीकी ओरसे—
१ सर राधाकृष्णन वाईसचान्सलर हिंदूयूनिवर्सिटी बनारस
२ डा० मंगलदेवजी राजद्वार ग०सं०कालेज बनारस
३ लायब्रेरियन डिस्ट्रिक्ट लायब्रेरी जबलपुर

(३०) सेठ कोमलचंदजी जैन सतनाकी ओरसे—
१ भिक्षु आर्यमित्र आरलैंड हरीमेंट डोडाण्डुवा (सीलोन)

(शेष अगली किरणमें)

छठे वर्षमें अनेकान्तके सहायक

गत तीन किरणोंमें प्रकाशित सहायताके बाद जो और सहायता नकद तथा वचनरूपमें प्राप्त हुई हैं और जिनके लिये सहायक महाशय धन्यवादके पात्र हैं उसकी सूची सहायकोंके शुभ नाम सहित इस प्रकार है—

२५) हेमचन्दजी, एडवोकेट, अजमेर
२१) सेठ बाबूलालजी पाटनी, मबेसा (ग्वालियर)
१०) श्रीमुकनलाल हनुमन्दजी, बगोरा
७) ला० लच्छीरामजी

उपहार-ग्रन्थ

'अनेकान्त' के उपहारमें देनेके लिये हमें दिगम्बर जैनसमाज हूँगरपुरकी तरफसे 'लघुशान्तिसुधासिन्धु' ग्रन्थकी ५०० प्रतियां प्राप्त हुई हैं, जिसके उक्त समाज विशेष धन्यवादका पात्र है और उसका यह कार्य दूसरों के लिये अनुकरणीय हैं। मूलग्रन्थ संस्कृतमें आचार्य श्रीकुन्थुसागरजीका रचा हुआ है। साथमें पंजिका नामकी संस्कृत टीका लगी है; हिन्दी अर्थ और विशेषार्थ तथा अंग्रेजी अनुवाद भी दिया हुआ है। अतः जिन ग्राहकों को आवश्यकता हो वे पोस्टेज खर्चके लिये निम्न पते पर एक आना भेजकर उसे मँगा लेवें। उन ५०० ग्राहकों को ही हम यह ग्रन्थ दे सकेंगे जिनकी मांग पोस्टेज खर्चके साथ पहले आएगी।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर सरसावा, जि० सहारनपुर

पुरातन-जैनवाक्य-सूची

जिस पुरातन-जैनवाक्य-सूची (प्राकृतपद्यानुक्रमणी) नामक ग्रन्थका परिचय पिछली किरणमें दिया जा चुका है और जिसकी बाबत पाठक यह जानते आ रहे हैं कि वह कुछ महीनोंसे प्रेसमें है, उसके सम्बन्धमें आज यह सूचना देते हुए प्रसन्नता होती है कि वह छप गया है—सिर्फ प्रस्तावना तथा कुछ उपयोगी परिशिष्टोंका छपना और उसके बाद बाइंडिंगका होना बाकी है, जो एक माससे कम नहीं लेगा प्रस्तावना तथा परिशिष्टों में प्राकृत भाषा और इतिहासादि सम्बन्धी कितने ही ऐसे महत्वके विषय रहेंगे जिनसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ जायगी। ३६ पौंडके उत्तम कागज पर छपे हुए इस सजिल्द ग्रन्थका मूल्य पोस्टेज खर्चसे अलग १२) रु० होगा, जो ग्रन्थकी तय्यारी और छपाई होने वाले परिश्रम और कागजकी इस भारी मँहगाईको देखते हुए कुछ भी नहीं है जो सज्जन प्रकाशित होनेसे पहले १२) रु० मनिआर्डरसे भेज देंगे उन्हें पोस्टेज नहीं देना होगा—प्राकाशित होते ही ग्रन्थ डाक रजिष्टरीसे उनके पास पहुँच जायगा। ग्रन्थकी कुल ३०० कापियां छपाई गई हैं, जो शीघ्र ही समाप्त हो जायँगी; क्योंकि कितने ही आर्डर पहलेसे प्राप्त हुए हैं। अतः जिन सज्जनों, संस्थाओं, कालिजों तथा लायब्रेरियों आदिको आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मनीआर्डरसे अथवा निम्न पते पर भेज देवें अथवा अपना नाम दर्ज रजिस्टर करा लेवें।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा, जि० सहारनपुर

Registere No. A-731.

सहारनपुरमें

अपूर्व साहित्यिक समारोहका आयोजन

समाजके निस्पृही विद्वान, प्रसिद्ध अनुसंधाता

श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तारका सम्मान

श्री ला० राजेन्द्रकुमारजी डायरेक्टर भारत बैंक पधार रहे हैं !

अनेक सम्मेलनों, मानपत्रों और पार्टियोंकी भरमार

समस्त जैनसमाज और हिन्दी प्रेमियोंमें यह समाचार अत्यन्त हर्षके साथ सुना जायगा कि सहारनपुरमें ५ दिसम्बर १९४३ दिन इतवारको शामके सात बजे जैन हाई स्कूलके विशाल प्रांगणमें समाजके वयोवृद्ध, निस्पृही, साहित्यसेवी, प्रसिद्ध अनुसंधाता पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर और सम्पादक अनेकान्तका उनकी ६७ वीं वर्षगांठके उपलक्षमें समाज और साहित्यके प्रति की गई उनकी सेवाओंके फलस्वरूप एक विशाल सम्मान समारोह उत्सव, भारतकी सबसे बड़ी व्यापारिक संस्था भारत बैंकके मैनेजिङ्ग डायरेक्टर श्री ला० राजेन्द्रकुमारजी जैनके सभापतित्वमें मनाया जायगा।

मुख्तार साहबको श्रद्धाञ्जलि देने और उनके कार्यों पर अपने निबन्ध पढ़नेके लिये जैन अजैन अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यिक और नेता सहारनपुर पधार रहे हैं। श्री साहू श्रेयान्सप्रसादजी वायस चैयरमैन भारत इन्शोरेन्स कम्पनी, श्री बा० लालचन्दजी जैन एडवोकेट रोहतक पूर्व सभापति आल इंडिया दि० जैन परिषद्, श्री सेठ लालचन्दजी बीड़ी वाले देहली, श्री बा० रतनलालजी भूतपूर्व एम० एल० सी और चीफ ह्विप यू० पी० कौंसिल, श्रीमती लेखवती जैन भूतपूर्व एम० एल० सी०, हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक और विचारक श्री जैनेन्द्रकुमारजी, वाइस प्रोफेसर मोहन, श्री पं० राजेन्द्रकुमारजी महामंत्री आल इण्डिया दि० जैन संघ मथुरा, प्रिन्सिपल [illegible]जी देव नागरी कालेज मेरठ, श्री स्वामी कृष्णचन्द्रजी दर्शनाचार्य अधिष्ठाता गुरुकुल [illegible], श्री पं० सत्यदेवजी विद्यालङ्कार सम्पादक दैनिक विश्वमित्र देहली, श्री पं० देवदत्त शर्मा सम्पादक दैनिक मिलाप लाहौर, श्री डा० दुर्गाप्रसाद पाण्डे डी० लिट० आचार्य 'मानव भारती', श्री ला० तनसुखरायजी जैन देहली, श्री बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता आदि महानुभावोंकी स्वीकृति आ चुकी है।

इसी अवसर पर आल इण्डिया दि० जैन परिषद्की वर्किंग कमेटीकी मीटिंग और जैन शिक्षण बोर्डकी मीटिंग भी हो रही है।

दिनके समय आने वाले अतिथियोंके सम्मानमें भोज और पार्टी भी होगी। अनेक संस्थायें अपनी-अपनी ओरसे मानपत्र भेंट कर रही हैं।

जैनसमाजके प्रत्येक कार्यकर्ताका कर्तव्य है कि इस अवसर पर पधार कर समाजके इस प्रगतिशील कार्यमें अपना सहयोग दें।

प्रद्युम्नकुमार (रायसाहब)
स्वागताध्यक्ष

अर्हद्दास
स्वागतमन्त्री

श्रीजुगलकिशोर सम्मान समिति कोर्ट रोड सहारनपुर यू० पी०

मुद्रक,प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुर में मुद्रित

श्रीजुगलकिशोर मुख्तार सम्मान समारोह-अङ्क

अनेकान्त

दिसम्बर १९४३, जनवरी १९४४

स्थायी सम्पादक—
श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार

व्यवस्थापक—
कौशलप्रसाद जैन, कोर्ट रोड, सहारनपुर

इस अङ्कके सम्पादक—

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

वर्ष ६ किरण ५, ६

श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार



विषय-सूची

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

विश्व तत्त्व प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४) रु० — इस किरण का मूल्य ।।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६, किरण ४-५ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | दिसम्बर-जनवरी
पौष माघ शुक्ल वीरनिर्वाण सं० २४७०, विक्रम सं० २००० | १९४४

मंगलाचरण

ते सज्जनाः किल भवन्तु सदा प्रसन्नाः ये प्रीणयन्ति जगती जनतामनांसि ।
शश्वत्परोपकृतिकर्मपरावचोभिः धारांभरैर्घनघटा इव काननानि ॥

मेरी भावना

१

जिसने रागद्वेषकामादिक जीते सब जग जान लिया ।
सब जीवोंको मोक्षमार्गका निस्पृह हो उपदेश दिया ।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो
भक्तिभावसे प्रेरित हो यह चित्त उसीमें लीन रहो ॥

२

विषयोंकी आशा नहिं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं ।
निज परके हित साधनमें जो निश-दिन तत्पर रहते हैं ।
स्वार्थत्यागकी कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं ।
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके दुखसमूहको हरते हैं ॥

३

रहे सदा सत्संग उन्हींका,
ध्यान उन्हींका नित्य रहे ।
उनही जैसी चर्यामें यह,
चित्त सदा अनुरक्त रहे ।
नहीं सताऊँ किसी जीवको,
झूठ कभी नहिं कहा करूँ ।
पर धन वनितापर न लुभाऊँ,
संतोषामृत पिया करूँ ॥

४

अहंकारका भाव न रक्खूँ
नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरोंकी बढ़तीको
कभी न ईर्षा भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी,
सरल सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवनमें,
औरोंका उपकार करूँ॥

५

मैत्रीभाव जगतमें मेरा
सब जीवोंसे नित्य रहे,
दीन दुखी जीवों पर मेरे
उरसे करुणास्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर
क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रक्खूँ मैं उन पर,
ऐसी परिणति हो जावे॥

६

गुणीजनोंको देख हृदयमें
मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहां तक उनकी सेवा
करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण ग्रहणका भाव रहे नित,
दृष्टि न दोषों पर जावे॥

७

कोई बुरा कहो या अच्छा
लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या
मृत्यु आज ही आजावे।
अथवा कोई कैसा ही भय
या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्गसे मेरा
कभी न पद डिगने पावे॥

८

होकर सुखमें मग्न न फूले,
दुखमें कभी न घबरावे,
पर्वत नदी श्मशान भयानक
अटवीसे नहिं भय खावे।
रहे अडोल अकंप निरन्तर,
यह मन, दृढ़तर बन जावे,
इष्टवियोग — अनिष्टयोगमें
सहनशीलता दिखलावे॥

९

सुखी रहे सब जीव जगतके,
कोई कभी न घबरावे
बैर पाप अभिमान छोड़ जग
नित्य नये मंगल गावे।
घर घर चर्चा रहे धर्मकी
दुष्कृत दुष्कर हो जावे
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना
मनुज जन्म फल सब पावें॥

१०

ईति भीति व्यापे नहिं जगमें
वृष्टि समय पर हुआ करे
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी
न्याय प्रजाका किया करे।
रोग—मरी—दुर्भिक्ष न फैले
प्रजा शान्तिसे जिया करे।
परम अहिंसा—धर्म जगतमें,
फैल सर्वहित किया करे।

११

फैले प्रेम परस्पर जगमें
मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहिं
कोई मुखसे कहा करे।
बनकर सब युगवीर हृदयसे
देशोन्नति रत रहा करें,
वस्तुस्वरूप विचार खुशीसे
सब दुख—संकट सहा करें॥

पथ-चिन्ह

(श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर')

जीवनका रिकार्ड—

मंगसिर सुदि एकादशी, सम्वत १९३४ !

वर्षके ३६५ दिनोंमें वह भी एक दिन था। उस दिन भी प्रभातके अनन्तर सन्ध्याका आगमन हुआ था और तब निशा रानीने अपना काला आंचल पसार सबको अपनी गोदमें लेलिया था। यह कोई खास बात न थी, पर हाँ, एक खास बात थी जिसके कारण राष्ट्रभारतीके इस पत्रकार को उसका उल्लेख यहाँ करना पड़ेगा। उस दिन सरसावा (सहारनपुर) में श्री चौधरी नत्थूमल जैन अग्रवाल और श्रीमती भोईदेवी जैन अग्रवालके घरमें एक बालकने जन्म ग्रहण किया था।

बुद्धू और घसीटा, अल्लादिया और विल्सन, सबके जन्मोंका रिकार्ड म्यूनिसिपैलिटियाँ रखती हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं, जिनके जन्मका रिकार्ड राष्ट्र और जातियोंके इतिहास प्यारसे अपनी गोदमें सुरक्षित रखते हैं। यह बालक भी ऐसा ही था-जुगलकिशोर ! उसीकी जीवन-प्रगतिके पथ-चिन्होंका एक संक्षिप्त लेखा मुझे यहाँ देना है।

साहित्य-मन्दिरके द्वार पर—

"अरे तुम पहले पढ़लो, फिर जुगलकिशोर जम गया, तो रह जाओगे !" यह मकतबके मुंशीजीका दैनिक ऐलान था।

५ वर्षकी उम्रमें उर्दू-फारसीकी शिक्षा आरम्भ। जहन अच्छा और परिश्रमी। पढ़नेका यह हाल कि २०–२० पत्रों का रोज सबक। शुरूमें पढ़ने बैठ गये, तो मुंशीका सारा समय पहलें और दूसरे लड़कोंका सबक नदारद।

गुलिस्तां-बोस्तां पढ़ते-पढ़ते आपकी शादी होगई और १३–१४ वर्षकी उम्रमें आप गृहस्थी होगये।

उन्हीं दिनो सरसावामें हकीम उग्रसैनने एक पाठशाला खोली। आप उसमें हिन्दी पढ़ने लगे और संस्कृत भी। साथमें जैन शास्त्र भी धार्मिक भावसे पढ़ते थे, पर पढ़नेका शौक देखिये कि इन सबके साथ आपने उस समयके पोस्ट-मास्टर श्री बालमुकुन्दसे अपने फालतू समयमें अंग्रेजीकी प्राइमर भी पढ़ली।

मास्टर जगन्नाथजी बाहरसे बुलाये गये और अंगरेजी का एक नया स्कूल खुला। अपने इस स्कूलकी ओर लड़कों को आकर्षित करनेके लिये आपने एक कविता लिखी, जिसकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

> नया इस्कूल यह जारी हुआ है,
> चलो, लड़को, पढ़ो, अच्छा समा है,
> जमाअत दसवीं[1] से है पाँचवी तक,
> पढ़ाई सर-ब-सर कायम है अब तक।

कविता लिखनेकी यह प्रवृत्ति आपमें कहाँसे आई ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि उस समय एक तो सारे देशमें ही ऐसा साहित्यिक वातावरण न था, फिर सरसावा तो बहुतही पिछड़ी हुई जगह थी। मुझे ऐसा लगता है कि आपमें जन्मजात जो प्रचार-प्रतिभा थी उसने आपको प्रेरणा दी—'चलो लड़को, पढ़ो, अच्छा समा है !' और आपकी आरम्भिक उर्दू शिक्षा इस 'कविता' के शब्द संगठनमें सहायक हुई—'पढ़ाई सर-ब-सर कायम है अबतक'। उस दिन कौन जानता था यही बालक भविष्यमें 'मेरी भावना' का लेखक और 'वीरसेवामन्दिर' का संस्थापक होनेको है।

पहला मोर्चा—

पाँचवी क्लास तक इस स्कूलमें पढ़ कर आप गवर्न-मेण्ट हाईस्कूल सहारनपुरमें प्रविष्ट हुए और 'दूसरी' (आज-कलकी ९ वीं) क्लास पास करने तक यहां पढ़ते रहे। इण्ट्रेंस आपने प्राईवेट पास किया, इसकी भी एक कहानी है। जैन शास्त्रका आप प्रतिदिन पाठ करते थे और उस

---

१ उस समयके स्कूल दसवीं क्लाससे आरम्भ होते थे और पहलीमें इन्ट्रेंस होता था।

पथ-चिन्ह

(श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर')

जीवनका रिकार्ड—

मंगसिर सुदि एकादशी, सम्वत १६३४ !

वर्षके ३६५ दिनोंमें वह भी एक दिन था। उस दिन भी प्रभातके अनन्तर सन्ध्याका आगमन हुआ था और तब निशा रानीने अपना काला आंचल पसार सबको अपनी गोदमें लेलिया था। यह कोई खास बात न थी, पर हाँ, एक खास बात थी जिसके कारण राष्ट्रभारतीके इस पत्रकार को उसका उल्लेख यहाँ करना पड़ेगा। उस दिन सरसावा (सहारनपुर) में श्री चौधरी नत्थूमल जैन अग्रवाल और श्रीमती भोईदेवी जैन अग्रवालके घरमें एक बालकने जन्म ग्रहण किया था।

बुद्ध और घसीटा, अल्लादिया और विल्सन, सबके जन्मोंका रिकार्ड म्यूनिसिपैलिटियाँ रखती हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं, जिनके जन्मका रिकार्ड राष्ट्र और जातियोंके इतिहास प्यारसे अपनी गोदमें सुरक्षित रखते हैं। यह बालक भी ऐसा ही था-जुगलकिशोर ! उसीकी जीवन-प्रगतिके पथ-चिन्होंका एक संक्षिप्त लेखा मुझे यहाँ देना है।

साहित्य-मन्दिरके द्वार पर—

"अरे तुम पहले पढ़लो, फिर जुगलकिशोर जम गया, तो रह जाओगे !" यह मकतबके मुंशीजीका दैनिक ऐलान था।

५ वर्षकी उम्रमें उर्दू-फारसीकी शिक्षा आरम्भ। लड़न अच्छा और परिश्रमी। पढ़नेका यह हाल कि २०—२० पत्रों का रोज सबक। शुरूमें पढ़ने बैठ गये, तो मुंशीका सारा समय पर्लें और दूसरे लड़कोंका सबक नदारद।

गुलिस्तां-बोस्तां पढ़ते-पढ़ते आपकी शादी होगई और १३-१४ वर्षकी उम्रमें आप गृहस्थी होगये।

उन्हीं दिनों सरसावामें हकीम उग्रसेनने एक पाठशाला खोली। आप उसमें हिन्दी पढ़ने लगे और संस्कृत भी। साथमें जैन शास्त्र भी धार्मिक भावसे पढ़ते थे, पर पढ़नेका शौक देखिये कि इन सबके साथ आपने उस समयके पोस्ट-मास्टर श्री बालमुकुन्दसे अपने फालतू समयमें अंग्रेजीकी प्राइमर भी पढ़ली।

मास्टर जगन्नाथजी बाहरसे बुलाये गये और अंगरेजी का एक नया स्कूल खुला। आपने इस स्कूलकी ओर लड़कों को आकर्षित करनेके लिये आपने एक कविता लिखी, जिसकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

> नया इस्कूल यह जारी हुआ है,
> चलो, लड़को, पढ़ो, अच्छा समा है,
> जमाअत दसवीं[1] से है पाँचवी तक,
> पढ़ाई सर-ब-सर कायम है अब तक।

कविता लिखनेकी यह प्रवृत्ति आपमें कहाँसे आई ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि उस समय एक तो सारे देशमें ही ऐसा साहित्यिक वातावरण न था, फिर सरसावा तो बहुतही पिछड़ी हुई जगह थी। मुझे ऐसा लगता है कि आपमें जन्मजात जो प्रचार-प्रतिभा थी उसने आपको प्रेरणा दी—'चलो लड़को, पढ़ो, अच्छा समा है !' और आपकी आरम्भिक उर्दू शिक्षा इस 'कविता' के शब्द संगठनमें सहायक हुई—'पढ़ाई सर-ब-सर कायम है अबतक'। उस दिन कौन जानता था यही बालक भविष्यमें 'मेरी भावना' का लेखक और 'वीरसेवामन्दिर' का संस्थापक होनेको है।

पहला मोर्चा—

पाँचवी क्लास तक इस स्कूलमें पढ़ कर आप गवर्नमेण्ट हाईस्कूल सहारनपुरमें प्रविष्ट हुए और 'दूसरी' (आजकलकी ६ वीं) क्लास पास करने तक यहां पढ़ते रहे। इण्ट्रेंस आपने प्राईवेट पास किया, इसकी भी एक कहानी है। जैन शास्त्रका आप प्रतिदिन पाठ करते थे और उस

---

१ उस समयके स्कूल दसवीं क्लाससे आरम्भ होते थे और पहलीमें इन्ट्रेंस होता था।

की 'विनय' के भावसे आपने बौर्डिंग हाऊसके अपने कमरे पर यह लिख रक्खा था कि None is allowed to enter with shoes किसीको जूता पहने अन्दर आनेकी इजाजत नहीं। एक मुसल्मान विद्यार्थी एक दिन जबर्दस्ती भीतर जूता ले आया। इस पर उसे धक्का देकर आपने बाहर कर दिया। नये आये हुए हेडमास्टरने इस केस में न्याय नहीं किया और प्रतिवादमें आपने स्कूल छोड़ छोड़ दिया। इन हेडमास्टरसे आप इस बातसे भी असन्तुष्ट थे कि उसने एक बार दशलक्षण पर्वमें शास्त्र पढ़नेके लिये, सरसावा जानेको छुट्टी न दी थी। पर्वके दिनोंमें आप ही वहाँ, अपनी छोटी उम्रसे ही, शास्त्र पढ़ा करते थे, इस लिये छुट्टी न मिलने पर भी आप गये और जुर्मानेका दण्ड स्वीकार किया।

आनुषंगिक संयोग देखिये कि इस रूपमें आपने अपने जीवनका जो सबसे पहला संघर्ष रचा, उसका सीधा संबन्ध जैनसाहित्यके साथ था। उस दिन कौन कह सकता था कि इस 'किशोर' का सारा जीवन ही जैनसाहित्यके लिये संघर्ष करनेको निर्मित हुआ है!

छापेके अक्षरोंमें—

सरसावाकी जैनपाठशालामें पढ़ते समय ही, आपकी लेखन प्रवृत्तियां प्रस्फुटित हो चलीं थीं। आपके उस समयके अभ्यास-लेखादि तो अप्राप्य हैं, पर ८ मई १८९९ के 'जैन गजट' (देवबन्द) में आपका जो पहला लेख छपा था वह प्राप्य है। यह जैनकालिजके समर्थनमें है और इसका आरम्भ इस प्रकार होता है—

"भाई साहबो, सब तरह विचार करने और दृष्टि फैलानेसे मेरी सम्मतिमें तो यही आता है कि सब अन्धकार केवल अविद्याका है और विद्यारूपी सूरजके प्रकाश होते, सब भाग जायेगा, फिर न मालूम भाइयोंने और कौनसा उपाय इसके दूर करनेका सोच रक्खा है जिससे कि इतना समय बीत गया है और यह दूर नहीं हुआ और इसके कारण जो जो नुकसान हुए हैं, वह सबको विदित हैं।"

इस लेख पर जैनगजटके सम्पादक श्री बाबू सूरजभान जीने जो शीर्षक लगाया था वह उस कालकी हिन्दी पत्रकार कलाका एक मनोरंजक उदाहरण है—

'लाला जुगलकिशोर विद्यार्थी सरसावा जिला सहारनपुर का लेख अवश्य पढ़िये'।

सम्पादकके पास लेख भेजते समय जो पत्र आपने लिखा था वह भी 'जैन गजट' के इसी अंकमें छपा है, उस का दर्शनीय 'ड्राफ्ट' इस प्रकार है—

प्रार्थना

"श्रीमान बाबू सूरजभान साहिब, जैसे कि लघु एक पुरुष व बड़े काम करनेकी प्रार्थना करें तो यह कैसे हो सकता है परन्तु जैसे कि पानके संगतसे तुच्छ पत्ता बादशाह तक पहुँच जाता है इसी प्रकार मैं हकीम उग्रसैनकी आज्ञानुसार और आप लोगोंकी सहायतासे आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे इस उपरोक्त विषयको यदि आप अच्छा समझें, तो सुधार कर अपने अमूल्य पत्रमें स्थान देवें॥ यद्यपि यह लेख योग्यता नहीं रखता है परन्तु यदि आप स्थान देंगे, तो मेरा मन भी प्रफुल्लित हो जावेगा और मैं आपको कोटिशः धन्यवाद दूंगा।

आप कृपापूर्वक प्रार्थनाको पहले लिखें, पश्चात कुल लेख लिखें॥ यदि एक पत्रमें न आवेगा तो दोमें छाप देवें।

आपका आज्ञाकारी
जुगलकिशोर वि० दफे ३"

'वि० दफे ३' का अर्थ है—दर्जा ३ का विद्यार्थी, पर ३ छपाईकी भूल है, उस समय आप ५ वीं क्लासमें पढ़ते थे। सन् १९०० में आपके घरमें बच्चा होने वाला था, उस अवसर पर स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, वे आपको पसन्द नहीं आये और आपने स्वयं एक गीत लिख कर दिया, जिसकी पहली पंक्ति इस प्रकार थी—

"गावो री बधाई सखि मंगलकारी"

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि आपकी भावनाओंका जागरण तीव्रगतिसे हो रहा था और आप पढ़ते समय ही उर्दूसे हिन्दीकी ओर ढल गये थे।

'जैनगजट' में आप अक्सर लेख लिखते रहे और आप की काव्य-प्रवृत्ति भी प्रस्फुटित होती रही। संभवतः १९०० में ही शोलापुरसे 'अनित्य पंचाशत्' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। आपको वह बहुत पसन्द आया और आपने तभी उसका पद्यानुवाद कर डाला।

उसका एक नमूना इस प्रकार है—

यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्,
विद्राल्यम्बुजपत्रवद् दहनतोऽभ्याशस्थितात्प्रभुवम् ।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति,
भ्रात: कात्र शरीरके स्थिरमतिर्नाशोऽस्य को विस्मय: ॥

× × ×

एक दिवस भोजन न मिलै या नीन्द न निशि को आवै,
अग्निसमीपी अम्बुज दल सम यह शरीर मुरझावै,
शस्त्र-व्याधि-जल आदिकसे भी, क्षणभरमें क्षय हो है,
चेतन! क्या थिर बुद्धि देहमें विनशत अचरज को है?

उपदेशकके रूपमें—

इन्ट्रेंस पास करते ही आपके सामने जीविकाका प्रश्न आया। इधर उधर नौकरीकी तलाशकी, पर मन माफिक कोई काम न मिला। अन्तमें आपने बम्बई प्रान्तिक सभा की वैतनिक उपदेशकी सन् १८९९ के नवम्बरमें आरम्भ की जो १ मास १४ दिन ही चली। उपदेशकके दो रूप हैं। एक में वह अपनेको उपस्थित जन समूहके सामने नेता के रूपमें, सन्देश देते हुए पाता है और दूसरेमें संस्थाके सभापति और महामन्त्रीके सामने एक नौकरके रूपमें निर्देश लेते हुए। और तब उसका मन उससे पूछता है कि ये लोग कुछ न करते हुए भी सम्माननीय हैं और मैं संस्था के लिये रात दिन काम करके भी सम्मान-हीन हूँ। केवल इसी लिये तो कि मैं अपने निर्वाहके लिये कुछ रुपये भी लेता हूँ और ये नहीं लेते। सम्भवत: इसी प्रकारका कोई अनुभव पण्डितजीको हुआ या क्या, उन्होंने यह निश्चय किया कि रुपया लेकर उपदेशकीका काम न करेंगे और नौकरी छोड़दी।

मुख्तार हुए—

अपने निर्णयको उन्होंने इतनी कठोरतासे निबाहा कि पारिश्रमिक आदिके रूपमें रुपया लेकर कभी समाजका काम नहीं किया और काम करके भी अपने लिये समाजसे कभी रुपया नहीं लिया। स्वतन्त्र रोजगारकी दृष्टिसे सन् १९०२ में आपने मुख्तारकारीकी परीक्षा पासकी और सहारनपुरमें प्रेक्टिस करते रहे। १९०५ में आप देवबन्द चले गये और वहाँ प्रैक्टिस करते रहे। अपना यह स्वतन्त्र कानूनी व्यवसाय करते हुए भी आप बराबर समाजसेवाकेकामोंमें भाग लेते रहे।

सम्पादकके रूपमें—

१ जुलाई १९०७ में आप महासभाके साप्ताहिक मुखपत्र 'जैनगजट' (देवबन्द) के सम्पादक बनाए गये। यह आपके सम्पादनका आरम्भ था। सम्पादन ग्रहण करते समय पत्रमें आपने किसी प्रकारकी अपनी नीतिघोषणा नहीं की, सिर्फ मंगलाचरणके रूपमें एक लेख लिखा। वास्तवमें तब आप लेखक थे और आपकी सम्पादनकला अंकुरित ही होरही थी। ३१ दिसम्बर १९०९ तक आप उसके सम्पादक रहे।

इस बीचके 'जैन गजट' का निरीक्षण करनेसे हम आपकी तात्कालिक सम्पादन-प्रवृत्तियोंको ३ भागोमें बाँट सकते हैं। पहली भाषा-संशोधनात्मक, दूसरी सुधारभावनात्मक और तीसरी प्रमाणसंग्रहात्मक। आपने उस कालमें अपनी और दूसरे लेखकोंकी भाषाके संशोधनमें बहुत भारी परिश्रम किया। आप यह ध्यान बराबर रखते थे कि हरेक लेख, टिप्पणी या सूचना इस प्रकार दी जाये कि समाजमें सुधारकी भावना जाग्रत हो। और जो कुछ भी कहा जाये वह प्रमाण-परिपुष्ट हो। अपने अग्रलेखोंमें आपने सदैव तीनों प्रवृत्तियोंका समन्वय रखनेकी चेष्टा की है और यही कारण है कि आपके अग्रलेख प्राय: बहुत लम्बे रहे हैं। २०×२६=४ साइजके पत्रमें ७-८ कालमके अग्रलेख आप प्राय: लिखते थे। १ अक्तूबर १९०७ का अग्रलेख तो ११। कालममें समाप्त हुआ है। यह 'आवागमन' के सम्बन्धमें है।

१ सितम्बर १९०७ के अग्रलेखमें आपने पत्रोंमें प्रकाशित होनेवाले अश्लील विज्ञापनोंका विरोध किया है और फिर १५जनवरी १९०८ में भी इसी विषयपर लिखा है। सम्भवत: विज्ञापनोंके संशोधनपर देशभरमें सबसे पहले आवाज उठानेवाले सम्पादक आप ही हैं।

अनुसन्धान प्रवृत्तियाँ—

आपकी तीसरी प्रवृत्ति प्रमाण-संग्रहने ही वास्तवमें आपके अनुसंधाता रूपकी सृष्टि की है। १ सितम्बर १९०७ के अंकमें शाकटायनके व्याकरणपर आपका एक लेख है— 'हर्षसमाचार'। इसमें इस व्याकरणके छपनेपर हर्ष प्रकट किया गया है और जैनियोंसे उसके अध्ययनकी शिफारिश की गई है। यह सबसे पहला लेख है, जिसकी लेखनशैली में खोजपूर्णता तो नहीं, पर प्राचीन साहित्यके अनुसंधानके प्रति मुख्तार साहबकी बढ़ती अभिरुचिका निर्देश है।

८ सितम्बर १६०७ के अग्रलेखमें यह प्रवृत्ति और स्पष्ट हुई है जो सम्मेदशिखर तीर्थके सम्बन्धमें लिखा गया था।

सफल सम्पादक—

आपके सजीव सम्पादनको जनताने पसन्द किया और 'जैनगजट' की ग्राहकसंख्या ३०० से १५०० हो गई। श्री नाथूरामजी प्रेमीने इसके १० वर्ष बाद 'जैनहितैषी' का सम्पादन मुख्तार साहबको सौंपते समय लिखा था—"वे कई वर्ष तक 'जैनगजट' का बड़ी योग्यताके साथ सम्पादन कर चुके हैं। उनके सम्पादकत्वमें 'जैनगजट' चमक उठा था।" प्रेमीजी जैसे विद्वानके मनपर १० वर्ष बाद तक उनके इस सम्पादनकी छाप रही, यह पर्याप्त महत्व-सूचक है।

'जैनगजट' के सम्पादकत्वसे आपने क्यों त्यागपत्र दिया, ठीक मालूम नहीं। २४ दिसम्बरके अंकमें मोटे टाइपमें यह सूचना आपने दी है कि ३१ दिसम्बरके बाद हम काम नहीं करेंगे, यह हम अधिकारियोंको बार-बार लिख चुके हैं। इस सूचनामें कुछ ऐसी ध्वनि है कि अधिकारियोंसे आपका सम्भवतः कुछ मतभेद था।

भट्टारकोंके दुर्गपर—

'जैन गजट' के सम्पादनसे जो समय बचा, उसे आपने जैन साहित्यके गम्भीर अध्ययनमें लगाया। आपके जीवनमें व्यावहारिक आदर्शोंकी प्रवृत्ति थी—आप समाजको जिस ढोंगहीन सात्विक रूपमें ढालनेका आन्दोलन करते थे, उस में अपना ढलना सबसे पहले आवश्यक समझते थे। जैन धर्मकी दृष्टिमें आदर्श गृहस्थका क्या रूप है, इसका अध्ययन आपने इसी दृष्टिसे आरम्भ किया। आपका विचार था कि इसके अध्ययनके फलस्वरूप एक पुस्तक लिखेंगे। वह पुस्तक तो आज तक न लिखी गई, पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह हुई कि आपका ध्यान इस बातपर गया कि जैन शास्त्रोंमें भट्टारकोंने जैनधर्मके विरुद्ध बहुतसा अगट-सगट इधर-उधरसे लाकर मिला दिया है जिससे जैनधर्मकी मूल-परम्पराका विकृतरूपमें हमें दर्शन मिलता है। इस प्रक्षिप्त अंशकी ओर पहले शायद विद्वानोंका ध्यान गया होगा, पर आपने यह मौलिक खोज आरम्भ की कि यह प्रक्षिप्त अंश कहाँसे लिया गया है? बादमें यही खोज 'ग्रन्थपरीक्षा' नामक पुस्तकके चार भागोंमें प्रकाशित हुई।

त्यागके पथपर—

यह गम्भीर अध्ययन आपके जीवनपर भी अपनी गंभीर छाप डालता गया और अब वह मुख्तारकारी आपको भार होने लगी। जीवनका बहुमूल्य समय जीविकामें लगाकर फालतू समयमें अनुसंधान या समाजसेवाका कार्य किया जाये, यह आपके लिये अब असह्य होचला और आप बाबू सूरजभानजीसे बार-बार यह तकाजा करने लगे कि दोनों वकालत छोड़कर सारे समय अनुसंधान और समाज-सेवामें लगें। जब-तब आप बाबूजी पर यह तकाजा करने लगे। एक दिन शामको घूमते समय बाबूजीने कहा—अच्छा तुम रोज कहते हो, तो आज रातमें गम्भीरतासे सोच लो, कल अन्तिम निर्णय करेंगे। दूसरे दिन प्रातःकाल आप बाबूजीके घर पहुँचे और अपना निर्णय उन्हें बताया। फलतः १२ फरवरी १६१४ को बाबू सूरजभानजीने अपनी वकालत और पं० जुगलकिशोरजीने अपनी मुख्तारी छोड़ दी। आप दोनों ही उस समय देवबन्दके प्रमुख 'लीगल प्रैक्टिशनर' थे, इस लिये आप लोगोंके भीतर समाज-सेवा का जो अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था, उससे अपरिचित होनेके कारण लोगोंको इससे बहुत आश्चर्य हुआ।

साधनाका 'मैनीफेस्टो'—

यह अन्तर्द्वन्द्व मुख्तारकारी छोड़नेके बाद लिखी उस कवितामें प्रकट हुआ, जो 'मेरी भावना' के नामसे प्रसिद्ध है। यह कविता पुस्तिका रूपमें अभीतक २० लाख छप चुकी है और इसका अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, गुजराती, मराठी, कनड भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है। यूरोपकी राजनैतिक पार्टियोंके चुनाव मैनीफेस्टोंकी तरह यह मुख्तार साहबकी जीवन साधनाका मैनीफैस्टो (घोषणापत्र) था। अनेक प्रांतों के डिस्ट्रिक्ट और म्यू० के स्कूलोंमें, तथा कारखानोंमें यह सामूहिक प्रार्थनाके रूपमें प्रचलित है और जैनसमाजमें तो पं० जुगलकिशोर और मेरीभावना एक ही चीजके दो नाम समझे जाते हैं। हजारों परिवारोंमें उसका नित्यपाठ होता है और जैन उत्सवोंकी आरम्भिक प्रार्थनाके लिये तो वह पेटेन्ट ही हो गई है। उसके प्रचार, प्रकाशनका हिन्दीमें एक अपना ही रिकार्ड है। यह कविता सबसे पहले 'जैनहितैषी' अप्रैल-मई १६१६ के संयुक्तांकमें छपी थी।

नया बम—

१६१६ के लगभग ग्रन्थपरीक्षाके दो भाग प्रकाशित हुए। यह परम्परागत संस्कारों पर कड़ा कशाघात था। अनेक विद्वान इससे तिलमिला उठे और उन्होंने पण्डित जीको धर्मद्रोहीकी उपाधि दी। भोली जनता भी इस प्रवाह बह गई पर आप चुपचाप अपने काममें लगे रहे और अपने गम्भीर अध्ययनके बल पर आपने एक नया बम पटका दिया—जैनाचार्यों तथा जैनतीर्थंकरोंमें शासन भेद ! आप की इस लेखमालासे कोहराम मच गया। यदि जैनाचार्योंमें परस्पर मतभेद मान लिया जाए, तो फिर आपकी वह स्थापना प्रमाणित हो जाती थी कि वीरशासन (जैनधर्म) का प्राप्त रूप एकान्त मौलिक नहीं है। उसमें बहुत कुछ मिश्रण हुआ है और उसके संशोधनकी आवश्यकता है। इसके विरुद्ध भी उछल कूद तो बहुत हुई, पर पण्डितजीकी स्थापनाएं अटल ही रहीं, कोई उनके विरुद्ध प्रमाण न ला सका।

अखण्ड आत्मविश्वास—

१६२० में आपकी कविताओंका संकलन 'वीरपुष्पाँजलि' के नाममें छपा। तब आप समाजके घोर विरोधका मुकाबला कर रहे थे पर अपनी स्थापनाओंकी अकाट्यता और विरोधियोंकी हारमें आपका कितना अभंग विश्वास था, यह आपकी निम्न ४ पंक्तियोंसे स्पष्ट है, जो 'वीर 'पुष्पांजलि' के मुखपृष्ठ पर छपी थीं—

"सत्य समान कठोर, न्यायसम पक्ष-विहीन,
हूँगा मैं परिहास रहित, कुटोक्ति क्षीण।
नहीं करूंगा क्षमा, इंचभर नहीं टलूंगा,
तो भी हूँगा, मान्य, ग्राह्य, श्रद्धेय बनूंगा।"

पहली तीन पंक्तियोंमें उन्होंने अपने स्वभावका फोटो देदिया है और आखरीमें अपने आत्म विश्वासका—अक्षरशः यथार्थ !

फिर सम्पादक—

अक्टूबर १६१६ में श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने आग्रह करके उन्हें जैनहितैषीका सम्पादक बनाया और अपने 'प्रारम्भिक वक्तव्य' में कहा—

"बाबू जुगलकिशोरजी, जैनसमाजके सुपरिचित लेखक हैं, × × × 'जैनहितैषी' में भी पिछले कई वर्षोंमें आप बराबर लिखते रहे हैं। इस कारण हमारे पाठक आपकी योग्यतासे भलीभांति परिचित हैं। आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आपकी कलमसे कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं वह सप्रमाण और सुनिश्चित। आपका अध्ययन और अध्यवसाय बहुत बढ़ा है। × × × 'जैन हितैषीका सौभाग्य है कि वह ऐसे सुयोग्य सम्पादकके हाथ में जा रहा है।"

पं० जुगलकिशोरजीने भी 'जैन-हितैषी का सम्पादन' शीर्षकसे इस अंकमें एक टिप्पणी लिखी, जिसमें आरम्भमें प्रेमीजीके आग्रह पर उन्हें कैसे यह सम्पादनभार ग्रहण करना पड़ा, यह बतानेके बाद अपनी नीतिके सम्बन्धमें लिखा है— 'मैं कहां तक इस भारको उठा सकूंगा और कहाँ तक जैन हितैषीकी चिरपालित कीर्तिको सुरक्षित रख सकूंगा इस विषयमें मैं अभी एक शब्द भी कहनेके लिये तैयार नहीं हूँ और न कुछ कह ही सकता हूँ। यह सब मेरे स्वास्थ्य और विज्ञ पाठकोंकी सहायता, सहकारिता और उत्साह वृद्धि आदि पर अवलम्बित है। परन्तु बहुत नम्रताके साथ, इतना जरूर कहूँगा कि मैं अपनी शक्ति और योग्यता अनुसार, अपने पाठकोंकी सेवा करने और जैन हितैषीको उन्नत तथा सार्थक बनानेमें कोई बात उठा नहीं रक्खूंगा।"

'जैनहितैषी' का सम्पादन आपने १६२१ तक दो वर्ष किया।

महान कार्य—

१६२८ में 'ग्रन्थ परीक्षा' का तीसरा भाग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिकामें श्री नाथूराम प्रेमीने लिखा है—"मुख्तार साहबने इन लेखोंको, विशेषकर सोमसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाको, कितने परिश्रमसे लिखा है और यह उन की कितनी बड़ी तपस्याका फल है, यह बुद्धिमान पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़ कर जान लेंगे। मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंमें किसी भी जैन विद्वानने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रमसे लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहटके कही जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षा लेख जैनसाहित्यमें सबसे पहले हैं।"

"× × × × ग्रन्थपरीक्षाके लेखक महोदयने एक अलभ्यपूर्व कसौटी प्राप्तकी है, जिसकी पहलेके लेखकोंको कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओंके स्मृतिग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थोंके सैकड़ों श्लोकों को सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थोंमें से चुराचुरा कर और उन्हें तोड़ मरोड़ कर सोमसेन आदिने अपने २ 'भानमतीके कुनबे' तैयार किये हैं। जांच करने का यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैनधर्मका तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करने वालोंके लिये एक नया मार्ग खोल दिया है।"

"ये परीक्षा लेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाट्य प्रमाणोंके आधारसे लिखे गये हैं कि अभी तक उन लोगों की ओरसे जोकि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परम-पुरस्कर्ता और प्रचारक हैं (१२ वर्षका समय मिलने पर भी) इनकी एक पंक्तिका खण्डन नहीं कर सके हैं और न अब आशा ही है। × × × × गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियोंके लिये लोहेके चने हैं।"

इन लोहेके चनोंका निर्माण कितनी लगनसे हुआ है, उसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि इन लेखोंके लिखनेमें आप इतने तल्लीन थे कि आपको उन्निद्र होगया और १।। मास तक आपको नींद नहीं आई। एक दिन ही नीन्द न आये, तो दिमाग भिन्ना जाता है, पर आपके लिये यह निर्माण इतना रस पूर्ण था, आप उसमें इस कदर डूबे हुए थे कि आपको ज़रा भी कमजोरी महसूस नहीं हुई और आप बराबर काममें जुटे रहे।

भारतमाताके चरणोंमें—

पण्डितजीके कार्यका क्षेत्र जैनसाहित्य, इतिहास और समाज रहा, इतना ही जान कर यह सोचना कि वे एक साम्प्रदायिक पुरुष हैं, सत्यका उतना ही बड़ा संहार है जितना राष्ट्रनिर्माता श्रद्धानन्दको साम्प्रदायिक नेता मानना। साम्प्रदायिक विषयोंमें आप कभी नहीं पड़े और आपका दृष्टिकोण सदैव राष्ट्रीय रहा। १९२० से आप बराबर खादी पहनते हैं और गान्धीजीकी पहली गिरफ्तारी पर आपने यह व्रत लिया था कि जब तक वे न छूटें, आप बिना चर्खा चलाये, कभी भोजन न करेंगे।

अपनी कविताओंमें, सामाजिक समुत्थानकी बात कहते समय भी आपकी निगाह बराबर राष्ट्र पर ही रही है 'मेरी भावना' के अन्तमें आपने कहा है—

> बन कर सब 'युगवीर' हृदयसे,
> देशोन्नति रत रहा करें।
> वस्तुस्वरूप विचार खुशीसे,
> सब दुख संकट सहा करें।

'धनिक-संबोधन' कवितामें आपने धनिकोंको देशाभिमुख रहनेकी ही प्रेरणा दी है—

> चक्करमें विलास प्रियताके,
> फंस मत भूलो, अपना देश!
> × × ×
> कला कारखाने खुलवा कर,
> मेटो सब भारतके क्लेश।
> करें देश-उत्थान सभी मिल,
> फिर स्वराज्य मिलना क्या दूर?
> पैदा हों 'युगवीर' देशमें,
> फिर क्यों दशा रहे दुख-पूर?

समाज उनके लिये राष्ट्रका ही अंग है। 'समाज-संबोधन' करते हुए जब वे कहते हैं—

> सर्वस्व यों खोकर हुआ,
> तू दीन हीन अनाथ है!
> कैसा पतन तेरा हुआ,
> तू रूढ़ियोंका दास है!!

तब उनके मनमें भारतराष्ट्रका ही ध्यान व्याप्त होता है। यह निश्चय है कि यदि वे खोजके इस कार्यमें न पड़े होते, तो उनकी यह ६७ वीं वर्ष गांठ सम्भवतः देशकी किसी जेलमें ही मनाई जाती!

जीवनभरका कार्य—

उनकी जीवन व्यापी साहित्य साधनाका मूल्यांकन करने के लिये विस्तृत स्थानकी आवश्यकता है, फिर भी संक्षेपमें यहां उसका उल्लेख आवश्यक है—

जैनसमाजमें पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक समझा जारहा था। मुख्तार साहबने अपनी खोजके आधार पर दृढ़

रूपसे यह स्पष्ट कर दिया कि पात्रकेसरी विद्यानन्दसे ही नहीं किन्तु अकलंकसे भी पहले हुए हैं।

इसी तरह 'पंचाध्यायी' ग्रन्थके सम्बन्धमें किसीको यह ठीक मालूम नहीं था कि उसका कर्ता कौन है। नये उपलब्ध हुए पुष्ट प्रमाणोंके आधार पर, मुख्तार साहबने यह स्पष्ट करके बतलाया कि इस ग्रन्थके कर्ता वे ही कवि राजमल्ल हैं जो 'लाटीसंहिता' आदि ग्रंथोंके कर्ता हैं।

महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रका इतिहास अन्धेरेमें पड़ा था और उसकी खोजके आधार भी प्रायः अप्राप्य थे। मुख्तार साहबने आधारोंकी खोज करके दो वर्षके परिश्रमसे एक *प्रामाणिक विस्तृत इतिहास तैयार किया*, जिसकी अनेक ऐतिहासिक विद्वानोंने मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है।

समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें जब डा० के० बी० पाठकने कुछ विरुद्ध लिखा तो आपने एक वर्ष तक बौद्ध साहित्य आदिका खास तौरसे अध्ययन करके उसके उत्तरमें 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' नामका एक गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखा, जो हिन्दी और अंग्रेजी दोनोंमें प्रकाशित हुआ है और विद्वानोंको बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ है।

सम्मान-समारोहमें दिये अपने भाषणमें पं० राजेन्द्रकुमारजीने कहा था कि मुख्तार साहब यह काम न करते तो दिगम्बर-परम्परा ही अस्तव्यस्त हो जाती। इस कार्यके कारण मैं उन्हें दिगम्बर परम्पराका संरक्षक मानता हूँ।

जैनसाहित्यके कितने ही ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका दूसरे ग्रन्थोंमें उल्लेख तो है, पर वे मूल रूपमें अप्राप्य हैं। मुख्तार साहबने विशाल जैन साहित्यमें लिखे उल्लेखोंके आधार पर ऐसे बहुतसे अप्राप्य ग्रन्थोंकी एक सूची तैयार की और उनकी खोजके लिये पुरस्कारोंकी घोषणा की। उनमेंसे कुछ ग्रन्थ मिले हैं और शेषके लिये पुस्तक भंडारोंकी खोज हो रही है।

अन्तर्जातीय विवाहके समर्थनमें आपने एक पुस्तक लिखी—'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण'। समाजमें हल्ला हुवा। एक विद्वानने उसका विरोध लिखा। बस फिर क्या था, ३ मास तक रात दिन साहित्य और इतिहासका अध्ययन कर आपने 'विवाह क्षेत्र प्रकाश' नामकी पुस्तक लिखी, जिसका फिर कोई विरोध न कर सका।

दस्सा पूजाके आन्दोलनमें आपने 'जिन पूजाधिकार मीमांसा' लिखी और कोर्टमें गवाही भी दी। इस पर आपको जातिच्युत घोषित किया गया, पर यह घोषणा कभी व्यवहारमें नहीं आई।

जैन साहित्यके श्रेष्ठतम ग्रन्थ धवल और जयधवलका नाम ही लोगोंने सुना था। ये ग्रन्थ केवल मूडबद्रीके ग्रन्थभंडारमें विराजमान थे। इनकी २-३ प्रतियां होकर जब इधर आईं तो इन ग्रंथरत्नोंका पूरा परिचय प्राप्त करनेके लिये मुख्तार साहब लालायित हो उठे, आपने आरा-जैन-सिद्धान्त भवनमें जाकर, ३॥ महीने रात दिन परिश्रम करके १००० पृष्ठों पर उनके नोट्स लिखे, जिनमें दोनों ग्रन्थोंका सार संग्रहीत है।

महावीर भगवानके समयादिके सम्बन्धमें जो मतभेद एवं उलझनें उपस्थित थीं, उनका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके आपने सर्वमान्य समन्वय किया और वीर-शासन-जयन्ती (भगवान महावीरकी प्रथम धर्म-प्रवर्तन-तिथि) की खोज तो आपके जीवनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है। श्रावण बदि प्रतिपदाको अब देशके अनेक भागोंमें वीर-शासन-जयन्तीका आयोजन होने लगा है।

'अनेकान्तका' आरम्भ—

२१ अप्रैल १९२९ में आपने देहलीमें समन्तभद्राश्रमकी स्थापना की और नवम्बरमें मासिक 'अनेकान्त' का प्रकाशन आरम्भ किया। 'अनेकान्त' के प्रथमांकमें ही पांच पेजोंका सम्पादकीय है, जिसमें ३ पेजमें समन्तभद्राश्रमका परिचय और दो पेजमें पत्रकी नीति पर प्रकाश डाला गया है।

'जैनगजट' में आपने केवल मंगलाचरण किया था और जैनहितैषीमें *सम्पादन स्वीकार करनेकी परिस्थिति* बता कर 'शक्ति और योग्यता अनुसार' पत्रको सफल बनानेकी सूचना दी थी, पर अनेकान्तमें 'पत्रका अवतार, रीति-नीति

और सम्पादन' तथा 'जैनी नीति' के नामसे दो टिप्पणियाँ लिखी हैं। पहली टिप्पणीमें वहाँ सम्पादन ग्रहण करनेकी विवशताओंका उल्लेख करके लिखा है—

(आश्रमकी व्यवस्थाका भार होनेके कारण)—"इस स्थितिमें यद्यपि पत्रका सम्पादन जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सकेगा तो भी मैं इतना विश्वास अवश्य दिलाता हूँ कि जहाँ तक मुझसे बन सकेगा मैं अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार पाठकोंकी सेवा करने और इस पत्रको उन्नत तथा सार्थक बनानेमें कोई बात उठा नहीं रक्खूगा।"

असलमें 'जन रुचि नहीं, जनहित' ही आपकी सम्पादन-नीति रही है।

आलोचनापद्धतिका 'मोटो'—

'अनेकान्त' का आरम्भ ५ दोहोंसे होता है, जिसमें अन्तिम इस प्रकार है—

शोधन-मथन विरोधका, हुआ करे अविराम।
प्रेम पगे रलमिल सभी, करें कर्म निष्काम॥

वास्तवमें यह आपकी आलोचना पद्धतिका 'मोटो' है। शोधन मथनका काम निरन्तर हो, प्रेमके साथ हो, रलमिल कर हो, इसमें परस्पर वैर-विरोधकी तो कहीं गुंजायश ही नहीं है! इसी अंकमें आपने 'प्रार्थनाएं' शीर्षकसे ४ बातें कही हैं। उनमें तीसरी इस प्रकार है—"यदि कोई लेख अथवा लेखका कोई अंश ठीक मालूम न हो अथवा विरुद्ध दिखाई दे, तो महज उसीकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव न धारण करना चाहिये किन्तु अनेकान्त नीति और उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्ति पुरस्सर संयतभाषामें लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिये।" पण्डितजीकी इसी नीतिका यह फल है कि आरम्भमें उनका विरोध करने वाले भी अन्तमें उनके मित्र बन जाते हैं।

एक वर्ष बाद, समन्तभद्र आश्रमका स्थान सरसावा बदल दिया गया और उसीने इस प्रकार वीरसेवामन्दिरका रूप धारण किया और पण्डितजीका जन्मक्षेत्र ही अब उनका साधनाक्षेत्र हो गया है।

यह पण्डितजीकी जीवन सामग्रीका बहुत अधूरा संकलन है। इसकी उपमा उस आइनेसे दी जा सकती है, जिसकी कलई बहुत कुछ उड़ी हुई है, फिर भी सावधानीसे आँकने पर जिसमें कामचलाऊ सूरत दिखाई दे जाती है।

संक्षेपमें स्वस्थ हों तो अपनी गद्दी पर और बीमार हों तो अपनी शैया पर पड़े पड़े भी, एक ही धुन, एक ही लगन, एक ही विचार और एक ही कार्य-शोध-खोज एवं निर्माण, यह पं० जुगलकिशोर मुख्तारका सम्पूर्ण परिचय है। उनके भीतर महान जैनसाहित्यका आकुल दर्शन है और बाहर उसे प्रकाशमें लानेकी आकुलता है। यह दर्शन ही उनका पथ है, यह आकुलता ही उनका सम्बल है। इसके सहारे उन्होंने अपने जीवनके पिछले ३६ वर्ष जैन-साहित्यके अन्धेरे कोणोंकी खोजमें लगाये हैं और इसीकी धुनमें उन्होंने अपनी चलती हुई मुख्तारकारीका परित्याग किया है। उनकी खोजपद्धतिसे भारतकी श्रद्धा है, यूरोपकी विवेचना है और वास्तविक बात यह है कि उस खोजका वास्तविक मूल्य हम नहीं, हमारे बादकी पीढ़ी ही ठीक २ आँक सकेगी।

हमारे सभापति : एक अध्ययन

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

"इधर आइये यहाँ हैं राजेन्द्रकुमारजी"

भाई कौशलप्रसादजी ने जोरसे हमें पुकारा और हम सब सिमट कर एक कम्पार्टमेण्टके सामने इकट्ठे होगये। श्री जुगलकिशोर सम्मान समिति द्वारा आयोजित सम्मान-समारोहका सभापतित्व करनेके लिये भारत बैंकके संचालक श्री राजेन्द्रकुमारजी देहलीसे सहारनपुर आ रहे थे और हम सब उन्हें लेने स्टेशनपर आये थे।

राजेन्द्रकुमारजी जिस कम्पार्टमेण्टमें थे, उसके प्लेटफार्म की ओर वाले द्वारमें चाभी लगी थी। हममें से कोई दौड़ कर गार्डके पास गया, कोई टी० टी०के, पर राजेन्द्रकुमारजी अचंचल थे। कोई तीन मिनिटमें चाभी आई। इन ३ मिनटोंमें उन्होंने एक बार भी बाहर नहीं झाँका, उत्सुकताहीन, झुंझलाहटहीन, स्थिर, शान्त और और अनुद्विग्न ! मुझे लगा, जैसे उनके जीवनकी इतनी महान सफलता की कुंजी मैं पा गया—यह स्थिरता, उद्वेगके समय भी शान्त रहनेकी क्षमता—स्थिरप्रज्ञता !



श्री राजेन्द्रकुमार जी

× × ×

वे स्वागताध्यक्षके भवनमें ठहरे थे और दिगम्बर जैनपरिषदकी कार्यकारिणीका अधिवेशन श्री ला० ऋषभसैनजीकी कोठीपर होना था। राजेन्द्रकुमारजी परिषदके जनरल सेक्रेट्री हैं और उन्होंने अधिवेशनका समय दो बजे रक्खा था। ठीक दो बजे वे स्वयं आ पहुँचे और बिना एक मिनिट भी कहीं उलझे उन्होंने कार्यकारिणीका कार्य आरम्भ कर दिया।

राजेन्द्रकुमारजी आजकी व्यापारिक दुनियाके प्रथम श्रेणीके मनुष्य हैं, फिर सहारनपुरमें वे सभापतिके रूपमें आये थे, पर उन्होंने निमन्त्रणकी प्रतीक्षा नहीं की और ठीक समय वे घोषित स्थानपर पहुँच गये, जैसे अपनी आँखोंमें वे उस समय केवल परिषदके जनरल सेक्रेट्री थे।

तकल्लुफसे दूर, 'बड़े आदमियों' के सर्वग्रासी रोग 'दरबारीपन' से निर्लिप्त, एक कर्मठ समाज सेवक—अपनी जिम्मेदारियोंके प्रति सचेष्ट ! अपने धनके बलपर, पार्टीके बहुमतका सहारा लेकर बने जनरल सेक्रेट्री नहीं, मुझे लगा जैसे वे जन्मजात जनरल सेक्रेट्री हैं।

× × ×

कार्यकारिणीके बाद इस प्रदेश के कार्यकर्ताओंकी मीटिंग हुई। परिषदके कार्यक्रमपर आप बोले—सुलझे हुए, शृंखलाबद्ध, व्यर्थ विस्तारसे बचे-बचे, संयत और बहुत मीठे। समाजकी समस्याओंपर उन्होंने अध्ययन किया है, मनन किया है, परिस्थितियोंका तारतम्य जोड़कर अपनी सम्पत्ति निर्धारित की है; वे उनमें रम गये हैं, धम गये हैं और फलस्वरूप जहां वे समाजके मौलिक तत्वोंके परिज्ञाता हैं, वहां उन तत्वोंमें बाहरसे, समय के प्रवाहमें आमिली कुरूपताओंसे भी परिचित हैं और दोनोंको अलग अलग देखने—परखने और दूसरोंके सामने उसे रखनेकी प्रतिभा भी उनमें है, यह इस भाषणने कहा।

× × ×

इसी मीटिंगमें सहारनपुरकोपरिषदका एक केन्द्र बनाया गया। उसके संयोजक-पदके लिये दो नाम आये। उन दोनोंने भी बारी बारीसे परस्पर एक दूसरेका समर्थन किया और फलतः यह प्रस्ताव हुआ कि दोनोंको ही संयुक्त संयोजक

बना दिया जाए। राजेन्द्रकुमारजी यहाँ खामोश न रह सके, उठे और बोले—"माफ कीजिये, यह सार्वजनिक सेवाका काम है, इसे वे ही लोग कर सकते हैं, जिनमें यह भावना है। इस लिये मामला उलझाना, या दूसरोंके कहेसे नाम लिखाना मैं पसन्द नहीं करता। नाम उन्हींका लिखा जाये, जो काम करें!

यह उनकी स्पष्टवादिताका रूप है, खरेपनकी साक्षी है, नेतृत्वका प्रतिबिम्ब है। वे सीधे देखते हैं, सीधे चलते हैं। वे बहुत नम्र हैं, पर उलझते नहीं, उलझाये जा सकते नहीं। वे काममें विश्वास करते हैं, कोरे नाममें नहीं।

× × ×

वर्कर्स मीटिंग समाप्त होगई, उन्हें व्यापारी-मण्डलमें जाना है, वहांसे टी पार्टीमें। १-१ क्षण बन्धा हुआ है, पर वे भूले नहीं—श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैनसे मिले। समाजसुधारका आन्दोलन जैनपरिवारोंमें कैसे पहुँचे, इस पर उनसे बातें कीं, परिषदका महिला विभाग सम्भालनेको उनसे अनुरोध किया और कार्यकारिणीके दूसरे सदस्योंसे उनका परिचय कराया, आत्मीयतासे पूर्ण टोन और स्नेह-भरी मुखमुद्रा।

कार्योंकी यह शृङ्खला, रत्नोंकी यह परख, उपयुक्त व्यक्तियोंको उपयुक्त स्थानमें फिट करनेकी यह उत्सुकता और क्षमता ही उस विशाल सफलताकी नीव है, जो आज राजेन्द्रकुमारजीके नाममें ओतप्रोत है।

× × ×

सहारनपुरके लिये जब वे चले, तो गाड़ी छूट गई। ड्राइवरसे बोले—गाजियाबाद तक वह गाड़ी पकड़ो, और यह सम्भव न हो तो पूरी स्पीड चलो और मुजफ्फरनगर तक भी गाड़ी पकड़ो—मैं वचनबद्ध हूँ और कुछ भी हो, १२॥ बजे मुझे वहाँ पहुँचना है।

एक साथीने यह संस्मरण सुनाया, जिसका अर्थ है—अपनी जिम्मेदारियोंके प्रति सचेष्ट, प्रतिज्ञाके प्रति सतर्क और दूसरोंकी दिक्कतके प्रति सावधान।

× × ×

लाला विशालचन्दजीकी टी-पार्टीमें वे बैठे थे—लेखवती जी जरा लेट पहुँचीं। मैंने देखा कि वे इस बातके लिये सचिन्त थे कि उस बहन को उपयुक्त स्थान मिले—अपने पास ही सम्मानपूर्वक उन्होंने उनके लिये व्यवस्था करादी। साथियोंके प्रति सहृदय, उनके मानके लिये सचेष्ट और अभिमानहीन सद्भावसे पूर्ण। उनके स्वभावकी एक शक्ति, जो उनके प्रभावको गम्भीर और नियन्त्रणको मधुर बनाती है।

इसी शृङ्खलामें एक और भी—उनके एक सहकारीने इसी उत्सवके सिलसिलेमें एक पत्र लिखा—उसकी बातोंसे एक प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ताके रूपमें भाई कौशप्रसाद जीके आत्माभिमानको ठेस लगी और उन्होंने एक सख्त उत्तर लिखा। मैं उसके कटु प्रतिफल की सम्भावनामें था, पर बड़ा मधुर उत्तर आया, और सब 'भूल-सुधार' होगया। वे भारतीय समाजके सबसे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंमें हैं, पर बात बातमें सरकारी अधिकारियोंकी तरह वे प्रतिष्ठा-प्रेस्टिजके प्रश्न खड़े नहीं करते। बात यह है कि वे लक्ष्यकी ओर देखते हैं, निरन्तर उधर बढ़ते हैं। इस बढ़नेकी कुञ्जी 'संघ' में है। यह संघ कैसे बने, कैसे बढ़े, बनता-बढ़ता ही रहे, इस कलाके वे प्रकाण्ड पण्डित हैं।

× × ×

उत्सव होरहा था, राजेन्द्रकुमारजी सभापतिके आसन पर थे, प्रोग्राम मेरे हाथमें था। एक सज्जनने छोटीसी स्लिप मुझे भेजी कि अमुकका नाम प्रोग्राममें बढ़ादें। यह नाम पहलेसे ही था, इसलिये वह स्लिप मैंने एक ओर डाल दी। राजेन्द्रकुमारजीने बहुत धीरेसे वह स्लिप उठा कर पढ़ी। वह मेरे नाम थी, फिर भी उन्होंने प्रोग्राम देखा कि वह नाम उसमें है या नहीं और बड़ी तरकीबसे वह स्लिप वहीं डाल दी।

यह उनकी सतर्कता है, यह उनका स्वावलम्ब है। छोटेसे छोटे काम पर निगाह रखना और साथियोंके कार्यों को भी सतर्क हो युक्तिसे जांचते चलना, उनका स्वभाव है, जो उन्हें अपनी महान संस्थाके संचालनमें पूर्णता देता है और अनेक फिसलनोंसे बचाता है।

× × ×

आज वे वैभवके जिस महास्तूप पर खड़े हैं, उसका निर्माण उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिभा और पुरुषार्थके सहारे किया है। इसलिये निर्माणकी कठिनाइयोंसे वे खूब परिचित हैं, यही कारण है कि जीवनके दूसरे निर्माताओंके प्रति उनका मन अगाध श्रद्धासे भरा है! मुख्तार साहबके प्रति उन्होंने जिस भक्तिभावनाका प्रकाशन किया, वह बहुत ऊँची है।

इस उत्सवसे जहां उनके सामने यह प्रश्न आया कि समाजके दूसरे विद्वानोंका भी उपयुक्त सम्मान हो, वहाँ स्वर्गीय साधकोंकी स्मृतिरक्षाका प्रश्न भी उनके निकट सजीव हो उठा। स्व० श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, बैरिस्टर चम्पतरायजी और श्री बा० ज्योतिप्रसादजीकी स्मृतिमें 'वीर' ने जो तीन विशेषांक प्रकाशित करनेकी घोषणा अब की है, उसका आधार यही है।

× × ×

उन्हें सामने देख कर कोई विशेष प्रभाव मन पर नहीं पड़ता, पर ज़रा बारीक नज़रसे देखने पर उनका चरित्र उन की आकृतिमें झलक आता है। ऊंचा मस्तक, भरी मूंछें, पैनी आँखें और मुस्करानेको उत्सुकसे ओठ, यह दर्शनका पूर्वार्ध है। ऊंचे मस्तक पर उनके चिन्तनकी छाया है, भरी मूंछोंमें दृढताकी प्रतिध्वनि, पैनी आंखोंमें सूक्ष्मदर्शन और गहरे पैठनेकी प्रवृत्ति और ओठोंमें स्वभावकी सरल मधुरता का प्रतिबिम्ब।

ग्रीवामें लचक है, कन्धोंमें उभार है और पैरोंमें एक सधी हुई चपलता, यह दर्शनका उत्तरार्ध है। ग्रीवाकी लचकमें नम्रता है—पूज्योंके सामने झुकनेकी प्रस्तुतता, पर कन्धोंका उभार साक्षी है उस स्थिरताका, जो सुनती सबकी है, पर करती है अपने ही मनकी। और यह सधे हुए पैर? जो समय और स्थानको देख कर चलते हैं, जहां चलना है, चले ही चलना है, पर जिन्हें जहां नहीं चलना है, वहां नहीं ही चलना है।

× × +

बस, एक दिनमें मैं उन्हें इतना ही देख पाया।

मुख्तार महोदय और उनका सर्वस्व-दान

(श्वेताम्बर गुजराती साप्ताहिक 'जैन'—भावनगरकी दृष्टिमें)

"पं० जुगलकिशोर जैन शासनके एक मूक सेवक हैं। इनके द्वारा सम्पादित होते हुए अनेकान्तके अंकोंको जिन्होंने देखा होगा और पंडितजीकी अपनी विचार-शैलीका अभ्यास किया होगा, उन्हें इन विद्वान स्वधर्मी बन्धुकी बारीक छान-बीन और न्यायाधीश जितनी तटस्थताके लिये बहुमान उत्पन्न हुए बिना नहीं रहा होगा। कितने ही जैनसंघसेवक जो शासनहितके पक्के रंगसे रंगे हुए हैं उनमें पंडित जुगलकिशोरजीका नाम भी अग्रस्थान धारण करता है। जैन शास्त्रीय और ऐतिहासिक साहित्यके संशोधनमें इन्होंने अपना उत्तम योग प्रदान किया है। परन्तु सबसे महत्वकी बात तो यही है कि अंतरंगके संतोष सिवाय समाज तरफकी कीर्ति या वाहवाहीकी इन्होंने कभी भी परवा नहीं की तथा समाजके नेताओंमें स्थान प्राप्त करने और उन्हें रिझानेकी भी इनमें वासना नहीं रही। इनका इक्यावन हज़ार रुपयोंका दान वस्तुतः सर्वस्व समर्पण ही कहा जाता है। बड़े उद्योगपति या सट्टाके खिलाड़ी ही ऐसा दान दे सकते हैं इस मान्यताको पंडितजीने दूषित ठहरा दिया है। जो लाखों कमाते हैं और समाज-सेवामें हजारोंका दान करते हैं, वे आदरके योग्य हैं परन्तु जिन्होंने बूंद बूंद संग्रह किया है और दूसरी रीतिसे भी संघ और शासनकी सेवा करते रहते हैं उनका इस प्रकारका सर्वस्व दान अत्यन्त मूल्यवान ठहरता है। श्री मुख्तारजीने जो सुंदर समीक्षाएँ और संशोधन जैन समाजको विरासतमें दिये हैं उनकी कीमत तो विद्वान ही आंकेंगे। उनके इस दानका गौरव तो सामान्य पाठक और श्रोता भी कर सकेंगे।

वीरसेवामन्दिरका उद्देश्य तथा व्यवस्था प्रायः प्रसिद्ध है। यह संस्था यदि अधिक प्राणवान बने तो जैनसमाजके लिये भारी उपकारक बने, इतना ही नहीं किन्तु एक नई ही दिशाका सूचन करे।"

[१७—५—४२ के सम्पादकीय अग्रनोटका अनुवाद]

सम्मान-समारोह का विवरण

(ले—श्री एक पत्रकार)

जब पहले पहल श्री जुगलकिशोर सम्मान-समिति की स्थापनाका समाचार जनताके सामने आया और ५ दिसम्बरको होनेवाले सम्मान समारोहकी चर्चा आरम्भ हुई, तो समाजके अनेक 'बुद्धिमान और समझदार' व्यक्तियोंने कुछ इस ढंगकी आलोचना की, जैसे यह कोई असम्भव कल्पना हो, बेतुकी उड़ान हो और मजनुओंका अखाड़ा हो। इसके बाद वह सतह आई, जब लोगोंने सुना कि भारत बैंकके मैनेजिंग डायरेक्टर और प्रसिद्ध व्यापारशास्त्री श्री राजेन्द्रकुमारजी इस उत्सवका सभापतित्व करने आ रहे हैं और उन्होंने इस उत्सव की महानताकी एक झांकी अपने मनमें ली। पत्रोंमें तुरन्त छपा कि भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्की मीटिंग भी उस अवसर पर बुलाई गई है और अनेक विद्वान पधार रहे हैं, तो उन बुद्धिके स्तूपोंने भी मान लिया कि हां, यह कुछ होरहा है और श्रद्धालु जनतामें तो उत्साहकी एक लहर ही आगई। जहां मैं गया, मैंने अनुभव किया कि लोग आकुलतासे ५ दिसम्बरकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उस दिन वे कुछ नई बात सुनने, नया दृश्य देखनेको उत्सुक थे।

५ दिसम्बर : सहारनपुरके सार्वजनिक जीवनका एक जागृति-पर्व !

उत्सवका आरम्भ ५ दिसम्बरको प्रातः १० बजे हुआ, जब सेकसरिया पारितोषिक विजेत्री श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैन वीरसेवामन्दिर सरसावा पहुँची और उन्होंने तिलक, अक्षत, नारियल और मालासे श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तारका सत्कार किया और उन्हें सहारनपुर चलनेका समितिकी ओरसे निमन्त्रण दिया।



श्री बा० लालचन्दजी जैन, रोहतक

१२॥ बजेकी गाड़ीसे समारोहके सभापति श्री राजेन्द्रकुमारजी पधारे। समितिके सदस्यों और नगरके प्रमुख पुरुषोंने स्टेशन पर उनका पुष्पहारोंसे स्वागत किया। स्टेशनके बाहर जैन हाईस्कूलका बैण्ड बज रहा था। द्वार पर हाईस्कूलके स्काउटोंने सभापतिको 'गार्ड आफ आनर' दिया। इस समयका दृश्य अत्यन्त भव्य था। समितिके सदस्योंसे सभापतिका परिचय कराया गया।

चार घोड़ोंकी गाड़ीमें सभापतिजी थे और दूसरी गाड़ियों एवं कारोंमें दूसरे अतिथि थे। सब लोग स्टेशन से लाला ऋषभसैनजीकी कोठी पर मुख्तार महोदयके स्वागतार्थ पहुँचे। श्री राजेन्द्रकुमारजी, और दूसरे अतिथियोंके साथ समितिके सदस्योंने मुख्तार साहबका मालाओंसे स्वागत किया। राजेन्द्रकुमारजी जिस श्रद्धाभावमें विभोर हो, पण्डित जीसे मिले, उसने सारे वातावरणको श्रद्धामें अभिषिक्त कर दिया। बैण्ड बज रहा था और उसकी स्वर-माधुरीमें नहायेसे सब लोग खड़े थे। इस उत्सवका यह एक स्वर्गीय दृश्य था। सभापतिजी मुख्तार महोदयको साथ लेकर स्वागताध्यक्षके भवनमें चले गये और शेष प्रमुख अतिथियोंने यहीं ला० ऋषभसैनके निमन्त्रण पर भोजन किया।

भोजनके समयका एक संस्मरण उल्लेखनीय है।



राय साहब श्री प्रद्युम्नकुमार जी

स्वागताध्यक्ष



श्री विशालचन्द्र जी की टी-पार्टी का एक दृश्य
बीच में मुख्तार महोदय और श्री बाबू राजेन्द्रकुमार जी बैठे हैं।
एक ओर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन श्री शाहनज़र हुसैन
दूसरी ओर श्री जुगमन्दरदास जी ऑनरेरी मजिस्ट्रेट और
मौहद खाँ साबरी ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बैठे हैं



श्रीमती चन्द्रवंती ऋषभसैन जैन

वीरसेवामन्दिरमें ५ दिसम्बर को प्रातःकाल मुख्तार महोदय का
तिलक कर उत्सव का आरम्भ कर रही हैं



श्री विशालचन्द्र जैन

स्पेशल मजिस्ट्रेट

मास्टर उग्रसैनजी और प्रभाकरजी आदि रसोईघर की ओर बैठे थे और बड़ौतके ला० जगदीशप्रसादजी रईस पंक्तिके अन्तिम छोरपर थे। रसोईमेंसे जो पूरियाँ आतीं, वे दूसरे सिरे तक न पहुँच पातीं, इस पर प्रभाकर जीने मास्टर उग्रसैनजीसे कहा कि भाई जगदीशप्रसादजी इस समय पिछड़ी जातिके प्रतीक हैं। जगदीशप्रसादजी एक बार तो सकपाये, पर उनकी प्रतिभा शीघ्र ही जाग उठी और वे बोले—"साहब, सन्तोषका फल मीठा होता है, यह धर्मशास्त्रोंमें लिखा है!" इसी समय शारदाकुमारीने, वक्तकी बात, फलोंकी तश्तरियाँ लाकर ठीक ला० जगदीशप्रसादजीके सामने लगादीं। एक खास मुद्रामें प्रभाकर जीकी ओर देखकर वे बोले—'कहिये, जनाब कैसी रही ?" और सब लोग इतने जोरसे हंसे कि भवन गूंज गया। वास्तविक बात यह है कि उत्सवका वातावरण इतना उल्लास पूर्ण था कि प्रत्येक सम्बन्धित मनुष्य एक नया जीवन अनुभव कर रहा था। भोजनके उपरान्त दो बजेसे भारतीय दिगम्बर जैनपरिषद्की कार्यकारिणीका अधिवेशन हुआ। इसके तुरन्त बाद इस प्रदेशके कार्यकर्ताओंकी मीटिंग हुई और सहारनपुरको परिषद्का केन्द्र बनाया गया जिस के संयोजक बा० दिगम्बरप्रसाद मुख्तार और बा० मंगल किरण जी जैन चुने गये। इसके बाद राजेन्द्रकुमारजीने श्रीमती चन्द्रवती ऋषभ सैन जैनसे सामाजिक विषयोंपर बातचीत की।

४ बजे व्यापार-मण्डलमें श्री राजेन्द्रकुमारजीको अभिनन्दन पत्र दिया गया। उसके उत्तरमें बैंकोंका जनताके साथ क्या सम्बन्ध है, इसपर वे बोले। ४॥ बजे श्री ला० विशालचन्द जैन, स्पेशल मैजिष्ट्रेटके यहाँ वे टी पार्टीमें गये। यह राजेन्द्रकुमारजी और मुख्तार महोदयके सम्मानमें दी गई थी। इसमें जिले के श्री लाहड़ी पुलिससुपरिन्टेन्डेण्ट जैसे अधिकारी खान बहादुर श्री शाहनजर हुसैन चेयरमैन डिष्ट्रिक्ट बोर्ड जैसे प्रमुख पुरुष और विशिष्ट अतिथि पधारे थे। श्री ला० अर्हद्दासजीने सायंकालको सब अतिथियोंको एक शानदार प्रीतिभोज दिया।

रातमें ७॥ बजे जैनहाईस्कूलमें बने विशाल पण्डाल में सम्मान समारोह आरम्भ हुआ। खतौलीके श्री बाबूलालजीने मंगलाचरण किया और श्री रविचन्द्रजी बिजनौरने 'मेरी भावना' का सामूहिक पाठ किया। स्वागताध्यक्ष श्री लाला प्रद्युम्नकुमारजीने अपना भाषण पढ़ा, जो अन्यत्र प्रकाशित है। सभापतिने अपना आसन ग्रहण किया और उन्होंने श्रीमान् मुख्तार साहबको आसन दिया। दोनोंको मालाएं पहनाई गईं। राजेन्द्रकुमारजीने अपना मौखिक भाषण दिया, जो अन्यत्र प्रकाशित है। श्री कौशल प्रसादजीने बाहरसे आये सन्देश पढ़े। और प्रो० गयाप्रसादजी शुक्लने स्वागतगान पढ़ा।

श्री अर्हद्दासजीने अभिनन्दनपत्र पढ़ा और श्री मुख्तार महोदयको भेंट किया सर्व श्री लालचन्दजी रोहतक, बा० रतनलालजी बिजनौर, श्रीमती लेखवती जी अम्बाला, पं० राजेन्द्रकुमारजी मथुरा, जगदीश प्रसादजी बड़ौत, पं० माणिकचन्द्रजी सहारनपुर, बालप्रोफेसर मोहनजी, पं० निद्धामलजी देहरादून, पं० चन्द्रशेखर शास्त्री देहलीने अपनी शुभकामनाएँ प्रकट कीं और पं० मामराज शर्मा 'हर्षित', अखिलेश 'ध्रुव' और ओमप्रकाशजीने अपनी २ कविताएँ पढ़ीं। अन्तमें मुख्तार साहबने इस सम्मानका उत्तर दिया जो अन्यत्र प्रकाशित है।

दूसरे दिन ६ सितम्बरको उसी पण्डालमें सम्मान समारोहका दूसरा अधिवेशन हुआ। आजके सभापति रायबहादुर ला० हुलासराय थे। उनके अनुरोधपर नहटौरके रिटायर्ड डिप्टी कलक्टर श्री नन्दकिशोरजी रईस कार्यका संचालन कर रहे थे। श्री पं० देवचन्द शर्मा ने मंगलाचरण किया। मुख्तार साहब के कार्यपर श्री प्रभाकर जी का एक भाषण हुआ और अन्तमें प्रो० सत्यपालजी और बाल प्रोफेसर मोहनजीने योगिक क्रियाओंका प्रदर्शन किया। जिसका जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा।

अन्तमें श्री कौशलप्रसादजीने सबको धन्यवाद दिया और उत्सव सानन्द समाप्त हुआ।

———

हमारे सहयोगी

विद्वर श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तारके सम्मान समारोह को सफल करनेके लिये जो समिति बनाई गई, उसमें निम्नलिखित सदस्य थे—

श्री प्रद्युम्नकुमार रायसाहब
श्री विशालचन्द, स्पेशल मैजिस्ट्रेट
श्री जुगमन्दरदास, आनरेरी मैजिस्ट्रेट
श्री दीवान जुगलकिशोर, चेयरमैन(शिक्षा)डि० बोर्ड
श्री अर्हद्दास जैन, रईस
श्री सेठ सेवकराम खेमका
श्री मामराज 'हर्षित'
श्री ओमप्रकाश मित्तल
श्री जम्बूप्रसाद मुख्तार
श्री जयप्रकाश गोटेवाले
श्री दिगम्बरप्रसाद मुख्तार
श्री रूड़ामल डेरेवाले
श्री दीपचन्द रावलपिण्डी वाले
श्री मंगलकिरण जैन
श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

रायसाहब लाला प्रद्युम्नकुमारजी सहारनपुर ही नहीं इस प्रान्तके प्रमुख जमींदारोंमें हैं, फिर भी अत्यन्त सरल, नम्र नागरिक हैं। उनकी सच्चरित्रताकी चर्चा और प्रशंसा उनके विरोधी भी करते हैं। पूर्ण योग्यतासे उन्होंने अपनी स्टेटकी व्यवस्थाकी है। वे स्वयं विद्वान हैं विद्वानों का मान करना जानते हैं। उनमें अपने तेजस्वी पिता स्व० ला० जम्बूप्रसादजी-सी महत्वाकांक्षाएं भी हैं, पर वैसी सामाजिकता नहीं है। इस उत्सवकी सफलतामें उनके सहयोगका महत्वपूर्ण भाग है। हर समय और हरेक काममें वे साथ रहे और उत्सवको उन्होंने बिलकुल अपना ही ही काम समझा।

श्री विशालचन्दजी बी० ए०, एल० बी० स्पेशल मैजिस्ट्रेट हमारे ज़िलेकी उभरती हुई शक्ति हैं। उनमें गजबकी सूझ है, संगठन शक्ति है, व्यवस्था है। उनके पास साधन हैं, उन साधनोंका उपयोग करनेकी योग्यता है, उनमें एक विशेष प्रकारका आकर्षण है और वे लोगोंकी आशाके केन्द्र बनते जा रहे हैं। सहारनपुर जिलेमें एक प्रभावशाली धनी हिन्दू-मुखकी कमी बहुत दिनसे खटकती रही है, यदि विशालचन्दजी अपने कानोंको कमजोर और आंखोंको तेज़ रख सकें, तो बहुत शीघ्र उस कमीकी पूर्ति कर सकेंगे, यह आशा है। मुख्तार महोदय और बाबू राजेन्द्रकुमारजीके सम्मानमें आपने जो टी पार्टी दी, वह *आपके प्रभाव और व्यवस्था दोनोंका सुन्दर उदाहरण थी।*

श्री दीवान जुगलकिशोरजी जिलेके एक प्रभाव-



शाली पुरुष और बोर्डोंकी राजनीतिके पुराने खिलाड़ी हैं।

आपके साथ होनेका अर्थ है कहीं भी विरोध न होना समिति के संगठित होनेमें जो सरलता हुई उसमें आपका प्रभाव था। दीवानजी, उन लोगोंमें हैं, जो किसी कामको आरम्भ करके फिर सफल किये बिना नहीं छोड़ते

श्री रूढ़ामलजी डेरे वाले डेरोंके प्रसिद्ध व्यापारी हैं और इस प्रकार प्रत्येक उत्सवका आरम्भ ही उनके सहयोग से होता है आप वृद्ध हैं, पर बालकोंकी तरह सरल, हंसमुख और हरेक सामाजिक कार्यके लिये प्रस्तुत। उत्सव की सफलताके लिये आपने रात-दिन प्रयत्न किया और बिना एक पैसा लिये, पण्डाल निर्माण और प्रकाशकी पूरी व्यवस्था आपने की। इसके बाद भी समितिको आप दान देनेके लिये बराबर उत्सुक रहे।

श्री रूपचन्दजी एम० ए० आप जम्बू जैन हाईस्कूल



के हेडमास्टर हैं और इस संस्थाके गठन और विस्तारका जो वैभव आज हम देखते हैं, उसमें आपका बहुत हाथ है। सरल स्वभाव, अत्यन्त सज्जन और परिश्रमी। इस उत्सवको उन्होंने अपनी निजी चीज़ समझी और उसकी सफलताके लिये सब कुछ किया और इस तरह किया कि करते मालूम न हों—मूक सेवक। श्री भाई जिनेश्वरदासजी श्री नेमचन्दजी वकील और श्री रायचन्दजी मुख्तारका सहयोग कदम कदम पर समितिको मिला। ऐसा सहयोग कि उसके सहारे मार्गके विघ्नोंको सरल करनेमें समितिको महत्वपूर्ण सफलता मिली।

श्री बा० मंगलकिरणजी और दिगम्बरप्रसाद मुख्तार उत्साही कार्यकर्ता हैं। पूछ पूछ कर उन्होंने जिम्मेदारियाँ लीं, उन्हें निभाया और उत्सवको शानदार बनानेमें पूरा प्रयत्न किया।

समितिके दूसरे सदस्योंने भी, जो वे कर सकते थे, करनेमें कसर न रक्खी और उत्सवको जो सफलता मिली, यह सब उन्हींके परिश्रमका फल है, पर कुछ ऐसे मित्रोंका सहयोग हमें मिला, जो बाकायदा समितिके सदस्य न थे, पर जिनकी चिन्ताएं और सहयोग दोनोंने इस महोत्सवको सफलता प्रदान की।

श्री अर्हद्दास जैन रईस शहरके प्रतिष्ठित पुरुष हैं। संस्कृतके पण्डित, जैनसाहित्यके गम्भीर अध्येता और सरल हृदय, सेवा परायण। उत्सवका एक एक कण आपकी सद्भावनाओंसे अभिषिक्त था और उसकी सफलताके लिये आपने पूर्ण प्रयत्न किया, बराबर चिन्तित रहे। शामके समय सारे अतिथियोंके भोजनका उत्तरदायित्व लेकर आपने समितिको निश्चिन्त कर दिया।

स्काउट मास्टर श्री चन्द्रभानजीका सहयोग बहुत बहुमूल्य था। अपने स्काउटोंके साथ उन्होंने जहां तहां सेवाएं कीं। काम छोटा हो या बड़ा, सबको हंस कर किया वर्दीके स्काऊट तो बहुत होते हैं, उन्हें हमने जीवनका स्काउट पाया।

श्री मोतीलाल गर्ग स्थानीय समाजके उद्योगी रत्न हैं। काम करना तो उनका स्वभाव ही बन गया है रोगी होते हुए भी, चिकित्सा छोड़ कर इस उत्सवके लिये आप बाहरसे आये और इसे सफल बनानेमें अपना पूरा भाग अदा किया।

श्री लाला ऋषभसैन जैन बैंक व्यवसायके विशेषज्ञ और हिन्दीके गार्हस्थिक समस्याओंके विचार पूर्ण लेखक हैं। परामर्श और सहयोग दोनोंसे उन्होंने समितिको सहयोग दिया और प्रमुख अतिथियोंके निवास और भोजन तथा वर्किंग कमेटी और धर्कस मीटिंगकी व्यवस्था अपने यहां करके, उन्होंने समितिका बहुत बड़ा भार अपने सिर ले लिया।

श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैनका सहयोग बहुत महत्वपूर्ण रहा। उत्सवका प्रारम्भ ही वीरसेवामन्दिरसे उन्होंने किया। अतिथियोंकी व्यवस्थामें भाग लेकर, संदेश और शुभकामनाओंके संग्रहमें योगदे और इस अंकके संपादनमें भी श्रमदान कर महोत्सवकी सफलतामें उन्होंने पूरा भाग लिया। वे जैन समाजकी विभूति हैं और जैसा कि श्री राजेन्द्रकुमार जीने अपनी बातचीतमें कहा जैन समाजके लिये वे गर्वकी चीज़ हैं।

श्री मंगलदेवजी शास्त्री ने देहलीसे पधारकर उत्सव के कार्योंमें पूरा योग दिया। वे हिन्दीके विद्वान, योग्य पत्रकार और उत्साही कार्यकर्ता हैं, इस लिये विभिन्न दिशाओंमें उनकी सेवाएं उत्सवको मिलीं।

श्री पं० शंकरलालजी तो इसी कामके लिये सप्ताह पूर्व मथुरासे पधारे और छोटेसे बड़े तक सभी काम इतनी तल्लीनतासे करते रहे कि उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है। सच तो यह है कि मेहमान होकर भी उन्होंने अपने प्रेमसे मेज़बानी पर कब्जा कर लिया था।

श्री प्रकाशचन्द्र शास्त्री, भारत आयुर्वैदिक केमीकल्स लि० के प्रधान चिकित्सक और समाजके उत्साही कार्यकर्ता हैं। रात-दिन उन्होंने इस उत्सवके लिये प्रयत्न किया। वह प्रयत्न इतना मूक था कि उन्हें उसमें खपजाना पड़ा— उत्सवके आनन्दसे भी उन्हें वंचित होना पड़ा। उनके कार्यको हम निष्काम कह सकते हैं, जिन्होंने दिया ही दिया, पाया कुछ नहीं, सिवाय उस आत्मिक आनन्दके, जो ऐसे ही लोगोंके लिये निर्मित हुआ है।

श्री अखिलेश 'ध्रुव' भी एक कर्मठ युवक है, उसकी दौड़ धूप समितिका बल बन कर रही।

स्टार प्रेसके श्री घनश्यामसिंह और श्रीवास्तव प्रेसके श्री श्यामसुन्दरजी एवं काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' का उदार सहयोग समितिको न मिलता, तो उसके प्रकाशनोंकी यह सुन्दर व्यवस्था निश्चय ही न रह पाती।

और उस कर्मठ साथीके लिये यहाँ क्या कहा जाये, जिसके बिना यह प्रस्ताव एक कल्पना ही रह जाती और (परिषदके मुखपत्र 'वीर' के 'सम्पादकीय' की भाषामें) "जो सारे कार्यका केन्द्र बन कर रहा, जिसने दिनको दिन रातको रात न समझा, अपनी पत्नीकी चिन्ताजनक रोग दशा और भाईके विवाहकी परवाह न कर जो काममें जुटा रहा और जिसने न पदकी चिन्ता की, न प्रतिष्ठाकी। हमारा आशय अपनी समाजके युवक रत्न, कर्मठ श्री कौशलप्रसाद जैन मैनेजिंग डायरैक्टर भारत आयुर्वैदिक केमीकल्स लि० से हैं। वे जैन समाजके तेजस्वी कार्यकर्ता हैं। लोगोंने अनेक-बार अनुभव किया है कि उनमें एक बिजली है और सहारनपुर जैसे स्थानमें यह सम्मान-समारोह सफल कर ले जाना उन्हींकी शक्तिका फल था। कौशलप्रसादजीके कार्यने यह सिद्ध कर दिया है कि समाजकी वास्तविक शक्ति उसके कार्यकर्ता हैं और यदि हम अपने समाजका नवनिर्माण चाहें, तो हमें सबसे पहले कार्यकर्ताओंके संगठन पर ध्यान देना चाहिये।"

इनके अतिरिक्त सैंकड़ों भाइयों और बहनोंका वह सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो हार्दिक शुभकामनाओं, मूक शुभ भावनाओंके रूपमें मिला। वह महोत्सव इन्हीं लोगोंका था, इन्होंने ही उसे सफल किया, हम और क्या कहें?

स्वागत भाषण

(स्वागताध्यक्ष रा० सा० श्री ला० प्रद्युम्नकुमारजी द्वारा)

माननीय महानुभावो !

आज इस सम्मान-समारोह में एकत्रित हुए आप सब बन्धुओंका स्वागत करते हुए मुझे महान हर्ष हो रहा है। प्रत्येक मनुष्यकी तरह मेरे जीवनमें भी अनेक आनन्दके अवसर आये हैं, पर यह उन सबमें अपूर्व है। यह मेरे साथियोंकी अनुकम्पा ही है कि उन्होंने यह सौभाग्य मुझे दिया कि मैं उन सबकी ओरसे इस पवित्र मण्डपमें आप सबका स्वागत करूँ। यह कार्य आनंद और हर्षका है, पर आप मुझे क्षमा करें, सुविधाका नहीं है; क्योंकि विद्वानोंका स्वागत करने के लिये भी विद्वत्ताकी आवश्यकता है और मैं उससे उतना ही दूर हूँ, जितना आप अविद्यासे दूर हैं, पर बड़े लोग अपने छोटों की बालक्रीड़ाओंसे भी आनन्दित होते हैं, यही सोचकर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाभावनाके साथ यहाँ आपका स्वागत करता हूँ और यह अनुभव करता हूँ कि आज हमारे इस नगरका बड़ा ही भाग्योदय है कि आप कृपा करके पधारे। आप जैसे माननीय अतिथियोंके स्वागतके लिये हमें जो व्यवस्था करनी थी, वह अनेक कारणों से हम न कर पाये, और इस प्रकार आपको यहाँ असुविधाओंका होना सहज ही है, पर इस उत्सव के उद्देश्यकी छायामें मैं आशा करता हूँ कि आप उनपर विशेष ध्यान न देकर हमारी भावनापर ही ध्यान देंगे।

हमारा उद्देश्य—

आप और हम सब यहां एकत्रित हुए हैं, यह आप हमारी विज्ञप्तियोंमें पढ़ चुके हैं। आपकी उपस्थिति से यह भी सिद्ध है कि उसे आपका अनुमोदन प्राप्त है, फिर भी मैं उसपर दो शब्द कहना चाहता हूँ। यहां हम एक ऐसे विद्वानका सम्मान करने के लिये एकत्रित हुए हैं, जिसने अपना सारा जीवन जैन साहित्य और इतिहास की खोजमें लगाया और अपने जीवनकी सारी सम्पदा भी अन्तमें उसी उद्देश्यके लिये अर्पित करदी। ऐसे मनुष्य की मान प्रतिष्ठा करना प्रत्येक समाज और मनुष्यका कर्तव्य है, पर इतनेसे ही हम आजके उत्सवका महत्व नहीं समझ सकते। अपने एक साधक विद्वानका सम्मान करना, बस इतने तक ही आजके उत्सवकी सीमा नहीं है। उस सम्माननीय विद्वानने क्यों अपना जीवन इस कार्यमें लगाया, यह एक प्रश्न हमारे सामने आता है। उनकी इस धुनका, जिसने उन्हें संसार की उन सब लिप्साओंसे दूर रक्खा, जिनमें हम रात दिन फँसे रहते हैं, आखीर आधार क्या है? उन्होंने अनुभव किया कि जैन साहित्य में ऐसे अनमोल रत्न हैं, जो संसारको स्वर्ग-सा सुखमय, जीवनको महान और राष्ट्र को उन्नत बनाने वाले हैं और साथ ही उन्होने यह भी देखा कि संसार उन रत्नोंको भूल रहा है, उन रत्नोंकी उपेक्षा करके कांचका शृङ्गार कर रहा है। उन्हें यह देखकर और भी चोट लगी कि दीर्घकालकी उपेक्षाके कारण कहीं कहीं उन अनमोल साहित्य रत्नों की शृंखला नष्ट हो चली है। उन्होंने अपने मनमें संकल्प किया कि मैं उन्हें झाड़-पोंछकर संसारके सामने रक्खूंगा, जिससे संसार इनकी सुन्दरता परखे, इनका मोल जाने और इनसे लाभ उठा कर सुखी हो।

हम इस भावना को समझलें, तो फिर मतभेदकी भी कहीं गुंजायश नहीं रहती, क्योंकि अंगूठीमें पुखराज लगे या हीरा और उसे गोल रखना ठीक है या चकोर, ये तो ऊँचे कलाकारोंके विवाद-विषय हैं। यह तो सभी मानते हैं और यही मुख्य बात है कि रत्न सम्मान की वस्तु हैं, उपेक्षा की नहीं। आज जब हम इस सम्मान-महोत्सवमें सम्मिलित हुए हैं, तो

जैसे मूकभावसे हमने यह घोषणा की है कि हम सच भी यही चाहते हैं कि वे अनमोल रत्न संसारके गले का हार बनें, यों ही उपेक्षाके कारण नष्ट न हों। उनके द्वारा हममें इस भावना का जागरण हुआ यही उनका सच्चा सम्मान है और उन विद्वान महानुभाव श्रीमान् माननीय पं० जुगलकिशोर मुख्तार महोदयके प्रति अपना यही सम्मान, भावनाओंका यही अभिनन्दन प्रकट करनेके लिये हम यहां एकत्रित हुए हैं।

मुख्तार साहब का कार्य—

पिछले ३०–३५ वर्षों में पण्डित जुगलकिशोरजी ने जो कार्य किया, वह बहुत बड़ा है। उन्हें अपने कार्यमें जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा वे साधारण नहीं हैं। आज तो जैन साहित्यका बहुत सा प्रकाशन हो गया है, अनेक भण्डारों की सूचियां बन गई है, और यह पता लगाना सरल हो गया है कि कौन वस्तु कहां है, पर तब बहुत कुछ अन्धकारमें था और यह अन्धकार इतना घना था कि इसे भेद कर, भीतरका रहस्य पाना दुर्लभ था। वे अपनी अनथक शक्ति के साथ इस क्षेत्र में आये और आज जो चारों ओर इस दिशामें प्रकाश हमें दिखाई देता है उसके निर्माणकी नींव रक्खी। आज उसका फल, एक बहुमूल्य धरोहरके रूपमें हमारे सामने है।

विचारकों—विद्वानों ने ही सदैव जातियोंके जीवनका निर्माण और उसकी रक्षा की है। जो कार्य करनेमें बड़ी बड़ी राजसत्ताएँ असफल रहीं, वे कार्य विचारकोंने किये हैं। यही कारण है कि सदा राजसत्ता और धनवत्ता दोनोंने ही विचारकोंके चरणोंमें अपना मस्तक झुकाया है। कहते हैं एक बार महान सम्राट सिकन्दर और विचारक शिरोमणि अरस्तू साथ साथ नाँवपर घूम रहे थे। नाव खतरेमें पड़गई, तो सिकन्दर इधर उधर देखने लगे। महात्मा अरस्तू ने पूछा—सिकन्दर, किस चिन्तामें हैं? तो उसने उत्तर दिया कि महाराज, मैं यह सोच रहा हूँ कि मेरे डूबने की तो कोई बात नहीं, पर किसी तरह आप का जीवन बचना चाहिये। अरस्तू ने कहा—मैं एक फकीर हूँ, मेरे जीवनका क्या मूल्य? तुम सम्राट हो, जीवन तो तुम्हारा बचना चाहिये। इस पर सम्राट सिकन्दरने जो उत्तर दिया, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसने कहा—महाराज, आप जीवित रहे, तो मेरे जैसे कई सिकन्दरोंको फिरसे बना देंगे, पर मेरे जैसे हजार सिकन्दर भी रहें, तो वे मिलकर एक अरस्तू नहीं बना सकते!

सम्राट सिकन्दरका यह उत्तर विचारक विद्वानों का हमारे समाजके जीवनमें क्या महत्व है, उसपर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है और इस प्रकाशकी छाया में हम मुख्तार महोदयके कार्यका महत्व समझ सकते हैं।

हमारे कर्णधार—

अब तक मैंने जो कुछ निवेदन किया, उससे यह स्पष्ट है कि आजके उत्सवका एक विशेष महत्व है। इस प्रकारके उत्सव संसारकी सभी जीवित जातियां मनाया करती हैं। एक अंग्रेज विद्वानका कथन है कि जो जातियां अपने विद्वान विचारकोंका ठीक २ मान नहीं करतीं, उनका बुद्धि-विकास क्षीण हो जाता है; उसमें स्वप्नदर्शी प्रतिभाशालियोंका उत्पन्न होना बन्द हो जाता है और इस प्रकार धीरे २ वह जाति नष्ट हो जाती है।

कुछ उत्साही मित्रोंने यहाँ इस प्रकारके महत्वपूर्ण उत्सवकी योजना तो कर दी पर हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह था कि कर्णधार किसे चुनें, जिसका नेतृत्व इस आयोजनको यथोचित रूपमें सफल कर सके। हम सबका ध्यान श्रीमान् राजेन्द्रकुमारजीकी ओर गया और उनकी व्यस्तता एवं कार्योंके भारको देखते हुए भी हमने उनसे प्रार्थना की। उनकी यह कृपा है कि उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया और आज वे यहां हमारे मध्यमें हैं। उनके सम्बन्धमें कुछ कहना एक

शिष्टाचार ही है; क्योंकि भारत बीमा कम्पनीका नवनिर्माण और भारतबैंकका संचालन कर के वे जनताके हृदयों तक पहुंच गये हैं और देशके विद्वान और नेता उनकी प्रतिभाशीलता को आदरके साथ स्वीकार कर चुके हैं। श्रीमान् राजेन्द्रकुमारजी उन लोगोंमें हैं, हमारे राष्ट्र की उन विभूतियोंमें है, जिन पर सारे देशको गर्व है और जिन्होंने अपनी इस स्थितिका निर्माण अपनी प्रतिभा और पुरुषार्थ से स्वयं किया है।

आजके उत्सवके सभापतित्वके लिये, तो उनका नाम बहुत ही उपयुक्त है। मैंने ऊपर निवेदन किया था कि विचारक, जातियोंके जीवनकी रक्षा करते हैं और अब मैं कहना चाहता हूँ कि व्यावसायिक उस जीवनको दृढ़ बनाते हैं, इस प्रकार विचारक और व्यावसायिक हमारे जातीय जीवनके दो विशाल स्तम्भ हैं। इस प्रकार यह एक स्वर्ण संयोग है कि एक विचारक विद्वानके सम्मान महोत्सवका नेतृत्व एक व्यावसायिक नेता करें। व्यावसायिक नेतृत्वके साथ श्रीमान् राजेन्द्रकुमारजीकी समाज सेवाएं भी बहुमूल्य हैं और राष्ट्रभाषा हिन्दीके लिये भी उनकी शक्तियोंका सदा उपयोग हुआ है। मुझे आशा है कि उनकी संरक्षकता में यह महत्वपूर्ण उत्सव पूर्णतया सफल होगा और इससे साहित्यके रत्नोंकी खोजका पथ प्रशस्त होगा।

उपसंहार

मैंने आपका बहुत सा समय लिया, अब अन्तमें मैं फिर इस कृपाके लिये अपनी समितिकी ओर से आप का आभार मानते हुए आपका हार्दिक स्वागत करता हूँ और अपने सुयोग्य सभापति श्रीमान राजेन्द्र कुमारजीसे यह प्रार्थना कि वे कृपाकर अपना आसन ग्रहण करें और कार्यक्रमका संचालन कर श्रीमान् माननीय विद्वद्वर पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार महोदयके इस सम्मान महोत्सवको सफल कर हमें अनुगृहीत करें।

अभिनन्दन-पत्र

सेवा में—   श्रीमान् पं० जुगल किशोरजी मुख्तार महोदय

अधिष्ठाता वीरसेवा-मन्दिर,

सरसावा, (सहारनपुर) यू० पी०

हे श्रम-साधक !

आपकी ६७ वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में आयोजित इस सम्मान-महोत्सवमें उपस्थित हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। जैनसाहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वकी उलझी हुई गुत्थियोंको सुलझानेमें आपने अपनी जीवन-व्यापी गम्भीर साधना के द्वारा जो श्रम किया है और उससे जिन रत्नोंकी सृष्टि हुई है, वे हमारी इस पीढ़ी की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं और हमारा विश्वास है कि आने वाली पीढ़ी एक बहुमूल्य धरोहरके रूपमें उन्हें पा गौरवान्वित होगी।

हे आदर्श प्रणेता !

स्वार्थके मायाजालमें फंसे, धर्मभावनासे विमुख, राष्ट्रीय उत्तरदायित्वोंसे पराङ्मुख, जब अधिकांश मनुष्य धनसम्पदाकी चिन्तामें रात-दिन ग्रस्त हुए घूमते हैं, तब आपने अपना सारा जीवन साहित्य और इतिहासके अनुसंधान में लगाया और अपनी ५१००० हज़ार रुपयोंकी सम्पत्ति भी उसी कार्यके लिये उत्सर्ग करदी। हम मानते हैं कि इस रूपमें देशके प्रतिभाशाली, साधन सम्पन्न और उद्योगी युवकोंके सामने आपने एक सजीव आदर्शकी स्थापना की। हम एक आदर्श प्रणेताके रूपमें आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

हे अमर प्रतिभाके पुत्र !

असत्य अपनी सहचरी अन्धश्रद्धाका बल पा, सदैव सत्यका आवरण बननेमें सयत्न रहा है। हमारे साहित्य में भी संस्कृत-भक्ति एवं आचार्य-श्रद्धाकी छायामें इस प्रकारके अनेक आवरण इतने सुरूप एवं सुदृढ़ थे कि उन्हें सत्य न मानना, सत्यको चैलेंज समझा जाता था, इस दशामें अनर्थक शक्ति और अपार साहसके साथ उन आवरणोंको भेद कर सत्यके आलोकका प्रकाशन आपकी ही प्रतिभाका कार्य था। हे अमर प्रतिभाके पुत्र ! हम आपका अभिनन्दन करते हैं।

हे भव्य-भावनाओंके भण्डार !

आपकी प्रखर भावनाओंने जहां धर्म-साहित्यमें परीक्षा प्रधानताकी सृष्टि की, स्वामी समन्तभद्रके मूल इतिहासका अनुसन्धान किया, भगवान महावीरके काल निर्णयकी गुत्थियां सुलझाईं, पूज्य तीर्थंकरों एवं जैनाचार्योंके शासन-भेदोंकी खोज की, सामाजिक परम्पराओंके मूलकी छानबीन कर क्रम-विकासका प्रदर्शन किया, 'अनेकान्त' के द्वारा निरन्तर जीवन साहित्यकी रसवर्षा की और वीर शासनकी पुण्य तिथिका अनुसन्धान किया।

वहां आपकी कोमल भावनाओंने हमें 'मेरी भावना' का उपहार दिया। जिसने जाने कितने अशान्त हृदयोंको शांति दी, हतोत्साहितोंमें नव प्रेरणा दी, सरसताका संचार किया। हे भव्य-भावनाओंके भण्डार, हम आपका अभिनन्दन करते हैं।

हे वृद्ध-युवक युगवीर !

इस बुढ़ापेमें भी आपमें युवकों सा उत्साह एवं स्फुरणा है और रात-दिन आप अपने अनुसन्धानमें लगे रहते हैं। हे वृद्धत्व और यौवनके दिव्य संगम ! इस शुभाशाके साथ कि आपका यह अध्यवसाय निर्विघ्न दशाब्दियों तक चलता रहे, हम आपका अभिनन्दन करते हैं।

हम हैं आपके अपने ही—

सदस्यगण,

श्री जुगलकिशोर मुख्तार सम्मान समिति

सहारनपुर

५ दिसम्बर ४३

हमारे माननीय अतिथि

श्री० बा० रतनलालजी जैन बिजनौर



परिषद्के मजनूं, जेलमें और जेलसे बाहर, चिन्तामें हों, प्रसन्नतामें हों, परिषद्के लिये आकुल। परिषद् उनके लिये एक संस्था नहीं, तिरंगे झंडेकी तरह परिषद् उनके लिये समाजके नवनिर्माणका प्रतीक है। परिषद्के प्रति उनके गम्भीर प्रेमका यही रहस्य है। राष्ट्रके परखे हुए सिपाही, जैन साहित्यके गम्भीर अध्येता और जैनधर्मके मूकसेवक। एक शब्द में ससियर साथी। जीवनके हरेक क्षेत्रमें विश्वसनीय।

बाबू लालचन्द, रोहतक

जिसने पं० जुगलकिशोरजीको बृद्ध कहा, उसीसे लड़नेको तैयार—थकानके शत्रु, हर समय संघर्षके लिये प्रस्तुत, पर अत्यन्त सुलझा हुआ दिमाग—समय पर मीठे और समय पर करारे, जैनयुवकोंकी उमीद, परिषद्के बड़े समयके साथी और कर्णधार, कार्यकर्ताओंमें कार्यकर्ता और नेताओंमें नेता—प्यारके लायक, मानके लायक, सफल वकील—कोर्टमें भी और कान्फ्रेंसोंमें भी।

श्रीमती लेखवतीजी, अम्बाला

जैन समाजकी विभूति, पंजाबके सार्वजनिक जीवनका रत्न और नारीकी क्षमताका एक उदाहरण। बोलनेमें प्रभावशाली, लिखनेमें सावधान, सभाके कार्योंमें चतुर, गृहके निर्माणमें प्रवीण और समाज की सेवामें उत्सुक, जिसमें भारतकी सरलता और पश्चिमकी प्रगति।

पं० राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा

एक शब्दमें गतिशील युवा। कभी अम्बाला थे, अब मथुरा हैं। उनकी संस्थाका नाम पहले शास्त्रार्थ संघ था, अब जैन संघ है। परिस्थितियोंके पारखी, युगदर्शक, युगचेता और युगसहचर। अपने ही घुटनों के बलपर उभरकर ऊँचे आसन पर आसीन, कर्मठ कार्यकर्ता भी और विद्वान भी, संघर्षशील, पर समन्वयी भी, विरोधियोंके लिये वज्र और साथियोंके लिये सहृदय।

स्वामी कर्मानन्दजी, देहली

आर्यसमाजी अखाड़ेके पुराने खिलाड़ी, वैदिक साहित्यके गम्भीर अध्येता, जैनधर्मपर प्राणपनसे लट्टू, बेनजीर वक्ता, अपने ढंगके लेखक, जैन साहित्यके पारखी, एक शक्तिशाली व्यक्ति, जिसे जैन-समाजने पाया तो सही, पर पहचाना नहीं; जैन समाजके लिये गौरवकी चीज, पर जिसे खोकर ही शायद जिसका मूल्य वह जाने!

प्रो० गयाप्रसादजी शुक्ल, देहरादून

हिन्दीके विद्वान, साहित्यिक 'वादों'के अधिकारी अध्येता, सफल अध्यापक, हिन्दीके धुनी, नाम और पद दोनोंके प्रति निस्पृह, सरल सरस और मित्रोंके मित्र, मिलकर जिन्हें भूलना असम्भव!

ला० जगदीशप्रसादजी एम० ए०, बड़ौत

धनी होकर भी विद्वान और विद्वान-धनी होकर भी सरल। प्रतिभाशाली और सहृदय, मैत्रीकी छाप

छोड़नेवाले युवक, जिनमें सिपाहीगीरीकी हौंस—आपने मुख्तार साहबको युवकोंकी ओरसे ही श्रद्धाँजलि दी—अपनी जगह बहुत खूब—सार्वजनिक जिम्मेदारियोंके लायक।

मास्टर उग्रसैन जी, देहली



काम, काम, काम, बस सोते जोते जागते जिसे कामकी धुन। परिषदका रीढ़ाबोर्ड, उनकी धुनका मन्दिर है और अब यह सौभाग्यकी बात है कि परिषदको उनकी रातदिनकी सेवाएँ प्राप्त हैं। स्वभाव सरल, जो मिले, उसे ही उलझाकर समाजके काममें लगानेको उत्सुक। उम्रमें बुजुर्ग, नाममें मास्टरजी, पर हरेकसे कामकी बात सीखनेको तैयार!

श्री महावीरप्रसादजी, सरधना

बी० ए०, एल-एल० बी० होकर भी तर्कहीन—श्रद्धालु, सरल होकर भी व्यापारी और व्यापारी होकर भी साहित्यिक—हिन्दीकी अनेक श्रेष्ठ कहानियोंके प्रणेता। अपनी जिम्मेदारियोंके प्रति सदैव सावधान और गिरफ्तार करके भी सार्वजनिक जीवनमें लाने के लायक।

ला० रघुवीरसिंह सर्राफ़, देहली

परिषदके मुखपत्र 'वीर' के प्रकाशक, यथाशक्ति सार्वजनिक काम करनेमें उत्सुक, सरल, सहृदय, श्रद्धालु और सज्जन।

ला० दीपचन्दजी, देहरादून

'राजा और प्रजा' दोनोंके प्रिय, दोनोंके विश्वासपात्र, जैनधर्मके परमभक्त. जैन साहित्यके पण्डित, सुन्दर वक्ता, सरल लेखक और श्रेष्ठ नागरिक।

लाला कृष्णचन्द्रजी, देहरादून

प्रमुख रईस और यशस्वी व्यापारी, सरल, सहृदय और उदार। मित्रोंके लिये मजबूत अवलम्ब—समय पर काम आनेवाले, सामाजिक कार्योंमें अनुरक्त और सेवाके लिये प्रस्तुत।

बा० महावीरप्रसादजी देहरादून

अपने नगरके प्रिय आनरेरी मैजिस्ट्रेट, प्रतिष्ठित नागरिक. सरलहृदय युवक, हिन्दीके परमभक्त और अत्यन्त सज्जन।

रायसाहब बा० श्यामलालजी, रुड़की

हमारे प्रान्तके अत्यन्त सफल एक्जीक्यूटिव आफीसर, परिषदके पुराने साथी—समाजसुधारप्रेमी, सुलझे मस्तिष्कके गम्भीर पुरुष, विश्वसनीय और श्रद्धालु।

ला० बाबूलालजी, खतौली

अपने बुढ़ापेमें भी अत्यन्त उत्साही और समाजसुधारप्रेमी, विद्वानोंके भक्त, इस सम्मान समारोहसे इतने प्रसन्न; जैसे उनके घरमें ही कोई त्योहार होरहा हो। शास्त्रप्रेमी, सज्जन और सहृदय।

ला० पन्नालालजी, देहली

वीर-सेवा-मन्दिरके मन्त्री और जैन साहित्य एवं समाजके मूक सेवक, चुपचाप काम करनेवाले, ऐसा काम जिसकी रिपोर्टें नहीं छपती और गिनती भी नहीं होती, पर जो समाजके जागरणमें नींवकी ईंट बनकर रहता है।

प्रो० सत्यपालजी, बम्बई



अपने विद्यार्थी जीवनमें आपका ध्यान प्राचीन भारतके योगियों द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों और धनुर्विद्याके करश्मोंकी ओर गया और आपने उन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न किया। आज आपके द्वारा प्रदर्शित चमत्कारोंको देखकर जनता और वैज्ञानिक भौंचक रह जाते हैं। वह समय आरहा है, जब आप यूरोप में पहुँचकर अपना चमत्कार दिखायेंगे और इसप्रकार भारतका मान बढ़ायेंगे।

डा० नन्दकिशोरजी, कान्धला

समाजके उत्साही कार्यकर्ता, परिषद्के पुराने मंत्री और सुधारप्रेमी। सामाजिक कार्योंके लिये हर घड़ी तैयार, समझदार साथी।

भगत सुमेरचन्दजी, जगाधरी

गृहस्थमें रहकर भी त्यागी जीवनके व्रती—धीरे धीरे सम्पूर्ण त्यागकी ओर गतिशील। शास्त्रोंके भक्त, विद्वानोंके प्रेमी और सामाजिक सेवामें अनुरक्त।

बा० दीपचन्दजी, वकील, मुजफ्फरनगर

सामाजिक नवजागरणके हामी और समर्थक, जैन साहित्यके प्रेमी और विद्वानोंके प्रशंसक, सहृदय और उदार बन्धु।

बा० प्रोफेसर मोहनजी, देहली



आप सत्यपालजीके प्रमुख शिष्य हैं और अधिकांश प्रदर्शन आप ही करते हैं। जब आप अपना हाथ मोड़नेके लिये बड़े २ पहलवानोंको चैलेंज करते हैं और वे नहीं मोड़ पाते, तो जनता मन्त्रमुग्ध रह जाती है। आपके गलेमें फाँसी लगानेका प्रदर्शन तो बहुत ही अपूर्व है। आपकी भाषण शैली बहुत मार्मिक है और हिन्दीके आप सुन्दर लेखक भी हैं।

× × ×

इस उत्सवमें बाहरसे लगभग १५० सज्जन पधारे थे, उनमेंसे जिनके परिचयमें आनेका हमें अवसर मिल सका, उनपर हमने यहाँ संक्षेपमें कुछ कह दिया है। इसका यह अर्थ नहीं होता, कि शेष अतिथि मान्य न थे या उनका महत्व कुछ कम है। समाजमें कुछ लोग अपनी सार्वजनिक प्रवृत्तियोंके कारण सामने आजाते हैं, समाज उन्हें अपना शृङ्गार मानता है, पर समाजकी वास्तविक शक्ति तो वे मूक नागरिक हैं, जो बिना प्रदर्शनके व्यवस्था और सौन्दर्यके साथ अपने गृहस्थोंका संचालन करते हैं। इस उत्सवके श्रद्धालु उन मूक पर महामन्य अतिथियोंको हमारा प्रणाम !

वीरपूजाका आदर्श

श्री महेन्द्रजी आगरा

(एटा जेलसे एक मित्र द्वारा)

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जैन-समाजके अद्वितीय विद्वान और इतिहासविद श्रीमान मुख्तार साहबका सम्मान समारोह मनाया गया है। जैन समाजमें यह उत्सव अपने ढंगका अपूर्व है और इसका बड़ा महत्व है। यदि इस समय मैं परवश न होता, तो स्वयं उपस्थित होकर अपनी श्रद्धाँजलि अर्पित करता। यदि जैन समाजने इसी प्रकार वीर पूजाका आदर्श सदैव अपने सामने रक्खा तो उससे समाजका बड़ा हित होगा—समाज आगे बढ़ेगा।

मुख्तार साहबकी विद्वत्ता, समाजसेवा, साहित्यिक अनुष्ठान और त्याग जैन समाज ही नहीं, भारतीय मात्रके लिये आदर्श है।

आदर्श अनुसंधाता

(डाक्टर श्री ए० एन० उपाध्याय, एम० ए० डी० लिट० कोल्हापुर)

पण्डित जुगलकिशोरजीके प्रति मेरे मनमें गहरा आदरभाव है। ज्ञानप्राप्तिकी कड़ी प्यास, गम्भीर अध्ययन, साहित्यिक गुत्थियोंको सुलझानेका अद्भुत ढंग और सीधी—सच्ची समालोचना, इन सब, गुणोंने उन्हें एक आदर्श अनुसन्धाता बना दिया है।

जैन साहित्यकी उन्होंने जो सेवा की है, वह न केवल सदैव जीवित रहेगी, युवकोंका पथप्रदर्शन भी करती रहेगी। उन्होंने सदैव कठोर जीवन व्यतीत किया है और ज्ञानप्राप्तिके लिये सब कुछ न्योछावर कर दिया है।

वे अधिकाधिक सम्मानके पात्र हैं।

विद्वानोंकी टिप्पणियाँ

खास विशेषताएँ

(श्री दौलतराम 'मित्र', इन्दौर)

कहा जाता है कि जिसने तर्क करना सीख लिया उस की बुद्धि यदि सौ जन्ममें भी शुद्ध होजाय तो आश्चर्य है। परन्तु हम देख रहे हैं कि पं० जुगलकिशोरजीने पूरे तार्किक रहकर भी अपनी बुद्धि शुद्ध बनाली है। उनमें श्रद्धात्मक आस्तिक्य है, ब्रह्मचर्य है, परिग्रहहीनता है और निष्काम कर्मठता है।

नास्तिक और चरित्रहीन लोग बुढ़ापेमें या मरते समय बुद्धिके शुद्ध होनेपर प्राय: यों पछताया करते हैं कि—

पंडिताई माथे चढ़ी पूर्व जन्मके पाप।
औरोंको उपदेश दे कोरे रह गये आप॥

इस बुढ़ापेमें पंडितजीको इस प्रकारका कोई पछतावा नहीं है। पंडितजीकी यह पहली विशेषता है।

× × ×

पंडितजीके कोई संतान नहीं है किसी अनुभवीने कहा है कि—

"पुमानत्यंत मेधावी चतुर्श्वेकं समश्नुते।
अल्पायुरनपत्यो वा दरिद्रो वा रुजान्वित:॥

देखा गया है कि सन्तानहीन लोग अत्यन्त लोभी, संकीर्ण और चिड़चिड़े होते हैं और किसी सम्बन्धीके पुत्र को दत्तक बनाकर अपना मन बहलाते हैं। पर मुख्तारजीने विवेकपूर्वक अपनी सारी सम्पत्ति समाजको दान कर दी है अपना मोह किसी एकमें सीमित न कर संसारको अपनी आत्मीयताके क्षेत्रमें ले लिया है और इस प्रकार वे अपनी एवं दूसरोंकी प्रसन्नताके कारण बन गये हैं। पण्डितजीकी यह दूसरी विशेषता है।

× × ×

जैनधर्म प्रचारके लिये जो अष्ट निमित्त बतलाये गये हैं, उनमेंसे अनेक निमित्तोंके द्वारा पंडितजीने जैनधर्मका काफी प्रचार किया है। आचार्य श्री गुणभद्रने ऐसे प्रचारक को मुक्तिका अधिकारी बतलाया है —

निमित्तैरष्टधा प्रोक्तं तपोभिर्जनरञ्जकै:।
धर्मोपदेशनैरन्यवादिदर्पातिशातनै:॥
नृपचेतोहरै: भव्यै: काव्यै:शब्दार्थसुन्दरै:।
सद्भि: शौर्येण तत्कार्यं शासनस्य प्रकाशनं॥
रुचि प्रवर्तने यस्य जैनशासन भासने।
हस्ते तस्य स्थिता मुक्तिरितिसूत्रे निगद्यते॥

—उत्तरपुराण

पण्डितजीकी यह तीसरी विशेषता है।

× × ×

दुनियामें सबको खुश नहीं रखा जा सकता। जो व्यक्ति सत्कर्तव्यमार्गी है, उसके विरोधी पैदा हुए बिना नहीं रह सकते*। सत्कर्तव्यवश पंडितजीने जालसाज कुग्रंथ-कारोंकी कमर तोड़नेमें—समालोचना करनेमें और उनके अनुयायी कुपथगामियोंकी टोलीको फोड़नेमें कोई कसर नहीं रखी। पंडितजीने जनमतकी नहीं किन्तु जनहितकी परवाह की। पंडितजीकी यह चौथी विशेषता है।

× × ×

हमारे पूर्वज यों विद्वान थे—यों खोजी थे—इस तरह हम गुण-गाथा गाया करते हैं। परन्तु पंडितजी जैसे विद्वान् यदि आज मौजूद न होते तो हमें दुनियासे यह सुनना पड़ता कि—

---

*You have no enemies, you say?
Alas! my friend, the boast is foor-
He who has mingled in the pray
Of duty, that the brave endure
Must have made foes! If you have none
Small is the work you have done,
You've hit no traitor on the hip
You've never turned the wrong to right
You've been a coward in the fight.

(Charles Mackay)

फजलो हुनर बड़ोंके कुछ तुममें हो तो जानें।
गर यह नहीं तो बाबा ये सब कहानियां हैं॥

बड़ोंके गुणगानके साथ आत्मनिर्माण—पंडितजीकी यह पाँचवीं विशेषता है।

× × ×

प्राय: पंडित लोग जिज्ञासुके भावको न देखकर उनके शब्दोंकी खामीका दुरुपयोग करके उन्हें तोड़ मरोड़कर उसे चुप करना ही जानते हैं। इसी बातकी एक कविने कितनी मीठी शिकायत की है—

"वाईजकी हुज्जतोंसे कायल तो होगये हम।
कोई जवाब शाकी पर उनसे बन न आया॥"

परंतु पं० जुगलकिशोरजीमें यह बात नहीं है। उनके लेखोंमें हृदय है, उनमें चित्त-ग्रन्थि सुलझानेकी पूरी सामग्री रहती है। वे जिज्ञासुको खामोश नहीं करते, तृप्त करनेका यत्न करते हैं। प्रमाण पर प्रमाण, विवेचनापर विवेचना देकर उसे इतनी विचार सामग्री दे देते हैं कि उसकी भूख मर जाये। यह पंडितजीकी छठी विशेषता है।

× × ×

दार्शनिक और अनुसंधाता लोगोंका स्वभाव प्राय: रूखा होता है और वे सदा अपनी ही धुनमें मस्त रहते हैं, पण्डितजी अपने साथियोंके लिये सदा अत्यन्त सहृदय रहे हैं।

पण्डितजीके साथ मेरा अभी तक साक्षात् परिचय नहीं है, पर उनके पत्रोंमें बराबर मुझे अपने सगे सम्बन्धियों-सी आत्मीयता मिलती रही है। जब मैं उनकी चिट्ठी पढ़ता हूँ, तो मुझे अनुभव होता है कि वे मेरे पास ही बैठे, प्रेमसे बातें कर रहे हैं।

विद्वान होकर भी सहृदय, यह पण्डितजीकी सातवीं विशेषता है।

हवि रश्मि नाम

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए० डी० लिट०
क्यूरेटर प्रान्तीय म्यूजियम लखनऊ

श्री जुगलकिशोरजीके एकनिष्ठ साहित्य साधनपर मैं उन्हें अपना विनम्र अभिनन्दन भेजता हूँ। जैनसाहित्यके लिये उन्होंने महान् त्याग किया है। इस कार्यके साथ एक प्रकारसे उन्होंने अपने जीवनको ओत-प्रोत कर दिया है। अन्तमें ऊँचे साहस और स्वरसे 'हवि रश्मि नाम' अर्थात् मेरा ही नाम पहली हवि है, यह संकल्प करके उन्होंने वीरसेवामन्दिरके लिये अपनी सर्वसम्पत्ति और अपना भावी जीवन भी समर्पित कर डाला है। आशा है उनके इस अनुकरणीय त्यागसे जैनसाहित्यका कल्पवृक्ष नवीन स्फूर्ति के साथ पल्लवित होगा।

जैन साहित्यने भारतीय ज्ञान-साधनाके अनमोल रत्नों की रक्षा की है। भारतीय संस्कृतिके इतिहासके लिये जैन वाङ्मयमें बड़ी मूल्यवान सामग्री भरी पड़ी है। यह सत्य अब दिनप्रतिदिन प्रत्यक्ष होता जा रहा है। बौद्धोंका महान् पाली और संस्कृत साहित्य आज विश्वविदित है और उसके द्वारा साहित्य संस्कृतिपर विलक्षण प्रकाश पड़ा है। जैन साहित्य प्रकाशनके क्षेत्रमें कुछ पिछड़ा रहा, पर उसकी अन्त:साक्षी भी बौद्धसाहित्यसे कुछ कम महत्वपूर्ण ज्ञात नहीं होती। हर्ष है कि अब देशके कई स्थानोंसे जैनसाहित्यके अमूल्य ग्रन्थोंके प्रकाशनका एकसाथ प्रयत्न होरहा है। श्री जुगलकिशोरजीके कार्यका इस महान यज्ञमें कृतज्ञताके साथ सदा स्मरण किया जायगा।

भावी पीढ़ीके पथप्रदर्शक

श्री कामताप्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०—

सहारनपुरके भाइयोंने श्री जुगलकिशोर मुख्तार साहब का सम्मान उत्सव नियोजित करके निस्सन्देह एक युगप्रवर्तक कार्यका श्रीगणेश किया है। जैनियोंमें इस ओरसे निरी उदासीनता थी। जो जाति अपने साहित्यिकों—सच्चे उपकारियोंका आभार नहीं जनाती उसका भविष्य शायद ही कभी चमकता हो! देर-सबेरसे जैनियोंने इस सत्यको चीन्हा है यह संतोषकी बात है। सहारनपुर जैनियोंका केन्द्र है। उसपर ला० प्रद्युम्नकुमारजी सदृश स्थितिपालक श्रीमान्की अध्यक्षतामें इस समारोहका सम्पन्न होना इस बातका प्रमाण है कि जैनियोंमें नव जागृतिकी लहर गहरी पैठी है—उसने कट्टरताको मेटकर विवेकको जाग्रत कर दिया है। परीक्षा प्रधानता ही मनुष्य जीवनको उन्नत बनाती है—जो भी इस बातको जान और मान लेता है वह भटकता नहीं

है। सहारनपुरका यह समारोह यही बताता है और यह मंगलसूचक है।

जैनियोंकी इस नवजागृतिके निर्माणकार्यमें श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका भाग मुख्य है। उन्होंने वह ठोस कार्य किया है जो इस कालकी सन्ततिके लिये ही नहीं, बल्कि आगामी आनेवाली अनेक सन्ततियोंके ज्ञान-पथको प्रकाशित करता रहेगा। मैंने मुख्तार साहबके दर्शन उनको पहचाननेके बहुत दिनों बाद किए थे। मैंने उनको जैनहितैषी' में प्रकाशित लेखों और 'ग्रंथपरीक्षा' सदृश समालोचनात्मक निबन्धोंके सहारेसे पहचाना था। उनके इस प्रकारके लेखोंसे युवकोंमे श्रद्धा और विवेक भावोंकी दृढ़ता हुई है और यह समाजके लिये विशेष महत्वकी बात है। उन्होंने जो कार्य किया वह स्थायी है और जैन साहित्यमें अमर रहेगा।

इतिहासकी शोध-खोजमें उनकी नीति एक वैज्ञानिक की नीति है; परन्तु वह कभी २ आवश्यकतासे अधिक कठोर और 'रिजर्व' (Reserve) से जंचते हैं। इतिहास वेत्ता किसी भी अनुश्रुतिको उस समय तक नहीं ठुकराते जब तक कि वह किसी अन्य पुष्ट प्रमाणसे बाधित न हो; किन्तु मुख्तार साहब शायद सम्प्रदायगत पक्षपातके लाञ्छन से बचनेके भयसे, कभी २ दिगम्बराम्नायी अनुश्रुतियोंको स्वीकार करनेमें आनाकानी करते मिलते हैं। शायद मेरी यह धारणा गलत हो; परन्तु इससे मुख्तार साहबकी विशाल समुदारता तो प्रगट होती ही है। वे साम्प्रदायिकता से परे और धार्मिकतासे ओतप्रोत हैं। जैनियोंके वे गौरव हैं। उनके तत्वावधानमें शीघ्र ही एक 'जैनसाहित्यसम्मेलन' सम्पन्न हो, यह मेरी कामना है।

आचार्य श्री मुख्तारजी

विद्याभूषण श्री पं० मोहनशर्मा इटारसी

जैन साहित्यजगतमें वैसे आज बीसों जैनपत्र-पत्रिकाओं की तूती बोल रही है पर एक वह समय भी था जब 'जैन-हितैषी' सदृश सुसम्पादित पत्रके प्रकाशनने जैनसाहित्यक्षेत्र ही नहीं, हिन्दी साहित्यक्षेत्र तकमें जागरुकता उत्पन्न करदी थी। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और बाबू नाथूरामजी प्रेमीके सम्मिलित सहयोगने 'जैनहितैषी' को उस समयके हिन्दी मासिक साहित्यका प्रतिनिधिपत्र सिद्ध कर दिया था। श्री मुख्तारजी और प्रेमीजीके प्रभावसे हिन्दीके जैन अजैन दिग्गज विद्वान 'हितैषी' में नियमितरूपसे लिखते थे। इस तरह 'हितैषी' के कितने ही लगनशील पाठक भविष्यमें खुद लेखक, कवि और साहित्यकार बन गये। हितैषीके अनुकरण पर जैन साहित्य जगतमें अनेक कई पत्र प्रकाशित हुये और होरहे हैं पर हितैषी कोई भी नहीं बन सका। इसी तरह श्री मुख्तार जुगलकिशोरजी द्वारा प्रवर्तित 'अनेकान्त' उनकी अपनी वस्तु है—उसमें उनकी सम्पादन प्रतिभाके निखरे हुये स्वरूपका दर्शन कर हम कृतकृत्य हो जाते हैं। जैन पत्रकारके रूपमें उनका व्यक्तित्व महान है और उनके सम्पादनके पत्रोंमें हम उनकी अमिट छाप पाते हैं।

आधुनिक जैन साहित्यके निर्माताके रूपमें लोग उनके आदर्शको आज जितना समझे हैं, उससे भी अधिक कुछ समझनेकी अभी आवश्यकता है। आजका साहित्य संसार उनके तपस्वी जीवनकी महान सेवाओंका भले ही मूल्याङ्कन न कर सके पर कलकी दुनिया उनकी जीवनव्यापी खोजों और सेवाओंसे भारावनत होकर उनका उचित अभिनन्दन करनेके साथ २ जीवन ज्योतिको जागृतिके मार्गपर लगानेके लिये उनके ही ज्वलन्त आदर्शका अवलम्बन ग्रहण करेगी।

शास्त्रीय विषयोंको अपनी निरन्तर खोजके बलपर जन-साधारणके लिये सुलभ और बोधगम्य भाषामें उपस्थितकर उन्होंने जैन धर्म और जैन जातिका महा उपकार किया है। उनकी आयुका प्रत्येक क्षण विद्याव्यसनमें व्यतीत होनेसे आजके जैनजगतमें उनके आचार्यत्वको माननेसे इन्कार करना जैनत्वको लाँछित करना है। जैन साहित्यका उद्धार करनेके साथ २ प्रकारान्तरसे उनकी कार्यकर्त्री शक्तिने हिन्दी साहित्यको भी यथेष्ट बल पहुँचाया है।

अमरकृतियोंके स्रष्टा

मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीका पुरातत्वप्रेम हमारे लिये गौरवकी बात रही है। गत बीस वर्षसे उन्होंने सत्साहित्यकी सृष्टिमें व्यतीत किये हैं। जैन साहित्यके सम्बन्धमें आपने जो खोजें की हैं, उनका स्थायी महत्व है। जिन्हें

'अनेकान्त' या उनके साहित्यके पढ़नेका अवसर मिलता रहा है, उनकी वह आलोचनात्मक पद्धतिसे परिचित रहे हैं। श्री मुख्तारजी उच्चकोटिके विद्वान हैं—पटुकवि हैं, सुदृढ़ समालोचक, और प्रवीण सम्पादक। वीरसेवामन्दिरकी स्थापना के लिये उन्होंने जो त्याग किया है, और उसकी जो आर्थिक अर्चना की है, वह हमारे लिये एक ज्वलंत उदाहरण है, जैन साहित्य संबंधी अप्रकाशित अप्राप्य ग्रन्थोंकी सूची तैयार करके भारतीय साहित्यको उन्होंने ऋणी बना दिया है। भारतीय संस्कृति पर जैन संस्कारोंकी गहरी छाप है, और भारतीय इतिहासका अनुशीलन जैन साहित्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता। और इस समयका जैन साहित्य मुख्तार साहबकी सेवाओंका सदा आभारी रहेगा। उनकी कृतियां तो निस्सन्देह अमर हैं ही।

युग-संस्थापक

प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए० एलएल० बी०

मुख्तारजी इस युगके उन थोड़ेसे महारथियोंमेंसे हैं जिन्होंने महान् परिश्रम और विद्वत्तापूर्वक जैनसाहित्यकी खोज, उसके इतिहास और विवेकपूर्वक संशोधनका वर्तमान युग स्थापित किया है। ऐसे कार्यमें पथप्रदर्शकके लिये जो कष्ट होते हैं वे भी मुख्तारजीने खूब सहे हैं। उनकी भी इस कार्यमें ऐसी पक्की रही है कि जबसे उन्होंने इस ओर ध्यान दिया तबसे वे उत्तरोत्तर उस दिशामें बढ़ते ही गये। पहले जैनहितैषीका और अब अनेकान्तका सम्पादन कर वे जैनसाहित्यकी अनुपम सेवा कर रहे हैं। यह स्वयं जैनसमाजके सौभाग्यकी बात है कि उसने अपने सुयोग्य साहित्यिकोंका सम्मान करना प्रारंभ कर दिया है। इस प्रवृत्तिसे मुझे जैन समाजका भविष्य उज्ज्वल दीखता है।

पुराने साहित्यिक

श्री शिवपूजन सहायजी

मैं श्रीमान् परमादरणीय मुख्तार साहबको बहुत दिनोंसे जानता हूँ; पर कभी उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त न हुआ। मेरे स्वर्गीय मित्र आरा निवासी कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन उनको पाण्डित्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। यह बात आज से पचीस-तीस साल पहलेकी है। उसके बाद भी जैनसमाज के पत्रोंमें उनकी चर्चा तथा रचना प्रायः देखता रहा। उन की रचनाओंमें विद्वत्ताकी जो छाप है उससे मैं बहुत-कुछ परिचित हूँ। मैं परमात्मासे यही प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु होकर जैन-साहित्यकी पूर्ववत् श्लाघ्य सेवा करते हुए हिन्दीका गौरव एवं वैभव बढ़ाते रहें।

भविष्यके निर्माता

श्री बृहस्पतिजी, पूर्व आचार्य गुरुकुल वृन्दावन

भारतीय पुरातत्त्वके धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहासमें जैनधर्मका एक महत्वपूर्ण स्थान है और विश्व की संस्कृतिके इतिहास एवं भविष्य निर्माणमें भारत अपना एक विशेष स्थान रखता रहा है और आशा है कि भविष्य में भी रखने वाला है। अतः जैन साहित्य सम्बन्धी जितनी भी शोध-खोज हो वह थोड़ी है। ऐसे बीहड़, और कभी २ फलाशा रहित सिद्ध होने वाले शोधारण्यमें अपना सर्वस्व खपादेने वाले विद्वद्रत्न श्री मुख्तार महोदयके लिये कृपया मेरी श्रद्धाञ्जलि स्वीकार कीजिये, शब्द-ब्रह्मके अधिष्ठाता परमकारुणिक भगवान् ऐसे सरस्वती-समाराधकोंको दीर्घजीवी और सफल करें।

आदर्श पुरुष

श्री अजितकुमार जैन, शास्त्री

श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी श्री १००८ भगवान महावीरके दिव्य शासनकी एक गणनीय विभूति हैं। वे वर्तमान युगके एक दृढ़ अध्यवसायी, अनुपम साहित्य-सेवी हैं। उन का पुरातत्व-अन्वेषण अद्वितीय है। अनेक पुरातन ऋषियों के समय निर्धारणमें जो उन्होंने सफल परिश्रम किया है वह अमूल्य है।

स्वामी समन्तभद्रके तो वे असाधारण भक्त प्रतीत होते हैं संभव है इसी कारण उन्होंने वीरशासनके चमकीले रत्न श्री समन्तभद्राचार्यके विषयमें जो अन्वेषण किया है वह असाधारण तथा अटल है। अनेक विद्वानोंने उनके निर्धारित समयको हिलानेका घोर यत्न किया किन्तु वह आज तक जहाँका तहाँ अचल रहा।

श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी जब तक किसी भी विषय का सूक्ष्म तौरसे चतुर्मुखी अध्ययन नहीं कर लेते तब तक

उसको प्रकाशमें नहीं लाते इसी कारण उनकी कृति मार्मिक होती है।

'अनेकान्त' पत्र उनके अनथक परिश्रमका चिन्ह है। वे यद्यपि वयोवृद्ध हैं किन्तु उनकी [illegible] परता युवकवृन्दको लज्जित करती है। उनके बाह्य (शारीरिक) स्वास्थ्यके विषय में तो मैं कुछ कह नहीं सकता क्योंकि मैं उनके समीप केवल एक बार २० घंटे रहा हूँ परन्तु यह मेरा निश्चित मत है कि उनका आध्यात्मिक स्वास्थ्य इस अनवरत साहित्य सेवासे ही स्वस्थ रहता है। विना नवीन अनुसन्धान और उपयोगी लेख लिखे कदापि उन्हें चैन नहीं आती, उनकी पाचन क्रिया ठीक नहीं रहती।

श्रीमान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इतने अधिक अध्यवसायी होने पर भी निरभिमानी एवं सरलचित्त हैं किन्तु साथ ही स्पष्ट वक्ता हैं। उनका आहार विहार सात्विक, शुद्ध है। बाहरी दिखावेसे उन्हें घृणा है।

मुझे यद्यपि उनकी कतिपय सैद्धान्तिक मान्यताओं (भुज्यमान गोत्रकर्म परिवर्तनीय है आदि) से सहमति नहीं है किन्तु उनकी अमूल्य निःस्पृह सेवाओंसे मैं प्रभावित हूँ उनकी एक एक सेवा अपने लिये आप ही उदाहरण है।

इस रूपसे उनका त्याग और तप प्रत्येक विद्वान और गृहस्थके लिये आदर्श है।

साहित्यतपस्वीको वंदन

श्री परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ, सूरत

परमादरणीय मुख्तार साहब बीसवीं सदीके अग्रगण्य साहित्यतपस्वियोंमेंसे हैं। तपस्वी तो कभी कभी उपसर्ग और परीषहोंकी मारसे घबराकर चलित और मार्गभ्रष्ट भी होगये हैं किन्तु साहित्यके तपस्वीने विरोधियों, अंधभक्तों या कट्टर-पंथियोंके बहिष्कार, गालिप्रदान अथवा उपसर्गोंकी कभी कोई परवाह नहीं की, और अपनी साधनामें सतत लगा रहा।

आजसे ३६ वर्ष पूर्व जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था, तब यह साहित्यतपस्वी तपाराधनासे समाजके दिलको दहला रहा था। वह ऐसे अज्ञानान्धकारका समय था जब आलो-चना या समीक्षाकी एक ही किरण समाजकी आँखोंको चकचौंधया देती थी। किन्तु उस वक्त इस 'युगवीर' ने अपने ज्ञानयज्ञको इतना प्रदीप्त किया कि उसकी लपटोंसे बड़े बड़े पगड़बंध पण्डित झुलसने लगे; और इसी घबरा-हटमें उनने इस तपस्वीको गालियाँ देनी शुरू कीं, इसे भला बुरा कहा, बहिष्कृत ठहराया और इसकी बुराईमें जितना जो बन सकता था वह सब कुछ किया। लेकिन धन्य है उस साधकको, कि जिसने किसी भी परिस्थितिमें अपनी साधनाको नहीं छोड़ा। जब 'जिन वचमें शंका न धार' की ओटमें भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वामी और जिनसेन आचार्यके नामपर निर्मित जाली ग्रंथोंको जिनवाणी कहकर चलाया जारहा था, और इनमें वर्णित जैन सिद्धान्तविरोधी बातोंके विरुद्ध (सब कुछ जानते हुए भी) एक शब्द भी उच्चारित करनेका किसीका साहस नहीं था, तब इस परीक्षाप्रधानी, निडर साहित्यसाधुने अपनी लोहलेखनी उठाई और धर्मग्रंथोंके नामपर अपनी अद्भुत समीक्षाओं द्वारा समाजको आश्चर्यमें डाल दिया।

यदि मुख्तार सा० ने यह साहस न किया होता और उनकी ग्रंथपरीक्षाएँ प्रगट नहीं हुई होतीं तो आज इस युग में भी कोई यह साहस न कर पाता, और हम सब आज भी 'गोबरपंथी' साहित्यको जिनवाणी मानकर पूजते रहते।

मैंने जो चर्चासागर, दानविचार और सुधर्मश्रावकाचार की समीक्षायें लिखी हैं, उनके लिए मुझे मुख्य प्रेरणा श्री मुख्तार साहबकी ग्रन्थपरीक्षाओंसे ही मिली है। यदि मुख्तार सा० ने ग्रन्थपरीक्षाका मार्ग इतना सरल, निष्कण्टक और निर्भय न बना दिया होता तो मैं उक्त समीक्षायें हर्गिज नहीं लिख पाता और मैं तथा मेरे जैसे ही अन्य हजारों युवक आज भी अंधश्रद्धाके घोर अंधकारमें पड़े रहते।

मुख्तार साहब ज्ञानसाधनाके महान् तपस्वी हैं। उनका मुझ पर तथा मुझ जैसे कई—सैकड़ों—हजारों आदमियों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें बहुत ऋण है। उनके इस सम्मान महोत्सव पर मैं भी उन्हें एक साहित्य तपस्वीके रूपमें वंदन करता हूँ।

तपस्वी

श्री जमनादास व्यास बी०ए०, साहित्यरत्न

श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार एक महान तपस्वी हैं। आपका तप संसार परितापको हरण करने वाला है। आपके

तपसे जो तापहारी किरणें विकीर्ण होती हैं वे पाठकोंके हृदय मन्दिरमें प्रवेश कर उनकी समस्त कालिमाको क्षणमें दूर कर उनके हृदयोंको पूर्ण ज्योतिमय करती हैं।

श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार जैनसमाजके जाज्वल्यमान रत्न हैं। वे महावीरके सेवक, अहिंसाके उपासक, मेरी भावनाके प्रणेता, अनेकान्त सुयोग्य संपादक तथा जैन-दर्शनके प्रगाढ़ विद्वान हैं। जो स्थान हिन्दी साहित्यमें श्री गौरीशंकर हीराचंदजी ओझाका है वहीं स्थान जैन साहित्य में श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारका है। आज हमारा सौभाग्य है कि श्री मुख्तारजी हमारे बीचमें हैं, हमारे साथमें हैं और हमारे सामने हैं।

श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार एक मौन तपस्वी हैं। उनकी तपस्यामें कई ताराछायी रातें ओझल हो जाती हैं कई दिन, माह तथा वर्षकालके कराल गालमें समा जाते हैं किन्तु उनका 'वीरके समान 'वीरव्रत' वीत-राग विरागता आज भी कायम है। संसारमें आँधियां आती हैं, भूचाल होते हैं और प्रलयका तांडव नृत्य भी होता है किन्तु तरुण तपस्वीसे अचल श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार अटल आसन पर आज भी विराजमान हैं। उन्हें संसारके प्रलोभन वशीभूत नहीं कर सकते क्योंकि उनकी अंतरात्मा परमात्मा महावीरसे समरस है।

श्री मुख्तारजीकी तपस्यामें जैनदर्शनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। श्री मुख्तारजी जैनदर्शनके पूर्ण भक्त हैं। वे प्रथम दार्शनिक हैं, तपस्वी हैं बादमें कवि, लेखक, ग्रन्थकार और समाज-सेवक।

श्री मुख्तारजीमें वैज्ञानिकका तप है। उनकी तपस्या से आध्यात्मिक विज्ञानके तपोबलकी मूर्तिका परिचय मिलता है। यदि नोबल पुरस्कार विजेता 'रमण' भारतके लिये गौरव है तो श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार भी भारतीयोंके लिए भूषणावह है। संक्षेपमें हम यही कहेंगे कि श्री जुगल-किशोरजी मुख्तारकी तपस्या 'वीर' की तपस्यासे प्रभावित है। ईश्वर करे कई 'तपों' तक पं० मुख्तारजी तपस्या करते रहें।

साहित्य-देवता

श्री माणिक्यचंद्र जैन, बी० ए०

वयोवृद्ध तपस्वी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार जैनदर्शन और साहित्यके अनन्यसेवी हैं। आपने जैनधर्म और साहित्यकी अपूर्व सेवा करके साहित्य जगतमें अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभाका पूर्ण परिचय दिया है। आपने खोज और अनुसन्धान द्वारा जैनसाहित्यके अमूल्य मोतियोंको ढूंढ निकाला है। मुख्तार साहब हिम्मतके धनी, दिलके मर्द, सत्यके पुजारी, न्यायके पोषक, यथार्थके प्रसारक सच्चे साहित्यिक फकीर हैं। आप साहित्यस्रष्टा, मौलिक लेखक और कलाकार हैं। आपकी कलममें जादू भरा हुआ है। खोज, शोध और सम्पादन आपके जीवनका लक्ष्य है। वास्तविक जैन संस्कृति और सभ्यताका प्रसार करना आपका ध्येय है। आप निष्पक्ष समालोचक, गम्भीर विचारक, सहृदय कवि एवम् दार्शनिक विद्वान् हैं।

आपकी विचारधारा स्वतन्त्र है। आप वास्तविक एवम् वैज्ञानिक प्रमाणोंको ही सत्य मानते हैं। रूढ़ीग्रस्त वातावरणसे आपको घृणा है। आपका दृष्टिकोण विशाल और उदार है। आपकी आत्मा उन्नत, उज्ज्वल और निर्मल है। समाजके प्रति आपके हृदयमें करुणाकी मन्दाकिनी सदैव तरंगित रहती है। आप सामाजिक जीवनमें अन्धश्रद्धा, आडम्बर और रूढ़ियोंको सदाके लिये दूर हटा देना चाहते हैं।

मुख्तार साहब जैन समाजके ही नहीं, अपितु भारतके देदीप्यमान रत्न हैं। आपकी सेवा और त्याग, ज्ञान और विवेक, धुन और लगन, कर्तव्य और सत्यता वास्तवमें प्रशंसनीय हैं।

इनका इतिहास काव्य, दर्शन और साहित्यक्षेत्रमें अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। दूसरोंके निर्दिष्ट पथपर चलना उन्हें नहीं भाता, उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पनाद्वारा ही नवीन पथ निर्माण किया है और घोर विरोधमें भी आप सत्यके मार्ग पर अडिग रहे हैं।

वह समय अब अतिनिकट आरहा है। जब मुख्तार साहबके कार्योंका वास्तविक मूल्य आँका जायगा।

एक झाँकी

श्री पं० रविचन्द्र जैन 'शशि' बिजनौर

प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी गणना ऐसे व्यक्तियोंमें है जिनपर जैनसमाज ही नहीं, कोई भी जीवित जाति गर्व कर सकती है। आप जैनसमाजके सुविख्यात् कवि हैं। आपकी कवितामें हृदयकी आवाज है। कर्तव्यकी पुकार है। समाजका चित्रण है और कर्मण्यताका आह्वान है।

आप यश, लालसा तथा सम्मानकी आकाँक्षासे कोसों दूर हैं। आपकी लगन तथा उद्योगशीलताका परिचय एक वाक्यमें दिया जा सकता है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" प्रातः ५ बजे से रातके १२ बजे तक गहरे अध्ययन तथा अन्वेषणमें लगे रहते हैं।

शारीरिक अस्वस्थतामें भी आपके दिलमें एक टीस उठती रहती है। विश्रामके समय भी आपका मन किसी खोजमें व्यस्त रहता है। शक्तिसे अधिक काम करनेकी आपकी प्रकृति है।

आपकी आत्मा जैनत्वमें रंग गई है। जैनदर्शनके अद्वितीय प्रकाशको निखिल विश्वमें बिखरानेके लिए आप आतुर हैं। जैन संस्कृतिको उत्थान देनेके लिए व्यग्र हैं। आपके जीवनके पिछले ३६ वर्ष जैनसाहित्यकी महत्वपूर्ण खोजोंका इतिहास हैं।

आपकी भावनाएँ जितनी उच्च हैं, आपका जीवन उतना ही सादा है। वासना विलासितासे आपको घृणा है। अभिमानकी हवा आपको स्पर्श भी नहीं कर पाई है। छोटेसे छोटे व्यक्तिपर आपका आत्मीयताका भाव है। आप जितने बड़े विद्वत्तामें हैं उतने ही बड़े नम्रतामें हैं। सहनशीलता भी आपमें यथेष्ट है।

आप स्वावलम्बी हैं। कभी किसीका सहारा नहीं देखते मैंने स्वयं देखा है कि आश्रममें कई विद्वानोंके रहते हुए भी घंटों अनेकान्तके सम्पादनमें लगे रहते हैं। प्रत्येक मैटरको तब तक कई बार संशोधित करते हैं, जब तक आपको पूर्ण आत्मसंतोष नहीं हो जाता। काम करनेमें आप कभी नहीं थकते। क्या शारीरिक क्या मानसिक, प्रत्येक प्रकारके काम आप पूर्ण तत्परतासे करते हैं। नौकर के अभावमें भोजन वगैरह भी स्वयं बना लेते हैं फिर भी उनके मानसिक कार्योंमें किसी तरहकी कमी नहीं होने पाती।

आपकी उज्वल रचनाओंके समान आपका स्वास्थ्य भी आकर्षक है और यह सब आपके संयम तथा नियमित आहार विहारका ही परिणाम है। आपकी निर्भीक समालोचना विद्वानोंके लिए सम्मानकी वस्तु है। आप प्रत्येक विषयको प्रबल तथा अकाट्य प्रमाणोंसे इस तरह सिद्ध करते हैं कि विरोधियोंकी कलम रुक जाती है।

आप शतजीवी हों, यही प्रार्थना है।

कठोर साधक

श्री लालबहादुरजी शास्त्री, मथुरा

पं० जुगलकिशोरजीका सम्मान सचमुच उस महान कलाकार, महान साधक और तीव्र तपस्वीका सम्मान है, जिसके आगे सम्मानकी बड़ी से बड़ी भेंट भी तुच्छ है। अपना सब कुछ देकर भी जिसने कुछ नहीं चाहा उसका त्याग निरखनेकी नहीं समझनेकी चीज है। लोग कहते हैं कि वे ऐतिहासिक विद्वान हैं परन्तु यह किसे मालूम है कि उनका इतिहास सन संवतोंके खोजने तक ही सीमित नहीं है इतिहासको समाज सेवाका अङ्ग बनाकर समाजसंरक्षकके रूपमें उन्होंने जो अपनी कठोर साधनाका परिचय दिया है उसे जैनसमाज युगों तक न भूलेगा। सचमुच पं० जुगलकिशोरजीकी ऐतिहासिक सेवाएँ स्वयं ही एक इतिहास बन गई हैं। उनकी खोज बुद्धि, विषयोंका संतुलन, भाषाका प्रवाह, वस्तुस्थितिकी जाँच उन्हें उनके बाहरी व्यक्तित्वसे बहुत ऊँचा ले जाती है। हिन्दीको गर्व यदि आचार्य द्विवेदीजी पर है, बंगलाको गर्व यदि टैगौर पर है तो कोई कारण नहीं आधुनिक जैनसाहित्य और जैनसंस्कृतिको जुगलकिशोरजी पर गर्व न हो! वे लेखक हैं, समाजसेवक हैं, इतिहासमर्मज्ञ हैं और इन सबसे ऊपर है उनका त्याग जो साहित्यसेवकोंमें कम ही पाया जाता है। इतिहासके नामपर दी हुई उनकी अमूल्य भेंट समाजके धुरंधरसे धुरंधर विद्वानके लिये भी सोचने और समझने की चीज है।

जैनजागरणके अग्रदूत श्री बा० सूरजभानजी का पत्र

इलाहाबाद,
१७। १२ ४३

श्रीमान् परोपकारी कौशलप्रसादजी !

कृपापत्र मिला, मैं तो सदासे ही बाबू जुगलकिशोर मुख्तारका स्तुतिपाठ करने वाला और गुणगान करने वाला रहा हूं इस बातको दुनिया जानती है । ऐसी दशामें मैंने उनके कीर्तिगानकी बाबत इस समारोहमें कुछ लिख भेजना फिजूल सा ही समझा था, हाँ यहाँ अपने घर इस बातकी खुशी जरूर मनाई थी कि सहारनपुरके जैनियोंकी भी आँखें खुलीं और अपने सच्चे धर्मोपकारीका सम्मान करनेकी सूझी, यहाँ तो यह खबर सुनते ही मेरे लड़के सुखवन्तरायने बड़े जोशके साथ यह कहा था कि बाबू जुगलकिशोर जैसी कुर्बानी (sacrifice) कौन कर सकता है, जो उन्होंने जैनधर्मके उद्धारके वास्ते की है और ऐसी दशामें की है जब कि जैनजाति उनका सम्मान करने और आभार माननेके बदले उलटा उनका विरोध करती थी, परन्तु बा० जुगलकिशोर मानके भूखे नहीं हैं और न निन्दासे घबराते हैं, ज्यों ज्यों उनका विरोध होता था त्यों त्यों वह समझते थे कि जैन जाति इस समय महा अन्धकारमें फँसी हुई है, इस कारण उसके उद्धारकी ज्यादा २ कोशिश करनेकी जरूरत है । दिगम्बर जैन कहलाने वाले जैनी, वस्त्राभूषणसे सुसज्जित, हाथी घोड़े, नौकर चाकर आदि महा आडम्बर और परिग्रहमें फँसे हुवे भट्टारक नग्न दिगम्बर मुनि और आचार्य माने जाते थे और जो अपनेको १३ पंथी कहते थे वे भी इन ही पाखण्डी भट्टारकोंके बनाये ग्रंथोंको सर्वज्ञवाक्य मानते और पढ़ते थे । मामूली जैनी ही नहीं किन्तु करीब २ सब ही बड़े २ जैन महान विद्वान् और पंडित, इन ही भट्टारकोंका पक्ष लेते थे और उनके वचनोंको प्रमाण में पेश करके जैनधर्मचला जैनधर्मचलाकी दुहाई देते थे । यह बा० जुगलकिशोर ही हैं जिन्होंने अपनी अथक कोशिश, परिश्रम और भारी खोजके द्वारा, अपने महान पाण्डित्यबलसे बिलकुल ही अकाट्यरूपसे यहाँतक सिद्ध कर दिखाया कि भट्टारकोंने अपने बनाये ग्रंथोंमें दूसरे धर्मोंके अमान्यसिद्धान्तों, मान्यताओं और धर्मचर्याओंको जैनसिद्धान्त बताकर जैनधर्मको महा मिथ्यात्व बनानेमें कुछ भी कसर नहीं छोड़ी है । यहां तक कि अपने बनाये अनेक ग्रंथोंको बड़े २ महान आचार्योंके बनाये लिखकर जैनजातिकी आँखोंमें धूल डालकर उसको बिलकुल ही अंधा और महा-मिथ्यात्व बना दिया है और यहाँ तक धोखा दिया है कि उन जाली ग्रंथोंमें हिन्दूधर्म-पुस्तकोंके श्लोक लिख कर उनको दिगम्बर जैनधर्मके महान आचार्योंके ग्रंथोंके श्लोक लिख दिया । ऐसी भारी खोज करके बा० जुगलकिशोरने जैनजातिकी आंखें खोलनेका जो काम किया है वैसा कौन कर सकता है? मेरा तो रोआँ २ उनका आभारी है । मुझे तो खुशी इस बात की है कि उनका यह महान उपकार और परिश्रम फलता दिखाई दे रहा है । मालूम होता है कि उनके उपकार से अब जैन पण्डितों और जैनजातिकी आंखें खुलने लगी हैं और उनको अपने सच्चे परोपकारीकी पहचान होने लगी है, तब ही तो सहारनपुरमें उनके सम्मानमें यह सभा हुई है ।

—सूरजभान

दिगम्बर परम्पराके महान् सेवक

(ले०—श्री पं० राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा)

हजरत मोहम्मदके बाद इस्लामकी परम्परा एक रूपमें न रह सकी और आगे चल कर उनके उत्तराधिकारीके लिए ही उनके अनुयायी शिया और सुन्नीके भेदमें बंट गये, यही बात महात्मा ईसाके सम्बन्धमें है। इनके बाद भी इनके अनुयायोंमें एक समता न रह सकी थी और यह भी कई भागोंमें विभाजित हो गये थे। आगे चल कर इन ही भागोंके आधारसे ईसाई सम्प्रदायके केथोलिक और प्रोटेस्टेन्टके रूपमें वर्गीकरण हुए हैं। बौद्ध धर्म भी इस त्रुटिसे खाली नहीं है, और महात्मा बुद्धके बाद उसकी परम्परामें भी हीनयान और महायान आदि भेद हुए हैं। शंकराचार्यका अद्वैत भी उनके बाद एक रूपमें नहीं टिक सका है, और शंकराचार्यके खास शिष्योंके द्वारा ही उसमें भी विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैतका भेद डाल दिया गया है। अधिक क्या कहें पिछली एक सदीके आर्यसमाजमें भी स्वामी दयानन्दजीके बाद गुरुकुल पार्टी और कालेजपार्टीका भेद हुआ है। इससे स्पष्ट है प्रायः संसारकी सभी परम्परायें अपने २ प्रभावशाली व्यक्तियोंके पश्चात एक रूप नहीं रह सकी है और उनमें विभाजन या शाखाभेद हुए हैं।

हमारी जैनपरम्परा भी इससे खाली नहीं है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहुके बाद यह भी एक रूपमें नहीं रह सकी है और इसमें भी परस्परमें भेद हुआ है और आगे चल कर यही श्वेताम्बर और दिगम्बरके रूपमें परिणत होगया है। पहले यह भेद सिर्फ साधुस्वरूप तक ही रहा है किन्तु आगे चल कर इसमें और भी बढोतरी हुई है और साधुरूपकी तरह इसने देवस्वरूप और मूर्तिरूपको भी प्रभावित किया है। भेदके इसी बादके परिणामसे शास्त्रोंमें देवस्वरूपको लेकर परिवर्तन किये गये हैं और मूर्तियोंको भी उसीके अनुसार उसी रूपमें ढालनेकी चेष्टा की गई है। मूर्तियोंका यह नवीन संस्करण अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहुके करीब एक हजार वर्षके पीछे ही हुआ है। जैन परम्पराकी यह विभिन्नता यहीं तक नहीं रही, किन्तु आगे चल कर इसने तीर्थों और इतिहास पर भी अपना प्रभाव जमानेकी पूरी २ चेष्टा की है इसी का परिणाम है जो तीर्थोंको लेकर जैनपरम्पराकी दोनों ही शाखाओंमें पिछले वर्षोंमें भारी मुकदमेंबाजी हुई है और जो आज भी शान्त नहीं हुई है। इतिहास पर प्रभावसे मेरा तात्पर्य प्रत्येक परम्पराका यह प्रमाणित करनेका प्रयास है कि वही भगवान महावीरकी उत्तराधिकारी है और इसकी शाखा नवीन कल्पना है अर्थात वह प्राचीन है दूसरी नवीन है।

आगे चल कर इस चर्चाके स्पष्टीकरणके आधार स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र और तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी आदिको बनाया गया है। श्वेताम्बर परम्पराका कहना रहा है कि उनकी परम्पराके शास्त्र ही द्वादशांग हैं या उनमें द्वादशांगका अंश सुरक्षित है, उनके रचयिता स्वयं श्रुतकेवली तक है अतः उनकी परम्परा ही प्रामाणिक एवं प्राचीन परम्परा है। दिगम्बर परम्पराने इस को स्वीकार नहीं किया है और इसकी मान्यता है कि श्वेताम्बर परम्पराके शास्त्रोंके नाम तो जरूर द्वादशांगके अंगोंके नाम पर हैं किन्तु यह बहुत बादकी रचना है—इनमें ऐसी २ घटनायें, और गुरुपरम्पराओंका उल्लेख है जिनमें इनको ईस्वीसनके कई सौ वर्ष बादकी ही रचना माना जा सकता है। श्वेताम्बर परम्पराके पूर्वजोंने सिर्फ अपने सम्प्रदायकी प्राचीनता सिद्ध करनेको ही इन नवीन रचनाओंका संज्ञाकरण प्राचीन अंगोंके नाम पर किया है। इससे कई सौ वर्ष पहिले दिगम्बराचार्य आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य उमास्वामी और स्वामी समन्तभद्र वगैरह अनेकों शास्त्रोंकी रचना कर चुके हैं।

दिगम्बर परम्पराकी इसी बातको निराधार प्रमाणित करनेके लिए श्वेताम्बर परम्पराके विद्वानोंका कहना है कि आचार्य उमास्वामी तटस्थ थे। वे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके भेदोंसे सम्बन्धित नहीं थे, दूसरे

आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र ईसाकी छटी शताब्दीसे बादके हैं, अतः इस आधारसे दिगम्बर-साहित्य को श्वेताम्बर-साहित्यसे प्राचीन नहीं माना जा सकता।

दिगम्बर विद्वानोंने श्वेताम्बर विद्वानोंकी तीनों ही आचार्योंके सम्बन्धमें इस धारणाको निर्मूल कर दिया है और अपने कथनका प्रबल प्रमाणोंके द्वारा समर्थन किया है। जिन लोगोंने यह कार्य किया है उनको मैं दिगम्बर परम्पराका परम सेवक स्वीकार करता हूं। इन विद्वानोंमेंसे जिन्होंने इस कार्यके लिए अथक प्रयत्न किया है तथा कर रहे हैं। श्री मुख्तार साहबका स्थान महत्वपूर्ण है। इस प्रकार जहां मैं मुख्तार साहबको ऐतिहासिक, साहित्यिक, आलोचक और दार्शनिकके रूपमें पाता हूं, वहीं मैं उनको दिगम्बर परम्पराका महान सेवक भी मानता हूं। मेरी हार्दिक भावना है कि वे दीर्घजीवी होकर इससे भी अधिक रूपमें अपने ध्येयका प्रचार करें और उनकी समन्तभद्र भक्तिके प्रभावसे उनको वैसी ही सफलता प्राप्त हो।

यह चर्चा एक ऐतिहासिक चर्चा है और इसको सिल-सिलेसे लिखनेके लिए सैंकड़ों पेज चाहियें इसको मैं कभी दूसरे ही समय लिखना चाहता हूं, किन्तु अभी मुझे मेरे मित्र प्रभाकरजीका पत्र मिला कि इसको अभी लिखो मेरा व्यक्तिगत अनुरोध है। लाचार हो गया और संक्षेपसे बतौर नोटके इसको लिख दिया है। आशा है अनेकान्तके पाठक इन पंक्तियोंसे मुख्तार साहबके इस दिशाके व्यक्तित्वको आंक सकेंगे।

श्रद्धार्घ

श्री बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता

ज्ञान-तापस पंडित जुगलकिशोरजीने जिला सहारनपुर में जन्म अवश्य लिया है। पर मुख्तार साहब अखिल जैन समाजकी विभूति हैं। जैनोंमें जो पोपडम प्रचलित हो चुका था उससे लोगोंको सावधान कर उनके अज्ञानमें शिथि-लता आपने ही उत्पन्न की है। ऐतिहासिक साहित्य जगत आपका ऋणी है। आपके अनुसंधानमें मौलिकता है। साहित्यमें आपने एक नूतन युग ला दिया है। जैनसमाजमें इतिहासके प्रति अभिरुचि आपने ही उत्पन्न की है। जैन-साहित्यके अनमोल रत्नोंकी परख आपने की है। मांडले साहेबने कहा है कि "मनुष्य शेक्सपियर, मनुष्य शेली इत्यादि आख्या भ्रमात्मक है क्योंकि मनुष्य जो लिखता है, उसकी व्यक्तिसत्ता उससे अलग हो नहीं सकती" रचनाके मध्यमें ही युगवीरजीका सम्पूर्ण परि-चय मिलजाता है। युगवीरजीकी प्रतिभाकी आलोचना अन्धोंके हस्तिदर्शनकी तरह असम्पूर्ण है। जैन समाज आप का कृतज्ञ है और सदा ऋणी है—मातृ ऋणकी तरह यह अपरिशोध्य है। जिस महात्माने सारा जीवन और सारी सम्पत्ति ही नहीं किन्तु जीवनकी साधारण आव-श्यकताओं तककी अवहेलना करते हुए जैन साहित्यकी सेवा की है, इसे हम दो मिनट विचारें, तो अखिल जैनसमाजमें हमें एक भी ऐसा महात्मा न मिलेगा। मैं तो उन्हें निस्पृह तपस्वी समझता हूं।

मैं ऋषितुल्य शान्त अत्यन्त सरल उनके व्यक्तित्वके प्रति इस शुभ अवसर पर हार्दिक अभिनन्दन ही नहीं किन्तु आन्तरिक श्रद्धार्घ अर्पण करता हूं।

हमारे गर्व

श्री दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ

पं० जुगलकिशोरजीका साहित्यिक अध्यवसाय महत्व-पूर्ण है और जीवन आदर्श।

हमारे देशमें ऐसे साहित्य-सेवक हैं; यह गर्वकी बात है।

मेरा अभिनन्दन

प्रो० श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, तर्कशिरोमणि, एम० ए०

जो व्यक्ति स्थायी साहित्य-रचनाके द्वारा समयकी सैकतस्थली पर अपने चरण-चिन्ह छोड़ जाते हैं, उनमेंसे अन्यतम श्री जुगलकिशोरजीका मैं उनकी ६७ वीं वर्ष गांठ के शुभ अवसर पर हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

मुख्तारजीकी विचार धारा

एक निबंध

लेखक—श्री पुरुषोत्तम मुरारका 'साहित्यरत्न'
तथा श्री जमनालाल जैन 'विशारद'

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओंके विशाल जैन साहित्यको जो अभी तक अमाके अंधकारमें, सहस्राब्द तथा शताब्दियोंसे, पवेस्तानका आनन्दोपभोग कर रहा था प्रकाशमें लानेका श्रेय जिन अंगुलिकापर गिनने योग्य विद्वानो तथा महारथियोंको है उनमें श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका स्थान अत्यन्त ऊँचा है। उनके जीवनके बहुमूल्य ३६ वर्ष निस्वार्थभावसे साधना और तपस्या कर धर्म और संस्कृतिकी ज्योतिको, उसके वास्तविक स्वरूपको, उसकी छिपी हुई आभाको, उसके सात्विक सौंदर्यको जो समयके दूषित प्रभावसे विलीन होने जा रहा था, जीवनरहित हो अचेतन होनेकी ओर आकृष्ट हो रहा था, अपनी स्वार्थशून्य सेवापरायण प्रवृत्ति द्वारा सजीवता प्रदान करनेमें लगे।

अनेकान्तका प्रकाशन तथा उसका पक्षपातशून्य संपादन मुख्तारजीकी स्वार्थरहित सेवाका एक सुन्दर अंग है। हमारे समाज और साहित्यमें पत्रों तथा सम्पादकोंकी कोई कमी नहीं, किन्तु उनमें कितने ऐसे हैं जिन्होंने सदैव अपनी आत्माकी पुकार सुनी, अपने सिद्धान्तोंकी प्रतिमा ही सदैव अपने अंतःकरणमें देखी, उसके सम्मुख भेदभाव तथा पक्षपातका समस्त सुवर्णप्रासाद खंडहरोंमें परिणत कर दिया! हमारे संपादकोंमें कितने ऐसे हैं जिन्हें श्री जुगलकिशोरजी तथा पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी श्रेणीमें रखनेका साहस किया जा सके!

श्रद्धेय श्री मुख्तारजीके जीवनका एक एक क्षण, उनके जीवनका एक एक पल, हमारे लिए एक भव्य आदर्शकी वस्तु है। उनकी कठिन तपस्या नवयुवकोंमें उत्साह और उमंगकी आंधी उठा सकती है, अविश्रांत कर्मण्यता हमारे अकर्मण्य युवकोंमें यौवनकी शक्तिका सदुपयोग करनेकी ओर उन्हें आकर्षित कर सकती है, उनकी निस्वार्थ रागरहित धर्म और साहित्यसेवा हमारे सन्मुख इस भव्य आदर्शको रख सकते हैं कि धर्म और साहित्यकी सेवाका पथ स्वार्थके संकुचित पथपरसे होकर नहीं जाता, वह तो निरभिमान, सात्विक त्यागके राजमार्गपरसे होकर ही निकलता है।

भारतीय साहित्यके लिए जितना परिश्रम सर रामकृष्ण भांडारकर, श्री सर देसाई, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, सर राधाकृष्णन तथा श्री क्षितिमोहनजी सेन शास्त्री आदि महारथियोंने किया है अथवा कर रहे हैं, उसी कोटिमें मुख्तारजीका परिश्रम स्तुत्य है। मुख्तारजीका विचार सदैव जैनसाहित्यके अनुसंधान तथा गवेषणा द्वारा, उसके प्रकाशन द्वारा गौरवमयी प्राचीन भारतीयसंस्कृति, जो परवशताके पाशके कारण आज विस्मृतिकी वस्तु बन गई थी, प्रकाशमें ला उसकी महानताका दर्शन करा हमें सजग करनेका रहा है। मुख्तारजीने गवेषणा तथा अनुसंधानको ही अपना प्रधान कार्य क्यों चुना? वे पुरातत्त्वकी खोजकी ओर ही क्यों इतने अधिक आकृष्ट हुए? इसका कारण है उनका सुदृढ़ विचार तथा देशभक्त हृदय। उन्होंने जान लिया था कि भारतका अतीत महान था, वह आज भी महान है तथा उसका भविष्य भी अत्यन्त महान तथा उज्ज्वल है।

श्री जुगलकिशोरजीके हृदयमें स्वभावतः ही समाजप्रेम, साहित्यप्रेम, धर्मप्रेम तथा विश्वप्रेमकी आग सुलग रही थी। मुख्तारजीका हृदय उन्हें बार बार उनके मनकी वाणी तथा अंतःकरणकी पुकार सुननेके लिए आकुल कर रहा था। उनके लिये देशसेवाका सर्वश्रेष्ठ पथ था धर्मसेवा और धर्मसेवाका सर्वश्रेष्ठ मार्ग था साहित्यसेवा और साहित्यसेवाका सर्वश्रेष्ठ उपाय था उसे संजीवन प्रदान करना, उसे मुक्तिप्रदान करना, उसके सत्यरूपको असतके प्रभावके कारण जो अभी अंधकारमें है, प्रकाशमें लाना, उसकी छिपी, बिखरी तथा विस्मृत शक्तियोंका प्रदर्शन

करना, उसे प्रकाशकी रश्मियाँ अर्पित करना, उसे संसारके सन्मुख जैसा है वैसा ही चित्रित करना। इसी लिये मुख्तारजीने अपनी प्रवृत्तिके प्रवाहको साहित्यसेवा, साहित्य साधनाकी ओर प्रवाहित किया।

साहित्य सेवाके उषा कालमें ही उन्होंने जान लिया था कि वर्तमान परिस्थितिमें सच्ची साहित्य सेवा असंभव है क्योंकि भारतका विस्तृत और प्रचण्ड साहित्य तो जेलकी चहारदीवारियों तथा कालकोठ-रियोंमें अपने शापित जीवनके विषैले क्षणोंको व्यतीत करनेके लिए विवश किया जा रहा है, उसकी स्वतंत्रता उससे छीन ली गई है, उसकी स्वच्छन्दता पर बंधनके सौ सौ अंकुश लगा दिए गए हैं, उसे स्वच्छ वायुसेवन तथा रविरश्मिसे भी जो जीवनी शक्तिके प्रधान अंग हैं विलग रक्खा गया है। ऐसी अवस्थामें सच्ची साहित्यसेवा क्या संभव थी! उन्होंने निश्चय किया प्राचीन साहित्यके नूतन संस्कारका, उसे पुनरुज्जीवित करनेका, उसके पूर्ण उद्धारका, उसे झूठे धर्माभिमानियों तथा धर्मान्ध लोगोंकी गुदड़ीमें छिपा हुआ लाल न बना सर्वसुलभ, सुकुमार, सुंदर तथा लुभावना शिशु बनानेका जिससे भारतीके मंदिरमें पवित्र भावसे सेवा और भक्ति करने वाले सभी साधकोंको वह उपलब्ध हो सके। पंडित जुगल-किशोरजी मुख्तारने इसी प्राचीन तथा बन्दी जीवन व्यतीत करने वाले लोकोत्तर तथा उत्कृष्ट साहित्यको मुक्त करनेका तथा उसके महान कर्ताओंको अमरत्व प्रदान करनेका, जिन्हें संसार आज तक भूले बैठा था। उसे प्रकाशमें लानेका वह सत्प्रयत्न उन्होंने किया जिसे देख सब दंग रह गए। उन्होंने इसके लिये अपने जीवन के अनमोल तथा सर्वश्रेष्ठ ३६ वर्षोंको होम दिया और आज भी अपनी उसी अविश्रांत तथा अनवरत साधनामें वे लीन हैं। संसार उन्हें कुछ भी समझे वे अपनी साधनाके मोती गुम्फित करनेमें लवलीन हैं।

जैन समाजशास्त्र तथा साहित्यके अद्वितीय मनीषी और प्रगल्भ विद्वान, प्राचीन संस्कृत, प्राकृतआदि भाषाओंके प्रकाण्ड पण्डित, इतिहासके अपूर्वतत्त्वज्ञ, पुरातत्वके प्रखर समालोचक, भारतीय संपादकोंमें शिरोमणि श्रद्धेय श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार चिरायु हों!

जीवनकी दिशा

श्री विद्यानन्दजी छछरौली

धर्म—मानव जातिके उच्चतर मनकी चीज है, मनुष्यके उच्चतर मनकी चेष्टा है जिसके द्वारा वह अपनी शक्तिभर अपनेसे परेकी किसी वस्तुको प्राप्त करना चाहता है, उस वस्तुको जिसे मानव जाति ईश्वर, परमात्मा, सत्य, श्रद्धा, ज्ञान या अर्चना किसी प्रकारकी निरपेक्ष सत्ताके नामसे पुकारती है, जहाँ तक मानव मनकी पहुंच नहीं होने पर भी वह जहाँ पहुंचनेकी चेष्टा करता रहता है—इस चेष्टाका नाम ही धर्म है।

श्री महावीर स्वामी संसारसे अलग होकर एकांतमें चले गए ध्यान लगा कर बैठे उन्होंने संसारके दुःख और कष्टोंसे यह सब जो रोग और मृत्यु, इच्छा और पाप एवं क्षुधा है उससे त्राण पानेका मार्ग निकाला। उनको एक सत्यका दर्शन हुआ और उन्होंने इस बातकी चेष्टा की कि वे इस सत्यको अपने इर्द गिर्द जमा हुवे अनुयायियों और शिष्योंको बताएं और देदें।

सभी धर्मोंका जन्म किसी महान जगद्गुरुके आविर्भावको लेकर होता है। जगद्गुरु इस पृथ्वी पर आते हैं सत्यको प्रकाशित करते हैं और स्वयं किसी भागवत सत्यके मूर्तिमान अवतार होते हैं। परन्तु मनुष्य इस सत्य पर अपना ही कब्जा जमा लेते हैं, इस परसे वे एक रोज़गार खड़ा कर लेते हैं और इसके द्वारा वे एक राजनीतिक संगठन सा बना लेते हैं। मानवी मन अपनी चेष्टा अपनी ही इच्छा एवं रुचिके अनुरूप उस परम सत्यकी व्याख्या करना प्रारम्भ कर देते हैं इस प्रकारसे कालान्तरमें विशुद्ध, निर्मल, स्वयं प्रकाशके सामने धुंध आजानेसे लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं।

श्री महावीर स्वामीके निर्वाणके पश्चात् भी इसी प्रकार दशा हुई। समयके हेरफेर तथा स्वार्थ और अज्ञानके कारण भिन्न ग्रन्थोंकी रचना तथा भिन्न भिन्न व्याख्याओंसे जड़ता बढ़ती चली गई और विपथगामिता होती चली गई।

ऐसे विकट समयमें ही कोई विभूति-शक्ति उस परम सत्यकी झलकको अपनी आत्मामें प्राप्त कर उस परम प्रकाश की ओर अग्रसर होते हैं। इन्हीं विभूतिशक्ति पुरुषोंमेंसे श्री जुगलकिशोर मुख्तार हैं।

[कवि-वाणी]

स्वागत

प्रो० श्री गयाप्रसादजी शुक्ल एम० ए०

अर्चना, सत्कार, स्वागत
आज वाणी-वन्दना-रत, साधकोंका समुद स्वागत
हो तुम्हें स्वीकार आगत !
भावनाएँ उतर स्वर में
हृदयमें कुछ गीत नीरव
नयनमें श्रद्धा-जनित हर्षाश्रु-
अंजलि विमल अभिनव
कर न आकर्षित सकेंगी सत्य ही हे साधना-रत !
अर्चना, सत्कार, स्वागत !
यह नमित तरु-राजि सुमनावलि—
अरुणिमा - सान्ध्य कुंकुम
विहग - रवकी शंख - ध्वनिसे
प्रकृतिका अविराम वन्दन ।
भावना-नीराजना-सा अमर हो नव वाङ्मय व्रत !
अर्चना, सत्कार, स्वागत !
आज वाणी-वंदना-रत, साधकोंका समुद स्वागत
हो तुम्हें स्वीकार, आगत !

प्रणाम

श्री अखिलेश 'ध्रुव'

हे प्रतिभाके वरद पुत्र, तुमको प्रणाम, शत शत प्रणाम !

कुछ हैं जो धनकी माया पर
रहते हैं दिन औ' रात लीन !
कुछ हैं जो यशकी ममतामें
रहते हैं दिन औ' रात लीन ।

धनमें यशमें मदमायामें तुम विदूर निस्पृह प्रकाम !
हे प्रतिभाके वरद पुत्र, तुमको प्रणाम, शत शत प्रणाम !

नित नूतन ग्रंथोंके स्रष्टा,
नित नूतन भूलोंके शोधक,
नित नूतन तत्वोंके खोजी,
नितनूतन भ्रमके उद्बोधक,

साहित्य सृष्टि, इतिहास-शोध, यह ही चिन्ता बस सुबह शाम !
हे प्रतिभाके वरद पुत्र, तुमको प्रणाम, शत शत प्रणाम !

अभिनन्दन

श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

जैन जातिके उज्ज्वल रत्न,
शोध-शशि-करके मुग्ध चकोर,
वीर-सेवा-मन्दिरके श्रेष्ठ—
तपस्वी, साधक, जुगलकिशोर ।

विचक्षण, साधु-व्रती, 'युगवीर',
धुरंधर पंडित, नम्र महान,
सतत साहित्य-गगनके चाँद,
भारतीके हँसते—से प्राण ।

नियन्ता जैनधर्मके, दिव्य समालोचक, उद्भट विद्वान,
विचारक, अनुसंधाता, उच्च भावनाओंके शुभ आह्वान ।
चक्रवर्ती, साहित्यिक वीर, चतुर लेखक, कवि प्रतिभावान,
कर्मयोगी, त्यागी, समुदार, सरल मृदुभाषी, निरभिमान ।
राष्ट्र—उन्नतिके ऊँचे स्तम्भ, देश—सेवाके निर्मल स्रोत,
धर्मके सच्चे संरक्षक, बुद्धि विद्यासे ओत:प्रोत ।

महात्मा, सम्पादक सम्राट्,
मात्र प्राणीके सहृदय मित्र ।
रहेंगे युग तक शोभावान—
आपके सब साहित्यिक चित्र ।

कला—कृतियोंसे करके पूर्ण,
मातृ—भाषाका शुभ भण्डार;
जियें युग युग श्रीजुगलकिशोर,
देर तक करें देश उपकार ।

साहित्य तपस्वी

श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि'

सरस्वती-सुत सा विशाल उज्वल साहित्य प्रसारा !
ज्ञानहिमालयका हृदयोदक से पद-पद्म पखारा !
भानमतीके भरे भालमें केवल भान निहारा !
गिरिनिर्झर सी जनहित प्रकटी अनेकान्तकी धारा !

वन्दनीय अभिनन्दनीय तुम हे, साहित्य-तपस्वी !

सुप्त-आत्माओंको जीवनभर झकझोर जगाया !
ज्ञान सुधा-साहित्य सृजनसे अमृत-रस सरसाया !
प्राच्य-गिरा, इतिहास, कला-कौशलका मान बढ़ाया !
असफलतासे जूझ जूझकर जीवन सफल बनाया !

सेवामन्दिरके एकाकी – पूजक–भक्त – यशस्वी !

एक लक्ष औ' एक लगन धुनके पक्के दीवाने !
जर्जर जीवनकी नैयापर अटल सुदृढ़ प्रण ठाने !
दूर क्षितिज पर रचनात्मक जीवन प्रकाश पहिचानें !
तुम बढ़ते ही गये निरन्तर उन्नत छाती—तानें !

जुग जुग जियो अमरता-रस पी-पीकर वीर मनस्वी !

श्रद्धाञ्जलि

श्री प्रभुलाल जैन 'प्रेमी'

विकसित सुन्दर भाव कुसुमका, गूंथा मनमन्दिरमें हार !
पगले प्रेम पुजारीकी यह, भेंट करोगे क्या स्वीकार ?
मनमें है संकोच यही बस और न मैं कुछ लाया हूँ ।
केवल आज भाव-कुसुमोंकी अञ्जलि देने आया हूँ ॥

श्रद्धाके फूल

श्री 'भगवत्' जैन

ओ, साहित्य-तपस्वी ! तेरे प्रति मेरी श्रद्धाके फूल !
लालायित हैं पदरज छूने, करले इन्हें सप्रेम कबूल !!
तूने बतलाया कि लुभा सकता कब साहित्यिकको धन ?
खुद जलकर प्रकाश देना ही, सच्चा साहित्यिक-जीवन !!
नतमस्तक होता है सविनय, काव्य-कलाके अनुरागी !
तन, मन, धन, सर्वस्व निछावर, करदेने वाले त्यागी !
अमर-मार्गके राही ! तेरी अजर-अमर-सी सेवाएँ !
प्रेरित करतीं अन्तरंगको—यही मार्ग हम अपनाएँ !!
काव्य-साधनाके चरणोंपर, तूने कर अपनेको दान !
पाया वह अमरत्व, दानका है यथार्थमें जो प्रतिदान !!
नश्वर तनके पंच-तत्व ये— चाहे कभी बिखर जाएँ !
लेकिन पीछे तुझे रखेंगीं—जीवित तेरी रचनाएँ !!
तूने अन्वेषणके द्वारा—किया अमिट मानव उपकार !
दूर किया है अन्धकार, कर नव्य-रश्मियोंका संचार !!
है कृतज्ञ मानव-मन, पाए तू हे भगवत् ! चिर-जीवन !
तेरी नव्य, भव्य कृतियोंसे शोभित हो साहित्य-सदन !!

धन्य जीवन श्री जुगलकिशोर !

श्री मामराज शर्मा 'हर्षित'

सत्यका लिये मधुर सन्देश त्यागमय ले जीवन निष्काम !
बना श्री वीर नीतिका स्रोत 'वीरसेवामन्दिर' निज-धाम ।!
विश्वके श्रेष्ठ जैन विद्वान भारतीके मंजुल आलोक !
विकसते 'अनेकान्त' के प्राण जैन साहित्य सुधाके लोक !!
भावनाओंके जीवनमूल सत्यशिवसुन्दर अविचल धीर !
हृदयमें अहरह रहते मौन जैनशासनके अनुपम वीर !!
ज्ञानकी दिव्य ज्योति दे सूक्ष्म विश्वको करते ज्योतिर्मान !
मिटाते जगके अन्तर्द्वन्द जगाते जगका अन्तर्ज्ञान !
जैनशास्त्रोंका सत्य रहस्य प्रकट करते हो आत्मविभोर !
वीर प्रभुके अनन्यतम भक्त धन्य जीवन श्रीजुगलकिशोर !

तुम ढाल रहे जीवन क्षण-क्षण

श्री ओमप्रकाश, सरसावा

तुम ढाल रहे जीवन क्षण क्षण !
भगवान वीरके अनुगामी,
'युगवीर' बने इस जीवनमें।
बन सत्य अहिंसाके वाहक,
सन्देश दे रहे कण कणमें।
जिससे समाजमें है सिहरन !
साहित्य स्वरोंपर गाते हो,
तुम अनेकान्तका अमरगान।
पुरुषार्थहीन मानव जिससे
पाता पग पग पर नवल प्राण।
भरते मानव मनमें स्पन्दन !
तव कीर्ति प्रभासे आलोकित
मञ्जुल 'सेवा-मन्दिर' विशाल।
बह रही शोध-सरिता, जिसमें
नव वीर-ज्ञान मुक्ता प्रवाल।
निश्चिन्त करे कोई मज्जन !
तुम पुरातत्व-अनुसन्धाता
सद्ग्रन्थोंका करते सुधार।
मञ्जुल अतीतके चित्र बना
दिखलाते जगको चित्रकार।
सेवा समाजकी तव चिन्तन !
हे वीरव्रती, हे धर्मव्रती—
हे त्यागमूर्ति, माँके सपूत।
पंकिल नगरीके पद्मकोष,
इम रत्नोंकी उज्वल विभूत।
चिरजीवी तेरा यश-जीवन।
दे डाला है तुमने जीवन,
जीवन समाजमें लानेको।
सर्वस्व किया अपना अर्पण,
प्रिय धर्मध्वजा फहरानेको।
तव ऋणी बना 'आकुल' कण कण।
तुम ढाल रहे जीवन क्षण क्षण।

जय जय जुगलकिशोर !

ले—श्री बुद्धिलाल श्रावक, देवरी

निद्रित जैन समाजकौ, जाग्रित कियौ बिभोर।
जियहु जियहु, जुग जुग जियहु, जय जय जुगलकिशोर ॥ १ ॥
सरसावामे शहरमें, सेवा मन्दिर सार।
जिन धुनि निगम निवास तैं, जिनमंदिर उनहार ॥ २ ॥
शोध बोधमँह निपुण अति, पंडित परम प्रवीन।
जिन धर्मी मरमी अमित, सत्य सिन्धु स्वाधीन ॥ ३ ॥
लेखक आलोचक सुकवि, जैन जगत विख्यात।
धन्य धन्य तुम धन्य हौ; धन्य मातु पितु भ्रात ॥ ४ ॥
गुण गाथा है आपकी, अगनित सुगुन निकेत।
मैं लघु मति नहिं लिख सकौं, परिमित शक्ति समेत ॥ ५ ॥
अरे ! शोक की हर्ष सौ, जोड़ी रहत कचूक।
अतः याद आ ही गई, शोक थोककी हूक ॥ ६ ॥
जजा जिनके आदिमें, श्रीमन् जम्बुप्रसाद।
जैनी जुगलकिशोरजी, श्रीवर जोतिप्रसाद ॥ ७ ॥
तुलना चारितकी लही, श्रीमन् जम्बुप्रसाद।
सम्यक ज्ञान पुनीत वत, श्रीयुत जोतिप्रसाद ॥ ८ ॥
मुए, कालवश, सुर हुए; हा ! हा !! चारित ज्ञान।
बचे शेष सम्यक्त्ववत, जुगलकिशोर सुजान ॥ ९ ॥
यदि होते दो आत्मा, जम्बू जोतिप्रसाद।
तब तौ हो तौ आज दिन, सहस गुणित अहलाद ॥ १० ॥
अहो ! हर्षमें शोककी, चरचा अशुभ सरूप।
तौ भी मन मानौ नहीं, चंचल अतुल अनूप ॥ ११ ॥
मानै द्रग हू नेकु नहिं, सहसा हुए सनीर।
बिसरायें बिसरौ नहीं, हा ! वियोगकी पीर ॥ १२ ॥
फिर भी यह संतोष अब, मानौ जैन समाज।
समकित बल बहुते बनै, ज्ञान चरित भी आज ॥ १३ ॥
इन्द्र लोकमें इन्द्रवत; जम्बू जोतिप्रसाद।
सबकौ हमकौ दै रहे, हार्दिक आशिरवाद ॥ १४ ॥
अरे ! शोक जो पासमें, परौ हतौ प्राचीन।
बना हर्षमें आज सो, नौतम नव्य नवीन ॥ १५ ॥
तातैं यह शुभ कामना, जैनी जुगलकिशोर।
जैन जाति अवलम्ब जो, जीवहिं बरस करोर ॥ १६ ॥
जय जय जुगलकिशोरजी, जैन जातिके वीर।
जिन बानी सेवक चतुर, जय जय साहस धीर ॥ १७ ॥

तन मन धन सर्वस्व सब, दियौ दान भरपूर।
अनुग्रह निज पर पै कियौ, कियौ मोह तम दूर ॥ १८ ॥

नेहा, नाना लब्धि तैं, तोरौ तत्व विचार।
नहीं तौ तजती वह तुम्हें, यही वस्तु व्यवहार ॥ १९ ॥

अनेकान्त अभ्यास तैं, अनेकान्त वर पत्र।
करत अनेकौं हृदय पै, अनेकान्त कौ छत्र ॥ २० ॥

मैं मैं तू तू मिट गई, आमनाय वा पंथ।
कियौ संगठन प्रेम सौं, दियौ मंत्र सद ग्रंथ ॥ २१ ॥

खैंच तान मति भेद कौ, मचौ हुतौ अतिशोर।
किये एक सब बंधुवर ! जय जय जुगलकिशोर ॥ २२ ॥

कोटि कोटिके दान कौ, उतनौ गिनूं न मान।
अर्द्ध लक्षके दानकौ, जितनौ है गुनगान ॥ २३ ॥

जौ लौं जल जमुना धरैं, जौ लौं गंग तरंग।
तौ लौं निवसौ शर्म सह, धर्म मर्म सतसंग ॥ २४ ॥

उदय और सत्ता धरैं, जौ लौं प्रत्याख्यान।
तौ लौं बल सरधानके, करौ स्वपर कल्याण ॥ २५ ॥

पुस्तक मेरी भावना, और अनेकौं ग्रंथ।
अजर अमर होकर रहैं, दरशावें शुभ पंथ ॥ २६ ॥

जितनी हिन्दी हिन्दकी, बनै शक्ति भर सेव।
साहस सहित सम्हारियौ, यही विनय है देव ॥ २७ ॥

सेवक श्रावक पै सदा, सरधा सहित सनेह।
नातौ नित्य निभाइयौ, प्रेमपुंज गुण गेह ॥ २८ ॥

नर पुंगव ऐसे महा, ए री ! जैन समाज।
पाये तूने कौनसैं, सो बतला दे आज ॥ २९ ॥

दादा सूरजभानकी, सतसंगति रमनीक।
गुरु गुड़, चेला खांडकी, कही पहेली ठीक ॥ ३० ॥

बाबा सूरजभानके, जानौ दो संतान।
पहलौं जुगलकिशोर ही, पुनि शुभचंद सुजान ॥ ३१ ॥

स्वागत विधि जानौं नहीं, कैसौ क्रिया कलाप।
चूक टूंक यदि होय तौ, क्षमा कीजियौ आप ॥ ३२ ॥

स्वागत तुम चाहत नहीं, नहिं स्वागत सौं नेह।
केवल निज कर्तव्य बश, भेटैं सहज सनेह ॥ ३३ ॥

श्रावक नर माहात्म पै, अक्षर लिखै न एक।
जीवन मुक्त विचारकैं, विरद बखानौ नेक ॥ ३४ ॥

हाजरीन जलसा तिन्हैं, विनय करूं कर जोर।
सब साहब मिल कर कहौ, जय जय जुगलकिशोर ॥ ३५ ॥

श्री मुख़्तार साहबके प्रति

श्री कपूरचन्द जैन 'इन्दु'

साहित्यिकके सुसम्मानका, भाया है मनको निश्चय।
सुगम नहीं देना पर मुझको पूज्य वयोधिकका परिचय ॥

गुणराशि सामने रखनेमें कुछ न्यूनाधिक हो सकता है।
बाहुल्य गुणोंका देख मनुज, अत्युक्ति सत्यमें कहता है ॥

पर सत्य न दाबे दबा कभी, व्यापक उसके अणु नभतलमें
फिरता समीर है लिए-लिए उसको विह्वलसा भूतलमें !!

मुख-मुखसे कर्णागत होता, हृत्तार-तारसे यह संगीत !
मुख्तार तुम्हीसे वर्तमान, कहलाएगा पावन अतीत !!

कर पुरातत्वका अनुशीलन, जो दिखा सके गौरवलाली !
सदियों तक दीप्तिमान होगी, वह नहीं कभी मिटनेवाली !

हैं बहुत तुच्छ सम्मान-हेतु, जो कुछ भी जुटपाएँ साधन !
सन्तोष इसीसे करलेंगे, कुछ मिटा हृदयका सूनापन !!

मिलता नवीन उत्साह रहा; पा उत्साही नायक प्यारा !
सागरकी ओर उमड़ती हैं, जैसे वर्षाकी जलधारा ॥

श्रीमान् आपकी छिपी नहीं, साहित्यिक-सेवाएँ जो कीं।
अपनी अनुपम-प्रतिभा द्वारा, अनुभूति भारतीमें भरदीं ॥



उत्सव के सभापति
श्री राजेन्द्रकुमार जी
डायरेक्टर भारत बैङ्क लि०, देहली

उत्सव के सभापति श्री राजेन्द्रकुमार जी और दूसरे अतिथि मुख्तार महोदय के निवास स्थान (लाला ऋषभसैन की कोठी) पर श्री जुगलकिशोर सम्मान समिति के सदस्यों के साथ उनका स्वागत कर रहे हैं।



सभापतिका अभिभाषण

(भारत बैंकके डायरेक्टर श्री राजेन्द्रकुमारजी द्वारा)

माननीय भ्राताओ और देवियो !

जब हस्तिनापुरमें विद्वद्वर पं० जुगलकिशोर मुख्तार महोदयके सम्मान-समारोहका सभापतित्व करनेके लिये मुझे कहा गया, तो मेरा मन संकोचसे भर गया; क्योंकि एक विद्वानके सम्मान-समारोहका सभापतित्व करनेके लिये कोई विद्वान ही उपयुक्त होता, पर बादमें मैंने यह आदेश स्वीकार कर लिया। मैंने सोचा कि जीवनमें ऐसा अवसर फिर न आयेगा कि इतने बड़े विद्वानके चरणोंमें मैं बैठूं, उनके यश की उज्ज्वलगाथा सुनूं और अपनी शक्तिभर उनका गुणगान करूँ।

हाँ करनेके साथ ही मेरे सामने यहाँके भाषणका प्रश्न आया और मुझसे कहा गया कि मैं अपना भाषण छपालूं, पर मेरा मन इसके लिये तैयार न हुआ, क्योंकि मुझे यहाँ विद्वत्ताके प्रदर्शन की चिन्ता न थी। मेरे मनमें मुख्तार साहबकी भक्ति थी और १००० पृष्ठोंमें विस्तृत विद्वत्तापूर्ण भाषणसे श्रद्धाका एक शब्द कहीं अधिक श्रेष्ठ है। फिर मुख्तार साहब का कार्य इतना विशाल है कि उसपर जितना भी कह जाऊँ, वह उसके शतांश पर भी प्रकाश न डाल सकेगा, इसलिये मैंने सोचा कि इस महत्वपूर्ण उत्सव पर चलूं और अपने हृदयकी भक्तिभावना प्रकट करूँ।

आजके उत्सवका एक विशेष महत्व है। मैं तो इसे अपने समाजकी जागृतिका त्योहार मानता हूँ। इस उत्सवके होनेकी यह गवाही है कि अब हमारा ध्यान पत्तोंको सींचनेकी जगह मूलकी तरफ गया है। हमारे जीवनका आधार हमारा धर्म है और हमारे धर्मका आधार—संसारके सामने उसे प्रदर्शित करने का साधन—हमारे शास्त्र हैं। हमारे विद्वानोंने भूखे रहकर, तपस्या करके, कष्ट उठाकर भी अपने जीवन की तरह उन शास्त्रोंकी रक्षा की है। इसलिये हमारे धर्म और सामाजिक जीवनके वे संरक्षक हैं, पर हमने उन विद्वानोंके लिये क्या किया? उन्हें मान दिया? उनकी सच्ची सेवा भी कहाँ की?

पिछले २०-२५ वर्षोंसे हम चिल्ला रहे हैं कि हमारी जातिकी दशा खराब है— हम नाशकी ओर जा रहे हैं! जब दूसरी जातियां उन्नति कर रही हैं, उनकी संख्या बढ़ रही है, तब हमारा ह्रास होरहा है। ऐसा क्यों है, अनेक लोग अनेक कारण बताते हैं, पर मैं तो यही कहता हूँ कि इसका असली कारण हमारे विद्वानोंका सम्मान न होना ही है।

अभी कल मैं समयसारकी गाथा देख रहा था। उसमें कहा है कि शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आत्मा दो चीज नहीं हैं। उसे जानना ही सच्चा तत्व है। शुद्ध ज्ञानका और ज्ञानके इन जीवित भण्डारोंका आदर करना ही हम भूल गये। कोई पण्डित हमारे यहां आते हैं तो हम समझते हैं कि चन्दा लेने आये हैं। हमने उन्हें बहुत विद्वान मान लिया, तो बस सोच लिया कि उन्हें दशलक्षणमें बुलालेंगे या कभी शास्त्र बचवा लेंगे और कुछ धन इन्हें दे देंगे। बस यहीं तक हमारे यहाँ विद्वानोंका सम्मान है। हमारी जाति धनी जाति है, वह लाखों करोड़ोंका व्यापार करती है। धनके इस दर्पमें हमने समझ लिया कि हम धनसे पण्डितोंको खरीद सकते हैं। जो पूजाके योग्य थे, उन्हें नौकर समझा, नौकर रखनेका दावा किया, यही हमारे ह्रासका कारण हुआ। हम अपनी इस भूलको समझलें और अपने विद्वानोंका सच्चा मान करना सीखें, यही आजके उत्सवका सन्देश है।

हमारे जैनविद्वानोंमें पं० जुगलकिशोरजीका कार्य

बहुत ऊँचा है, महान है और अनुपम है—वैसा कार्य किसी दूसरेने नहीं किया। समुद्रमें रत्न हैं, सब जानते हैं कि हैं, पर यदि यह मालूम न हो कि कहां हैं, तो हजारों डुबकियां मारनेपर भी न मिलेंगे। फिर यह जानना ही काफी नहीं है कि यहाँ रत्न हैं, उन तक पहुंचने और उन्हें सुरक्षितरूपमें लानेका ढंग भी मालूम होना चाहिये। रिसर्चके काममें रेफरेंसजका बड़ा महत्व है और मुख्तार साहबने हर तरहका कष्ट उठाकर भी जैन साहित्य और इतिहासकी खोजका मार्ग बना दिया है। यह काम कितना कठिन है, हम लोग इसका अनुमान भी ठीक ठीक नहीं कर सकते। काली सड़कोंपर मोटरमें घूमनेवाले लोग उस मनुष्य की दिक्कतोंको कैसे समझ सकते हैं, जिसे घने जंगल में मार्ग ढूंढना पड़ा हो—बनाना पड़ा हो।

एक बार मैं लाहौरमें था और मुख्तार साहब भी वहाँ पधारे थे। मैंने पूछा कि आजकल आप क्या खोज कर रहे हैं? तो आपने बताया कि समन्तभद्र-साहित्यके कुछ शब्दोंका संग्रह कर रहा हूं कि कौन शब्द कहां २ प्रयुक्त हुआ है और किस २ अर्थमें? उस समय वहां मेरे मित्र श्री हरिश्चन्द्रजी जज भी बैठे थे, वे बोले इससे क्या फायदा? यह मेहनत बेकार है। मुख्तार साहबने अत्यन्त शान्तिसे उन्हें समझाया। तीसरे दिन वे बोले कि "यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और अभी तक किसीने नहीं किया है। यदि यह अधूरा रह गया, तो इसे कोई दूसरा विद्वान कर भी न सकेगा। यह कार्य १००० ग्रंथोंके निर्माणसे भी अधिक मूल्यवान है।" पण्डित जीका कार्य एकदम मौलिक है और उस तरहका कार्य करना बहुत कम लोगोंके लिये सम्भव है। 'मेरी भावना' और पं० जुगलकिशोरजी तो मिलकर एक ही होगये हैं। मैंने ऐसे कारखाने देखे हैं, जहां हजारों मजदूर इकट्ठे होकर, झूम झूमकर उसे पढ़ते हैं। पता नहीं कितने तड़फते हृदयोंको उसने सान्त्वना दी है। धीरे धीरे यह छोटीसी पुस्तक राष्ट्रीय नित्यपाठ बनती जारही है। मुख्तार साहब उन लोगोंमें हैं, जो जाति के जीवनको अपने हृदयके रक्तसे सींचते हैं। ऐसे लोगोंके सम्मानसे नई पीढ़ीको बल मिलता है और जातिका जीवन पुष्ट होता है, इस दृष्टिसे उनका सम्मान भी हमारी स्वार्थपूर्ति करता है।

एक बार हम कई साथी हरद्वार गये। दूसरे साथी नहाने लगे, पर मैं किसी काममें लगा था, न पहुंच सका। वे नहाकर मेरी प्रतीक्षा करते रहे। उनमें कुछ चुलबुले युवक थे। यों ही हंसी २ में उनमेंसे एक तो साधु बन गया और समाधि लगाकर बैठ गया और दूसरेने उनके आगे अंगोछा बिछाकर कुछ फूल रख दिये। बस फिर क्या था, जो यात्री आता, प्रणाम करता और पैसे चढ़ाता। मैंने आकर यह तमाशा देखा और मुझपर यह प्रभाव पड़ा कि समाजमें देव-की सृष्टि पूजासे होती है। यही हाल विद्वत्ताका है। विद्वानोंका मान-पूजा करनेसे समाजमें विद्वत्ता बढ़ती है। हमारे समाजमें विद्वत्ताका मान नहीं हुआ, नतीजा सामने है कि पहले जैसे विद्वानोंकी संख्या कम होरही है।

इस उत्सवने हमें यही संदेश दिया कि हमारा समाज अपनी यह भूल सुधारे और अपने विद्वानोंका मान करे। यह सम्मान समारोह करके सहारनपुरके भाइयों ने समाजमें एक उपयोगी नवीन परम्पराका आरम्भ किया है। मुझे आशा है कि उससे जहाँ दूसरे जीवित विद्वानोंके सम्मानके आयोजन होंगे, वहां स्वर्गीय विद्वानों और महापुरुषोंकी स्मृतिरक्षाका प्रश्न भी हमारे सामने स्पष्ट रूपमें आयेगा।

अन्तमें मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे यहाँ बैठाकर मुख्तार साहबके प्रति अपनी हार्दिक भक्ति प्रगट करनेका अवसर दिया।

श्रीसमन्तभद्राय नमः

अभिनन्दनादिके उत्तरमें—

श्री पं० जुगलकिशोर मुख़्तारका भाषण

सभापतिमहोदय, स्वागताध्यक्षजी, स्वागतमंत्रीजी, उपस्थितसज्जनों और सन्देशादिके रूपमें उपस्थित-अनुपस्थित सज्जनों !

आप सबने मिल कर मेरे ऊपर इतना बोझ लाद दिया है कि मेरे लिये उठना और कुछ बोलना भी मुशकिल होगया है !

सबसे पहले मैं उन सब सज्जनोंका आभार प्रकट कर देना चाहता हूँ जिन्होंने मेरे लिये यह सब आयोजन किया है, मेरे लिये दूर दूरसे चल कर इस सर्दीकी मौसममें यहां पधारनेकी कृपा की है और मेरे विषयमें कुछ बोलने, लिखने तथा लिख भेजनेका कष्ट उठाया है। इसके बाद जब मैं आपकी ओर देखता हूँ और यह देखता हूं कि आप सब मेरे लिये एकत्र होकर मुझे अपना रहे हैं—प्रेमकी-आदर की दृष्टिसे देख रहे हैं, मेरे लिये शुभकामनाओं तथा शुभाशीर्वादोंकी वर्षा कर रहे हैं और इस तरह अपने व्यवहार से यह भी प्रकट कर रहे हैं कि अब मैं आपकी नज़रोंमें 'घरका जोगी जोगना' नहीं रहा, तब मेरे लिये प्रसन्नताका होना स्वाभाविक है। आत्मीयजनोंके मध्यमें स्थित होकर और आदर-सत्कार पाकर किसे प्रसन्नता नहीं होती ?

परन्तु जब मैं अपनी ओर देखता हूँ तो मुझे बड़ा संकोच होता है और साथ ही आश्चर्य भी। क्योंकि मैंने अपनी दृष्टिमें ऐसा कोई महान् कार्य नहीं किया जिसके लिये इतने सम्मानका भाजन बनूँ—मैं अपनी त्रुटियों, कमियों और कमज़ोरियोंको स्वयं जानता हूं। दूसरोंने मुझसे भी अधिक विरोधी वातावरणमें विद्युद्गतिसे काम किया है। मैं तो एक तुच्छ सेवक हूँ। मुझमें यदि कोई विशेषता है तो इतनी ही है कि—'जैनधर्म और समाज-सेवाके प्रति मेरी श्रद्धा अटल और अडोल रही है। समाजका कोई व्यवहार, कोई तिरस्कार, कोई कटूक्ति (कड़वा बोल), कोई उपेक्षा और कोई सन्देह-दृष्टि मुझे उससे डिगा नहीं सकी। मैं बराबर परिश्रम करके, लगनके साथ, शीघ्र फलकी पर्वाह तथा आतुरताको हृदयमें स्थान न देते हुए, कुछ-न-कुछ सेवाकार्य निरन्तर करता ही रहा हूँ—भले ही वह कितनी ही मन्दगतिसे क्यों न हो और उसका मूल्य भी कितना ही कम क्यों न हो।

मेरी इस परिणति और प्रवृत्तिका कुछ प्रारम्भिक इतिहास भी है। आजसे कोई ४३ वर्ष पहले मैं यहां (सहारनपुरमें) बम्बई-प्रान्तिक-सभाके उपदेशकके रूपमें आया था। उस वक्त ऐंट्रेन्स (मैट्रिक) पास कर लेनेके बाद किसी दफ्तरमें शीघ्र नौकरी न मिलनेके कारण मैंने प्रान्तिक सभा बम्बईके उपदेशक-विभागमें नौकरी करली थी, जिसके प्रोग्रामके अनुसार मेरे उपदेशकीय दौरेका पहला स्थान (सरसावासे चलकर) सहारनपुर रक्खा गया था, और इस लिये उपदेशककी हैसियतसे मेरा पहला उपदेश इसी सहारनपुर नगरमें हुआ था। इस उपदेशकीको करते हुए कुछ ही दिन बाद, जब मैं बम्बईसे गुजरात-काठियावाड़के दौरे पर था, न मालूम किस तीर्थदर्शन अथवा परिस्थितिके वश जिसका मुझे इस वक्त ठीक स्मरण नहीं है, मेरे हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि 'मुझे पैसा लेकर उपदेश नहीं देना चाहिये—हो सके तो यह काम सेवाभावसे ही करना चाहिये।' तदनुसार मैंने उपदेशकी की नौकरीको छोड़ दिया और उपदेशक-विभागके मंत्रीको अपना स्पष्ट-निर्णय लिख भेजा। उस वक्तसे निःस्वार्थ सेवाकी मेरी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और मैंने आज तक अपनी किसी भी रचनाके लिये—चाहे वह लेख, कविता, अनुवाद, अनुसन्धान, ग्रन्थनिर्माण और सम्पादन आदि किसी भी रूप में क्यों न हो—पारिश्रमिक तथा पुरस्कारादिके तौर पर कोई भी पैसा किसीसे नहीं लिया है। मेरी सारी कृतियाँ सबोंके उपयोगके लिये सदा खुली रही हैं—रॉयल्टी आदिके बन्धनोंमें भी मैंने उन्हें नहीं बाँधा है। मैंने जो

कुछ भी सेवाकार्य किया है वह सब अपना कर्तव्य समझ कर किया है और कर्तव्य समझ कर ही कर रहा हूँ। फिर इसके लिये इतने मान-सम्मान, गुण-गान और इतने अधिक आयोजन-समारोहकी क्या ज़रूरत ? यह मेरी कुछ समझमें नहीं आता, और यही सब देख कर मुझे आश्चर्य होता है !

जान पड़ता आप सब सज्जनोंका हृदय अब बहुत उदार हो गया है। साथ ही, आपकी दृष्टि विशाल तथा ऊँची होगई है अथवा यों कहिये कि वह खुर्दबीन बन गई है, जो छोटी छोटी चीजोंको भी बड़े बड़े आकारमें देखने लगती है; इसीसे आप मेरे जैसे तुच्छ सेवकको भी अपने हृदयमें ऊँचा आसन दे रहे हैं, ऊंची दृष्टिसे देखने लगे हैं और मेरे छोटे छोटे सेवाकार्य भी अब आपकी दृष्टिमें बड़े बड़े अथवा भारी महत्वके जँचने लगे हैं। और इस तरह आप मेरे उस सम्मानके लिये जमा हो गये हैं जिसका मैं पात्र नहीं। दूसरे शब्दोंमें यह सब आपका सौजन्य है और इसके द्वारा आपने मुझे अधिक आभारी बनाया है।

परंतु मुझे भय है कि कहीं आपके सम्मानका यह भारी बोझा मेरी गतिको मन्द न करदे—बोझसे अक्सर आदमी दब जाता है और उसकी गति मन्द पड़जाती है। हो सकता है इसमें आपका उद्देश्य मेरी गतिको कुछ तेज़ करनेका ही हो; जैसा कि सभापतिमहोदय और दूसरे प्रवक्ताओंने भी अपने भाषणोंमें इस ओर संकेत किया है कि ऐसे सम्मानों से प्रोत्साहन मिलता है और कार्य प्रगति करता है; परन्तु मेरे जैसे स्वेच्छासे स्वयंसेवककी गति अब इस वृद्धावस्था में और क्या तेज़ होगी वह कुछ समझमें नहीं आता ! जब तक कि किसी असाधारण टानिकका योग न मिले। हाँ, इससे दूसरे नवयुवकोंको प्रोत्साहन ज़रूर मिलेगा—वे देखेंगे समाजमें सेवकोंकी कद्र होती है और इस लिये उन की सेवा-भावना तीव्र बनेगी।

मेरी तो अब श्री जिनेंद्रदेवसे यही प्रार्थना है कि 'आप के शासनाभ्यासके प्रभावसे मेरे हृदयमें इस मान-सम्मानके कारण हर्षका संचार न होने पावे।' क्योंकि मैं हर्षको भी शोककी तरह आत्मशत्रु समझता हूँ। नीति-शास्त्रकारोंने भी अरिषड्वर्गमें उसे आत्माका अन्तरंग-शत्रु बतलाया है। हर्षके चक्करमें पड़कर अक्सर मनुष्य अपनेको भूल जाता है, अहंकारी बन जाता है और उसकी कार्यगति मन्द पड़ जाती है। अतः ऐसा न होना चाहिये।

अभिनन्दन-पत्रादिके रूपमें जो मान-सम्मान आपने मुझे प्रदान किया है उसको सादर स्वीकार करके अब मैं उसे अपने आराध्य गुरुदेव स्वामी समन्तभद्रको अर्पण करता हूँ, जिनके प्रसादसे ही मैं इस सब मान-सम्मानको पानेके कुछ योग्य बना हूँ; अन्यथा मेरी शिक्षा थोड़ी, विद्या थोड़ी, पूंजी थोड़ी और शक्ति थोड़ी। उन्हीं पूज्यवर की कोई शक्ति—उनके प्रकाशकी कोई किरण—मेरे अन्दर काम करती हुई मालूम होती है। उसीके सहारे एवं आधार पर मैं उन कार्योंको कर पाया हूँ जिनकी प्रशंसा करनेके लिये आप सब एकत्र हुए हैं और मुझे अभिनन्दन पत्र दे रहे हैं। मेरे जीवनमें ऐसे सैंकड़ों प्रसंग उपस्थित हुए हैं जब सोचते सोचते अथवा लिखते लिखते मेरी बुद्धि कुण्ठित होगई, लेखनी चल कर नहीं दी और जो लिखा गया उससे आत्मसंतोष नहीं हो सका। ऐसे अवसरों पर मैंने शुद्ध हृदयसे स्वामी समन्तभद्रका आराधन किया है—उनका स्तवनादि करके प्रकाशकी याचना की है। फलतः मुझे यथेष्ट प्रकाश मिला है, मेरी अटकी हुई गाड़ी एक दम चल निकली है, उलझनें सुलझ गई हैं और फिर जो लिखा गया है वह बड़ा ही रुचिकर, प्रभावक तथा आत्माके लिये सन्तोषप्रद हुआ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रको मैं अपना नेता, मार्गदर्शक, प्रकाशस्तम्भ और आराध्य गुरुदेवके रूपमें मानता हूं। वे आजसे कोई १८०० वर्ष पहले विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हो गये हैं, अतः इस सम्मानका एक प्रकारसे सारा श्रेय उन्हींको है।

वे वीरजिनेन्द्रके सच्चे सेवक थे। उन्होंने अपने समयमें वीरके तीर्थकी हजार गुणी वृद्धि की है; जिसका उल्लेख बेलुर ताल्लुकेके उस कनडी शिलालेख नं० १७ में "ततीर्थ्यं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दूर" इस वाक्य द्वारा पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्य नायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय भी शक सं० १०५६ दिया हुआ है। अपनी वीरजिनेन्द्रसेवाका जो उल्लेख स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने 'स्तुतिविद्या' (जिनशतक) ग्रन्थमें किया है वह बड़ा ही मार्मिक है।

आप लिखते हैं--

"सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावञ्जलये कथा-श्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षणे।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते॥"

अर्थात्--हे वीरभगवन्! आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है--अन्धश्रद्धा नहीं, मेरी स्मृति आपको ही अपना विषय बनाये हुए है--मैं स्मरण भी आपका ही करता हूँ, पूजन भी मैं आपका ही किया करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाञ्जलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखनेमें लगी रहती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है और मेरा मस्तक आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है--मैं निरन्तर ही आपका इस तरहपर सेवन किया करता हूँ। इसीसे हे तेजःपते!--हे केवलज्ञान-स्वामिन्! मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान्) हूँ--यह सब आपकी सेवाका ही प्रताप है।

वीरजिनेन्द्रके ऐसे सच्चे एवं महान् सेवककी आराधना करके ही मैं वीरजिनेन्द्र तक पहुँचना चाहता हूँ। इसीसे उनकी निरन्तर स्मृतिके लिये मैंने पहले देहलीमें समन्तभद्राश्रम खोला और उसके कोई सातवर्ष बाद सरसावामें वीरसेवामन्दिरकी स्थापना की है। वीरसेवामन्दिरकी स्थापनाको साढ़े सात वर्षसे ऊपर हो गये हैं। अब यह फलदार पौधा फल लाने लगा है। यदि समाजकी इस पर कृपादृष्टि रही, समाजने इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता को समझा, इसकी अच्छी देख-भाल रक्खी, इसकी जरूरियातको पूरा किया और इसे सब ओरसे सींचा तो उसे इसके सुमधुर फल बराबर चखनेको मिलते रहेंगे और यह मन्दिर समाजकी बहुत कुछ ज़रूरियातको पूरा करनेमें समर्थ हो सकेगा, ऐसी दृढ़ आशा है।

ता० ५-१२-१९४३ जुगलकिशोर मुख्तार

मुख्तार साहबका जीवन-चरित्र

प्रबन्धक 'श्री दिगम्बरजैन सुकृत-फण्ड', सुमारी

हमें यह जान कर महान हर्ष हो रहा है कि आजन्म समाज, समाजोद्धार और जैन साहित्यकी अटूट सेवा करने वाले महान आत्मा जुगलकिशोरजी जैनकी ६७ वीं वर्षगांठ मनाई जा रही है। आज दो दिन बाद निमंत्रण मिल रहा है नहीं तो संस्था तपस्वीजीकी सेवामें अपना प्रतिनिधि भेज कर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती। आशा है अधिकसे अधिक व्यक्तियोंने भाग लिया होगा। मुख्तार साहब एक महान आदर्श एवं त्यागी महापुरुष हैं। उन्होंने जो समाज और साहित्यकी अजोड़ सेवाएँ की हैं वे लेखनीमें नहीं लिख सकते। आपका जितना गुण गाया जाय वह सब थोड़ा है। मुख्तार साहबकी जीवनी एक साधु वृत्तिकी जीवनी है। यह साधारण पुरुष नहीं बल्कि महान परोपकारी सीधी-साधी वेष-भूषामें छिपा हुवा एक बादलोंमें छिपे सूर्य-समान त्यागात्मा पुरुष हैं। प्रत्येक व्यक्तिको अनुकरण करने योग्य इस पुरुषकी दिनचर्या और कार्यक्रम है। इस लिये आपसे प्रार्थना है कि एक विस्तृत जीवनी छपाई जावे और लागत मूल्यमें वितरण की जावे, जिससे दूसरे पुरुषोंको भी महान लाभ हो। यह जीवनी ही न रहे बल्कि धार्मिक ग्रन्थ हो जावे।

मङ्गलाशासनम्

१

यो जैनसिद्धान्तरहस्यवेदी
भेत्ता महामोहमतङ्गजानाम् ।
हताभिमानो ललिताभिधानो
महावदानोऽस्ति महावधानः ॥

२

यं जैनविद्याविदिताभिरामं
कामं विरामं प्रतिभाभिरामम् ।
नमन्ति नित्यं विनुवन्ति नित्यं
भजन्ति नित्यं विबुधा विबोधाः ।

३

येनेतिहासस्य धुरंधरेण
विदांवरेणातिमनोहरेण ।
हता कुविद्या निखिला, नवद्या
प्रद्योतिता किञ्च जिनेन्द्रविद्या ॥

४

यस्मै महान्तः स्पृहयन्ति सन्तः
प्रशस्तविद्याधनधामवन्तः ।
प्रशस्तवादाय शिवप्रदाय
हतापवादाय मनोऽवधाय ॥

५

यस्मात्सदादाय महोपदेश—
लेशं विशेषं विलिखन्ति लेखान् ।
कृतावधाना विबुधप्रधाना
यशोधनाः प्राप्तमहोनिधानाः ॥

६

यस्याभिरामस्य हृतश्रमस्य
महाशमास्याचर्यं वचःक्रमस्य ।
व्रजन्ति मार्गं महनीयभागं
सदा विरागं विविधा बुधेशाः ॥

७

यस्मिन् कृतास्था विहताखिलास्था
महाशमस्था विविधा गृहस्थाः ।
गुरुं न जानन्ति गुरुं कदाचित्
सुरेन्द्रवन्द्याङ्घ्रि-युगं युगं तम् ॥

८

मदमातङ्गमृगेन्द्रोऽविद्याध्वान्तैकदिनकरो विमलः ।
जीयाज्जुगलकिशोरः सदा जगत्यां महामना सोऽयम्

९

अहिंसायां प्रीतिर्भवतु भवतामुन्नतिकरी
भवेत्सत्यं वित्तं भवतु सुखदा सौम्य ! सुमतिः ।
गुणप्रीतिर्नीतिर्बुधजनमता रीतिरिह ते
बुधामोदं नित्यं वितरतुतरां सूरिसुमणे !

१०

अनेकान्तः सदैकान्त-ध्वान्त विध्वंसनोद्यतः ।
जीयान्नित्यं भवत्पाणि-पद्मच्छायसमाश्रितः ॥

११

पन्नालालो महाबालो भवद्विद्यानुरागवान् ।
आशास्ते मङ्गलं विद्वन् ! भवतः सागरस्थितः ॥

(लेखकः—श्रीपन्नालालो जैनः साहित्याचार्यः)

मेरा अभिनन्दन

(विद्वद्वर श्री पं० माणिकचन्द्रजी, न्यायाचार्य सहारनपुर)

पण्डित जुगलकिशोरजी समाजके उपकारी हैं। वर्षोंसे वे समाजकी निःस्वार्थ सेवामें लगे हैं। पूर्वाचार्योंके समय, स्थितिनिर्णय, पूर्वापरभाव, तत्कालीन परिस्थितियाँ, ग्रन्थनिर्माण, प्रक्षेपणशोध, ग्रन्थचौर्य-गवेषण, छापा पड़ना, प्राचीनता आदि अनुसन्धान-सम्बन्धी इनके कार्य प्रशंसावह हैं, इनमें कार्य करने की लगन है। ग्रन्थसूची लक्षणावली पारिभाषिक शब्द कोष बनाना ये इनके अनुपम कार्य हैं। 'अनेकान्त' पत्र भी गरिमापूर्ण है। दिगम्बर जैनाचार्योंके प्रति भक्ति और विशेषरूपेण न्यायसूर्य श्री समन्तभद्र भगवानकी सपर्यानुसार पण्डितजीका क्षयोपशम विशुद्ध होगया है। न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्दः, दर्शन विषयोंमें भी पण्डितजीकी तीक्ष्ण मनीषा प्रवेश कर जाती है। सच्चरित्र और दृढ़ अध्यवसायका यह फल है।

सद्गृहस्थको उचित है कि वह सर्वदा जैनशासन के प्रद्योतक ऐसे विद्वानोंका सत्कार करे।

पण्डितजीने वीरशासनके कतिपय प्रेमियोंका साङ्गोपाङ्ग अविकल स्वोपज्ञ उद्धार किया है। अतः कृतज्ञ समाजको इनका सम्मान करना आवश्यक ही था।

"यजन् गुण-गुरून् कृतज्ञोवशी" यों श्रावकके १४ गुणोंमें कृतज्ञताप्रधान गुण है। "अन्यदृष्टि प्रशंसा संस्तवा" को सम्यग्दर्शनका अतीचार बताते हुये श्री उमास्वामी महाराजने व्यतिरेक मुख पुष्ट किया है कि जैनदृष्टि नरपुङ्गवकी प्रशंसा, स्तुति करना धर्मका पोषक है। "गुणिषु प्रमोदं" को तो हम भावते ही रहते हैं।

६५ वें वर्षमें यह सम्मानसमारोह किया गया, यह तो पहिले ही होजाना चाहिये था, अस्तु। सुबह का भूला शामको घर आगया। इसके अनुसार आज भी गुणियोंके आदरका यह मार्ग प्रदर्शन शुभ लक्षण है। इस युगमें ही बाबू देवकुमारजी, देवेन्द्रप्रसादजी, सेठ माणिकचन्द्रजी, गुरु गोपालदासजी, पंडित बलदेवदासजी, बाबू अनन्तरामजी, लालमनजी प्रभृति ऐसे नररत्न होगये हैं कि जिनके उपकारोंसे हम रोम रोम भरे पड़े हैं। आज अनुताप कर रहे हैं कि इनकी जीवित अवस्थामें ही हम कोई सम्मान प्रदर्शन का प्रकरण नहीं रच सके। 'गतं न शोचामि' अब तो यह गुणादरका आद्य मंगलाचरण पंक्तिबद्ध होजाय ऐसी शुभ भावना है।

मैं इस समारोहमें श्लाघनीय पण्डित जुगलकिशोर जीका अभिनन्दन करता हूँ। पण्डितजी भविष्यमें उत्साहपूर्वक आचार्य परम्पराके सदुपदेशोंकी गूँज देश देशान्तरोंमें व्यापक कर देवें, ऐसी भावना भावता हूँ।

शीर्षक पहले

पण्डित जुगलकिशोरजीके लेख लिखनेका ढंग यह है कि वे पहले शीर्षक लिखते हैं और तब लेख। शीर्षक लिखनेमें वे काफी परिश्रम करते हैं और चाहते हैं कि उसमें लेखकी रूपरेखा का पूरा निर्देश हो; जैसे वे जीवनमें पहले योजना बनाते हैं और तब उस पर कार्यारम्भ करते हैं।

श्रद्धाञ्जलि

(श्री माईदयाल जैन, बी० ए० एल० टी० देहली)

जिसने अपनी युवावस्थाके समस्त सुख भोगों तथा वृद्धावस्थाके विश्रामको त्यागकर तन, मन, धन से समाज, धर्म तथा जिनवाणीकी दिनरात सेवा की है, जिसने निर्भीकतापूर्वक ममताहीन होकर 'ग्रंथ-परीक्षाएँ' लिखकर साहित्यिक जालसाजोंकी पोल खोल कर जनताकी अंधश्रद्धाको दूर कर दिया है, जिसने अपनी ऐतिहासिक तथा पुरातत्व सम्बन्धी खोजोंसे विद्वानोंमें सम्मान पाया है, जिसने अपने जैन शास्त्र-प्रमाणों, तर्कों तथा युक्तियोंसे विरोधियोंको निरुत्तर कर दिया है, जिसने समाज तथा धर्मके ठेकेदारोंद्वारा किए गए तिरस्कारोंको अपनी सहनशक्तिसे फूल-मालाओंमें परिवर्तित कर दिया है, जिसने लुप्तप्रायः प्राचीन ग्रंथोंका उद्धार करके तथा पता लगा कर आचार्यों द्वारा दिए हुए ज्ञानकी रक्षा की है, जिसने असंयमको परास्त कर दिया है, जिसकी जैनधर्ममें श्रद्धा सुमेरु पर्वतके समान अचल, ज्ञान गंगाके समान विशुद्ध तथा सागरके समान अथाह और चरित्र चंद्रमासे भी उज्वल है, जिसने भारतीय संस्कृतिके एक लुप्त पृष्ठकी रचना करने का सफल प्रयत्न किया है, जिसके निस्वार्थ सर्वस्व दानके सामने करोड़पतियोंके दान भी लज्जित हैं, जिसकेद्वारा स्वपर-हित लोककल्याण तथा जैनसंस्कृतिके उद्धारके उद्देश्य से स्थापित किया हुआ वीर सेवामन्दिर साहित्यिक तपस्वियोंका तपोवन बनकर ख्याति पारहा है, जिसके पाण्डित्य तथा सेवाओंकी प्रशंसा काव्योंमें रचने तथा शिलालेखोंमें अंकित किए जाने योग्य है। सरसावेके उस कर्मठ त्यागी पूज्य पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार की श्रद्धाञ्जलिके लिये मैं छंदज्ञानहीन, अल्पमति बालक, किस कोष-वाटिकासे शब्द-पुष्प चुनकर लाऊँ? उनकी अमर कीर्तिके गान तो आनेवाले युगके महान कवि ही गायेंगे।

उनको मेरा शत-शत प्रणाम!

स्वयं अपने प्रति

(उनका एक अत्यन्त भक्त)

साहित्यिक फाइलों का जितना विश्वस्त और पूर्ण रिकार्ड पण्डित जी रखते हैं उस से कहीं अधिक वे दूसरी व्यवहारिक वस्तुओंकी सुरक्षा आप करते हैं, यह नीचे लिखे एक उदाहरणसे मालूम होरहा है। साथ ही आप कितने मितव्ययी सरल और साधु स्वभाव के सज्जन साधक व्यक्ति हैं, इसका एक कितना सुन्दर हालका उदाहरण है—

आज कल बाजार में गेटिसोंका मिलना असम्भव सा होरहा है और ऐसी ही बहुत सी चीजें नहीं मिल रही हैं। पण्डितजी ऐसी विदेशी वस्तुओंके बदले अपनी सादी भारतीय वस्तुओंका उपयोग करते हैं। कागज के रिमों के ऊपर जो पेकिंग में लिपटा हुआ फीता आता है, उसीसे आप गेटिसका काम लेते हैं।

१३ वर्षकी अवस्थामें पण्डितजीकी शादी हुई थी और अब आप ६७ वें वर्षमें हैं। तब दहेजमें आपको जो ट्रंक मिला था, वह अभी तक आपके पास है और भली प्रकार काम दे रहा है। उसी समयकी एक आबनूसकी संदूकची आपके पास है। ४० वर्ष पुरानी एक दरी आपके पास है, जो अभी तक काम दे रही है। १६०५ का खरीदा एक ताला आप के इस्तेमाल में है।

ऐसी ही उनकी बहुत सी बातों का ध्यान करके मेरे मनमें यह कौतूहल हुआ करता है कि मुख्तार साहब अपने प्रति कितने कठोर हैं!

श्री जुगलकिशोर मुख्तार-सम्मान-समारोहका देशव्यापी स्वागत

समाजके प्रमुख पुरुषोंकी शुभकामनाएँ

रायराजा सर सेठ हुकमचन्दजी, इन्दौर—

सम्मानमहोत्सवमें अपने उपस्थित न हो सकनेका खेद है। क्षमाप्रार्थी हूँ। आयोजन वास्तवमें सराहनीय है। पण्डितजीकी भारतीय संस्कृति और प्राचीन साहित्यकी खोज प्रशंसनीय व अनुकरणीय है। आपके लेख पक्षपात-रहित हैं और आपने वीरसेवामन्दिर और 'अनेकान्त' को जन्म देकर समाजमें जैनधर्मकी सच्ची जागृति करनेका जो प्रयत्न किया है और इस वृद्ध अवस्थामें भी कर रहे हैं, उनका यह उपकार जैन समाज कभी नहीं भूल सकती। मेरी शुभ कामना है कि वे दीर्घजीवी हों।

विद्वद्वर श्री बा० छोटेलाल जैन, रईस, कलकत्ता—

तार—हार्दिक अभिनन्दन। वे दीर्घायु हों।

रानी फूलकुमारी एम० एल० सी० चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, बिजनौर—

यह महोत्सव हमारी जातिके जीवनका चिन्ह है और हमारे राष्ट्रके उज्वल भविष्यकी सूचना है। श्रद्धेय मुख्तार साहबका अभिनन्दन और संयोजकोंको धन्यवाद।

आ० लेफ्टीनेन्ट, रायबहादुर, श्री भागचन्द सोनी एम० एस० ए०, ओ० बी० ई०, अजमेर—

मैं इस आयोजनकी प्रशंसा करता हूँ कि एक वयोवृद्ध साहित्यसेवीके लिये उचित सम्मानकी व्यवस्था की। शुभ कामनाएँ।

दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी, डालमियानगर—

तार— उत्सवकी सफलता चाहता हूँ। मुख्तार साहब ने साहित्यकी शोधका जो दीपक जलाया, वह ईश्वर करे, युग युग तक प्रकाश फैलाता रहे। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ।

श्री तीर्थक्षेत्र कमेटी, श्री महावीरजी, चान्दन गांव—

प्रबन्धकारिणी कमेटी उत्सवकी सफलता चाहती है और पं० जुगलकिशोरजीके दीर्घजीवनकी कामना करती है।

रायबहादुर श्री सेठ लालचन्दजी सेठी, उज्जैन—

पं० जुगलकिशोर मुख्तार जैन समाजके लिये गौरव-स्वरूप हैं। उनकी सेवाएँ परम प्रशंसनीय चिरस्मरणीय हैं। तारमें—खेद है कि आ नहीं सकता, सफलता चाहता हूँ।

रायबहादुर श्री नान्दमलजी, अजमेर—

वृद्धावस्था और अस्वस्थताके कारण न आसकनेपर खेद है। जैन साहित्यके अन्वेषण और इतिहास-संशोधनके जन्मदाताओंमें मुख्तार साहबका स्थान सर्वोपरि है। वे दीर्घायु हों।

श्री ला० तनसुखरायजी जैन, देहली—

अत्यन्त प्रसन्न हूं, उत्सवकी सफलता चाहता हूं।

ब्र० पण्डिता श्रीमती चन्दा बाईजी, आरा—

मुख्तार साहबकी अनुपम सेवाओंका सम्मान सर्वथा उचित है।

श्री बाबू अजितप्रसादजी लखनऊ—

ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, वैराग्यभाववृद्ध, निरभिमान, जिनवाणीभक्त, साहित्यसेवक, युगवीर पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी वर्षगाँठपर उत्सव करना संवर निर्जरा, आत्मोन्नति, आत्मविकास, जात्युद्धार, धर्मप्रचारका साधन है।

पण्डित जुगलकिशोरजीमें जो अनुपम गुण हैं, उनका स्मरण, बखान, ध्यान और अनुकरण आत्मोपकारक है। जैनजगतके पथप्रदर्शक, उत्साहवर्धक, आदर्शपुरुष, दानवीर मुख्तारजी चिरायु हों।

श्री ब्र० जीवराजगौतमचंद दोशी, शोलापुर—

जैन समाजमें श्री मुख्तारजीके समान समालोचकदृष्टिसे साहित्यका अध्ययन कर उसकी गहनता और महत्ताका प्रदर्शक महापुरुष अन्य नहीं हुआ। उन्होंने अपना तन, मन, धन साहित्यसेवामें लगाया। उनका सम्मान-आयोजन प्रशंसनीय है।

श्री सेठ मटरूमल बैनाड़ा, आगरा—

मुख्तार साहबका कार्य अमिट है और उनके कारण हमारा समाज गौरवान्वित है।

प्रिंसिपल उग्रसैनजी, मेरठ—

पूज्य पण्डितजी समाजकी एक बड़ी पूंजी हैं। आपका जीवनभरका कार्य अद्वितीय है और समाजके इतिहासमें स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। अन्धेरी घडियोंमें पथ-प्रदर्शन, रूढ़ियों को भंगकर जैनतत्वका प्रकाश, निर्भय हो धर्मतत्व का प्रचार, जान हथेली पर रखकर अपने स्वतंत्र विचारोंका प्रचार आप ही जैसे महारथीका काम था।

मेरे जैसे कितने ही नवयुवकोंको उन्होंने प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया है।

श्री सिंघई धन्यकुमार जैन, रईस कटनी—

यह सम्मान समारोह निःसन्देह नूतन दिशाकी ओर प्रयाण है। मुख्तार साहब उज्वल ज्योतिर्मान नक्षत्रकी तरह सदैव देदीप्यमान रहें।

तारमें—अनुपस्थितिके लिये खिन्न हूँ। पूज्य मुख्तार साहब को भगवान दीर्घायु करें और उनकी महान साधना हमारी नई पीढ़ीको प्रेरणा देती रहे।

मशीरबहादुर, श्री सेठ गुलाबचन्द टोंगिया, इन्दौर—

हमारी समाज देरमें जागी, वरना साहित्यतपस्वी मुख्तार साहबका सम्मान 'मेरी भावना' के प्रकाशित होते ही होना चाहिये था। मेरी भावना अन्तर्राष्ट्रीय पाठकी वस्तु बन गई है। मैं १९२२ से इसका चिन्तन करता हूं। उन की खोजोंका सही महत्व हमें कुछ दिन बाद ज्ञात होगा।

श्री राजकुमारसिंहजी एम० ए० F.R.E.S. इन्दौर—

साहित्यसाधक, जैन वाङ्मयकी सेवामें, अपने जीवन का बहुभाग लगाने वाले वीरसेवामन्दिरके सन्त, अन्वेषक पं० जुगलकिशोर मुख्तारके सम्मानमहोत्सवकी अन्तःकरण से सफलता चाहता हूँ।

आपने वीर-सेवा-मन्दिरके लिये अपना सर्वस्व समाजको सौंप एक आदर्श उपस्थित किया है। उनका 'अनेकान्त' हमारी संग्रहणीय निधि है।

जैन समाजका कर्तव्य है कि अपने सहयोगसे वीरसेवा मन्दिरके कार्यको पूर्ण करे।

श्रीबलबीरचन्दजी बी० ए० एल० एल० बी० रईस, आनरेरी मैजिस्ट्रेट, मुजफ्फरनगर—

यह प्रसन्नताकी बात है कि इस प्रकार एक महान विद्वानके सम्मानका आयोजन योग्य हाथोंमें है। सहारनपुर ने ला० जम्बूप्रसादजी, सुमेरचन्दजी, बा० सूर्यभान जी, पं० जुगलकिशोरजी, बा० ज्योतिप्रसादजी, बा० कौशल प्रसादजी जैसे कार्यकर्ता-रत्न और श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैन, लेखवतीजी एम० एल० सी० और जयवन्ती देवी जैसी विदुषियोंको जन्म दिया है। और इसके लिये सहारनपुरको गर्व करनेका अधिकार है।

पं० जुगलकिशोरजी अथक परिश्रमी, सर्वस्वत्यागी, संसारके लिये जैन साहित्य और धर्मके सौंदर्यका प्रदर्शन करनेवाले महान विद्वान हैं। वे अपनी शैलीके विद्वानोंमें भी सर्वोत्तम हैं। उनका सम्मान हमारी जातको प्रेरणा देगा, यह विश्वास है।

श्री ला० जगतप्रसादजी रि० अकाउंटेण्ट जनरल, देहली-

आपकी भावनाओंके साथ हूँ। पण्डितजीके कार्यका प्रशंसक हूँ। उनकी श्री समन्तभद्र संबंधी खोज महत्वपूर्ण है। जैन विद्वानोंमें उनका स्थान अद्वितीय है और जैन साहित्यके भारतीय एवं यूरोपीय खोजियोंमें महत्वपूर्ण स्थान है।

श्री कन्हैयालाल जैन, सभापति प्रां. वैद्यसम्मेलन कानपुर

तारमें—उत्सव सफल हो। पं० जुगलकिशोरजीका अभिनन्दन करता हूं।

श्री महन्त घनश्याम गिरिजी, हरद्वार—

श्री जुगलकिशोरजीने अपनी ऐतिहासिक गवेषणाओं द्वारा वास्तवमें जैन साहित्यका बड़ा उपकार किया है। उन की निस्पृह कार्यसंलग्नता साहित्य-समाज-सेवियोंके लिये पथप्रदर्शक है।

दानवीर श्री सरदारीमल जैन गोटेवाले, देहली—

जैन साहित्यके धुरन्धर विद्वान, इतिहासज्ञ, पुरातत्वज्ञ, जैनधर्मदिवाकर श्री मुख्तार साहब दीर्घजीवी हों।

रा० ब० श्री ला० उल्फतरायजी रि० इञ्जीनियर, मेरठ—

जैन विद्वानोंके लिये स्फूर्तिदायक, जैनसमाजके अनमोल रत्न श्री मुख्तार साहबका सम्मानमहोत्सव सफल हो।

सर टेकचन्द बक्शी, जस्टिस पंजाब हाईकोर्ट—

मैं मुख्तार साहबके त्यागकी प्रशंसा करता हूँ और उत्सवकी सफलता चाहता हूँ।

श्री श्रीप्रकाशजी एम० एल० ए०, बनारस—

लगनके साथ, तत्परतासे, कार्य करना प्रशंसनीय है। मुख्तार साहबकी वर्षगांठ पर उनका सम्मान करना उचित है। सफलता चाहता हूँ।

हमारे विद्वानोंकी शुभकामनाएं

हिन्दी साहित्यसम्मेलनके वर्तमान सभापति, श्री पं० माखनलालजी चतुर्वेदी, खण्डवा—

तारमें—पं० जुगलकिशोर मुख्तारके अभिनन्दनमें पूरे हृदयसे सम्मिलित हूँ।

हिन्दी साहित्यसम्मेलनके (निर्वाचित) भावी सभापति विद्यावाचस्पति श्री इन्द्रजी, देहली—

वीरपूजा जातियोंकी जीवनशक्तिका चिन्ह है। श्री जुगलकिशोरजीका सम्मान वस्तुतः स्वभाषाप्रेम और निष्काम सेवाकी भावनाका सम्मान है। इस भवमें यह समारोह उसी भावनाका जागरण करे और पूर्णतया सफल हो।

विश्वविख्यात दार्शनिक डा० भगवानदासजी काशी—

श्री जुगलकिशोरजी अद्भुत लगन, धुन, परिश्रम और जैनसाहित्य ज्ञानके विद्वान हैं। ऐसे सज्जनका सार्वजनिक आदर होना बहुत उचित है।

महाकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, कविवर श्री सियारामशरणजी गुप्त, झाँसी—

अपने सम्माननीय पुरुषोंका आदर करना हमारी श्रद्धा और आत्मचेतनाका सूचक है; अतएव श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारका सामूहिक अभिवादन सर्वथा उचित है। हम लोग विनम्रभावसे मुख्तार महोदयके प्रति अपना आदर प्रकट कर उत्सवके संयोजकोंको बधाई देते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा काशीके सभापति श्री पं० रामनारायण मिश्र—

मनसे साथ हूं। ईश्वर मुख्तार महोदयको चिरायु करे, जिसमें हम उनके गवेषणापूर्ण कार्योंसे अधिकाधिक लाभ उठाते रहें।

पुरातत्त्वविभागाध्यक्ष, साहित्याचार्य, श्री विश्वेश्वरनाथजी रेउ, जोधपुर—

श्री मुख्तारजीके लिये मंगल कामना करता हूँ।

श्री नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई—

आयोजन अतिशय अभिनन्दनीय है। यह इस बात का प्रमाण है कि जैनसमाज अब उन पुरुषरत्नोंको भी पहचानने लगा है, जिन्होंने अनवरत परिश्रम और तपस्या से जैनसाहित्य और इतिहासको प्रकाशमें लाने और समृद्ध बनानेमें अपने आपको मिटा दिया है। मेरी हार्दिक कामना है कि मुख्तार साहब चिर काल तक जीवित रहकर अपने कार्यको सतत चलाते रहें।

श्री जैनेन्द्रकुमारजी, दिल्ली—

मुख्तार साहबकी साहित्यसेवाएँ चिरस्मरणीय हैं और उनका सम्मान करके समाज अपनेको कृतार्थ करता है। मान्य मुख्तार साहबके प्रति मेरा अभिनन्दन।

आचार्य श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, ज्वालापुर—

मैं मुख्तारजीका अभिनन्दन करता हूँ। आपने जैन साहित्यके अनुसन्धानमें स्तुत्य प्रयत्न किया है। वे बधाईके पात्र हैं।

श्री दरबारीलालजी सत्यभक्त, वर्धा—

मुख्तार साहबकी सेवाएं चिरस्मरणीय हैं। इस देशकी परिभाषामें वृद्ध होने पर भी उनकी कर्मठता और उत्साह अटूट है और मुझे आशा है कि वे काफी समय तक अपनी सेवाओंसे समाजको लाभान्वित करते रहेंगे।

श्री भगवतीप्रसादजी बाजपेयी, प्रयाग—

यह आयोजन करके सहारनपुरके साथियोंने बहुत बड़ा काम किया। पिछले १५ वर्षोंमें इस प्रकार हमने अपने साधकोंका मान किया होता, तो आज हिन्दी साहित्य अपने सर्वाङ्गमें सफल दिखाई देता। इस महोत्सवसे श्रद्धेय मुख्तार महोदयका अभिनन्दन होगा और देशके दूसरे भागोंमें जीवनभर साहित्य साधना करनेवाले वयोवृद्ध विद्वानोंके सम्मानमहोत्सव मनानेकी प्रवृत्ति जागेगी। मुख्तार साहबने जैनसाहित्यमें शोधका कार्य कर पथप्रदर्शन किया है और उनका मानमहोत्सव भी पथप्रदर्शक ही होगा।

बौद्धभिक्षु श्री आनन्द कौशल्यायन, सारनाथ—

मेरी शुभकामना आपके साथ है। मुख्तार महोदय जैसे पूजनीयोंकी पूजा करना मंगलकारी है।

डा० श्री सूर्यकान्तजी एम० ए०, लाहौर—

पाश्चात्य शिक्षापद्धतिसे सुशिक्षित न होते हुए भी अनुसंधानमें पाश्चात्य विद्वानोंसे होड़ लेनेवाले कुछ गिने विद्वानोंमें मुख्तार साहबका श्रेष्ठ स्थान है। भारतीय संस्कृति और विशेषतः जैन संस्कृतिपर आपकी छाप अटल रहेगी। मैं हृदयसे उनका अभिनन्दन करता हूँ।

डा० श्री पी० के० आचार्य प्रयाग विद्यालय—

सम्पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

प्रोफेसर श्री पं० महावीरप्रसाद मिश्र व्याकरणाचार्य—

मुख्तारो युगल: किशोर इति य: साहारने पत्तने,
मान्य: जैनमतान्तशास्त्रनिपुण: श्रीवीरसेवाग्रहे।
कृत्वा षष्टितमान् सुलेखललितान् ग्रंथान् स्वलक्षार्धकम्
दत्वा सम तथैव षष्टितमके प्राप्तश्चिरायुर्भवेत् ॥

श्री भगवानदासजी केला-वृन्दावन—

मुख्तार साहबकी लगन, धुन और सेवाओंका विचार करते हुए यह सम्मान महोत्सव सर्वथा उचित एवं आवश्यक है।

श्री पहाड़ीजी, सहायकमंत्री हि०सा०स० प्रयाग—

समारोहकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

'भारतमें अंग्रेजी राज्य'के लेखक, श्रीसुन्दरलालजी प्रयाग

श्री जुगलकिशोर मुख्तार और उनका कार्य पढ़ गया विद्याके इस अनन्य प्रेम, इस जबरदस्त लगन, सत्यकी खोजमें इस परिश्रमशीलता और संसारसाहित्यकी इस बहु मूल्य और निस्वार्थ सेवाके लिये मुख्तार साहबके चरणोंमें मेरा बारम्बार नमस्कार करें। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि उन जैसे चरित्रवान और विद्वान् प्रेमियोंके प्रतापसे वे कृत्रिम और हानिकर दीवारें जल्दीसे जल्दी टूटें, जिन्होंने सम्पूर्ण मानव समाजको जैन, अजैन, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई इत्यादिके अलग २ दलोंमें बांट रक्खा है।

श्रीमती विद्यावती सेठ बी० ए०
आचार्या कन्या गुरुकुल, देहरादून—

हृदयसे आपके साथ हूँ। भगवान वयोवृद्ध प्रतिष्ठित साहित्यिक श्री मुख्तार साहबको चिरायु करें, जिससे साहित्य तथा देश सेवामें संलग्न नवयुवकोंको साहस व मार्गकी प्राप्ति होती रहे।

आचार्य श्री चतुरसैनजी शास्त्री, देहली—

मेरी शुभकामनाएं आपके साथ हैं।

हमारे पत्रकारोंकी शुभकामनाएं

'विशालभारत' कलकत्ताके वर्तमान सम्पादक, श्री मोहनसिंहजी सेंगर—

जिस देशमें जीते जी लेखकोंकी कोई पूछ नहीं होती और मरनेके बाद उनके स्मारक खड़े करनेकी योजनाएं बनती हैं, वहाँ प्रसिद्ध लेखक एवं अनुसंधाता श्रीजुगलकिशोर जी मुख्तारके सम्मानका यह स्तुत्य आयोजन कर सहारनपुर ने हिन्दी संसारके सामने एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है।

श्री जुगलकिशोरजीने भारतीय साहित्य, इतिहास और संस्कृतिकी जो सेवा की है, उससे कौन हिन्दी प्रेमी परिचित न होगा। उनके इस साहित्यिक तप और साधनाके लिये हमारा रोम रोम चिरन्तनकाल तक उनका ऋणी रहेगा। वे दीर्घजीवी हों!

हिन्दुस्तान (देहली) के सम्पादक, श्री मुकुटविहारी वर्मा—

मुख्तार साहबके प्रति मेरा अभिनन्दन। उत्सवकी सफलता चाहता हूँ।

'देशदूत' (प्रयाग) के सम्पादक, श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'—

मुख्तार साहब पुराने साहित्यसेवी हैं, उनका सम्मान वास्तवमें हिन्दीका सम्मान है। मुझे आशा है कि यह उत्सव हिन्दी साहित्यिकोंके सम्मानके लिये एक आदर्श उपस्थित करेगा।

'हिन्दी मिलाप' (लाहौर) के सम्पादक, श्री देवदत्त शर्मा—

सहारनपुरने इस सम्मानमहोत्सवके रूपमें हिन्दीसंसार को नया पथ दिखाया है। साहित्य तपस्वी मुख्तार महोदय को प्रणाम!

'विक्रम' के सम्पादक श्री पं० सूर्यनारायणजी व्यास, ज्योतिषाचार्य, उज्जैन—

मुख्तार महोदय जैसे कर्मण्य विद्वान्का मान वास्तवमें सुरभारतीकी पूजा है। वर्षों पूर्व 'अनेकान्त' में मुख्तार महाशयके जैनसाहित्य सम्बन्धी संशोधनात्मक स्वरूपसे परिचित हो मैं आकर्षित हुआ था। वस्तुत: जैनसाहित्यकी उनकी सेवाएँ बहुत मूल्यवान हैं। 'अनेकान्त' में उनके व्यापक रूपका दर्शन होता है। वे चिरंजीवी हों और साहित्यसेवासे समाजका कल्याण करते रहें।

'प्रदीप' सम्पादक श्री जगदीश एम० ए०—

आयोजन नई दिशाकी ओर प्रयाणका सूचक है। यह सफल हो।

'विश्वमित्र' (देहली) के सम्पादक, श्री पं० सत्यदेव विद्यालंकार—

आयोजन महत्वपूर्ण है, इससे मान्योंके मानकी ओर हिन्दी-संसारका ध्यान आकर्षित होगा। मुख्तार साहबका कार्य महत्वपूर्ण है। वे शतायु हों।

'वीर अर्जुन' के सम्पादक श्री रामगोपालजी विद्यालंकार

भगवान उत्सवको सफल करें और मुख्तार साहबकी साधना निरन्तर गतिशील हो।

'सावधान' (नागपुर) के सम्पादक श्रीविश्वंभरप्रसादशर्मा

इस महत्वपूर्ण आयोजनके लिये हार्दिक बधाई। ईश्वर माननीय मुख्तार महोदयको चिरायु करें।

'आदर्श' (हरिद्वार) के सम्पादक श्री रामचन्द्र शर्मा—

मैं श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजीको एक लेखक और सम्पादकके रूपमें बीसो वर्षोंसे जानता हूँ। कई बार उनकी सौम्य मूर्तिके दर्शन भी किये हैं। प्रदर्शनके इस युगमें पचीसों वर्ष तक निरन्तर साहित्यसेवा करते हुए और अपनी हजारोंकी सम्पदाका उसी कार्यके लिये उत्सर्ग करके भी सम्मानप्राप्तिके प्रलोभनसे दूर रहना मुझे तो उनका यह अत्यन्त आकर्षक लोकोत्तर गुण सदैव प्रेरित करता रहा है। वे युग युग जिएं।

' परिवारबन्धु ' के सम्पादक श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी—

विद्वानोंके लिये अपने जीवनमें आदर्श उपस्थित करने वाले पुण्यशाली विद्वान मुख्तार साहब चिरंजीवी हों।

'जैनमित्र' के सम्पादक श्री मूलचंद किशनदासजी कापड़िया, सूरत—

हमारे ४० वर्षके पुराने मित्र श्री जुगलकिशोरजी शतजीवी हों। उनका ज्ञान-दान और साहित्यसेवा अपरिमित है। उत्सव सफल हो।

'खण्डेलवाल जैनहितेच्छु' के उपसम्पादक श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ जयपुर—

मुख्तार साहबकी देन इतनी महान है कि उससे जैन समाज कभी उऋण नहीं हो सकता। वर्षोंकी खोज और अनुसंधानके बलपर ग्रंथों एवं आचार्योंके नामपर फैली हुई भ्रममूलक धारणाओंको दूरकर सत्यका दिग्दर्शन कराना ही आपके जीवनका उद्देश्य रहा है। वे साहित्यसेवक हैं और महान त्यागी भी। वे दीर्घजीवी हों।

जैनसन्देशके पूर्वसम्पादक श्रीबाबूचन्द जैन, आगरा—

माननीय मुख्तार महोदयका सम्मान-आयोजन स्तुत्य है। उनकी सेवाओंको देखते हुए, उनके प्रति हम जितनी भी श्रद्धा प्रकट करें कम है। वे दीर्घजीवी हों।

'जैनप्रचारक' के सम्पादक श्री हीरालालजी कौशल—

यह आयोजन सहारनपुर वालोंके लिये गौरवकी बात है। मुख्तार साहबके गम्भीर प्रयत्न अगली पीढ़ीके लिये भी स्मरणीय रहेंगे। इतिहासके सम्बन्धमें उनके निर्णय अकाट्य रहे हैं और जैन अजैन विद्वानोंने उनका मान किया है। वे शतायु हों।

श्री भोलानाथ दरख्शाँ, बुलन्दशहर—

पं० जुगलकिशोरजी तो वास्तवमें इस योग्य हैं कि उनकी दिव्यमूर्तिको हृदयमन्दिरमें स्थापित करके उनका गुणानुवाद किया जाये।

'खण्डेलवाल जैनहितेच्छु' इन्दौर—

मुख्तार साहबने जैनसाहित्य इतिहास और पुरातत्वके अनुसन्धानमें अपना जीवन समर्पण कर जैन वाङ्मयकी जो अपूर्व सेवा की है, वह कभी भुलाई नहीं जा सकती। + + + + जैन समाजका महान उपकार किया है। हम सादर उनका अभिनन्दन करते हैं।

'जैन बोधक, शोलापुर—

मुख्तार साहब साहित्य व ऐतिहासिक क्षेत्रके विद्वान हैं

× × × हम उनकी लगन, अध्यवसाय, अनुसंधानकी चिन्ता, अभिनंदन साहित्य क्षेत्रमें किये जाने वाले श्रमकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे संशोधकोंकी समाजमें आवश्यकता है। हम मुख्तार साहबके दीर्घजीवनकी कामना करते हैं।

जैन सन्देश, मथुरा—

यह सम्मान समारोह विद्वानोंके सम्मानकी ओर एक महत्वपूर्ण कदम है।

जैनमित्र, सूरत —

जैनसमाजका यह परम सौभाग्य है कि उसमें आज भी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार जैसे साहित्य तपस्वी विद्वान मौजूद हैं। वे आज अपनी वृद्धावस्थामें किसी भी युवकसे बढ़ कर तत्परता, तन्मयता, और दृढ़ता पूर्वक काम करते हैं। हमारा विश्वास है कि उन जैसा विद्वान विदेशमें हुवा होता तो उसकी सारे संसारमें ख्याति होती किन्तु उन्होंने जैनसमाजमें जन्मलिया है, जहां साहित्य सेवकों और धर्म, समाजके लिये खपने वालोंकी कोई प्रतिष्ठा नहीं की जाती। मुख्तार साहब शतायु हों।

हिन्दुस्तान, देहली—

पं० जुगलकिशोर मुख्तारके सम्मान-महोत्सवका हम समर्थन करते हैं। एक तो इस लिये कि किसी भी साहित्य-सेवीका सम्मान प्रसन्नताकी बात है। दूसरे इस लिये मुख्तार साहबने पिछले ३० वर्षसे जैनसाहित्यकी खोज आदिका जो सततकार्य किया है, वह प्रशंसनीय है। और उनकी लगन नई पीढ़ीके लिये स्फूर्ति दायक होगी।

जैन-साहित्यके विद्वानोंकी दृष्टिमें

श्री देवकीनन्दजी शास्त्री, कारंजा

आधुनिक शैलीके धुरन्धर विद्वान, जैनसाहित्यकी खोज शोध और इतिहासकी सामग्रीके तुलनात्मक पद्धतिसे प्रस्तुत कर्ता विद्वद्वर्य मुख्तार साहबका सम्मान आयोजन महान, पवित्र, मार्गदर्शक और स्तुत्य कार्य है, उन्होंने अपनी बुद्धि, साहस और अथक श्रमसे साहित्यमें अभूतपूर्व कार्य किया है।

समाज उनकी प्रतिभाको अपनी चीज माने और उनकी धरोधरको संवर्धित करे।

श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मथुरा—

साहित्योद्धारमें आपकी बराबरी करने वाला समाजमें अन्य कोई व्यक्ति नहीं। आपका प्रत्येक क्षण साहित्यसेवामें व्यतीत होता है।

श्री उग्रसैन जैन, एम० ए० एल० एल० बी० रोहतक—

अन्तमें सत्यकी विजय होती ही है। मुख्तार साहबके द्वारा साहित्य और इतिहासके क्षेत्रमें निर्भीकता पूर्वककी गई सेवाओंके प्रति यह समारोह हमारे हृदयकी भक्तिका उद्गार है।

श्री चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर—

मुख्तार साहब जैनसमाजकी प्रकाशमान निधि हैं। उन के सम्मानका आयोजन स्तुत्य है।

साहित्याचार्य श्रीराजकुमार जैन, पपौरा—

मुख्तार साहबने गहरी साहित्य साधनामें अपनेको खपा कर जो चमत्कृत सिद्धि पाई, उसके प्रति हमारी श्रद्धांजलि। क्या ही अच्छा होता कि इस अवसर पर उन्हें एक सर्वांग-पूर्ण अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाता। खैर, भविष्यमें ही सही हमें आशा है कि ऐसा अवसर देखनेका सौभाग्य हमें मिलेगा, सहारनपुरके बन्धुओंका उत्साह और व्यवसायमूर्ति श्री राजेन्द्रकुमारजीका नेतृत्व इसकी साक्षी है।

श्री पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्त शास्त्री, काशी—

यह आयोजन एक श्रेष्ठ परम्पराका आरम्भ है। अनुसन्धान जिनका जीवनव्रत, बुढ़ापेमें भी जिनका पुरुषार्थ युवकोचित और जैन संस्कृति एवं साहित्यके लिये जिसका सर्वस्व समर्पित, उन महानुभावका जितना भी अभिनन्दन हो, कम है।

श्री पं० सुमेरचन्द दिवाकर, वकील सिवनी—

जिन शासनके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेके साथ अपने जीवनको जिनवाणीकी सेवामें लगाने वाले व्यक्तियोंमें मुख्तार साहबका स्थान अद्वितीय है।

श्री पं० तुलसीरामजैन, बड़ौत—

इस स्तुत्य आयोजनसे समाजके सच्चे सेवकोंमें प्रेरणा और स्फूर्ति आयेगी। सफलता चाहता हूँ।

श्री पं० शोभाचन्द भारिल्ल, ब्यावर

मुख्तार साहबकी उच्च कोटिके लेखक जैनसमाजमें उंगलियों पर गिनने योग्य भी नहीं हैं। उनके गुण उन्हें महामानवकी महिमासे मण्डित करते हैं। जैनसमाज ऐसे प्रकाण्ड विद्वान, कुशल लेखक, निर्भीकवक्ता, सावधान संपादक और कर्मयोगीको पाकर गौरवान्वित है। उनके प्रतिमेरी हार्दिक श्रद्धाँजलि।

श्री पं० कृष्णचन्द्रजी दर्शनाचार्य, पंचकूला—

महामान्य श्री जुगलकिशोरजी वस्तुतः जैन समाजके सर्वस्व त्यागी सेवक हैं। उनकी कोटिके मानव दुर्लभ ही हैं। उनकी 'मेरी भावना' अकेली रचनाने ही जाने कितनों को ऊंचा उठाया है। मेरी हार्दिक भक्ति और श्रद्धाके पुष्प अर्पित हैं।

श्री पं० मक्खनलालजी, मथुरा—

माननीय मुख्तार साहबका कार्य समाजके लिये आदरणीय है। उत्सवकी सफलता चाहता हूं।

श्री पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर—

मुख्तार साहबके कार्य और कठिन तपस्याके प्रति मैं चिर श्रद्धावनत हूँ। समारोह सफल हो।

श्री पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, खुरई—

मुख्तार साहबकी साहित्यसेवा अवर्णनीय है उनके प्रत्येक क्षणका अर्थ साहित्य सेवा है। उन्होंने समाजसे कम से कम लेकर उसके लिये अधिकसे अधिक किया है। वे शतायु हों।

श्री पं० भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत', ऐत्मादपुर—

मुख्तार साहबका जोड़ मुश्किलसे ही तलाश हो सकता है। मेरी अटूट श्रद्धाके पुष्प समर्पित हैं।

श्री पं० राजेन्द्रकुमार 'कुमरेश' आयुर्वेदाचार्य, करेरा—

मुख्तार साहबका ऋण चुकाया नहीं जा सकता। एक दिन संसार उनका सम्मान करेगा। वे चिरायु हों।

श्री पं० अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर—

मुख्तार साहबका कार्य महान है, दान अनुपम है, प्रयत्न उपादेय है, लगन सराहनीय है और सेवा अनुकरणीय है। वे दर्घायु हों।

श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, आरा—

साहित्य महारथी मुख्तार साहब जैनसमाजके सुविचक्षण समालोचक, गम्भीर लेखक, सुदक्ष सम्पादक और प्रामाणिक अन्वेषक हैं। उन्होंने भारत और विशेषतः सहारनपुर जिलेका गौरव बढ़ाया है। वे कर्तव्य परायणता, एकनिष्ठा और अदम्य अध्यवसायकी मूर्ति हैं। भावी साहित्यिकोंके लिये इनका आदर्श जीवन अवश्य ही पथ प्रदर्शकका काम करेगा।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, बनारस—

मुख्तार साहबका त्याग और कार्य दोनों अभिनन्दनीय है। जैनसाहित्य और इतिहासके लिये उनका कार्य सदा मार्गदर्शक बना रहेगा। विस्मृत साहित्यके उद्धारक और संशोधक मुख्तारजी अनेक दशक तक हमारे बीचमें रहें।

श्री पं० बालचन्दजी शास्त्री, अमरावती—

मुख्तार साहबका अब तकका सारा जीवन जैन साहित्य के उद्धार, इतिहासकी शोध एवं समाज सुधारणामें ही बीता है। आप एक कुशल और प्रामाणिक लेखक हैं। आपका सम्मान समारोह अन्य साधकोंके सम्मानार्थ मार्गप्रदर्शनका काम करेगा, यह आशा है।

श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना—

मुख्तार साहबका जीवन सतताध्ययनशाली महापुरुषका जीवन है। उनकी लेखनी गम्भीर विवेचनापूर्ण है। उन्होंने समाज और साहित्यकी ठोस सेवा की है। जैन इतिहासको सुसंस्कृत बनाने एवं जैनसमाजमें विचारकता उत्पन्न करनेका काफी श्रेय आपको दिया जा सकता है।

श्री पं० वंशीधरजी जैन, इन्दौर—

मुख्तार साहब एक तत्वदर्शी, सद्दार्शनिक, सरल, शील सन्तोषवर्ती, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, सद्धर्मानुरागी, समीक्षक महानव्यक्ति हैं। समाज इस नररत्नकी योजनाओंमें सहयोग दे और वे दीर्घायु हों, यही प्रार्थना है।

कार्यकर्ताओं और संस्थाओंके उद्गार

श्री सुमेरचन्दजी जैन, देहली—

इस शुभ अनुष्ठानके उपलक्ष्यमें मैं श्री मुख्तार साहबके लिये मंगल कामना करता हूँ।

श्री बाबूलालजी जैन, सभापति जैनसेवकमंडल, तिस्सा

मैं सेवक मंडल तिस्साकी ओरसे पंडितजीके प्रति श्रद्धाँजलि अर्पण करता हूँ, और श्री वीरप्रभुसे प्रार्थना है कि पंडितजी चिरायु हों।

जैन विद्याभवन, लाहौर—

शासन देवतासे प्रार्थना करते हैं कि श्री मुख्तार साहब को दीर्घकाल तक हमारे मध्य रखकर जिनवाणीकी सेवा करनेका अवसर प्रदान करें।

श्री देवेन्द्र जैन, मंत्री जैनछात्र संघ, काशी—

मैं युगवीरजीको आजका साहित्यिक महारथी मानता हूँ। सहारनपुर इस आयोजनके लिये अभिनन्दनका पात्र है।

श्री नन्हेमल जैन, दिल्ली—

मैं इस उत्सवकी सफलता अपने पूरे मनसे चाहता हूँ।

श्री माणिक्यचन्द्र जैन, किशनगढ़—

श्री मुख्तार साहबकी प्रतिभा तथा धवलकीर्तिका गुणगान करना समूचे जैनसमाजका परम कर्तव्य है।

श्री मुन्नालाल जैन संगोरिया, जैन अनाथाश्रम, देहली—

पूज्य पण्डितजी चिरकालतक जीवित रहें और उनकी सेवाओंसे धर्म-समाज और जिनवाणीका उपकार होता रहे।....इस उत्सवकी सफलता पूर्णरूपसे चाहता हूँ।

श्री लक्ष्मीचंद्रजी जैन, कालमियानगर—

मुख्तार साहब चिरंजीवी हों और इसी प्रकार हमारे साहित्य तथा समाजकी सेवा करते रहें। उत्सवकी सफलता चाहता हूं।

श्री नानकचन्द्र जैन, बी०ए० एल०एल०बी०, रोहतक—

उत्सव सफल हो और पं० जुगलकिशोरजी चिरायु हों।

श्री दशरथलाल जैन, दि० जैनपंचायत सिवनी—

मुख्तार साहब जैनसमाजके प्रकाशस्तम्भ हैं। उत्सवकी सफलता चाहता हूँ और दिगम्बर जैन पंचायत कमेटीकी ओर से तथा समस्त मध्यप्रांतकी ओरसे हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पण करता हूँ।

श्री बारातीलाल जैन, लखनऊ—

पं० जुगलकिशोरजी ऐसे दो ही चार व्यक्ति हैं जिनपर हमारे समाजको गर्व है। मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ हैं।

श्री सेठ गुलाबचंद नाथूलालजी जैन, कोटा—

मेरी विनम्र श्रद्धांजलि सेवामें समर्पित है। उत्सवकी सफलता चाहता हूँ।

श्री हजारीलालजी जैन, प्रतापगढ़ राजस्थान—

शतशः अभिनन्दन। भगवान आपको दीर्घायु करें।

श्री नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ, इन्दौर सिटी।

समीचीन धर्म, समाज एवं साहित्यकी सेवा करनेके लिये श्री मुख्तार साहब चिरायु हों।

श्री समन्दरलाल जैन मुख्तार, मुजफ्फरनगर—

उनका जीवन समाजके लिये संरक्षणीय सम्पत्ति है। मैं समारोहकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

श्री ज्योतिप्रसाद जैन, वकील, लखनऊ—

श्री वीर प्रभु मुख्तार साहबको क्षमता, स्वास्थ्य और चिरायु प्रदान करें। उत्सवके लिये शुभकामना है।

श्री माईदयाल जैन, दिल्ली—

मेरी शुभकामनाएँ आपके प्रत्येक कार्यके साथ हैं। उत्सवकी सफलता चाहता हूँ।

श्री उत्तमचन्द्र जैन, लखनादौ (सी० पी०)—

हम आपके महान कार्यका हृदय से स्वागत करते हैं और वीर प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि वे श्री मुख्तार साहब को स्वास्थ्य तथा चिरायु दें!

श्री रूपचन्दजी बजाज, दमोह (सी० पी०)—

धन्य है वह भूमि जिसे श्री मुख्तार साहबने अपने कार्यक्षेत्रके लिये चुना है। मैं उत्सवके प्रति शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

श्री पुरुषोत्तमदास सुरारका, साहित्यरत्न, वर्धा—

मैं इस पर्वपर पण्डितजीके लिये मंगल कामना करता हूँ। तथा चाहता हूँ कि वे इसी भाँति समाज, साहित्य, सभ्यता तथा संस्कृतिकी भविष्यमें भी सेवा करनेके लिये चिरायु हों।

श्री अक्षयकुमार जैन, अलीगढ़—

पण्डितजीकी सेवाएँ हम युवकोंके लिये 'माईल-स्टोन' हैं। मैं उनकी दीर्घायुके लिये प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ और उत्सवकी सफलता चाहता हूँ।

श्री गुलाबचन्द्र जैन, आनरेरी मजिस्ट्रेट भेलसा—

शुभ कामना है कि वे दीर्घकाल तक जैनधर्म, जैन साहित्य एवं देशकी सेवा करते रहें।

श्री मित्रसैन जैन, मुजफ्फरनगर—

भगवान महावीर श्री मुख्तार साहबको स्वास्थ्य तथा चिरायु प्रदान करें। और वे देर तक जैनसमाजका पथ-प्रदर्शन करते रहें।

वे : एक प्रकाशकके रूपमें

(श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित')

१९३८ की बात है। विकास प्रेस लिमिटेडके संचालक श्री पं० विश्वम्भरप्रसाद शर्माने मुझे प्रेससे अपने कार्यालयमें बुलाकर कहा—'ये हिन्दीके प्रसिद्ध खोजी लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार हैं। एक पुस्तक छपाना चाहते हैं। आपको टाइपोंका समन्वय दिखा दीजिये !"

आम तौर पर प्रेसमें विद्वान लोग आते रहते थे और मेरा अनुभव था कि वे मुद्रण और प्रकाशनके सम्बन्धमें बहुत ही कम जानते हैं. इसलिये मैंने साधारणतया टाइपोंके संबन्धमें उन्हें बताया, पर शीघ्र ही मुझे मालूम होगया कि ये वैसे वृद्ध विद्वान नहीं हैं। टाइपोंके नाम और विशेषताओंसे ही वे परिचित न थे, किस टाइपके साथ कौनसा टाइप फिट या अनफिट है, इससे भी वे परिचित थे। उन टाइपोंके छपे फार्म देखकर ही उन्होंने यह भी बताया कि कौन टाइप कितना पुराना है। कागजोंके साइज़ और भांजसे भी वे भली प्रकार परिचित थे। आपका प्रेसज्ञान देखकर मुझे प्रसन्नता हुई और मैंने अपनी शक्तिभर उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। वे प्रत्येक बातको पूरी तरह समझानेके लिये बात कह कर, फिर 'ऐंजी, ऐंजी ?' का मधुर सम्पुट लगाकर उसे दुहराते थे, जो अत्यन्त ही मधुरताके साथ उनके प्रेममें सराबोर करनेके लिये बरबस उनकी ओर खींचता था। 'समाधितंत्र' का विकास प्रेसमें छपना तै होगया



लेखक

हम यह चाहते थे कि वे प्रूफ देखनेकी जिम्मेदारी हमीं पर छोड़दें—उसे सरसावा न मंगायें। इसलिये पहले फार्मका प्रूफ ३-४ बार 'विकास'सम्पादक श्री 'प्रभाकर' जी के साथ देखकर हमने उन्हें भेजा, पर जब वह लौट कर आया, तो लाल और नीली करैक्शनोंसे रंगा हुआ और 'सावधानीसे ठीक-ठीक करैक्शन करके दूसरा प्रूफ भेजिये' की हिदायतके साथ। आपने जो करैक्शन (संशोधन) किये थे, वे बड़े मार्केके थे। कौन मात्रा पूरी नहीं उठी. किस अक्षरका कोना ज़रासा टूटा है, कौनसा कामा घिसा हुआ है, कहाँका डैश टाइपसे भिन्न है. कौन ब्रैकेट गलत है. कम्पोज़में कहाँ स्पेस सेकम-अधिक है. कपमें कहाँ ब्लैंक ज़रा ठीक नहीं जँचा, इस तरहके बहुत बारीक, छोटे-छोटे; पर प्रेस-कलापूर्ण गम्भीर करैक्शन किये गये थे। उस प्रूफको हमने उपन्यासकी तरह रस ले-ले कर पढ़ा—वाक़ई ऐसा भयंकर प्रूफरीडर हमने पहले न देखा था। प्रत्येक फार्मकी यही गति हुई—जब तक आप पूरी तरह सन्तुष्ट न होगये छपनेका आर्डर न दिया और दुबारा प्रूफ माँगा।

अपनी राजनैतिक सेवाओंके कारण विकास प्रेसको अनेक संघर्षोंमें पड़ना पड़ा, इससे पुस्तकके प्रकाशनमें और भी विलम्ब होगया। मुख्तार साहबने उसकी भूमिकामें प्रेसको नहीं बख्शा। हाँ, उसकी राजनैतिक सेवाओंके कारण विलम्बका उल्लेख ज़रूर किया।

× × × ×

'अनेकान्त' का प्रकाशन जब सरसावेसे ही आरम्भ

हुआ, तो मुख्तार साहब मुझसे यहाँ श्रीवास्तव प्रेसमें मिल कर बहुत प्रसन्न हुये और 'अनेकान्त' की छपाईका काम प्रेसको दे दिया। प्रेसके सारे टाइप आपने उसी तरह देखे, उनपर बातें कीं और जो निर्णय हुए, उन्हें प्रेसमालिकसे लिखा लिया। यह १९४१ की बात है, तबसे फिर बराबर उनकी प्रकाशन नीतिका अध्ययन करनेका अवसर मुझे मिल रहा है। उनके प्रकाशनकी सबसे पहली बात यह है कि वे शर्तें खूब कसकर करते हैं। समयकी पाबन्दी, छपाईके रेट, प्रूफके नियम, सबको जहां तक खींच सकते हैं, खींचते हैं, और फिर कड़ाईके साथ दोनों ओरसे उनकी पाबन्दी चाहते हैं। परन्तु जहां वे प्रकाशननीतिमें इतनी कठोर-दृष्टि रखते हैं, वहां व्यवहारमें असली तौर पर अत्यन्त नम्र और उदार भी हैं।

वे अपने जीवनमें अत्यन्त नियमित हैं, अत्यन्त व्यवस्थित हैं और अपने प्रकाशनमें भी वे वही नियमन और व्यवस्था चाहते हैं। मुझे उनकेद्वारा सम्पादित मूलकापियां देखनेका और उनसे कुछ सीखनेका सौभाग्य बराबर प्राप्त होता रहा है—उनके प्रकाशनमें गहराईके साथ गम्भीर अध्ययन करनेका अवसर मिला है। इसीलिये मैं जानता हूं कि वे अपने प्रकाशनमें कितना परिश्रम करते हैं। दूसरे लेखकोंके लेख चारों तरफ रंग डालते हैं। भाषाकी अशुद्धि वे सह नहीं सकते, शब्द-संगठन जब तक उन्हें जँच न जाये, बराबर संशोधन किये जाते हैं और संकेत चिन्होंके सम्बन्धमें तो इतने सावधान हैं कि हिन्दीमें उसका जोड़ मिलना मुश्किल है। श्री पं० शंकरलालजीने एकबार ठीक ही कहा था कि 'अनेकान्त' से लोग लिखना सीखते हैं।

प्राचीन साहित्यके अनुसंधाता होनेके कारण वे जानते हैं कि लिखाईकी अशुद्धियोंसे, पाठकोंको समन्वय करनेमें कितना परिश्रम करना पड़ता है, इसलिये छपाईकी अशुद्धि से उन्हें चिढ़ है। मैंने बराबर देखा है किछपी हुई अशुद्धि पढ़कर वे बेचैन-से होजाते हैं। अभी वर्ष ६ किरण २ के एक लेखमें प्रेसकी भूलसे अशुद्धि रह गई, बस गुस्सेसे भर गये और कहा कि यह फार्म अपने खर्चपर दुबारा छापो! बड़ी मुश्किलसे इस बातपर राज़ी हुए कि प्रेस 'अनेकान्त' में भूलसुधारके साथ इसकी क्षमा याचना करे।

प्रूफ पढ़ते समय वे तल्लीन होजाते हैं और उस समय अक्सर ऐसे महत्वपूर्ण संशोधन करते हैं, जो मूल प्रतिमें नहीं होते। भाषाके प्रवाहमें शब्दोंका फिटिंग और व्याकरण-व्यवहारकी सावधानीसे सम्बन्ध क्रियाओंका अदल-बदल उनका बहुत ही मार्मिक होता है। उनके प्रूफका संशोधन करते समय भाषा-शृङ्गार करनेका-सा आनन्द आता है। प्रूफ-संशोधन और प्रकाशन व्यवहारमें इतने कठोर होकर भी वे व्यक्तिगत व्यवहारमें अत्यन्त कोमल हैं। प्रेसमें जब आप आते हैं तो सभी कर्मचारियोंसे बड़े स्नेहके साथ मिलते हैं, और उनके कामसे हाथ साफ न होनेपर भी उनसे हाथ मिलानेमें उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं होता। यह उनकी नम्रता और शिष्टाचारकी महानता है।

प्रूफके साथ प्रेसको हिदायतें देनेके लिये जो पत्र वे लिखते हैं, उनका एक अच्छा संग्रह मेरे पास हो गया है। इन पत्रोंसे उनके स्वभावपर बहुत ही सुन्दर प्रकाश पड़ता है। जिनके कुछ उद्धरण यहां दे रहा हूं—

४-६-४३ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा है—"कलसे बाबू त्रिलोकचन्द्रद्वारा प्रूफका आना-जाना नहीं हो सकेगा। अत: अपनी उस योजनानुसार या तो ६ बजेकी गाड़ीसे बाबू साहब प्रूफ सरसावा पहुंचा देवें और हमें आज ही सूचित कर देवें, जिससे सरसावा स्टेशनपर समयपर अपना आदमी पहुंच जावे और या ४ पेज एडवांस तय्यार करके बराबर डाकसे प्रूफ भेजा करें और जिस प्रूफके साथमें मूल कापी हुआ करे उसे रजिस्ट्रीसे भेज दिया करें। रेलसे प्रूफ भेजनेमें एक मासका रेल्वे टिकट ले लेना ज्यादा अच्छा होगा, वह बहुत सस्ता पड़ता है। जैसी कुछ योजना हो आज ही उससे सूचित कर दीजिये और प्रूफ बराबर नियमित रूपसे अपने वादेके अनुसार भेजते रहिये।...."

प्रूफकी व्यवस्थाके लिये आप सदैव इसी प्रकार सचेष्ट रहते हैं, पर समयपर प्रूफ न पहुंचनेसे आपकी जो गति होती है, १७-६-४२के पत्रसे प्रगट है—"अत्यन्त अफसोसके साथ लिखना पड़ता है कि आपने परसों ही प्रूफ भेजनेका मुझसे वादा किया था; परन्तु कल आपका प्रूफ नहीं आया और न आज ही आया है! मेरे वहां आनेका भी कोई असर हुआ मालूम नहीं होता। नहीं मालूम इस सबका क्या कारण है?"

इसी पत्रमें आगे आपने लिखा है—"यदि कल भी

किसी वजहसे प्रूफ नहीं भेजा जा सका है तो आज उस पत्र के पहुंचते ही उसे अपने किसी आदमीके हाथ भेजिये। अन्यथा यदि कल मेरे आदमीको व्यर्थमें आना होगा तो उसका दो रुपये चार्ज प्रेसको देना होगा ! मुझे आज भी प्रूफ न आनेसे बहुत दुःख होरहा है। ..."

प्रेसको प्रूफ फौरन लौटानेका आपको कितना फिक्र है, २८-८-४३ के पत्रमें देखिये—

"पं० परमानन्दजी बीमार हैं। इसीसे आज इन पेजों का भी प्रूफ बा० त्रिलोकचन्दजीको नहीं दिया जा सका और मुझे आदमी भेजना पड़ा। इस वक्त ११ बज रहे हैं मैं नहाया तक नहीं और न मन्दिर ही गया हूँ। इतना अधिक कामका जोर है।"

उनकी नियमितता और कागजादिकी व्यवस्थाओंकी सतर्कताका परिचय २४-३-४३ के पत्रसे प्रकट होता है—

"जो आठ शीट कुछ कोने कटे हुए हैं उनके चतुर्थांश को अलग रखकर शेषको इन ८६ से ६२ तकके पेजोंको छापनेमें ले लीजिये। इस तरह छह शीटकी संख्या हो जाएगी और दो शीट चतुर्थ रिमके साथ अधिक गये हैं उन्हें मिला देनेमें पूरे आठ शीट हो जाएँगे। ८ शीटोंके चतुर्थांश टुकड़े हमारे रहेंगे उन तीन अर्ध शीटोंसे अलग जो प्रथम रिमके बचे हुए हैं।"

इसी तरह ५-४-४३ के पत्रमें लिखा है—"अबकी बारके फाइनल प्रूफमें कितनी ही ऐसी अशुद्धियां पाई गई, जिनको करैक्शन करते समय नई अशुद्धियाँ कर दी गई हैं जो पहले प्रूफमें नहीं थीं—उदाहरणके तौरपर पृ० ११७ के प्रथम कालमकी ४ थी पंक्तिमें 'बलबिरिरियं' छपा था 'बि' के स्थानपर 'वि' किया गया था परन्तु करैक्शन करने वालेने उस 'बि' को तो ज्योंका त्यों रहने दिया उल्टा 'बल' शब्दके 'ब' के स्थानपर 'वि' बना दिया अर्थात् शुद्धको अशुद्ध कर दिया।

मैं समझता हूं पण्डितजीकी स्मृतिका यह उद्धरण सर्वोत्तम उदाहरण है। जिन्हें प्रूफ देखनेका थोड़ा भी अनुभव है, वे जानते हैं कि प्रूफ देखनेके कई दिन बाद, उस छपे हुए फार्मको देख कर यह बताना कि उस दिन प्रूफमें क्या गलतियाँ थीं, असम्भव ही है। आपकी स्मृति, सतर्कता और प्रबंधकताका यह कितना ज्वलंत उदाहरण है।

कागजके सिलसिलेमें ही २८-१-४३ के पत्रमें लिखा है—"कल जो आठ पेजका मैटर छापकर भेजा है वह २०-२२ पौंडके कागजपर क्यों छापा गया है जब कि मैं २८ पौंडका कागज देकर आया था और २८ पौंडका ही एक रिम पहले भेजा गया था। २२ पौंड वाला एक ही रिम था जो पेज ३५२ से ३६४ तक लगा है, उसके ८७॥ शीट ही बचे हुए थे; जो पं० परमानन्दवाले लेखके शुरूके पेजोंमें लग गये। अतः कागजकी इस गड़बड़ीका क्या कारण है उसे शीघ्र ही स्पष्ट करके लिखिये। कागज आपके पास हमारा १२॥ शीटकी कमीके साथ ५॥ फार्म छपनेके लिये और है, फिर आपने यह कैसे कहलाकर भेजा कि कागज नहीं रहा।

उनकी हिदायतें इतनी स्पष्ट और खुली होती हैं कि भूलकी गुञ्जायश ही न रहे। ५-४-४३ के पत्रमें लिखा है—"....और इस फार्मकी एक कापी अधिक छापिये, जिसे साहू साहबके पास भेजना है। दो कापियाँ भेजते समय यह भी देख लीजिये कि कागज़ साफ और अच्छा डबीज़ हो। कोई कागज़ खराब या कम डबीज निकल जाता है उसपर छपी हुई न होवे और जो कापी भेजें उसे अधिक मोड़कर न भेजें तीन मोड़ देवें।"

बहुतसे पत्रोंमें उन्होंने स्याहीके सम्बन्धमें हिदायतें दी हैं। मात्राओं, अनुस्वार-बिन्दुओंकी भूलें भी उनकी आँखोंसे नहीं छिप पातीं। बहुत बार भूलोंके कारण वे स्वयं सरसावासे दौड़े आते हैं—गुस्सेसे भरे हुए, पर वह गुस्सा उस भूलके उल्लेख तक ही रहता है, फिर वे ही हँस हँसकर बातें !

संक्षेपमें 'सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्, सस्ती' यह उनकी प्रकाशन नीतिका रूप है। 'सत्य' में वे 'साधक' हैं, 'शिवं' में 'समाजसुधारक', 'सुन्दरं' में 'कलाकार' और 'सस्ती' में 'मुख्तार' हैं।

विरोधमें भी निर्विरोध

(ले—श्री रवीन्द्रनाथ जैन न्यायतीर्थ, शास्त्री, रोहतक)

क्योंकि जब तब किसी वस्तुकी ठीक २ आलोचना न की जाय तब तक वह श्रद्धालु लोगोंके सिवाय अन्यके द्वारा आदरणीय नहीं होती। जैन समाजमें भी पहिले आलोचनाओंका नितान्त अभाव था। आशाधरजी सरीखे प्रकांड पंडितोंने भी जहाँ मूलगुणोंके मतभेदको खुल कर प्रकट नहीं किया, किन्तु नैगम नय एवंभूत नय आदिके द्वारा समन्वय करनेकी ही कोशिश की वहाँ पंडित जुगलकिशोरजीने ही सर्वप्रथम निर्भीकताके साथ उन्हें आचार्योंका शासनभेद बताया। सच तो यह है कि मुख्तार साहबने आलोचना कार्यके लिये अपना जीवन ही अर्पण कर दिया। समाजसे सांकांद हो उसकी आलोचना नहीं की जा सकती थी अतः मुख्तार साहब अपने सहारे खड़े हुये।

मुझे याद है कि एक बार मुख्तार साहब रोहतक आये। अष्ट द्रव्यके साथ आपने शारीरिक क्रिया (नमस्कारादि) को भी द्रव्य-पूजा बताया। यह पूजक की इच्छा पर है कि वह किसी तरह द्रव्य–पूजा कर कर सकता है। मुख्तार महोदयका कथन शास्त्रीय आधार पर था, फिर भी श्रद्धालु भक्तोंके परम्परागत संस्कारके वह विरुद्ध होनेसे उन्हें असह्य हुआ। बस फिर क्या था, आगे पीछे मुख्तारजी पर कटु वाग्बाणों की वर्षा की गई और उन्हें सभी कुछ कहा गया। मुख्तार साहबके प्रेमियोंको वह सुन कर क्रोध आया, पर मैंने देखा कि वे ज्योंके त्यों शान्त रहे और यह सब निन्दा उनकी प्रसन्नताका सागर न सुखा सकी।

यह सम्मान समारोह उनकी उस हंसीकी विजय-घोषणा है। वे कहा करते हैं डाक्टर जब आपरेशन करता है, तो रोगीसे पुरस्कार पाता है, पर इस पुरस्कारसे पहले गालियां तो निश्चय ही, पर मौका लग जाये, तो २-४ लातोंके लिये भी उसे तैयार रहना चाहिये। यही दशा सुधारककी है। उनकी यह बात युवक समाज सुधारकोंके लिये आदर्श वाक्य है।

पण्डितजीसे मेरा परिचय

श्री एम० गोविन्द पाई, मंजेश्वरम् (मद्रास)

श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके साथ मेरा परिचय पहले पहल तब हुआ था, जब वे कुछ समय के लिये गुजरात पुरातत्व मन्दिर अहमदाबादमें ठहरे हुए थे। मैं भी उन दिनों यात्राके समय आचार्य श्री काका कालेलकरका अतिथि था। यह सितम्बर १६२८ की बात है।

अपने पहले ही परिचयमें उन्होंने मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया और मुझपर उनके साहित्यिक विचारोंकी गहरी छाप पड़ी। बहुतसे लोगोंका नाम हम दूरसे सुनते हैं, पर मिलनेपर भारी निराशा होती है, परन्तु उनसे मिलकर मुझपर यह प्रभाव पड़ा कि वे महान साहित्यिक होनेके साथ महान पुरुष भी हैं। इस प्रथमपरिचयके बाद उनके दर्शन करनेका तो फिर अवसर नहीं मिला, पर 'अनेकान्त' में उनके लेख मैं बराबर पढ़ता रहता हूँ और इससे उनकी विद्वत्ताके प्रति मेरा मान बढ़ता ही गया है। उनके व्यक्तित्वमें विनय और विद्वत्ताका बहुत सुन्दर समन्वय हुवा है।

कर्तव्य पालनका प्रश्न

(श्री राजेन्द्रकुमारजी देहली)

एकबार पण्डितजी नजीबाबाद आये और कुछ मित्रों ने उनकी संस्थाकी सहायताके वचन दिये। उनमेंसे और धनतो धीरे २ प्राप्त हो गया, पर एक मित्रके १००) रह गये। पण्डितजीके अनेक पत्रोंका भी उन्होंने उत्तर नहीं दिया इस पर पण्डितजीने उन्हें एक रजिस्टर्ड नोटिस देदिया और मुझे कहा कि तुम्हारे सामने उसने वचन दिया था इस लिये तुम गवाह रहना। जब मैंने कहा कि जाने भी दीजिये, तो बोले यह मेरे लिये १००) का प्रश्न नहीं है, यह तो एक मित्रको उसके कर्तव्यकी याद दिलाना है।

बादमें शायद मामला यों ही निमट गया।

सरसावाका सन्त

(ले०—श्री मंगलदेव शर्मा, देहली)

एक साहित्यिककी सहारनपुर-यात्रा तब तक अधूरी ही समझनी चाहिये, जब तक वह सरसावाके वीरसेवामन्दिर की तथा उसके सन्तकी परिक्रमा न करले। यही सोच कर मैं एक दिन प्रातःकाल सरसावाके तीर्थ-स्थानको चल दिया।

मनमें नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प चल रहे थे। एक बड़े भारी साहित्य-सेवीका साहित्य-मंदिर है, बड़ा भारी ठाट-बाट होगा! और वे पंडित जुगलकिशोरजी—बस यहीं आकर अटक जाता था। क्या सरलतासे भेंट हो सकेगी? क्या वे समय दे सकेंगे?

आठ मीलकी इस छोटी सी यात्राको समाप्त कर मैं सरसावा पहुंचा। वीरसेवामंदिरकी धवलध्वजा दूरसे ही दीख रही थी। सड़कके किनारे पर ही उसका मुख्य द्वार है। भीतर प्रवेश करने पर मेरे सारे विचार बदल गये। वीरसेवामन्दिरके इस शान्त तथा सौम्य वातावरणने मेरे हृदय पर विचित्र प्रभाव डाला। मुझे कुछ ऐसा भान हुआ जैसे मैं किसी प्राचीन सन्त-आश्रममें पहुंच गया हूं।

और पण्डित जुगलकिशोरजी तो जैसे पहलेसे ही यह जानते थे कि हम आ रहे हैं। मानो मिलनेकी ही प्रतीक्षा में थे। हमसे वे बड़ी उत्सुकताके साथ मिले। कुछ ही क्षण बाद मुझे यह जान पड़ा जैसे हम वर्षोंके पूर्व परिचित हैं। उनकी सरलता और विद्वत्ता सहज ही में सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यह उनके स्वभावकी विशेषता है। वीरसेवामन्दिरका पुस्तकालय देखा और पंडित जीकी कार्य-प्रणालीसे भी परिचित हुआ।

संस्थाका भवन विशाल है, जिसे पण्डितजीने अपने धनसे बनवाया है। इसमें हालकमरेकी बगलमें एक छोटासा कमरा है, यही संस्थाके अधिष्ठाता श्री मुख्तार साहबकी कर्मशाला है। बीचमें बिछा हुआ एक गद्दा और उस पर चारों ओर अस्तव्यस्त पड़ी पुस्तकें और कागज़। कमरेके बाकी भागमें भी कहीं कुछ और कहीं कुछ। यहीं बैठ कर आप साहित्य और इतिहासकी शोधका कार्य करते हैं।

कमरेकी इस अस्तव्यस्तताने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा। उसी समय मेरा ध्यान वहां रक्खे संस्थाके रजिस्टरों पर गया। हरेक रजिस्टर सुन्दर और व्यवस्थित था। इतनी साफ डाकबुक तो बहुत ही कम संस्थाओंमें होगी। भोजनके बाद पण्डितजीने मुझे स्वयं उठ कर सौंफ दी। इतनी साफ कि एक एक दाना चुना हुआ। मुझे लगा कि मुख्तार साहबकी अपने प्रति निस्पृहता और अपने कार्यके प्रति सचेष्टताके ये दो नमूने हैं। कमरा जैसे उनका प्रतिनिधि है और ये रजिस्टर और सौंफ उनके कार्यके। पुस्तकालयमें खोज-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री एकत्रित की गई है, परन्तु उसके लिये अभी पुस्तकोंकी बहुत आवश्यकता है। फिर भी वीरसेवामंदिरने अभी तक जो कार्य किया है, वह महत्वपूर्ण है और विशेष बात यह कि वह सब मुख्तार साहबकी ही एकान्त साधना, तपस्या तथा आत्म-बलिदान का साकार रूप है। संस्थाकी जिस बातने मुझे प्रभावित किया, वह यहांकी प्रदर्शन-हीनता है। सच पूछिये तो इस संस्थामें आज-कलका-सा संस्थापन ही नहीं है। एक आचार्य हैं, यह उनका जैसे परिवार है और यहां सब परिवारकी ही तरह सरल, सरस और शान्त है।

दूसरी बार पण्डितजीके दर्शन, उन्हींके सम्मानार्थ मनाये गये, सम्मान-समारोहके अवसर पर हुए। यहाँ उन के दूसरे स्वरूप अर्थात् साहित्यिक रूपका विशेष परिचय मिला।

उत्सवमें सभी विचारोंके विद्वान् एकत्रित हुए थे और उनमेंसे बहुतसे ऐसे थे, जिन्होंने पण्डितजीके कार्यका मार्मिक अध्ययन किया था। अपनी वक्तृताओंमें उन्होंने उनके अथक-परिश्रम, प्रतिभा तथा जैन साहित्यके विशाल अनुसन्धानकी सराहना की।

उत्सव चल रहा था। सबका ध्यान पण्डितजीकी ओर था, और वे मंच पर बड़े संकोचके साथ सिमटे से बैठे थे। जैसे उन्हें किसीने बल-पूर्वक लाकर यहां बैठा

दिया है। पंडितजीकी संकोचमुद्रासे ऐसा ज्ञात होता था, मानो उन्होंने कोई भारी अपराध किया है और आज इस विशाल-पंचायतमें उसका निर्णय होने वाला है। उनकी मुखमुद्रा देख कर श्री लालचन्दजी एडवोकेटने हंस कर श्री प्रभाकरजीसे कहा था—"पण्डितजी यहाँ बैठे हैं जरूर पर भीतर ही भीतर तुम्हें कोस रहे होंगे कि कम्बख्तने कहां फंसा दिया है।"

उत्सवका कार्य-क्रम पहले दिन ५ घंटे तक चलता रहा। कई हजार आदमी बड़ी उत्सुकता के साथ सुनते रहे। अन्त में पण्डितजीसे भी अपने विचार प्रकट करनेके लिये अनुरोध किया गया।

अब पण्डितजीकी बोलनेकी बारी थी। वे धीरे २ खड़े हुए। जैसे उन पर किसीने बड़ा भारी बोझ लाद दिया हो, जिसे वे उठानेमें तो असमर्थ हैं ही—परन्तु फेंकनेमें भी अशक्त हैं। वे कुछ क्षण बड़े ही मर्मस्पर्शी थे। जनता कुछ उनके मुंहसे सुननेको उत्सुक थी और पण्डित जी हाथ बाँधे मंच पर खड़े थे। उनका वृद्ध शरीर कांप-सा रहा था। संकोचका ऐसा विस्मयकारी पवित्ररूप मैंने आज-तक नहीं देखा था!

मैं डर रहा था, कहीं वे क्षमा-याचना करके ही न बैठ जायें। परन्तु पंडितजीने जो उस समय संक्षेपमें कहा वह उन्हींके योग्य था। धीरे धीरे, अत्यन्तसंयतरूपसे, वे एक एक शब्द, मोतियोंकी लड़ीसे गुन्थे, कह रहे थे। संकोचने उनके कण्ठ स्वरको इतना भावप्रवण कर दिया था कि इस समय सारे महोत्सवका ही वातावरण प्रेम और करुणाके रससे भीगा-भीगासा हो रहा था। यह भाषण मौखिक था। बिना लिखा था, इसीसे मौखिक था, अन्यथा यह एक दम हार्दिक था। भाषणोंका यह युग है. पर इतना हार्दिक भाषण सुनना इस युगका अमूल्य अवसर ही था।

भाषणकी हार्दिकता और पण्डितजी की तन्मयता उस स्थल पर पहुंच कर तो सचमुच अनुपमेय ही हो उठी, जब उन्होंने कहा—हर्ष भी शोककी तरह आत्माका शत्रु है। मेरी प्रार्थना है कि इस सम्मानसे मुझे हर्ष न हो।

और इस प्रार्थनाके बाद जब उन्होंने कहा कि मैं इस सारे मान-सम्मानको, जो प्रेमवश आपने मुझे दिया, अपने आराध्यदेव श्री समन्तभद्रको ही समर्पित करता हूं, तो मुझे लगा कि इस मान सम्मानके साथ उन्होंने अपने आप को भी जैसे अपने इष्टदेवके चरणोंमें अर्पित कर दिया है।

इस समय पण्डितजीके दो विभिन्नरूप एक साथ मेरे सामने थे। एक जनता द्वारा सम्मानके ऊंचे शिखरपर प्रस्थापित महामना जुगलकिशोर और दूसरे अपने गुरु श्री समन्तभद्रके चरणोंमें लीन साधक जुगलकिशोर। निश्चय ही पहलेसे दूसरा महान था और सच तो यह है कि साधकने ही महामनाकी सृष्टिकी थी।

यह उनकी गम्भीर साधनाका ही फल था कि जीवनके आरम्भमें अपने जिन विचारोंके कारण वे जिन बन्धुओंके द्वारा प्रबल विरोधके भाजन हुए थे अपने उन्हीं विचारोंके साथ, उन्ही बन्धुओंके द्वारा, इसी जीवनमें, अपने ही घरमें, समारोहके साथ सम्मानित हुए। इस प्रकारका सौभाग्य पाने वाले वे ही सम्भवतः सर्वप्रथम विद्वान हैं।

इस असाधारण सम्मानको पाकर भी जो नम्र है, निरभिमान है, वही तो प्रकृतिके द्वार पर महामानवताका प्रसाद पानेका अधिकारी है।

मेरा मस्तक श्रद्धासे उस सन्तके सम्मानमें झुक गया और तभी मैंने देखा, समारोहमें समुपस्थित हजारों हृदय स्नेह, श्रद्धा और उत्सुकताकी त्रिवेणीमें अवगाहन कर गद-गद हो रहे हैं।

"कृपण, स्वार्थी, हठग्राही" मुख्तार साहब

(श्री कौशलप्रसाद जैन, व्यवस्थापक अनेकान्त सहारनपुर)

यह अंक निकालनेका निश्चय होते समय मुख्तार साहबने यह शर्त भी लगाई थी कि अपने व्यक्तियोंमें से उनपर इस अंकमें कोई एक शब्द न लिखे पर अब जब कि यह अंक तैयार होगया है और भैय्या 'प्रभाकर जी'को यह महसूस हुआ कि मुख्तार साहबके जीवन का अभी तक एक कोना और भी ऐसा रह गया है जिसपर प्रकाश पड़ना आवश्यक है तो उसके लिखने के लिये उन्होंने मुझे आदेश दिया।

अपने सार्वजनिक जीवनके प्रारम्भसे ही मैं प्रायः यह सुनता आरहा हूँ कि मुख्तार साहब बडे कृपण, संकुचित मनोवृत्ति वाले, हठग्राही और स्वार्थी हैं। सौभाग्यसे भारतवर्षका भ्रमण समाप्त करनेके बाद मेरा सहारनपुर रहना अनायास ही निश्चित् होगया। सहारनपुर रहते यह निश्चित ही था कि मैं उनके सम्पर्कमें आऊँ, अतः यहाँ भी और दो एक बार वीर सेवामन्दिरके उत्सवों तथा अन्य अवसरोंपर भी सरसावा जानेपर यह मालूम हुआ कि वहांके व्यक्ति भी उनसे नाराज हैं और शिकायत यही कि यहाँके सामाजिक कार्योंमें सहयोग और सहायता नहीं देते आदि।

इसी बीचमें एक बार मुख्तार साहबने मुझे 'अनेकान्त' के टाईटिलके नवीन डिजाइन और ब्लाक बनानेका भार सौंपा और ब्लाक बनाने वालोंकी उपेक्षासे वह समयपर नहीं आसका तो मुख्तार साहब ने मुझपर भी नाजायज तकाज़ा किया जिससे मैंने भी उन्हें बड़ा स्वार्थी और बदलिहाज समझा। इसी तरह मैंने अपने पड़ौसके प्रेससे उनके ग्रन्थ और 'अनेकान्त' के छपनेकी व्यवस्था करादी थी तो देखा कि उस प्रेससे ही अकसर उनका झगड़ा रहता है। इस प्रकार घटनाक्रमसे सारे ही साधन ऐसे जुटते रहे कि मेरे हृदयमें उनके प्रति सुनी हुई धारणा दृढ़ होती गई।

इसी वर्ष वीरशासनजयन्तीके अवसर पर वीर-सेवा मन्दिरकी मीटिंगमें जब 'अनेकान्त' के तिमाही होनेका प्रश्न आया और बा० छोटेलालजीने उसे मासिक ही रहने देनेके लिये मुझे अपनी आनरेरी सेवाएँ 'अनेकान्त' को देनेकी आज्ञा दी तो मैं बड़ा झिझका और मैंने अपने दिलमें सोचा कि मेरे जैसे तेजमिजाज, उच्छृङ्खल और नियन्त्रण बर्दाश्त न कर सकने वाले व्यक्तिके साथ मुख्तार साहबकी कैसे पटेगी, पर बाबू छोटेलालजीके आदेश और 'अनेकान्त' के मासिक रहनेकी प्रबल इच्छाके कारण मुझे चुप होजाना पड़ा।

उस समयसे अब तक मैं उनके अधिकसे अधिक संसर्गमें हूँ और मुझे उनके जीवन और विचारोंको बारीकीसे देखनेका अवसर प्राप्त हुआ तो मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि वास्तवमें लोगोंकी उस धारणा का कारण दृष्टिभेद है।

वास्तवमें मुख्तार साहबके भी कुछ जीवन-सिद्धान्त हैं और उन सिद्धान्तोंके पालन करनेके अवसरपर वे अपने प्रियसे प्रिय व्यक्तिसे भी भिड़ जाते हैं।

'अनेकान्त' के व्यवस्था सम्बन्धी कार्यके इन पांच छः महीनोंमें यह बात नहीं है कि मेरा उनका कहीं मतभेद न हुआ हो। हुआ है और काफी हुआ है, पर उस मतभेदमें मुझे यह याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी हठग्राही या संकुचित मनोवृत्तिका परिचय दिया हो। उस मतभेदमें बात उनकी चाही हुई तय हुई हो या मेरी, पर वह हुई है सर्वसम्मतिसे। हम दोनोंमें किसीके चित्तमें भी कोई बात नहीं रही है

और प्रसन्न होकर उठे हैं। यह बात हालके एक संस्मरणसे और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

सम्मान-समारोह उत्सवसे पहले 'मुख्तार साहब और उनका कार्य' निबन्धके नोट्स लेनेके लिये मैं और 'प्रभाकर' जी वीरसेवामन्दिर गये थे। वहाँ पर उनसे बातचीत करने और साहित्य देखनेके बाद हमें यह आवश्यकता महसूस हुई कि यहाँसे कुछ पत्रोंकी फाइलें और पुस्तकें सहारनपुर जानी चाहियें जिससे वहाँ ठीक अध्ययन हो सके। उन पत्रोंकी फाइलोंमें 'जैनगजट' के पहिले वर्ष अर्थात् १८६५ सन् की एक फाईल भी थी। मुख्तार साहबने उसे देनेसे इन्कार कर दिया और हमारे बहुत अधिक आवश्यकता बताने तथा पं० दरबारीलालजी कोठियाके यह कहने पर भी कि 'क्या ये लोग फाईल खा जाएँगे' उन्होंने यह कहा कि या तो यहीं देखलो और यदि सहारनपुर ही ले जाना आवश्यक है तो चलो मैं साथ चलता हूँ। परिणाम स्वरूप अगले दिन स्वयं ही उसे साथ लेकर आये और शामको वापिस जाते समय उसे साथ ले गये।

साधारण दृष्टिसे देखा जाए तो हमें उनसे नाराज़ होजाना चाहिये था कि उन्होंने हमारा विश्वास नहीं किया। पर वास्तवमें बात विश्वासकी नहीं उनकी कर्तव्य परायणता और उस फाइलकी सुरक्षा की थी। उस फाइलका एक २ पन्ना हिन्दी भाषाके इतिहास लेखकके लिये १-१ लाख रुपयेका है और पन्ने उसके इतने जीर्ण हैं कि उसका फट जाना असम्भव नहीं है। इसी मनोवृत्तिका यह फल है कि आज वीरसेवा-मन्दिरमें बड़े २ ग्रंथों, पुस्तकों और पत्रोंकी पचास २ सालकी वह फाइल सुरक्षित हैं जो अधिकांश पत्रोंके उनके आफिसोंमें नहीं मिल सकती और हम लोगोंके पास तो २ महीने पहले पत्रोंकी फाइल भी नसीब नहीं होती। जहां तक मैंने अनुभव किया है वह अपने पास की प्रत्येक वस्तुको बहुत ही सुरक्षित, व्यवस्थित रखना और उसका उचित उपयोग करना और वह भी सुपात्र के लिये आवश्यक समझते हैं। इसीलिये बड़ी २ वस्तुओं और मूल्यवान सामग्रीके साथ २ साधारण वस्तुएँ—जलानेकी लकड़ी, अचार, घी, चीनी, नमक आदि भी तालेमें रखते हैं और बाह्य दृष्टिसे देखने वाला व्यक्ति इसे उनकी कंजूसी, संकुचित मनोवृत्ति समझता है पर यह बात प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उन्हें यह महसूस होनेपर कि इस वस्तुकी फलाँ व्यक्ति को आवश्यकता है उन्होंने सहर्ष सौंप दी है। इस प्रकार अनेक व्यक्तियोंने वस्तुस्थितिपर ठीक विचार न करके अपनी गलत धारणा बनाली है।

दूसरी बात यह है कि वह प्रत्येक कार्यको व्यवस्थित और अधिकारपूर्ण उत्तम रूपमें करना चाहते हैं इसके लिये चाहे उन्हें अपने कितने ही विश्वासपात्र, प्रेमी और साथीका विरोध करना पड़े। साथ ही इस विषयमें देर-अबेर, किसीकी राजी-नाराजीकी उन्हें तनिक भी परवाह नहीं है।

इसी प्रकार तीसरी बात यह है कि वह एक २ पाईका उचित व्यय पसन्द करते हैं और इस बारेमें उन्हें अनियमितता बिल्कुल पसन्द नहीं है। सबसे बड़ी बात जो उनको अप्रिय बनाती है वह यह है कि अपने अनुसन्धान जैसे रूखे विषयमें वह इतने अधिक मस्त हैं कि उन्होंने अपना कुटुम्ब, रिश्तेदारी, मिलना जुलना सब कुछ छोड़ दिया है। वास्तवमें वह व्यक्ति जो समाजके वातावरणसे ऊँचे उठ गया है उससे हम यह आशा करें कि वह हमारे वातावरणमें रहकर हमारा साथ दे, हमारे मरने-जीने, विवाह-शादी, पूजा-प्रतिष्ठामें हमारे साथ रहे, तो यह असम्भव है। यह तो वही बात है कि हम किसी साधुसे संसारी कार्योंमें भाग लेनेकी आशा रक्खें और न शामिल होने पर उसे अनागरिक कहें।

इसी प्रकार भारतवर्षके प्रायः प्रत्येक प्रान्तसे मुख्तार साहबके पास जिज्ञासुओंके इतने अधिक पत्र आते हैं कि शायद चार लेखक मिलकर भी उनका उत्तर नहीं दे सकते हैं फिर भी मुख्तार साहब उनमें से प्रायः सभी आवश्यक पत्रोंके उत्तर देनेका प्रयत्न करते हैं पर उसमें देर होजाना स्वाभाविक ही है। अतः कुछ भाई इसीलिये अप्रसन्न रहते हैं।

वास्तवमें मुख्तार साहब बच्चोंकी तरह सरल और वृद्धोंकी तरह गम्भीर हैं।

पण्डितजीके दो पत्र

[उस्मानाबाद (हैदराबाद) के श्री नेमचन्द बालचन्दजी गान्धीने मुख्तार साहबकी विख्यात पुस्तिका 'मेरी-भावना' पर कुछ पारिभाषिक शंकाएं की थीं। उनके उत्तरमें मुख्तार महोदयने जो पत्र उन्हें लिखे, वे उन्होंने कृपाकर इस अंकमें प्रकाशनार्थ हमें भेज दिये हैं। इन पत्रोंसे मुख्तार साहबकी पत्र-लेखन-प्रणाली, अपनी हर साहित्यिक पंक्ति के प्रति सचेष्टता और ज्ञान तथा स्वभाव पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है। अपने जीवनमें पण्डितजीने इस प्रकारके सैंकड़ों पत्र लिखे हैं। अब समय आगया है कि उन सबका संग्रह हो। मुख्तार महोदयके कोई प्रेमी यदि यह काम कर सकें, तो मुख्तार महोदयके जीवनकी बहुत कीमती सामग्री संग्रह हो जाए और साहित्यकी दृष्टिसे भी वह बड़े महत्त्वका काम हो। हम इन पत्रोंके लिये श्री गान्धीजीके कृतज्ञ हैं। —सम्पादक]

वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर)
ता० ४—८—४२

प्रिय महानुभाव श्री नेमचन्द बालचन्दजी गान्धी

सस्नेह जयजिनेन्द्र।

ता० २५ का कृपापत्र मिला। इस कृपाके लिये आभारी हूं। कवितामें काव्य दृष्टिसे जो त्रुटियाँ आपको मालूम पड़ी हैं, वे ठीक नहीं हैं। जान पड़ता है, कि आपने हिन्दी कविताओंको संस्कृत-काव्य-नियमोंसे जाँचनेका प्रयत्न किया है, और इसीसे आप यह लिखनेके लिये बाध्य हुए हैं कि —"हिन्दी कविताओंमें अक्सर काव्यनियमोंका पालन नहीं होता।" परन्तु जांचका यह तरीका समुचित नहीं है। हिंदी, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओंकी कविताएँ सर्वथा संस्कृत-काव्य-नियमों पर अवलम्बित नहीं है—उनके अपने नियम भी हैं, जिन परसे उन्हें जांचना चाहिये। संयुक्ताक्षरसे पूर्वका वर्ण सदा गुरु हो, ऐसा नियम हिंदी आदि दूसरी भाषाओंका नहीं हैं—वह लघु भी होता है, जैसा कि कवि राजमल्लके पिंगलके निम्नवाक्यसे प्रकट है, जिसमें नियम देते हुए उदाहरणके तौर पर 'परिल्हसइ' पदके 'रि' अक्षरकी ओर उसके लघु होनेका संकेत किया है—

"कत्थ वि संजुत्त-परो वण्णो लहु होई दंसणेण जहा—
परिल्हसइ चित्तधिज्जं तरुणि कडक्खम्मि णिव्वुत्तं ॥१०॥

इसके बाद कवि राजमल्लने 'जइ दीहो वि अ वण्णो लहु जीहा पढइ होइ सो वि लहु' इत्यादि वाक्यके द्वारा यह भी बतलाया है, कि यदि कोई वर्ण दीर्घ है और वह हलकी ज़बानसे पढ़ा जाता है तो वह लघु होता है—गुरु नहीं, और आगे इसके उदाहरण भी दिये गये हैं।

'छन्दःप्रभाकर' नामके भाषा पिङ्गलमें भी ऐसा ही विधान है—

"भाषाकाव्यमें संयोगी अक्षरके आदिका लघु स्वर कहीं लघु और कहीं गुरु माना जाता है। जहां गुरु माना जाता है वहाँ उसकी दो मात्रा गिनी जाती हैं और जहां लघु माना जाता है वहाँ उसकी एक मात्रा गिनी जाती है। यथा, लघुका उदाहरण—

"शरद जुन्हैया मोदप्रद, करत कन्हैया रास।"

वर्णोंका गुरुत्व अथवा लघुत्व उसके उच्चारण पर निर्भर है, जैसा इस दोहेसे सिद्ध होता है—

"दीरघ हू लघु कर पढैं लघु हू दीरघ जान।
मुखसौं प्रगटै सुख-सहित कोविद करत बखान॥"

—छंद प्र० पृ० ४, ५

ऐसी हालतमें 'संयुक्ताद्यं दीर्घम्' इस वाक्यके आशयको लेकर जो भी त्रुटियाँ आपने बतलाई उनमें कुछ भी सार नहीं है, और न उनके कारण छंदोभंग होकर कोई दोषापत्ति ही खड़ी हो सकती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि संस्कृत व्याकरणमें 'ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्' इस वाक्यके द्वारा अन्तस्थ वर्णों (य, र, ल, व) को 'ईषत्स्पृष्ट' माना है। जहां ये वर्ण संयोगमें आते हैं, वहाँ संयुक्ताक्षरसे पूर्वका वर्ण दीर्घ नहीं भी होता. इस बातको श्रुतसागरने यशस्तिलककी टीकामें एक उद्धृत वाक्यके छंदोभंग दोषका

परिहार करते हुए बतलाया है। यथा—

"तथा चोक्तम्—'न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति व्याधयः' इत्यत्र "ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानात्" इति वचनात् न छंदोभंगः शङ्कनीयः।" (यशस्तिलक पूर्वार्ध पृ० २१८)

'संयुक्ताद्यं दीर्घं' के नियमानुसार 'प्रभवन्ति' पदका अन्तिम अक्षर दीर्घ होना चाहिये और दीर्घ होनेसे छंदोभंग होता है, परन्तु अगले संयुक्ताक्षरमें अन्तस्थ वर्णके रहनेसे उसका दीर्घ होना लाज़िमी नहीं रहा, और इस लिये छंदोभंगका दोष भी नहीं रहा, यही बात यहाँ स्पष्ट करके बतलाई गई है। इससे भी आपकी बतलाई हुई अधिकांश त्रुटियां त्रुटियां नहीं रहतीं एकको छोड़कर सभी संयुक्तवर्णोंमें एक या दो अंतस्थ वर्ण पड़े हुए हैं।

'वृत्तरत्नाकर' में पादके आदिमें जो संयोगी वर्ण हो उसे 'क्रमसंज्ञित' लिखा है और ऐसा क्रमसंज्ञित वर्ण यदि परभागमें हो तो पूर्वका वर्ण गुरु होते हुए भी कचित् लघु होता है, ऐसा निर्देश किया है। साथ ही, उदाहरण द्वारा उसे स्पष्ट करके बतलाया है। यथा—

"पादादाविह वर्णस्य संयोगः क्रमसंज्ञितः।
परस्थितेन तेन स्याल्लघुताऽपि कचिद्गुरोः॥ १०॥
उदाहरण—तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुंदरि! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥११॥"

इस नियमके अनुसार 'क्षोभ नहीं मुझको आवे' इस पादके शुरूमें 'क्षो' अक्षर 'क्रमसंज्ञित' है और इस लिये इसके पूर्व 'पर' शब्दका 'र' अक्षर उसी प्रकारसे दीर्घ नहीं है, जिस प्रकार कि ऊपरके उदाहरणमें 'ग्राम्यके' पूर्व 'सुंदरि' शब्दका 'रि' अक्षर दीर्घ नहीं है। अतः इस दृष्टिसे भी दीर्घ होकर छंदोभंग होनेकी आपत्ति व्यर्थ ठहरती है।

अब रहीं शेष दो आपत्तियाँ; 'या उसको स्वाधीन कहो' इस चरणमें मुझे दुर्बोधता कुछ भी मालूम नहीं होती। 'स्वाधीन कहो' के स्थानमें जो आपने 'कुछ और कहो' सुझाया है वह मुझे जँचा नहीं—'स्वाधीन' पदमें जो अर्थ-गौरव है और महत्त्वका भाव सन्निहित है वह 'कुछ और कहो' में नहीं आता। इसी तरह 'दुख समूह' के स्थान पर 'दुःख निचय' कर देनेकी बात भी मुझे नहीं जँची। 'समूह' शब्दकी अपेक्षा 'निचय' शब्द कितना दुर्बोध और अप्रचलित है, इस पर आपका ध्यान 'स्वाधीन' पदको दुर्बोध बतलाते हुए भी नहीं गया यह आश्चर्यकी बात है! 'समूह' शब्द हिन्दीमें रूढ है इस लिये 'दुःख' शब्दके साथ समास होनेमें कोई बाधा नहीं आती। इसके सिवा, हिन्दी और संस्कृतके शब्दोंका समास भी होता है—न हो सकनेका कोई कारण प्रतीतिमें नहीं आता। ऐसे कितने ही उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनमें हिंदी शब्दोंके साथ संस्कृत शब्दोंका समास पाया जाता है।

मैं समझता हूं यह उत्तर आपके समाधानके लिये काफी होगा। और कोई सेवा हो तो सूचित कीजिएगा।

भवदीय

ता० २०-८-१९४२ जुगलकिशोर

प्रिय महानुभाव श्री नेमचन्द बालचन्दजी गांधी,

सस्नेह जयजिनेन्द्र।

आपका सद्भावपूर्ण उत्तरपत्र मिला, पढ़ कर प्रसन्नता हुई। मेरे व्यक्तित्वके विषयमें आपने अपना जो ऊँचा भाव व्यक्त किया है उसके लिये आभारी हूं। साथ ही, मेरे समयका आप इतना अधिक ख्याल रखते हैं, इसके लिये धन्यवाद है।

मेरे जिस आलोचनात्मक लेखकी ओर आपने इशारा किया है उसका शीर्षक है—'लेखक जिम्मेदार या सम्पादक?' मैंने इसकी पाण्डुलिपि (मूलप्रति) को निकाल कर देखा तो मालूम हुआ कि उसमें यह कहीं भी नहीं लिखा है कि "संस्कृत काव्य-नियमोंका पालन हिन्दी कवियोंको भी करना चाहिये," और न मेरी वह समालोचना 'संयुक्ताक्षरसे पूर्वका अक्षर दीर्घ होनेके नियम पर ही अवलम्बित थी,' जैसा कि आप लिख रहे हैं। उसमें इस नियमका उल्लेख तक भी नहीं है। वह लेख जैनसन्देशमें (२७ मार्च सन् १९३८ के बादके किसी अंकमें) प्रकाशित हुआ है। फिर भी मैं संस्कृत काव्यनियमोंके पालनका विरोधी नहीं हूं, उनका पूर्णतः पालन यदि हिन्दी कवितामें किया जाता है तो मेरे लिये उसे अनादरकी दृष्टिसे देखनेका कोई कारण नहीं हो सकता। मेरा तो इतना ही कहना है कि हिन्दी काव्यसाहित्य सर्वथा संस्कृत-काव्य-नियमों पर अवलम्बित नहीं है—उसके अपने भी नियम हैं, जिन्हें सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। जांचके समय उन पर भी ध्यान जरूर रखना चाहिये और इस लिये मैंने पूर्वपत्रमें

जो आधार दिये हैं उनसे न तो यह लाजिम आता है कि 'संस्कृत काव्यनियमोंका हिन्दीमें पालन करना निषिद्ध हैं' और न उनके देनेका वैसा कोई अभिप्राय था।

अपवाद भी एक प्रकारके नियम होते हैं और उन्हें सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। पिंगलके रचयिता कवि राजमल्ल हिन्दी या अपभ्रंश भाषाकी अपेक्षा संस्कृत भाषाके ही अधिक तथा बहुत बड़े कवि थे, और इस लिये उनके वचनोंको योंही उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखा जासकता।

'रागद्वेष' आदि जिन पांच पदोंका आपने उल्लेख किया है उन्हें पत्रमें 'क्रमसंज्ञित' बतलाया भी नहीं गया—क्रमसंज्ञितका एक ही उदाहरण उपस्थित किया गया था, और वह 'क्षोभ नहीं मुझको आवे' पदमें प्रयुक्त हुए 'क्षोभ' शब्दका 'क्षो' अक्षर है।

प्रस्तुत कवितामें १६, १४ मात्राओं पर यति है—आठ पर नहीं, और इस लिये यतिभंगका दोष भी नहीं है। अस्तु।

आपके प्रेमभरे पत्रोंसे मुझे दुःख भला कैसे हो सकता है? मेरा तो इन पत्रोंपरसे आपके प्रति बहुत आदर बढ़ गया है। आप विद्वान हैं, विचारवान हैं और सद्भावनाओं से सम्पन्न हैं। ऐसे सज्जनोंकी तो मुझे सदा तलाश रहती है। आप मेरे कार्योंमें बहुत कुछ सहायता पहुंचा सकते हैं। इस समय मेरा आपसे सिर्फ इतना ही अनुरोध है कि—आप 'अनेकान्त' पत्रको अपनाएँ, उसकी प्रत्येक किरणमें कोई-न-कोई लेख बराबर देते रहनेका दृढ संकल्प करें। अनेकान्तको गवेषणापूर्ण तथा आध्यात्मिक लेखोंकी बड़ी ज़रूरत है। यह विद्वानोंका पत्र है, विद्वानोंके सहयोगसे ही इसे इच्छानुसार ऊँचा उठाया जा सकता है। मैं चाहता हूं इसे जैनसमाजमें ही नहीं किन्तु, लोकमें 'कल्याण' जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त हो और यह अजैन-जनताका भी हृदयाल्हादक बने—उसे अपनी ओर आकर्षित कर सके। परंतु यह तभी हो सकता है जब इसे आप जैसे विद्वानोंका सच्चा सहयोग प्राप्त होवे। विद्वानोंके सहयोगके बिना सम्पादक अकेला क्या कर सकता है? मेरे ऊपर संस्थाके दूसरे कामोंका भी कितना भार है और कितने गुरुतर कार्य मेरे सामने हैं, इसे आप स्वयं समझ सकते हैं। ऐसी हालतमें विद्वानोंके यथेष्ट सहयोगके बिना मैं 'अनेकान्त' को इच्छानुसार ऊँचा नहीं उठा सकता हूं। यदि आप जैसे कुछ विद्वान 'अनेकान्त' को अपनी सेवाएँ अर्पण कर देवें और यह गाढ निश्चय कर लेवें कि हम अनेकान्तको ऊँचा उठाकर और एक आदर्श पत्र बनाकर छोड़ेंगे तो यह सहजहीमें ऊँचा उठ सकता और एक आदर्श पत्र बन सकता है। आशा है आप मेरे इस निवेदन एवं अनुरोधपर ज़रूर ध्यान देंगे और मुझे निराश नहीं करेंगे। मैं इसके लिये आपके तात्कालिक वचन और उसकी शीघ्र ही कार्यमें परिणतिकी प्रतीक्षा करूँगा।

शेष कुशल मंगल है। योग्य सेवा लिखें और कृपा-दृष्टि बराबर बनाये रक्खें।

भवदीय
जुगलकिशोर

१२ वर्ष बाद !

एक सज्जनने अपने भाईके लड़केको गोद लिया, पर उसकी सम्भवतः रजिष्ट्री न हो सकी। अपने दत्तक पुत्रके रूपमें उन्होंने उसकी शादी की, पर बादमें वे अपने उस दत्तक पुत्रसे नाराज़ होगये और उन्होंने उसे अपना दत्तक पुत्र माननेसे इंकार कर दिया। इसपर मुकदमेबाज़ी शुरू हुई।

उन सज्जनने विवाहके समय मुख्तार महोदयको एक पत्र लिखा था कि मैं अपने दत्तक पुत्र अमुकका विवाह कर रहा हूं, आप चाँदीका मौड़ भेज दें। १२ वर्ष बाद आपके पास वह मामूली पत्र सुरक्षित था और दत्तकके पक्षमें एक सुदृढ प्रमाण सिद्ध हुवा।

ज्वरकी ज्वालामें जलते हुए भी

श्रीमती प्रेमलता 'कौमुदी', बिजनौर

इस घटनाको बीते एक सालसे भी अधिक हो चला, पर आज भी यह मेरे मानस पर स्मृतिकी तूलिकासे नये चित्र सी खिची हुई है।

बुखारकी हवा-सी चल रही थी, यहां बुखार, वहाँ बुखार। हरेक घरमें कई कई पलंग बिछे थे। और बुखार भी ऐसा कि जिसे आता, हिला देता था। मुख्तार साहब पर भी उसकी नजर पड़ गई और बस १०५! मुझे भी बुखार चढ़ा था, कोई सहायक न था, हरेक स्वयं सहायताका ही पात्र था।

उस दशामें मैंने मुख्तार साहबको देखा—थर्मामीटर कहता था—ज्वरकी ज्वाला और पण्डित जीका मुख कहता था—साधककी सहिष्णुता। शरीर और मन एक दम जैसे अलग २ हो गये थे। शरीरको उनके बुखार था और मन स्वस्थ—इतना स्वस्थ कि वह रोगी शरीरको भी बहुत दूर तक अपने साथ ले चलता था। पण्डितजीने इस दशामें भी अपनी जिम्मेदारियाँ न छोड़ी थीं और सबकी चिन्ता किये जा रहे थे। बीच २ वे दूसरोंको धीरज बन्धाते जाते थे, जैनधर्मका उपदेश इस समय भी जारी था। अपनी चिन्ता उन्हें न थी, दूसरोंका कष्ट कम हो, यही प्रश्न उनके सामने था।

उनके उस रूपका स्मरण जब २ मैं करती हूँ, मुझे लगता है कि जैन-जागृतिका वह संदेशवाहक, अपनी त्याग-तपस्याकी नींव पर आदर्शोंका महल खड़ा करने वाला वह धुनी साधक, जीवनकी कलाका महान कलाकार मेरे पास ही खड़ा मुझे आशीर्वाद दे रहा है।

अपमानके बदले आशीर्वाद

श्री मास्टर जी०सी० जैन 'स्वतन्त्र', सिरौंज

बात १४ साल पुरानी है, जब कि बचपनका अल्हड़पन, फूलकी खुशबूकी तरह मेरे जिस्मके राम रोममें इठला रहा था। अगस्त १९४० को मैं स्याद्वाद विद्यालय काशीकी दीवारसे सटे हुए नलसे झुक कर पानी पी रहा था कि अधेड़ उम्र, स्वस्थ देहधारी एक मनुष्य, जिससे मैं नावाकिफ था, आकर कहने लगा—'बच्चे! थोड़ा पानी हमें भी पिला दो।"

पता नहीं मुझ पर क्या भूत सवार हुआ। तुनक कर मैंने कहा—"खुद पीलीजिये आप! मैं क्या आपका नौकर हूँ, जो आपको पानी पिलाऊँ?"

जवाब क्या था, पानीके प्यासेको डला मारना था, पर उस मनुष्यका दिल दरियाके समान उदार था, बिना गुस्सा किये, मुस्करा कर उस मनुष्यने मन लुभावने मीठे शब्दोंमें कहा—"प्रिय बालक, मैं तुमसे बहुत खुश हुआ कि तुमने निडर होकर जवाब दिया। जो निडर नहीं, वह जीवनमें कुछ नहीं कर सकता, पर एक बातका ध्यान हमेशा रखना कि जब तुम किसीको जवाब देने लगो तो उसमें उचित अनुचित जरूर विचार लेना। तुम ऐसा कर सकोगे, तो देश और समाजकी अच्छी सेवा करोगे और नाम पावोगे।"

मैं अपनी गलती पर बहुत शरमाया और माफी माँग कर उस मनुष्यके पैरोंमें गिरने लगा, तो मुझे उठा कर उस मनुष्यने छातीसे लगा लिया और कहा—"बचपनमें तो ऐसा होना कुदरतकी देन है।"

यह मनुष्य माननीय श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार थे। उस दिनके बादसे मेरे जीवनमें सदा सुख शान्ति रही है और मेरा यह विश्वास है कि यह उस वयोवृद्ध साहित्यसेवीके आशीर्वादका ही फल है।

मुख्तार साहबके परिचयमें

(श्री ज्योतिप्रसाद जैन, विशारद बी० ए० एल०-एल० बी०, लखनऊ)

लगभग बीस वर्षकी बात है। मैं ९-१० वर्षका बालक ही था। मेरठ शहरमें एक वेदी-प्रतिष्ठा-महोत्सव था। उसी अवसर पर वहाँ सुधारवादियोंका भी मुख्तार साहिबके सभापतित्वमें एक जल्सा हुआ। किन्तु जल्सेमें हो हुल्लड़के कारण इच्छा रहते भी मैं पूज्य मुख्तार साहिबको न चीन्ह सका। हाँ हृदय पट पर एक भव्याकृति, श्वेत केश, खद्दरधारी, गम्भीर मुख बुजुर्गकी अस्पष्ट सी स्मृति बनगई।

उसके दो वर्ष पश्चात हस्तिनापुरके कार्तिकी मेले पर फिर सुधारक दलने एक जोरका आयोजन किया। मुख्तार साहिब ही सभापति थे। दस्सा पूजा सम्बंधी प्रस्ताव पर जोरकी विरोधाग्नि भड़क उठी। वहाँ भी मुख्तार साहिबको पाससे देखने और चीन्हनेकी इच्छा हृदयमें दबीकी दबी रह गई।

१९३९ में हस्तिनागपुरके कार्तिकी मेले पर मुख्तार साहिब भी आये हुए थे तब उनके साक्षात्कारका सौभाग्य प्राप्त हुआ। बड़े प्रेम और सरलताके साथ मिले। कई घंटे साथ रहा। रुचि देखकर 'अनेकान्त' में लेख लिखनेके लिये आपने मुझे विशेष प्रोत्साहित किया, आग्रह किया, प्रकाशित करनेका आश्वासन ही नहीं दिया, वरन अपनी इच्छा प्रकट की।

हम तीन व्यक्ति उस समय वहाँ थे। टहलते हुए बातें हो रही थी। मुख्तार साहिबके संकेत पर एक जगह घासपर हम तीनों जने बैठ गये और मुख्तार साहिब मेरे आग्रह पर हालकी ही स्वरचित दो कविताएँ "मीन संवाद" और "अज सम्बोधन" बड़े भावुक ढंगसे सुनाने लगे। वर्तास्थित ताथे स्थानके एक शून्य कोनेमें सन्ध्याके अन्धेरेमें कवि अपनी कविता स्वयं भाव पूर्ण ढंगमें सुनायें—और सुनने वाले मूक गद्‌गद्‌ सुनें। यही भास होता था कि जाल बद्ध निरपराधी मीन स्वयं ही बोल रहा है—

> "सोचूँ यही क्या अपराध मेरा,
> न मानवोंको कुछ कष्ट देता!"

और अपने संवादके बहाने प्रस्तुत सांसारिक दशा और हम मानव कहाने वाले पशुओंकी मनोवृत्ति का सजीव चित्र खींच रहा है।

'संबोधन' की करुणाभरी यह पुकार आज भी मेरे कानोंमें गूंज रही है—

> 'आह' भरी उसदम यह कह कर
> हो कोई अवतार नया,
> महावीर के सदृश जगत में
> फैलावें सर्वत्र दया !!

कविता पाठमें तल्लीन उनकी उस दिनकी वह आकृति अक्सर मेरी स्मृतिमें उतर आती है और मैं सोचने लगता हूँ कि उनकी कविता, उनकी खोज, उनका सम्पादन सब एक ही उद्देश्यको लेकर चला है—जैनसमाज जागे, भगवान महावीरके सन्देशको समझे और नवीन विश्वके निर्माणमें भागले।

उनकी संस्था-नीति पण्डितजी एक आदर्श संस्था-संचालक हैं, पर संस्था-संचालनकी वह कुंजी उन्हें नहीं आती, जो दूसरे चन्दा-चक्रवर्तियोंको हस्तामलक हैं। वे प्रदर्शनका खर्च न बढ़ाकर, और कम खर्च करनेकी ही नीति रखते हैं।

मेहमानके रूपमें

(श्री लाला ऋषभसैन जैन, सहारनपुर)

उस दिन मैं बाहरसे आया, तो देखा कि भाई प्रभाकरजी हॉल कमरेमें बैठे एक खद्दरधारी वृद्धसे बातें कर रहे हैं। मैं उनके पाससे होकर, बिना इधर आकर्षित हुए भीतर चला गया। भीतर जाते ही मालूम हुआ कि वे खद्दरधारी सज्जन पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार हैं, तो मुझे अपने व्यवहार पर बहुत संकोच हुआ। तुरन्त लौट कर मैं पण्डितजीसे मिला, पर पण्डितजीकी किसी बातसे भी यह सिद्ध न हुआ कि उन्होंने मेरा यों पाससे निकल जाना फील किया। वे असलमें निरभिमान और सरलताकी साक्षात् मूर्ति हैं।

एक ऐसा आदमी, जिसने 'अनेकान्त' में मुख्तार साहबको बड़े २ विद्वानोंसे इतिहासकी किसी गुत्थी पर बहस करते देखा हो, कहीं रास्तेमें अचानक बन्द गलेका पट्टू या मोटी खादीका कोट और मामूली धोती पहने, और अपना झोला लिये जाता, या प्रेसके बाहर अपने लेखका प्रूफ पढ़ते देखे, तो वह अनुमान नहीं कर सकता कि ये दोनों रूप एक ही आदमीके हैं। मुख्तार महोदय असलमें समुद्रकी तरह गम्भीर हैं।

पण्डितजीसे बातें करनेमें बड़ा लुत्फ आता है। वे अपनी खूब कहते हैं और दूसरेकी खूब सुनते हैं और कहनेमें भी हंसते हैं और सुननेमें भी।

इधर बराबर जब वे सहारनपुर पधारते हैं, तो मेरी कुटिया भी पवित्र हो जाती है, पर हमें कभी यह अनुभव नहीं होता कि वे मेहमान हैं। वे स्वयं इतने बेतकल्लुफ हैं कि कोई अनजान आदमी उन्हें यहाँ देख कर मेहमान नहीं कह सकता! बच्चोंको भी उन्होंने अपने प्रेममें ऐसा मोह लिया है कि आते ही उन्हें घेर लेते हैं और उनके पीछे भी अक्सर उनकी बातें करते रहते हैं। मेरा खयाल है कि वे किसीके यहां महीनों भी मेहमान रहें, तो वह ऊब नहीं सकता, क्योंकि वे किसीको कोई कष्ट नहीं देते। उनकी जरूरतें बहुत ही कम हैं और वे खुद ही उनकी व्यवस्था कर लेते हैं।

विद्वत्ताके वे विन्ध्याचल हैं और नम्रताके पाताल उन्होंने अपने जीवनमें दूरके इन दो कोनोंको बड़ी सुन्दरताके साथ मिला रक्खा है और तभी तो वे सच्चे अर्थोंमें युग-वीर हैं।

बड़े अच्छे हैं पण्डितजी

(कुमारी श्री शारदा जैन, सहारनपुर)

पण्डितजी जब कभी दो दिनके लिये भी आते हैं; तो अपना छोटासा बिस्तर साथ लाते हैं कि किसी को कष्ट न हो। उनका बिस्तर एक टाटमें लिपटा रहता है और उसे देखकर मेरी छोटी बहन सुधा बहुत हंसती है।

हम बच्चोंसे पण्डितजी खूब बातें करते हैं और उनसे बातें करनेमें हम सबका मन खूब लगता है। उस दिन मैं उन्हें भोजनके लिये बुलाने गई, तो मैंने पूछा कि आप क्या क्या खाते हैं?

हंस कर बोले—"खानेकी सब चीजें खाता हूँ।"

"आलू भी खाते हैं?"

"हाँ, आलू भी खाता हूँ। क्यों?"

"शास्त्रमें तो लिखा है कि आलू न खाना चाहिये?

"कौनसे शास्त्रमें लिखा है?"

मैं शास्त्र क्या बताती। मैंने तो बूढ़ी अम्मासे सुना था। इस पर उन्होंने एक श्लोक सुनाया और उसका अर्थ बताया, कि यन्त्रसे बनाया, नमक खटाई मिलाया, हिंसा रहित हरेक पदार्थ भक्षणीय है। इसी प्रकार वे हरेक प्रश्नका बहुत खुश होकर उत्तर देते हैं। बड़े अच्छे हैं पण्डितजी।

सम्पादककी ओरसे

यह अङ्क

श्री जुगलकिशोर सम्मान समारोहकी सूचना प्रकाशित होते ही जब देशभरसे विद्वानोंकी शुभकामनाएँ आने लगीं, तो मनमें आया कि इन सबका एक स्थानपर संग्रह हो जाये और इस दृष्टिसे 'अनेकान्त' का एक विशेषाङ्क प्रकाशित करानेकी बात मनमें आई। 'अनेकान्त' के व्यवस्थापक श्री कौशलप्रसादजीने इसे पसन्द किया और सम्मान समारोहकी सूचनाके साथ इसकी भी विज्ञप्ति दिसम्बरके अङ्कमें देदी। जब उनका प्रूफ पण्डितजीके पास पहुंचा तो कुछ न पूछिये। बहुत नाराज़ हुए और उन दोनों विज्ञप्तियोंपर लाल कलम फेरदी। साथ ही यह हुक्म कि अनेकान्तमें इस समारोहके सम्बन्धमें कुछ नहीं छप सकता। हाँ मुझे सम्पादकीसे हटा दीजिये और फिर चाहे जो छापिये। हम दोनों सरमाया गये, पर कौशलप्रसादजीकी सारी तर्कशक्ति फेल होगई। अन्तमें मैंने अपना ब्रह्मास्त्र निकाला—'बालक' का 'जयन्ती-अंक', जो बालक-सम्पादक श्री रामलोचनशरण बिहारीजी की स्वर्ण जयन्ती पर निकाला गया था। इस पर भी आपने हाँ न की. बस चुप होगये और इस प्रकार इसके सम्पादन का उत्तरदायित्व मुझ पर आगया।

इस उत्तरदायित्वके निर्वाहमें मुझे कितनी सफलता मिली, यह विद्वान पाठक बतलायेंगे। मैं इतना ही कह सकता हूं कि इसे उपयोगी बनानेमें अपनी शक्तिभर मैंने मेहनत की और मेरा विश्वास है कि इससे पाठकोंको न केवल सम्मान समारोह का दर्शनानंद मिलेगा, पण्डितजीके जीवन-कार्यकी एक झांकी भी वे पायेंगे।

इसी बीचमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी स्थायी समिति ने सभापतिके निर्वाचनको अनियमित घोषित करनेका वह रावणी निर्णय कर दिया, जिससे सारा हिन्दी-संसार क्षुब्ध हो उठा और मुझे उसके विरुद्ध आमरण अनशनकी घोषणा करनी पड़ी। इधर मेरा अधिकांश समय उसमें लग रहा है, इस कारण मैं इस अङ्कमें पण्डितजीके साहित्यपर एक विशद आलोचनात्मक लेख न लिख सका। दूसरे अनेक विद्वानोंसे मैंने ऐसी प्रार्थना की, पर सफलता न मिली। फिर भी पण्डितजीके कार्यका महत्व स्पष्ट हमारे पाठक समझ सकें, ऐसी सामग्री इस अङ्कमें है।

कागजके इस अकालमें सन्देशों, शुभकामनाओं और टिप्पणियोंको ज्योंकात्यों देना असम्भव था इसलिये उस में काट छांट करनी पड़ी। यह काम कठिन भी था, दुखद भी था हरेककी हरेक पंक्तिमें पण्डितजीके प्रति प्रेम भरा था पर मेरे लिये भी मजबूरी थी, यह जानकर वे सब भाई मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है। सब साथियोंकी सद्भावनासे समृद्ध यह समारोह-अङ्क हममें अपनोंको जानने—माननेकी प्रवृत्ति दे, यही मेरी भावना है।

यह अनुष्ठान

पिछले अगस्त आन्दोलनमें जब जेल गया, तो अपनी पत्नीकी मृत्युके कारण मनमें कुछ उत्साह न था, इसलिये वहां का अधिकांश समय इस बार चिन्तनमें ही बीता। एक सप्ताह मौन रहकर मैंने अपने जीवनकी अबतककी भूलोंपर विचार किया और एक सप्ताहमें ऐसे कार्योंकी सूची बनाई, जिन्हें अवश्य करना चाहिये। इस सूचीमें सबसे पहली बात यह थी कि सहारनपुर ज़िलेके चार महान जीवन-साधकोंका सार्वजनिक सम्मान हो। श्री बाबू सूरजभानजी वकील, श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार, श्री स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक और श्री पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ; ये वे चार साधक हैं।

भगवानकी कृपा और साथियोंके सहयोगसे एक काम पूर्ण हुआ—यह श्री जुगलकिशोर-सम्मान-समारोह! यह जितना सफल हुआ, वह कल्पनातीत है, पर इसका वास्तविक श्रेय, सब साथियोंका सम्मान करते हुए भी, मुझे लगता है कि पण्डितजीकी जीवनव्यापी तपश्चर्याको ही है। भाई कौशलप्रसादजीके साथ जब यह प्रस्ताव पण्डित जीके सामने मैंने रक्खा, तो उन्होंने इसका विरोध किया

और जब हमने ज़िद की, तो आप बोले कि अच्छा तुम करो पर इस तरह करो कि मुझे उसमें आना न पड़े। हमने हंसकर पूछा—क्यों ? तो बोले—वहाँ और क्या होगा, बस तुम मेरी झूठी सच्ची तारीफ करोगे और अपनी तारीफ सुननेमें नीच गोत्रका बन्ध लगता है। बड़ी मुश्किलसे आप उसमें आनेको राज़ी हुए। वास्तवमें इस निस्पृह साधनाके बलने ही कल्पनाके इस बीजको यह भारत व्यापी विशाल रूप दे दिया।

इस उत्सवकी कई अपनी विशेषताएँ थी। यह पण्डित जीके अपने जिलेमें मनाया गया, उन लोगोंने भी उसमें श्रद्धासे भाग लिया, जो कभी विचारभेदके कारण पण्डित जीके विरोधी रहे थे, जैनसमाजकी परिषद, महासभा और संघ सभी संस्थाओंका इसमें प्रतिनिधित्व रहा, देश भरके विद्वानों, प्रमुख पत्रकारोंने सन्देश भेजे, और रायसाहब लाला प्रद्युम्नकुमारजी इसके स्वागताध्यक्ष हुए, जिन्होंने १५–१६ वर्ष पहले अपने मन्दिरमें पण्डितजीके 'धवल' ग्रन्थ पढ़नेपर पाबन्दी लगाई थी। इस घटनाने प्रद्युम्न-कुमारजीका चरित्र प्रकट किया, युगके परिवर्तनकी घोषणा की और पण्डितजीके कार्यकी महत्ता और व्यापकता पर भी प्रकाश डाला। इससे भी बढ़कर अपने वयोवृद्ध विद्वानों का सम्मान करनेकी प्रवृत्तिकी इससे प्रेरणामिली। फलत: विद्वद्वर श्री नाथूरामजी प्रेमीको अभिनन्दनग्रन्थ देनेका प्रस्ताव और 'वीर' के विशेषांकोंकी शृङ्खला आज हमारे सामने है।

इस प्रकार यह अनुष्ठान सम्पूर्ण स्वरूपमें सफल हुआ. मेरा सदैव शिवसंकल्पमें विश्वास रहा है और इस सफलताने उसे और भी दृढ़ कर दिया है।

यह आरम्भ

जेलके उस पवित्र वातावरणमें जिन चार सम्मान समारोहोंकी बात मनमें आई थी, उनमें एक यह हो गया, पर तीन अभी शेष हैं, इसीलिये मैं कहता हूं, यह आरम्भ है, इति नहीं। हमारे साथी यह जानकर प्रसन्न होंगे कि शेष तीन समारोहोंके मनानेका कार्य भी आरम्भ होगया है।

वयोवृद्ध श्री बाबू सूरजभानजी अब ७५ वर्षके होगये हैं और उनकी हीरक जयन्ती मनानेका प्रस्ताव बहुतसे लोगोंने पसन्द किया है। बाबू सूरजभानजी जैन जागरणके दादा भाई हैं, इसमें सन्देह नहीं पर हिन्दीके वे आदिम पत्रकारोंमें हैं, यह भी हम नहीं भुला सकते, इसलिये उन की हीरक जयन्तीमें जैनसमाजके साथ सारा हिन्दी संसार भाग लेगा, यह असन्दिग्ध है।

यह जयन्ती कहां मनाई जाये यह भी एक प्रश्न है, उनका कार्यक्षेत्र देवबन्द रहा है, वहाँ यह उत्सव हो, यह मेरी इच्छा है, देहलीके केन्द्रमें हो, यह भी एक प्रस्ताव है और क्योंकि बाबूजी आजकल प्रयागमें हैं, बीमार हैं अतएव वहीं हो, यह दूसरा प्रस्ताव है। जो निर्णय होगा, पत्रोंमें उसकी घोषणा की जायेगी।

श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थका निवास क्षेत्र सहारनपुर ज़िला रहा और राजनैतिक कार्यक्षेत्र देहरादून। इन दोनोंमें कहां हो ? अब तककी बातचीतका परिणाम यह दिखाई देता है कि इन गर्मियोंमें यह समारोह देहरादून या मंसूरी में होगा।

श्री स्वामी सत्यदेवजी पंचपुरीके होगये हैं, इसलिये उनके सम्मान महोत्सवका सौभाग्य हरद्वारको ही मिलेगा, यह निश्चित है।

इस प्रकार आशा है इस वर्षमें ये तीनों महोत्सव विशाल रूपमें देखनेका हमें अवसर मिलेगा, पर तब भी इस संकल्पका अथ ही होगा इति नहीं क्योंकि देश भरमें अनेक हिन्दी सेवक ऐसे हैं, जिन्होंने अपना जीवन साहित्य साधनामें लगा दिया, पर जिनकी हमने एक दिन भी पूजा न की।

सर्वश्री जगन्नाथप्रसादजी 'भानु', पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पं०लक्ष्मीधर वाजपेयी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पं० लोचनप्रसाद जी पाण्डेय, स्वा० भवानीदयाल संन्यासी, पं०झावरमल्ल शर्मा, पं० हनूमान शर्मा, पं० देवीदत्त शुक्ल बा० गोपालरामजी गहमरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी श्री रमाशंकर अवस्थी, बा० मूलचन्द अग्रवाल पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र, सनेहीजी, पं० रूपनारायण पाण्डेय आदि आदि ऐसे अनेक विद्वान साधक हैं, अपने अपने स्थानमें जिनके यथाविधि सम्मान समारोह मनाये जानेकी व्यवस्था होनी चाहिये। मुझे आशा है विभिन्न स्थानोंमें शीघ्र ही विभिन्न समारोहोंके मनाये जानेकी तैयारी आरम्भ होगी।

श्रीसमन्तभद्राय नमः

वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवके लिये—

अनेकान्तके अद्वितीय विशेषांककी योजना

अनेकान्तके पाठकोंको इतना तो मालूम है कि अगली वीरशासन-जयन्ती श्रावण कृष्णा प्रतिपदादिको राजगृह (वर्तमान राजगिरि) के उस पावन स्थान पर एक महोत्सव के रूपमें मनाई जायगी जहाँसे वीरशासनकी सर्वोदय-तीर्थ-धारा प्रवाहित हुई है और उसके साथ ही जैनसाहित्य-सम्मेलन तथा जैनसाहित्यिक प्रदर्शिनी की भी योजना रहेगी। अब उन्हें यह जानकर अधिक प्रसन्नता होगी कि उस अवसर पर अनेकान्तके संचालकोंने अनेकान्तका एक ऐसा सचित्र विशेषाङ्क निकालनेकी भी योजना की है जो अब तकके अनेकान्तके इतिहासमें ही नहीं किन्तु जैनपत्रोंके इतिहासमें भी अभूतपूर्व एवं अद्वितीय महत्वको लिये हुए होगा, और जिसे वीरशासन तथा वीरशासनके उपासकों-अनुयायियोंका संक्षेप में परिचय-ग्रंथ अथवा रिफ्रेंसबुक (Reference book) कह सकेंगे। इस विशेषाङ्कका नाम 'वीरशासनाङ्क' होगा यद्यपि यह काम बहुत बड़ा है और समय थोड़ा है—महोत्सवके दूसरे कार्योंकी गुरुता भी कुछ कम नहीं; फिर भी यह महान् उपयोगी कार्य इस दृढ विश्वासके साथ हाथमें लिया गया है कि वीरशासनके प्रेमी और अनुयायी विद्वान् तथा ऐतिहासिक और साहित्यिक जन शीघ्र ही इसमें अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे, अपने-अपने योग्य कार्योंको खुशीसे बाँट लेंगे और इस तरह बहुत से विद्वान् एक साथ काममें जुटकर इसे सुगम तथा स्वल्प समय-साध्य बना देंगे और संचालकोंके लिये अधिक चिंता का अवसर न आने देंगे। यह एक महान् सेवा-यज्ञ प्रारम्भ किया गया है जिसमें सभी विद्वानोंको लेखरूपमें अपनी २ आहुति देनी चाहिये। यह विशेषाङ्क मुख्यतया चार भागों में विभक्त होगा, जिनमें निम्न विषय और उपविषय रहेंगे:—

(१) वीरशासनकी भूमिका—अर्थात वीर और वीर-शासनके अवतारसे पहले देशकालकी परिस्थिति अथवा वह स्थिति जिसने वीर और वीरशासन को जन्म दिया:—

(क) विदेशी विद्वानों द्वारा उक्त परिस्थितिका प्रदर्शन।

(ख) भारतीय विद्वानों द्वारा उक्त परिस्थितिका दिग्दर्शन

(ग) प्राचीन हिन्दू, बौद्ध तथा जैनसाहित्य परसे तत्का-लीन परिस्थितिका संकलन।

(घ) परिस्थिति-सूचक सब आधारोंपरसे नया सार-संकलन।

(ङ) वीरके अवतार काल-समयकी माँग।

(२) वीर और वीरशासनका संक्षेपमें व्यापक परिचय—

(क) वीरका वंश तथा कौटुम्बिक परिचय।

(ख) वीरका जन्म, जन्मोत्सव और बाल्यकाल।

(ग) वीरकी जिनदीक्षा, तपश्चर्या, उपसर्गविजय और केवलज्ञानकी संप्राप्ति।

(घ) वीरका मौन विहार, समवसरणसभा, गौतमादि गणधरोंकी सम्प्राप्ति और वीरवाणीका अवतार।

(ङ) प्रधान गणधर गौतम-द्वारा वीरवाणीकी द्वादशांग श्रुतरूप रचना।

(च) वीरका चतुर्विध संघ।

(छ) वीरकी लोकसेवा, अर्थात् वीरका सेवामय जीवन, वीरका वीरत्व।

(ज) वीरवाणी-द्वारा प्ररूपित विषयका बादको चार अनु-योगोंमें विभाजन—

१—प्रथमानुयोग (कथानुयोग) और उसका प्रतिपाद्य विषय।

२–करणानुयोग और उसका प्रतिपाद्य विषय।
३–चरणानुयोग और उसका प्रतिपाद्य विषय।
४–द्रव्यानुयोग और उसका प्रतिपाद्य विषय।

(क) १–वीरका तत्त्वज्ञान और उसकी दूसरे दर्शनोंसे तुलना, २–वीरका विकासवाद ३–वीरका स्याद्वाद, ४–वीरका अहिंसावाद, ५–वीरका अनेकांतवाद, ६–वीरका अपरिग्रहवाद ७–वीरका संदेश।

(ख) वीरशासनकी कुछ खास बातें जैसे—१–अहिंसा और दया, २–अनेकान्त और स्याद्वाद, ३–कर्म-सिद्धान्त, १४ गुणस्थान और १४ मार्गणा, ४–स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता, ५–आत्मा और परमात्मा, ६–मुक्ति और उसका उपाय (मोक्ष और मोक्षमार्ग), ७–समता और विकास।

(ट) वीरशासनकी उदारता और उसमें विश्वधर्म बनने की क्षमता।

(३ वीरशासनका तत्कालीन और उत्तर कालीन प्रभाव—

(क) वैदिक संस्कृति, वैदिक रीति-रिवाज और वैदिक साहित्य पर प्रभाव।

(ख) बुद्ध देशना, बुद्ध-संघ, बौद्ध-संस्कृति और बौद्ध-साहित्य पर प्रभाव।

(ग) दूसरे सम्प्रदायों, धर्मगुरुओं और उनके साहित्य पर प्रभाव।

(घ) सर्व साधारण जनता और राजाओं पर प्रभाव।

(ङ) स्त्रियोंकी पराधीनता और अधिकार-हीनता पर भारी प्रहार।

(च) शूद्रोंके पीडनमें रोक, उनके मानवीय अधिकारों की स्वीकृति और उनके उत्थानका मार्ग प्रशस्त।

(छ) अनेक प्रकारके प्रचलित वहमोंकी निराकृति।

(ज) जैनसंस्कृति और भारतीय संस्कृतिके निर्माणमें वीरशासनका हाथ।

(झ) वीरशासनके प्रभावसे ओत-प्रोत वीरशासनके (१) तत्कालीन और (२) उत्तरकालीन आधार स्तम्भ—

१–तत्कालीन आधार स्तम्भ—गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी आदि ११ गणधर।

२–उत्तरकालीन आधार स्तम्भ—श्रीनन्दि नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ऐसे पंचश्रुतकेवली आदि।

भद्रबाहु श्रुतकेवलीके बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर संघभेद गण-गच्छादि भेद—

(क) दिगम्बर शाखाके प्रधान आधार स्तम्भ और उनके द्वारा निर्मित साहित्य।

(ख) श्वेताम्बर शाखाके प्रधान आधार स्तम्भ और उनके द्वारा निर्मित साहित्य।

(४) वीरशासनकी वर्तमान सम्पत्तिका संक्षिप्त परिचय—

(क) जैनतीर्थक्षेत्र—नाम और कहाँ कहाँ स्थित तथा अति संक्षिप्त परिचय।

(ख) जैनअतिशयक्षेत्र—नाम और कहाँ-कहाँ स्थित तथा अति संक्षिप्त परिचय।

(ग) जैनमन्दिर—कहाँ-कहाँ स्थित और उनकी ग्रामवार संख्या।

(घ) जैनमूर्तियाँ—मूर्तियोंकी विशेषताका दिग्दर्शन, जैनतीर्थों और जैनमन्दिरोंके अलावा और कहाँ कहाँ जैनमूर्तियाँ पाई जाती हैं। जैसे म्यूजियमों आदिमें।

(ङ) जैनशास्त्रभंडार—१ कहाँ-कहाँ स्थित हैं और किस स्थितिमें हैं? २ प्रत्येक भण्डारकी आनुमानिक ग्रन्थसंख्या। ३ विदेशोंकी लायब्रेरियों में स्थित हस्तलिखित जैनग्रन्थ। ४ भारतीय पब्लिक अथवा अजैन लायब्रेरियोंमें स्थित हस्तलिखित जैनग्रन्थ। ५ विभिन्न गृहस्थों अथवा साधुओंके पास पाये जाने वाले महत्वके अप्रकाशित जैनग्रन्थ।

(च) वे स्थान जहां कोई भी वीरशासनका अनुयायी अर्थात् जैनी रहता हो—ग्रामादिकके नाम जिले के नाम सहित।

(छ) जैनियोंके वर्तमान संघ-गण-गच्छादिक (विलुप्त-गणगच्छादि सहित)।

(ज) जैनियोंके शिक्षाकेन्द्र—विद्यालय, पाठशालाएँ, बोर्डिंगहाउस और गुरुकुल आदि, नाम तथा

स्थानसहित।

(ञ) जैनियोंकी सभा-सोसाइटियाँ—नाम और स्थान के निर्देश सहित।

(ज) जैन पर्व, उत्सव और त्यौहार।

(ट) जैनियोंकी वर्तमान स्थितिका अनेक दृष्टियोंसे सिंहावलोकन, जैसे १ धार्मिक, २ सामाजिक, ३ शारीरिक, ४ नैतिक, ५ व्यापारिक, ६ आर्थिक और ७ राजकीय।

(ठ) जैनपत्र और पत्रिकाएँ—प्रचलित अप्रचलित सबके नाम प्रकाशन-स्थान-सहित।

(ड) प्रकाशित जैनग्रन्थोंके नाम— १ दिगम्बरग्रन्थ, २ श्वेताम्बरग्रन्थ।

(ढ) जैनशिलालेख—जैनमन्दिरोंमें स्थित मूर्तियोंके शिलालेखोंको छोडकर, जो असंख्य हैं, अन्यत्र कहां-कहां शिलालेख पाये जाते हैं। प्रकाशित जैनशिलालेखोंकी स्थान-सूचना, ग्रन्थों जर्नलों पत्रादिकोंके नामसे।

(ण) जैनताम्रपत्र और शाही फर्मान—कहां-कहां पर उपलब्ध हैं।

(त) सरकारी मनुष्य गणनाकी दृष्टिमें जैनसमाज, और उसकी अपूर्णताका दिग्दर्शन—जैसे बडौत में किसी जैनीका न होना।

विषयोंके इस निदर्शन परसे सभी विद्वान् अपने अपने योग्य विषयोंका सहज हीमें चुनाव कर सकते हैं। जो विद्वान् जिन-जिन विषयों पर लिखना चाहें—लिखनेके लिये प्रस्तुत हों—वे कृपया पहलेसे ही उसकी सूचना सम्पादक मण्डलको देकर अनुगृहीत करें, जिससे कार्यका ठीक अन्दाजा होसके और समयके भीतर अवशिष्ट विषयों को भी लिखानेकी योजना की जासके।

इस विशेषाङ्कके सम्पादनार्थ एक सम्पादकमण्डलकी योजना की गई है, जिसके निम्न सदस्य होंगे और हेड-आफिस वीरसेवामन्दिर सरसावा रहेगा:—

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एम· ए·, डी· लिट· क्यूरेटर म्यूजियम लखनऊ।

२—डा० ए· एन· उपाध्ये, एम· ए·, डी· लिट·, राजाराम कालिज, कोल्हापुर।

३—प्रो० हीरालाल जैन एम. ए. किंगएडवर्ड कालिज अमरावती (बरार)।

४—पं० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विकास लिमिटेड सहारनपुर।

५—जुगलकिशोर मुख्तार (वर्तमान सम्पादक)।

अतः वीरशासनके प्रेमी साधुओं, सद्गृहस्थों, विद्वज्जनों रिसर्च स्कालरों, सुलेखकोंसे सानुरोध निवेदन है कि वे इस कार्यकी महत्ता और उपयोगिताको ध्यानमें रखते हुए अपने-अपने लेखों तथा कार्योंका चुनाव करके उन्हें शीघ्र ही संकलित करके भेजनेकी कृपा करें। साथ ही, अपने परिचय तथा प्रभावक्षेत्रमें स्थित दूसरे विद्वानोंको भी इसमें पूर्ण सहयोगके लिये प्रेरित करें। और इस तरह विशेषाङ्कको पूर्ण सफल बनानेके लिये कोई भी बात उठा न रक्खें। यह सब उनकी वीर-शासन-सेवा और वीरभक्तिका प्रधान अंग होगा।

कुछ जरूरी सूचनाएँ

(१) विशेषाङ्ककी पृष्ठ संख्या अपने वर्तमान आकार में ५०० के लगभग होगी और मूल्य अलग विशेषाङ्कका कमसे कम ५) रु० और अधिकसे अधिक ६) रु० होगा; परन्तु जो इस छठे वर्षमें अनेकान्तके ग्राहक हैं और अगले वर्ष भी ग्राहक रहेंगे उन्हें यह सातवें वर्षका प्रारम्भिक विशेषाङ्क भेंटस्वरूप ही दिया जायगा। परन्तु जिन्हें दूसरे सज्जनोंकी ओरसे छठे वर्षमें अनेकान्त फ्री भेजा जा रहा है उन्हें यह विशेषाङ्क पहले मूल्य पर फ्री नहीं दिया जा सकेगा।

(२) विशेषाङ्कमें हिन्दी लेखोंके साथ कुछ महत्वके अंग्रेज़ी लेख भी रहेंगे, दूसरी भाषाओंके लेख हिन्दीमें अनुवादित होकर ही दिये जा सकेंगे।

(३) लेख वे ही स्वीकार किये जायँगे जो व्यक्तिगत आक्षेपोंसे रहित होंगे तथा जिनका ध्येय मात्र किसी धर्म, समाज अथवा सम्प्रदायकी निन्दा न होकर वस्तुस्थितिका सम्यक् अवबोधन एवं स्पष्टीकरण होगा।

(४) लेख, जहां तक भी होसके, आकारमें छोटे और अर्थमें बडे होने चाहियें अर्थात् उनमें संक्षेपतः अथवा सूत्ररूपसे अपने-अपने विषयका अधिकसे अधिक समावेश किया जाना चाहिये।

(५) जो लेख इस विशेषाङ्कके लिये भेजे जायँ उन पर स्पष्ट शब्दोंमें 'विशेषाङ्कके लिये' लिखा रहना चाहिये

और विशेषाङ्कमें प्रकट होनेसे पहले उन्हें अन्यत्र कहीं भी प्रकाशित न करना चाहिये। सब लेख कागजके एक तरफ हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे जाने चाहियें; अन्यथा सम्पादनमें तथा प्रेसको प्रूफ भेजनेमें बड़ी दिक्कत होती है, कभी-कभी ऐसे लेख छपनेसे रह जाते हैं।

(६) जो लेख सचित्र हों उनके लिये चित्रोंका प्रबन्ध प्राय: लेखकोंको स्वयं करना चाहिये। खास-खास अवस्थामें ही किसी चित्र विशेषकी जिम्मेदारीको सम्पादक मण्डल अथवा प्रकाशन-विभाग अपने ऊपर ले सकेगा।

(७) सम्पादकमण्डलकी दृष्टिमें जो लेख असाधारण महत्वके समझे जायँगे उनके लिये पारितोषिक अथवा पुरस्कारकी भी योजना उस फण्डसे की जायगी जो इस कामके लिये अलग रक्खा जायगा।

(८) कागज आदिकी भारी महँगाईके कारण इस विशाल विशेषाङ्ककी कापियाँ परिमित संख्यामें ही छपाई जायँगी अत: जिन्हें जितनी कापियोंकी अपने तथा दूसरोंके लिये जरूरत हो वे पहलेसे ही १५ मार्च तक आर्डर भेजकर उन्हें अपने लिये रिजर्व करा लेवें, अन्यथा बादको फिर इच्छानुसार कापियोंका मिलना कठिन हो जायगा। क्योंकि विशेषाङ्ककी छपाई मार्चमें ही शुरू हो जावेगी, तब कहीं जून मासके आखीर तक वह छप सकेगा।

विशेषाङ्क सम्बन्धी लेख, चित्र, ब्लाक्स, जरूरी सुझाव (Suggestion), सूचनाएँ और पत्रादिक सब नीचे लिखे पते पर भेजे जाने चाहियें:—

जुगलकिशोर मुख्तार (प्रधान सम्पादक)
वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

बाहर कड़वे, भीतर मधुर

(श्री पन्नालालजी अग्रवाल, देहली)

बरसोंसे मुख्तारजीके साथ मेरा परिचय है और उनके निकट सम्पर्कमें रहकर मेरे मन पर सदा यह प्रभाव पड़ा है कि वे एक सच्चे तपस्वी हैं। उनके व्यक्तित्वकी एक बात मुझे बहुत पसन्द है कि वे अत्यन्त निर्भीक हैं और सत्य को प्रकट करनेमें वे कभी नहीं चूकते, पर इसके साथ ही वे अत्यन्त नम्र हैं और अपने विरोधको केवल सिद्धान्त तक ही रखते हैं—उसे कभी व्यक्तिगत नहीं बनाते।

बहुत दिनोंकी बात है कि ला० जौहरीमलजी सर्राफने अंतर्जातीय विवाहपर लिखे हुए 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामक मुख्तारजीके एक लेखको पुस्तक रूपमें प्रकाशित किया था। समाजमें उससे खलबली मच गई। पं० मक्खनलालजी प्रचारकने उसका जवाब लिखा और पं० मद्दबूबसिंहजीने इस बारेमें मुझे शास्त्रार्थका चैलेंज किया और मुख्तार साहबको मुकदमेकी धमकी दी गई।

मुख्तारसाहबने उत्तरमें 'विवाह-क्षेत्र-प्रकाश' के नामसे एक नई पुस्तक इसी विषयमें लिखी, जिसमें अन्तर्जातीय विवाहका और भी ज़ोरदार समर्थन था।

इतने संघर्षके बाद भी मुख्तारसाहबके व्यवहारमें कोई अन्तर न पड़ा। आज भी पं० महबूबसिंहजीके साथ आप का प्रेम-सम्बन्ध है। उनके छोटे भाई वीरसेवामन्दिरके सदस्य हैं और श्रीमक्खनलालजीको भी एक बार आप अपने वीरसेवामन्दिरमें होने वाले वीरशासन जयन्ती-उत्सवका सभापति बनाकर सम्मानित कर चुके हैं।

अनुकरणीय

'अनेकान्त' के व्यवस्थापकत्वका भार ग्रहण करते समय मैंने यह संकल्प किया था कि जैन धर्मके व्यापक प्रचार और धर्मके बारेमें फैली हुई गलतफहमियोंके लिये यह आवश्यक है कि 'अनेकान्त' जैसे पत्रको हम अजैन विद्वानों और संस्थाओंको अधिकसे अधिक संख्यामें मुफ्त भेट कर सकें। इसी हेतु मैंने समाजके दानी महानुभावोंसे आर्थिक सहायताकी अपील की थी उसीके परिणाम स्वरूप अनेक बन्धुओं ने अपनी ओरसे थोड़े २ स्थानोंपर 'अनेकान्त' मुफ्त भेजनेकी स्वीकारता प्रदान की है और अनेक बन्धु कर रहे हैं तथा कुछ बन्धुओंसे अभी भी पत्र व्यवहार हो रहा है। जिन बन्धुओंने स्वीकारता दे दी है उन की ओरसे हम कहां २ 'अनेकान्त' फ्री भेज रहे हैं, यह पिछलीदो किरणोंमें निकल चुका है उससे आगे किनकी ओरसे कहाँ भेजा जा रहा है यह यहां प्रकाशित होरहा है। दानी महानुभावोंका 'अनेकान्त' संचालक मण्डलकी ओरसे मैं आभारी हूँ और अन्य दानीबन्धुओंसे प्रार्थना करता हूँ कि वह जिनवाणी प्रचारके इस कार्यमें हमें अधिकसे अधिक सहयोग प्रदान करें।

—कौशलप्रसाद जैन व्यवस्थापक

छठे वर्षमें 'अनेकान्त' के सहायक

गत चार किरणोंमें प्रकाशित सहायताके अतिरिक्त जो और सहायता नकद तथा वचन रूपमें प्राप्त हुई है वह निम्न है, दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं:—

१५१) श्री सिंघई धन्यकुमारजी कटनी
२६) श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी भेलसा
२१) बा० लालचन्दजी जैन एडवोकेट रोहतक
१५) श्री मुकनलाल इन्द्रचन्दजी बोगरा
(पिछली १०) की सहायताके अतिरिक्त)
३॥) श्री मोदी लक्ष्मीचन्द दुर्लीचन्द जैन भेलसा

'अनेकान्त' के लिये कन्ट्रोल रेटपर कागजका प्रबन्ध करनेमें हमें श्री ला० युगलकिशोर मालिक मैसर्स धूमीमल धर्मदासजी देहलीने जो सहयोग अभी तक दिया है और देरहे हैं उसके लिये 'अनेकान्त' संचालक मण्डल उनका हृदयसे आभारी है।

—व्यवस्थापक

अशुद्धियोंके सम्बन्धमें

इस अंकमें जहाँ अब तक हुई अशुद्धियोंके प्रायश्चित्त स्वरूप कहीं भी कोई अशुद्धि न होनी चाहिये थी, वहाँ दुर्भाग्यवश शीघ्रता और कर्मचारियों के अभावमें और भी विशेष अशुद्धियाँ रह गई हैं। जिनके लिये हमें भारी संकोच अनुभव होरहा है। 'हमारे सहयोगी' शीर्षकमें पृष्ठ १६७ पर श्री अर्हद्दास जीके परिचयमें तो कई एक शब्द अशुद्ध छप गये हैं, जिनका हमें बड़ा खेद है। आशा है पाठक उन शब्दों को ठीक मुहावरे में पढ़कर हमें क्षमा करेंगे।

व्यवस्थापक, श्रीवास्तव प्रेस

श्री सेठ गुलाबचन्दजी आ० मजि० भेलसा

आप भेलसके प्रसिद्ध समाजसेवी श्री सेठ राजमलजी बड़जात्याके पुत्र हैं आपने इस वर्ष 'अनेकान्त' के सहायक बनानेमें बड़ा सहयोग दिया है और स्वयं भी १० स्थानों पर 'अनेकान्त' फ्री भिजवाकर सहायक बने हैं।

—व्यवस्थापक

(३१) श्री हेमचन्द्रजी एडवोकेट अजमेरकी ओरसे—

१ लायब्रेरियन पब्लिक लायब्रेरी, अजमेर
२ दी गवर्नमेंट कालेज लायब्रेरी, अजमेर
३ दी एडीटर इनचीफ कैटेलोगस कैटेलोग्रम यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, मद्रास
४ लायब्रेरियन एग्रीकलचर कालेज, नागपुर सी० पी०
५ लायब्रेरियन सनातनधर्म कालेज, लाहौर
६ बनारसीदास कालेज लायब्रेरी, अम्बालाकेण्ट

(३२) सेठ नानूलालजी पाटनी C/o श्रीयुत मोहनलाल मोतीलालजी भेलसा ग्वालियर

१ लायब्रेरियन पटना यूनिवर्सिटी, पटना (बिहार)
२ लायब्रेरियन लखनऊ यूनिवर्सिटी, लखनऊ
३ लायब्रेरियन महाराजा कालेज, जयपुर
४ लायब्रेरियन डी० ए० वी० कालेज, लाहौर
५ बद्रीप्रसाद पब्लिक लायब्रेरी सूजीमण्डी फिरोजपुरकेण्ट,

(३३) श्री लच्छीरामजी C/o अयोध्याप्रसाद प्रभुदयाल जी भेलसा

१ लायब्रेरियन युवराज पब्लिक लायब्रेरी, उज्जैन

(३४) श्रीमंत सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्दजी भेलसाकी ओरसे—

अगली किरणमें

REGISTERED No. A-731.

मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर-रचित ग्रन्थोंकी सूची

(संकलयिता—श्री परमानन्द शास्त्री, वीरसेवामन्दिर)

नोट—इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त मुख्तार साहबके लिखे हुए २०० के करीब लेखोंकी एक सूची स्थान निर्देशके क्रमसहित तैयार की गई थी जो स्थानाभावके कारण इस अङ्कमें नहीं दी जासकी । —सम्पादक

21 समीचीन धर्मशास्त्र अप्रैल 1955
22 तत्त्वानुशासन 1966
23 देवागम, आप्तमीमांसा - 1950
24 पुरातन जैनवाक्यसूची
25 महावीरका सर्वोदयतीर्थ
26 समन्तभद्र विचारदीपिका
27 अध्यात्मकमलमार्तण्ड
28 योगसार प्राभृत
29 महावीर पूजा
30 बाहुबलि पूजा
31 अध्यात्मरहस्य 1956
32 युक्त्यनुशासन 1960
33 सेवा धर्म
34 ...
35 ...
36 ...

पाठकोंसे क्षमायाचना

चौथी किरणमें गई विज्ञप्तिके अनुसार यह अङ्क हमारी व्यवस्थाके अनुसार १५ दिसम्बर तक पाठकोंकी सेवामें पहुँच जाना चाहिये था पर अत्यावश्यक मैटरके बाहुल्य और अङ्कको सुन्दर और उपयोगी बनानेके लोभको संवरण न कर सकनेके कारण यह अङ्क संयुक्त किरणके रूपमें पाठकोंके हाथमें पहुँच रहा है। पर संयुक्त किरण होते हुए भी पाठकोंको पेज और मैटरकी दृष्टिसे घाटा न होकर लाभ ही है। साधारण २ अङ्कोंसे पेज और मैटर इस अङ्कमें अधिक ही हैं और टाईटिल पृथक है। फिर भी पाठकोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा है उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। —कौशलप्रसाद जैन

'अनेकान्त' के अनन्य सहायक

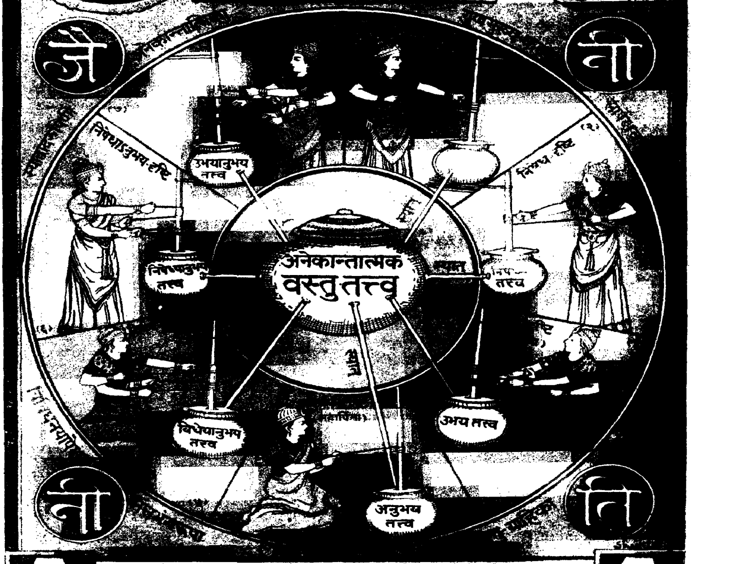
मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर बहुतसे बन्धुओंने 'अनेकान्त' को ग्राहक, सहायक बनाकर देशमें अपूर्व सहयोग दिया है और बराबर देते रहे हैं उनमेंसे श्री पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ ब्यावर, श्री बा० निर्मलप्रसादजी जैन, देहली और श्री गुलाबचन्द्र जी जैन आ० मजिस्ट्रेट भेलसाका 'अनेकान्त' संचालक मण्डलकी ओरसे अत्यन्त आभारी हूँ, आशा है समाजसेवाके इस पुनीत यज्ञ में हमें अन्य बन्धुओंका भी इसी प्रकार सहयोग प्राप्त होगा। —व्यवस्थापक

If not delivered please return to:-
VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA, (SAHARANPUR)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दजी शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥



वर्ष ६
किरण ७

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरि-
मदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

फरवरी
१९४४

विषय-सूची

कवि-विमर्श

सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !

अधजल-गगरी छलका करता, पूरण-घट रहता है निश्चल !
चन्द पड़े शबनमके कतरे, हरित बना देंगे क्या मरु-थल ?
रस छलकानेका न समय है, पड़ने घीकी भाँति जलेगा !
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

शाश्वत निधन-हीन रहने क्या, सुख-दुखकृत (सं+सार) नहीं है ?
संसारी कर्मोंसे लिपटा, वह बन्धनसे पार नहीं है !
मुक्त हुए 'मानव' कैसा ? फिर, सुख-दुखका भागी न रहेगा !
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

ऋषी-मुनी भी देश-कालकी, स्थितिका रखते अवधारण !
क्योंकि सानुकूलता उनको, होती स्व-पर-श्रेयका कारण !
लता-सफलतापर उसकी ही, रचनामें नव-कुसुम खिलेगा !
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

मैं तो नहीं मानता जगको, इस थोथी-मायाका जाया !
द्रव्य-क्षेत्र-भव-भाव-कालकी, चलती-फिरती रहती छाया !
सयत, शील, तप, दया बिना कुछ 'केवल-त्याग' न काम करेगा !
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

शान्ति-द्वन्द्व एकत्र न देखे, आगे पीछे आते जाते !
हिंसामें उत्पत्ति अहिंसा की ही वैयाकरण बताते !
केवल अवलोकन न सार्थ है, जब तक वह कर्तृत्व न लेगा !
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

परिभाषा-भरकी अभिरुतिसे, दूर न होती हृदय-कलुषता !
पूरब, पूरब-सा कैसे है ? क्यों पश्चिमकी दहती रिपुता ?
क्षितिज-ककुभ-अम्बरतलमें भी, राग-द्वेष क्या घर कर लेगा ?
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

संकट संस्कृत कर देता है, आत्मग्रन्थिका विकृत-गुंठन !
खारी-तप्त अश्रुकी बूंदें, मधुरिम-शीतल कर देतीं मन !
देर भले अंधेर नहीं है, कृतका फल भरपूर मिलेगा !
सराबोर-प्यालीका तो रस, नहीं कभी प्रिय छलक सकेगा !!

दुख-सुख, पाप-पुण्यका अनुचर, दुखमें भी प्राणी सुख कहता !
विज्ञ साम्यसे देखा करते, मूरख उनमें रोता-हँसता !
नियति-नियम तो एक रहा है, कैसे कोई दो कह देगा ?

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४) रु०

एक किरण का मूल्य ।=)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६, किरण ७ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | फर्वरी
फाल्गुण, वीरनिर्वाण संवत् २४७०, विक्रम सं० २००० | १९४४

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१८]

श्रीअर-जिन-स्तोत्र

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥ १ ॥

'विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति (हे अर जिन!) आपमें कैसे बन सकती है? क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौर पर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ा कर कहनेकी तो फिर बात ही दूर है।'

तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥ २ ॥

'(यद्यपि आपके गुणोंका कथन करना अशक्य है) फिर भी आप पुण्यकीर्ति* मुनीन्द्रका चूँकि नाम-

*'कीर्ति' शब्द वाणी, ख्याति और स्तुति तीन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और 'पुण्य' शब्द पवित्रता तथा प्रशस्तताका द्योतक है। अतः जिनकी वाणी पवित्र-प्रशस्त है, ख्याति पवित्र-प्रशस्त है और स्तुति पुण्योत्पादक—पवित्रतासम्पादक है उन्हें 'पुण्यकीर्ति' कहते हैं।

कीर्तन भी—भक्तिपूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है। इस लिये हम आपके गुणोंका कुछ लेश-मात्र (यहाँ) कथन करते हैं।

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ॥ ३ ॥

'लक्ष्मीकी विभूतिके सर्वस्वको लिये हुए जो चक्रलाञ्छन—चक्रवर्तित्वका—सार्वभौम साम्राज्य आपको सम्प्राप्त था, वह मुमुक्षु होने पर—मोक्ष प्राप्तकी इच्छाको चरितार्थ करनेके लिये उद्यत होने पर—आपके लिये जीर्ण तृणके समान हो गया—आपने उसे निःसार समझ कर त्याग दिया।'

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहु-विस्मयः ॥ ४ ॥

'आपके रूप-सौन्दर्यको देख कर दो नेत्रों वाला इन्द्र तृप्तिको प्राप्त न हुआ—उसे आपको अधिका-धिकरूपसे देखनेकी लालसा बनी ही रही—(और इस लिये विक्रिया-द्वारा) वह सहस्र-नेत्र बन कर देखने लगा, और बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ।'

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-संविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥ ५ ॥

'कषाय-भटोंकी—क्रोध-मान-माया-लोभादिककी—सैन्यसे युक्त जो मोहरूप—मोहनीय कर्मरूप—पापी शत्रु है—आत्माके गुणोंका प्रधानरूपसे घात करने वाला है—उसे हे धीर वीर जिन ! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक्चारित्र—रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित कर दिया है।'

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ६ ॥

'तीन लोककी विजयमें उत्पन्न हुए कामदेवके उत्कट दर्पको—महान् अहंकारको—आपने लज्जित किया है। आप धीरवीर—अक्षुभितचित्त-मुनीन्द्रके सामने कामदेव हतोदय (प्रभावहीन) हो गया—उसकी एक भी कला न चली।'

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा विद्या-नावा विविक्तया ॥ ७ ॥

'आपने उस तृष्णा-नदीको निर्दोष ज्ञान-नौकासे पार किया है, जो इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योनि है—कष्टपरम्पराको उत्पन्न करने वाली है—और जिसका पार करना आसान नहीं है—बड़े कष्टसे जिसे तिरा (पार किया) जाता है।'

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखा सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥ ८ ॥

'पुनर्जन्म और ज्वरादिक रोगोंका मित्र अन्तक-यम सदा मनुष्योंको रुलाने वाला है; परन्तु आप अन्तकका अन्त करने वाले हैं, आपको प्राप्त होकर अन्तक-काल अपनी इच्छानुसार प्रवृत्तिसे उपरत हुआ है—उसे आपके प्रति अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा है।'

भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागि विद्या-दम-दया-परम् ।
रूपमेव तवाचष्टे धीर ! दोष-विनिग्रहम् ॥ ९ ॥

'हे धीर अर जिन ! आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और ज्ञान, कषायेन्द्रिय—जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए आपका रूप ही इस बातको बतलाता है कि आपने दोषोंका पूर्णतया निग्रह (विजय) किया है—क्योंकि राग तथा अहंकारका निग्रह किये विना कटक—केयूरादि आभूषणों तथा जटा—मुकुट—रक्ताम्बरादिरूप वेषोंके त्यागनेमें प्रवृत्ति नहीं होती, द्वेष तथा भयका निग्रह किये विना शस्त्रास्त्रोंका त्याग नहीं बनता, अज्ञानका नाश किये विना ज्ञानमें उत्कृष्टता नहीं आती, मोहका क्षय किये विना कषायों और इन्द्रियोंका पूरा दमन नहीं बन आता और हिंसावृत्ति, द्वेष तथा लौकिक स्वार्थको छोड़े विना दयामें तत्परता नहीं आती।'

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ॥ १० ॥

'सब ओरसे निकलने वाले आपके शरीर-तेजोंके बृहत् परिमंडलसे—विशाल प्रभामंडलसे—आपका बाह्य अन्धकार दूर हुआ और ध्यानतेजसे आध्यात्मिक—ज्ञानावरणादिरूप भीतरी—अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है।'

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः ।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ ! सचेतनम् ॥ ११ ॥

'हे नाथ अरजिन ! सर्वज्ञकी ज्योतिसे—ज्ञानोत्कर्षसे—उत्पन्न हुआ आपके माहात्म्यका उदय किस सचेतन प्राणीको—गुण-दोषके विवेकमें चतुर जीवात्माको—प्रणाम्रशील नहीं बनाता ? सभीको आपके आगे नत-मस्तक करता है।

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषा-स्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥

'श्रीसम्पन्न— सकलार्थके यथार्थ प्रतिपादनकी शक्तिसे युक्त—सर्व भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और समवसरण-सभामें व्याप्त हुआ आपका वचनामृत प्राणियोंको उसी प्रकार तृप्त-संतुष्ट करता जिस प्रकार कि अमृत-पान।

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥ १३ ॥

'(हे अरजिन !) आपकी अनेकान्तदृष्टि (अनेकान्तात्मक-मतप्रवृत्ति) सती-सच्ची है, विपरीत इसके जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत् है* । अतः जो कथन अनेकान्त दृष्टिसे रहित—एकान्त दृष्टिको लिये हुए है वह सब मिथ्या है; क्योंकि वह अपना ही—सत्—असत् आदि रूप एकान्तमतका ही—घातक है—अनेकान्तके विना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती।'

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतःश्रियः ॥ १४ ॥

*यह सब कैसे है, इस विषयका विशेष जाननेके लिये 'समन्तभद्रभारती' के सुमति-जिन और सुविधि-जिनके स्तोत्रोंको सार्थ रूपमें देखना चाहिये।

'जो (एकान्तवादी जन) परमें—अनेकान्तमें—विरोधादि दोष देखनेके लिये उन्निद्र—जाग्रत-रहते हैं और अपनेमें—सदादि एकान्तमें—दोषोंके प्रति गज-निमीलनका व्यवहार करते हैं—उन्हें देखते हुए भी न देखनेका डौल बनाते हैं—वे बेचारे क्या करें?—उनसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण बन नहीं सकता। (क्योंकि) वे आपके अनेकान्त मतकी (यथार्थ वस्तुस्वरूप-विवेचकत्वलक्षणा) श्रीके पात्र नहीं हैं—सर्वथा एकान्तपक्षको अपनानेसे वे उसके योग्य ही नहीं रहे।'

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः॥ १५॥

'वे एकान्तवादी जन, जो उस (पूर्वोक्त) स्वघाति-दोषको दूर करनेके लिये असमर्थ हैं, आपको—आपके अनेकान्तवादको—दोष देते हैं, आत्मघाती हैं—अपना घात आप करते हैं, और यथावद्वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ—बालक हैं उन्होंने तत्वकी अवक्तव्यताको आश्रित किया है—वस्तुतत्व अवक्तव्य है ऐसा प्रतिपादन किया है।'

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहितं॥ १६॥

'सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य ये जो नयपक्ष हैं वे सर्वथा-रूपमें इष्टको दूषित करते हैं और स्यात् रूपमें इष्टको पुष्ट करते हैं।—अर्थात् सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत) सर्वथा अनेक, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा वक्तव्य और सर्वथा अवक्तव्य रूपमें जो मत-पक्ष हैं, वे सब दूषित (मिथ्या) नय हैं—स्वेष्टमें बाधक हैं। और स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् वक्तव्य और स्यात् अवक्तव्यरूपमें जो मत-पक्ष हैं, वे सब पुष्ट (सम्यक्) नय हैं—स्वकीय अर्थका निर्बाधरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं।'

सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्॥ १७॥

'सर्वथारूपसे—सत् ही है, असत् ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे—प्रतिपादनके नियम का त्यागी, और यथादृष्टका—जिस प्रकार सत्-असत् आदिरूपसे वस्तु-प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखने वाला जो 'स्यात्' शब्द है वह आपके—अनेकान्तवादी जिनदेवके—न्यायमें है, (त्वन्मत बाह्य) दूसरोंके—एकान्तवादियोंके—न्यायमें नहीं है, जो कि अपने वैरी आप हैं*।'

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥ १८॥

'आपके मतमें अनेकान्त भी—सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी—प्रमाण और नयसाधनों (दृष्टियों) को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है—कथञ्चित् अनेकान्त और कथञ्चित् एकान्तरूप है। प्रमाणदृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है ('सकलादेशः प्रमाणाधीनः' इस वाक्यके आशयानुसार) और विवक्षित नयकी

*एकान्तवादी परके वैरी होनेके साथ साथ अपने वैरी आप कैसे हैं; इस बातको सविशेष रूपसे जाननेके लिये 'समन्तभद्र-विचार-माला' का प्रथम लेख 'स्व-पर-वैरी कौन?' देखना चाहिये, जो कि 'अनेकान्त' वर्ष ४ की प्रथम किरण (नववर्षाङ्क) में प्रकाशित हुआ है।

अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप—प्रतिनियतधर्मरूप—सिद्ध होता है ('विकलादेशः नयाधीनः' इस वाक्यके आशयानुसार)।'

इति निरुपम-युक्त-शासनः प्रिय-हित-योग-गुणाऽनुशासनः।
अरजिन! दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः॥ १९॥

'इस प्रकार हे अरजिन! आप निरुपम-युक्त-शासन हैं—उपमारहित और प्रमाणप्रसिद्ध शासन-मतके प्रवर्तक हैं—, प्रिय तथा हितकारी योगोंके—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियोंके—और गुणोंके—सम्यग्दर्शनादिकके—अनुशासक हैं, साथ ही दम-तीर्थके नायक हैं—कषाय तथा इन्द्रियोंकी जयके विधायक प्रवचनतीर्थके स्वामी हैं। आपके समान फिर साधुजनोंको प्रतिबोध देनेके लिये और कौन समर्थ है? कोई भी समर्थ नहीं है। आप ही समर्थ हैं।

मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम्॥ २०॥

—स्वयंभूस्तोत्रान्तर्गत

'हे वरद—अरजिन! मैंने अपनी मति-शक्तिकी सम्पत्तिके अनुरूप—जैसी मुझे बुद्धि-शक्ति प्राप्त हुई है उसके अनुसार—तथा आगमकी दृष्टिके अनुसार—आगममें कथित गुणोंके आधारपर—आपके विषयमें कुछ थोड़ेसे गुणोंका वर्णन किया है, वह गुण-कीर्तन मेरे पापकर्मोंके विनाशमें समर्थ होवे—इसके प्रसादसे मेरी मोहनीयादि पाप-कर्मप्रकृतियोंका क्षय होवे।'

अज्ञान-निवृत्ति

[ले०—श्री पं० माणिकचन्द जैन, न्यायाचार्य]

श्रीयुत बाबू नेमीचन्दजी वकील, सहारनपुरने केवलज्ञानके फलविषयमें एक प्रश्न पूछा है, जिसका उत्तर दूसरे जिज्ञासुओंके लाभार्थ प्रश्नसहित नीचे दिया जाता है :—

प्रश्न—केवलज्ञानका फल अज्ञानकी निवृत्ति हो जाना प्रथम क्षणमें तो ठीक जँचता है; क्योंकि बारहवें गुणस्थानके अन्तमें अज्ञान है, केवलज्ञानने उत्पन्न होकर उस अज्ञानकी निवृत्ति की; किन्तु द्वितीयादि क्षणोंमें केवलज्ञानोंका फल अज्ञान-निवृत्ति क्यों माना जाय? जबकि वहाँ कोई अज्ञान अवशेष ही नहीं है?

उत्तर—पांचों प्रमाणज्ञानों और भले ही तीनों कुज्ञानोंको मिला लिया जाय, आठों ही ज्ञान सदा अज्ञानकी निवृत्ति करते ही रहते हैं, जैसे अग्नि सदा ही निकटवर्ती योग्य शीतका निवारण करती रहती है, अथवा सूर्य हमेशा तिरछा पचास हजार, ऊपर सौ योजन और नीचे १८०० योजन क्षेत्रके अन्धकारको मेटता रहता है। उदयकालका सूर्य हो या दोपहरका, उसको शक्तिपूर्वक यह तमोनिवृत्ति करनी ही पड़ेगी। एक सैकिण्डकी भी ढील कर देनेपर रात्रिसोपम अंधकार तत्काल आ धमकेगा।

अज्ञान-निवृत्ति करते रहना ज्ञानका प्राण है। इसीसे आचार्य महोदयने—"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्" —परीक्षामुख

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वावाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥ -आप्तमी०

इस प्रकारके वाक्योंद्वारा अज्ञाननिवृत्तिको प्रमाण-का साक्षात् फल माना है।

समकालीन उपज रहे दो पदार्थोंमें भी कार्यकारण भाव बन जाता है। जैसा कि अमृतचन्द्र सूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कारण-कार्य-विधानं समकालजायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव···" —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३४

किसी भी ज्ञानद्वारा तत्क्षण अज्ञानकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है। तभी तो केवलज्ञानीके अज्ञान-भावका होना असंभव है। योग्यताको टाला नहीं जा सकता।

यदि द्रव्यार्थिकनय या निश्चयनय एकेन्द्रियको सिद्ध समान कहते हैं, तो सिद्धोंको भी शक्तिरूपसे एकेन्द्रिय होजानेकी योग्यता कह देनेमें उनको क्या संकोच हो सकता है? बात यह है कि जो कार्य नहीं होरहा है उसको रोकनेके लिये दृढ़ बाँध बँध रहे हैं ऐसा मानना ही पड़ेगा। लवणसमुद्रका पानी जो ग्यारह हजार अथवा सोलह हजार योजन उठा हुआ है, यदि मचल जाय तो जम्बूद्वीपका खोज खोजाय। किन्तु "न भूतो न भावी न वा वर्तमानः।" पानीको वहीं डटा हुआ रखनेके लिये अंतरंग स्तम्भनशक्ति और बहिरंग वेलंधर देवोंके मजबूत नगर व्यवस्थित होरहे मानने पड़ते हैं। धर्मद्रव्य कालत्रयमें अधर्म नहीं हो सकता है। सर्वार्थसिद्धिके देव या लौकान्तिक देव भविष्यमें नारकी या तिर्यंच पर्यायको नहीं पा सकते हैं। रूप-गुण कालान्तरमें रस-गुण नहीं हो सकता है। आज महापद्मका जन्म नहीं होता है इन सब कार्योंके लिये अनेक प्रागभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावकी बलवत्तर भीतें खड़ी हुई हैं। बनारसी दलालोंके समान ये सब व्यक्त-अव्यक्तरूपसे साथ लगे हुए हैं। अगुरुलघु-गुण भी अन्य व्यावृत्तियोंके करनेमें अनुक्षण अड़कर जुटा हुआ है।

"सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।"
—आप्तमीमांसा

इत्यादि आचार्यवाक्य भी इसी बातको पुष्ट करते हैं। छेदोपस्थापना-संयमके मर्मस्पर्शी विद्वान् इस तत्व-को शीघ्र समझ जावेंगे। यों केवलज्ञानको सर्वदा अज्ञाननिवृत्ति करनी पड़ती है। श्री माणिक्यनन्दी, विद्यानन्द स्वामी और प्रभाचन्द्रने अनेक युक्तियों से अज्ञाननिवृत्तिको ज्ञानसे अभिन्न ही बतलाया है और सिद्ध किया है[1]। पहिले क्षणका दीपक और लगातार घन्टों तक जल रही मध्यवर्ती दीपककी लौ भी उस तमोनिवृत्तिको सतत् करते ही रहते हैं। यदि मध्यवर्ती द्वितीयादि क्षणोंमें तमोनिवृत्ति न हो तो वहीं निविड़तम तम आधमकेगा। अतः प्रकाशस्व-भाव तमोनिवृत्तिकी तरह स्वार्थनिर्णीति स्वभाव ही अज्ञाननिवृत्ति है।

महान् नर-पुङ्गवोंमें भी कुकर्म करनेकी योग्यता है, परन्तु अपने स्वभावोंके अनुसार महान पुरुषार्थ करते हुये उन पापकर्मोंसे बचे रहते हैं। पुरुषार्थमें ढील होजानेसे माघनन्दी और द्वीपायन मुनि अपने ब्रह्मचर्य और क्षमाभावसे स्खलित होगये थे। श्री अकलंकदेवने अष्टशतीमें "यावन्ति पररूपाणि, प्रत्येकं तावन्तस्ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः।" इत्यादि प्रमाणों द्वारा वस्तुतत्त्वको पुष्ट किया है। अभावात्मक धर्मोंके जौहरोंका अन्तःनिरी-क्षण कीजिये।

तत्त्वोंका केवलज्ञान और अज्ञान दोनों परस्परमें व्यवच्छेदरूप धर्म हैं। दोनोंमेंसे किसी एकका विधान कर देनेपर शेषका निषेध स्वतः होजाता है। केवलज्ञानके स्वीकारके साथ लगे हाथ ही अज्ञान-निवृत्ति न माननेपर "वदतो व्याघात" दोष आता है। अतः केवलज्ञानका अज्ञाननिवृत्तिहोना शाश्वत अनि-वार्य फल है। भाव आत्मक कारण, कार्योंमें भले ही क्षणभेद हो। किन्तु प्रतिबन्धकाभावरूप कारण और प्रागभाव-निवृत्तिआत्मक कार्य इन कारण-कार्योंमें क्षणभेद नहीं है। प्रकरणमें ज्ञानावरणक्षय (केवलज्ञान) और अज्ञाननिवृत्तिमें क्षणभेद नहीं है। दोनोंका समय एक है और दोनों एक ही हैं।

---

१ देखो, परीक्षामुख ५-३, तत्वार्थश्लोकवा० पृ० १६८, प्रमाणपरीक्षा पृ० ७६, प्रमेयकमल० ५-१, २, ३।

वैदिक व्रात्य और भ० महावीर

(लेखक — श्री कर्मानन्दजी)

अथर्ववेदके पन्द्रहवें काण्डमें एक व्रात्य सूक्त है, जो कि वर्तमान ऐतिहासिक विद्वानोंके गहन अध्ययन का विषय बना हुआ है। प्रायः सभी विद्वानोंने इस पहेलीको सुलझानेका प्रयत्न किया. परन्तु यह सुलझनेके बजाय उलझती ही गयी। अभी हालमें ओझा जीको जो अभिनन्दन ग्रन्थ दिया गया है उसमें जर्मनके प्रसिद्ध विद्वान् डा० हावरत्थ् विगेनने इस पर एक गवेषणात्मक लेख लिखा है। आपका कथन है कि—

(१) ध्यानपूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक विवेचन के बाद मैं यह कह सकता हूँ कि यह प्रबन्ध (व्रात्य सूक्त) प्राचीन भारतके ब्राह्मणेतर आर्य धर्मके मानने वाले व्रात्योंके उस वाङ्मयका कीमती अवशेष है जो प्रायः चुन चुनकर नष्ट किया जा चुका है।

(२) जैमनीय उपब्राह्मणसे ज्ञात होता है कि व्रात्य लोग ऊर्ध्वलोकमें स्थित तथा यज्ञादिकी हिंसासे घृणा करने वाले और 'ओम्' इस अक्षरका गूढ़ ज्ञान भी रखते थे।

(३) योग और सांख्यके मूलतत्वोंका यही आधार या आदि स्रोत है।

(४) अथर्ववेदका व्रात्य एक वर्ष तक खड़ा रह कर घोर तप करता है और चारों दिशाओंकी तरफ उन्मत्तवत् मौनभावसे भ्रमण करता है।

(५) वह सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा और जीवन्मुक्त समझा जाता है। इत्यादि।"

इस वैदिक व्रात्यके साथ यदि भगवान ऋषभदेव और बाहुबलि स्वामीके जीवनका मिलान किया जाय तो देखेंगे कि इनमें कुछ भी अन्तर नहीं है। भगवान ऋषभदेवने छह महीने तक निश्चल खड़े रहकर खड्गासनसे तप किया और छह महीने तक भ्रमण करते हुए भी निराहार रहे; इस प्रकार इन्होंने १ वर्ष तक निराहार रहकर घोर तप किया। और बाहुबलिने तो एक वर्ष तक एक ही स्थानमें निरंतर पर्वतकी तरह निश्चल खड़े रहकर घोर तप किया है इसीलिए इन का नाम व्रती अर्थात् व्रात्य पड़ा जान पड़ता है। आज भी जैनसमाजमें उपवासादिरूप तप-व्रतकी प्रधानता है, इससे सिद्ध होता है कि यह व्रात्य सूक्त जैनधर्मकी परंपराका ही परिचायक है। जैनधर्म भगवान ऋषभदेवसे लगाकर आज तक अहिंसाको ही परमधर्म मानता है और निरर्थक वैदिक क्रियाकाण्डोंका निषेध करता रहा है।

अथर्ववेद काण्ड ४. सूक्त ११ मन्त्र ११ में व्रतका पर्यायवाची 'व्रत्य' आया है उसी व्रत्यसे 'व्रात्य' शब्द बना है—अर्थात् व्रत्य (व्रत) को धारण करने वाला। ताण्ड ब्राह्मण १७-१-५ में 'व्रातः' शब्द आया है जिसका अर्थ सुप्रसिद्ध वैदिक भाष्यकार श्री सयणाचार्यने 'व्रात्य-समुदाय' किया है, इससे भी व्रात और व्रात्य समानार्थ सिद्ध होते हैं जिसका अर्थ व्रती (दीक्षित) होता है।

अथर्व वेदके इसी चतुर्थ काण्डके इसी मन्त्रमें इसको मागध विज्ञान कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्रात्य लोग मगधादि देशोंके रहने वाले थे और इनकी संस्कृति मागध संस्कृतिके नामसे प्रसिद्ध थी, जो कि वैदिक क्रियाकाण्डका प्रत्यक्ष विरोध था! यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें मगधादि देशोंकी और उसकी निन्दा की गई है।

प्रश्नोपनिषद्में मुक्तात्मा (परमात्मा) को व्रात्य कहा गया है, इससे भी हमारे उपरोक्त कथनकी पुष्टि होती है।

सामवेदीय ताण्ड ब्राह्मणमें एक 'व्रात्यस्तोम' है, जिसमें व्रात्योंका विशेष उल्लेख आया है। उसमें लिखा है कि 'ये लोग वैदिक यज्ञादिसे घृणा करते थे तथा अहिंसाको ही अपना मुख्य धर्म मानते थे'। इनके रहन सहनके विषयमें लिखा है कि—'ये लोग

ढीले ढाले लाल किनारे वाले कपड़े पहिनते थे तथा ब्राह्मणोंसे पृथक् भाषा बोलते और ब्राह्मणोंकी भाषा को क्लिष्ट बताते थे और खुले हुए युद्धके रथोंपर सवारी करते थे। भाला धनुष आदि हथियार रखते थे।'

इस कथनसे इनका क्षत्रिय होना प्रगट होता है। वहाँ इनके आश्रित भृत्यादिकोंका भी कथन है जिससे विदित होता है कि ये लोग अपने आश्रितोंको बड़ा खुशहाल रखते थे। इनके भृत्यादि खूब जेवर आदि पहिनते थे और हृष्ट पुष्ट होते थे।

(ताण्ड ब्राह्मण १७-१-५)

प्राचीन भारतीय सभ्यताके इतिहासमें बाबू रमेशचन्द्र दत्तजीने लिच्छवि लोगोंका वर्णन किया है और लिखा है कि "जब भगवान बुद्ध वैशालीमें गये तो लिच्छवि लोग अपनी प्रजा व सैनिकों सहित उनके दर्शनको गये जिनमेंसे कुछ काले थे जो काले कपड़े पहनते थे कुछ भूरे थे वे भूरे वस्त्र पहिने हुए थे और जो लाल रंगके थे वे लाल कपड़े अथवा लाल किनारीकी धोतियां पहिने हुए थे।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय रंगके अनुरूप जातियाँ थीं और प्रत्येक जातिके लिए अलग अलग रंगके वस्त्र आभूषण नियत थे। इनमें लाल रंगके क्षत्रिय थे वे या तो लाल रंगके कपड़े पहिनते थे या लाल किनारे की धोती बांधते थे। जिस प्रकार ताण्ड ब्राह्मणमें व्रात्योंका वर्णन है हूबहू वैसा ही कथन लिच्छवियों का कथन रमेशचन्द्रदत्तजीने किया है।

भारतीय इतिहासकी रूपरेखाके पृष्ठ ३४६ में प्रो० जयचन्द्रजी विद्यालंकारने लिखा है कि "इस बातका निश्चित् प्रमाण है कि वैदिक मार्गसे भिन्न मार्ग कुछ और महावीरसे पहिले भी यहां थे। अर्हन्त लोग बुद्धके पहिले भी थे और उनके चेले भी यहाँ थे। इन आर्हतोंके अनुयायी व्रात्य कहलाते थे। जिनका उल्लेख अथर्व वेदमें है। लिच्छिवि लोग प्राचीन भारतकी एक प्रसिद्ध व्रात्य जातिके थे।"

इसी लिच्छवि वंशमें भगवान महावीरने अवतार लिया था। लिच्छवि वंशकी ही एक शाखा ज्ञातृवंश थी। इसीसे भगवान महावीरको ज्ञातपुत्र (नातपुत्त) कहते हैं।

गद्य-गीत

(ले०—श्री 'शशि'

कारीगर!
क्या बना रहे हो तुम यह?
'यह फ़ायर यंत्र है'
बड़ा सुन्दर है, क्या करेगा यह यंत्र?
'जनताके प्राणोंकी रक्षा!'
तुम्हें इसकी बनवाई क्या मिलेगी कारीगर?
'बनवाई नहीं···पुरस्कार मिलेगा'

\+ \+ \+

एक दिन जनता अपने अधिकार हठपूर्वक मांगने एकत्रित हुई।

भीड़को हटानेके लिये 'फ़ायर यंत्र' का इस्तेमाल हुआ, यंत्र तूफानी गतिसे गोलियाँ बरसाने लगा···, और लहू-लुहान जनता कराहती दमतोड़ती धरतीपर गिरने लगी।

कारीगर! यह सब कुछ न देख सका···और पागलसा अपने 'यंत्र' की ओर बढ़ा।

कई गोलियाँ एक दम ठीक छातीपर पड़ीं। दूसरे ही क्षण कारीगर पृथ्वीकी छातीपर लोटने लगा।

क्यों कारीगर! यह क्या?

अस्फुट··· लड़खड़ाते दमतोड़ते कारीगर बोला···

'मेरी कलाका सही पुरस्कार!'

नयोंका विश्लेषण

(लेखक —श्री पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)

[गत किरण नं० ४ से आगे]

(५) नयोंका वर्गीकरण

उल्लिखित परार्थ-प्रमाणके अंशभूत नयोंके जैनधर्ममें कई वर्ग बतलाये गये हैं। इनमेंसे एक वर्ग द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयका है और दूसरा निश्चयनय और व्यवहारनयका है। पहिले वर्गको 'नयोंका सैद्धान्तिकवर्ग" कहा जासकता है और दूसरे वर्गको "नयोंका आध्यात्मिक वर्ग" कह सकते हैं। इस का कारण यह है कि जैनधर्मके कथनमें दो दृष्टियाँ अपनाई गई हैं (१) सैद्धान्तिक दृष्टि और (२) आध्यात्मिक दृष्टि। जैनधर्ममें मान्य चार अनुयोगोंमेंसे द्रव्यानुयोगका कथन सैद्धान्तिक दृष्टिसे और करणानुयोग तथा चरणानुयोगका कथन आध्यात्मिक दृष्टिसे समझना चाहिये; क्योंकि वस्तुका स्वरूप समझानेके लिये उसके गुण, स्वभाव, धर्म या अंशोंका प्रतिपादन करना सैद्धान्तिक दृष्टि मानी गई है और प्राणियों के लक्ष्यभूत आत्मकल्याणके लिये उपयोगी कथन करना आध्यात्मिक दृष्टि मानी गई है। इन दोनों दृष्टियोंमें भेद यह है कि जहां सैद्धान्तिक दृष्टिमें वस्तुके स्वरूपका प्रतीति के अनुसार जैसाका तैसा प्रतिपादन किया जाता है वहाँ आध्यात्मिक दृष्टिमें दूसरोंके लाभकी दृष्टिसे वस्तुका प्रतीतिके विरुद्ध अन्यथा भी प्रतिपादन किया जाता है। यही सबब है कि वीतराग जिनेन्द्रकी अष्टद्रव्यसे की गयी पूजा तर्कसम्मत होनेके कारण सैद्धान्तिक दृष्टिसे उचित न होते हुए भी पूजकके लिये लाभकर होनेके कारण आध्यात्मिक दृष्टि से जैनधर्ममें उपादेय बतलायी गयी है।

"सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्[१] ॥

" सोमदेवसूरिका यह कथन भी इन दोनों दृष्टियोंके भेदका सूचक है। "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न न कथनीयं नाचरणीयम्" ऐसी ऐसी लोकोक्तियां भी सिद्धान्त और अध्यात्मके भेदको ही प्रदर्शित करती हैं। इस लोकोक्तिका अर्थ यह है कि शुद्ध अर्थात् तर्कसम्मत होते हुए भी लोकहित-विरोधी न तो कथन करना चाहिये और न ऐसा आचरण ही करना चाहिये। करणानुयोगके महान ग्रन्थ गोम्मटसार-जीवकांडमें सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) और मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) में भेद दिखलाते हुए लिखा है कि—"सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अज्ञानतावश पदार्थके स्वरूपको ग़लत समझते हुए भी उसका अभिप्राय या उद्देश्य पवित्र होने के कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही बना रहता है।[२]" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक व्यक्ति पदार्थके स्वरूपको ग़लत समझनेके कारण सैद्धान्तिक दृष्टिसे अज्ञानी होते हुए भी अभिप्राय या उद्देश्यकी पवित्रताके कारण आध्यात्मिक दृष्टिसे ज्ञानी माना जा सकता है और दूसरा व्यक्ति पदार्थके स्वरूपको सही समझनेके कारण सैद्धान्तिक दृष्टिसे ज्ञानी होते हुए भी अभिप्राय या उद्देश्यकी दुष्टताके कारण आध्यात्मिक दृष्टिसे अज्ञानी माना जा सकता है। यही सबब है कि जहां सैद्धान्तिक दृष्टिसे जीवको बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानी माना गया है वहां आध्यात्मिक दृष्टिसे उसको चतुर्थ गुणस्थानमें ही ज्ञानी स्वीकार किया है। इस प्रकार जब सैद्धान्तिक दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि दोनोंमें भेद सिद्ध हो जाता है तो इन दोनों दृष्टियोंके आधार पर स्वीकृत नयोंमें भी भेद होना स्वाभाविक है। इसलिये नयोंका उल्लिखित दो वर्गोंमें किया गया विभाजन शास्त्रसम्मत और महत्वपूर्ण है। साथ ही इन दो वर्गोंके अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी नयोंके बारेमें माना जा सकता है, जो यद्यपि इन दोनों वर्गोंसे भिन्न तो नहीं होगा, फिर भी आवश्यक समझ कर हमने इसे स्वतंत्र वर्ग मानना ही ठीक समझा है और इस वर्गको हम "नयोंका लोक संग्राहक वर्ग" नाम

---

१ यशस्तिलकचम्पू, उत्तरार्ध पृष्ठ ३७३

२ सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥—जीवकांडगा० २७

देना चाहते हैं। इसका आभास भी हमें जैन ग्रन्थोंमें देखने को मिलता है जैसा कि आगे प्रगट किया जायगा।

(६) नयोंका सैद्धान्तिक वर्ग

वस्तु-स्वरूप-निर्णयके बारेमें प्रमाण-मान्यताको सभी दर्शनोंमें महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है लेकिन जैनदर्शनमें प्रमाण-मान्यताके साथ साथ नय-मान्यताको भी उतना ही उपयोगी बतलाया है।

प्रतीतिके आधारपर वस्तुस्वरूप-निर्णयका सिद्धान्त लोकमान्य है। लोकमें वस्तु यदि अनेक-धर्मात्मक या अनेक-अंशात्मक प्रतीत होती है तो लोक उसे वैसी ही स्वीकार करता है। जैसे एक पका हुआ आम सामने आता है। लोग उसका ज्ञान आँखोंसे देखकर, हाथसे छूकर, नाक से सूंघकर और जीभसे चखकर किया करते हैं। भिन्न भिन्न इन्द्रियोंद्वारा भिन्न भिन्न प्रकारसे होने वाले इन चारों ज्ञानोंमें से कौनसा ज्ञान सही और कौनसे तीन ज्ञान ग़लत माने जावें, इसका निर्णय करना असंभव है। इसलिये इन चारों ही ज्ञानोंको ग़लत मानना भी ठीक नहीं है; कारण कि एक तो इन चारों ही ज्ञानोंको ग़लत माननेका कोई भी निमित्त वहांपर मौजूद नहीं रहता है। दूसरे ऐसा मान लेनेपर उस आमके स्वरूपका निर्णय भी नहीं किया जा सकता है। इस लिये इन सभी ज्ञानोंको लोकमें सही कबूल किया गया है और चूंकि ये सभी ज्ञान एक दूसरे ज्ञानसे बिल्कुल भिन्न मालूम पड़ते हैं इसलिये इनके निमित्तभूत चार धर्म रूप, स्पर्श, गंध और रस—उस आममें स्वीकार कर लिये जाते हैं। लोकमें यही प्रक्रिया दूसरी सभी वस्तुओंके बारेमें अपनायी गयी है। इस प्रकार वस्तुकी अनेक धर्मात्मकता यद्यपि लोकमें भी स्वीकार की गयी है; परन्तु जैनदर्शनमें अनेक-धर्मात्मकताकी इस मान्यताको इतना व्यापक रूप दिया गया है कि यदि परस्पर विरोधी धर्म भी वस्तुमें प्रतीत होते हैं तो उस वस्तुमें उन विरोधी धर्मोंके सद्भाव को भी वह स्वीकार करता है। जैनदर्शनमें दूसरे दर्शनोंकी अपेक्षा यही विशेषता है और दर्शनकी इस विशेषताके कारण जैनधर्मको ही लोकमें अनेकान्तवादी धर्म कहा गया है।

जैनधर्मके तत्वज्ञानमें प्रतीतिके आधारपर वस्तुको सामान्य और विशेषधर्म वाली[1] माना गया है। सामान्य धर्मको वस्तुका द्रव्यांश और विशेषधर्मको वस्तुका पर्यायांश भी कहते हैं। एक ही वस्तुमें भिन्न भिन्न समयके अंदर हमें जो विषमता दिखाई देती है उसके रहते हुए भी वस्तु के विषयमें हमारा एकत्व ज्ञान अक्षुण्ण बना रहता है। इस का कारण उस वस्तुमें रहनेवाला सामान्यधर्म अर्थात् द्रव्यांश समझना चाहिये और भिन्न भिन्न समयमें दीखने वाली उस विषमताका कारण उस वस्तुमें रहने वाला विशेषधर्म अर्थात् पर्यायांश समझना चाहिये। इसी तरह अनेक वस्तुओंमें एक ही समयके अंदर हमें जो समानता और विषमताका अनुभव होता है इसमें भी उन वस्तुओंमें रहने वाले सामान्यधर्म और विशेषधर्मको ही कारण समझना चाहिये। जैसे एक मनुष्य भिन्न भिन्न समयमें होने वाली बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाओंमें भी मनुष्य ही रहता है और अनेक मनुष्य एक ही समयमें परस्पर भिन्न दिखाई देते हुए भी समान रूपसे मनुष्य ही कहे जाते हैं। इसलिये इस प्रकारके सही अनुभवोंके आधारपर यही मानना पड़ता है कि उस एक मनुष्यमें भिन्न भिन्न समयके अंदर भेदसूचक बाल, युवा और वृद्ध अवस्थारूप विशेषधर्म और इन सब अवस्थाओंमें भी एकतासूचक मनुष्यस्वरूप सामान्यधर्म मौजूद है तथा अनेक मनुष्योंमें भी इसी तरह एक ही समयमें पार्थक्यसूचक विशेषधर्म और समानतासूचक सामान्यधर्म मौजूद है।

वस्तुका सामान्यधर्म भिन्न भिन्न समयोंमें भी उस वस्तु में मौजूद रहनेके कारण नित्य माना गया है और उसका विशेषधर्म बदलते रहनेके कारण अनित्य कबूल किया गया है। यही सबब है कि जैनधर्ममें वस्तुको नित्यानित्यात्मक अथवा ध्रौव्य-व्यय-उत्पादात्मक कहा है। यहाँपर नित्यता का ही अर्थ ध्रौव्य और अनित्यताका ही अर्थ व्यय और उत्पाद समझना चाहिये। वस्तुके व्ययका अर्थ होता है उस वस्तुकी पूर्वपर्यायका नाश और वस्तुके उत्पादका अर्थ होता है उस वस्तुकी उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति। लेकिन वस्तु की पूर्वपर्यायका नाश और उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति ये दोनों एक ही कालमें हो जाया करती हैं। इसलिये जैनधर्ममें व्यय

१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।—परीक्षामुख ४-१

और उत्पादका अर्थ परिणमन किया गया है—अर्थात वस्तुकी पूर्वपर्याय ही स्वाभाविक तौरपर अथवा बाह्य निमित्तोंके आधारपर बदलकर उत्तरपर्याय बन जाती है। यही सबब है कि जैनधर्ममें अभावको भावान्तर स्वभाव माना गया है। वस्तुके एकानेकात्मकत्व, सदसदात्मकत्व आदि स्वरूप भी इन्हीं सामान्य और विशेषधर्मोंके विशेषरूप ही समझने चाहियें।

इन परस्पर विरोधी सामान्य और विशेष दोनों धर्मों का प्रतिपादन करनेके लिये पूर्वोक्त परार्थश्रुतके भी जैनधर्म में दो अंश माने गये हैं जिनको क्रमसे पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय नाम दिये गये हैं—अर्थात द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुके द्रव्यांशभूत सामान्यधर्मका प्रतिपादन होता है और पर्यायार्थिक नयसे उसके पर्यायांशभूत विशेषधर्मका प्रतिपादन होता है। इसलिये वस्तुस्वरूपविवेचनकी दृष्टिसे इन दोनों नयोंको "नयोंका सैद्धान्तिक वर्ग" नाम दिया गया है।

ये दोनों नय पूर्वोक्त प्रकारसे पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। तात्पर्य यह है कि परार्थ-प्रमाणके अंशभूत कोई कोई पद, वाक्य और महावाक्य वस्तुके समान्यधर्मका प्रतिपादन करते हैं और परार्थ-प्रमाणके अंशभूत कोई कोई पद, वाक्य और महावाक्य वस्तु के विशेषधर्मका प्रतिपादन करते हैं। जैसे "वस्तु नित्य और अनित्य है" यह परार्थ-प्रमाण या प्रमाण-वाक्य है; कारण कि यह वाक्य वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करता है। इस प्रमाणवाक्यके अवयव—स्वरूप नित्य और अनित्य पद क्रमसे उस वस्तुके सामान्यधर्म और विशेषधर्मका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये ये दोनों पद क्रमसे द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय कहे जायेंगे। "वस्तु नित्य है और अनित्य है" इस प्रयोगमें दो वाक्योंका पिंडस्वरूप महावाक्य परार्थ-प्रमाण है; क्योंकि यहाँ पर पूर्ण वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिये दो वाक्योंका प्रयोग किया गया है। और चूंकि इस महावाक्यके अवयवस्वरूप दोनों वाक्योंसे क्रमसे वस्तुके सामान्यधर्म और विशेषधर्मका प्रतिपादन होता है इसलिये महावाक्यके अवयवस्वरूप इन दोनों वाक्योंको क्रमसे द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय कहा जायगा। महावाक्यके बारेमें नयोंका उदाहरण इस प्रकार है—वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले दो प्रकरणोंका एक ग्रन्थ है। यहांपर दोनों प्रकरणोंका पिंडभूत ग्रन्थ तो परार्थप्रमाण माना जायगा, कारण कि वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन दोनों प्रकरणोंके समुदायरूप ग्रन्थसे ही होता है और अनेक वाक्यों तथा महावाक्योंके पिंडभूत दोनों प्रकरण चूंकि वस्तुके एक एक अंशका प्रतिपादन करते हैं इसलिये दोनों प्रकरणोंको द्रव्यार्थिकनयवाक्य और पर्यायार्थिकनयवाक्य समझना चाहिये।

यदि कहीं पर सिर्फ "वस्तु नित्य है" इस वाक्यका ही प्रयोग किया गया हो और इस वाक्यके जरिये वस्तुके द्रव्यांशभूत नित्य धर्मका प्रतिपादन करना ही वक्ताको अभीष्ट हो, तो वहाँ पर "वस्तु अनित्य है" इस वाक्यका आक्षेप करना अनिवार्य होगा, (भले ही वह वक्ताके लिये गौण हो) कारण कि 'वस्तु अनित्य है" इस वाक्यके साथ एकवाक्यताको प्राप्त हुआ "वस्तु नित्य है" ऐसा वाक्य ही नयवाक्य कहलाने योग्य है। स्वतंत्र "वस्तु नित्य है" यह वाक्य नयवाक्य नहीं कहा जा सकता है। कारण कि प्रमाणवाक्य अथवा प्रमाणमहावाक्यके सापेक्ष अंशोंका नाम ही नयवाक्य कहा गया है।

यदि कहींपर सिर्फ "वस्तु नित्य है" इस वाक्य का ही प्रयोग तो किया गया हो, लेकिन "वस्तु अनित्य है" इस वाक्यका आक्षेप करना वक्ताको अभीष्ट न हो, तो ऐसी हालतमें यह वाक्य या तो प्रमाणवाक्य माना जायगा या फिर प्रमाणाभास माना जायगा। तात्पर्य यह है कि यदि 'वस्तु नित्य है' इस वाक्यके जरिये वस्तुकी अनित्यताका विरोध न करते हुए सिर्फ नित्यधर्म द्वारा नित्यात्मक वस्तुका ही प्रतिपादन करना वक्ताको अभीष्ट हो, तो ऐसी हालतमें यह वाक्य धर्मके द्वारा धर्मीका प्रतिपादक होनेकी वजहसे प्रमाणवाक्य माना जायगा। लेकिन इस वाक्यके द्वारा यदि अनित्यताका विरोध करते हुए वस्तुकी नित्यताका ही प्रतिपादन करना वक्ताको अभीष्ट हो, तो ऐसी हालतमें यह वाक्य प्रमाणाभास माना जायगा; कारण कि वस्तुकी अनित्यताका विरोध करनेवाले "वस्तु नित्य है" इस वाक्यके द्वारा नित्यरूप ही

वस्तुका प्रतिपादन होगा, जो कि प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारसे नित्यता वस्तुका सही स्वरूप नहीं, बल्कि स्वरूपका एक अंश है और स्वरूपांशको पूर्णस्वरूप मानना चूंकि गलत है इसलिये उसका प्रतिपादक वाक्य प्रमाणाभास ही माना जायगा। इस वाक्यको नय अथवा नयाभास तो किसी भी हालतमें नहीं माना जा सकता है; कारण कि "वस्तु अनित्य है" इस वाक्यकी अपेक्षारहित "वस्तु नित्य है" इस स्वतंत्र वाक्यमें नय अथवा नयाभासका लक्षण घटित नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि यदि परार्थश्रुतको प्रमाण, नय, प्रमाणाभास और नयाभासके रूपमें चार भेदोंमें विभक्त करदिया जाय, तो इन चारोंके लक्षण निम्नप्रकार होंगे—

(१) एक अंश या अनेक अंशोंद्वारा वस्तु अर्थात् अंशी का प्रतिपादन करना प्रमाण है। (२) नाना अंशोंमेंसे एक अंशका प्रतिपादन करना नय है। (३) अंशका अंशीरूपसे प्रतिपादन करना प्रमाणाभास है और (४) अनंशका अंशरूपमें प्रतिपादन करना नयाभास है। इस प्रकार इन चारोंमेंसे पूर्वोक्त वाक्यमें पूर्वोक्त प्रकारसे प्रमाण अथवा प्रमाणाभासका ही लक्षण घटित हो सकता है। नय अथवा नयाभासका नहीं। इसी प्रकार "वस्तु अनित्य है" इस वाक्यके स्वतंत्र प्रयोगके बारेमें भी यह प्रक्रिया घटित करना चाहिये।

इस तरह वस्तु-स्वरूप-व्यवस्थामें प्रमाण-मान्यताके साथ २ नयोंकी मान्यता कितनी उपयोगी है यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसी नय-मान्यताके बलपर ही जैनधर्मकी वस्तु-स्वरूप-व्यवस्था दूसरे दार्शनिकोंके लिये दुर्भेद्य बनी हुई है। साथमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनग्रन्थोंमें नयोंका द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के रूपमें जो व्याख्यान किया गया है वह सैद्धान्तिक दृष्टिसे ही किया गया है।

(७) नयोंका आध्यात्मिक वर्ग

मानव-समाजमें व्यष्टिकी अपेक्षा समष्टिको अधिक महत्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि मानवसमाज में व्यष्टिका सुख समष्टिके सुखके साथ अविनाभूत है—अर्थात् एक व्यक्ति अपने जीवनमें सुखी तभी हो सकता है जब कि उसका कुटुम्ब सुखी हो। इसी तरह उस कुटुम्बके सुखके लिये उसके मुहल्लेका, मुहल्लेके सुखके लिये संपूर्ण ग्राम का, ग्रामके सुखके लिये संपूर्ण प्रान्तका, प्रान्तके सुखके लिये संपूर्ण राष्ट्रका और राष्ट्रके सुखके लिये उससे संबद्ध दूसरे राष्ट्रोंका सुखी होना अनिवार्य है। इसलिये यदि यह मान लिया जाय, कि पशुओंका प्राकृतिक जीवन व्यष्टिप्रधान है और मनुष्योंका प्राकृतिक जीवन समष्टिप्रधान है तो असंगत नहीं है। लेकिन इतना मान लेनेपर भी किसी भी प्राणीका मूल उद्देश्य अपनी इच्छानुसार अपने जीवनको सुखी बनाना ही रहता है। मनुष्य भी एक प्राणी है, इस लिये इसका भी मूल उद्देश्य अपने जीवनको सुखमय बनाना ही है। इसी उद्देश्यसे वह समष्टिके साथ सहयोग करता है तथा समष्टिके सुखकी कामना भी वह करता है। और यहां तक कि इसी उद्देश्यसे वह समष्टिके सुखके लिये बड़ेसे बड़े कष्ट सहनेके लिये भी तैयार होजाता है। यही सबब है कि मानव-समाजमें स्वाभाविक तौर पर बुराइयोंके कीटाणुओंका अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य मालूम होता है; क्योंकि समष्टि जब व्यष्टिके अभिलषित अमन-चैनमें बाधक मालूम होने लगती है तो उस समय व्यष्टिके हृदयमें समष्टिके प्रति विद्रोहकी भावना जाग्रत हो जाया करती है। और इस तरह एक व्यक्ति अपने कुटुम्ब के साथ, एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्बोंके साथ, एक मुहल्ला दूसरे मुहल्लेके साथ, एक ग्राम दूसरे ग्रामोंके साथ, एक प्रान्त दूसरे प्रान्तोंके साथ और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंके साथ विद्रोह कर बैठते हैं। और इसीलिये अपने ही अपरिमित ऐश-आरामके लिये भाई-भाईमें, कुटुम्ब-कुटुम्बमें, ग्राम-ग्राम में, जाति-जातिमें, प्रान्त-प्रान्तमें और राष्ट्र-राष्ट्रमें न केवल पारस्परिक सहानुभूतिका अभाव ही रहता है बल्कि एक दूसरेको दबानेकी, कष्ट पहुंचानेकी जो कोशिश की जाती है वह इसीका परिणाम है। यहां तक कि जो वर्तमान विश्वयुद्ध होते हैं उनकी जड़ भी सिर्फ अपने ही ऐश-आरामकी अपरिमित चाह है।

प्राचीन समयमें मानव-समाजके सुखकी घातक ऐसी ही प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भारतवर्षके दूरदर्शी, तत्ववेत्ता महात्माओंने अपने अनुभव और विचार शक्तिके आधार पर अदृश्य आत्मतत्वकी खोज की थी। उनकी इस खोजका मूल उद्देश्य मानव समाजमें अमन-चैन कायम करनेके लिये उसके अन्तःकरणमें समष्टि-प्रधान जीवनके महत्वको

प्रस्थापित करना ही था, इसलिये इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये और साथ ही अपना इस खोजको सर्वाङ्गीण बनानेके लिये आत्माको संसार और मुक्तिकी विज्ञानपूर्ण व्यवस्थामें गूंथनेका सफल प्रयत्न करके आत्माके इन दोनों पहलुओं के आधारपर ही उन्होंने धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप और नीति-अनीतिके रूपमें मानवसमाजके कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन किया था। यह विवेचन इतना प्रभावपूर्ण और आकर्षक था कि अनात्मवादी तर्कशास्त्रियोंने भी मानवसमाजमें व्यवस्था कायम करनेके लिये "जिओ और जीने दो" के सिद्धान्तको अपनाना ठीक समझा था और उसीका यह परिणाम है कि भारतवर्ष आज भी दुनियाकी निगाहमें अध्यात्मप्रधान देश माना जाता है। दया, क्षमा, परोपकार, गुणज्ञता, कृतज्ञता, हार्दिक सहानुभूति आदि आध्यात्मिकताके ही प्रकाशमय अंश हैं। यद्यपि बाहिरी कालिमाओंने भारतवर्षकी इस आध्यात्मिक विभूतिको बहुत कुछ विकृत तथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया फिर भी इसका संस्कार भारतवर्षपर इतनी दृढ़ताके साथ जमा हुआ है कि समय-समयपर उसका प्रकाश अवश्य ही चमक उठता है। बंगाल तथा अन्य प्रान्तोंके दर्दनाक खाद्यसंकटके इस मौकेपर उसका प्रकट तेज ही असीम महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है, जो स्वार्थी और निर्दयी दुनियाके लोगोंको यह संकेत है कि अन्तमें तुम्हें भी अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये इसीकी शरण लेनी पड़ेगी, नहीं तो इसके बिना तुम लोग मर मिटोगे और दुनियामें तुम्हारे नामका निशान तक न रहेगा।

उल्लिखित आत्मतत्त्वकी खोजका एक फल जैनधर्म भी है। इसलिये जैनधर्ममें भी आत्माको स्वीकार करते हुये इस के बारेमें संसार और मुक्तिकी व्यवस्था बतलाई गयी है। तात्पर्य यह है, कि लोकके प्राणी अपनी-अपनी आकांक्षाके अनुसार अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये बाह्य पदार्थों में प्रीति और घृणाके आधारपर प्रवृत्ति करते हुए देखे जाते हैं। इनकी यह प्रवृत्ति अनुचित अर्थात् लोकहितके विरुद्ध और उचित अर्थात् लोकहितके अविरुद्ध हुआ करती है। दुनियाके कतिपय प्राणियों द्वारा अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये शक्तिके आधारपर दूसरे प्राणियोंके ऊपर अन्याय और अत्याचार करके उनके सुखी जीवनको नष्ट करनेका जो प्रयत्न किया जाता है उस प्रयत्नको लोकहितका विरोधी होनेके कारण अनुचित या अशुभ प्रवृत्ति कहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति करने वाले प्राणी हमेशा क्रूरता, निर्दयता, अहंकार, धूर्तता, स्वार्थलोलुपता, उच्छृङ्खलता और कृतघ्नता आदि दुर्गुणोंके शिकार रहा करते हैं और इनका लक्ष्य दूसरोंको उत्पीड़ित करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही रहता है। जैनधर्ममें ऐसे प्राणियोंको बहिरात्मा नाम दिया गया है। प्राणियों द्वारा दूसरे प्राणियोंके सुख-दुःखका ध्यान रखते हुए अपने जीवनको सुखी बनानेका जो प्रयत्न किया जाता है ऐसे प्रयत्नको लोकहितका विरोधी न होनेके कारण उचित या शुभ प्रवृत्ति कहते हैं। इस प्रवृत्तिको करने वाले प्राणी अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये कभी भी दूसरे प्राणियोंको उत्पीड़ित नहीं करते हैं; बल्कि वे अपनी आकांक्षाओंको दबाकर अपने जीवनको ही संयमित बनानेका प्रयत्न करते रहते हैं। जैन धर्ममें ऐसे प्राणियोंको अन्तरात्मा नाम दिया गया है।

इस विषयमें जैनधर्मकी मान्यता यह है कि—प्रत्येक प्राणीके शरीरके साथ आत्मा नामकी नित्य वस्तुका सम्बन्ध है और वह आत्मा नामकी वस्तु खानमें पड़े हुए विकृत सुवर्णके समान अनादि कालसे विकृत हो रहा है। एक वस्तुके स्वभावमें प्रतिकूल वस्तुके मिश्रणसे होने वाली तबदीलीका नाम विकार है। सुवर्णको खानसे बाहिर निकालनेपर उसमें मौजूद विकारका कारण पाषाणादिका सम्बन्ध स्पष्ट मालूम पड़ने लगता है, इसीलिये लोकमें सुवर्णको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है। आत्मामें भी विकारका कारण प्रतिकूल वस्तुका संबंध जिसे जैनधर्ममें कर्म-संज्ञा दी गयी है, अनादि कालसे स्वीकार किया गया है। लोकके प्राणियोंकी उल्लिखित शुभ-अशुभ प्रवृत्तिमें कारणभूत बाह्य पदार्थोंमें होने वाली प्रीति और घृणा इसी प्रतिकूल वस्तु अर्थात् कर्मके सम्बन्धसे पैदा होने वाले आत्माके विकारका ही परिणाम समझना चाहिये। इस विकारको जैनधर्ममें राग और द्वेष नाम दिये गये हैं। राग बाह्य पदार्थोंमें होने वाली प्रीतिका कारण है और द्वेष बाह्यपदार्थोंमें होने वाली घृणाका कारण है। इस तरहसे लोकके प्राणी रागके वशीभूत होकर दुनियाके अभीष्ट पदार्थों को अपनानेकी चेष्टा किया करते हैं और द्वेषके वशीभूत होकर वे दुनियाके अपने लिये अनिष्ट पदार्थोंको अपनेसे

अलग करनेका प्रयत्न किया करते हैं। प्राणियोंकी दुनियाके पदार्थोंको अपनाने और अलग करने रूप यह प्रवृत्ति कभी कभी तो लोकहितके विरुद्ध हुआ करती है और कभी-कभी लोकहितके अविरुद्ध हुआ करती हैं। इन दोनों तरहकी प्रवृत्तियोंमेंसे लोकहितके विरुद्ध होने वाली प्रवृत्तिका कारण कर्मके सम्बन्धसे होने वाला आत्माके स्वभावका विकार ही माना गया है और इसको जैनधर्ममें 'मोह' नाम दिया गया है। इस प्रकार लोकके प्राणी अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये राग, द्वेष और मोहके वशीभूत होकर ही लोकहित-विरोधी अन्याय, अत्याचार आदि अनर्थरूप अशुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। और जिन लोगोंका मोह-रूप आत्मविकार कमजोर पड़ जाता है या नष्ट होजाता है वे लोग राग और द्वेषके सद्भावमें पूर्वोक्त शुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं।

प्राणियोंकी अशुभ प्रवृत्ति और शुभ प्रवृत्तिके समान शुद्ध प्रवृत्तिको भी जैनधर्म मानता है और यह शुद्ध प्रवृत्ति जैनधर्मकी मान्यताके अनुसार मोहके बाद राग और द्वेषका भी अभाव हो जानेपर ही सम्भव है। इसका मतलब यह है कि निःस्वार्थ भावसे दूसरे प्राणियोंको सुखी बनानेका जो भी प्रयत्न किया जाय उसे शुद्ध प्रवृत्ति नाम दिया जा सकता है और ऐसा प्रयत्न उस हालतमें ही किया जा सकता है जब कि अपने जीवनके बारेमें प्राणीको निरीहता पैदा हो जाय। कोई भी व्यक्ति अपने जीवनके बारेमें निरीह तभी होसकता है जबकि उसका जीवन सुखसे परिपूर्ण हो। आचार्य कुन्दकुन्दका यह कथन कि "सबसे पहले अपना हित करो, इसके बाद ही यदि तुम दूसरोंका हित करनेमें समर्थ हो तो दूसरोंका भी हित करो"[१] इसी अर्थका पोषक है। तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्दके मतानुसार भी निःस्वार्थ भावनासे केवल दूसरोंके हितके लिये जो भी प्रवृत्ति की जा सकती है ऐसी प्रवृत्ति करने वाले व्यक्तिका इसके पहिले ही पूर्ण सुखी हो जाना आवश्यक है। पूर्ण सुखी होनेके लिये हमें अपनी जीवन-सम्बन्धी आकांक्षायें ही नष्ट करनी होंगी; कारण कि आकांक्षाओंकी पूर्तिसे हमें जो सुखानुभव हुआ करता है वह सुख स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें "पराधीन, अस्थायी, नाना प्रकारके दुःखोंसे घिरा हुआ और इच्छाओंकी वृद्धिका ही कारण होनेके सबब संक्लेशको ही पैदा किया करता है[२]।" इच्छाओंके अभाव-रूप संतोषसे हमें जो सुखानुभव हुआ करता है वह स्वतंत्र, स्थायी और निराबाध होनेकी वजहसे हमेशा शान्तिका ही कारण होता है। इसलिये ऐसा सुख इच्छाओंकी पूर्तिजन्य सुखसे कहीं बढ़कर माना गया है और इसीको जैन धर्ममें सच्चा सुख कहा गया है। लेकिन जब तक हमारी आत्मा कर्मपरतंत्र है तब तक यह सुख संभव नहीं हो सकता है; कारण कि आत्माकी कर्मपरतंत्रतासे प्राणी दुनियाके पदार्थोंमें राग, द्वेष और मोहके वशीभूत होकर प्रवृत्ति करता हुआ चौरासी लक्ष योनियोंमें जन्म और मरणको प्राप्त होकर कभी तो इच्छाओंकी पूर्तिसे होने वाले सुखका और कभी इच्छाओंकी पूर्ति न हो सकने पर होने वाले दुःखका ही सतत अनुभव किया करता है। इसीका नाम आत्मा का संसार है। इसको नष्ट करके आत्माकी स्वतन्त्र, स्वाभाविक और सदा आनन्दमय अवस्थाको प्राप्त करनेका ही जैनधर्ममें उपदेश दिया गया है। इस स्वतंत्र अर्थात् कर्मकी परतंत्रता से रहित, स्वाभाविक अर्थात् राग, द्वेष और मोहरूप विकारसे शून्य और सदा आनन्दमय अर्थात् निराकुलसुखपूर्ण अवस्थाका नाम ही मुक्ति है, जो व्यक्ति इस प्रकारकी मुक्तिको प्राप्त कर लेता है वही व्यक्ति दूसरे प्राणियोंकी कल्याणभावनासे प्रेरित होकर पूर्वोक्त शुद्ध प्रवृत्ति किया करता है, ऐसी प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्तिको जैनधर्ममें "जीवन्मुक्त परमात्मा" नाम दिया गया है। यह जीवन्मुक्त परमात्मा ही वर्तमान शरीरके छूटनेके बाद जैन-धर्मकी मान्यताके अनुसार पूर्ण मुक्त हो जाया करता है— अर्थात् फिर कभी भी वह पूर्वोक्त जन्म और मरणकी परम्परामें नहीं फँसता है।

जैनधर्मके समान सभी आध्यात्मिक धर्मोंमें संसार और मुक्तिकी प्रायः यही व्यवस्था बतलाई गयी है और संसारको नष्ट करके मुक्ति प्राप्तिका उपदेश देते हुए उसका मार्ग भी सभी धर्मोंमें बतलाया गया है। इस मार्गको सभी अध्यात्मवादियोंने 'धर्म' नाम दिया है। जैनधर्मने जो मार्ग बतलाया है और जिसे वह भी

१ आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ॥

२ कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखे····॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार

'धर्म' नामसे पुकारता है। उसे वह दो भागोंमें विभक्त कर देता है। एक निश्चय धर्म और दूसरा व्यवहार धर्म। तात्पर्य यह है कि किसी भी कार्यके लिये हमेशा दो प्रकार के कारणोंकी आवश्यकता रहा करती है। एक उपादान-कारण और दूसरा निमित्त-कारण। उपादानकारणको आत्मभूत या अन्तरंग और निमित्तकारणको अनात्मभूत या बहिरंग कारण भी कहते हैं। ये दोनों कारण जहाँ मिल जाते हैं वहाँ कार्य निष्पन्न हो जाता है और जहां इन दोनों कारणोंका या दोनोंमेंसे एकका अभाव रहता है वहां कार्य निष्पन्न नहीं होता है। लेकिन यह बात अवश्य है कि कहीं कहीं उपादानकारणकी मुख्यता और निमित्तकारण की गौणता रहते हुए कार्य निष्पन्न होता है और कहीं कहीं उपादान कारणकी गौणता और निमित्तकारणकी प्रधानता रहते हुए कार्य निष्पन्न होता है इसका मतलब यह है कि कहीं कहीं तो निमित्तकारण उपादानकारणका सहायक बन कर कार्य किया करता है और कहीं कहीं वह उपादानकारणका प्रेरक बनकर कार्य किया करता है। ऊपर जो मुक्तिके कारणभूत दो धर्मोंका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे पहिले अर्थात् निश्चयधर्मको मुक्तिका उपादान-आत्मभूत या अंतरंग कारण और दूसरे अर्थात् व्यवहारधर्म को निमित्त, अनात्मभूत या बहिरंग कारण समझना चाहिये। अंतरंग राग, द्वेष तथा मोहरूप परिणति और अपनी आकांक्षाओंको कम करना निश्चयधर्म माना गया है और इसमें सहायक अथवा इसके पोषक बाह्य आचरणोंको व्यवहारधर्म कहा गया है।

ये निश्चय और व्यवहार दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष होकर ही मुक्तिके साधक होसकते हैं। इसलिये जो व्यवहार-धर्मकी उपेक्षा करके मुक्ति प्राप्तिके लिये केवल निश्चयधर्म को पकड़नेकी कोशिश करते हैं, वे इसमें सफल नहीं हो सकते हैं और जो निश्चयधर्मकी ओर दुर्लक्ष्य करके केवल व्यवहारधर्मका अवलम्बन करके ही संतुष्ट हो जाते हैं, उनकी प्रयोजनसिद्धि भी उनसे दूर ही रहा करती है। इस लिये ऐसे लोगोंको धर्मात्मा न मानकर जैनधर्ममें ढोंगी, पाखंडी आदि नाम दिये गये हैं! इन दोनों धर्मोंमेंसे निश्चयधर्म नियत अर्थात् एकरूप और व्यवहारधर्म अनियत अर्थात् अनेकरूप रहता है।

इन दोनों धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले परार्थश्रुतके भी दो भेद होजाते हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहार-नय। व्यवहारधर्म-सापेक्ष निश्चयधर्मका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्यको निश्चयनय और निश्चयधर्म-सापेक्ष व्यवहारधर्मका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्यको व्यवहारनय समझना चाहिये। और इन दोनोंका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य और महावाक्यको परार्थप्रमाण या प्रमाणवाक्य और प्रमाण-महावाक्य समझना चाहिये। जो वाक्य अथवा महावाक्य केवल व्यवहारधर्म या केवल निश्चयधर्मका ही कथन करते हैं—एक दूसरे धर्मका निषेध नहीं करते हैं, तो ऐसी हालतमें वे वाक्य अथवा महावाक्य प्रमाण माने जायंगे। और यदि वे परस्परमें एक दूसरे धर्मका निषेध करते हैं, तो ऐसी हालत में वे प्रमाणाभास ही माने जायंगे। तात्पर्य यह है कि जब निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मोंका समुदायरूप इकाई ही मुक्तिरूप कार्यमें कारण मानी गयी है, तो ऐसी हालतमें ये दोनों धर्म इस इकाईके अंश ही सिद्ध होते हैं; लेकिन जब एक ही धर्मको मुक्तिका कारण कहा जाता है, तो इसका अर्थ यह होता है कि वह मुक्तिके कारणरूप इकाईका अंश नहीं है; बल्कि उस रूपमें वह स्वयं ही एक इकाई है। इसलिये इस प्रकारका कथन यदि दूसरे धर्मका विरोधक न होते हुए सिर्फ अपने प्रतिपाद्य धर्ममें मुक्तिरूप कार्यकी कारणताका विधान करता है, तो वह कथन प्रमाण माना जायगा। और यदि वह दूसरे धर्मका विरोधक होते हुए अपने प्रतिपाद्य धर्ममें ही मुक्तिरूप कार्यकी कारणताका विधान करता है तो वह कथन प्रमाणाभास माना जायगा। एक एक धर्मका स्वतंत्र स्वतंत्र प्रतिपादन करनेवाले ये वाक्य अथवा महा-वाक्य पूर्वोक्त प्रकारसे नय अथवा नयाभास नहीं माने जा सकते हैं। इस प्रकार द्रव्यांश और पर्यायांशका विवेचन करनेवाले पद, वाक्य और महावाक्योंकी तरह निश्चय और व्यवहारका विवेचन करनेवाले पद, वाक्य और महा-वाक्योंमें भी प्रमाण, प्रमाणाभास, नय और नयाभासका व्यवहार करना चाहिये।

यद्यपि प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त दोनों तरहके कारणोंकी आवश्यकता रहा करती है, इसलिये सभी कार्योंके इन कारणोंका प्रतिपादन करनेवाले पद, वाक्य

और महावाक्यको निश्चयनय और व्यवहारनय कहना असंगत नहीं है। फिर भी जैनधर्म प्रधानतया आध्यात्मिक धर्म होनेकी वजहसे उसके कथनका प्रतिपाद्य विषय लक्ष्यभूत आत्माकी मुक्तिके उपादान और निमित्त कारणभूत निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म ही रहे हैं। इसलिये इनका प्रतिपादन करनेवाले निश्चयनय और व्यवहारनयको "नयों का आध्यात्मिकवर्ग" नाम दिया है। और आध्यात्मिकतामें नयोंकी इस प्रक्रियाको अपनानेके सबब ही जैनधर्म दूसरे आध्यात्मिक धर्मोंके बीचमें अद्वितीय बनकर खड़ा हुआ है।

जैनधर्ममें आध्यात्मिक दृष्टिसे जिस प्रकार उपादान और निमित्तकारणोंको क्रमसे निश्चय और व्यवहार पदों का वाच्य स्वीकार करके इनका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्यको निश्चयनय और व्यवहारनय माना गया है उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिसे ही मुक्ति और उस के कारणोंमें कार्य और कारण, उद्देश्य और विधेय, प्राप्य और प्रापक तथा साध्य और साधनका भेद घटित करके इन मेंसे प्रथम अर्थात् कार्य, उद्देश्य, प्राप्य और साध्यको निश्चयपदका तथा द्वितीय अर्थात् कारण, विधेय, प्रापक और साधनको व्यवहारपदका वाच्य मानकर इनका प्रतिपादन करनेवाले पद, वाक्य और महावाक्योंको भी निश्चयनय और व्यवहारनय स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तुमें कार्यता आदिका व्यवहार दूसरी वस्तुमें विद्यमान कारणता आदिके अधीन है। इसी प्रकार एक वस्तु में कारणता आदिका व्यवहार दूसरी वस्तुमें विद्यमान कार्यता आदिके अधीन है इस तरह कार्य, उद्देश्य, प्राप्य और साध्यका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्य कारण, विधेय, प्रापक और साधनका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्यकी अपेक्षा रखते हैं और कारण, विधेय, प्रापक और साधनका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्य कार्य, उद्देश्य, प्राप्य और साध्यका प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्यकी अपेक्षा रखते हैं। इसलिये ऐसे पदों, वाक्यों और महावाक्योंको नयकोटिमें अन्तर्भूत किया गया है और चूंकि ये सब विभाग लक्ष्यसिद्धिमें ही प्रयोजक होते हैं, इसलिये इनको भी आध्यात्मिक वर्गमें ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। कारण कि जैनधर्ममें निश्चयनय और व्यवहारनयका विभाग जहां कहीं भी किया गया हो वह सब आध्यात्मिक दृष्टिसे ही किया है। इन सभी कथनोंमें प्रमाण, प्रमाणाभास, नय और नयाभासकी प्रक्रिया घटित की जा सकती है। लेखका कलेवर बढ़ जानेके सबब अनावश्यक समझकर यहांपर इसका विवेचन नहीं किया गया है।

आत्मा और शरीरादिकमें आध्यात्मिक दृष्टिसे ही स्व और परका भेद करके स्वको नित्य और सत् तथा परको अनित्य और असत् बतलाया गया है। तथा स्व—अर्थात् आत्माको नित्य और सत् होनेकी वजहसे उपादेय और पर-अर्थात् शरीरादिकको अनित्य और असत् होनेकी वजहसे त्याज्य बतलाया गया है। यहाँपर नित्यका अर्थ ही सत् और अनित्यका अर्थ ही असत् समझना चाहिये। चूंकि आत्मा जन्म-जन्मान्तरमें भिन्न २ शरीर धारण करते हुए भी एक रहता है, इसलिये नित्य माना गया है और शरीरादिक बदलते रहते हैं, इसलिये अनित्य माने गये हैं। इन अनित्य और असत् शरीरादिकके संयोगमें ही आत्मामें मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका व्यवहार होता है। आत्मामें बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाओंका व्यवहार भी शरीराश्रित है। इसी तरह जन्म और मरण भी शरीराश्रित ही है; कारण कि नित्य आत्माकी ये सब अनित्य, स्थूल अवस्थायें स्वीकार नहीं की जा सकती हैं। इसलिये इन सब अवस्थाओं को जो आत्माकी अवस्थायें स्वीकार किया गया है इसको व्यवहारनय माना गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में एक तो स्वतंत्र स्वाभाविक धर्म रहता है और एक आरोपित धर्म भी उसमें रहा करता है। लोक व्यवहारकी दृष्टिसे भी वस्तुमें स्वाभाविक और आरोपित धर्मोंके विभाजनकी आवश्यकता रहा करती है। ये आरोपित धर्म चूंकि पराश्रित होते हैं इसलिये इन्हें व्यवहारनयका प्रतिपाद्य विषय माना गया है और स्वाभाविक धर्म चूंकि स्वाश्रित रहा करते हैं इसलिये इन्हें निश्चयनयका विषय माना गया है। तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक धर्मको निश्चयपद का और पराश्रित धर्मको व्यवहारपदका वाच्य स्वीकार किया गया है। इसलिये इनका प्रतिपादन करनेवाले वचनों को भी क्रमसे निश्चयनय और व्यवहारनय कहा गया है।

इस कथनसे यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है कि नयोंका द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकरूपसे जो विभाजन

किया गया है वह सैद्धान्तिक दृष्टिसे किया गया है। तथा निश्चय और व्यवहाररूपमें जो विभाजन किया गया है वह आध्यात्मिकदृष्टिसे किया गया है——अर्थात् द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयरूप विभाग वस्तुस्वरूप ज्ञानके लिये उपयोगी है और निश्चयनय तथा व्यवहारनयरूप विभाग लक्ष्यसिद्धिके लिये उपयोगी है; परन्तु इन दोनोंके भेदको न समझ सकनेके कारण कहीं कहीं द्रव्यार्थिकनयको निश्चयनय और निश्चयनयको द्रव्यार्थिकनय, इसीतरह पर्यायार्थिकनयको व्यवहारनय और व्यवहारनयको पर्यायार्थिकनय भी मान लिया गया है, जो कि गलत है। लेकिन इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि यदि आध्यात्मिकदृष्टिसे वस्तुके द्रव्यांशको निश्चयपद-वाच्य और वस्तुके पर्यायांशको व्यवहारपद-वाच्य मान लिया जाय तो उस हालतमें वस्तुका द्रव्यांश निश्चयनयका विषय और वस्तुका पर्यायांश व्यवहारनयका विषय अवश्य हो सकता है। और इस तरह यदि सैद्धान्तिक दृष्टिसे पूर्वोक्त प्रकारके निश्चयधर्मको द्रव्यांश और व्यवहारधर्मको पर्यायांश स्वीकार किया जाय तो उस हालतमें निश्चयधर्म द्रव्यार्थिकनयका विषय और व्यवहारधर्म पर्यायार्थिक नयका विषय अवश्य हो सकता है, लेकिन इतनेमात्रसे दोनों दृष्टियां कभी एक नहीं मानी जा सकती हैं। इसलिये भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे प्रतिपादित 'नयोंका सैद्धान्तिक वर्ग' और 'आध्यात्मिक वर्ग' ये दोनों वर्ग भी किसी हालतमें एक नहीं माने जा सकते हैं।

(क्रमशः)

यदि तुम्हारा प्यार होता !

[श्री 'भगवत' जैन]

यदि तुम्हारा प्यार होता !
तो नहीं मेरे हृदयपर, वासनाका भार होता !!

भग्न हो जातीं व्यथाएँ !
टूट उठतीं शृंखलाएँ !!
कालिमा पुँछती, हृदयमें—
ज्योतिका संचार होता !!
दुख नहीं मुझको रुलाता !
सुख न मतवाला बनाता !!
उदित होता ज्ञान, क्षण-क्षण—
पापका परिहार होता !!
विश्व-धारामें न बहता !
साधनामें मग्न रहता !!
आत्म-बलके जागनेपर—
मुक्तिका अधिकार होता !!
नव्य-सुख, नव-ज्योतिमण्डित,
भव्यतर, अतुलित, अखण्डित;
मैं जहाँ विश्राम पाता—
वह नया—संसार होता !!
यदि तुम्हारा प्यार होता !!

हम तुमको विभु कब पाएँगे !

(श्री 'हीरक' जैन, काशी)

हम तुमको कब विभु पाएँगे !
अपनी स्वतंत्रता पानेको बाधासे कब टकराएँगे !

सुलझेगा कब गोरखधंधा ,
जीवन——प्रयाणकी वेलामें——
कब मुक्ति लगाएगी कंधा ,
अपनी खेतोंकी सीमामें, वो अमृतफल कब पाएँगे!

निज ज्ञान—नयनसे ओझल हम——
अज्ञान – अंधमें महाप्रबल——
भूली सत्ताका कहीं कहीं——
आभास लिये कब जीवनमें, कल्याणरूप बन जाएँगे!

संघर्ष परस्परमें सुखकर——
दो पाप——पुण्यकी मायाका——
अन्तिमताका आधार लिये
कब देखेंगे बन अचलरूप,
सद्ध्यान शुक्लको ध्याएँगे !

नाग-सभ्यताकी भारतको देन

(लेखक — श्री बाबू ज्योतिप्रसाद जैन विशारद, एम० ए०, एल० एल० बी०)

'नाग' शब्दसे हमारा अभिप्राय पशुओंकी सर्प-जाति से या पाताललोक-निवासी भवनवासी नागकुमारों अथवा तीर्थङ्करोंके शासनदेवता यक्ष-यक्षियोंमेंसे किसीसे नहीं है।

नागजाति, जिसकी भारतीय सभ्यताको देन प्रस्तुत लेखका विषय है, प्राचीन भारतकी एक सुसभ्य मानव-जाति थी। आज मनुष्योंकी उस प्रसिद्ध नागजातिका प्रकटरूपमें नामशेष हो गया और साथ ही साथ उसकी स्मृतिका भी लोप हो गया है। इने-गिने ही व्यक्ति कदाचित् इस बातको जानते हैं कि 'नाग' नामक एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक भारतीय मनुष्यजाति थी, जिसने कि इतिहासकालमें ही प्रबल साम्राज्य स्थापित किये और जिसके राज्योंकी सत्ता मध्ययुग तक किसी न किसी रूपमें बराबर बनी रही। आज भी अनेक रूपोंमें नाग-सभ्यताके अवशेष हमें उपलब्ध हैं—भले ही हम उनका महत्व मूलार्थ तथा उद्गम भूल गये हों।

'नाग-भाषा'को ही लीजिये, मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के नवम्बर सन् १९४२ के अंकमें इसी शीर्षकसे एक लेख छपा है। उस लेखमें विद्वान् लेखकने कतिपय प्रमाणोंसे यह तो निष्कर्ष निकाल लिया कि प्राकृत भाषाका ही दूसरा नाम नागभाषा था और सम्भवतः पिछली शताब्दीके मध्य तक उसका चलन भी रहा, किन्तु यह उनकी समझमें न आया कि प्राकृतका नाम नागभाषा कैसे पड़ा। यह गुत्थी उन्होंने अन्य विद्वानोंको सुलझानेके लिये छोड़ दी है।

जून सन् १८७७ ई० में स्व० भारतेन्दुजीने हिन्दी-वर्द्धिनी सभा प्रयागके अधिवेशनमें भाषण देते हुए कहा था "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि खड़ी बोली पश्चिमी भाषाओं, वृजभाषा और पञ्जाबी आदिसे बिगड़कर बनी है, पर इन भाषाओंका भी मूल नागभाषा रहा होगा।"

भिखारीदासजीने षड्भाषाओंमें, वृज, मागधी संस्कृत, यावनीके साथ साथ नागभाषाकी भी गणना की है। सुजानचरित्रमें कवि सूदनजीने 'सर्पवाणी' का संस्कृतसे भिन्न उल्लेख किया है। अरबी ग्रन्थ 'तोहफ़तुल्हिन्द' में मिर्ज़ा खां साहिबने लिखा है कि—'प्राकृत दूसरी भाषा है, इसका प्रयोग राजा मन्त्री और सामन्तोंकी प्रशंसामें होता है। यह पाताल लोककी भाषा है और इसे पाताल-वाणी या नागभाषा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नीचे दर्जेके आदमी इसका व्यवहार करते हैं।'

ईस्टइंडिया कम्पनीके एम० मार्टिन साहिबने अपने ग्रंथ ईस्ट इंडिया भाग तीसरेमें नागभाषाके विषयमें लिखा है कि—'रावण वाली लंकाकी भाषा प्राकृत है और पाताल लोककी नागभाषा है।' मार्टिन साहबको इस भाषामें पिंगल शास्त्रपर भी एक ग्रन्थ मिला है, जिसकी टीका देवभाषा संस्कृतमें की गई है। उन्होंने लिखा है कि यह भाषा पिंगलकी भाषा है और संस्कृत-कवि इसका प्रयोग अपनी कल्पनाकी अभिव्यक्तिमें करते हैं।

फ़ार्बेस आदि पुराने यूरोपियन कोषकारोंने भी नाग-भाषाका अर्थ प्राकृतभाषा किया है। किन्तु नये भारतीय कोषकारोंने इसका कहीं उल्लेख तक नहीं किया।

प्राकृतके अतिरिक्त अपभ्रंश भाषाके लिये भी नाग-भाषा शब्द प्रयुक्त होता रहा है। वैयाकरणी मारकंडेयने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' ग्रन्थमें अपभ्रंश भाषाके नागर, उपनागर और ब्राचड—ये तीन भेद गिनाये हैं। और अपभ्रंश भाषाविशेषज्ञ प्रो० हीरालालजीके अनुसार अपभ्रंशका वह विशेषभेद जो शौरसेनी-महाराष्ट्रीमिश्रित अपभ्रंश था 'नागर' नामसे विख्यात था। यह अपभ्रंश भाषाका वह भेद है जिसकी सर्वाधिक साहित्यिक उन्नति हुई और प्रो० हीरालालजीके मतानुसार जिसके उपलब्ध साहित्यका लगभग तीन चौथाई जैन है।

भाषा-विज्ञान-वेत्ताओंसे यह बात छुपी नहीं है कि भगवान पार्श्व और महावीर व बुद्धके समयसे ही भारतवर्ष-

के जनसाधारणमें जिस भाषाका चलन था वह प्राकृतभाषा ही थी। और मध्यकालमें प्राकृतके ही शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि भिन्न भिन्नरूप तत्सम्बन्धित अपभ्रंशोंमें परिवर्तित होगये, और उक्त विविध अपभ्रंशोंके ही विकसितरूप हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि आधुनिक देशभाषाएँ हैं। अस्तु।

यह तो निर्विवाद है कि प्राकृत और बादको अपभ्रंश भी दोनों 'नाग' तथा 'नागर' नामोंसे प्रसिद्ध रहीं और लगभग तीन हज़ार वर्षसे लगातार पिछली शताब्दी तक अपने भिन्न भिन्न रूपोंमें समस्त भारतवर्षके जनसाधारण की भाषाएँ रही हैं।

किन्तु जैसा कि विद्वानोंका अनुमान है, नागभाषा न सर्पों (पशु) की भाषा है, न देवों-देवताओंकी, न पाताल-लोककी और न केवल नागद्वीप (लंका) की, यह भाषा न केवल नीचे दर्जेके मनुष्योंकी ही भाषा थी और न मात्र नागरों (चतुरों) या नागरिकोंकी ही। बल्कि इन भाषाओं के 'नाग' नामसे प्रसिद्ध होनेका कारण तो यह है कि भारतीय इतिहासमें एक दीर्घ काल तक नाग-नामक एक मुसभ्य मानव जातिका ऐसा प्रभुत्व और प्रभाव रहा है जिसके फलस्वरूप देश अथवा राष्ट्रकी भाषा नागभाषा नामसे प्रसिद्ध होगई।

इतना ही नहीं, ईस्वी सन्की तीसरी चौथी शताब्दीमें उत्पन्न माथेबन्द लिपि, जिसने शीघ्र ही प्राचीन ब्राह्मी लिपिका स्थान ले लिया, और जो नागरी लिपिके नामसे प्रसिद्ध हुई, इन्हीं 'नाग-लोगों' की उपज थी ऐसा स्व० बैरिस्टर श्री जायसवालजीका मत है।

वास्तवमें जिस प्रकार देवभाषा संस्कृतसे भिन्न सर्व-साधारणकी और विशेषतया जैनोंकी भाषा प्राकृतको नाग-भाषा नाम दिया गया उसी प्रकार उन्हींकी नागरी लिपि को ब्राह्मणधर्मानुयायी जबसे अपनी देवभाषा संस्कृतके लिये प्रयुक्त करने लगे तभीसे उसकी प्रसिद्धि देवनागरी लिपिके नामसे होगई।

भाषा और लिपिके अतिरिक्त ऊँची चोटी वाले शिखरबन्द मन्दिर जिस 'नागर-शैली' के नामसे प्रसिद्ध हैं स्थापत्य-कलाकी उस शैलीके जन्मदाता भी नागलोग ही थे।

स्व० श्री जायसवालजीके मतसे तो नगर, नागर, नागरिकता आदि शब्दोंका श्रेय भी नागजातिको ही है। और नागपुर, अहिच्छत्र, नागनादुक, नागपट्टिनम्, उरगपुर, पातालपुरी, फणिमंडल, फणिपुर, पद्मावतीपुर नगर, नगरकोट, तक्षशिला आदि नागसूचक बस्तियोंके नाम तो प्रत्यक्ष ही अपना सम्बन्ध उक्त नागजातिसे सूचित करते हैं। उक्त नागजातिका स्मारक 'नाग-पंचमी' नामक त्यौहार आज भी भारतीय समाजमें प्रचलित है।

भारतीय अनुश्रुतिकी तीनों प्रधान धाराएँ—अर्थात् जैन, हिन्दू और बौद्ध—नागवंशों, नागराज्यों, नागकुमारों, और नागकन्याओंके विवरणोंसे भरी पड़ी हैं। जैनोंके नाग-कुमारचरित्र और हिन्दुओंका नागपुराण तो उक्त विषयके स्वतंत्र ग्रन्थ ही हैं।

यों तो भगवान् आदिनाथके समयसे ही नागोंका नामोल्लेख मिलता है, किन्तु भगवान सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथकी जीवन-संबंधी घटनाओंके साथ तो नागोंका विशेष और घनिष्ट सम्पर्क रहा है। इधर ऐतिहासिक कालमें प्रारम्भसे ही—अर्थात् महाभारत-युद्धके बादसे ही—नागों की सत्ता उत्तरोत्तर प्रबल होती दीख पड़ती है और लगभग ईस्वी सन् पूर्व १००० से ईस्वी सन् ५०० तक भारतीय इतिहासमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपसे नाग-वंशों और नाग-राज्योंका ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनका निवास और इनके राज्य भारतव्यापी थे—उत्तरमें तक्ष-शिलासे दक्षिणमें लंकापर्यन्त और पश्चिममें सिन्धुप्रान्तसे पूर्वमें बंगालपर्यन्त नागोंकी सत्ता और प्रभावके चिन्ह आज भी उपलब्ध होते हैं।

भारतके प्राचीन इतिहासमें आन्ध्र साम्राज्यके अस्त और गुप्त साम्राज्यके उदयके बीच लगभग दो सौ वर्षका समय अन्धकार-युग समझा जाता था। स्व० बैरिस्टर जायसवालजीने अपने ग्रन्थ 'अन्धकारयुगीन भारत'–नाग व कारकयुग (१५०–३५० ई०) में यह भली भाँति सिद्ध कर दिया कि उस बीचमें भारतवर्षमें प्रबल नाग-साम्राज्य की स्थापना हुई थी और कुशन साम्राज्याभिलिप्साके अन्त करनेका श्रेय नागजातिको ही है तथा उन्हींसे गुप्तराजोंको भारतीय साम्राज्यका उत्तराधिकार मिला।

इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि नागजाति धर्म और संस्कृतिकी अपेक्षा सदैवसे अवैदिक रही और अनेक विद्वानों के मतसे तो वह एक प्राग्वैदिक 'अनार्य' भारतीय जाति थी। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि जैनधर्मके साथ उक्त नागजातिका एक दीर्घकालीन और घनिष्ट संबंध रहा है। नाग-भाषा, नागरी लिपि, नागर शैली आदि, जिन्हें भारतीय समाजमें जैनोंने ही विशेषकर आरम्भसे और अन्त तक अपनाया, इस बातके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अनेक जैनाचार्य और महापुरुषोंने नागवंशमें ही जन्म लिया था, इस अनुमानके लिये भी प्रबल कारण उपलब्ध हैं।

वास्तवमें नागजातिका इतिहास और जैनधर्मके साथ उक्त जातिका संबंध तथा किन किन आचार्यों और महापुरुषोंके इतिहासपर उक्त सम्बन्धसे क्या प्रकाश पड़ता है इत्यादि स्वतंत्र लेखोंके विषय हैं, जो यथासमय प्रकाशित होंगे। प्रस्तुत लेखमें तो मात्र यह दिग्दर्शन कराना था कि नागजाति भारतीय इतिहासकी एक प्रसिद्ध भारतीय मानव जाति रही है, उसकी सभ्यता बहुत कुछ बढ़ी चढ़ी थी जिसके स्मारक और अवशेष भारतीय सभ्यताके अभिन्न और प्रशंसनीय अङ्ग हैं, भले ही भारतवासियोंके हृदयसे उक्त जातिकी स्मृति भी आज लोप होगई हो।

लखनऊ, ता० १५-१२-४३

कौनसा क्या गीत गाऊँ ?

[ओमप्रकाश 'आकुल']

कौनसा क्या गीत गाऊँ ?

या हृदयकी वेदनाओंको दृगोंद्वारा बहाऊँ !

आज हैं उद्‌गार कुन्ठित और नीरव भाव मेरे !
विश्वके वरदान बन अभिशाप मुझको आज घेरे !
किस तरह हृत्तंत्री-तारोंमें मधुर झंकार लाऊँ !

दग्ध-उपवन-कुञ्ज-पुञ्जोंमें मदिर संगीत कैसा ?
त्रस्त विहगोंके स्वरोंमें हाँ, प्रफुल्लित गीत कैसा ?
औ' विषादिनि कोकिलाके कण्ठमें क्या तान पाऊँ !

ढालते थे प्यारको जो-हा ! वही नयना बरसते !
मञ्जु-मानसमें अनेकों-भाव रह रहकर तरसते !
कौनसी प्रिय साधना है, जो इन्हें रोते हँसाऊँ ?

एक रोटीके लिये मरते हुओंका आह क्रन्दन !
होरहा विश्वस्थलीपर दानवोंका नग्न नर्तन ॥
फिर भला मैं किस तरह 'आकुल' सुमंगल गान गाऊँ !!
कौनसा क्या गीत गाऊँ ?

सलाह

[श्री शरदकुमार मिश्र 'शरद']

दो दिन हैं, भवसागर तरले !!

एक दिन आना, एक दिन जाना;
इसपर है क्यों इतराना ?
अपने उरमें साहस भर कर, पाप-पुण्यका मन्थन करले !

मोह--मायाकी झिलमिलतामें--
सुध-बुध खोकर नश्वरतामें !
पागल बनकर भटक रहा क्यों? अपने पथको सोचसमझले !

जिस सुन्दरतापर तू मोहित,
वह क्षणभंगुर है कलिका-सी !
मायाका यह जाल अनोखा, इससे बचकर साफ निकलले !

लख-चौरासी जून भटककर,
तूने पाई यह नर काया !
मूरख फिर भी भटक रहा क्यों नर होकर नारायण भजले !

भूलभुलैयाके झंझटमें —
खो मत देना यह शुभ अवसर !
फिर पछताए हाथ न आए, जो कुछ करना हो अब करले !
दो दिन हैं, भवसागर तरले !!

आत्म-शक्तिका माहात्म्य

(लेखक—बा० चन्दगीराम जैन, 'विद्यार्थी')

संसारमें हम दो शक्तियाँ देखते हैं—शारीरिक और आत्मिक। शारीरिक शक्तिको पशुबल अथवा असुरबलकी संज्ञा भी दी जा सकती है।

आज केवल लोगोंने आत्मिकबलके महत्वको भुलाकर पशुबलको प्राप्त करना ही अपने जीवनका ध्येय समझ रक्खा है। आजका संसार सच्चे हीरेको छोड़कर काँचके टुकड़ेकी ओर आकर्षित होरहा है। जितना सम्मान आज पशुबलको प्राप्त है, उसका वह क़तई पात्र नहीं है। पशुबल जब कुछ ही मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित कर सकता है तब आत्मिक बलसे हम संसारके हृदय-पटलपर अपना आधिपत्य जमा सकते हैं। आत्मिकबलसे इस लोकको ही नहीं, परलोकको भी हम अपने वशमें कर सकते हैं। इहलौकिक तथा पारलौकिक ऐसी कोई सामग्री नहीं, जो आत्मिकबलसे उपलब्ध न होसके।

अतएव हमें आत्मिक-शक्तिको अपनाना चाहिए और आत्म-देवका ही आराधन करना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

'आतम देवहु पूजौ भाई'।

आत्म-देवके आराधनसे ही हम इस अगाध संसारसे पार हो सकते हैं। जिसे हम परमात्मा कहते हैं, असलमें वह हमारी आत्माका ही दूसरा रूप है, आत्मिक शक्तिकी ही सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वोच्च दशा है। 'आत्माकी परम स्वच्छ तथा निर्मल अवस्थाका ही नाम परमात्मा है'।

बहुतसे मनुष्य व साधु अपनी प्रशंसाके लिये नाना भेष बनाते हैं और भाँति भांतिके प्रपञ्च रचते हैं। संसार-दिखावेके लिए महाहिंसाजनक पंचाग्नि आदि तप तपते हैं। घोरसे घोर पाप कर्म करनेसे नहीं हिचकते। मार्गमें जहाँ मनुष्योंका आना-जाना अधिक हो वहां आसन लगाकर बैठ जाते हैं ताकि लोग उनकी प्रशंसा करें और उन्हें भक्त कहकर पुकारें। वे अपने हृदयमें आत्म-कल्याणकी उच्च भावनाको स्थान नहीं देते। उनको अपनी आत्मशक्तिका भान नहीं। बाह्य आडम्बरोंमें ही उन्हें कल्याण-मार्ग दृष्टिगोचर होता है। यह उनकी बड़ी भारी भूल है।

बहुतसे मूर्ख केवल शरीरको ही धोने मांजनेमें लगे रहते हैं, शरीरकी पूजा करना ही अपना धर्म समझते हैं और गङ्गा यमुनादि नदियों तथा कूप आदिमें स्नान करनेको ही आत्म-कल्याणका मार्ग समझते हैं। परन्तु वे अपनी आत्म-शक्तिके प्रति उदासीन हैं। शरीर-सम्बन्धी क्रियाएँ ही उनके लिए सब कुछ हैं। ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके कबीरजी कहते हैं—

न्हाये धोये क्या भया, जो मनका मैल न जाय।
मीन सदा जलमें रहे, धोये बास न जाय॥

आत्मिक शक्तिकी व्याख्या करना बहुत ही कठिन काम है। प्राचीन समयमें हमारे ऋषि, महात्मा इसके महत्वसे भली प्रकार परिचित थे। उनके अन्दर आत्मिक शक्ति कूट कूटकर भरी हुई होती थी। इसी लिए यह एक साधारण सी बात थी कि उनकी मनःशक्ति भी अत्यन्त सबल और सुदृढ़ होती थी। मनःशक्ति असलमें आत्मिक शक्तिके ही आश्रय जीवित रहती है। जिसमें जितना आत्मिक शक्तिका बाहुल्य होगा, उसकी मनःशक्ति उतनी ही अधिक सबल और सुदृढ़ होगी। केवल इस मनःशक्तिके द्वारा ही हमारे ऋषि मुनि ऐसे अद्भुत कार्य करते थे, जिन्हें हम दूसरे शब्दोंमें दैवी कार्योंकी संज्ञा देते हैं और जिनका विशद विवेचन हमारे पुराण आदि धर्मग्रन्थोंमें मिलता है। आज कलके नवीन सभ्यताके अन्धे

पुजारी बहुतसे नर-कपि उन्हें केवल कोरी गप्प या सफेद झूठ ही समझते हैं। प्रत्येक बातको बिना सोचे समझे गप्प कह डालनेसे वे जरा भी नहीं हिचकते। परन्तु यह उनकी नासमझी है। इस विषयको समझनेके लिए बुद्धिकी आवश्यकता है, जो लोग बुद्धिका दखल देना ही अशुभ समझते हैं वे आत्मिक शक्तिके महत्वको क्या समझें ? अतः शनःशक्तिके कुछ आश्चर्यजनक प्रयोग एक विश्वासपात्र-माननीय ग्रंथसे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिससे नवीन सभ्यताभिमानियोंकी आंखें खुल जायें और वे जान सकें कि साधारण भी मनःशक्तिके प्रयोग ही जब हमें आश्चर्य-चकित कर सकते हैं, तो आत्मशक्तिकी तो बात ही क्या ? आत्मिकशक्तिके द्वारा तो, यदि मैं अत्युक्तिपर नहीं हूँ, असम्भवको भी सम्भव बनाया जासकता है। अच्छा आइए—मनःशक्तिके कुछ प्रयोग देखिए—

अर्बी वैद्य एवीसेना लिखते हैं—"एक मनुष्य अपनी मनःशक्ति द्वारा अपने शरीरके चाहे जिस स्नायुको जड़ बना सकता था।"

सीनीका कहना है—"एक मनुष्यका जीव उसके शरीरसे बाहर निकलकर, इच्छानुसार स्थानोंमें भ्रमण करके, फिर उसके शरीरमें लौट आता था। और फिर उन स्थानोंका वर्णन करता, जिन्हें कि उसके जीवात्माने देखा था।"

यङ्गस्टीलिङ्ग लिखते हैं—"एक अमेरिकन अपनी मनःशक्ति द्वारा दूर दूरके स्थानोंमें तत्काल चला जाता था और उसका शरीर शवके रूपमें वहीं पड़ा रहता था। एक जहाजका कप्तान कहीं चला गया था और बहुत दिनों तक नहीं लौटा। उस कप्तानकी स्त्री ने इस पुरुषसे अपने पतिका वृत्तान्त पूछा। वह पुरुष तत्काल ही पास वाली कोठरीमें गया और वहाँ पहुँचकर उसने अपने शरीरको मूर्छित कर दिया। कुछ देर बाद वह जागृत हुआ और कहा कि मैं लन्दन गया था और तुम्हारे पतिसे मिला था। उसने कहा कि मैं अब जल्दी ही वापस लौटूंगा। जब उसका पति लौट आया तब उसने उस सिद्ध पुरुषको देखकर कहा कि यह पुरुष मुझे अमुक दिन लन्दनमें मिला था। उसके पतिकी बताई हुई तारीख ठीक उस दिन तथा समयसे मिलती थी, जिस दिन कि उसने उसके पतिका सन्देश सुनाया था।"

यङ्गस्टीलिङ्ग फिर लिखते हैं—"सन १७५६ ई० के सितम्बर महीनेके आखीर सप्ताहमें, स्विडनवर्ग एक दिन सायंकालके चार बजे इङ्गलैंडसे आया और गोथेनवर्गमें ठहरा। मायङ्कालके समय स्वीडनवर्ग बाहर गया और उदासमुँह वापस लौट आया। इस समय वह मि० स्टेकलके यहाँ भोजन करने गया था, किन्तु दिल भोजनमें नहीं लगता था। इस व्याकुलता का कारण पूछनेपर उसने कहा—स्टाकहोममें आग लगी हुई है और धीरे-धीरे भीषणरूप धारण करती जा रही है। उस जगहसे स्टाकहोम दोसौ मीलकी दूरीपर था। वह बहुत घबरा गया और बारम्बार बाहर जाता और भीतर आता। उसने कहा कि इस समय मेरे एक मित्रके घरमें आग लगी हुई है और उसका घर जलकर राख हो गया है। अब आग मेरे घरके पास पहुँच चुकी है। रातके आठ बजे वह फिर घरसे बाहर गया और अत्यन्त प्रसन्नमुखसे लौटा और बोला—ईश्वरकी बड़ी कृपा हुई, अब आग बुझ चुकी है। मेरा घर जलनेमें एक घर ही बीचमें था। तीसरे दिन स्टाकहोमसे आग लगनेकी खबर लेकर एक आदमी आया। उस आदमीका कथन और स्विडनवर्गकी बातें अक्षर-अक्षर मिलीं।"

इङ्गलैंडमें जार्ज केट्लिनने अफ्रिकाके आए हुए एक सिंहको मनःशक्तिसे अपने वशमें कर लिया था। सिंह बड़ा ही खूंख्वार था और हालमें ही वनसे पकड़कर लाया गया था। लोगोंने उनको सिंहके पिंजरेमें घुसकर उसपर अपना अधिकार जमानेके लिए पन्द्रह लाख रुपयोंकी शर्त बदी था। अन्तमें निश्चित तिथि पर लन्दनके बड़े २ आदमी निर्दिष्ट स्थानपर आगए। वहाँ जार्ज केट्लिनने पिंजरेके निकट जाकर सिंहपर टकटकी लगाकर देखना आरम्भ किया। सिंहकी आँखें मिचने लगीं। ऐसी दशामें उसने पिंजरेका फाटक खोला। सिंहपरसे दृष्टि हट गई थीं; अतएव

सिंहने दिलको दहलाने वाली घोर गर्जना की और पिंजरेमें क्रोधपूर्वक झूमने लगा। जार्ज केट्लिन उसके पिंजरेमें घुस गए। सिंहकी आंखें मिच गई थीं, परन्तु उसने केट्लिनकी तरफ मुँह फाड़ा और घोर गर्जना की। तब उन्होंने उसकी नाकपर चाबुक मारा और जोरसे डाटकर कहा—'चुप'। इतनेमें सिंहने उनकी तरफसे मुँह फेर लिया। जार्ज केट्लिनने चाबुकसे चारों ओर एक गोल रेखा बनाई और सिंह ने उनकी आज्ञानुसार उस रेखापर गोल चक्कर लगाया। उसके पश्चात् वह पिंजरेसे बाहर निकल आए और द्वार बन्द कर दिया।

आशा है कि इन उदाहरणोंको पढ़कर पाठकोंके हृदयमें आत्मिक शक्तिके महत्वकी कुछ जाँच हो जायगी—विश्वासको स्थान मिलेगा। शारीरिक शक्ति से इस शक्तिका दर्जा बहुत ऊँचा है। शारीरिक महा-शक्ति वह कार्य नहीं कर सकती, जो साधारण सी आत्मिक शक्तिके द्वारा सुगमतासे किया जासकता है।

आजकल तो विद्वान् कहे जाने वाले ऐसे व्यक्ति भी पैदा होगए हैं जो 'आत्मा' के अस्तित्वसे ही इन्कार करने लग गए हैं। उनकी दृष्टिमें आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, धर्म, कर्म केवल लोगोंको बहकानेकी चीजें है—ढोंगमात्र हैं। यह है विद्वत्ताके नामपर बुद्धिका दीवाला। अनुभव-शक्तिका सर्वथा अभाव।

राष्ट्रीय जगतमें हलचल मचाने वाले महात्मा गाँधीने विश्वको दिखला दिया है कि आत्मिक बलसे अकेला मनुष्य एक बड़ीसे बड़ी शक्तिको कंपायमान कर सकता है और संसारको अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

आत्मिक शक्तिकी महत्ताको समझनेमें सन्देह न बना रहे, इसी लिये आत्मशक्तिसे घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाले कुछ योगके चमत्कार पाठकोंके सन्मुख और रखनेका प्रयास किया जाता है। आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि फिर आत्मशक्तिके प्रति निर्बल तथा संकुचित विचारोंके लिये कोई स्थान ही न रहेगा।

अगस्त सन् १९३८ ई० की 'माधुरी'-मासिक पत्रिकामें जो लखनऊसे निकलती है, "तिब्बतकी कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाएँ" शीर्षकसे एक लेख देखनेको मिला। जिसको संक्षेपतः पाठकोंके ज्ञानार्थ दिया जाता है। यदि विस्तारसे देखना हो, तो उस वर्षकी अगस्त मासकी 'माधुरी' देखनेका कष्ट उठावें।

इस लेखमें श्रीमती 'एलेक्जण्ड्रा डेविड नील' ने जिनकी मातृभाषा फ्रेंच है, अपनी उसी वर्षकी तिब्बत यात्राका वर्णन किया है। आप एक बड़ी विदुषी स्त्री हैं। आपका वृत्तान्त सबसे अधिक विश्वासनीय, मान-नीय एवं प्रामाणिक है। तिब्बतके योगी अपने आ-त्मिक बलसे क्या क्या चमत्कार दिखलाते हैं, इस विषयमें आप लिखती हैं—

(१) सैंकड़ों मीलके अन्तरसे तिब्बती योगी, सैंकड़ों मीलकी बात समाधि लगाकर मालूम कर लेते हैं। आपने इसे सप्रमाण लिखा है।

(२) असाधारण गतिकी सिद्धि—आप लिखती हैं, वे तिब्बती योगी योगके द्वारा कितनी तेजीसे चल सकते हैं कि जो मार्ग एक माससे अधिक समय चलनेमें ले योगसे उसी मार्गको तीन दिनमें तय कर सकते हैं। श्रीमतीजीने स्वयं अपनी आंखों एक योगी को चलते हुए देखा है।

आपने एक योगीके शरीरको लोहेकी जंजीरोंसे बँधा हुआ देखा। कारण पूछनेपर विदित हुआ कि योगसे योगीने अपना शरीर इतना हल्का बना लिया था कि वह हवामें भी उड़ सकता था। इसीलिए कि कहीं हवामें न उड़ जाए, उसने अपने शरीरको लोहे की सांकलोंसे बाँध रखा था।

(३) बर्फके बीच शरीरको गर्म रखनेकी असा-धारण साधना—

आप लिखती हैं कि बाज बाज योगी बर्फके अन्दर गढ़ा सा खोदकर, उसमें बैठ जाते हैं। और उनके नंगे शरीरपर बर्फमें खूब तर किया हुआ कपड़ा रक्खा जाता है। वे योगके द्वारा अपने शरीरसे इतनी गर्मी निकालते हैं कि कपड़ा बिलकुल सूख जाता है। कोई कोई योगी एक रातमें २०-२० तक कपड़े

सुखा डालता है।

(५) वायुद्वारा बिना किसी यन्त्रके संदेशप्रक्षेपण—

यहांके योगी बिना किसी यंत्रके वायुद्वारा सन्देश भेज देते हैं और मँगा लेते हैं। श्रीमतीजीने इसकी पुष्टिमें कई प्रत्यक्ष देखे हुए उदाहरण भी दिए हैं जो स्थानाभावके कारण छोड़े जाते हैं।

(६) एक योगी दूसरे योगीके शरीरमें भी प्रवेश कर सकता है और वैसी ही शकल बना लेता है।

(७) बिना बताये मनकी बात जानना—

आप लिखती हैं कि वे योगी बिना बताए मनकी बात जान लेते हैं। आपने कई उदाहरण भी, अपने साथ व्यवहारमें आए हुए, दिए हैं।

मेरा इतना विस्तारसे लिखनेका तात्पर्य यह है कि आत्मिक शक्ति एक बड़ी भारी शक्ति है। जबकि साधारण सी आत्म-शक्तिके द्वारा ही हम ऐसे ऐसे चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकते हैं, तो पूर्णशक्तिकी तो बात ही अलग रही। हम इसको सर्वोच्च दशापर पहुँच कर, परमात्म-पदको प्राप्त करके अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यके भोगी बन सकते हैं। इस आवागमनरूपी अगाध संसारसे पार होसकते हैं। सच्चा सुख, आत्मिक बलसे ही मिलता है। इस लिए यदि हमें सच्चे सुखकी इच्छा हो तो आत्मोन्नति करके आत्मिक बल प्राप्त करना चाहिए। इसे प्राप्त करनेके लिए हमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंका परित्याग करनेका प्रयत्न करना होगा तथा अहिंसा, सत्य, संयम, अस्तेय तथा अपरिग्रह इत्यादि सद्-व्रतोंका पालन करना होगा। हमें सद्ग्रन्थोंका मनन करना चाहिए तथा सर्व जीवोंपर मैत्रीभाव रखना चाहिये। दीन, दुखी, निःसहाय तथा अज्ञानी जीवोंपर दयाभाव रखना चाहिए और उनकी सहायता करनी चाहिए। क्योंकि दया ही सर्व सुकार्योंका मूल है। दयासे आत्म-विकास होता है और आत्मिक शक्ति बढ़ती है। बिना दयाके आत्मोन्नति करनेके सब साधन—जप, तप, तीर्थ आदि व्यर्थ है। कहा भी है—

मक्का मदीना द्वारिका बदरी और केदार।
बिना दया सब जूठ हैं, कहैं मलूक विचार॥

अतः आत्मोन्नति करके हमें स्वावलम्बन और स्वाभिमान सीखना चाहिये। अपनी आत्मिक शक्ति पर भरोसा रखना चाहिये। किसी दूसरी शक्ति पर ही अपने आपको सुपुर्द कर देना अहितकर तथा अनुचित है।

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पहले, लोगोंका विश्वास अपनी आत्मशक्ति परसे सर्वथा हट कर केवल किन्हीं दूसरी दैवीशक्तियों पर जम गया था। लोगोंने अपना भाग्यनायक किसी दैवीशक्ति—ईश्वर आदिको ही समझ रक्खा था। उनका दृढ़ विश्वास सा होगया था कि हम कुछ नहीं कर सकते। वे स्वयं पाप कार्य करते और उनका उत्तरदायित्व ईश्वर आदिके सिर मढ़ देते। वे रात दिन ईश्वर तथा अनेक कल्पित देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेमें ही उद्यमशील रहते थे। अपनी आत्मशक्तिको भूल चुके थे। उसी समय क्रान्ति-उत्पादक, भगवान महावीरने अवतार लेकर आत्मविश्वास सिखलाया और डंकेकी चोट बतलाया कि कोई दैवीशक्ति आत्मदेवके पुजारीका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। उन्होंने स्वयं आदर्श रूप बन कर संसारको दिखाया कि यह है वह आत्मिक-शक्ति! जिसने मुझे आज आत्मासे परमात्मा बना दिया है। उसी समयको लक्ष्य करके किसी कविने क्या ही अच्छा लिखा है—

ईश्वर ही ईश्वर रात-दिन होती थी रटाई।
कर्ता वही, हम कुछ नहीं, मन क्लीवता आई॥
पुरुषार्थ-हीन हो गए थे, मुर्दनी छाई।
रंगे सियारोंने राज़की लूट मचाई॥
आत्मा स्वयं ईश्वर, 'अहं' का पाठ पढ़ाया।
श्रीवीरने आ हिन्दको सोतेसे जगाया॥

अब मैं अधिक न लिख कर यहीं विराम लेता हूँ। आशा है इतने परसे ही साधारण पाठकोंको इस विषयका कुछ आभास मिल सकेगा कि आत्माकी शक्तिका कितना माहात्म्य है और वह कैसा वर्णनातीत है।

श्री राहुलका "सिंह सेनापति"

(ले०— श्री माणकचन्द पांड्या)

'सिंह सेनापति" एक उपन्यास है। ईसा पूर्व ५०० का इसमें कथानक है। इसके लेखक हैं 'श्री राहुल सांकृत्यायन'। श्री राहुल हिंदीसाहित्यके माने हुए विद्वान हैं, रूसी संस्कृतिके विशेषज्ञ, बौद्धधर्मके प्रकाण्ड विद्वान। यह उपन्यास सन् १९४२ में 'ग्रन्थमाला कार्यालय' बांकीपुर, पटना द्वारा प्रकाशित हुआ है।

उक्त पुस्तक मैंने स्थानीय लायब्रेरीसे पढ़नेके लिए ली। श्री राहुलका नाम पुस्तक पढ़नेके लिये पर्याप्त आकर्षण रखता था। पुस्तक प्रारंभ की——विषय प्रवेश इस ठाठ से किया गया था कि पुस्तक शीघ्रतर खतम कर देनेकी इच्छा हुई। पुस्तक पढ़कर मनमें बड़ा धक्का सा लगा। सोचने लगा क्या सचमुच हमारा जैनसमाज इतना मृतप्राय होगया है कि कोई भी व्यक्ति हमपर चाहे जब चाहे जैसा प्रहार करदे, और हमारी निद्रा-भंग होती ही नहीं। सन् १९४२ में प्रकाशित यह उपन्यास अब मैंने संयोगवश पढ़ा और तब आज उक्त पुस्तकसे चंद उद्धरण मैं आप लोगोंकी जानकारीके लिए नीचे दे रहा हूँ :—

'वैशालीके पूरब और दक्खिन—दोनों ओर दुष्ट विंबसार का राज्य है।" (पृ० १९)

"····वही बिंबसार-जो सारा जौखिम उठाकर एक रात चोरी चोरी अम्बापाली (एक वेश्या) के सौंदर्य-मधुका पान करने वैशाली आया था——" (पृ० १५९)

उपरोक्त दो उदाहरण बिंबसारके चरित्र-चित्रणके हैं। बिंबसार और कोई नहीं, राजा श्रेणिक है। क्या भगवान महावीरके समवशरणका श्रेष्ठ श्रोता ऐसा था? क्या जैन-साहित्य इस चरित्रकी प्रतिच्छवि ऐसी ही अंकित करता है?

परन्तु यह उदाहरण तो कुछ नहीं है। यह तो मात्र उस समयके राजाके विषयमें है, परंतु स्वतः १००८ लक्षण-युक्त अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर, आदर्श जैन साधु-संस्था एवं जैन धर्मके विषयमें भी लेखकने पात्रोंसे जगह-जगह ऐसे अपमानास्पद शब्द एवं वाक्य कहलाए हैं कि पढ़कर मन अत्यन्त विक्षुब्ध होजाता है। उक्त पुस्तकमेंसे कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं :——

भगवान महावीरके सम्बन्धमें चर्चा चल रही है तब सेनापति सिंह पूछता है——

"बड़े तेजस्वी हैं?"

अजित——'तेजस्वी-ओजस्वी तो मैं जानता नहीं। हां, यह मैंने देखा है कि वह ग्रीष्म, वर्षा, शीत, सारी ऋतुओंमें नंगे रहते हैं।"

रोहिणी——"नंगे!——स्त्रियोंके भी सामने?

अजित——"हां, भाभी! निर्ग्रंथ कहते ही हैं नंगेको। मैं तो सिर्फ दो बार गला दबाने पर गया हूँ; किन्तु इस नंगेपनको देखकर तो मैं जमीनमें गड़ा जाता था।"

रोहिणी——"सचमुच देवर! कैसे कोई पुरुष इतना बेशर्म हो जायगा।"

अजित——' और इसीको हमारे कितने ही मूर्ख तपतेज कहते हैं।"

रोहिणी——'नंगा रहनेके अतिरिक्त और भी कोई बात है, उनमें?"

अजित——"मैं नहीं जानता, न जाननेकी कोशिश करूँगा। मैं उनके नंगेपनसे अघा गया हूँ। बोलो भाई सुभद्र! तुम तो निगंठोंके बड़े चेले बनते हो न, बताओ न भाभी को।"

सुभद्र——"तुम्हें अजित! धर्म-श्रद्धा छु तक नहीं गयी है। बस, श्रमणोंकी निंदा करना ही तुम्हें पसंद है।"

अजित——"श्रमणोंकी बात न कहो भाई सुभद्र! अपने निगंठ वर्द्धमान या महावीरका क्या कहते हो, उनकी बात भाभीको बतलाओ। मैं दावेसे कहता हूं. भाभीको तुम कच्ची बुद्धिका न पाओगे।"

सुभद्र——"तो निगंठोंके श्रावक [शिष्य] तुम्हारी रायमें कच्ची बुद्धिके होते हैं?"

अजित——"और लज्जाशून्य।"

सुभद्र——"तुम भी जाड़े-गर्मीमें वैसे नंगे रह सकते हो?

अजित—"मेरे बहुत-से गाय, घोड़े, सूअर, नंगे ही रहते हैं।"

........अजित—"भाई सुभद्र ! तुम मुझे नास्तिक कहते ही हो, फिर अब तुम्हारे व्याख्यानसे श्रमण महावीर में उनके ज्ञातृपुत्र होनेपर भी मेरी श्रद्धा नहीं होसकती ....।"

....तब भामाने अजितके कानमें कहा "शाबाश, मेरे वीर ! इन नंगटोंकी तूने अच्छी खबर ली।"

(पृ० १६६-१७०)

पढ़ा आपने, किस रूपमें जैनधर्म एवं उसके तीर्थंकर के स्वरूपका परिचय दिया गया है। आगे चलिए, सुभद्र रोहिणीको जैनधर्मसे परिचित करा रहा है तब—

सुभद्र—'हाँ, मनसा, वाचा, कर्मणा, किसी चीजको मारना ही क्या, जरा-सी पीड़ा भी न पहुँचाओ।"

रोहिणी—"खूनी हत्यारे शत्रुको भी ?

सुभद्र—"उसका अपना पाप उसे दंड देगा, धार्मिक निगंठ-श्रावक [जैन] को दण्ड देकर पाप कमानेकी जरूरत नहीं।"

रोहिणी—"यदि कोई आततायी किसी आर्त अनाथ स्त्री या बच्चेको मारना या दूषित करना चाहे तो उस वक्त अपने श्रावक पुरुषको क्या करने की आज्ञा देते हैं ?

सुभद्र—"मनपर संयम, वचनपर संयम, शरीरपर संयम।"

रोहिणी"—अर्थात् अकर्मण्यता, आततायीके हाथमें अपनी इज्जत, अपनी लज्जा, अपने पौरुष सब कुछका समर्पण। और, इसे आप ठीक समझते हैं ?"

सुभद्र—"ठीक तो समझता हूँ, किन्तु निगंठी धर्मका पूरे तौरसे पालन करना सबके बशकी बात नहीं है।"

भामा"—कमसे कम जो अपनेको मनुष्य कहता है, उसके बशकी तो बात बिल्कुल ही नहीं है।" (पृ०-१७२)

जैनधर्मकी अहिंसाका लेखकने कैसा मनमाना अर्थ कर लोगोंकी निगाहमें उसे जलील करनेकी कुचेष्टा की है।

× × ×

भगवान महावीर उल्कावेलमें विहार कर रहे हैं। सेनापति सिंह भगवानके दर्शनके लिये जाते हैं, वहांका वर्णन सेनापतिके स्वतःके शब्दोंमें :—

"मैं शामके वक्त नंदकके साथ उस बागमें गया, जहां अपनी बड़ी शिष्य-मंडलीके साथ तीर्थंकर निगंठ ज्ञातृपुत्र ठहरे हुए थे। उनके शिष्योंमें अधिकतर सौम्य और श्वेत मुखवाले न थे। ऊपरसे वह नंग धड़ंग थे, इसका प्रभुत्व मुझपर अच्छा नहीं पड़ा। मैं तीर्थंकरके दर्शनके लिये आया हूं, यह बात सुननेपर हमें एक निगंठ ने उस वृक्ष तक पहुँचा दिया, जिसके नीचे निगंठ ज्ञातृपुत्र भूमिपर सिर नीचे किये चिंतामग्न बैठे हुए थे। उनके छोटे छोटे श्मश्रुकेश सफेद थे और शरीरपर भी बुढ़ापेके लक्षण प्रतीत होरहे थे...." (पृ० २५५)

" ... एकाएक उन्होंने (महावीरने) कहा—'सिंह ! चलो उस वृक्षके नीचे' और एक हाथमें पासमें पड़ी और पंखी तथा दूसरेसे छोटेसे वस्त्र खंडको सामने लटकाए चल पड़े।" (पृ० २५६)

क्या भगवानके केश सफेद होगए थे ? क्या बुढ़ापा उनपर प्रभाव डाल सका था ? क्या वे वस्त्र खंड साथ ले कर चलते थे ? क्या चिंताएँ उन्हें घेरे रहती थीं ? कितना कपोल कल्पित वर्णन लेखकने किया है। और वह भी तीर्थंकर प्रकृतियुक्त वर्द्धमानका। यदि जैन शास्त्र एवं तत्कालीन इतिहासका खुली आंखों लेखकने अध्ययन किया होता, तो इतनी बेजबाबदारीसे वह कभी भी न लिख सकता।

इस बीच सेनापति सिंह भगवानसे प्रभावित होकर उनका शिष्य होगया है।

सेनापति गणका सदस्य है, संस्थागारमें इन दिनों गणकी बैठकें हुआ करती हैं। और इन ही दिनों भगवान बुद्ध एवं महावीरका चातुर्मास वैशालीमें ही हो रहा है। संस्थागारमें दोनोंके विषयमें चर्चा चलती है। बुद्धकी बहुत तारीफ वहाँपर हुई है। तब सिंह भगवान महावीरके पास आकर पूछता है :—

"भगवन् ! श्रमण गौतम यहां आया हुआ है, लोग बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं; किन्तु आपके सामने वह क्या हो सकता है। मैं चाहता हूँ, उसे देखूं।"

महावीर—'नहीं सिंह ! क्या जाओगे उसके पास। वह नास्तिक है, आत्माको भी नहीं मानता, परलोकको भी नहीं मानता।" (पृ० ३११)

इस तरह गौतमके प्रति आक्षेप करते हुए भगवान

मना कर देते हैं। परन्तु संस्थागारमें फिर चर्चा चलती है. बुद्धके उपदेशकी प्रशंसा होती है। तब सिंह फिर भगवान के पास जाकर वहाँ जानेकी इजाजत माँगता है। तब भगवान कहते हैं :—

"सिंह ! क्या उस अक्रियावादी [अच्छी-बुरी क्रियाको न मानने वाले] के पास जाओगे ?

और—और भी कितनी बातें कह, मना किया।

(पृ० ३१३)

इस तरह दुबारा मना किया गया। पर संस्थागारमें तो सदस्योंको समय समयपर जमा होना ही पड़ता था— और संस्थागारमें बैठकर बात करनेवाले साधारण रथ्या (सड़कके) पुरुष नहीं बल्कि बड़े बड़े सम्भ्रांत लिच्छवि होते थे। एक दिन वहां बात होते होते फिर श्रमण गौतम पर चली गई। सुप्रिय भगवान गौतमकी प्रशंसा करता हुआ कहने लगा—

',यही नहीं श्रमण गौतमके शिष्य सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकश्यप, महाकात्यायन—जैसे अद्भुत प्रतिभाशाली ब्राह्मकुल-से प्रव्रजित हैं। वे अपनी विद्या और प्रतिभामें इतने ऊँचे हैं कि चाहते तो अपना अलग तीर्थ (मत) चलाते और निगंठ ज्ञातृपुत्र, संजय वेलट्ठिपुत्र, या मक्खलि गोसालसे भी बड़े तीर्थंकर माने जाते, ..."

(पृ० ३१४)

किसी व्यक्तिके विचारपर कोई प्रतिबंध नहीं है। परंतु यहां यह प्रतिपादित किया गया है कि गौतमबुद्धके शिष्य तक भी ऐसे विद्वान एवं प्रतिभा सम्पन्न थे कि यदि वे अपना अलगमत चलाते तो महावीर स्वामीसे बढ़कर तीर्थंकर होते। हाँ, तो इस चर्चासे प्रभावित होकर सिंह जब नित्यके अनुसार निगंठ ज्ञातृपुत्र (महावीर) के दर्शन को गया तो उसने कहा :—

''श्रमण गौतम कौन है भंते ! मुझे नहीं मालूम। मैंने सिर्फ उसका नाम सुना है। किंतु, लिच्छवि उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। मुझे विश्वास है, उसमें आप जैसा तप-तेज तो नहीं होगा। मैं चाहता हूँ. जाकर श्रमण गौतमसे भेंट और बात-चीत करूँ।"

महावीर—''सिंह ! क्या तुम उस तप-तेजहीन आदमी के पास जाओगे। वह तो गद्दों पर सोता, काशीके नरम नरम कौषेय वस्त्रोंको पहिनता तरह-तरहके स्वादिष्ट माँसों का आस्वाद लेता है। उसके पास तपस्याकी क्या गंध भी मिलेगी ?"

सिंह—',इसीलिये तो भंते ! मैं उसे आँखसे देखना चाहता हूं, और मोहमें पड़े लिच्छवियोंको उनकी गलती बतलाना चाहता हूं।"

महावीर—' और कुछ नहीं. सिंह ! बस आवर्तनी माया (जादू) उसे मालूम है. जिससे वह दूसरोंके मनको फेर लेता है। पास भी मत जाओ सिंह! उस मायावीके।"

(पृ० ३१५)

इस बात-चीतमें आप देखेंगे कि लेखकने भगवान महावीरके मुंहसे किस हद तक गौतम बुद्धकी निंदा कराई है, किस तरह सिद्ध किया है कि भगवान अज्ञानी हैं कि वे समझते हैं गौतम जादू जानता है। बारबार सिंहके वहां जानेसे रोक कर जैसे भगवानके मनके किसी भयका आभास दिया है।

ज्ञातृपुत्रके इंकार करने पर भी सिंह भगवान गौतमके उपदेश सुननेको जाता है। रास्तेमें अपने हीं अजीजोंसे उनकी तारीफ सुन प्रभावित होता जाता है। तबकी ही बातचीतका निम्नलिखित उदाहरण पढ़िये:—

सिंह—"और भाभी ! तुमने मुझे कभी न बतलाया, न कभी यहां आनेके लिए कहा।"

भाभी— मैं समझ रही थी कि नंगटोंका पंथ मेधावी आदमीको कभी रोक कर नहीं रख सकता, समयकी प्रतीक्षा करनेकी जरूरत है।"

सिंह—"लेकिन मुझे तो निगंठ-पंथ अब भी रोके हुए है ?"

भाभी—"यह आश्चर्य है देवर ! मैंने सुना है कि निगंठ अपने श्रावक या श्राविकाको किसी दूसरे धर्मका उपदेश सुननेकी कड़ी मनाही करते हैं।—अच्छा अब हम कूटागारके नजदीक आगये हैं, अब हमें बात बंद कर देनी चाहिये।" (पृ० ३१६)

यह है सम्यग्दर्शनका मखौल !!

कूटागारमें भगवान बुद्धसे सिंह सेनापतिने कई तरह के सवाल किए, जो-जो आक्षेप महावीरने गौतमके विरुद्ध किए थे उन सबका निवारण गौतमने कर दिया। लेखकने

बहुत ही कुशलता पूर्वक यह बयान किया है और वह धीरे धीरे गौतमको रागद्वेष हीन अपार ज्ञान युक्त गरिमाकी ओर बढ़ाता गया है और साथ ही भगवान महावीरको अपने स्थानसे धीरे धीरे नीचे खसकाता गया है। परंतु निम्न बातचीतमें तो लेखक सीमा पर पहुंच जाता है--

सिंह--"धन्य है भंते! भगवानका मध्यम मार्ग। कल्याणकारी है भंते! निगंठ ज्ञातृपुत्रसे मैंने पूछा था--"

बुद्ध--"जाने दो इसे सेनापति! कि निगंठ ज्ञातृपुत्र मेरे बारेमें तुमसे क्या कह रहे थे. उसके कहने-सुननेसे हमें तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। सेनापति! तुम्हें और जो कुछ पूछना हो पूछो।" (पृ० ३२३)

उपरोक्त बातचीत कराकर लेखकने यह घोषित कर दिया है कि भगवान महावीर पर निंदा दोषसे युक्त थे, वे खुल कर दूसरोंकी बुराई किया करते थे और भगवान बुद्ध दूसरोंकी तो बात ही दूर रही अपने विरोधीकी भी निंदाको सुनना तक पसंद नहीं करते थे। और इस कारण संतुष्ट हो सिंह सेनापति बौद्ध अनुयायी हो जाता है। भगवान बुद्ध को भोजनका निमंत्रण देदेता है। तबकी बात स्वयं सेनापतिके शब्दोंमें--

दूसरे दिन हमने गो-घातक, शूकर-घातकके यहांसे जो तय्यार मांस था, उसे मँगवाया और भोजन तय्यार होनेपर भगवानको सूचना दी। जिस वक्त संघ-सहित भगवान भोजन ग्रहण कर रहे थे, उस वक्त निगंठ (जैन साधु) लोग वैशालीके चौरस्तोंपर दोनों हाथ उठा चिल्ला कर कह रहे थे--अधर्मी है सेनापति सिंह, पापी है सेनापति सिंह, उसने श्रमण गौतमके लिए गायें मारी हैं, सूअर मारे हैं। कहां है श्रमण गौतमका श्रामण्य (सन्यास) कहां है श्रमण गौतमका धर्म जबकि वह अपने लिए मारे गए पशुओंका मांस खा रहा है। निगंठोंका यह कहना सरासर झूठ था मैंने पशुओंको मारा या मरवाया न था, न मैंने मांसको भगवानको दिया; किंतु मेरे निकल जानेसे इन्हें बहुत दुख हुआ था, इसलिये बाल, मूढकी भाँति वह चिल्ला रहे थे।" (पृ० ३२५)

जो व्यक्ति जैन साधुसंस्थासे रंचमात्र भी परिचित है वह स्वप्नमें भी उन्हें इस रूपमें चित्रित करनेकी मूर्खता नहीं कर सकता। परन्तु यह वर्णन तो लेखकके हृदयके विद्वेषको पूर्णरूपेण व्यक्त कर रहा है कि उसने जैसे जैन साधुओंको इस रूपमें चित्रित कर तुष्टि अनुभव की हो।

× × ×

ऊपर मैंने उक्त पुस्तकमेंसे चंद उद्धरण दिये हैं। लेखकका दावा है कि 'सिंह सेनापति'के समकालीन समाज को चित्रित करनेमें मैंने ऐतिहासिक कर्तव्य और औचित्य का पूरा ध्यान रखा है।

भगवान महावीर, जैन साधुगण एवं जैनधर्मको उपरोक्त प्रकार चित्रित करके लेखकने ऐतिहासिक कर्तव्य और औचित्यका कहां तक ध्यान रखा है यह विद्वान व्यक्ति ही पूरे प्रमाणोंके साथ लेखकको बताएँगे तब श्री राहुल सांकृत्यायन अपने ज्ञान और अज्ञानकी परख कर सकेंगे। समाजके इतिहासज्ञोंसे मेरा यही निवेदन है कि 'सिंह सेनापति' द्वारा आपके ऐतिहासिक ज्ञानको चैलेंज दिया गया है और मुझे विश्वास है कि आप अवश्य ही इसका यथोचित उत्तर देवेंगे।

श्री राहुल महाशय बौद्ध साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान हैं, कट्टर बौद्धानुयायी भी हैं। मैं उनसे बाअदब यह जानना चाहूँगा कि क्या भगवान गौतमबुद्धका यश इतना धूमिल है कि उसके पीछे बिना किसीको श्याम चित्रित किये वह धवलरूपमें प्रकाशित नहीं हो सकता। फिर किसी धर्मके प्रवर्तकके साथ इस तरहकी विषैली मनोवृत्ति का परिचय किसी भी अंशमें शोभनीय नहीं है। आज इस बीसवीं सदीमें जब कि दुनिया विश्वबंधुत्वका स्वप्न देख रही है किसी भी देशके मतप्रवर्तककी निंदा कोई भी समझदार आदमी करनेकी हिमाकत नहीं करता। श्रीराहुल का यह जघन्य प्रयत्न हर तरह निंदनीय ही है।

समाजसे मेरा निवेदन है कि हमपर सदैव ही नामालूम जगहोंसे इस तरहके आक्षेप, प्रहार होते ही रहते हैं, और ये इस लिये होते हैं कि अन्य लोग हमें महानिद्रामें गर्क समझते हैं, प्रतिकार करनेकी शक्तिसे हीन समझते हैं। क्या यह अवस्था वांछनीय है? बंधुओं, हमें उठकर दृढ़ता से इस तरह हमारे समाज एवं धर्मपर किए जाने वाले आक्षेपोंका प्रतिकार करना है, ताकि दुनिया यह जानले कि हम जागृत एवं ज़िन्दा हैं।

युवक--जिसका पर्यायवाची नाम आग है--क्या जैनयुवक--राखसे ही ढका रहेगा?

एक सरस कवि

(ले० —विद्यारत्न पं० मूलचन्द्र 'वत्सल' साहित्य शास्त्री)

उस समयकी काव्य-प्रगति—

उस समय शृङ्गाररसकी धारा अबाधित रूपसे बह रही थी विलासकी मदिरा पिला २ कविलोग अपनेको कृत-कृत्य समझते थे वे कामिनीके अङ्गोंसे बुरी तरह उलझे हुए थे उन्हों ने कटि, कुच, केशों और कटाक्षोंमें ही अपनी कल्पनाशक्तिको समाप्त कर दिया था पतिव्रत और ब्रह्मचर्यका मजाक उड़ाने में ही वे अपनी कविताकी सफलता समझते थे और 'इह-पालै' पतिव्रत ताखै धरौ" के गीत गानेमें ही उन्हें आनंद आता था।

कोई नवीन कवि दंपतिकी प्रेम लीलाओं, मान-अपमान और आँख मिचौनीमें विचरण करता था तो कोई कुशल कवि कुलटाओंके कुटिल कटाक्षों, हाव-भाव विलासों और नोक-झोकमें ही मस्त था।

कोई विलासी कवि परपति पर आसक्त हुई कामिनियों के संकेत स्थानोंके वर्णनमें और कोई विरही, विरहिणियोंके करुण रुदन, आक्रंदन और विलापमें ही अपनी कल्पनाएं समाप्त कर रहा था।

कोई संयोगियोंके 'कपटाने रहें पट ताने रहें' के पिष्ट-पोषणमें ही अपनी कविताकी सफलता समझता था, देव-त्व और अमरत्वकी भावनाएं समाप्त हो चुकी थी, मुक्ति और जीवन शक्तिकी याचनाके स्थान पर कुत्सितताने अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा था।

उस समय उनकी दृष्टिमें मुक्तिके अतिरिक्त अन्य ही कोई दुर्लभ पदार्थ समाया हुआ था कविवर देवजी उस दुर्लभ पदार्थकी तारीफ करते थे आप कहते थे 'जोग हू तैं कठिन संजोग परनारीको' परनारीके संयोगको आप योगसे भी अधिक दुर्लभ बतलाते थे आपकी दृष्टिमें सतीत्व और सच्चरित्रताका तो कोई मूल्य ही नहीं था।

उस समयके भक्त कवि भी श्रीकृष्ण और राधिकाके पवित्र मार्गोंका आश्रय लेकर उनकी ओटमें अपनी मनमानी वासनामय कल्पनाओंको उद्दीप्त किया करते थे वासनाओं और शृंगारमें वे इतने ग्रस्त हो गए थे कि अपने उपास्य देवताको लंपट बनानेमें भी उन्होंने किसी प्रकारका संकोच नहीं किया।

एक स्थान अकबर नेवाज कवि व्रज कविताओंको नीतिकी शिक्षा देते हुए कहते हैं 'बावरी जो पै कलंक लग्यो तो निसंक ह्वै काहे न अङ्क लगावति' कलङ्क धोनेका कविवर क्या ही अच्छा उपाय बतलाया। रसखान सरीखे भक्त कवि भी इस अनूठी भक्तिलीलासे नहीं बचे थे आपका क्या ही सुन्दर पश्चाताप था "मो पछितायो यहैजु सखी कि कलङ्क लग्यो पर अङ्क न लागी" कृष्णजीकी लीलाका वर्णन करते हुए एक स्थान पर आप कहते हैं 'गाल गुलाल लगाइ लगाइके अङ्क रिझाइ विदा कर दीनी'।

इस तरह भारतकी महान आत्माओंके साथ भद्दा मज़ाक किया गया और उनके पवित्र चारित्रको वासनाओंके नग्नचित्रोंसे सजा कर सर्व साधारणके सामने रक्खा गया और उनकी ओटमें अपनी वासनाओंकी पूर्ति की गई।

इस भक्तिमार्गके अन्दर परनारी सेवन और मदिरा पानकी भावनाओंको प्रचण्ड किया गया और भारतीय प्रजा में नपुंसकताके बीज बोये गए। ऐसे समयमें कुछ सच्चरित्र कवि ही अपने काव्यके आदर्शको सुरक्षित रख सके।

जैन कवि तो कुत्सित शृंगार वर्णनसे बिलकुल ही अछूते रहे उन्होंने नीति, चरित्र और संयमकी सरस फुल-वाड़ी लगाई वे अध्यात्म कुंजमें समाधिके रसमें निमग्न रहे और आत्मतत्वमें उन्होंने अपनी लौ लगाई।

उन्होंने अपनी कवितामें अमरताका संगीत अलापा और वे जनताके पथ प्रदर्शक बने। उनका काव्य संसारका गुरु बना धन्य उनका कवित्व और धन्य उनकी अभिलाषा।

पवित्र हृदय कवि—

केशवदासजी हिन्दीके प्रसिद्ध शृंगारी कवि हो गए हैं

वृद्धावस्थामें भी आपकी शृंगार लालसा कम नहीं हुई थी केश सफेद होजाने पर भी आपका हृदय विलास कालिमासे काला ही बना था वृद्धावस्थाके कारण आप अपनी वासनाओंकी पूर्ति करनेमें असमर्थ हो गए थे. युवती बालाएं सफेद बालोंको देख कर आपसे दूर भागती थीं इससे आपकेहृदयको जो कष्ट हुआ उसका वर्णन आपने निम्न पद्यमें किया है।

केशव केशनि असकरी, जैसी अरि न कराय।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कह मुरिजाय॥

इससे आपकी शृंगार प्रियताका पूर्ण परिचय मिलता है आपने रसिकोंका हृदय संतुष्ट करनेके लिए रसिकप्रिया नामक एक ग्रन्थ बनाया था जिसमें नारीके नखशिख तक सभी अङ्गोंकी अनेक तरहके अलंकारों और उपमाओं द्वारा जी भरके प्रशंसा की है।

भैया भगवतीदासजीको उसकी एक प्रति प्राप्त हुई थी भैयाजी तो आदर्शवादी कवि थे उन्हें झूठी तथा कुत्सित प्रशंसा कब पसन्द आती आपने उसके पृष्ठ पर निम्न कवित्त लिख कर उसे वापिस लौटादी।

बड़ी नीति लघु नीति करत हैं वाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुनगुनी मंडित, सकल देह मनु रोगदरी।
शोणित हाड़ मांसमय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरखकर केशव! 'रसिक-प्रिया' तुम कहाकरी?

"केशव ? तुमने रसिक प्रिया क्या की ? तुम भ्रममें भूल गए तुम मोह सागरमें कितने नीचे उतर गए हो ! कितनी असत्य कल्पनाएं करके तुमने अपने आपको ठगा है। अनेक भोलेभाले युवकोंके हृदयोंमें कुत्सित भावनाओं को प्रोत्साहित किया है झूठी प्रशंसा करके कविता देवीको कलंकित किया है"

भैयाजीकी कवितामें कितनी सत्यता था संसारकी माया में फँसे हुए मनुष्योंके लिए नरियोंके अङ्गोंका अश्लील ढंगसे चित्रण करके उसकी ओर आकर्षित करने वाले कवियोंके प्रति उनका कैसा उपदेश था. कितनी करुणा थी उनके हृदयमें उन शृंगारी कवियोंके प्रति !

हाय ! केशव ! 'रसिक प्रिया तुम कहा करी !'
क्या नारियोंके पवित्र अङ्गों पर दृष्टि गड़ाए रहना ही कवित्व है ? क्या उनके कटाक्षों और हाव भाव विलासोंमें मग्न रहना ही कवि धर्म है ? तुमने जिसकी प्रशंसा करनेमें अपने अमूल्य समयको नष्ट कर दिया थोड़ा उनका अंतर्तम तो देखो ! नहीं ! कवि कर्म महान है उसके ऊपर जनताके उद्धारका कठिन भार है कविता केवल मौज शौककी वस्तु नहीं है उस पर देश और समाजके उत्थानका कठिन उत्तरदायित्व है।

यह था कविवर भगवतीदासजीकी कविताका आदर्श और उनकी अपूर्व पवित्रताका एक उदाहरण उनका लक्ष्य नारी निंदाकी ओर था किन्तु आदर्शसे पथभ्रष्ट हुए कविको उपदेश देना ही उनका उद्देश्य था।

नारीको वह पवित्रता और महानताका प्रतिनिधि समझते थे उसे वह केवल विलासका साधन नहीं मानते थे किन्तु जब कोई उस पवित्र वस्तुको विलासकी ही सामग्री बना कर उसके गौरवमय शरीरको केवल वासना और भोग विलासके साथ खिलवाड़ करता है तब उनका पवित्र हृदय चोट खाता है और वे उसकी भर्त्सना करते हुए उसका वास्तविक चित्र सामने रख देते हैं वे निर्भय और सजग रहते हैं और सावधान करते हैं संसारको।

कवित्व शक्ति—

भैया भगवतीदासजी उन श्रेष्ठ कवियोंमेंसे है जिनका भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व था मधुर कल्पनाओं अनूठी उक्तियोंसे उनका काव्य ओतप्रोत है आपने अपने काव्यकी धारा मानव-जीवनके विशाल क्षेत्रमें बहाई है आपके काव्यमें संसारकी मृगतृष्णामें पड़े हुए पथिकोंके लिए आत्मज्ञान और शांति का सुन्दर झरना प्राप्त होता है। वासनाके दल दलमें फँसे हुए युवकोंके लिए कर्तव्यका बोध होता है।

दुनियाकी मौज-शौक और मस्तीमें पड़े रहना ही मानवका चरम उद्देश्य नहीं है किन्तु मानव-कर्तव्य इससे और आगे है। मानव जब दुनियाकी रंगरेलियोंमें ही कर्तव्य की इति श्री मान बैठता है तब कविके हृदयको ठेस लगती है वह अपना पवित्र संदेशा उसके पास भेजना चाहता है। लेकिन उसे ले कौन जाए ? उपयुक्त पात्र भी तो होना चाहिए। वह सुमतिको अपना संदेशवाहक बनाते हैं और अपना संदेश भेजते हैं। वह मनोरंजक संवाद आप सुनिए—

सुनो राय चिदानंद, कहो जु सुबुद्धि रानी,
कहै कहा बेर बेर नैकु तोहि लाज है?
कैसी लाज? कहो कहां हम कछु जानत न,
हमें इहां इंद्रिनिको विषै सुख राज है।
अरे मूढ़! विषै सुख सेये तू अनंतीबार,
अजहूं अघायो नांहि कामी शिरताज है।
मानुष जनम पाय, आरज सुखेत आय,
जो न चेतै हँमराय तेरो ही अकाज है।

सुबुद्धि—हे चैतन्य राजा सुनो।

चैतन्य—हे सुबुद्धि रानी! कहो क्या कहती हो।

सुबुद्धि—हे राजा! मैं बार बार क्या कहूं तुम्हें कुछ शर्म भी आती है।

चैतन्य—सुबुद्धि! शर्म कैसी? मैं कुछ नहीं जानता मैं तो यहां इन्द्रियोंके विषय-सुख-राज्यमें मग्न होरहा हूँ।

सुबुद्धि—अरे मूर्ख! तूने अनंत बार विषय-सुखोंका सेवन किया। परन्तु तुझे आज एक तृप्ति नहीं हुई। तू बड़ा कामी है—तूने मनुष्य जन्म और आर्यक्षेत्रको पाया है अब भी तू सावधान नहीं होगा और आत्म-कल्याण नहीं करेगा तो हे चैतन्य तेरा ही बिगाड़ होगा मेरा क्या जाता है।

कितनी मीठी और हृदयको गुदगुदाने वाली फटकार है, इसमें नाराजगी नहीं है केवल कल्याणकी भावना है। हँमराय शब्द मानवके महत्वको प्रकट करता है। हंसमें विवेक-बुद्धि होती है विवेक-बुद्धि वाला होकर भी तू न समझे तो तेरा ही अकल्याण है।

वास्तवमें सतकाव्य वही है जो भूले हुए पथिकोंको सन्मार्गपर लगादे, तड़पते हुएको सान्त्वना प्रदान करे और जीवन-सुधारके मार्गको प्रशस्त बनादे। वह जीवन ही क्या जो दूसरोंको सुख न दे सके और जो संसारको सुखी बनाने का प्रयत्न करेगा वह सबका नायक क्यों न होगा। कविका आदर्श एक अनूठा ही है उसके अन्दर परोपकार की कितनी भावना है उसका आदर्श व्यक्त कैसा होना चाहिए यह इस पद्यमें पढ़िए —

स्वरूप रिझवारेसे, सुगुण मतवारेसे,
सुधाके सुधारेसे, सुप्राण दयावंत हैं।
सुबुद्धिके अथाहसे, सुरिद्ध पातशाहसे,
सुमनके सनाहसे, महा बड़े महंत हैं।
सुध्यानके धरैयासे, सुज्ञानके करैयासे,
सुप्राण परखैयासे, सुशकती अनंत हैं।
सबै संघनायकसे, सबै बोध लायकसे,
सबै सुखदायकसे, सज्जन सुसंत हैं।

जो अपने आपपर मोहित हैं गुणोंमें मस्त रहते हैं अमृतके समुद्र हैं और प्राणीमात्रपर सुंदर दया रखने वाले हैं। अथाह बुद्धि वाले, आत्म-वैभवके बादशाह, मनके मालिक और महान हैं शुभ विचारोंके रखने वाले, उन्नत ज्ञान वाले, सामर्थ्यशाली, सबको सुख देनेवाले, मधुरभाषी हैं वही नायक सज्जन संत हैं।

धन्य! कवि की भावनाएँ कितनी महान हैं उनका उद्देश्य कितना पवित्र है वास्तवमें कवि हो तो ऐसा ही हो!

आपने अपनी कविताकी रचना केवल जनताको अनुरंजित करने अथवा राजा महाराजाओंको रिझानेके लिये नहीं की थी और न आपको किसी प्रकारके पुरस्कारका ही लोभ था आपने लोककल्याण और आत्मोद्धारके लिये काव्यका आदर्श रक्खा था आपका काव्य आत्म-प्रदर्शक प्रदीप है उससे आत्मप्रकाशकी उज्वल किरणें प्रकाशित होती हैं वे आत्माकी अनंतशक्तिको समझते थे अनंत शक्तिशाली आत्मा अपनी सामर्थ्यको भूल जाय यह उन्हें पसंद न था वे उसे उत्तेजित करते हुए कहते हैं:—

कौन तुम? कहाँ आए, कौने बौराये तुमहिं,
काके रस राचे कछु सुध हूँ धरतु हो।
तुम तो सयाने पै सयान यह कौन कीन्हों
तीन लोक नाथ है के दीनसे फिरतु हो

तुम कौन हो! कहांसे आए हो तुम्हें किसने बहका रक्खा है और तुम किसके रसमें मस्त हो रहे हो तुम्हें कुछ इसका ख्याल भी है। तुम तो बड़े होशियार हो परन्तु अपनी होशियारी कहां खोदी अरे! तुम तीनलोकके मालिक होकर भिखारीकी तरह क्यों फिरते हो। मालिक और भिखारी कासा कार्य वाह! कैसी भर्त्सना है।

कवि मानवहृदयकी कमजोरियोंको समझता है वह जानता है कि मानवका आकर्षण क्या है वह कैसे अपनी

ओर खींचा जा सकता है जब सीधी तरह उसे आकर्षित नहीं किया जा सकता तो वह कुछ आकर्षण रखता है देखिए आत्म रहस्यमें मस्त होनेके लिए कैसा प्रलोभन दिया जा रहा है। शब्दोंका सुन्दर चुनाव सरसता और मधुरताकी त्रिवेणी कविके इस एक ही पद्यमें आपको मिलेगी और आप आनंद विभोर हो जायँगे आप कविकी इस रस भरी प्रार्थना पर अवश्य ही रीझ जायँगे पढ़िए—

कहां कहां कौन संग, लागे ही फिरत लाल,
आवो क्यों न आज तुम ज्ञानके महलमें।
नेकहु विलोकि देखो, अंतर सुदृष्टि सेती,
कैसी कैसी नीकी नारि खड़ी है टहलमें।
एकन ते एक बनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी रातकी चहलमें।
ऐसी विधि पाय कहूं भूलि हूँ न पाय दीजे,
एतो कह्यो मान लीजे वीनती सहलमें।

हे लाल ! तुम किस २ के साथ कहां कहां लगे फिरते हो आज तुम ज्ञानके महलमें क्यों नहीं आते ?

तुम अपने दिलके अन्दर ज़रा गहरी नज़रसे तो देखो, कैसी २ सुन्दर रमणिएं तुम्हारी सेवामें खड़ी हैं !

एकसे एक सुन्दर मनोहर रूप वाली जिनकी तुलना संसारकी बालाएँ नहीं कर सकती !

इस तरहके सुन्दर साधन प्राप्त कर कहीं भूल कर भी पांव मत रखिए, मेरी यह इतनी सी प्रार्थना सहजमें ही स्वीकार कर लीजिए।

अहा ! हा हृदय वीणा एक दम झंकारित हो उठती है, कविने शब्दकोषके सभी मधुर और सरल शब्दोंको चुन कर गूंथा है। कौन कठोर हृदय होगा जो सुमतिकी इस रस भरी प्रार्थनाको स्वीकार न करेगा ?

सरलता आपकी कविताका जीवन है और थोड़े शब्दों में अर्थका भंडार भर देना यह आपके काव्यकी खूबी है। सरसता और सुन्दरताके साथ आत्मज्ञानका आपने इतना मनोरम संबंध जोड़ा है कि वह मानवोंके हृदयोंको आकर्षित किए बिना नहीं रहता।

आपकी रचनाओंका सुन्दर संग्रह ग्रंथ ब्रह्मविलास' है। इसमें आपके द्वारा रचित ६७ कविताओंका संग्रह है सभी कविताएँ एकसे एक उत्तम सरस और हृदयग्राहिणी हैं अंतमें कविका सीधे शब्दोंमें एक रहस्यमय पद्य सुनाकर हम इस निबंधको समाप्त करते हैं। यदि पाठकोंकी इच्छा हुई तो कविके काव्य पर विस्तृत प्रकाश डालेंगे अच्छा अब आत्मज्ञानका रहस्य कविके सीधे शब्दोंमें सुनिए।

कहा मुड़ाए मूड, बसे कहा मट्ठका
कहा नहाए गंग, नदीके तट्टका
कहा वचनके सुने कथाके पट्टका
जो बस नाहीं तोहि पसेरी अट्टका[1]

---

१ पसेरी अट्ठका मन

साहित्य परिचय और समालोचन

(परमानन्द जैन शास्त्री)

(१)

तिलोयपण्णत्तो : हिन्दी अनुवाद सहित प्रथमभाग। मूललेखक, आ० यतिवृषभ, अनुवादक पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री। सम्पादक, डा० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० डी० लिट० कोल्हापुर और प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० एल० एल० बी० किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती। प्रकाशक, 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' शोलापुर। पृष्ठ संख्या सब मिला कर ५७०। मूल्य सजिल्द प्रतिका १२) रुपया।

यह ग्रंथ जैनियोंके करणानुयोगका विवेचक प्राकृत भाषाका एक प्राचीन महत्वपूर्ण मौलिक ग्रंथ है। आ० यति वृषभने इस ग्रंथको संकलन करते हुए 'लोक विभाग' और 'लोकविनिश्चय' जैसे प्राचीन ग्रंथोंके उद्धरण और अन्य ग्रंथोंके पाठान्तरादि द्वारा विषयका खूब स्पष्टीकरण किया है। ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रायः मूलानुगामी है और उसे रुचिकर बनानेका प्रयत्न किया गया है। इससे स्वाध्याय प्रेमी भी यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं।

ग्रंथका प्रकाशन ब्र० जीवराज गौतमचन्दजी शोलापुर द्वारा संस्थापित 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' द्वारा किया गया है। ब्रह्मचारीजीने अपने संचित द्रव्यको जैनसाहित्यके उद्धारार्थ प्रदान कर अपनी महान उदारता और जिन वाणी की भक्तिका अच्छा परिचय दिया है। साथ ही, दूसरोंको इस प्रशस्त मार्गका अनुकरण करनेका यह एक प्रोत्तेजन है। दि० जैन साहित्यका बहुभाग अब तक अप्रकाशित ही पड़ा है इतना ही नहीं उसकी एक प्रामाणिक ग्रन्थ-सूची का अभाव भी प्रायः खटक रहा है। ग्रंथ भंडारोंमें कितने ही अप्रकाशित ग्रंथ अपनी जीर्ण शीर्ण दशामें पड़े हुए हैं—किन्हीं किन्हीं ग्रंथोंकी तो दूसरी प्रतिलिपियां भी उपलब्ध नहीं होतीं, और सम्पादकोंको एक ही प्रति परसे उस ग्रंथका सम्पादन कार्य करना पड़ता है इस ग्रंथके सम्पादन सम्बन्धमें जिस शैलीको अपनाया गया है उसका सम्पादकोंने स्वयं दिग्दर्शन करा दिया है। ग्रंथकी अन्य प्राचीन प्रतियोंके अवलोकन एवं मिलानकी अब भी आवश्यकता बनी हुई है। आशा है दूसरे जिनवाणी भक्त सज्जन भी ब्रह्मचारीजीका अनुकरण करेंगे।

ग्रंथके सम्पादनमें पर्याप्त परिश्रम किया गया है। ग्रन्थ सभीके लिये पठनीय और संग्रहणीय है।

(२)

भारतीय सम्पादन-शास्त्र, लेखक मूलराजजी जैन एम० ए० एल० एल० बी० प्रिन्सिपल, श्री आत्मानन्द जैन कालेज, अम्बाला शहर। प्रकाशक, जैन विद्याभवन, कृष्ण-नगर, लाहौर। पृष्ठ संख्या ६०।

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकने ग्रन्थोंके सम्पादन सम्बन्धमें छह अध्यायों द्वारा प्रकाश डाला है तथा भारतीय ग्रन्थोंके सम्पादनमें उपयुक्त सामग्रीका विवेचन भी किया है और बतलाया है कि किसी ग्रन्थका सम्पादन करते समय उसकी प्राचीन और अर्वाचीन प्रतियों और प्रतिलिपियोंका सूक्ष्मतर अवलोकनके साथ साथ, मूल पाठको सुरक्षित रखते हुए दूसरे पाठान्तरोंको जो लिपिकारोंके प्रमाद आदि दोषोंसे हो गए हैं उन्हें नीचे फुटनोटमें अंकित कर आदर्श प्रतिके मूल पाठको पूर्णतया सुरक्षित रखनेकी ओर संकेत किया है लिपि आदिके सम्बन्धमें भी विचार किया है। पुस्तक परिश्रमके साथ लिखी गई है। इसके लिये लेखक महानुभाव धन्यवादार्ह है। पुस्तक पठनीय तथा संग्रह करनेके योग्य है।

(३)

जीवाभिगमसूत्रमें अष्टांग-योग, लेखक उपाध्याय मुनि आत्मारामजी प्रकाशक, लाला मुन्शीराम सोमनाथ जैन ओसवाल, मुकाम जीरा जिला फीरोजपुर। पृष्ठसंख्या सब मिला कर १०४ मूल्य आठ आना।

प्रस्तुत पुस्तकमें स्थानकवासियों द्वारा मान्य आगमों द्वारा अष्टांग योगका संकलन किया गया है और उसकी उपयोगिता एवं महत्ता बतलाई गई है। साथ ही, पातंजलिके योग सूत्रमें वर्णित अष्टांगका आगम परम्पराके योगानुष्ठान अष्टांग योगका तुलनात्मक विवेचन भी किया है। इस तरह इस पुस्तकको उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है। इस दिशामें लेखकका प्रयत्न प्रशंसनीय है।

Regd. No. **A-731.**

अनुकरणीय

(जिन सज्जनोंकी ओरसे अनेकान्त जहां फ्री भेजा जा रहा है उनकी सूची इससे पिछली किरणों में प्रकाशित हो चुकी है। आगेकी सूची निम्न प्रकार है—)

१ श्रीमंत सिताबराय लक्ष्मीचंद दि० जैनमंदिर स्टेशन भेलसा (ग्वालियर)।

२ श्री दि० जैन चैत्यालय बा० पन्नालाल भैयालाल माधोगंज भेलसा (ग्वालियर)।

३ श्री दि० जैन परवारमंदिर अंदर किला भेलसा (ग्वालियर)।

४ श्री दि० जैन खंडेलवाल मंदिर अंदर किला भेलसा (ग्वालियर)।

५ श्री दि० जैन चैत्यालय मा० किशनचन्द मुन्नालाल भेलसा (ग्वालियर)।

६ श्री श्वेताम्बर जैन मन्दिर मार्फत बा० तख्तमलजी वकील भेलसा (ग्वालियर)।

७ श्री केशव शास्त्री अन्दर किला भेलसा (ग्वालियर स्टेट)

८ श्री रामस्वरूपजी वकील ,, ,,

९ श्रीमान् सबजज सा० भेलसा ,,

१० श्रीमान् सूबासाहब भेलसा ,,

११ श्रीमान् डिस्ट्रिक्ट सेशन जज भेलसा ,,

१२ श्रीमान् सेक्रेटरी परवार जैनमंडल (अन्दर किला बड़े मंदिरके पास) भेलसा (ग्वालियर)।

१३ श्रीमान् सुपरिन्टेन्डेन्ट सा० पुलिस भेलसा (ग्वा० स्टेट)

१४ श्री दि० जैन मंदिर चौक बाजार भोपालस्टेट।

१५ श्रीमान् ब्र० प्रेमसागरजी मार्फत मंत्री माणिकचन्द ट्रस्टफंड १६० जौहरी बाजार बम्बई।

१६ श्रीमंत सेठ सिताबराय लक्ष्मीचंद जैन हाई स्कूल, भेलसा ग्वालियर स्टेट। क्रमशः

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

सहायता

गतकिरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको २५ रु० निम्न सहायता प्राप्त हुई है जिसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं—

२५) श्रीमान् ला० मुन्नालालजी कागजी लखनऊ निवासी (अपनी धर्मपत्नीके स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमें से)।

भूलसुधार

नयोंका विश्लेषण वाले लेखसे 'सिंह सेनापति' तकके पेजोंकी संख्या गल्ती २३७ के स्थान पर ३३७ छप गई है, अतः पाठक सुधार कर पढ़ें।

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दजी शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तवप्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

विषय सूची

वर्ष ६ किरण ८

शासन-जयन्ती-महोत्सवको सफल बनाइये !

'अनेकान्त' के बृहत् विशेषाङ्क "वीरशासनाङ्क" के लिये रचनाएँ भेजिये !

वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सव और विशेषाङ्क

इस वर्ष राजगृह (विहार) में होनेवाला वीरशासन-जयन्ती-महोत्सव अब बहुत निकट आ गया है। महावीर-जयन्ती (चैत्रशुक्ल १३) से उसे कुल तीन महीने रह जायँगे। इस थोड़ेसे अर्सेमें हमें बहुत काम करनेके लिये हुए हैं और वे तभी सुसम्पन्न हो सकेंगे जब वीरशासनसे प्रेम रखने वाले सभी सज्जन और खासकर जैन विद्वज्जन वीरशासनके प्रति अपने कर्तव्यको समझकर उसकी सेवाके लिये जी-जानसे जुट जाएँगे — बिना किसी प्रेरणाके स्वेच्छा से महोत्सव-सम्बन्धी कार्योंमें हाथ बटानेके लिये आगे आएँगे और अपनेको अपनी रुचिके अनुसार सेवा-कार्योंके लिये पेश करेंगे। अकेला वीरसेवामन्दिर कुछ नहीं कर सकता—ऐसे महान् कार्य सभीके सहयोग एवं सामूहिक शक्तिके प्रबल प्रयोगसे ही सम्पन्न हुआ करते हैं। जब सहयोगकी आवाजें सुनाई पड़ती हैं तब कामको उठाने वालों का हृदय भी उत्साहसे भर जाता है और वे बहुत कुछ साहसका कार्य कर जाते हैं।

बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता, जो इस महोत्सवके प्रस्तावक और वीरसेवामन्दिरके प्रधान ही नहीं किन्तु उसके प्राण हैं, आजकल उत्सवको सफल बनानेके लिये बड़ी बड़ी योजनाएँ कर रहे हैं। वे इस महोत्सवकी यादगार और वीरशासनकी स्मृति एवं ठोस प्रचारकी दिशा में कोई बड़ा महान् कार्य कर जाना चाहते हैं। उन्हें ठोस काम पसन्द है और ठोस काममें ही समाजकी शक्तिका व्यय करनेके वे इच्छुक हैं। अभी उन्होंने मुझे कलकत्ता बुलवाया था और अपनी कुछ योजनाएँ बतलाई थीं, जिन्हें मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई। वे मुझे साथ लेकर साहू शान्तिप्रसादजीके पास डालमिया नगर गये थे—साहूजीने सहयोगका पूरा वचन दिया है। बाबू निर्मलकुमारजीसे मिलनेके लिये भी जाना चाहते थे परन्तु वे उस वक्त वहां नहीं थे, बादको पत्रादिक द्वारा उनके भी सहयोगका वचन मिल गया है। ये दोनों श्रीमान् विहार प्रान्तकी हस्तियाँ हैं जहां उत्सव होने जारहा है। इसके सिवाय सेठ गजराजजी आदिकी सलाहसे वे कलकत्ताके जैन व्यापारियोंका सहयोग प्राप्त करनेके लिये एक मीटिंग भी करना चाहते थे जो हो चुकी होगी। अभी तक अपनेको उसका पूरा समाचार नहीं मिला। कुछ बंगाली विद्वानोंका भी आप सहयोग प्राप्त कर रहे हैं, जिससे अनेकान्तके विशेषाङ्क के लिये चोटीके अजैन विद्वानोंके भी उत्तम लेखोंकी प्राप्ति हो सके। गरज़ बाबू छोटेलालजी उत्सवको सफल बनाने की धुनमें जी-जानसे लगे हुए हैं—दूसरोंको भी इसी तरह लगना चाहिये। आशा है इस महोत्सव-सम्बन्धी योजनाओंको अनेकान्तकी अगली किरणमें प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

इधर अनेकान्तके विशेषाङ्क 'वीरशासनाङ्क' की विज्ञप्ति को पढ़ कर कितने ही विद्वानोंने उस पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है और लेखोंका वचन दिया है—कुछने तो लेख भेज भी दिये हैं। परन्तु यह पूरी तौरसे अभी तक मालूम नहीं हो सका कि कौन कौन सज्जन लेख लिख रहे हैं अथवा लिखनेका इरादा रखते हैं। इसकी सूचना तो उन्हें कृपया शीघ्र ही दे देनी चाहिये, जिससे कार्यका ठीक अन्दाजा हो सके और जो विषय न लिखे जा रहे हों उन के लिखानेकी योजना की जा सके।

डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए०, क्यूरेटर लखनऊ म्यूजियम आज कल रामनगर (अहिच्छत्र) की तरफ दौरेपर हैं अत: उन्होंने सम्पादनभारको उठानेमें असमर्थता व्यक्त करते हुए लखनऊ जाकर अपना लेख अवश्य ही भेज देनेकी स्वीकारता दी है और साथ ही विशेषाङ्ककी विज्ञप्तिको पढ़ कर उसपर अपना हर्ष तथा कार्यके साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट की है डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० कोल्हापुर और प्रो० हीरालालजी एम० ए० अमरावतीने सम्पादनभारको सहर्ष स्वीकार किया है। सम्पादकमण्डलमें मुनि पुण्यविजयजी पाटन और पं० बेचरदासजी अहमदाबादकी योजना और की गई है, परन्तु मुनि पुण्यविजयजीने तो पाटनके भण्डारों की ग्रन्थसूचीका काम समाप्त न होने तक दूसरे किसी काम को हाथमें न लेनेका संकल्प होनेके कारण अपनी मजबूरी जाहिरकी है और पं० बेचरदासजीसे अभीतक स्वीकारता प्राप्त नहीं हुई है। आशा है आप अपनी स्वीकारता शीघ्र भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

(शेष टाइटिलके तीसरे पृष्ठपर)

* ॐ अर्हम् *

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

अनेकान्त

वस्तुतत्त्व-संघोतक

वार्षिक मूल्य ४) रु०

एक किरण का मूल्य ।=)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६, किरण ८ | वीरसेवामन्दिर, (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | मार्च
चैत्रशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत २४७०, विक्रम सं० २००१ | १९४४

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१९]

श्रीमल्लि-जिन-स्तोत्र

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
साऽमर-मर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि-भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥ १ ॥

'जिन महर्षि—मल्लिजिनके सकल-पदार्थोंका प्रत्यक्षबोध—जीवादि-संपूर्ण पदार्थोंको सब ओरसे अशेष-विशेषको लिये हुए जाननेवाला परिज्ञान (केवलज्ञान)—साक्षात् (इन्द्रिय-श्रुतादि-निरपेक्ष प्रत्यक्ष) रूपमें उत्पन्न हुआ, (और इस लिये) जिन्हें देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ सारे ही जगतने हाथ जोड़कर नमस्कार किया, (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभा-कृत-परिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥ २ ॥

जिनकी मूर्ति—शरीराकृति—सुवर्णनिर्मित-जैसी है और अपनी स्फुरायमान आभासे परिमण्डल किये हुए है—संपूर्ण शरीरको व्याप्त करने वाला भामंडल बनाये हुए है—, वाणी भी जिनकी 'स्यात्' पदपूर्वक यथावत्

वस्तुतत्त्वका कथन करने वाली है और साधुजनोंको रमाती है—आकर्षित करके अपनेमें अनुरक्त करती है, (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य पुरस्ताद्विगलित-माना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जात-विकोशाम्बुज-मृदुहासा ॥ ३ ॥

'जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन—एकान्तवाद-मतानुयायी—पृथ्वी पर विवाद नहीं करते हैं। पृथ्वी भी (जिनके विहारके समय) पद पद पर विकसित कमलोंसे मृदु-हास्यको लिये हुए रमणीक हुई है, (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य समन्ताज्जिन-शिशिरांशोः शिष्यक-सधु-ग्रह-विभवोऽभूत्।
तीर्थमपि स्वं जनन-समुद्र-त्रासित-सत्त्वोत्तरण-पथोऽग्रम् ॥ ४ ॥

'(अपनी शीतल-वचन-किरणोंके प्रभावसे संसार-तापको शान्त करने वाले) जिन जिनेन्द्र-चन्द्रका विभव (ऐश्वर्य) शिष्य-साधु-ग्रहोंके रूपमें हुआ है—प्रचुर परिमाणमें शिष्य-साधुओंका समूह जिन्हें घेरे रहता था—' जिनका आत्मीय तीर्थ—शासन—भी संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतरनेके लिये प्रधान मार्ग बना है, (उन मल्लि-जिनेन्द्रकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत्।
तं जिनसिंहं कृत-करणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥

'और जिनकी शुक्लध्यानरूप परम तपोऽग्निने अन्तको प्राप्त न होने वाले—परंपरासे चले आने वाले—दुरितको—कर्माष्टकको—भस्म किया है,

उन (उक्त गुणविशिष्ट) कृतकृत्य और अशल्य—माया-मिथ्यादि-शल्यवर्जित—मल्लिजिनेन्द्रकी मैं शरणमें प्राप्त हुआ हूँ—इस शरण-प्राप्ति-द्वारा उस अनन्त दुरितरूप कर्मशत्रुसे मेरी रक्षा होवे।'

आंसूसे

[१]
कौन आ रहा है तुम जिसका
स्वागत करने आये हो।
चुन चुन मुक्तामणि सुन्दरतम
हार सजा कर लाये हो ॥

[२]
कहो आज क्यों प्रकट हुए हो
भग्न-हृदयके मृदु उद्गार।
कैसे ढुलक पड़े हो बोलो
कैसा पीड़ा का उद्गार ॥

[३]
अरे वेदनाके सहचर तुम
तप्त हृदयके मृदु संताप।
उमड़ी पीड़ा की सरिता के
कैसे अभिनव अनुपम माप ॥

[४]
छलक पड़े तुम ढुलक पड़े तुम
मंद मंद अविरल गति धार।
इन विपदाओंके समक्ष क्या
मान चुके तुम अपनी हार ॥

[५]
हार नहीं यह विजय तुम्हारी
सहन - शीलता के सुविचार।
आँख उठा कर देखो रोता
हमदर्दी से यह संसार ॥

पं० बालचंद जैन 'विशारद'

श्री पंडितप्रवर टोडरमलजी और उनकी रचनाएँ

(लेखक--पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

हिन्दी-साहित्यके दिगम्बर जैन विद्वानोंमें पं० टोडरमल जीका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है । आप हिन्दीके गद्यलेखक विद्वानोंमें अृषितुल्य समझे जाते हैं । खंडेलवाल जातिके आप भूषण थे । विद्वत्ताके अनुरूप ही आपका स्वभाव भी अत्यन्त विनम्र और दयालु था । स्वाभाविक कोमलता और सदाचारता आपके जीवनके सहचर थे । अहंकार तो आपको छूकर भी नहीं गया था । आन्तरिक भद्रता और वात्सल्यताका परिचय आपकी सौम्य आकृति को देखकर सहज ही होजाता था । आपका रहन-सहन बहुत सादा था आप साधारण अंगरखी, धोती और पगड़ी पहना करते थे । स्वाभाविक आर्जवताने उस सादगीको और भी चार चाँद लगा दिये थे । आध्यात्मिकताका तो आपके जीवनके साथ घनिष्ट सम्बन्ध था । श्री कुन्दकुन्दादि महान आचार्योंके आध्यात्मिक ग्रंथोंके अध्ययन, मनन एवं परिशीलनसे आपकी बुद्धि खूब परिपक्व हो चुकी थी । आप अध्यात्मरसके गाढ़ रसिया थे और उसका आपके जीवनपर अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था । अध्यात्मरसकी चर्चा करते हुए वे आनन्दविभोर हो उठते थे और श्रोता जन भी उनकी वाणीको सुनकर गद्गद् होजाते थे । यद्यपि आप घरमें रहते थे और गृहस्थोचित कर्तव्यका पालन भी करते थे; परन्तु उसमें आसक्त नहीं थे—जलमें कमलकी तरह सदा निर्लिप्त रहा करते थे । निस्पृहता एवं निर्भयता के साथ साथ संवेग और निर्वेदताकी भी आपके जीवनपर गहरी छाप पड़ी थी । यही कारण है कि आप घरमें रहते हुए भी वैरागी थे ।

यद्यपि पंडितजीने अपना और माता-पितादि कुटुम्बी जनोंका कोई परिचय नहीं दिया और न अपने लौकिक जीवनपर कोई प्रकाश ही डाला है । फिर भी लब्धिसार ग्रंथ की टीका प्रशस्तिमें जो कुछ परिचय दिया हुआ है उससे उनके आध्यात्मिक जीवनका बहुत कुछ पता चल जाता है। प्रशस्तिके कुछ पद्य इस प्रकार हैं, जिनमेंसे ३७ वें पद्यसे कुछ ऐसा भी ध्वनित होता है कि पंडितजीकी माताका नाम रमा और पिताका नाम जोगीदास था ।

"मैं हों जीवद्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेर्यो
लग्यो है अनादितैं कलंक कर्ममलको,
ताही को निमित्त पाय रागादिक भाव भये
भयो है शरीरको मिलाप जैसो खलको ।
रागादिक भावनिकौ पायकैं निमित्त पुनि
होत कर्मबंध ऐसो है बनाव कलको,
ऐसें ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग
बनै तो बनै यहां उपाव निज थलको ॥ ३६ ॥
रमापति स्तुतगुन जनक जाको जोगीदास ।
सोई मेरो प्रान है धारैं प्रकट प्रकास ॥ ३७ ॥
मैं आतम अरु पुद्गल खंध मिलिकैं भयो परस्पर बंध ।
सो असमान जाति पर्याय उपज्यो मानुष नाम कहाय ।।३८।।
मात गर्भमें सो पर्याय करिकैं पूरण अंग सुभाय ।
बाहिर निकसि प्रगट जब भयो तब कुटुम्बको मेलो थयो ।३९
नाम धर्यो तिनि हरषित होय टोडरमल्ल कहैं सब कोय ।
ऐसो यहु मानुष पर्याय बधत भयो निज काल गमाय ।।४०
\+ + + +
तिस पर्याय विषैं जो कोय, देखन जानन हारो सोय ।
मैं हों जीवद्रव्य गुन भूप एक अनादि अनंत अरूप ।। ४२
कर्म उदयको कारण पाय रागादिक हो हैं दुखदाय ।
ते मेरे औपाधिक भाव इनिकौं विनशैं मैं शिवराव ।४३।।
वचनादिक लिखनादिक क्रिया वर्णादिक अरु इंद्रय हिया ।
ये सब हैं पुद्गलका खेल इनिमें नांहि हमारो मेल ।। ४४।।

पंडितजीके दो पुत्र थे । एकका नाम हरिचन्द्र और दूसरेका गुमानीराय या गुमानीराम था । हरिचन्द्रको अपेक्षा गुमानीरायका क्षयोपशम विशेष था, वह प्राय: पिताके समान ही प्रतिभासम्पन्न था और इसलिये पिताके कार्योंमें यथायोग्य सहयोग देता रहता था । पिताके स्वर्गवासके बाद गुमानीरायने 'गुमान पंथ' की स्थापना की थी ।

जयपुरमें गुमानपंथका एक मंदिर बना हुआ है, जिसमें पं० टोडरमलजीके सभी ग्रन्थोंकी स्वहस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। यह मंदिर उक्त पंथकी स्मृतिको आज भी ताजा कर देता है*।

पंडितजीको इस बातका बड़ा ध्यान रहता था कि कभी किसीको उनके व्यवहारसे कष्ट न पहुँच जाय—उनका अहित न होजाय। इसीसे वे अपने व्यवहारमें सदा सावधान रहते थे। उनके घरपर विद्याभिलाषियोंका खासा जमघट लगा रहता था, विद्याभ्यासके लिये घरपर जो भी व्यक्ति आता था उसे वे बड़े प्रेमके साथ विद्याभ्यास कराते थे। इसके सिवाय तत्वचर्चाका तो वह केन्द्र ही बन रहा था। वहां तत्वचर्चाके रसिक मुमुक्षु जन बराबर आते रहते थे और उन्हें आपके साथ विविध विषयोंपर तत्वचर्चा करके तथा अपनी शंकाओंका समाधान सुनकर बड़ा ही संतोष होता था और वे पंडितजीके प्रेममय विनम्र व्यवहारसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। आपके शास्त्र प्रवचनमें जयपुरके प्रतिष्ठित, चतुर और विविधशास्त्रोंका अभ्यास करने वाले प्रतिभासम्पन्न श्रोताजन आते थे। उनमें दीवान रतनचन्द्रजी+ अजबरायजी, तिलोकचन्दजी पाटणी, महारामजी×, तिलोकचन्दजी सोगानी, मोतीराम पाटणी, हरिचन्दजी, चौखचंदजी, श्रीचंदजी सोगानी और नेनचन्दजी पाटणीके नाम खासतौरसे उल्लेखनीय हैं। बसवानिवासी पं० देवीदास गोधाको भी आपके पास कुछ समय तक तत्वचर्चा सुननेका अवसर प्राप्त हुआ था‡।

पं० टोडरमल्लजी केवल अध्यात्म ग्रन्थोंके ही वेत्ता या रसिक नहीं थे; किन्तु साथमें व्याकरण,साहित्य, सिद्धान्त, दर्शन और जैनधर्मके करणानुयोगके अच्छे विद्वान थे। आपकी कृतियोंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर इस विषयमें संदेहको कोई गुञ्जायश नहीं रहती। आपके टीकाग्रन्थोंकी भाषा यद्यपि ढूंढारी (जयपुरी) है फिर भी उसमें व्रजभाषाकी पुट है और वह इतनी परिमार्जित है कि पढ़ने वालोंको उसका सहज ही परिज्ञान हो जाता है। आपकी भाषामें सरसता और सरलता है, जो पाठकोंको बहुत रुचिकर प्रतीत होती है। जैसा कि मोक्षमार्गप्रकाशककी निम्न

---

* इस पंथका परिचय फिर किसी समय अवकाश मिलनेपर कराया जायगा।

× दीवान रतनचन्दजी उस समय जयपुरके साधर्मियों में प्रमुख थे, बड़े ही धर्मात्मा और उदार सज्जन थे, आप के लघु भ्राता वधीचन्दजी दीवान थे। दीवान रतनचन्दजी विक्रम सं० १८२७ में जयपुरके राजा पृथ्वीसिंहके समय दीवान पद पर आसीन थे। पं० दौलतरामजीने उक्त दीवानजीकी प्रेरणासे पंडितप्रवर टोडरमलजीकी पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी अधूरी टीकाको पूर्ण की थी। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नवाक्यसे प्रकट है:—

"साधर्मिनमें मुख्य हैं रतनचन्द दीवान।
पृथ्वीसिंह नरेशको श्रद्धावान सुजान। ६।
तिनकै अतिरुचि धर्मसौं साधर्मिनसौं प्रीत।
देवशास्त्र गुरुकी सदा उरमें महाप्रतीत। ७।
आनन्दसुत तिनको सखा नाम जु दौलतराम।
............कुल वणिक जाको वसवेधाम। ८।
× × ×
तासू रतन दीवानने कही प्रीतिधर येह।
करिये टीका पूरणा उर धर धर्मसनेह। १०।
तब टीका पूरी करी भाषा रूप निधान।
कुशल होय चहुँ संघको लहै जीव निजज्ञान। ११।
× × ×
अट्ठारहसै ऊपरै संवत् सत्तावीस।
मार्गशिर दिन शनिवार है सुदि दोयज रजनीस। १३।

यहाँ इतना और भी प्रकट करना उचित जान पड़ता है कि पं०नाथूरामजी प्रेमीने 'हिन्दी जैनसाहित्यका इतिहास' नामक पुस्तकके पृ० ७२ पर जो यह लिखा है—'सुनते हैं जयपुर राज्यके दीवान अमरचन्द्रजीने अपने पास रखकर विद्याध्ययन कराया था।" यह ठीक नहीं है; क्योंकि पण्डित टोडरमलजी रतनचन्द्रजी दीवानके समयमें हुए हैं, और रतनचंदजीके बाद उनके भाई बधीचन्दजी, फिर शिवजीलालजी और फिर इनके सुपुत्र अमरचंदजी दीवान हुए।

+"महारामजी ओसवाल जातिके उदासीन श्रावक थे, बड़े बुद्धिमान थे और यह पं० टोडरमलजीके साथ तत्त्व चर्चा करनेमें विशेष रस लेते थे।"

‡ "सो दिल्लीसूं पढ़कर वसुवा आय पाछैं जयपुरमें थोड़े दिन टोडरमलजी महाबुद्धिवानके पासि सुननेका निमित्त मिल्या, पीछैं वसुवा गये।"—देखो, सिद्धान्तसारकी टी.प्र.

पंक्तियोंसे प्रकट है :—

"कोऊ कहेगा सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानि पर द्रव्यकों त्यागै है। ताका समाधान—सम्यग्दृष्टि परद्रव्यनिकौं बुरा न जानै है। आप सरागभावकौं छोरे, तातैं ताकाका कारण का भी त्याग हो है। वस्तुविचारें कोई परद्रव्यतौ भला बुरा है नाहीं। कोऊ कहेगा, निमित्तमात्र तो है। तका उत्तर—पर द्रव्य जोरावरी तौ क्योंई विगारता नाहीं। अपने भाव विगरैं तब वह भी बाह्यनिमित्त है। बहुरि वाका निमित्त विना भी भाव विगरैं हैं। तातैं नियमरूप निमित्त भी नाहीं। ऐसैं परद्रव्यका तो दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादिक भाव ही बुरे हैं सो याकै ऐसी समझ नाहीं। यह परद्रव्यनिका दोष देखि तिन विषैं द्वेषरूप उदासीनता करै हैं। सांची उदासीनता तौ वाका नाम है, जो कोई भी परद्रव्यका गुण वा दोष न भासै, तातैं काहूकौं भला बुरा न जानै। आपको आप जानै, परकौं पर जानै, परतैं किछु भी प्रयोजन मेरा नाहीं, ऐसा मानि साक्षीभूत रहै, सो ऐसी उदासीनता ज्ञानी हीकै होय।" (पृ० ३४३–४)

रचनाएँ और रचनाकाल

आपकी कुल नौ रचनाएँ हैं जिनमें ६ तो टीकाग्रन्थ हैं, एक रहस्यपूर्ण चिट्ठी है और दो रचनाएँ उनकी टीका-ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थोंका अनुभव या सार लेकर रची गई हैं। उनके सब नाम इस प्रकार हैं:—१ गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका, २ गोम्मटसार कर्मकण्ड टीका, ३ लब्धिसार क्षपणासार टीका, ४ त्रिलोकसार टीका, ५ आत्मानुशासन टीका, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, ८ अर्थसंदृष्टि अधिकार और ६ मोक्षमार्गप्रकाशक।

इनमें आपकी सबसे पुरानी रचना उक्त चिट्ठी है जो वि० सं० १८११ की फाल्गुण वदी पंचमीको मुलतानके अध्यात्मरसके रोचक खानचंदजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी सिद्धारथजी आदि अन्य साधर्मी भाइयोंको उनके प्रश्नोंके उत्तररूपमें लिखी गई थी। यह पत्र अध्यात्म रसके अनुभवसे ओत-प्रोत है और इसमें आध्यात्मिक प्रश्नोंका उत्तर कितने सरल एवं स्पष्ट शब्दोंमें विनयके साथ दिया गया है यह चिट्ठीको देखते ही बनता है। चिट्ठीगत शिष्टाचारसूचक निम्न वाक्य तो खास तौरसे पंडितजीकी आन्तरिक भद्रता तथा वात्सल्यताका द्योतक है :—

"तुम्हारे चिदानन्द घनके अनुभवसे सहजानन्दकी वृद्धि चाहिये।"

गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार इन ग्रन्थोंके प्रधानतया मूलकर्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं*। गोम्मटसार ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ रची गई हैं, किन्तु वर्तमानमें उपलब्ध सभी टीकाओंमें प्राचीन टीका मन्दप्रबोधिका है जिसके कर्ता अभयचन्द्र हैं+। इस टीकाके आधारसे ही ही केशववर्णीने शक संवत् १२८१ में 'जीवतत्त्व प्रदीपिका' नामकी टीका कनड़ी भाषामें लिखी है। जो कोल्हापुरके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है। मन्दप्रबोधिका और केशववर्णीकी उक्त कनड़ी टीकाका आश्रय लेकर भट्टारक नेमिचन्द्रने अपनी संस्कृत टीका बनाई है× जो 'जीवतत्त्वप्रदीपिका नामसे ख्यात है। इस संस्कृत टीकाके आधारसे ही पं० टोडरमलजीने अपनी हिन्दी टीका बनाई है, जिसका नाम सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका है. जो संस्कृत टीकाका अनुवाद होते हुए भी उसके प्रमेयका स्पष्ट विवेचन करती है। इसमें उन्होंने अपनी ओरसे कषायवश कुछ भी नहीं लिखा है:—

"आज्ञा अनुसारी भए अर्थ लिखे या मांहि।
धरि कषाय करि कल्पना हम कछु कीनौ नांहि।"३३।

---

* बहुत सूत्रके करनतैं नेमिचन्द्र गुनधार।
मुख्यपने यो ग्रन्थके कहिये हैं करतार॥ १२॥
कनकनन्दि पुनि माधवचन्द्र। प्रमुख भये मुनि बहुगुणवृन्द।
तिनहूकौ है यामें सीर। सूत्र कितेक किये गम्भीर।१३
—लब्धिसार टी० प्रशस्ति

+ अभयचन्द्रने गोम्मटसार जीवकाण्डकी ८३ नं० की गाथाकी टीकामें एक पंचिका' टीकाका और भी उल्लेख किया है:—"अथवा सम्मूर्च्छन गर्भोपपातानाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मटसारपंचिकाकारादीनामभिप्रायः।" इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि मन्दप्रबोधिकासे पूर्व गोम्मटसारपर 'पंचिका' नामकी कोई टीका और थी, परन्तु उसका कर्ता कौन था, यह अभी अनिश्चित है। हो सकता है कि चामुण्डरायकी देशी टीका ही यह पंचिका हो।

× देखो, डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० का गो० की जीवतत्त्वप्रदीपिका' वाला लेख 'अनेकान्त' वर्ष ४ कि० १

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नाम, भाषा मय टीका अभिराम।
भई भले अर्थनिकरियुक्त, जा विधसो सुनिये अब उक्त।"

इस टीकाकी रचना रायमल्ल नामके एक साधर्मीश्रावक की प्रेरणासे की गई है, जो विवेकपूर्वक धर्मका साधन करता था*। गोम्मटसारकी टीका बननेके पश्चात् लब्धिसारकी टीका लिखी गई है। इस टीकाके पूर्ण होनेपर वे आल्हादित ही नहीं हुए; किन्तु प्रारम्भ कार्यके निष्पन्न होनेपर उन्होंने अपनेको कृतकृत्य समझा। साथ ही टीका पूर्ण होनेसे उन्हें जो आनन्द प्राप्त हुआ उसमें मंगल सुखकी कामना करते हुए पंच परमेष्ठीकी स्तुति की है और उन जैसी अपनी दशाके होनेकी अभिलाषा भी व्यक्त की है। यथा:—

"आरम्भो पूरण भयो शास्त्रसुखद प्रासाद।
अब भये कृतकृत्य हम पायो अति आल्हाद ॥६०
+ + +
अरहंत सिद्ध सूरि उपाध्याय साधु सर्व
अर्थके प्रकाशी मंगलीक उपकारी हैं।
तिनको स्वरूप जानि रागतैं भई है भक्ति
कायकौं नमाय स्तुतिकौं उचारी है।
धन्य धन्य तुमहीतैं सब काज भयो
कर जोरि बारंबार वंदना हमारी है।
मंगल कल्याणसुख ऐसो अब चाहत हैं
होहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है।

लब्धिसारकी टीका वि० सं० १८१८ की माघशुक्ला पंचमीके दिन पूर्ण हुई है, जैसा कि उसके प्रशस्तिपद्यसे स्पष्ट है:—

"संवत्सर अष्टादशयुक्त, अष्टादशशत लौकिकयुक्त,
माघशुक्लपंचमि दिन होत, भयो ग्रंथ पूरन उद्योत।"

परन्तु यह ज्ञात नहीं हो सका कि त्रिलोकसार और आत्मानुशासनकी टीकाका निर्माण कब किया गया, तथा 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' कब लिखा गया, जो संस्कृत टीकागत अलौकिक गणितके उदाहरणों, करणसूत्रों और अंकसंदृष्टियोंका स्पष्ट परिचायक और विवेचक है तथा जिसमें संख्यात, असंख्यात आदिकी संहनानी आदिका स्पष्ट विवेचन स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें किया गया है और जो 'अर्थसंदृष्टि' इस सार्थक नामसे प्रसिद्ध है। इसका पर्यालोचन अथवा स्वाध्याय करनेसे संदृष्टि-विषयक सभी बातोंका बोध हो जाता है। हिन्दी भाषाके अभ्यासी स्वाध्यायप्रेमी सज्जन भी इससे बराबर लाभ उठाते रहते हैं। आपकी इन टीकाओंसे ही दिगम्बर समाजमें पुनः कर्मसिद्धान्तके पठन-पाठनका प्रचार बढ़ा है और इनके स्वाध्यायी सज्जन कर्मसिद्धान्तसे अच्छे परिचित देखे जाते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक और पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीका ये दोनों रचनाएँ आपकी पिछली कृतियाँ मालूम होती हैं; जिन्हें आयु पूरी होजानेसे आप पूरी नहीं कर सके हैं, अन्यथा वे जरूर पूरी की जातीं। फिर भी अकेला मोक्षमार्गप्रकाशक ही ऐसा ग्रन्थ है जिसकी जोड़का दूसरा ग्रंथ हिन्दीमें अभी तक देखनेमें नहीं आया। यद्यपि पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीका रतनचन्द्रजी दीवानकी प्रेरणासे पं० दौलतरामजीने सं० १८२७ में पूरी अवश्य करदी है; परन्तु उनसे उसका वैसा निर्वाह नहीं हो सका है। फिर भी उसका अधूरापन दूर हो ही गया है।

पं० टोडरमल्लजीका रचनाकाल सं० १८११ से १८१८ तक तो निश्चित ही है। फिर इसके बाद और कितने दिन चला यह यद्यपि अनिश्चित है, परन्तु सं० १८२७ के पूर्व तक उसकी सीमा ज़रूर है ×।

ऊपरके इन उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि जयपुरनरेश माधवसिंह प्रथमका राज्य वि० सं० १८११ से १८२४ तक तो निश्चित ही है। पं० टोडरमल्लजीकी उपलब्ध सभी

---

*रायमल्ल साधर्मी एक। धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नानाविध प्रेरक भयो। तब यह उत्तम कारज थयो।४७
—लब्धिसार टीकाप्रशस्ति

+"वि० सं० १८११ में रामसिंह (जोधपुरनरेश) ने एक बार फिर गए हुए राज्यको पानेकी कोशिश की और जयपुर महाराज माधवसिंह प्रथम और आपाजी रावकी सहायतासे मारवाड़पर चढ़ाई की।"

—देखो, भारतके प्राचीनराजवंश भाग ३ पृ० २३६

"जयपुर महाराज माधवसिंह (प्रथम) और जोधपुर नरेश महाराजा विजयसिंहमें शत्रुता होगई थी, इसीसे जब वि० सं० १८२४ में भरतपुरके जाट राजा जवाहरसिंहने जयपुरपर चढ़ाई की तब विजयसिंहने भरतपुर वालोंकी सहायता की थी।"

—भारतके प्रा० राजवंश भा० ३ पृ० २४०

रचनाएँ माधवसिंह प्रथमके राज्यकालमें ही निर्मित हुई हैं। पं० दौलतरामजी भी पद्मपुराणकी टीका प्रशस्तिमें सं० १८२७ में जयपुरमें पृथ्वीसिंहका राज्य बतलाते हैं।

पं० टोडरमल्लजीकी मृत्युके सम्बन्धमें निश्चित तिथिका उल्लेख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सका, और न यही मालूम हो सका कि उनका स्वर्गवास कब और कैसे हुआ है? परन्तु उनकी मृत्युके सम्बन्धमें जो किम्बदन्ती जैनसमाजमें प्रचलित है कि— उनकी मृत्यु हाथीके पैर तलें दाब कर की गई है'—उसकी यथार्थतामें भारी सन्देह है; क्यों कि इस बातका समर्थन कहींसे भी उपलब्ध नहीं होता। न तो समकालीन विद्वान टीकाकार पं० दौलतराम-जीने ही उसका कोई उल्लेख किया है और न उनके लघु पुत्र गुमानीरामका ही इस विषयमें कोई उल्लेख प्राप्त है इसके सिवाय बसवा निवासी पं० देवीदासजीने भी उनकी मृत्युके सम्बन्धमें कोई संकेत नहीं किया, जब कि वे अपनी टीका प्रशस्तिमें* उनसे स्वयं सुननेका उल्लेख करते हैं, और असाता उनके लघुपुत्रसे भी सुनकर ज्ञान प्राप्तिका संकेत करते हुए उनके श्रोताओंके समक्ष दीवान रतनचन्द्रजीकी प्रेरणासे शास्त्रके व्याख्यानका, और दीवान रतनचन्द्रजीकी आयु पूरी होने तकका भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं। ऐसी हालतमें पं० टोडरमल्लजीकी मृत्युके सम्बन्धमें यदि ऐसी कोई अनिष्ट घटना घटित हुई होती तो वे उसका उल्लेख किये बिना न रहते। दूसरे ऐसे विद्वानके सम्बन्धमें ऐसी अनिष्ट घटनाका प्रसंग भी कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि उनकी परणति भी ऐसी नहीं थी जिससे उन्हें वैसी अनिष्ट घटनाके लिये बाध्य होना पड़ता। अस्तु।

यहां यह बतलाना भी अनुचित न होगा कि पं० सुमेरचन्दजी उज्जैनीपुने १४ मार्च सन् ४० के जैनसंदेश अंक ४६ में अपने 'तोडरमल्ल या टोडरमल्ल' नामके लेख में गोम्मटसारकी टीकाको सं० १८२८ में समाप्त करना, और पं० देवीदासकी उक्त प्रशस्तिके आधार पर सं० १८३८ में उनके साथ धार्मिक समागममें उपस्थित रहना जो प्रकट किया था वह ठीक नहीं है; क्योंकि मैं पहले लिख आया हूँ कि गोम्मटसारकी टीका लब्धिसार क्षपणासारकी टीकाके सं० १८१८ में बननेसे पहले बन चुकी थी अत: सं० १८२८ में गम्मटसारकी टीका समाप्त करना बतलाना ठीक नहीं है। दूसरे, उनकी मृत्यु भी सं० १८२७ से पहले हो चुकी थी; क्योंकि उनकी पुरुषार्थ सिद्ध्युपायकी अधूरी टीकाको पं० दौलतरामजीने सं० १८२७ में पूरा किया है, अत: ऐसी हालतमें सं० १८३८ तक पं० टोडरमल्लजीका जीवित रहना और उनके साथ पं० देवीदासका धार्मिक समागममें उपस्थित रहना कैसे बन सकता है। ऐसा प्रकट करना किसी भूलका ही परिणाम जान पड़ता है। पं० देवीदासजी देहलीसे बसुवा होते हुए जब पहले जयपुर आये तब टोडरमल्लजीसे उन्हें सुननेका अवसर जरूर मिला था; परन्तु बसवा वापिस जानेके बाद पुन: जयपुर आने पर उन्हें पं० टोडरमल्लजी नहीं मिले, इसीसे उनके अभावमें

*"सो दिल्ली सूं पढ़िकर बसुवा आय पाछैं जायपुरमें थोड़ा दिन टोडरमल्लजी महाबुद्धिवानके पासि सुननेका निमित्त मिल्या, पीछैं बसुवे गए। बहुरि बसुवा तैं जयपुरमें गए सो दीवान रतनचन्दजीके धर्मानुराग करि मंदिर विषैं शास्त्रका व्याख्यान किया, सो टोडरमल्लजीके जे श्रोता विशेष बुद्धिवान दीवान रतनचन्दजी, अजबरायजी, तिलोक-चन्द पाटणी, महारामजी विशेष चर्चावान ओसवाल क्रियावान् उदासीन तथा तिलोकचंद सोगानी, मोतीराम पाटनी, हरिचंद, चोखचंद, श्रीचंदजी सोगानी, नैनचन्दजी पाटनी इत्यादि टोडरमल्लजीके श्रोता विशेष बुद्धिवान तिनके आगे शास्त्रका तो व्याख्यान किया और कामा वाला रतन-चंदजीका कितनैक दिन जयपुरमें सामिल रहना भया, तिनके निमित्ततैं तथा तिनके पीछैं टोडरमल्लजीके बड़े पुत्र हरिचंदजी तिनतैं छोटे गुमानीरामजी महाबुद्धिवान वक्ताके लक्षणकूं धारैं तिनके पासि रहस्य कितनेक सुनकर कछु जानपना भया बहुरि फागई वाले जयचंदजी छावड़ा तिनका संग जयपुरमें मिल्या, ऐसैं गुणवान पुरुषनिकी संगति मिली, सो दीवान रतनचंदजीकी आयु पूरी भई तिस पीछैं दीवान रतनचंदजी भाई बधीचंदजी अति आत्सल्यवान् तिनकी प्रीति तैं जयपुरमें कितनेक बरष रहि करि संवत् १८३८ जेठमें कोई कर्मके उदयकारे अपना परिका द्रव्यको वाणिज्यके निमित्त तैं क्षय करि मारोठ विषैं आयो"। —सि० प्र० सं० २१६

नोट—सिद्धाँतसारकी यह प्रशस्ति बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहलीसे प्राप्त हुई है, मैं उनका इस कृपाके लिये बहुत आभारी हूँ। लेखक

पंडितजीके श्रोताओंके समक्ष दीवान रतनचंद्रजीकी प्रेरणासे मंदिरमें शास्त्रका व्याख्यान करनेका पं० देवीदासजीको अवसर मिला था। और वहाँ कुछ समय ठहर कर दीवान रतनचन्दजीकी मृत्यु हो जानेके बाद भी कितने ही वर्ष तक जयपुरमें बधीचंदजी दीवानके वात्सल्यसे वे रहे फिर सं० १८३८ में पं० देवीदासजी मारौठ आये। अतः फुटनोटमें मुद्रित उक्त प्रशस्तिकी कुछ पंक्तियों परसे पं० सुमेरुचन्दजीने जो नतीजा निकाला है वह अभ्रान्त नहीं है।

वीरसेवा मन्दिर, सरसावा ता० १६ मार्च १९४४

राष्ट्रोत्थानमें ग्रामोंका महत्व

(ले०—बा० प्रभुलाल जैन 'प्रेमी')

चक्रवर्तीनरेश बसंत चारों ओर अपना रथ सजाकर घूमता हुआ, अपनी मीठी रागसे सुन्दर संदेश सुना रहा था। कभी पृथ्वीकी हरियाली छटामें, कभी बनके ठूंठे और अमजीवी वृक्षोंमें, कभी आम्र काननकी बोरोंमें छिपकर गहरा आनन्द लेता हुआ गा रहा था। ऋतुराज एक ग्रामीण भावुक युवक और सौंदर्य परिपूर्ण युवतीके मुख-कमलकी आभाको देखकर, प्रसन्न ही हो रहे थे, कि उन्हें ग्रामके घृणित वातावरण, धार्मिक भ्रान्ति, अज्ञानता, रूढ़िवाद और दुकियानुसाके अन्धविश्वासपर दृष्टिपात कर अविश्रांत अश्रुधारा बहानेके लिये विवश होना पड़ा। केवल इसीलिये कि जिन ग्रामोंमें भारतकी ६० प्रतिशत जनता निवास करती है, जो संख्यामें साढ़े सात लाख हैं, जो भारतीय राष्ट्रके हाथ और पैर हैं, जो भारतसरकारके अर्थ-कोषके सोना और चांदी हैं, जिनकी सभ्यता प्राचीनतम सभ्यताकी द्योतक कही जाती है। जिनके शील और सदाचारका पवित्र गुरुत्व संसारके समक्ष एक अनूठा आदर्श कहा जाता था, जिनकी उद्यमशीलता और कर्मठता संसार का पेट भरा करती थी, जिनकी शुद्ध स्नेहकी मात्रा परमेश्वर तकको आकर्षित कर लेती थी; जिनके बन्धुत्वका पराग विश्वमात्रको सौरभित करता था; जिनका ऐक्य वृक्ष सुस्वादमय मधुर फलोंको प्रदानकर सुहृद और अनुरागी बनाया करता था; जिनकी निष्काम कर्मकामना गीताके उपदेशकी परिपक्वता प्रदर्शित किया करती थी; जिनके कोमल हृदय भावुकता और मानवताके सच्चे हृदयग्राही थे, जिनके पास छल, कपट और पाखंडको स्थान तक नहीं मिलता था, जिनकी विदुषी महिलाएँ किसी भी युगकी नवीनताकी संचालिका और संतति-पथ-प्रदर्शिका थीं; जिनके स्वावलम्बनकी मात्रापर संसार मुग्ध रहा करता था, जो पारस्परिक प्रेमाच्छादित वृक्षोंसे दुर्बलोंको छाया दिया करते थे, हाय! भारतके उन ग्रामोंकी आज क्या दशा है? और उन्हींकी दुर्दशाके कारण राष्ट्रका कैसा पतन होरहा है?

आज हम अंगुलियोंपर गिने जाने योग्य भारतके शहरोंकी सजी सजाई, शानदार, गगनचुम्बी इमारतोंको देखकर इस देशकी आर्थिक स्थितिका पता नहीं लगा सकते हैं! नगरोंमें स्थापित पुस्तकालयों, सरकारी और प्रजासंचालित शिक्षाशालाओं और उनमें प्रचारित बुरी या भली शिक्षाके माध्यमको देखकर हम ग्रामोंकी शिक्षाका अनुमान नहीं लगा सकते हैं। शहरोंकी घनी संख्या, व्यापारकी हलचल, व्यवसायकी चहल पहल, रुपयेकी आमद तथा शिक्षा-संस्थाओं व समितियोंका एकत्रीकरण देशकी सम्पत्ति तथा विद्या जाननेकी कसौटियां नहीं हैं। हमें देशके ६० प्रतिशत निवासियों और उनके आश्रितोंकी सच्ची हालत जाननेके लिये भारतके साढ़े सात लाख ग्रामोंको देखना होगा। क्योंकि सच्चा भारत ग्रामोंमें रहता है और देशकी सची समृद्धि ग्रामोंकी समृद्धिपर अवलम्बित है। भारतीय राष्ट्रके उत्थानका उत्तरदायित्व २१ करोड़ ग्रामीण जनताके उत्थानका उत्तरदायित्व है। ग्रामीण जनताकी सेवा जनार्दनकी सेवा है। ग्राम भारतीय प्राचीन सभ्यताके निर्मल दर्पण हैं और राष्ट्र संचालनकी कुंजी है। ग्राम कर्मभूमिके द्वार और मोक्षके स्थान हैं। वे भारतीय राष्ट्रकी रीढ़की हड्डी हैं। अतः हमें भारतकी प्राचीनतम सभ्यता, शिक्षा, व्यवस्था और धार्मिकताके आदर्शको स्थापित रखनेके लिये ग्रामोंको ही पूर्ववत् अपनाना होगा।

नयोंका विश्लेषण

(ले०—श्री पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)

[गतकिरण नं० ७ से आगे]

(८) नयोंका लोक-संग्राहक वर्ग

जिस प्रकार एक जैनी वक्ता अपने अनुभव और तर्कके आधार पर सैद्धान्तिक दृष्टिसे कभी नित्यत्वादि सामान्यरूप और कभी अनित्यत्वादि विशेषरूप तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे कभी निश्चयरूप और कभी व्यवहाररूप इस प्रकार भिन्न २ समयमें प्रयोजनके अनुसार वस्तुका भिन्न २ तरहसे प्रतिपादन करता है उसी प्रकार जैनेतर वक्ताओंमें भी अपने अनुभव और तर्कके आधार पर सैद्धान्तिक दृष्टिसे कोई वक्ता तो वस्तुका सिर्फ नित्यत्वादि सामान्यरूपसे ही प्रतिपादन करता है और कोई वक्ता उसका सिर्फ अनित्यत्वादि विशेषरूपसे ही प्रतिपादन करता है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे कोई वक्ता तो वस्तुका सिर्फ निश्चयरूपसे ही प्रतिपादन करता है और कोई वक्ता उसका सिर्फ व्यवहाररूपसे ही प्रतिपादन करता है। इस लिये जिस प्रकार जैनी वक्ताके एक ही वस्तुका भिन्न २ तरहसे प्रतिपादन करने वाले उन भिन्न २ वचनोंमें परस्पर एक दूसरे वचनके साथ समन्वय करनेके लिये नयपरिकल्पना द्वारा एकवाक्यता अर्थात् एक वाक्य अथवा एक महावाक्यके अवयवत्वका स्पष्टीकरण जैनधर्मकी मान्यताके अनुसार पहिले किया जा चुका है उसी प्रकार अनेक अजैन वक्ताओंके वस्तुका भिन्न २ तरहसे प्रतिपादन करने वाले पूर्वोक्त प्रकारके भिन्न २ वचनोंमें भी परस्पर एक दूसरे वक्ताके वचनोंके साथ समन्वय करनेके लिये नयपरिकल्पना द्वारा एक वाक्यता जैनधर्ममें स्वीकार की गयी है।

तात्पर्य यह है कि लोकमान्यताके अनुसार आमके रूप-स्पर्श-गंध-रसात्मक सिद्ध हो जाने पर यदि एक व्यक्ति उसका ज्ञान आंखोंसे रूपके जरिये करता है, दूसरा व्यक्ति उसका ज्ञान हाथोंसे स्पर्शके जरिये करता है, तीसरा व्यक्ति उसका ज्ञान नाकसे गंधके जरिये करता है और चौथा व्यक्ति उसका ज्ञान जीभसे रसके जरिये करता है तो जिस प्रकार एक ही आमके बारेमें भिन्न २ व्यक्तियोंको भिन्न २ प्रकारसे होने वाले इन ज्ञानोंको एक ही व्यक्तिको भिन्न २ कालमें होने वाले इसी तरहके भिन्न २ ज्ञानोंके समान लोकमें गलत नहीं माना जाता है उसी प्रकार जैनधर्मकी मान्यताके अनुसार सैद्धान्तिक दृष्टिसे वस्तुके सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध हो जाने पर यदि एक जैनेतर वक्ता उसका कथन सामान्यरूपसे ही करता है और दूसरा जैनेतर वक्ता उसका कथन विशेषरूपसे ही करता है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे वस्तुके निश्चय-व्यवहारात्मक सिद्ध हो जाने पर यदि एक जैनेतर वक्ता उसका कथन निश्चय रूपसे ही करता है और दूसरा जैनेतर वक्ता उसका कथन व्यवहाररूपसे ही करता है तो एक ही वस्तुका भिन्न २ प्रकारसे कथन करने वाले भिन्न २ वक्ताओंके उन वचनोंको भी जैनी वक्ताके भिन्न २ कालमें प्रयुक्त इस प्रकारके भिन्न २ वचनोंके समान जैनधर्ममें न केवल गलत नहीं माना गया है बल्कि उनमें एकवाक्यता स्थापित करनेका महान प्रयत्न भी वहां पर (जैनधर्ममें) किया गया है। क्योंकि जैनधर्ममें सैद्धान्तिक दृष्टिसे "वस्तु नित्य है" और "वस्तु अनित्य है" ये दोनों परस्पर निरपेक्ष-स्वतंत्र वाक्य वस्तुमें क्रमसे नित्यता और अनित्यताका सद्भाव बतलानेकी अपेक्षासे गलत नहीं माने गये हैं, बल्कि प्रथम वाक्य यदि वस्तुमें रहने वाली अनित्यताका विरोध करता है और द्वितीय वाक्य यदि उसमें (वस्तुमें) रहने वाली नित्यताका विरोध करता है तो ऐसी हालतमें ही इन वाक्योंको गलत स्वीकार किया गया है। स्वामी समन्तभद्रने भी जैनेतर दार्शनिकोंके वस्तुका सिर्फ नित्यत्वादि सामान्यरूप या सिर्फ अनित्यत्वादि विशेषरूप कथन करने वाले वचनोंको आप्तमीमांसाकी १०८ वीं कारिका[1] में

१ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥

जो सर्वथा गलत मानने से इंकार किया है उसका आशय यही है। यही बात आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय और व्यवहारकापरस्पर निरपेक्ष-स्वतंत्र रूपसे प्रतिपादन करने वाले वाक्योंके विषयमें भी समझनी चाहिये।

इस तरहसे जैनधर्मके दर्शनमें यह निष्कर्ष निकाला गया है कि एक ही वस्तु सैद्धान्तिक दृष्टिसे अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे जब अनेक २ रूप सिद्ध होती है तो 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'' की लोकोक्तिके अनुसार अपनी २ भिन्न २ बुद्धिके अनुसार वस्तुके उन अनेक रूपोंमेंसे एक एक रूपका प्रतिपादन करने वाले भिन्न २ लोगोंके भिन्न २ वचनोंको गलत माननेकी अपेक्षा अधूरा मानना ही ठीक है, और ऐसा मान लेने पर जब यह निश्चित है कि अधूरा कथन अर्थका समग्ररूपसे प्रतिपादन करनेमें असमर्थ रहता है तो अर्थका समग्ररूपसे प्रतिपादन करनेके लिये भिन्न २ वचनों में एक वाक्यता प्रस्थापित करने की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भिन्न भिन्न वक्ताओंके उन भिन्न भिन्न वचनोंको एकवाक्य अथवा एक महावाक्यके अवयव स्वीकार करना होंगे और तब उन सभी वचनोंके समुदायरूप वाक्य अथवा महावाक्य प्रमाण कहे जावेंगे तथा भिन्न भिन्न वक्ताओंके भिन्न भिन्न वचन उस प्रमाणके अवयव होजाने के कारण नय कहे जावेंगे। यह तभी हो सकता है जब कि एक ही वस्तुका भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिपादन करनेमें निमित्तभूत भिन्न भिन्न बुद्धि, प्रयोजन और द्रव्य-क्षेत्र काल या भावादिके आधारपर कायम की गयी भिन्न भिन्न दृष्टियों पर उन वक्ताओंका लक्ष्य दिलाया। जावे जैनधर्मकी 'स्यात्' की मान्यता अर्थात् ''स्याद्वाद'' का यही प्रयोजन है। अर्थात्—इस स्यातकी मान्यताके बलपर ही भिन्न २ वक्ताओंके भिन्न २ वचनोंका समन्वय किया जा सकता है और तभी वे सब वचन एक समन्वयात्मक वाक्य अथवा महावाक्यके अवयव अर्थात नय स्वीकार किये जा सकते हैं।

ये नय यद्यपि पूर्वोक्त सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक नयों से भिन्न नहीं हैं परन्तु अनेक वक्ताओंके भिन्न वचनोंका समन्वय करना ही इनका मुख्य प्रयोजन होनेके सबबसे इन को हमने ''नयोंका लोकसंग्राहक वर्ग'' नाम देना ही ठीक समझा है। और इस लिये इस वर्गके भेदोंकी यदि गणना की जाय, तो वे उतने होंगे जितने कि एक अर्थका भिन्न रूपसे प्रतिपादन करने वाले भिन्न २ वक्ताओंके भिन्न २ वचन हो सकते हैं। ''जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया'' [सम्मति ३—४७] इस गाथांशका यही अभिप्राय है।

यद्यपि लोगोंके मतभेदोंको भुला कर परस्परमें ऐक्य स्थापित करना इस नय वर्गका मुख्य प्रयोजन है और इस प्रयोजनको दृष्टिमें रख करके ही जैनधर्ममें अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीवाद, द्रव्यादि चतुष्टयवाद[1] तथा नामादि चतुष्टयवाद[2] आदि वादों का वस्तृत विवेचन किया गया है परन्तु अफसोस है कि स्वयं जैनी लोग ही इनका ठीक तरहसे उपयोग नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि जैन-दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी दूसरे मतोंके बारे में समन्वयात्मक पद्धतिकी अपेक्षा खण्डनात्मक पद्धतिको ही प्रश्रय दिया गया है और इसीका यह परिणाम है कि जैनधर्म भी दूसरे धर्मोंकी तरह दुनियाकी नजरोंमें एकांगी सम्प्रदाय बन गया है। इतना ही नहीं, इसके अन्दर भी कई शक्तिशाली संप्रदायोंका पोषण हुआ और हो रहा है।

(६) अर्थनय और शब्दनय

उल्लिखित सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक और लोकसंग्राहक ये सभी प्रकारके नय अर्थनय और शब्दनयके भेदसे दो प्रकारके जैनधर्ममें माने गये हैं। नयोंका यह अर्थनय और शब्दनय रूप विभाग भाषा-शुद्धिकी गौणता और मुख्यता पर अवलंबित है अर्थात् वक्ताके जिन वचनोंमें भाषाशुद्धि की ओर लक्ष्य नहीं देकर सिर्फ अर्थके प्रतिपादनकी ओर ही लक्ष्य दिया गया हो वे वचन अर्थनय माने गये हैं और वक्ताके जिन वचनोंमें अर्थप्रतिपादनके साथ २ भाषाशुद्धिकी ओर भी लक्ष्य दिया गया हो वे वचन शब्दनय माने गये हैं।

तात्पर्य यह है कि मानव-समाजमें भाषाका कितना महत्व है यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है। लोकमें मनुष्यके पास अपना अभिप्राय दूसरों पर प्रकट करनेके लिये भाषा ही मुख्य साधन मानी गयी है और यह भाषा अर्थके प्रतिपादन करनेमें व्याकरण, कोष तथा शाब्दिक निरुक्ति एवं परिभाषा आदिके नियमोंसे बांध दी गयी है इस लिये लोकमें यद्यपि अधिकतर व्याकरणादिके नियमानुकूल व्यव-

१—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।
२—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

स्थित भाषाका ही प्रयोग हुआ करता है फिर भी प्रायः यह भी देखनेमें आता है कि जिन लोगोंको व्याकरणादि का परिज्ञान नहीं है वे भी अपना अभिप्राय दूसरोंपर प्रकट करनेके लिये भाषाका प्रयोग तो करते ही हैं। इस तरहसे भाषा अपने आप दो भागोंमें विभक्त हो जाती है—एक भाषा वह है जो व्याकरणादिके नियमोंसे परिमार्जित रहती है और दूसरी वह है जो व्याकरणादिके नियमोंसे अपरिमार्जित रहा करती है। लेकिन भाषा चाहे व्याकरणादिकी दृष्टिसे परिमार्जित हो चाहे न हो, उसके द्वारा वक्ता अपना अभिप्राय प्रकट करता ही है। इस लिये अर्थ-प्रतिपादनकी दृष्टिसे अर्थनय और शब्दनय दोनों समान माने गये हैं। विशेषता इतनी है कि शब्दनयोंमें भाषाकी व्याकरणादिकी अपेक्षा शुद्धि अनिवार्य मानी गयी है, इस लिये इनको भाषा की प्रधानताके कारण शब्दनय नाम दिया गया है और अर्थनयोंमें भाषाकी व्याकरणादिकी अपेक्षासे शुद्धिकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है, इस लिये भाषाकी अप्रधानता के कारण इनको अर्थनय नाम दिया गया है। "अर्थनया अर्थप्रधानत्वात्, शब्दनयाः शब्दप्रधानत्वात्" (अष्टसहस्री पृ० २८७) इत्यादि वचन इसी अभिप्रायको लेकर प्रयुक्त किये गये हैं।

लोकमें प्रायः देखा जाता है कि एक हिन्दी भाषासे ठीक तौर पर अपरिचित मनुष्य हिन्दी भाषा भाषी लोगोंके समक्ष अपना अभिप्राय प्रकट करनेके लिये टूटी-फूटी हिन्दी बोलने लगता है, बस यही अर्थनय समझना चाहिये। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि स्याद्वाद्-महाविद्यालय बनारसमें इंगलिशकी शिक्षा देने वाले एक योग्यतम बंगाली विद्वान हम लोगोंको पढ़ाते समय "कुत्ता दौड़ा" "बिल्ली दौड़ा" आदि हिन्दीके वाक्यों द्वारा अंग्रेजीके वाक्यों का अर्थ समझाया करते थे। आजकल भी बात-चीत करते समय बहुतसे लोग "हम जाता है" "हम जायगा" इत्यादि प्रयोग किया करते हैं। ये सब प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे अपरिमार्जित हैं। और इस प्रकारके वाक्य-प्रयोग जो व्याकरणादिकी दृष्टिसे अपरिमार्जित होते हुए भी लोक व्यवहारमें काम आते हैं उन सबको अर्थनयोंमें अन्तर्भूत करना चाहिये। तारण स्वामीके ग्रन्थोंके विषयमें भी यही बात लागू होती है। अर्थात् उनकी भाषा व्याकरणादिकी दृष्टिसे अपरिमार्जित होते हुए भी जहां तक अर्थप्रतिपादनका सवाल है वे ग्राह्य समझे जा सकते हैं। लेकिन व्याकरणादिकी अपेक्षासे अपरिमार्जित भाषाका प्रयोग एक तो वक्ताके लिये अपना अभिप्राय दूसरोंको समझानेमें बहुत ही कम उपयोगी सिद्ध होता है दूसरे ऐसे प्रयोगों द्वारा श्रोताओं को अर्थनिर्णयमें भ्रम या संशय पैदा हो जानेकी अथवा उनमें (श्रोताओंमें) परस्पर विवादकी मात्रा बढ़ जानेकी भी संभावना बनी रहती है। इस लिये भाषाका परिमार्जन आवश्यक बतलाते हुए उसके लिये हमारे पूर्वजोंने भाषा संबन्धी नियमोंकी सृष्टिकी है और लोकव्यवहारमें तथा खास तौरसे शास्त्रीय पद्धतिमें भाषाका प्रयोग करते समय इन नियमोंका ध्यान रखना वक्ताके लिये आवश्यक बतलाया है। पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यमें[1] भाषा संबंधी नियमोंके बहुतसे प्रयोजन बतलाये हैं।

यद्यपि नयोंका मुख्य प्रयोजन अर्थ-प्रतिपादन करना ही है, इस लिये जिस प्रकार आम खाना मात्र प्रयोजन रहते हुए खाये हुए आमोंकी गुठली गिननेमें कोई लाभ नहीं होता है उसी प्रकार अर्थग्रहणरूप मुख्य प्रयोजनके सिद्ध होते हुए भाषाकी शुद्धि-अशुद्धि पर विचार करना भी अनावश्यक समझना चाहिये। फिर भी जिस प्रकार प्रकृतिको ठीक रखनेकी गरजसे परिमित आम खाना ही जिनको अभीष्ट है उन लोगोंके लिये आम खाते समय उनकी गुठली गिनना भी आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार श्रोताओंको सुगमताके साथ पदार्थ बोध करानेके लिये तथा भाषा-शुद्धिके अभावमें संभावित उनके भ्रम, संशय और विवादको मिटानेके लिये शुद्ध भाषाका प्रयोग करना भी वक्ताके लिये आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि वक्ताको हमेशा शब्दनयों द्वारा ही अर्थका प्रतिपादन करना चाहिये—उसको अर्थ-प्रतिपादनके साथ २ भाषाकी शुद्धि पर भी ध्यान रखना ही चाहिये। लेकिन जो वक्ता शुद्ध भाषाका प्रयोग करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हुए भी किसी समय अर्थका प्रतिपादन करना जरूरी समझता है उस समय वह शुद्ध भाषाका प्रयोगरूप शब्दनयके अभावमें पूर्वोक्त प्रकारके

१ "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" "रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" इत्यादि।

अर्थनयका भी प्रयोग कर सकता है। जैनधर्ममें वचन प्रयोग-के बारेमें अर्थनय और शब्दनयके इस विभागको अपनाकर और उन दोनोंका उल्लिखित प्रकारसे ठीक ठीक समन्वय करके जैनाचार्योंने अपनी व्यवहारज्ञता तथा जैनधर्मकी वैज्ञानिकता व उदारताका काफी परिचय दिया है। कारण कि हर एक आदमीके लिये अपना अभिप्राय दूसरों पर प्रकट करना ज़रूरी होते हुए भी सर्वत्र और हमेशा सभी भाषाओंके पूर्वोक्त प्रकारसे शुद्ध प्रयोग करना असंभव है। इस लिये जिन लोगोंने व्याकरणादिसे परिमार्जित अर्थात् सुसंस्कृत और व्याकरणादिसे अपरिमार्जित अर्थात् अपभ्रंश भाषाके बारेमें देवभाषा और म्लेच्छ[1] भाषाका भेद पाड कर एकान्तरूपसे अपभ्रंश भाषाकी निन्दा[2] करके सुसंस्कृत भाषाके महत्वको प्रस्थापित करनेका प्रयत्न किया है उन्होंने न केवल सर्वसाधारण बहुजन समाजके साथ ज़बर्दस्त अन्याय किया है; बल्कि उन लोगोंके साथ भी यह अन्याय है, जो एक सुसंस्कृत भाषाके प्रकाण्ड जानकार होते हुए भी उस सुसंस्कृत भाषासे अनभिज्ञ लोगोंके समक्ष उनकी भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण अपभ्रंश अर्थात् टूटी फूटी भाषामें अपना अभिप्राय प्रकट किया करते हैं। अस्तु! यह अप्रकृत बात प्रसंग पाकर लिखदी गयी है। यहां पर तो हमें सिर्फ इतना बतलाना है कि जैनधर्ममें माने गये अर्थनय और शब्दनयका अभिप्राय व प्रयोजन वही है. जो हमने ऊपर प्रकट किया है। (क्रमशः)

१ "म्लेच्छो ह वा एव यदपशब्दः, म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्" —पाणिनीय व्याकरण महाभाष्य

२ "यथैव हि शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः, अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति।" —पाणिनीय व्याकरण भाष्य

हार-जीत

['श्री भगवत्' जैन]

'प्यार' हार है, जीत नहीं है!
दुर्बलता है तड़पन मनकी, रोदन है, संगीत नहीं है।

देकर प्यार, प्यार मिलता है—
सौदा फिर किस तरह ज्ञानका?
प्यारे पर प्राणोंको देकर,
करते हैं पालन अज्ञानका॥
फिर भी देखा गया—प्यारकी करता विश्व प्रतीत नहीं है।

दीपक जलता है, जलता है—
प्यार-भरा उसका पतंग भी।
मिलने पर भी जलते दोनों—
सुखी न होता एक अंग भी॥
अतः मनाना पड़ता है यह—प्यार आग है, शीत नहीं है।

प्यार-भरी दुनिया में हमने—
कभी विजय-उल्लास न पाया।
मिली पराजय-सी नीरवता—
और व्यथित, चिन्तित-सी काया॥
सदा पिघलतीं आँखें देखीं, नर यद्यपि नवनीत नहीं है।

देख चुके लाखों टटोल कर—
भली-भाँति इसका अन्तस्तल।
किन्तु आज-तक कौन पा सका—
प्यार-विटप-द्वारा मीठा-फल?
प्यार आत्माका यथार्थमें घोर शत्रु है, मीत नहीं है।

जहाँ प्यार है, वहाँ कलह है—
जहाँ कलह है वहाँ कष्ट है।
प्यार-कलहकी दुनियामें, यों—
मानवपन हो रहा नष्ट है॥
फिर भी यह चैतन्य हीन-सा, मानव-मन भयभीत नहीं है।
'प्यार' हार है, जीत नहीं है!

जीवन और धर्म

(ले० श्री० जमनालाल जैन विशारद)

जिस समय हमारा जन्म होता है उसी क्षण से उस समय तक, जब तक मृत्यु-मुखमें हम नहीं पहुँच जाते, जीवन कहते हैं। जन्मके उपरान्त ही हमारी प्रवृत्तियां प्रारम्भ हो जाती हैं। जब तक हम अबोध, विकारहीन एवं संसारके माया जालमें लिप्त रहते हुए भी अनजान रहते हैं, प्रकृति हमारी सहचारिणी रहती है—खेलना, खाना, हँसना, रोना आदि समस्त कार्य उसीके साथ निरंतर हुआ करते हैं। लेकिन, ज्यों ज्यों हमारी शक्तियाँ बढ़ती जाती हैं, राग-द्वेषकी प्रवृत्तियाँ विकसित होती जाती हैं, मोह-ममता घर करती जाती है, एक दूसरेसे परिचित होते जाते हैं, अनुभवमें वृद्धि होती जाती है, सुख-दुख एवं आशा निराशाका हृदयमें उदय हो जाता है—तात्पर्य यह है कि ज्यों ज्यों प्रत्येक सांसारिक वातावरणमें हमारा क्षेत्र विस्तीर्ण होता जाता है, त्यों त्यों मनःस्थिति विकृत होती जाती है, स्वार्थलिप्सा तीव्र होती जाती है, ईर्षा एवं स्पर्द्धा की स्पष्ट झाँकी हमारे मुखमण्डलपर झलकने लगती है। संसारके प्राणियों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति, उनके पूर्व-जन्मके संस्कारोंवश होती जाती है कि उनमें "तेरा-मेरा" के कलुषित विचार घर कर लिया करते हैं।

एक नव जात शिशुकी ओर तो दृष्टिपात कीजिये। जब वह अपनी माताके उरसे चिपककर दूध पीना चाहता है, तब वह एक स्तन पर तो हाथ रखता है और दूसरेसे मुँह लगाए रहता है; क्योंकि, उसके यह भाव उस नवजात सुकुमार अवस्थामें भी, पूर्वजन्मके संस्कारवश उसके हृदय में विद्यमान रहते हैं कि मेरी वस्तु कोई दूसरा न हथियाले; यद्यपि वह इस मनोदशा अथवा मनोभावको उस अवस्था में वचनद्वारा व्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। इस बातका भी उन सभी सहृदयोंको अनुभव है, और जिन्हें नहीं है वह कर भी सकते हैं कि जब हम किसी बालक को रुपया पैसा दिलाते हैं, तब वह उसकी सुंदरता आदिपर हर्षोत्फुल्ल हो किलकिलाते हुए हमारे पास आ जाता है और उसे हमसे लेनेका उपक्रम अपनी शक्ति और सामर्थ्यानुसार करने लगता है। एक बार उसके हाथमें उस वस्तुके पहुँचनेके उपरान्त यह सहज सम्भव नहीं कि वह तत्काल ही और बिना किसी हिचकिचाहटके उसे हमें देदे. यह बिल्कुल असम्भव है कि वह, उस वस्तुके उसके पास से छीने जानेपर न रोए अथवा अपनेको दुःखित अनुभव न करे।

प्रकृतिके भीतर एक ऐसी अलौकिक शक्ति है, जो प्रत्येक प्राणीको अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रहती वह उसकी सुन्दरता पर मंत्रमुग्ध हो जाता और कोई दास भी बन जाता है। यही तो कारण है कि हमारा प्रेम उत्तरोत्तर सांसारिक वस्तुओंकी ओर जो क्षणिक एवं अस्थिर अथवा अनित्य हुआ करती है, प्रबल होता जाता है। जब तक हम संसारमें रहते हैं, सांसारिक वस्तुओंके प्रेमके आधिक्यके कारण, उनकी प्राप्तिके लिए हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ एवं अभिलाषाएँ निरंतर वृद्धिगत होती जाती हैं, और उनका हमारे जीवनमें अभाव न हो—उनसे हमारा दूरत्व स्थापित न हो—इसके लिए नाना प्रकारके आयोजन भी सोचे और किये जाते हैं। उन चेतन अथवा अचेतन सामग्रियोंमेंसे जिनके द्वारा हमारा स्वार्थ साधन विशेष रूपसे होता है, जिनके द्वारा कुछ लाभ होने की सम्भावना रहती है अथवा जिनके प्रति हमारा प्रेम अधिक ममता और अनुरागमय रहता है, उनका वियोग अथवा अभाव हमें असह्य हो जाता है, यहाँ तक कि हम उनको अपनी आंखोंसे ओझल भी न होने देनेके लिए सतत चिन्तित एवं सजग रहते हैं।

किन्तु, रातदिन मोहममता एवं रागद्वेष परिणामोंके शिकार बने हो कारण हम यह तनिक भी नहीं सोचनेका कष्ट उठाते कि प्रकृतिके नियम सदा सर्वथा सबोंके लिये समान होते हैं।

उसके विस्तृत साम्राज्यमें पक्षपातको कोई महत्व ही नहीं—वहां तो आप उनके कितने भी प्रेमी हों, परन्तु जहां उसने हमारा उद्धार होनेके लिए बचपनमें हमसे स्नेह किया था, वहाँ यदि हम नहीं चेते अपने प्रति सजग नहीं हुए तो पतन अथवा विनाश अवश्यम्भावी है। क्योंकि वह हमारा साथ तभी तक देती है, जब तक हम अपने पैरोंपर खड़े नहीं होजाते।

लेकिन जहां अंधियाला है वहां उजियाला भी है, जहाँ प्रीति है वहां भीति भी है और जहां अनुराग है वहां विराग भी है—इसी नियमानुसार यह भी स्वीकार करनेको बाध्य होना ही पड़ता है कि जहां इस प्रकृतिके साम्राज्य-संसारमें स्वार्थी एवं मोही जन निवास करते हैं—रागद्वेष, लोभ और मोह ही जिनका एकमात्र उद्देश्य रहता है, वहां इन सब प्रवृत्तियोंसे प्रतिकूल विचारवाले व्यक्ति भी यहीं निवास करते हैं—जो सांसारिक सभी बातों एवं वस्तुओं तथा विषयोंसे—उनकी सुन्दरता चित्ताकर्षकता और लुभावने रूपरंगसे सर्वथा उदासीन-तटस्थ रहते हैं। संसारी जन अपनी प्रवृत्तियोंपर चर्म-चक्षुओंसे विचार करते हैं—उन प्रवृत्तियोंके मूलकारणकी खोज तक वे पहुँच नहीं पाते। इसीलिये उनके विचार बाह्य आडम्बरपूर्ण जगत तक ही सीमित रह जाते हैं तथा क्षणिक तो वे होते ही हैं। परन्तु वे विरागी उदासीन जन जो निर्मोही, निस्वार्थी एवं तटस्थ होते हैं, अपनी चर्मचक्षुओंपर तथा प्रकृतिपर विजय प्राप्त कर चुके होते हैं और तब अपने अंतर्चक्षुओं एवं दिव्य-चक्षुओंसे संसार दशापर-प्रकृतिकी वृत्ति पर गंभीरतापूर्वक शुद्ध एवं निर्विकारी मस्तिष्कसे विचार करते हैं—वहाँपर जहां न होता है तेरा मेराका कोलाहल, कौओंकी काँव काँव, कुत्तोंका भूँकना और चिड़ियोंका चहकना! वे सोचते हैं—यह जीवन केवल आजकल या सौ-पचास वर्षोंका ही ढकोसला मात्र नहीं है, वह युग-युगीन, सनातन और चिरंतन है। इसी पर्यायके जन्म और मरणमात्रसे इसकी इतिश्री नहीं होजाती। जन्म और मृत्युपर जब तक विजय प्राप्त न की जायगी ऐसे अपूर्ण जीवन—आज रहे कल चले जसे क्षणिक—जीवन एक बार ही नहीं कई बार उपलब्ध हुए हैं, और यह कौन कह सकता है कि वे कब तक प्राप्त होते ही जाएंगे। आज तक सागरसे भी अधिक परिमाणमें माताका दुग्ध पान कर गए, आज तक इतना दाना-पानी पचा गएकि जिसकी गिनती लगाना भी शक्तिके परेकी बात हो गई। परन्तु इतना होनेपर भी हमारी इच्छाएँ आशाएँ, हमारी आकांक्षाएँ ज्योंकी त्यों बल्कि अधिक तीव्ररूपमें बनी हुई हैं। ज्यों ज्यों तृष्णाको शान्त करनेका उपक्रम किया जाता है त्यों त्यों तृष्णा बढ़ती जाती है—कहीं ठिकाना है इस मोह का!

उन विचारकोंने सूक्ष्म अध्ययनके उपरान्त हमारे कल्याणके लिए कहा—ऐ मानवो! तृप्ति संग्रहमें नहीं, संचय करनेमें नहीं और मोह अथवा प्रेममें भी नहीं। तृप्ति है त्यागमें, तटस्थ मनोवृत्तिमें और अपरिग्रहमें। जब तक मन और पांचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं की जाती, उन्हींके वशमें रहा जायगा, तब तक, तृप्ति, उन्नति, उद्धार एवं उत्थान कठिन ही नहीं असम्भव भी है। देखिए, रसना इंद्रियको प्रसन्न करनेके लिए हमने उसे तरह तरहके षट् रस पकवान खिलाए परन्तु स्वादलोलुप बनी ही हुई है। घ्राणको देखिए, उसे भी नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पों और द्रव्योंसे परिचित कराया गया, इत्र-फुलेल सुंघाए गए परंतु क्या वह आज तक भी तृप्त हुआ है? इन आँखोंको देखिए, जो रूप की और वर्णकी प्यासी हैं—क्या क्या नहीं देखा इन्होंने, परन्तु, कहीं भी यदि तनिक भी सुन्दरता दीखी कि अड़ गईं वहींपर! इन्होंने तो भक्तप्रवर सूरदास जीको अंधा होनेके लिए बाध्य किया था न! और ये कान, कोकिलाकंठी मधुर मधुर गीत, गान और कविताएँ तथा अपमान और अभिमानपूर्ण बातें सुनते सुनते जिन्हें अनन्तकाल बीत गया लेकिन और भी सुननेके लिये ऐसे उत्कंठित रहते हैं मानों उनपर आज तक पर्दा ही पड़ा रहा हो? इन्हीं इन्द्रियोंके वशवर्ती होनेके कारण हमें अपने आपकी सुधि नहीं रहती और ऐसे अवसरोंसे सामना करना पड़ता है कि जीवनसे हाथ धोनेका समय सम्मुख उपस्थित होजाता है। यही नहीं, इन पाचों की तो बात ही निराली है, किन्तु एक एक केवशवर्ती होनेसे भी प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है। एक भक्त एवं साधक कविने इस विषयका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो मननीय होनेके साथ ही साथ मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण है—

"मीन, मतंग, पतंग, भृङ्ग, मृग इन वश भये दुखारी"

—दौलतराम

तात्पर्य यह कि रसना के वश होकर मछली, त्वचाके

वशवर्ती होकर हाथी, चक्षुओंके वशीभूत हो पतंगा, नासिकाके वश होकर भ्रमर और कानोंके आधीन होकर मृग जब अपने अपने प्राण गंवा देते हैं तब हम लोगोंकी उस समय कितनी दुर्दशा होगी जिस समय पाँचों इन्द्रियोंका आनन्द एक साथ प्राप्त करना चाहेंगे।

सभी निरंतर यह देखते ही रहते हैं और स्वयं भी अनुभव करते ही रहते हैं कि संसारके नाना प्राणी नाना प्रकारकी, अपनी अभिलाषा पूर्तिके लिए क्रियाएं करते हुए भी, सुख प्राप्तिका लक्ष्य सम्मुख रख कार्य करते हुए भी सुखी प्रतीत नहीं होते। एक न एक चिंता, कोई न कोई व्यथा, वेदना या पीड़ा उनके आगे नग्न तांडव करती ही रहती है। आज हम जिसे मोटे २ मखमली सुकोमल गद्दों पर पैर पसारते हुए पाते हैं, उसीको इन्हीं आँखोंसे एक एक दिन एक २ पैसेके लिए सड़कों पर भिक्षा मांगते हुए देख सकते हैं। सचमुच, संसार एक विशाल एवं विराट् रंगमंच है जिस पर हम अपने जीवन-क्षणिक जीवनका नाटक खेलते रहते हैं। यदि हम विश्वको रंगमंच और अपने जीवनमें परिवर्तन होने वाली परिस्थितियोंको नाटक ही मान कर चलें तो कोई बात नहीं; हम इन्हें वास्तविक मानते हैं और इसीसे यह होता है कि हमें आनंद और विषाद होता है। इस संसारमें ऐसा एक भी प्राणी उपलब्ध नहीं होगा जिसका मनस्थिति निराकाँक्षी और निरभिलाषिणी हो। एक कविने हमारी मनोवृत्तिका सूक्ष्मावलोकन कर जो निचोड़ निकाला है वह इस प्रकार है—

"दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसारमें, सब जग देख्यो छान॥"
—भूधरदास

वही कवि एक स्थान पर संसार दशाका सत्य पूर्ण नग्न चित्र उपस्थित कर हम लोगोंके अंतरके पट खोलने का उपदेश देते हुए कहता है कि हे मूढ़ नर! तेरी बुद्धि किसने चुराली है, जरा सोच और विचार तो कर करोड़ करोड़ रुपयोंके बराबर एक २ घड़ीका मूल्य है! संसारका क्या? उसकी तो यही दशा रही है और रहेगी। अपना कल्याण क्यों नहीं करता? जरा पाठक भी उसीके शब्दोंमें देखलें कि वह किन मार्मिक शब्दोंमें हृदयकी बात कह रहा है—

"काहू घर पुत्र जायो, काहूके वियोग आयो,
काहू राग-रंग, काहू रोआरोई करी है।
जहां भान उगत उछाह गीत-गान देखे,
सांझ समै ताहि थान हाय हाय परी है॥
ऐसी जगरीतको न देखि भयभीत होय,
हा हा मूढ़ नर तेरी मति कौने हरी है।
मनुष्य जनम पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करोरनकी एक एक घरी है॥"
— जैनशतक

इसी समस्याको दुख निवारणकी जटिलसमस्याको हल करनेके लिए, सुलझानेके लिए, उन विरागी, निर्मोही अंतरात्माओंने सदुपदेश देकर जन कल्याण होनेकी सुविधाके लिए समय २ पर अपने मत प्रस्थापित किए, अपने २ विचारोंको सिद्धान्तों-मन्तव्योंका स्वरूप दिया और तदनुसार उनका प्रचार करनेके लिए सम्प्रदायोंकी स्थापना भी की। ऐसे एक दो नहीं, कई मत एवं सम्प्रदाय प्रस्थापित हुए और स्खलित भी हुए। जिनके विचार कुछ महत्वपूर्ण थे, जिनके विचारों सिद्धान्तोंमें कुछ तथ्यांश था, जिनके मन्तव्योंमें कुछ मार्मिकता एवं हृदयकी पुकार थी, वे तो अब भी विश्वके वक्षस्थल पर अपने अस्तित्वको बनाए बैठे हैं, और जिनके सिद्धान्त महत्व हीन, कोरे प्रलाप मात्र अथवा अनुकरण मात्र ही थे वे समूल नष्ट भी हो गए। ज्यों ज्यों समय व्यतीत होते गया त्यों त्यों उन विचारकोंने अपने सिद्धान्तो एवं सम्प्रदायोंका "धर्म" नामका परिधान पहिना दिया वे अब सब धर्मसे सम्बोधित किए जाने लगे—यथा जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, वैदिक धर्म इत्यादि।

लोग कहते हैं- धर्मका जीवनसे प्रगाढ़ सम्बन्ध है। धर्मके बिना सारा जीवन और उस जीवनसे सम्बन्धित संसार सूना है। धर्मसे जीवनमें सौंदर्य, शान्ति और संतोषका का संचार होता है। धर्मसे इह लौकिक एवं पारलौकिक जीवन आनन्दमय बनता है। धर्मशून्य जीवन, जीवनहीन, जीवन अर्थात् जड़ जीवन है जिसके अस्तित्वका होना न होना भी कहा जा सकता है। यह सब वास्तवमें यथार्थ एवं महत्वपूर्ण है अथवा नहीं, यह तो बादमें देखा जायगा, परन्तु, इनके पीछे एक अंधविश्वास अथवा रूढ़ि या

परम्परागत प्रथा भी कार्य कर रही है जो घातक तथा हानिकारक है।

आज धर्म शब्द इतना सस्ता हो गया है कि चाहे जहाँ, उचित या अनुचित स्थान पर उसे प्रयुक्त किया जारहा है। कोई सम्प्रदाय अथवा समाजको ही धर्म कह बैठता है तो कोई उसे पुण्य, शुभ अथवा लाभके अर्थमें ही व्यवहृत करते हुए दिखाई देता है। आज, लोग उसे अतिशय संकीर्ण अर्थमें व्यवहृत कर उसके नाम पर आपसमें खूनखराबियाँ भी करने लगे हैं। इसी कारण कई व्यक्ति तो ऐसी भीषण घटनाओंसे मस्त होकर धर्मके नाम पर होने वाले घोर अत्याचारोंको देख कर धर्म और ईश्वर आदिकी कटुसे कटु शब्दोंमें निंदा, भर्त्सना तथा आलोचना भी करने लगे और यहाँ तक कहने लगे हैं कि धर्म केवल ढोंग, बदमाशी, कायरता और स्वार्थ मात्र है। उसने हमें परतंत्रता सिखाई, कायरताका पाठ पढ़ाया और खूनकी नदियां बहानेमें भी सहायक हुआ।

सचमुच धर्मके नाम पर होने वाले अन्यायों, अत्याचारों और रक्तपातोंको देख कर यदि कोई ऐसी कटु भर्त्सना करे तो आश्चर्य ही क्या! आज जैन, बौद्धसे, बौद्ध वैष्णव से वैष्णव, मुस्लिमसे मुस्लिम, ईसाईसे और ईसाई आपस में ही अपने २ सिद्धान्तोंकी रक्षा करने एवं दूसरोंसे अपने को महत् प्रमाणित करनेके लिए लड़ मर और कट रहे हैं। परंतु वास्तवमें देखा जाय तो यह सब पक्षपात, दुराग्रह एवं अज्ञानताका विषैला परिणाम ही है। भला, हमारे जीवनसे इन बातोंका क्या सम्बन्ध? ऐसी असंख्य घटनाएं तो हमारे दैनिक व्यवहारिक और सामाजिक जीवनमें ही घटित हुआ करती हैं, उन्हींसे निवृत्ति पानेके लिए तो "धर्म" का आविष्कार हुआ! और वहाँ भी यही दुष्प्रवृत्तियाँ! हाय!!

"वस्तुके स्वभावका नाम ही है धर्म" एक धर्माचार्य जैनका-मन्तव्य है। पानी सजीव हो अथवा निर्जीव, जड़ हो या चेतन कोई भी वस्तु हो, उसका जो स्वभाव होगा-गुण होगा, वही उसका धर्म कहा जायगा। और जो वस्तु होती है, वह बिना गुण अथवा स्वभावके तो हो ही नहीं सकती। हां, यह होता है कि परिस्थिति विशेष अथवा पर्याय विशेषमें उन गुणों धर्मों अथवा स्वभावोंका तिरोभाव भले ही हो जाय वे दृष्टिगोचर अथवा अनुभवगोचर न हों, परन्तु यह नितान्त असम्भव है कि उनका अभाव ही हो जाय—वे विनष्ट हो जायँ अथवा शून्यमें विलीन हो जायँ।

सो, हमें अब देखना यह है कि मानवका धर्म क्या है, जिसका कि उसके जीवनसे अभेद्य सम्बंध है। मानव एक चेतन प्राणी है अर्थात् वह निर्जीव नहीं, सजीव है। दूसरे शब्दोंमें मानव, आत्मा, जीव तथा चेतनता यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। हाँ, तो तात्पर्य यह कि आत्मा या चेतनका स्वभाव क्या है, यह मुख्य प्रश्न है। उसका धर्म प्रथम तो यह है कि वह सतत चेतनामय ही रहती है आत्मा न मारनेसे मरती है, जलानेसे न जलती है, न काटनेसे कटती है अर्थात् कभी भी किसी भी अवस्थामें वह चेतनामय ही रहेगी, उसमें जड़ता नहीं आसकती। दूसरे वह अनन्त चतुष्टयात्मक भी है अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य उसमें विद्यमान रहते हैं! इन पर पर्दा आवरण पड़ा रहनेके कारण इनका प्रकट अनुभव नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सूर्य प्रखर प्रकाशमान् है और सदा उसी दशामें रहता है तथापि उस पर हम यह देखते हैं कि जिस समय घने घन छा जाते हैं उस समय दिवाकरका दैदीप्यमान प्रकाश यहां तक नहीं पहुँचता और न हम उसे देख ही सकते हैं, उसी प्रकार आत्माके उन गुणों पर भी जब कर्मोंका—कार्मण शरीरका—आवरण पड़ जाता है तब हम भी उसके गुणोंको देखनेमें असमर्थ हो जाते हैं। जब यह आवरण दूर हट जाता है और वह निर्मल जलवत् निरावरण हो जाती है तब आपसे आप उसके गुण जो प्रकट दिखाई नहीं देते थे, प्रकाशित हो अपने आलोकसे सारे जगतको आलोकित करने लगते हैं।

तो कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ही नहीं प्रत्येक सचेतन प्राणीका धर्म अपने ही पास है, उसे प्राप्त करनेके लिए किसी दूसरेकी शरणमें सहायतार्थ जाकर हाथ फैलाने और मुँह खोलनेकी आवश्यकता नहीं। मानवजीवनकी सफलता भी इसीमें है कि वह अपने अविकसित, दबे पड़े हुए गुणोंको प्रकट करे और अनन्त आनन्दमय जीवनका जन्ममृत्युविहीन जीवनका सुखोपभोग करे।

परन्तु एक प्रश्न है। यह अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि जो आत्माके गुण हैं, उन्हें प्रकट किस प्रकार किया जाय? हमारी आत्माके चारों ओर कुछ ऐसे पुद्गल परमाणु

आकर घिर जाया करते हैं कि वह मानों कारागृहकी अंधकारमय कोठरीमें ठूंस दी गई हो। इसका कारण है हमारी रागद्वेषपूर्ण और मोहाच्छन्न दुष्प्रवृत्तियाँ। यदि हम क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेषादि करना त्याग दें, शुभाशुभ प्रवृत्तियोंसे मुख मोड़ लें और "तेरा मेरा" की खटाईमें न पड़ें तो बहुत कुछ बच सकते हैं, इन्हींके कारण आत्माका पिंड पुद्गल परमाणु त्यागते नहीं और ऐसा न होनेसे आवरण कुछ दूर होता नहीं। परन्तु यह कार्य करना उतना ही कठिन है जितना सरल कहना। "कथनी मीठी खांडसी, करती विषकी लोथ।" का यही अनुभव होता है। ये पुद्गल परमाणु कई तरहके होते हैं, परन्तु जो आत्मासे चिपकते हैं, वे कार्माण शरीरके अंतर्गत कहे जाते हैं। इस कार्माण शरीरसे दूर होनेके लिए, उसे भस्मीभूत करनेके लिए, एक कविके शब्दोंमें—

"ज्ञानदीप, तप-तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसे नहीं, बैठे पूरब चोर।"

—भूधरदास

प्रयत्न किया जाय, तप किया जाय तो ही सफलता प्राप्त हो सकती है। हमारा उद्देश्य जीवनमें ज्ञान गुणको, जो आत्माका मुख्य गुण है, उसीकी अखण्ड और अविनाशी ज्योतिको प्रकट करनेका प्रमुख रूपेण होना चाहिए। क्योंकि हम धन-सम्पत्ति, राज-पाट, कुटुम्ब-कबीले, मान-सन्मानको तो सरलतासे थोड़ेसे ही पुरुषार्थसे या भाग्यसे भी प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु ज्ञानधनका प्राप्त करना, यद्यपि वह हमारे समीप ही है, बड़ा ही कठिन कार्य है। एक कविने तो उसकी महिमा-गानमें यहाँ तक कह डाला—

"ज्ञान समान न आन जगतमें सुखका कारण।
यह परमामृत, जन्म-जरा-मृति-रोग-निवारण।"

× × ×

धन, समाज, गज, बाज, राज तो काज न आवें।
ज्ञान आपको रूप भयें, फिर अचल रहा वै॥" छहढाला

हम प्रत्यक्ष अनुभवमें भी देखते हैं कि अधिकांश बालक पाठशालामें जानेके नामसे नाक भौं सिकोड़ते हैं लेकिन माता-पिताके डर के मारे पट्टी-दफ्तर लेकर घरसे तो निकल जाते हैं परन्तु बाहर आनेपर वृक्षोंपर चढ़कर इमलियां तोड़कर खाना, गोलियां खेलना आदि कार्य बड़े ही उत्साह, उमंग और लगनसे करते हैं। जब बाह्य पोथियोंके ज्ञान प्राप्त करनेमें ही इतना बोझ और कष्ट प्रतीत होता है तब संपूर्ण ज्ञान—केवलज्ञानको प्रकट करनेमें कैसा और कितना परिश्रम अपेक्षित होता होगा, कौन कल्पना कर सकता है। एक कविने एक ऐसे ही साधुका जो ज्ञान-साधनामें जंगलके भीतर तल्लीन होकर अपने ध्यानमें निरत थे, बड़ा सुंदर, सजीव एवं मार्मिक चित्र चित्रित किया है, जिसे अवलोकन कर कल्पना होती है कि यह वास्तवमें कितना दुःसह कार्य होगा। वह कहता है—

"तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण, उपल खाज खुजावते"

बस जहाँ केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय, कर्मोंके आवरणरूपी घनोंको तपरूपी आंधी द्वारा हटाकर, हो जाता है वहीं जीवनका धर्म प्रस्फुटित हो जाता है और तब वे दोनों एकाकार हो अनन्तकाल तक हमेशाके लिए सुखी बन जाते हैं। और इसीमें मानवताका अथवा मानव-जीवनका चरम लक्ष्य और मंगलमय व्यक्तित्व संनिहित है।

धर्मकरत संसार सुख, धर्मकरत निर्वाण।
धर्मपंथ साधे बिना, नर तिर्यंच-समान॥

ज़रूरी सूचना

अनेकान्तकी सहायता और चन्देका सब रुपया वीरसेवामन्दिरको निम्न पते पर भेजा जाना चाहिये।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, पो० सरसावा जि० सहारनपुर

नया मुसाफिर

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

सवा सात आने हाथमें थामे, कच्ची ईंटोंसे बनी हुई सरायकी एक छोटी-सी कोठरीमें बैठा, शेखर सोचता जा रहा है—'आखिर कितने दिन काट सकता हूँ इस तरह ? और चार-छः दिन ! फिर ? गाँवसे आया था तब तीन रुपए, सवा पाँच आने थे। और आज—सिर्फ सवा सात आने ! यानी दिन-पर दिन दरिद्रता क़ाबू पाती जा रही है।

पिछले इन बीस-पच्चीस दिनोंमें एक दिन भी ऐसा सामने नहीं आया, जिस दिन कहीं जगह मिलने की जरा-सी भी आशा बँधी हो। नित्य आशा लेकर उठा और निराशा लेकर ही सोया।

और आज यह सवाल और भी गहरा हो रहा है, जबकि सवासात आने ही शेष हैं—कि भविष्य न जाने क्या छिपाए बैठा है अपनेमें ?'

सोचते-सोचते पता नहीं कब शेखरकी आँख लग गई। जब उठा तो सबेरा था। सरायका शान्त-वातावरण, चहल पहलमें बदलता जा रहा था। कोई आ रहा था, कोई जा रहा था। मुसाफिरोंका बाजार गर्म था, मुल्ला 'अजान' दे चुका था, मन्दिरोंके घड़ियाल गूँज रहे थे।

हवा-खोरीके लिए निकला हुआ कोई नौजवान गाता हुआ चला जा रहा था—

'भगवान् ! किनारेसे लगादो मेरी नैया !'

आँखें मीड़ता हुआ शेखर बिस्तरसे उठ रहा था, कि रसीले-कण्ठसे निकली हुई पंक्ति उसके हृदय से जा टकरा बड़ी अच्छी लगी। उसका हृदय भी गुहार उठा—

'भगवान !....
भगवान ! किनारेसे लगा दो मेरी नैया !'

× × ×

सुहावनी सन्ध्या समाप्त हो चुकी थी। अँधियारी घिरती आ रही थी। घण्टे-भर पहले जिस पार्कमें कोई भी बैञ्च खाली नहीं दिखलाई देती थी। वहाँ अब सिवा बेकार-शेखरके और कोई मौजूद नहीं है।

हरी-हरी मुलायम घासपर पड़ा, शेखर सच रहा है—आजका दिन भी गया। अब क्या होगा भगवान ?'

विह्वल-सा, निराशा-सा मशीनसे कटी हुई दूबपर हाथ फेरता हुआ शेखर बोला—'इस दूबकी देख-रेख करने वाला भी कोई है, जो जमीनसे मिली हुई है, जो पैरोंसे खूँदी जाती है ! लेकिन मुझे, जो डिगरियों की लालसामें रात रात भर किताबोंमें सिर खपाता रहा, आज कोई नौकरी देनेवाला भी नहीं है।

—बदनसीबी !'

बड़ी देर तक पड़ा रहा शेखर, चुप-गुमसुम ! और फिर गुनगुनाता हुआ उठ खड़ा हुआ—'भगवान ! किनारेसे लगा दो मेरी नैया !'

'पर्स... ? अरे, पर्स ही तो है, इसे कौन गिरा गया यहाँ ?'—बटुआ हाथमें लेकर उलटते पुलटते हुए शेखर बोला। आवाजमें तृप्ति थी, सन्तोष था, प्रसन्नता थी।

और वह लम्बे-लम्बे डग धरता हुआ बढ़ा, सरायकी ओर। पैरोंमें जैसे 'पर' लग गए थे। बहुत दिन पीछे आज उसके चेहरेपर खुशीकी सुर्खी दौड़ी थी। नस-नसमें जैसे बिजली भर रही थी। दिल धक्-धक् कर रहा था। रातकी अँधियारी उसे बड़ी भली लग रही थी।

कोठरीमें आकर उसने दिया जलाया। भीतरसे सांकल चढ़ा दी। और काँपती-सी उँगलियोंसे बटुआ खोला। मन भगवानसे प्रार्थना कर रहा था—

'भगवान ! ऐसा न हो कि बटुआ खाली निकल जाय!' मुँहसे गुनगुनाता जा रहा था-- काँपती आवाज में—'भगवान ! किनारेसे··· !'

सचमुच, शायद भगवानको उसपर तरस आया हुआ था। बटुआ खाली नहीं निकला। दरिद्र शेखर की आशासे अधिक पैसा उसमें मौजूद था। सोनेकी सुर्ख नगसे जड़ी हुई अँगूठी और डेढ़-सौके खुदरा नोट !

हृदय उसका आनन्दसे भर उठा।

लालायित-नजरोंसे नोटोंको देखता और अंगूठी को उँगलीमें अटकाता हुआ, शेखर सोचने लगा— 'वर्षों काट सकता हूँ इतनेसे। न मिले नौकरी, पर्वाह नहीं।'

आज शेखरकी आवाजमें वह करारापन था, वह अकड़ थी, जैसे वह दुनियामें सब-कुछ कर गुजरने की ताकत रखता है। पुरुषार्थसे भरा-पूरा है। चारों ओर उसके आशाओंके सुनहरे-सपने बिखरे पड़े थे।

शायद आधी रात तक यों ही बैठा रहा, हिला तक नहीं। न जाने कहाँ-कहाँ तक उसके विचार छलाँगें भर रहे थे।

सराय निस्तब्ध थी। सरायके पिछवाड़ेकी सड़क भी खामोश होती जा रही थी। पर, शेखर जाग रहा था, शरीरका अणु-अणु जाग रहा था, और जाग रहीं थीं उसकी अभिलाषाएँ ! सोच रहा था—डेढ़-सौ रुपयेसे क्या व्यापार खोला जा सकता है ?'

अंगूठी उँगलीमें पड़ी, झल-झल कर रही थी। शेखरने हाथ फैलाकर देखा, बड़ा सुन्दर हाथ लगता है। और मुस्करा उठा।

पर, दूसरे ही क्षण, उसके पर चिन्ताकी उदासीने स्याही फेर दी।

'अँगूठी किसीने देखकर पहिचान ली तो ? पकड़ा गया तो ?'

तिलमिला-सा गया शेखर ! सोचने लगा— 'सचमुच, चोरी ही तो है यह ! जिसका खोया होगा वह क्या दुआएँ देगा—मुझे ?

पाप !—बगैर दी हुई चीजका ग्रहण करना पाप नहीं तो क्या है ?—उफ़ ! कितना अनर्थ कर बैठा— अब तक इस सिद्धान्तपर क़ायम रहा कि जो अपना नहीं, वह धन नहीं। लेकिन आज··· ?

अंगूठी शेखरने उतारकर अलग रख दी। दिया तेज़ किया। जैसे अपने भीतरके अँधेरेको भी मिटा डालना चाहता हो।

'यह दरिद्रताका अभिशाप है, कि वह मानवीयता को नष्ट किए दे रही है। मुझे रास्तेमें किसीकी पड़ी हुई चीज़ उठानेका अधिकार क्या था ?—निश्चय ही भूल हुई है ! और भूल सुधारी भी जा सकती है !'

शेखरने बटुएका एक्सरे करना शुरू किया। दो मिनटबाद ही उसका चेहरा खिल उठा। बटुएसे एक कार्ड मिला—जिस पर लिखा था—'मि० नवल-किशोर गुप्त' और नीचे बारीक-टाइपमें पता नोट था।

× × × ×

ढूंढने वाली नजरोंसे कभी कोई छिप नहीं सका। शेखरको इस पर विश्वास था। और इसी विश्वासको लेकर वह मि०नवलकिशोर गुप्तकी तलाशमें निकला। उसका अनुमान था कि इस लम्बे-चौड़े महानगरसे गुप्तजीको पा लेना सहज नहीं होगा। हो सकता है, दो-चार दिन इसमें लग जाँय। लेकिन वह इस पर तुला हुआ था—'पर्वाह नहीं, कितना ही घूमना-फिरना पड़े पर गुप्तजीको ढूंढना अवश्य है !'

किन्तु शेखरका अनुमान सही नहीं बैठा। घन्टे-भरकी दौड़-धूपमें ही मि० नवलकिशोर गुप्तकी कोठी में जा पहुँचा ! ढूंढना कठिन नहीं रहा, इस लिए कि गुप्तजी ख्यात-प्राप्त व्यक्तियोंमेंसे एक थे। वे एक कपड़े की बड़ी मिलके जनरल मैनेजर थे। सब कोई उन्हें जानते बूझते थे।

कागज़-पत्रोंसे नज़र हटा कर वे बोले—'हाँ, क्या चाहते हैं आप ?—कहिए ?'

शेखरने देखा—आदमी बड़ा, पैसे वाला, ज़रूर है, पर घमण्डी नहीं है। मुँह पर मुस्कराहट है, वाणी में मिठास !

पर्सको जेबसे निकालते हुए शेखरने कहा—'जी, यह आपका पर्स मुझे पार्कमें पड़ा मिला था—शायद

आपका ही है—देख लीजिए, इसमें एक कार्ड है—उस पर आपका पता है।'

गुप्तजीने बटुएके लिए हाथ बढ़ाया। और ऊपरसे नीचे तक, एक बार गहरी दृष्टिसे शेखरकी ओर देखते हुए, अचरज-भरे-स्वरमें बोले—'ओह! आप पर्स मुझे देने आए हैं?'

शेखरने धीमे-से कहा—'जी!'

गुप्तजीने बटुआ खोला—नोट देखे, अँगूठी देखी और अपना कार्ड भी। फिर ऐसी नजरसे देखते हुए जैसी नजरसे देवता देखे जाते हैं, मुस्कराते हुए बोले—'धन्यवाद! पर्स मेरा ही है। असावधानीसे कल कहीं गिर गया था। कहाँ, पार्कमें मिला आपको?

'जी, वहीं जमीन पर पड़ा था—घासमें।… अच्छा तो, इजाज़त है, चलूंगा…!' शेखरने दोनों हाथ जोड़े और चलनेको हुआ, मुड़ा भी थोड़ा कि गुप्तजीने टोका—'अरे, चल दिए मिष्टर! यह अपना पुरस्कार तो लेते जाइए।,—गुप्तजीने कुछ नोट उठा कर शेखरकी ओर बढ़ाए।

शेखरने बगैर आगा-पीछा किए तत्काल जरा मजबूत-स्वरमें कहा- 'नहीं, पुरस्कारके लायक तो मैंने कुछ किया नहीं है—गुप्तजी! पुरस्कार कैसा? यह तो मानव-कर्तव्य ही है न?'

और शेखर फिर चला।

गुप्तजीने फिर बुलाया। बोले—'कह तो आप ठीक रहे हैं मिष्टर! लेकिन फिर भी आपने वैसा कुछ जरूर किया है जैसा अक्सर देखनेमें बहुत कम आता है और इसी लिए मैं समझता हूँ—आपको पुरस्कार मिलना चाहिए।'

गुप्तजीने नोट शेखरके आगे रख दिए। शेखर कुछ क्षण मौन, खड़ा रहा। पर, उसकी दृष्टि नोटोंपर नहीं थी, गुप्तजीके चेहरे पर भी नहीं थी। न जाने वह क्या देख रहा था, क्या सोच रहा था। मुँह पर विषादकी रेखाएँ उभर रहीं थीं—शून्यसी निरर्थक-दृष्टि!

शायद वह भीतर-ही-भीतर अपनी पोजेटिव-निगेटिव-वृत्तियोंसे उलझ रहा था।

फिर जैसे निर्णयको छू कर बोला—'इन कागज के टुकड़ोंसे आप मेरी मानवता खरीदनेकी चेष्टा कर, मुझे दुःख पहुँचा रहे हैं गुप्तजी! मैं क्षमा चाहता हूँ……!'—

नोट शेखरने गुप्तजीकी ओर सरकादिए। और बढ़ा दर्वाजेकी ओर।

गुप्तजी चकित, स्तब्ध!

'कैसा आदमी है यह? पैसेकी ज़रा भी ममता नहीं है, इसके हृदयमें! आखिर क्यों?'—गुप्तजीने पलक मारते सोचा। पर, शेखर तब तक आफिसके बाहर हो चुका था।

गुप्तजीने एलार्म दिया। दर्वान आया शेखरको बुलानेका हुक्म दे, वे उसीके बारेमें सोचने लगे। अँगूठी बटुएके ऊपर ही रखी हुई थी, उठा कर देखने लगे उलट-पलट कर—साढ़े चारसौकी खरीदी थी, अब तो शायद मँहगाईमें दुगनी कीमतमें भी ऐसा 'नग' मिलना मुश्किल होगा?'

शेखर आया।

'क्या आपने मुझे बुलाया?'

'बैठिए—मिष्टर, बैठिए ऐसी भी क्या जल्दी?'—गुप्तजीने खड़े होकर शेखरको बैठाला, आत्मीयताके साथ, श्रद्धाके साथ।

शेखर बैठ गया।

नौकरने चायकी ट्रे लाकर रखदी।

दोनोंने चाय पी। गुप्तजीने पूछा—'आपका नाम?'

'शेखर!'

'शेखर? सिर्फ इतना ही?'

'जी, इतना ही समझिए। अधिक परिग्रह भगवानकी ओरसे ही नहीं मिला, तब अक्षरोंकी अधिकतासे ही क्या लाभ?'

गुप्तजीने तनिक गंभीरतासे कहा—'हूँ! आप काम क्या करते हैं?'

'फ़िलहाल तो बेकार हूँ!'

'क्यों? काम करना नहीं चाहते, या…!'

'मिलता नहीं है—गुप्तजी! करीब चार सप्ताहसे मैं कामकी तलाशमें घूम-फिर रहा हूँ, लेकिन इस

क्षण तक कामयाबीकी सूरत सामने नहीं है।'

गुप्तजी कुछ सोचनेसे लगे, मौन!

फिर बोले—'मुझे अपने आफ़िसमें एक आदमी की ज़रूरत है, क्या आप काम कर सकेंगे?'

शेखरने ज़रा सिर खुजलाते हुए कहा—'ज़रूर! पर, मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि आपके आफिस के दर्वाजे पर 'नो वेकैन्सी' का बोर्ड लगा हुआ है।'

गुप्तजी ज़ोरसे हँस पड़े! शेखर देखता रह गया। हँसी थाम कर बोले—'ओह! मालूम होता है, आप पिछले चार सप्ताहमें किसी दिन यहां भी चक्कर काट गए हैं।'

शेखर भी हँसा। बोला—'यही बात है!

गुप्तजीने खुलासा करते हुए कहा—'अरे, भैय्या! अगर बोर्ड न लगा हो तो इतना काम कर लेते हैं, वह भी न कर सकें। सच मानों, कोई दिन ऐसा नहीं होता, जिस दिन चार छः बदनसीबोंको यहाँसे झिड़की खा कर न निकलना पड़ता हो। क्या करें, हर वेकारको काम तो दे सकते नहीं हैं न?'

शेखरने कुछ जवाब नहीं दिया।

गुप्तजी फिर कहने लगे—'हाँ, आपको फिलहाल चालीस रुपए मासिक और फ्री रहनेके लिए मकान मिल सकता है। कहिए क्या इच्छा है?'

शेखरको लगा, जैसे कोई जबरन उसे स्वर्गके दर्वाजेकी ओर घसीट रहा है। वह आनन्द-विभोर हो उठा। बोला—'मंजूर है।'

'तो, देखिए कलसे आ जाइए। काम कुछ ऐसा ज़्यादा नहीं है—दससे चार तक, बस! फिर छुट्टी।'—गुप्तजीके मुँह पर मुस्कान बिखरी हुई थी, आत्म-सन्तोषसा प्रकट हो रहा था।

शेखरने दृढ़-स्वरमें कहा—'बहुत अच्छा।'

—और चल दिया-प्रसन्नतासे पूर्ण!

× × × ×

'टन्न!'

शेखरने नजर फिरा कर देखा—'साढ़े नौ!'

आफिस-वर्क अभी प्रारम्भ नहीं हुआ था। कोई भी क्लर्क नहीं आया था। सब सूनसान था। फटी कमीज़ वाला एक छोटासा लड़का झाड़ू दे रहा था। बूढ़ा, मेजें, पोंछ रहा था, तारीख बदल रहा था, कागजात सँभाल कर लगा रहा था।

एक घंटे बाद शेखरको काम मिला साढ़े दससे ठीक चार बजे तक, जब तक आफिस खुला रहा, वह डट कर बैठा रहा। खूब सावधानीसे काम किया, खूब काम किया।....

शामको घर जाते वक्त गुप्तजी आए! बोले—'कहिए मिष्टर शेखर! कोई तकलीफ तो नहीं है? काम समझमें आगया?'

शेखरने कागजात सामने फैला दिये। बोला—'जी, सब ठीक है, कृपा है आपकी!'

गुप्तजीने कागज देखना शुरू किया। और दस मिनट तक देखते रहे। उठे तो मुँह पर सन्तोष था। बोले—'खूब काम करते हैं—आप! राइटिंग भी सुंदर है। अच्छा है, किए जाइए इसी तरह, भविष्य आपका साथ देगा।'

शेखर जब सरायको लौट रहा था, तब अनेक अनेक मधुर-कल्पनाएँ उसके मस्तिष्कमें लहरा रही थीं। हर कदम पर वह एक किला खड़ा करता जा रहा था। आज वह बहुत खुश था, बेहद खुश!

सुख किसे कहते हैं? इसे शायद आज वह समझ रहा था, महसूस भी कर रहा था। दुनियाकी हर चीज़में आज उसे उल्लाससा, रंगीनी-सी दिखलाई दे रही थी। आज ऊँची-ऊँची इमारतें उसे बुरी नहीं लग रही थीं। गद्दी-तकियों पर पड़े लक्ष्मी-पुत्रोंके प्रति मनमें जलन भी नहीं थी। उसे आज बाजार अच्छा लग रहा था! बाजारकी प्रत्येक दूकान उसे रौनकदार मालूम पड़ रही थी। और सच तो यह है, कि उसे अपना अस्तित्व भी आज अच्छा लग रहा था।....

× × × ×

दो बज चुके थे—

पर, शेखरकी आँखोंमें आज भी नींद नहीं थी। वह सरायकी उस गन्दी-कोटरीकी बात सोच रहा था। असलमें आज उसे सरायसे अरुचि पैदा हो गई

है। वह सोच रहा है—मगर उस जैसी श्रेणीके व्यक्तिके ठहरने लायक जगह नहीं। कितनी गलीज ? छिः! कोलाहल गाली-गलोज, अशान्त और अधम मुसाफिर! सबके सब दरिद्र, दीन!'

बिस्तर पर लेटा, शेखर उद्विग्न हो उठा है। कोठरी, नरककी तरह मालूम हो रही है उसे। स्वयं चकित है, कि इतने दिन काट कैसे सका इस सँडाद-भरी भयानक कोठरीमें! जहाँ-तहां चूहोंने बिल बना रखे हैं। टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ियोंसे पटी हुई छत इतनी शिथल हो रही है, जैसे अब गिरी। हर समय घुन बरसता रहता है। कोई कोना ऐसा नहीं, जहां जाले न तने हुए हों। चारों ओर धूल-मिट्टी, कूड़ा करकट!

दो बज रहे हैं, पर चूहोंका गदर अभी तक उसी रफ्तार पर है, जिस परसे शुरू हुआ था! और यह है वह शयनागार! जहाँ सोकर—विश्राम लेकर—सुबह परिश्रमके लिए ताजगी प्राप्त करना है। बल संचय करना है या उस बलकी पूर्ति करना है, जो अगले दिन परिश्रममें व्यय हो चुका है।'

शेखरने एक लम्बी अँगड़ाई ली और आप ही बड़बड़ाने लगा, जैसे मनकी उद्विग्न मनोवृत्तियोंका समाधान कर रहा हो—'और दो एक दिनकी बात है। फिर तो 'क्वाटर' में जाकर डेरा डालना ही है।'

और वह सोनेका प्रयत्न करने लगा।

शायद दस मिनट बीते होंगे, कि शेखर उठ बैठा। न जानें कैसी बेचेनीसी उसे परेशान किए हुए थी। वह कोठरीकी, बराबरकी दीवारसे सट कर बैठ गया।

अर्ध-रात्रीकी नीरवताने उसकी सहायता की, वह सुनने लगा। आवाज़ बराबरकी दूसरी कोठरीसे आ रही थी।

'ओह! भगवान, अब इन बच्चोंका क्या होगा? कैसे गुजर चलेगी? नींद नहीं, भूख-प्यास सब कुछ अलग होरही है। अचानक यह आफत फट पड़ेगी—खयाल तक नहीं था!'

शेखरने सुना—कोई सुबक-सुबक कर रो रहा है।—शायद स्त्री! 'कितनी कातर ध्वनि है उफ्!' फिर सुना—पति समझा रहा था—रात-भर रोओ, दिन-भर रोओ, जिन्दगी-भर रोती रहो—इसी लिए बच रहे हैं, नहीं और अब दुनियामें हमारे लिए क्या है? पर, इन नादान बच्चोंका क्या होगा? खाना कहाँसे लाकर इन्हें खिलाऊँ? मैं इसी सोचसे मरा जा रहा हूँ।'

शेखरका मन व्यथित हो उठा।

स्त्रीने रोते-रोते पूछा—'कहीं दूसरी जगह नौकरी तलाश नहीं कर सकते? तुम्हीं हिम्मत हार जाओगे तो कैसे काम चलेगा?'

पतिने खीज कर कहा—चल गया काम? जानती नहीं, कितनी मुश्किलसे यह नौकरी मिली थी—कितनी रातें, कितने दिन बगैर सोये, बगैर खाये बितानेके बाद दोनों वक्त रूखा-सूखा खानेका बन्दोबस्त हो सका था!'

'पर, नौकरी एकाएक छूटी क्यों? गबन किया नहीं, कुसूर किया नहीं—कुछ भूल हुई नहीं, फिर?····'

'मैं खुद नहीं जानता, कि मुझे नौकरीसे जवाब क्यों मिला? पर, कुछ आफिसके लोग कहते थे—गुप्तजीका कोई दोस्त इस जगह पर काम करेगा इसी लिए·······!'

और इसी वक्त छोटेसे बच्चेकी रोनेकी आवाज ने बात-चीत बन्द करदी।

शेखरकी चेतना लुप्त! देर तक वह ज्यों-का त्यों दीवारके सहारे बैठा रहा।

× × ×

दूसरी सुबहः—

गुप्तजी कुर्सीपर बैठे अखबार देख रहे थे। युद्ध की खबरोंमें इतने खोये हुए थे कि शेखरका आना तक उन्हें मालूम न हुआ। पूरा 'कॉलम' पढ़नेके बाद जब नजर उठाई तो शेखर!

शेखरने अभिवादन किया।

गुप्तजी बोले—'अरे, तुम्हारे लिए क्वार्टर खाली हो गया है—आ जाओ उसमें।'

शेखर चुप रहा। मुँह उसका बेहद ग़मगीन था।

आँखोंमें सुर्खी थी। पूरी रातका जागरण झलक रहा था।

गुप्तजीने अखबार मोड़ते हुए पूछा—'क्यों, और कुछ कहना चाहते हो ?'

'जी !'

गुप्तजीने उसकी ओर ताका, जिसका अर्थ था—'क्या ?'

शेखरने दृढ़-स्वरमें पूछा— 'क्या आप मुझपर विश्वास करते हैं ?'

गुप्तजीने संक्षेपमें कहा—'बहुत।'

शेखरने जेबसे एक कागज़ निकालकर, गुप्तजीके हाथमें देते हुए कहा- 'तो इसपर दस्तख़त कर दीजिए। सिर्फ यह देख लीजिये कि दस्तावेज नहीं, एक चिट्ठी है। लेकिन पढ़िए नहीं ! मुझपर विश्वास कीजिए गुप्तजी !'

गुप्तजी सैकिण्ड-भर रुके। शायद सोच लिया—'आदमी दगाबाज नहीं मालूम पड़ता।' और फिर बग़ैर आगा-पीछा किए जेबसे 'पेन' निकालकर दस्तख़त बना दिए !

शेखरके मुँहपर प्रसन्नता खिल उठी। पर, गुप्तजी थे मंत्रमुग्ध ! कागज जेबमें रखता हुआ, शेखर बोला—'धन्यवाद !'

फिर दूसरा कागज निकालकर देते हुए शेखरने हाथ मिलाया और मुस्कराकर कहा—'गुप्तजी ! आप बड़े अच्छे आदमी हैं। मुझे दुःख है कि किस्मतने मुझे आपसे दूर कर दिया ! अच्छा, चलता हूँ—नमस्ते !'

गुप्तजी कुछ बोल न सके। समझ ही नहीं पा रहे थे कि माजरा क्या है ?

और शेखर आँखोंसे ओझल !

अचानक गुप्तजीके मुँहसे निकला—'स्तीफा !'

× × ×

'समझ रहे हो, मैं किसकी बाबत कह रहा हूँ—वही जो मेरी कोठरीके बराबर वाली कोठरीमें नया-मुसाफिर आया है न ? उसके साथ शायद उसकी औरत भी है बच्चा है, है न ?

सरायवालेने बात पकड़कर जल्दीसे कहा—'हाँ, हाँ समझ गया ! अच्छा तो उन बाबूजीको यह ख़त दे आऊँ...हें ?'

शेखरने चिट्ठी देते हुए कहा—'हाँ, बस ! इतना ही काम तो है।'

× × ×

शेखरने अपनी कोठरीमें सुना—पति कह रहा था—'अरे, गुप्तजी मुझे फिर वापस बुला रहे हैं ! वेतनमें भी बीस रुपयेकी तरक्की—ओ हो ?'

स्त्री कह रही थी—'भगवान ! डूबती नैय्याको किनारेसे लगा दिया—धन्य हो प्रभु !'

शेखरका मन प्रसन्नतासे भर उठा। वह मुग्ध हो गुनगुनाने लगा—

भगवान !—

'भगवान किनारेसे लगादो मेरी नैय्या !'

जैन विद्यापीठका आयोजन

दानवीर साहु शान्तिप्रसादजी, डालमियानगर द्वारा काशीमें जैन विद्यापीठ (Jain acadimy) का आयोजन किया जा रहा है। इसमें संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश तथा विभिन्न प्रान्तीय देशी भाषाओंमें निबद्ध जैन साहित्यका मूल और यथासंभव हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशन, विभिन्न भाषाओंमें नव साहित्य निर्माण, सम्पादन शिक्षण, व्याख्यानमालायें, निबन्धप्रतियोगिता, भंडारसूची आदि कार्यक्रम चालू होंगे। आवश्यकतानुसार जैनबोर्डिङ्ग स्थापन आदिका भी विचार है। उपर्युक्त कार्यक्रमकी पूर्ति के लिये विशाल जैन लायब्रेरीका संघटन तथा रिसर्च विभागका भी आयोजन किया जा रहा है। सौ० रमारानीजी अध्यक्षा हैं। पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, मूर्तिदेवी ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादक तथा कार्यालय मन्त्री नियुक्त किये गये हैं। उनने काशी जाकर आफिसका कार्य सम्भाल लिया है।

—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

भ० महावीरके विषयमें बौद्ध-मनोवृत्ति

(ले०—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री)

जनवरीकी 'विश्ववाणी' में 'बुद्धके दुःखवादका भौतिक आधार' इस शीर्षकके साथ भदन्त शान्ति भिक्षुका एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें आपने कुछ वादरायण सम्बन्ध जोड़कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'जीवनके लिये रोटीका सवाल पहला है और मनुष्यसमाज का दुःख स्वार्थमूलक संघर्षके कारण है । इन दो बातोंके साथ बुद्धका दुःखवाद बँधा हुआ है, इन्हें अलगकर बुद्धका दुःखवाद समझा नहीं जा सकता ।' आपके इस विचारका सयुक्तिक आलोचन फर्वरीकी विश्ववाणीमें किया जा चुका है। भिक्षुजी बौद्धधर्मके माने हुए विद्वान कहे जाते हैं अतः उन्होंने बौद्ध धर्मके तत्वोंका आलोडन करके यदि बुद्धके धर्मको केवल रोटीका सवाल हल करने वाला पाया हो तो हमें इसमें आपत्तिकी जरूरत नहीं । किन्तु आपने अपने लेखमें बौद्धेतर धर्मों और उनके प्रवर्तकोंके ऊपर जो कृपा की है वही यहां आपत्तिका विषय है ।

भिक्षुजी अपने लेखकी भूमिकामें इतर धर्मोंकी विचार-धाराको तुच्छ बतलाते हुए लिखते हैं—

"प्राचीन युगके श्रमण दार्शनिक जिनकी परम्परा बच रही है वे हैं जैन । इनके अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी इतने अधिक दुनियासे भागने वाले हैं कि उनकी विचार-धाराके अनुसार दुनियाकी समस्याएँ सुलझाई नहीं जा सकतीं । हाँ, कठोर तपद्वारा कायपीडन ही किया जा सकता है । इन श्रमणों और ब्राह्मणोंने त्याग और अपरिग्रहकी जो बड़ी बड़ी बातें की हैं उनको आदर्शवाद कहकर चाहे जितना सराहा जाए पर दुनियाके लिये उनका मूल्य बहुत ही कम है । आज वेदोंका कर्मकाण्ड, उपनिषदोंके विचार सांख्योंका ज्ञानमार्ग और तीर्थङ्करोंकी दुःखमयी चर्याका सुझाव हमारे कौतुकको भले ही कुछ शान्त कर सके पर उससे हमको इस प्रकारकी दृष्टि नहीं मिल सकती जो आज हमारी उलझनोंको सुलझानेमें मदद दे ।"

किन्तु क्यों ? क्या महावीर दुनियासे भागनेवाले हैं, इसीलिये उनकी विचारधाराके अनुसार दुनियाकी समस्याएँ नहीं सुलझाई जा सकतीं ? यह सत्य है कि महावीर दुनियाके जंजालमें नहीं फँसे । यह भी सत्य है कि परिणय की वार्ताको उन्होंने हँसकर टाल दिया । किन्तु राजकुमार सिद्धार्थने तो विवाह किया, भोग भोगे, फिर क्यों उन्हें उनसे विरक्ति हुई ? क्यों उन्होंने यशोधरा जैसी पत्नी और राहुल जैसे बालकका परित्याग करके उसी मार्गका अवलम्बन लिया जो महावीरने पहलेसे ही अपनाया था ? क्या दुनियाकी समस्याएँ सुलझाने वालेको रोग और बुढ़ापे से इतना डरना चाहिये था ? कमनीय कोमलाङ्गियोंके मुख से निसृत लाला जलसे इतना त्रस्त होना चाहिये था ? आजका समाजवादी तो इन बातोंपर हँसे बिना नहीं रह सकता ।

असलमें प्राचीन भारतके सामने रोटीकी समस्या ही नहीं थी । जो समस्याएँ आजकी दुनियाको—उसमें भी मुख्यतया भारतको बेचैन किए हुए हैं, प्राचीन भारतको उनका स्वप्नमें भी भान न था । अकृष्टपच्या शस्यश्यामला भारतभूमिके वक्षस्थलपर क्रीड़ा करने वाले उसके पुत्र-पुत्रियोंके लिये धन-धान्यकी कमी नहीं थी, इसीसे वे सर्वदा उस ओरसे उदासीन रहते थे । किन्तु सुखकी नदी में किलोलें करते हुए जब कभी किसीको रोग, बुढ़ापा और मृत्युरूपी मगरमच्छ आकर ग्रस लेता था तो वे लाचार होजाते थे । उनके पास सब कुछ था किन्तु इन मगरमच्छोंकी समस्या मुँह बाये उनके सामने खड़ी रहती थी । पता नहीं, कब किसको कोई मगरमच्छ उठाकर ले जाय । यही उस समयकी प्रधान समस्या थी और उसी को सुलझानेका प्रयत्न उस समयके महापुरुषोंने किया था। सबका एक ही लक्ष्य था—अशाश्वत सुखकी ओरसे मनुष्यकी चित्तवृत्तिको हटाकर शाश्वत सुखकी ओर लगाना

या दुःखोंसे मुक्ति । बुद्धके क्षणिकवाद और शून्यवादका भी प्रारम्भमें यही प्रयोजन था। इसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये बुद्धने घर-बार छोड़ा और कठोर साधनाके द्वारा बुद्धत्व-पदको प्राप्त किया। महावीर स्वामीका भी यही लक्ष्य था, न कि कायपीडन। उनका कहना था—

न दुःखं न सुखं यद्वत् हेतुर्दृष्टो चिकित्सिते।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥
न दुःखं न सुखं तद्वत् हेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥

अर्थात्—जैसे रोगके इलाजमें न दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है किन्तु इलाज शुरू करनेपर दुःख हो या सुख, उसे सहा ही जाता है। वैसे ही मोक्षकी साधनामें न दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है। किन्तु एक बार जब मोक्षके मार्गमें कदम रख दिया जाय तो फिर दुःख हो या सुख, उसकी पर्वाह नहीं की जाती। यही महावीरकी साधनाका मार्ग है।

महावीर दुनियासाज़ीसे दूर थे किन्तु दुनिया उनकी अन्तर्दृष्टिसे बची हुई नहीं थी। वे व्यक्तिवादी जरूर थे किन्तु उनके व्यक्तित्वमें दुनियाका प्रत्येक जंगम और स्थावर प्राणी समाविष्ट था। तभी तो वे दुनियाको 'अहिंसा परमो धर्मः' का उच्च सन्देश दे सके और उन्होंने उसके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारका समझौता करना उचित नहीं समझा, जैसा कि बुद्धने किया। यद्यपि उनके धर्मविस्तारका क्षेत्र परिमित होगया, किन्तु उन्होंने इसकी पर्वाह नहीं की। 'जिओ और जीने दो' यही उनका मूल मंत्र था यदि प्रत्येक व्यक्तिके प्रति, प्रत्येक समाज अन्य समाजोंके प्रति, प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्गोंके प्रति और प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंके प्रति इस मूल मंत्रका ध्यान रखकर व्यवहार कर सके तो आजकी दुनियाकी अनेक भारी समस्याएँ स्वयमेव सुलझ जायँ। पर होरहा यह कि प्रत्येकके अन्दर जीनेकी तो बलवती भावना है किन्तु जीने देनेकी भावना कतई नहीं है। फलतः व्यक्ति-संघर्ष, समाज-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष और राष्ट्र-संघर्ष चालू हैं। और ये संघर्ष तब तक शान्त नहीं हो सकते जब तक इस भावनाका उदय नहीं होता। आजके समाजवादके मूलमें भी यही भावना काम करती है, समाजमें इस भावनाका उदय हुए बिना समाजवाद स्थायी रह ही नहीं सकता। अतः दुनियाको 'जिओ और जीने दो' का शुभसन्देश देनेवाले व्यक्तिवादी महावीरकी विचारधाराको यदि दुनिया अपना सके तो उसे अपनी समस्याएँ सुलझाने के लिये नर-रक्तसे होली न खेलनी पड़े।

शान्ति भिक्षु लिखते हैं—'बुद्धने स्वार्थमूलक संघर्षको दुःखका कारण कहा है।' आगे लिखते हैं—'पर यह स्वार्थ कैसे दूर हो इसके लिये बुद्ध व्यक्तिगत आचरणपर ही जोर देते हैं।' किन्तु वे व्यक्तिगत आचरण कौनसे हैं यह उन्होंने नहीं बताया। वे लिखते हैं—'बुद्धने भिक्षु-संघमें व्यक्तिगत सम्पत्ति रखनेसे मना किया है किन्तु अधिकसे अधिक कितना रख सकता है इसके लिये विनयमें नियम हैं।' और इसका कारण वे बुद्धकी विचारधाराका समाजवादी होना बतलाते हैं। किन्तु महावीरने तो अपने श्रमणोंके लिये किसी भी प्रकारकी सम्पत्तिको अग्राह्य करार दिया है। उनके श्रमण केवल एक मयूरपिच्छी और एक कमंडलु ये दो ही उपकरण अपने पास रख सकते हैं। भोजन गृहस्थके घर कर आते हैं और जहां कहीं भी स्थान मिलता है अपना आसन लगा लेते हैं। न उन्हें चीवर की चिन्ता है, न पीठफलक की, न सूची की और न सौंथरे की। महावीरने अपने ग्रहस्थों तकके लिये यह नियम रक्खा है कि वे अनावश्यक परिग्रहका संचय न करें और अपने कुटुम्बकी आवश्यकतानुसार यावज्जीवनके लिये परिग्रहका परिमाण करलें, ताकि वह अनावश्यक रूपसे एक जगह संचित न हो जाय। क्या हम भिक्षुजीसे यह पूछनेकी धृष्टता कर सकते हैं कि इन दोनों विचारधाराओंमें कौन समाजवादके अधिक निकट है?

प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के मानने वालोंमें एक बड़ा दोष यह होता है कि वे दूसरे सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंको बिना देखे, बिना जाने ही उनकी आलोचना कर डालते हैं। अन्य सम्प्रदायोंके बारेमें उन्हें जो कुछ ज्ञान रहता है वह या तो साम्प्रदायिक जनश्रुतिके आधार पर रहता है या अपने सम्प्रदायके ग्रंथोंमें दूसरे सम्प्रदायोंका जो चित्रण किया गया है उसके आधारपर रहता है। और साम्प्रदायिक ग्रंथोंमें दूसरे सम्प्रदायोंका जो चित्रण रहता है वह

प्रायः द्वेष और पक्षपात-मूलक रहता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण बौद्धग्रंथोंके 'सीह-सुत्त', 'चूल सुकुलदायि-सुत्त', उपालि-सुत्त आदि अनेक सुत्त हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य बुद्धका बड़प्पन और महावीरका ओछापन प्रकट करना है। इस प्रकारकी मनोवृत्तिको लिये हुए साहित्यके अध्ययनसे अन्य सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें जो गलतफहमी होजाती है, वही सब अनर्थोंकी मूल होती है। अतः भिक्षु शान्तिसे हमारा अनुरोध है कि वे समाजवादी होकर समाजका हनन न करें और जैनशास्त्रोंका अध्ययन करके तब उनके संबंध में अपनी धारणाको बनावें।

हमें इस बातका बड़ा खेद है कि पिटकोंको निबद्ध करने वालोंने अन्य धर्मोंके सम्बन्धमें जो गलत मार्ग अपनाया बौद्ध भिक्षु आज भी उसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं और दूसरे धर्मोंके प्रवर्तक और उनके सिद्धान्तोंका गलत रूपसे न केवल चित्रण ही कर रहे हैं किन्तु उनका परिहास भी कर रहे हैं- जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण राहुल जीका 'सिंह सेनापति' है, जिसमें महावीरके 'अहिंसा' सिद्धान्त और 'नग्नता' का वीभत्स चित्रण करके उनकी मखौल उड़ाई गई है। यह एक बड़ी ही दूषित मनोवृत्ति है। क्या इस तरहसे स्वधर्मका हितसाधन किया जा सकता है? सूरजपर थूकनेसे थूकनेवालेकी ही दुर्गति होती है, सूरजका कुछ नहीं बिगड़ता।

गोत्र-विचार

(लेखक—पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री)

गोत्रके विषयमें अभी तक बहुतसे विद्वानोंने लिखा है। इससे गोत्र और उसके उच्च, नीच भेदोंपर पर्याप्त प्रकाश भी पड़ा है। पर सबके सामने एक प्रश्न खड़ा ही रहा कि एक पर्यायमें गोत्रका परिवर्तन होता है या नहीं? कुछ विद्वानोंने गोत्रपरिवर्तन माना और कुछने नहीं। जिन विद्वानोंने माना वे गोत्रविषयक समस्याके सुलझानेमें बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। उन्हें आगमवाक्योंकी बहुत तोड़-मरोड़ नहीं करनी पड़ी। पर जिन विद्वानोंने एक भवमें गोत्रपरिवर्तन नहीं माना वे गोत्र-विषयक समस्याके सुलझानेमें उतने सफल न हुए। परिणाम यह हुआ कि बहुत कुछ लिखनेके बाद भी समस्या जहांकी तहां बनी रही। जिस समय इस विषयपर विविध विचार प्रकट किये जारहे थे। मुझसे भी मेरे बहुतसे परिचित मित्रोंने लिखने-का आग्रह किया था। उनका कहना था कि 'कर्मविषयक ग्रंथोंके स्वाध्याय आदिमें आपकी रुचि भी है और थोड़ा बहुत प्रवेश भी, अतः आपको अवश्य लिखना चाहिये।' पर मैं लिखनेसे बचता रहा, क्योंकि मैं जानता था कि जब तक एक भवमें गोत्रपरिवर्तन न स्वीकार किया जाय तब तक सभी आगम वाक्योंको एक पंक्तिमें ला बिठाना कठिन है। प्रसन्नताकी बात है कि मैंने अब ऐसे आगम-प्रमाण संग्रह कर लिये हैं जिसमें एक भवमें भी गोत्र-परिवर्तनकी बात स्वीकार की गई है। अतः अब मेरी इच्छा है कि मैं इस विषयको पाठकोंके सामने प्रस्तुत कर दूँ। पर मेरे ख़यालसे इसपर सर्वाङ्ग विचार करना ठीक होगा। इससे लेखका ढांचा कुछ बढ़ तो जाएगा पर उससे अनुकूल व प्रतिकूल चर्चा होकर सारा विषय साफ हो जायगा, ऐसी मुझे आशा है। तदनुसार ही प्रयत्न किया जाता है :—

(१) गोत्र और उसके भेद

सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है कि उच्चगोत्र कर्मके उदयसे जीव लोकपूज्य कुलमें और नीचगोत्र कर्मके उदयसे गर्हित कुलमें जन्म लेता है। यह उच्चगोत्र और नीच-गोत्र कर्मका कार्य हुआ। इससे यह भी मालूम होता है कि लोकमान्य कुलको उच्चगोत्र और गर्हित कुलको नीच-

गोत्र कहते हैं। तथा सामान्य कुलका नाम गोत्र है, यह निष्कर्ष भी इससे निकल आता है। तत्त्वार्थ राजवार्तिकका यही अभिप्राय है। इतनी विशेषता है कि उसमें उच्च कुल और नीच कुलके कुछ प्रकार बता दिये हैं। तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें उच्चगोत्रकर्मको देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार और ऐश्वर्य आदि सभीके उत्कर्षका निर्वर्तक और नीच गोत्रको चाण्डाल, मुष्टिक, व्याध, मत्स्यबन्ध और दास्य आदिका निर्वर्तक बताया है। तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें उच्च गोत्रके जितने कार्य लिखे हैं वे सब उच्चगोत्रके हैं इसमें विवाद हो सकता है।

वीरसेन स्वामीने भी जीवस्थान चूलिका-अधिकारकी धवला टीकामें गोत्र, कुल, वंश और सन्तानको एकार्थक माना है। यथा—

'गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः।'

इस उपर्युक्त कथनसे इतना निश्चित हो जाता है कि सन्तान या परम्पराका नाम गोत्र है। अब यदि यह परम्परा उच्च अर्थात् लोकमान्य होती है तो वह उच्च गोत्र शब्दके द्वारा कही जाती है और गर्हित होती है तो वह नीच गोत्र शब्दके द्वारा कही जाती है। इन दोनों परम्पराओंका खुलासा निम्न उल्लेखसे हो जाता है। यह उल्लेख प्रकृति अनुयोगद्वारका है :—

"दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानां सन्तानः उच्चैर्गोत्रम्। ××तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्।"

जो दीक्षायोग्य साधु आचार वाले हों, जिन्होंने साधु आचारवालोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो तथा जिनमें यह 'आर्य' है इस प्रकारके ज्ञानकी प्रवृत्ति होती हो और यह 'आर्य' है इस प्रकारका शाब्दिक व्यवहार होने लगा हो उन पुरुषोंकी परम्पराको 'उच्चगोत्र' कहते हैं और इससे विपरीत 'नीचगोत्र' है।

यद्यपि सन्तान शब्द पुत्र, और प्रपौत्र आदिके अर्थमें भी आता है। पर यहां सन्तानसे इसका ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि एक तो यह व्याप्य है और दूसरे ऐसी परम्परा अपने पूर्वजोंकी परम्परासे आई हुई व्यवस्थाका त्याग भी कर सकती है। जब भारतमें मुसलमानोंका राज्य था तब बहुतसे राजपूतोंने मुसलमानोंसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और मुसलमान हो गये थे। यही बात बृटिश साम्राज्यमें भी देखी जाती है। वर्तमानमें ७० लाख ईसाई अधिकतर हिन्दू ही हैं। अतएव यहां सन्तान शब्दका अर्थ विवक्षित तत्त्वोंके आश्रयसे की गई व्यवस्थाको मानने वाले और न मानने वाले मनुष्योंकी परम्परा ही लेना चाहिये। किसी संस्थामें नये आदमी प्रवेश पाते हैं और पुराने निकल भागते हैं तो भी जिन आधारों पर संस्था स्थापित की जाती है संस्था उन्हीं आधारोंपर चलती रहती है। कुछ नये आदमियों के प्रवेश पाने और पुराने आदमियोंके निकल भागनेसे संस्थाका मरण नहीं है। संस्थाका मरण तो तब माना जा सकता है जब उसके मानने वाले उसके मूल आधारोंको ही बदल दें। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि संस्था व्यक्तियोंसे भिन्न है। वास्तवमें संस्थाको स्थापित करनेवाले महापुरुषके मूल सिद्धान्तोंको जिन व्यक्तियोंने अपने जीवनमें उतार लिया और आगे ऐसे व्यक्तियोंकी परम्परा चलानेकी फिकर रखी वे व्यक्ति ही संस्था हैं। इसीलिये तो स्वामी समन्तभद्रने यह कहा है कि धर्म धार्मिकोंके बिना नहीं होता। इस प्रकार हमने ऊपर सन्तान शब्दका जो अर्थ किया है वह कुछ हमारी निरी कल्पना नहीं है किन्तु ऊपर उच्च गोत्रका जो लक्षण दिया है उसीसे यह अर्थ फलित होता है। मनुष्योंके आर्य और अनार्य इन दो भेदोंके करनेका कारण भी यही है। इस प्रकार इतने तर्कव्यसे यह निश्चित हुआ कि जिन्होंने जैनपरम्पराके अनुसार की गई सामाजिक व्यवस्थाको मान लिया वे आर्य कहलाये और शेष अनार्य। ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा भी इसी व्यवस्थाको मानती हैं। अन्तर केवल जन्मना और कर्मणाका है और भारतके ये ही तीन धर्म मुख्य हैं। अतः इन तीन धर्मोंकी छत्रछायामें आये हुए सब मानव उनके द्वारा सुनिश्चित की गई सामाजिक व्यवस्थाको माननेके कारण आर्य कहलाये। किन्तु इन आर्योंकी परम्परामें नाच गानसे आजीविका करने वाले, शिल्प कर्म वाले और सेवावृत्ति वाले पुरुषोंको कभी भी सामाजिक ऊँचा स्थान नहीं मिला। अतः ये और अनार्य नीच गोत्री माने गये तथा शेष तीन वर्णके आर्य और साधु उच्चगोत्री। यही उपर्युक्त लक्षणका सार है। किन्तु जैन और बौद्ध परम्परा-

में कर्मणा वर्णव्यवस्था स्वीकार की गई है अतः इनके अनुसार अनार्य भी आर्य और आर्य भी अनार्य हो सकते हैं। यही इन परम्पराओंकी विशेषता है। जैसा कि भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

अर्थात्—अपने देशमें जो प्रजाको बाधा देनेवाले अनक्षरम्लेच्छ हों उनकी कुलशुद्धि करके उन्हें अपने आधीन करे।

दीक्षायोग्य साधु आचारके सम्बन्धमें सागारधर्मामृतमें लिखा है—

येऽप्युत्पद्यकुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणैः।
विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान्॥

"टीका—×× किं विशिष्टिते, दीक्षोचिते। दीक्षा व्रताविष्करणं व्रतोन्मुखस्य वृत्तिरिति यावत्। स चात्रोपासकदीक्षा जिनमुद्रा वा उपनीत्यादिसंस्कारो वा। पुनः किं विशिष्टे विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि। विद्यात्राजीवनार्थं गीतादिशास्त्रं शिल्पं कारुकर्म नाभ्यां विमुक्ता ततोऽन्या वृत्तिर्वार्ता कृष्यादिलक्षणा जीवनोपायो यत्र तस्मिन्।

इसका भाव यह है कि जिस कुलमें विद्यावृत्ति—नाचगानसे आजीविका और शिल्पकर्म नहीं होता वह कुल दीक्षोचित माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वीरसेन स्वामीने आचारके पहले 'दीक्षायोग्य साधु' यह विशेषण लगाकर इस प्रकारके आचारका निषेध किया है।

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सरणा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ १३॥

अर्थात्—सन्तान क्रमसे आये हुए जीवके आचरणको गोत्र कहते हैं। इसमें उच्च आचरणको उच्च गोत्र और नीच आचरणको नीचगोत्र कहते हैं।

अब जब हम कर्मकाण्डके इस गोत्रविषयक लक्षणका धवलाके लक्षणसे मिलान करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मकाण्डमें गोत्रका सामान्य लक्षण करते समय उसमें बदल किया गया है; क्योंकि धवलामें केवल सन्तान को ही गोत्र कहा है जबकि कर्मकाण्डमें सन्तानक्रमसे आये हुए आचार या कुलधर्मको गोत्र कहा है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती धवलाके उक्त लक्षणसे कुछ अपरिचित थे यह बात नहीं है। फिर भी उन्होंने गोत्रके सामान्य लक्षणमें परिवर्तन किया है। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने धवलामें आये हुए उच्चगोत्रके लक्षणको देखकर किया है फिर भी इससे स्थितिमें बड़ा अन्तर पड़ गया है। धवलाके अनुसार जब कि आचार वालोंकी परम्परा गोत्र शब्दका वाच्यार्थ होता है तो कर्मकाण्डके अनुसार कुलक्रमसे आया हुआ आचार गोत्र शब्दका वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार एक जगह परम्परा मुख्य रही जो कि गोत्रकी आत्मा है और दूसरी जगह आचार मुख्य हो गया जो कि चारित्रमोहनीयके उदयादिका कार्य है। इस परिवर्तनसे जो दूसरा दोष पैदा हुआ वह यह है कि इससे कर्मणा वर्णके स्थान में जन्मना वर्णकी पुष्टि हुई। अनेक जातियों और उपजातियों और तद्‌गत अवान्तर आचारोंसे चिपके रहना भी इसका फल है। आगममें उच्चगोत्रके उदय और उदीरणा को जो गुणप्रत्यय कहा है उसका यहां कोई स्थान न रहा। यहां गुणसे सकल संयम और संयमासंयमका ग्रहण किया है। इसका यह तात्पर्य है कि कोई नीचगोत्री यदि सकल संयमको धारण करता है तो वह नियमसे उच्चगोत्री हो जाता है तथा यदि कोई नीचगोत्री मनुष्य संयमासंयमको धारण करता है तो उसके भी उच्चगोत्रका उदय होना सम्भव है। अब जब कि हम कुलधर्मको ही गोत्र मान लेते हैं और उच्चकुलधर्मके अनुसार उच्चगोत्रकी तथा नीचकुलधर्मके अनुसार नीचगोत्रकी व्यवस्था करते हैं तो संयमासंयम या संयमको ग्रहण करते समय नीच गोत्रसे उच्चगोत्र कैसे होगा क्योंकि कुलधर्मके अनुसार तो जन्मना ही उच्च और नीचगोत्र होगा और वह पर्याय भर कायम रहेगा। पर आगमग्रन्थ ऐसा नहीं कहते। इसका सबूत यही है कि आगममें उच्च गोत्रको गुणप्रत्यय भी माना है और गुणसे संयम या संयमासंयम लिये गये हैं। पर मनुष्योंके इनकी प्राप्ति आठ वर्षसे पहले होती नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि एक भवमें गोत्रका परिवर्तन होता है। इससे मालूम होता है कि कर्मकाण्डका उक्त लक्षण धवलाकी परम्पराके विरुद्ध है। बात यह है कि आचार उच्च, नीच गोत्रमें निमित्त हो सकता है पर वह उनका भेदक नहीं है पर कर्मकाण्डकारने आचारको ही उच्च नीचका भेदक मान

कर गोत्रका सामान्य लक्षण कह दिया।

यहां इतना खुलासा करना और आवश्यक है कि वीरसेन स्वामीने प्रकृति अनुयोगद्वारमें जो उच्च और नीच गोत्रका स्वरूप निर्देश किया है वह उपलक्षणकी मुख्यता से किया है।

(२) मनुष्योंके भेद और उसका आधार

तत्त्वार्थसूत्रमें मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद बताये हैं। पर कौन आर्य हैं और कौन म्लेच्छ यह इससे प्रकट नहीं होता। इसकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें इसका खुलासा किया है। वहां लिखा है कि जो गुणों और गुणवानोंके द्वारा माने जाते हैं वे आर्य हैं। इनके ऋद्धि प्राप्त और अनृद्धि प्राप्त ऐसे दो भेद हैं। तथा म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकारके हैं—अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। लवणादि समुद्रमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं। जिनमें एक पल्यकी आयु वाले मनुष्य रहते हैं। ये अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। तथा पांच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुको छोड़ कर पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं। इनमें रहने वाले मनुष्योंमें सातवें नरकमें लेजाने वाले पापके और सर्वार्थसिद्धिमें लेजाने वाले पुण्यके उपार्जन करनेकी योग्यता है। तथा पात्रदानादिके साथ कृषि आदि छह प्रकारकी व्यवस्था का आरम्भ यहीं पर होता है अतः ये कर्मभूमियां कहलाती हैं। इन पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जो शक, यवन, शबर और पुलिंद आदिक मनुष्य रहते हैं वे भी म्लेच्छ हैं।

सर्वार्थसिद्धिके इस अभिप्रायसे तत्त्वार्थ राजवार्तिकके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। श्लोकवार्तिकके कथनमें थोड़ा अन्तर है। वह केवल अन्तर्द्वीपोंके विभागसे सम्बन्ध रखता है। वहाँ लिखा है कि जो अन्तर्द्वीप भोगभूमियोंके समीप हैं उनमें रहने वाले मनुष्योंकी आयु आदि भोगभूमिज मनुष्योंके समान है तथा जो अन्तर्द्वीप कर्मभूमिके समीप हैं उनमें रहने वाले मनुष्योंकी आयु आदि कर्मभूमि मनुष्योंके समान है। यथा—

भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयोभोगभूमिभिः।
समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः॥ ७॥
श्लो० वा० ३-३७

पर श्लोकवार्तिकके इस कथनकी पुष्टि त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी पुष्टि त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिसे नहीं होगी। इन तीनों ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे यह प्रतीत होता है कि अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छोंको छोड़ कर शेष सब मनुष्य आर्य हैं। इन टीका ग्रन्थोंसे तथा मूल तत्त्वार्थसूत्रसे यह ध्वनित नहीं होता कि भरतक्षेत्रके जो छह भेद हैं उनमें पांच म्लेच्छ खण्ड और मध्यका एक आर्यखण्ड है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र और उनकी टीकाओंके आधारसे जो व्यवस्था फलित होती है वह निम्न प्रकार है—

देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत और अन्तर्द्वीप ये भोगभूमियां हैं। इनमेंसे अन्तर्द्वीपोंके मनुष्य म्लेच्छ हैं और शेष भोगभूमियोंके मनुष्य आर्य हैं भरत, ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुसे रहित विदेह ये कर्मभूमियां हैं। इनमें जो शक, यवन आदिक मनुष्य रहते हैं वे म्लेच्छ हैं। तथा शेष कर्मभूमिज मनुष्य आर्य हैं।

ऊपर जो लिखा है वह तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंके आधारसे लिखा है। अब आगे त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंके आधारसे लिखते हैं—

त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रके छह खण्डोंमेंसे एक आर्यखण्ड और पांच म्लेच्छ खण्ड बतलाये हैं। म्लेच्छ खण्डोंमें म्लेच्छ मनुष्य रहते हैं उनमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है तथा छयानवे अन्तर्द्वीपोंमें कुभोग भूमियां मनुष्य रहते हैं। यथा—

उत्तरदक्खिणभरहे खंडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्कं।
दक्खिणतियखंडेसुं अज्जाखंडो त्ति मज्झिम्मो॥४-२६७
सेसा वि पंच खंडा णामेणं होंति मेच्छखंडं ति।
उत्तरतियखंडेसुं मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे॥ ४-२६८
सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्तं। ४-२६३७
वेधणुसहस्सतुंगा मंदकसाया पियंगुसामलया।
सव्वे ते पल्लाऊ कुभोगभूमीए चेट्ठंति॥ २५१३। ४।

इससे इतना जाना जाता है कि पांच म्लेच्छखण्डोंके मनुष्य म्लेच्छ ही होते हैं। अतः इसके अनुसार यह व्यवस्था फलित होती है—

म्लेच्छ मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—म्लेच्छ खण्डमें उत्पन्न हुए, अन्तर्द्वीपज और आर्यखण्डमें रहने वाले शक, यवनादिक। तथा इनसे अतिरिक्त शेष सब मनुष्य आर्य हैं। आगेके सभी ग्रंथोंमें मुख्यरूपसे इसी व्यवस्थाका कथन किया है। हमारे इस कथनकी पुष्टि अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थ-

सारसे भी होती है वहां लिखा है—

आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः ।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥

अर्थ—जो मनुष्य आर्यखण्डमें उत्पन्न हुए हैं वे आर्य हैं। तथा आर्यखण्डमें रहने वाले शक आदिक म्लेच्छ हैं। तथा म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न हुए और अन्तर्द्वीपज मनुष्य भी म्लेच्छ हैं।

(१) यहां पाठक यह शंका कर सकते हैं कि सर्वार्थसिद्धि आदिमें पूरे भरत आदिको कर्मभूमि कहा है और जयधवलामें आर्य खण्डको कर्मभूमि और पांच म्लेच्छ खण्डोंको अकर्मभूमि कहा है, सो इसका क्या कारण है ?

(२) दूसरी यह शंका होती है कि सर्वार्थसिद्धि आदि में अन्तर्द्वीपज और शकादिक ये दो प्रकारके ही म्लेच्छ मनुष्य बतलाये हैं और त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें इनसे अतिरिक्त पांच म्लेच्छ खण्डोंके मनुष्योंको भी म्लेच्छ कहा है। अतः इस कथनमें परस्पर विरोध क्यों न माना जाय ?

पाठकोंकी ओरसे ऐसी शंकाएं होना स्वाभाविक है। पर ये प्रश्न इतने जटिल नहीं कि इनका समाधान नहीं हो सकता। आगे इसीका प्रयत्न किया जाता है —

(१) पांच म्लेच्छ खण्डोंको कर्मभूमि और अकर्मभूमि कहना आपेक्षिक वचन है। कर्मभूमि न कहनेका कारण यह है कि इनमें धर्म और कर्मकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। जैसा कि भगजिनसेनने भी कहा है—

धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छकाः मताः।

इसका तात्पर्य यह है कि इन खण्डोंमें तीर्थंकरादिका विहार नहीं होता और न वैसे लोकोत्तर पुरुष यहां जन्म ही लेते हैं अतः न तो वहांके मनुष्य बन्ध-मोक्ष, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोकसे परिचित रहते हैं और न वहां किसी भी प्रकारके व्यवहार धर्मकी प्रवृत्ति होती है। मेरे ख्यालसे त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इसी अभिप्रायसे इनको मिथ्या दृष्टि भी कहा है। तथा वहांके मनुष्य यद्यपि कृषि आदिसे ही अपना उदर पोषण करते हैं फिर भी वहां षट्कर्म वयवस्था नहीं होनेसे वे वहाँ सामाजिक या वैयक्तिक उन्नतिके अनुकूल साधन-सामग्री एकत्र नहीं कर सकते हैं। यह दोष वहांके क्षेत्रका है अतः ये अकर्मभूमि या म्लेच्छखण्ड कहे जाते हैं। तथा इन्हें कर्मभूमि कहनेका कारण यह है कि वहाँ कर्मभूमिकी सब बातें पाई जाती हैं। यथा—(१) वहां अवसर्पिणी कालमें चतुर्थकालके प्रारम्भमे अन्त तक हानि और उत्सर्पिणी कालमें तृतीय कालके प्रारम्भसे अन्त तक वृद्धि होती रहती है। ये दोनोंकाल कर्मभूमिसे सम्बन्ध रखते हैं। (२) वहाँ विकलत्रय और असंज्ञी जीव भी उत्पन्न होते हैं जो कर्मभूमिमें ही पैदा होते हैं। (३) वहाँ सातवें नरकके योग्य पापका संचय किया जा सकता है। तथा वहांसे आर्यखण्डमें आकर सर्वार्थसिद्धिके योग्य पुण्यका भी संचय किया जा सकता और वहाँ उत्पन्न हुआ जीव मोक्ष भी जा सकता है। (४) वहां षट्कर्मव्यवस्था भले ही न हो तो भी वहांके मनुष्य कृषि आदिसे ही अपना निर्वाह करते हैं। (५) यहाँके समान वहां अकाल मरण भी होता है। ये या इसी प्रकारकी और भी बातें हो सकती हैं जिनसे जाना जाता है कि पांच म्लेच्छखण्ड भी कर्मभूमिके भीतर हैं। इस प्रकार यह पहली शंकाका समाधान हुआ। अब दूसरी शंका पर विचार करते हैं- —

(२) आर्य और अनार्य या म्लेच्छ ये भेद अधिकतर षट्कर्म व्यवस्थाकी समाज रचनाका मूल आधार है। अतः जिन्होंने इस व्यवस्थाको स्वीकार करके उसके अनुसार अपना वर्तन चालू कर दिया वे आर्य और जिन्होंने इस व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया वे अनार्य या म्लेच्छ कहे गये। पूज्यपाद स्वामीने कर्मभूमिज जिन म्लेच्छोंके नाम दिये हैं वे जातियां इसी प्रकारकी हैं। अभी तक वे जातियां षट्कर्म व्यवस्थाको नहीं मान रही हैं। भरतादि क्षेत्रोंके मध्यके एक खण्डको छोड़ कर शेष पाँच खण्डके मनुष्य इसी प्रकारके हैं। उनमें षट्कर्म-व्यवस्थाके अनुसार किसी प्रकारकी भी सामाजिक व्यवस्था नहीं है यह देख कर त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदिमें उनको म्लेच्छ कहा है। पर सर्वार्थसिद्धि आदिमें इस प्रश्नको गौण कर दिया गया। या उनका समावेश 'शकयवनशबरपुलिन्दादयः' में आये हुए आदि पदसे म्लेच्छोंमें कर लिया। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि इससे हो जाती है कि सर्वार्थसिद्धि आदिमें भरतादिके छह खण्ड कर्मभूमि और अकर्मभूमिरूपसे विभक्त नहीं किये गये। उन सबको कर्मभूमि माना गया है। अतः जहां षट्कर्मव्यवस्था दीखी वे आर्य और शेष शक, यवनादिक अनार्य या म्लेच्छ ठहरते हैं। अतः विचार करने पर यही

मालूम होता है कि इस विषयमें सर्वार्थसिद्धि आदि और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदिमें दो मत नहीं हैं। विवक्षाभेदसे सर्वार्थसिद्धि आदिमें दो प्रकारके म्लेच्छ और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदिमें तीन प्रकारके म्लेच्छ बतलाये हैं।

हम समझते हैं कि मनुष्योंके दो भेद किस आधारसे किये गये हैं इसका कथन इस उपर्युक्त समाधानसे हो जाता है, अतः इसका हम अलगसे विचार नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् आदिनाथने षट्कर्मके अनुसार कर्मसे जिस वर्णव्यवस्थाका प्रारम्भ करके उसके अनुसार समाज रचना की थी उसके अनुसार वर्तन करने वाला मनुष्य समुदाय आर्य कहलाया और शेष अनार्य कहलाया। भोग-भूमि और कुभोगभूमिमें यद्यपि यह व्यवस्था नहीं है पर यहांके सादृश्य वर्तनसे वहाँ आर्य म्लेच्छ विभाग मान लिया गया है।

यहां लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंका विचार करना ही निष्फल है। यह सब व्यवस्था तो गर्भज मनुष्योंकी अपेक्षा से की गई है। वे तो केवल मनुष्यगति सम्बन्धी कर्मके उदयसे मनुष्य कहे जाते हैं।

किन्तु यहां एक बातका निर्देश कर देना और इष्ट मालूम होता है। वह बात यह है कि त्रिलोक-प्रज्ञप्ति और जीवकाण्डमें बतलाया है कि आर्यखण्डके मनुष्योंके शरीरों में ही लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य होते हैं म्लेच्छ खण्डके मनुष्यों के शरीरोंमें नहीं। इसका अभिप्राय तो यही मालूम होता है कि म्लेच्छखण्डोंमें भी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्य उत्पन्न नहीं होते। पर इस सम्बन्धमें जब तक पूरे प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक किसी एक निर्णय पर पहुंचना कठिन है। (क्रमशः)

आवश्यकता

मूर्तिदेवी ग्रन्थमालामें निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित करनेकी योजना की जा रही है :—

(१) राजवार्तिक (अकलंकदेव) (२) सिद्धिविनिश्चयटीका (मूल अकलंक टीका अनन्तवीर्य) (३) न्याय-विनिश्चय विवरण (मूल अकलंक टीका वादिराजसूर) (४) अमोघवृत्ति (५) शाकटायनन्यास (६) जैनेन्द्र महावृत्ति (७) शब्दाम्भोजभास्कर (८) लोक विभाग (९) त्रिभंगीसार (१०) दशभक्ति (वर्धमान) (११) तत्त्वार्थ-तात्पर्य वृत्ति (श्रुतसागर) (१२) रत्नकरण्ड (अपभ्रंश श्रीचन्द) आदि।

रमागौरव माला (हिन्दी) का कार्यक्रम शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इसी तरह कन्नड, तामिल सीरीज, इंगलिश सीरीज, जैन पुरातत्त्व सीरीजके लिये योग्य सम्पादकोंका चुनाव किया जा रहा है।

आवश्यकता—ऐसे विद्वानोंकी, जिनने सम्पादन संशोधन अनुवाद आदिके क्षेत्रमें कार्य किया हो, अथवा इस क्षेत्रमें दिलचस्पीसे कार्य करनेकी इच्छा रखते हों। अपनी योग्यता आदिके विवरणके साथ पत्र लिखें। वेतन *योग्यतानुसार उतना अवश्य दिया जायगा जिससे वे साधारणतया निराकुल होकर कार्य कर सके एकेडेमीकी मुख्य* कार्यालय काशीमें है। अतः नियमित आफिसके कार्यके बाद उन्हें अपनी योग्यता बढ़ानेका सुअवसर है। जो विद्वान वैतनिक कार्य न करके अन्यप्रकारसे पारिश्रमिक लेकर या अवैतनिक ही इस साहित्य यज्ञमें अपना सहयोग देना चाहते हैं वे भी कृपया सूचित करें।

भंडाराध्याय और भंडारोंसे परिचय रखने वाले महानुभाव प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या देशी भाषाओंमें निबद्ध उन ग्रन्थोंकी सूचना देनेकी कृपा करें जो अभी तक अप्रकाशित हैं।

नवीन साहित्य निर्माणमें रुचि रखने वाले विद्वज्जन अपनी कार्यकी दिशा लिखनेकी कृपा करें ताकि उन्हें अपेक्षित सहयोग दिया जा सके और उनके साहित्यके प्रकाशनकी व्यवस्था की जाय।

पत्रव्यवहारका पता—पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य कार्यालय मंत्री श्रीजैन विद्यापीठ भदैनीघाट बनारस

आवश्यक निवेदन

हर्षका विषय है कि श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अपने 'अनेकांत' पत्रका 'वीरशासनाङ्क' नामसे एक बृहत विशेषाङ्क आगामी वीरशासन-जयन्तीके महोत्सव पर (श्रावण कृष्णा प्रतिपदा वि० संवत् २००१ को) निकाल रहे हैं। उसमें 'वीरशासनकी वर्तमान सम्पत्तिका संक्षिप्त परिचय' नामक विभागके अन्तर्गत समस्त जैन पारमार्थिक संस्थाओंका परिचय भी रहेगा, जिसका कार्य मेरी चिर इच्छाके अनुसार मुझे सौंपा गया है। अतः प्रत्येक स्थानके जैन भाईयोंसे मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे अपने यहांकी ऐसी सभी पारमार्थिक संस्थाओंका संक्षिप्त परिचय नीचे लिखे मुताबिक भर कर मेरे पास शीघ्र ही निम्नलिखित पते पर भेज देनेकी कृपा करें। साथ ही संस्थाकी जो अन्तिम रिपोर्ट प्रकाशित हुई हो उसे भी साथमें भेज कर अनुगृहीत करें। समय थोड़ा है. इसमें सभी स्थानोंके सेवाभावी सज्जनोंको इस शासनसेवाके पुण्य कार्यमें अपना कर्तव्य समझ कर जल्दी ही हाथ बटाना चाहिये। उनकी इस कृपाके लिये मैं बहुत आभारी हूँगा।

नंबर	संस्थाका नाम	स्थापनाका सन् या संवत्	दिगम्बर या श्वेताम्बर	ध्रुवफंड यदि है तो कितना	संस्थाका वार्षिक खर्च किसी एक व्यक्तिकी ओरसे चलता हो तो उसका नाम, अन्यथा चंदे से	संस्था का उद्देश्य

पारमार्थिक संस्थाओंके कुछ प्रकार इस प्रकार हैं, जिनका परिचय भेजना आवश्यक है :—

(क) ज्ञान दान देने वाली संस्थाएँ—

१ विद्यालय, पाठशाला, स्कूल, कालिज।
२ बोर्डिंग हाउस, छात्रालय।
३ छात्रवृत्ति फंडक-कोष।
४ रिसर्च इंस्टिट्यूट (अनुसंधान-विभाग)।
५ श्राविकाश्रम।
६ परीक्षालय, परीक्षाबोर्ड।
७ उद्योगशालाएँ।
८ ग्रंथमालाएँ, ट्रैक्ट प्रकाशन।
९ पुस्तकालय, वाचनालय।
१० पत्र (अख़बार) प्रकाशन।
११ ग्रंथालय, शास्त्रभंडार—
१२ मंदिर, चैत्यालय, स्थानक।
१३ धर्म-प्रचारक संघ।
१४ उपदेशक विभाग।

(ख) अभय–आश्रय दान देने वाली संस्थाएँ—

१ जीवदया सभाएँ।
२ पींजरा पोलें।
३ धर्मशालाएँ।
४ तीर्थक्षेत्र कमेटियाँ, सभाएँ (प्रान्तिक, जातीयादि)।
५ स्वयं सेवक-मंडल।
६ उदासीन आश्रम।
७ विधवाश्रम।
८ अनाथालय।
९ वस्तिकाएँ, उपाश्रय।
१० सेवाश्रम, सेवामंदिर।

(ग) आहार दान देने वाली संस्थाएँ—

१ अनाथ-सहायक फंड।
२ भोजनालय-अन्नक्षेत्र।
३ विधवा-सहायक फंड।
४ जंगलोंमें जलाशय, प्याऊ।

(घ) औषध–आरोग्य–दान देने वाली संस्थाएँ—

१ औषधालय।
२ आतुरालय, चिकित्सालय।
३ व्यायामशालाएँ।
४ खास २ औषधियां बांटने वाली पेढ़ियां।

निवेदक—
दौलतराम 'मित्र',
१३० बूनापेठा, इन्दौर

जैनसाहित्यका अनुपम आयोजन

'अनेकान्त' का वृहत् विशेषांक 'वीरशासनाङ्क'

आगामी वीरशासनजयन्तीपर प्रकाशित

(१) अनेकान्त संचालक मंडलने आगामी वीरशासनजयन्तीके राजगृहपर होनेवाले महोत्सवके अवसरपर लगभग ५०० पृष्ठका एक वृहत् विशेषाङ्क प्रकाशित करनेका जो आयोजन किया है उसका कार्य आरम्भ होगया है। समाजके उच्च कोटिके कई विद्वानोंने इसकी तैयारी शुरू करदी है। अतः साहित्यसे प्रेम रखनेवाले सभी विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे 'सम्मान-समारोह अंक' में प्रकाशित विज्ञप्तिपरसे अपनी अपनी रुचिके अनुसार लेखोंके विषय चुनकर उनकी सूचना शीघ्र ही देनेकी कृपा करें, जिससे एक ही विषयकी तैयारीमें अनेक व्यक्तियोंकी शक्ति न लग सके।

(२) विशेषाङ्कके संकलन और सम्पादनका कार्य कई विद्वान कर रहे हैं अतः सभी व्यक्तियोंका कर्तव्य है कि वे उन विद्वानोंकी प्रेरणापर उन्हें वीरशासन-सम्बन्धी साहित्य व अन्य जानकारीके संकलनमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करें।

(३) विशेषाङ्ककी पृष्ठसंख्या अधिक होनेके कारण छपनेमें समय अधिक लगनेकी सम्भावना है अतः जिन लेखक महोदयोंने अभी तक अपने लेख नहीं भेजे हैं उन्हें अब शीघ्र ही १५ अप्रैल तक भेजनेकी कृपा करनी चाहिये और यह सूचना तो तुरन्त ही दे देनी चाहिये कि उनका लेख कब तक पहुँच जायेगा।

(४) युद्धके कारण कागज आदिकी भारी मँहगाई और बहुत बड़ी कठिनाई होनेसे यह विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके अनुरूप परिमित संख्यामें ही छपाया जायेगा, अतः जो सज्जन अपने तथा अपनी ओरसे दूसरोंको भेंट करने या फ्री भिजवानेके लिये जितनी कापियाँ रिजर्व कराना चाहें वे उनका आर्डर १५ अप्रैल तक अवश्य भेज देवें। अंक छपना प्रारम्भ होजानेके बाद फिर अधिक कापियाँ किसीको देनेमें हम असमर्थ हो जाएँगे। मूल्य विशेषाँकका पूर्व सूचनानुसार ५) रुपयेसे कम नहीं होगा। हाँ, इसी मूल्यमें वर्तमान छठे वर्षका पूरा चन्दा देने वाले ग्राहकोंको सातवें वर्षके शेष अंक फ्री दिये जावेंगे। अतः इस वर्ष अनेकान्तके ग्राहक बनने वालोंको विशेष लाभ रहेगा।

आशा है जैन साहित्यके इस अनुपम आयोजनके प्रोग्राममें हमें सारी समाजका पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

विनीत—

कौशलप्रसाद जैन, आनरेरी व्यवस्थापक

कोर्ट रोड, सहारनपुर

(टाइटिल के दूसरे पृष्ठका शेषांश)

श्री भाई दौलतरामजी 'मित्र' इन्दौरने समस्त जैन-पारमार्थिक संस्थाओंके परिचयका गुरुतर काम अपने हाथमें लिया है; चुनाँचे उनकी तरफसे एक 'आवश्यक निवेदन' भी इसी किरणमें प्रकाशित होरहा है। उनके कार्यमें सभी स्थानोंके दिगम्बर-श्वेताम्बर भाइयोंको पूरा सहयोग देना चाहिये। इसी तरह दूसरे उत्साही सज्जनोंको भी कुछ कार्योंका भार अपने ऊपर लेकर उसकी शीघ्र सूचना देनी चाहिये।

आशा है वीरशासन-सेवाके इस महान् पुण्य यज्ञमें वीरभक्त होड बाँध-बाँधकर आगे आएँगे और अपने पुरुषार्थद्वारा कठिन कार्यको भी सुगम तथा बहुसमय-साध्यको

आभार

मेरे ज्येष्ठ भ्राता चौधरी ला० हींगनलालजीका, कुछ महीनोंकी बीमारीके बाद, गत ता० ३ मार्च सन् १९४४ को ७२ वर्ष की अवस्थामें चित्तकी पूरी सावधानीके साथ देहावसान होगया है। इस दुःखद समाचारको पाकर जिन मित्रों एवं सज्जनोंने मेरे इस वियोगजन्य दुःखमें अपनी समवेदना और सहानुभूति प्रकट करते हुए मुझे पत्र भेजे हैं और भाईजीकी आत्माके लिये परलोकमें सुख-शान्तिकी कामना की है उन सबका मैं हृदयसे आभारी हूं।

जुगलकिशोर मुख्तार

Registere No **A-731.**

छप कर तैयार होगया

दि० जैन-संघ ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पका प्रथम दल

भगवद्गुणधराचार्यप्रणीत

कसायपाहुड

आ० यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र और स्वामी वीरसेनकृत
जयधवला टीका तथा उसके हिन्दी अनुवाद सहित

दो वर्ष पूर्व अपनी धर्ममाता स्व० मूर्तिदेवीकी स्मृतिमें श्रीमती रमारानी धर्मपत्नी दानवीर साहु शान्तिप्रसादजी डालमियानगरके द्वारा द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ श्री जयधवलजीके प्रकाशनार्थ दिये गये २५०००) के दानसे संघने काशीमें जो श्री जयधवलजीके प्रकाशनका काम प्रारम्भ किया था उसका प्रथम भाग छप कर तैयार होगया है। इसका सम्पादन अपने विषयके ख्यातनामा विद्वान पं० फूलचंद्रजी सिद्धान्त शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री और न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने किया है। प्रारम्भमें ११२ पृष्ठकी विस्तृत हिन्दी प्रस्तावना है। विषयको स्पष्ट करनेके लिये १४४ विशेषार्थ और सैंकड़ों टिप्पणी दी गई हैं। कागजके इस दुष्कालमें भी ३४ पौंडके पुष्ट कागज पर छापा गया है। खद्दरकी सुन्दर जिल्द है। —मूल्य— पुस्तकाकार १०) शास्त्राकार ११)

पोस्टेज खर्च अलग। कृपया कमीशन या किसी प्रकारकी रियायतकी माँग न करें रेल्वे पार्सलकी जिम्मेदारी खरीदारकी होगी। बिल्टी वी० पी० से भेजी जायेगी।

मन्त्री—जयधवला कार्यालय,
स्याद्वाद जैनविद्यालय भदैनीघाट बनारस

ज़रूरत

वीरसेवामन्दिरके लिये एक मिड जैन रसोइयाकी ज़रूरत है जो कार्यमें तत्पर होनेके साथ साथ स्वभावका अच्छा, होशका सच्चा और सेवा-भावी हो। वेतन योग्यता नुसार दिया जायगा। जो भाई आना चाहें उन्हें शीघ्र ही नीचे लिखे पते पर पत्रव्यवहार करना चाहिये। संस्थासे प्रेम रखने वाले जिन सज्जनोंकी दृष्टि में ऐसा कोई अच्छा रसोइया हो तो उन्हें उससे शीघ्र सूचित करना चाहिये और संस्थाको उसका प्राप्ति करानेमें मदद करनी चाहिये। यदि उनकी दृष्टिमें उक्त गुणोंसे विशिष्ट कोई अच्छा परिचित अजैन रसोइया हो और वे उसे संस्थाके लिये उपयोगी समझें तो उसे भी रक्खा जा सकता है।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा जि० सहारनपुर

If not delivered please return to:
VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA, (SAHARANPUR)

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

अप्रैल १९४४

विषय-सूची

वर्ष ६

शासन-जयन्ती-महोत्सवको सफल बनाइये

'अनेकान्त'के "वीरशासनाङ्क"के लिये रचनाएँ भेजिये।

किरण ९

Registere No. A-731.

छप कर तैयार होगया

दि० जैन-संघ ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पका प्रथम दल

भगवद्गुणधराचार्यप्रणीत

कसायपाहुड

आ० यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र और स्वामी वीरसेनकृत

जयधवला टीका तथा उनके हिन्दी अनुवाद सहित

[redacted] वर्ष पूर्व अपनी धर्ममाता स्व० मूर्तिदेवीकी स्मृतिमें श्रीमती रमारानी धर्मपत्नी दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी डालमियानगरके द्वारा द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ श्री जयधवलजीके प्रकाशनार्थ दिये गये २५०००) के दानसे संघने काशीमें जो श्री जयधवलजीके प्रकाशनका काम प्रारम्भ किया था उसका प्रथम भाग छप कर तैयार होगया है। इसका सम्पादन अपने विषयके ख्यातनामा विद्वान पं० फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री और न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने किया है। प्रारम्भमें ११२ पृष्ठकी विस्तृत हिन्दी प्रस्तावना है। विषयको स्पष्ट करनेके लिये १५४ विशेषार्थ और सैकड़ों टिप्पणी दी गई हैं। कागजके इस दुष्कालमें भी ६४ पौण्डके पुष्ट कागज पर छापा गया है। खद्दरकी सुन्दर जिल्द है। —मूल्य— पुस्तकाकार १०) शास्त्राकार १२)

पोस्टेज खर्च अलग। कृपया कमीशन या किसी प्रकारकी रियायतकी माँग न करें रेल्वे पार्सलकी जिम्मेदारी [redacted]दारकी होगी। बिल्टी वी० पी० से भेजी जायेगी।

मन्त्री—जयधवला कार्यालय,
स्याद्वाद जैनविद्यालय भदैनीघाट बनारस

ज़रूरत

वीरसेवामन्दिरके लिये एक ऐसे जैन रसोइयाकी जरूरत है जो कार्यमें तत्पर होनेके साथ साथ स्वभावका अच्छा, हाथका सच्चा और सेवा-भावी हो। वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा। जो भाई आना चाहें उन्हें शीघ्र ही नीचे लिखे पते पर पत्रव्यवहार करना चाहिये। संस्थासे प्रेम रखने वाले जिन सज्जनोंकी दृष्टि में ऐसा कोई अच्छा रसोइया हो तो उन्हें उससे शीघ्र सूचित करना चाहिये और संस्थाको उसकी प्राप्ति करानेमें मदद करनी चाहिये। यदि उनकी दृष्टिमें उक्त गुणोंसे विशिष्ट कोई अच्छा परिचित अजैन रसोइया हो और वे उसे संस्थाके लिये उपयोगी समझें तो उसे भी रक्खा जा सकता है।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा जि० सहारनपुर

If not delivered please return to:-
VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA, (SAHARANPUR)

वीरशासन-जयन्ती

अर्थात्

श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पुण्य-तिथी

यह तिथि—इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है और एक ऐसे 'सर्वोदय' तीर्थकी जन्मतिथि है, जिसका लक्ष्य 'सर्वप्राणिहित' है।

इस दिन—अहिंसाके अवतार श्री सन्मति वर्द्धमान महावीर आदि नामोंसे नामाङ्कित वीर भगवानका तीर्थ प्रवर्तित हुआ, उनका शासन शुरू हुआ, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहलेपहल खिरी, जिसके द्वारा सब जीवोंको उनके हितका वह सन्देश सुनाया गया जिसने उन्हें दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताया, दुःखकी कारणीभूत भूलें सुझाईं, वहमोंको दूर किया, यह स्पष्ट करके बतलाया कि सच्चा सुख अहिंसा और अनेकान्तदृष्टिको अपनानेमें है; समताको अपने जीवनका अङ्ग बनानेमें है, अथवा बन्धनसे—परतन्त्रतासे—विभावपरिणतिसे छूटनेमें है, साथ ही, सब आत्माओंको समान बतलाते हुए, आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है, उसके लिये नितान्त दूसरों पर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरोंको दोष देना भारी भूल है।

इसी दिन—पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताको यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है।

यह पुण्य-दिवस—उन क्रूर बलिदानोंके सातिशय रोकका दिवस है जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयतापूर्वक छुरीके घाट उतारे जाते थे अथवा होमके बहाने जलती हुई आगमें फेंक दिये जाते थे।

इसी दिन—लोगोंको उनके अत्याचारोंकी यथार्थ परिभाषा समझाई गई और हिंसा अहिंसा तथा धर्म अधर्मका तत्त्व पूर्णरूपसे बतलाया गया।

इसी दिनसे—स्त्रीजाति तथा शूद्रोंपर होनेवाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी जन यथेष्ट रूपसे विद्या पढ़ने तथा धर्मसाधन करने आदिके अधिकारी ठहराये गये।

इसी तिथिसे—भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था, जिसका पता हालमें उपलब्ध हुए कुछ अतिप्राचीन ग्रंथलेखोंसे—'तिलोयपण्णत्ती' तथा 'धवल' आदि सिद्धान्तग्रंथों परसे—चला है। सावनी-आषाढ़ीके विभागरूप फसली साल भी इसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ता है जिसकी संख्या आजकल गलत प्रचलित हो रही है।

इस तरह यह तिथि—जिस दिन वीरशासनकी जयन्ती (ध्वजा) लोकशिखर पर फहराई, संसारके हित तथा सर्वसाधारणके उत्थान और कल्याणके साथ अपना सीधा एवं खास सम्बंध रखती है और इसलिये सभीके द्वारा उत्सवके साथ मनाये जानेके योग्य है। इसीलिये इसकी यादगारमें कई वर्षसे वीरसेवामन्दिर सरसावामें 'वीरशासनजयन्ती' के मनानेका आयोजन किया जाता है। अन्य स्थानों पर भी किया जारहा है।

इस वर्ष—यह पावन तिथि ७ जुलाई सन् १९४४ को शुक्रवारके दिन अवतरित हुई है। अबकी बार वीरसेवा-मन्दिरने उसी राजगिर (राजगृह) स्थानपर वीरशासनजयन्ती मनानेका आयोजन किया है जहांसे वीरशासनकी सर्वोदय तीर्थ-धारा प्रथम प्रवाहित हुई थी। उत्सवकी तारीखें ७, ८, ९, जुलाई है। अतः सब स्थानोंके भाईयोंको इस सर्वातिशायी पावन पर्वको मनानेके लिये अभीसे सावधान होजाना चाहिये और राजगृह पहुंच कर उत्सवमें भाग लेना चाहिये जो भाई वहां न पधारसकें उन्हें अपने २ स्थानोंपर उसे मनानेका पूर्ण आयोजन करके कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

निवेदक—

जुगलकिशोर मुख्तार

वीरशासन-जयन्ती

अर्थात्

श्रावण-कृष्णा-प्रतिपदाकी पुण्य-तिथी

यह तिथि—इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है और एक ऐसे 'सर्वोदय' तीर्थकी जन्मतिथि है, जिसका लक्ष्य 'सर्वप्राणिहित' है।

इस दिन—अहिंसाके अवतार श्री सन्मति वर्द्धमान महावीर आदि नामोंसे नामाङ्कित वीर भगवानका तीर्थ प्रवर्तित हुआ, उनका शासन शुरू हुआ, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहलेपहल खिरी, जिसके द्वारा सब जीवोंको उनके हितका वह सन्देश सुनाया गया जिसने उन्हें दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताया, दुःखकी कारणीभूत भूलें सुझाई, वहमोंको दूर किया, यह स्पष्ट करके बतलाया कि सच्चा सुख अहिंसा और अनेकान्तदृष्टिको अपनानेमें है; समताको अपने जीवनका अङ्ग बनानेमें है, अथवा बन्धनसे—परतन्त्रतासे—विभावपरिणतिसे छूटनेमें है, साथ ही सब आत्माओंको समान बतलाते हुए, आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है, उसके लिये नितान्त दूसरों पर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरोंको दोष देना भारी भूल है।

इसी दिन—पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताको यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है।

यह पुण्य-दिवस—उन क्रूर बलिदानोंके सातिशय रोकका दिवस है जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयतापूर्वक छुरीके घाट उतारे जाते थे अथवा होमके बहाने जलती हुई आगमें फेंक दिये जाते थे।

इसी दिन—लोगोंको उनके अत्याचारोंकी यथार्थ परिभाषा समझाई गई और हिंसा-अहिंसा तथा धर्म अधर्मका तत्त्व पूर्णरूपसे बतलाया गया।

इसी दिनसे—स्त्रीजाति तथा शूद्रोंपर होनेवाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी जन यथेष्ट रूपसे विद्या पढ़ने तथा धर्मसाधन करने आदिके अधिकारी ठहराये गये।

इसी तिथिसे—भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था, जिसका पता हालमें उपलब्ध हुए कुछ अतिप्राचीन ग्रंथलेखोंसे—'तिलोयपण्णत्ती' तथा 'धवल' आदि सिद्धान्तग्रंथों परसे—चला है। सावनी-आषाढ़ीके विभागरूप फ़सली साल भी इसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ता है जिसकी संख्या आजकल ग़लत प्रचलित हो रही है।

इस तरह यह तिथि—जिस दिन वीरशासनकी जयन्ती (ध्वजा) लोकशिखर पर फहराई, संसारके हित तथा सर्वसाधारणके उत्थान और कल्याणके साथ अपना सीधा एवं खास सम्बंध रखती है और इसलिये सभीके द्वारा उत्सवके साथ मनाये जानेके योग्य है। इसीलिये इसकी यादगारमें कई वर्षसे वीरसेवामन्दिर सरसावामें 'वीरशासनजयन्ती' के मनानेका आयोजन किया जाता है। अन्य स्थानों पर भी किया जारहा है।

इस वर्ष—यह पावन तिथि ७ जुलाई सन् १९४४ को शुक्रवारके दिन अवतरित हुई है। अबकी बार वीरसेवा-मन्दिरने उसी राजगिर (राजग्रह) स्थानपर वीरशासनजयन्ती मनानेका आयोजन किया है जहाँसे वीरशासनकी सर्वोदय तीर्थ-धारा प्रथम प्रवाहित हुई थी। उत्सवकी तारीखें ७, ८, ९, जुलाई है। अतः सब स्थानोंके भाईयोंको इस सर्वातिशायी पावन पर्वको मनानेके लिये अभीसे सावधान होजाना चाहिये और राजग्रह पहुंच कर उत्सवमें भाग लेना चाहिये जो भाई वहां न पधारसकें उन्हें अपने २ स्थानोंपर उसे मनानेका पूर्ण आयोजन करके कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

निवेदक—

जुगलकिशोर मुख्तार

* ॐ अर्हम् *

विश्व तत्त्व-प्रकाशक

अनेकान्त

वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४) रु०

एक किरण का मूल्य ।≤)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६	वीरसेवामन्दिर, (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	अप्रैल
किरण ६	वैशाखशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७०, विक्रम सं० २००१	१९४४

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[२०]

श्रीमुनिसुव्रत-जिन-स्तोत्र

अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनि-परिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥ १ ॥

'मुनियोंके सुव्रतोंकी—मूलोत्तर गुणोंकी—स्थितिको अधिगत करने वाले—उसे भले प्रकार जानने वाले ही नहीं किन्तु स्वतःके आचरण-द्वारा अधिकृत करने वाले —(और इस लिए) 'मुनि-सुव्रत' इस अन्वर्थ संज्ञाके धारक हे निष्पाप (घातिकर्म-चतुष्टयरूप पापसे रहित) मुनिराज ! आप मुनियोंकी परिषद्में—गणधरादि ज्ञानियों की सभा (समवसरण) में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है ।'

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमद-निग्रह-विग्रहाऽऽभया ।
तव जिन तपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥ २ ॥

'मद-मदन अथवा अहंकारके निग्रहकारक—निरोधसूचक—शरीरके धारक हे मुनिसुव्रत जिन ! आपका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण-मोरके कण्ठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित हुआ है जिस प्रकार कि ग्रहपरिवेषकी—चन्द्रमाके परिमण्डलकी—दीप्ति शोभती है ।'

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥ ३ ॥

'हे यतिराज ! आपका अपना शरीर चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अति-सुगन्धित, रजरहित, शिवस्वरूप (स्वपर-कल्याणमय) तथा अति आश्चर्यको लिये हुए रहा है और आपके वचन तथा मनकी जो प्रवृत्ति हुई है वह भी शिव-स्वरूप तथा अति आश्चर्यको लिए हुए हुई है ।'

स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥ ४ ॥

'हे मुनिसुव्रत-जिन ! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं—आपका यह वचन कि 'चर और अचर (जंगम-स्थावर) जगत प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिये हुए है'—प्रत्येक समय में ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय(विनाश)स्वरूप है—सर्वज्ञताका चिन्ह है—संसारभरके जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञताके विना नहीं बन सकता, और इस लिए आपके इस परम अनुभूत वचनसे स्पष्ट सूचित होता है कि आप 'सर्वज्ञ' हैं ।'

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ॥ ५ ॥

'(हे मुनिसुव्रत जिन !) आप अनुपम योगबलसे—परमशुक्लध्यानाग्निके तेजसे—आठों पाप-मलरूप कलंकोंको—जीवात्माके वास्तविक स्वरूपको आच्छादन करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु नामके आठों कर्ममलोंको—भस्मीभूत करते हुए, संसारमें न पाये जाने वाले सौख्यको—परमअतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्यको—प्राप्त हुए हैं । आप मेरी—मुझ स्तोताकी—भी संसारशान्तिके लिए निमित्तभूत हूजिये—आपके आदर्शको सामने रखकर मैं भी योग-बलसे आठों कर्म-मलोंको दग्ध करके अतीन्द्रिय परमसौख्यको प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी भावना अथवा आत्मप्रार्थना है ।'

[२१]

श्रीनमि-जिन-स्तोत्र

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि-जिनम् ॥ १ ॥

'स्तुतिके समय स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधुस्तोताकी—विवेकके साथ भक्तिभाव-पूर्वक स्तुति करने वालेकी—स्तुति कुशल-परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर है; और वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेयफलका दाता है । जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—स्वयं प्रस्तुत कीगई स्तुतिके-द्वारा प्राप्त है—तब, हे सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान्—प्रेक्षापूर्वकारी अथवा विवेकीजन—है जो आपकी स्तुति न करे ? करे ही करे ।'

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्म-निगलं,
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगवन्
अभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥ २ ॥

'हे बुद्धि-ऋद्धिसम्पन्न भगवन् ! आपने परमात्म (शुद्धात्म)-स्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके पुनर्जन्मके बन्धनको उसके मूलकारण सहित नष्ट किया है, अतएव आप विद्वज्जनोंके लिए मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष-स्थान हैं—आपको प्राप्त होकर विवेकीजन अपना मोक्षसाधन करनेमें समर्थ होते हैं। आपमें विभव (समर्थ) किरणोंके साथ केवलज्ञानज्योतिके प्रकाशित होने पर अन्यमती—एकान्तवादी—जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए हैं जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनू) होते हैं।'

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्-
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।
सदाऽन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा,
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ ३ ॥

'हे संपूर्ण जगतके महान गुरु श्रीनमिजिन ! आपने वस्तुतत्त्वको बहुत नयोंकी विवक्षा- अविवक्षाके वशसे विधेय, वार्य (प्रतिषेध्य), उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयाऽनुभय, प्रतिषेध्याऽनुभय और उभया-ऽनुभय (ऐसे सप्तभंग)रूप निर्दिष्ट किया है। साथ ही अपरिमित विशेषों (धर्मों) का कथन किया है जिनमेंसे एक एक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहता है और सप्तभंगके नियमको अपना विषय किये रहता है—कोई भी विशेष अथवा धर्म सर्वथा एक दूसरेकी अपेक्षासे रहित कभी नहीं होता और न सप्तभंगके नियमसे बहिर्भूत ही होता है।'

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ४ ॥

'प्राणियोंकी अहिंसा जगतमें परमब्रह्म—अत्युच्चकोटिकी आत्मचर्या—जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रमविधिमें नहीं बनती जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र—थोड़ा सा—भी आरम्भ होता है। अतः उस अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए परमकरुणाभावसे सम्पन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूपसे उभय-प्रकारके परिग्रहको छोड़ा है—बाह्यमें वस्त्रालंकारादिक उपधियोंका और अन्तरंगमें रागादिकभावोंका त्याग किया है—फलतः परमब्रह्मकी सिद्धिको प्राप्त किया है। किन्तु जो विकृतवेष और उपधिमें रत हैं—यथाजातलिङ्गके विरोधी जटा-मुकुट-धारण तथा भस्मोद्धूलनादिरूप वेष और वस्त्र, आभूषण, अक्षमाला तथा मृगचर्मादिरूप उपधियोंमें आसक्त हैं—उन्होंने उस बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है।—और इस लिए ऐसोंसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकी है।'

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधिरहितं शान्तकरणं,
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषान्तक विजयम्।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं,
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥ ५ ॥

'(हे नमि-जिन !) आभूषण, वेष तथा व्यवधान (वस्त्र-प्रावरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको—अपने अपने विषयोंमें वांछाकी निवृत्तिको—लिये हुए आपका नग्न दिगम्बर शरीर चूंकि यह बतलाता है कि आपने कामदेवके बाणोंके विषसे होने वाली चित्तकी पीड़ा अथवा अप्रतीकार व्याधिको जीता है और बिना भयंकर शस्त्रोंके ही निर्दयहृदय क्रोधका विनाश किया है इस लिए आप निर्मोह हैं और शान्ति-सुखके स्थान हैं अतः हमारे शरण्य हैं—हम भी निर्मोह होना और शान्ति-सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, इसीसे हमने आपकी शरण ली है।'

तीर्थङ्कर क्षत्रिय ही क्यों ?

(लेखक—श्री कर्मानन्द)

वर्तमान समयमें जैनधर्मके प्रवर्तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं। वे सभी क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न हुए हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये तीर्थंकर क्षत्रिय-कुलमें ही क्यों उत्पन्न हुए ? इसका उत्तर हमें इतिहाससे मिलता है। इतिहासका पर्यालोचन करनेसे पता चलता है कि पूर्व समयमें आत्म-विद्या केवल क्षत्रियोंके पास ही थी, ब्राह्मण लोग इससे नितान्त अनभिज्ञ थे, ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंकी सेवा करके एवं शिष्य बनकर यह आत्मविद्या प्राप्त की है। चुनांचे बृहदारण्यकोपनिषद् ११।३१ में लिखा है कि महाराज जनकका प्रताप इतना फैल गया था कि काशीराज अजातशत्रुने निराश होकर कहा कि "सचमुच सब लोग यह कहकर भागे जाते हैं कि हमारा रक्षक जनक है"। यह अजातशत्रु स्वयं भी अध्यात्म-विद्या का महान् विद्वान् और तत्ववेत्ता था। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि जनककी भेंट ऐसे तीन ब्राह्मणोंसे हुई। जनकने उनसे अग्निहोत्र-विषयक प्रश्न किया, परन्तु ब्राह्मण उसका ठीक उत्तर न दे सके। जनकने जब उनके उत्तरमें भूल बताई तो ब्राह्मण क्रोधित होकर कहने लगे कि इस राजाने हमारा अपमान किया है। राजा जनक वहाँसे चले गये। उन ब्राह्मणोंमेंसे याज्ञवल्क्यने उनका पीछा किया और अपनी शंका निवारण की। तभीसे राजा जनक ब्राह्मण कहलाने लगे (शतपथ ११।६।२१)। यही याज्ञवल्क्य ऋषि यजुर्वेदके संकलनकर्ता तथा प्रसिद्ध महाविद्वान कहे जाते हैं। उपरोक्त गाथासे यह ध्वनित होता है कि क्षत्रिय लोग आत्म-विद्याके ही पारगामी नहीं थे अपितु यज्ञ आदि विषयोंके भी अद्वितीय विद्वान् थे। जिनसे याज्ञवल्क्य जैसे महर्षियोंने भी शिक्षा प्राप्त की थी।

छान्दोग्योपनिषद् ५-३ में लिखा है कि एक समय श्वेतकेतु आरुणेय पांचालोंकी एक सभामें गया तो प्रवाहन-जयबलीने जो क्षत्रिय था, उससे कुछ प्रश्न किये। परन्तु वह एकका भी उत्तर न दे सका। उसने उदास-भावसे घर आकर अपने पितासे उन प्रश्नोंका हाल कहा। उसका पिता गौतम भी उन प्रश्नों को न समझ सका, वे दोनों उस प्रवाहन-जयबलीके पास गये और उनके शिष्य बन कर उस आत्म-विद्याको

प्राप्त किया। उस समय राजाने उनसे कहा कि आज तक यह विद्या क्षत्रियोंकी ही थी। आज यह पहिला ही अवसर है जब मैं इस विद्याको एक ब्राह्मणके लिए दे रहा हूँ। "न प्राक्त्वत: पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति"।

शतपथ १०-६-१ तथा छान्दोग्य उपनिषद् ५-२ में लिखा है कि ५ वेदज्ञ ब्राह्मणोंको इस बातकी जिज्ञासा हुई कि आत्मा क्या है ? वे लोग जाननेके लिए उद्दालक-आरुणी ऋषिके पास गये परन्तु उसको भी इस में सन्देह था। वह उनको कैकेयराज (अश्वपति) के पास ले गया। वे लोग हाथमें समिधा लेकर शिष्यवत् उस राजाके पास गये। राजाने आत्मज्ञानका उपदेश देकर उनकी सब शंकाओंका समाधान कर दिया। यह कैकेय देश नैपालकी तलैटीमें श्रावस्तीसे उत्तर-पूर्वमें था, इसकी राजधानी श्वेताम्बिका नगरी थी। ईसाके अनुमान १००० वर्ष पूर्व यहांका राजा प्रदेशी श्रमणोपासक था। बौद्ध ग्रंथोंसे ज्ञात होता है कि श्रावस्तीसे कपिलवस्तुको जाते हुए श्वेताम्बी बीच में आती थी। जैन-ग्रन्थोंमें भी इसकी पुष्टि होती है। वर्तमान सीतामढ़ी शायद श्वेताम्बीका ही रूपान्तर है। वर्तमान समयके कुछ इतिहासज्ञोंका यह कथन कि कैकेय देश व्यास और सतलजके बीचका देश था भ्रमपूर्ण है।

इसी प्रकार कौशीतिकी उपनिषद्में लिखा है कि चित्रगांगयनी राजाके पास दो ब्राह्मण समितपाणि गये और आत्मज्ञान प्राप्त किया। उसी उपनिषद्में भारतके प्रसिद्ध विद्वान गार्ग्य बालाकी और काशीराज अजातशत्रुके वादविवादका वर्णन है। इस अभिमानी ब्राह्मणने राजाको शास्त्रार्थके लिये ललकारा। अतः राजाको भी मैदानमें आना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि बालाकीने महाराजका शिष्य बनना स्वीकार किया, परन्तु राजाने एक विद्वानका अपमान करना अनुचित समझा, अतः उन्होंने बिना ही शिष्य बनाये बालाकी को आत्म-विद्याका रहस्य बतलाया। इन्हीं अजातशत्रु के पुत्र महाराज भद्रसेन थे। जैनशास्त्रोंमें इन्हींका नाम अश्वसेन लिखा है जो कि भगवान पार्श्वनाथजी के पिता थे। शतपथ ब्राह्मण ५-५-५ में लिखा है कि इन्हीं महाराज भद्रसेनपर आरुणी ऋषिने अभिचार कर्म किया था।

ब्राह्मण-ग्रंथोंमें आया है कि "प्रजापतिर्वै क्षत्रम्। शतपथ ८।२।३।११" अर्थात् प्रजापति (ब्रह्मा) क्षत्रिय ही था। यही बात यजुर्वेद १४।९ में लिखी है तथाच—

यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः।
पर्जन्यो यमो मृत्यु ईशान इति क्षत्रात्परं नास्ति॥
— शत० १४।४।२।२३

अर्थात् उपरोक्त जितने भी यम, वरुण, सोम, रुद्र, ईशान, इन्द्रादि देव हैं वे सब क्षत्रिय हैं। इस लिए क्षत्रियसे उत्तम कोई नहीं है। इसी प्रकार वैदिक साहित्यमें क्षत्रियोंकी महिमाका कथन है।

उपरोक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पूर्वसमयमें आत्मविद्याको जानने वाले क्षत्रिय ही थे। ब्राह्मणोंका धर्म क्रियाकाँड (याज्ञिक) धर्म था। वर्तमान समयके ऐतिहासिक विद्वान आर० सी० दत्तने अपनी 'सभ्यताका इतिहास' नामक पुस्तकमें लिखा है कि अवश्यमेव क्षत्रियोंने ही इन (आत्मज्ञानके) उत्तम विचारोंको चलाया।

उपनिषद् शास्त्र अध्यात्मविद्याके शास्त्र हैं। उनमें स्थान स्थान पर यज्ञादिक व्यर्थके क्रियाकाँडोंका विरोध किया गया है। यथा—

"प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः"—मुण्डकोपनिषद्

अर्थात्—यह यज्ञरूपी क्रियाकांड जीर्ण शीर्ण टूटी हुई नौकाओंके समान हैं, जिन पर चढ़कर पार उतरनेकी इच्छा वाला मनुष्य अवश्य ही डूब जाता है।

जहां अध्यात्म-विद्याके विषयमें क्षत्रियोंका महत्व था वहां पूर्वदेशको ही यह गौरव प्राप्त था। जैसा कि ऊपर हम प्रमाणोंसे सिद्ध कर चुके हैं। वे राजा आत्म-विद्याके महान ज्ञाता थे। वे सब विदेह, काशी, मगध, पांचाल, कैकेय आदि पूर्व देशोंके थे। इनमें केवल कैकेयको ही ऐतिहासिक लोग पंजाबका देश मानते हैं, परन्तु हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि उनकी यह धारणा गलत है। यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें अंग, वंग, कलिंग आदि देशोंकी निंदा की गई है।

ऋग्वेदमें "किं कुर्वन्ति कीकटेशु गावः" कह कर मगधदेशकी निंदा की गई है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैदिक समयमें मगधदेशमें वैदिक क्रिया-कांडोंका घोर विरोध होता था। जैन तीर्थंकर प्रायः इन्हीं देशोंमें हुए हैं। और वे वैदिक यज्ञादिक हिंसा काण्डोंके विरोधी थे। यह घटना भी इसी बात को सिद्ध करती है कि उन देशोंमें क्षत्रिय-धर्म (आत्म-धर्म) प्रचलित था—अन्य देशोंमें यज्ञ आदि। और इस लिये जैन तीर्थंकर सभी क्षत्रिय ही थे।

नयोंका विश्लेषण

(ले०—पं० वंशीधर जैन व्याकरणाचार्य)

[गतकिरण नं० ८ से आगे]

(१०) अर्थनय और शब्दनयके भेद—

जैनधर्ममें उल्लिखित अर्थनय और शब्दनयके निम्नलिखित सात भेद स्वीकार किये गये हैं—(१) नैगमनय, (२) संग्रहनय, (३) व्यवहारनय, (४) ऋजुसूत्रनय (५) शब्दनय, (६) समभिरूढनय और (७) एवंभूतनय[1]। इनमेंसे आदिके चार नय अर्थनय और अंतके तीन नय शब्दनय कहे जाते हैं[2]। तात्पर्य यह है कि नय वचनरूप होता है यह स्पष्ट किया जा चुका है और वक्ता वचनों द्वारा अपने अभिप्राय-गत—अर्थात् विवक्षित पदार्थको प्रगट करनेके लिये निम्नलिखित चार प्रकारकी कथनशैलीका उपयोग किया करता है। वक्ताकी इसी चार प्रकारकी कथनशैलीके आधार पर ही अर्थनयके पूर्वोक्त चार भेद घटित होते हैं—अर्थात् कभी २ वक्ता अपने विवक्षित पदार्थको प्रगट करनेके लिये उस विवक्षित पदार्थके साथ २ उसके अनुकूल अविवक्षित पदार्थका भी कथन किया करता है इस प्रकारके कथनको नैगमनय समझना चाहिये। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि अलंकार पूर्ण जितना साहित्यिक वर्णन किया जाता है वह सब इस नयकी ही कोटिमें आता है। कभी २ वक्ता अपने विवक्षित पदार्थको प्रगट करनेके लिये अविवक्षित पदार्थको छोड़ कर सिर्फ उस विवक्षित पदार्थका ही कथन किया करता है। उसमें भी यदि वह कथन संक्षेप अर्थात् सामान्य-रूपसे मात्र उस विवक्षित पदार्थके स्वरूपका प्रदर्शन करने वाला हो, तो उस कथनको संग्रहनय समझना चाहिये। यदि वह कथन विस्तार अर्थात् विशेषरूपसे विवक्षित पदार्थ-के भेद-प्रभेदोंको ध्यानमें रख कर किया गया हो तो उसे व्यवहारनय और यदि वह कथन उस विवक्षित पदार्थके आवश्यक उपयोगी अंशको ध्यानमें रख कर किया गया हो तो उसे ऋजुसूत्रनय समझना चाहिये। इस तरह इन चारों ही नयों द्वारा भिन्न २ तरहसे चूंकि अर्थका ही प्रतिपादन हुआ करता है इस लिये इन्हें अर्थनय मान लिया गया है। इन चारों प्रकारके अर्थनयों द्वारा वक्ताके विवक्षित पदार्थको समझनेमें श्रोताओंको भ्रम, संशय अथवा विवादके उत्पन्न होनेकी संभावनाका जिक्र पहिले किया जा चुका है। इस लिये वक्ताके विवक्षित पदार्थको समझनेमें श्रोताओंको भ्रम, संशय अथवा विवाद पैदा न हो सके, इसका ध्यान रखते हुए वक्ताके लिये पदार्थका प्रतिपादन करते समय इन चारों ही अर्थनयोंमें व्याकरण, शब्दकोष और निरुक्ति या परिभाषाका सहारा लेना आवश्यक हो जाता है और इस तरह इन व्याकरणादि निमित्तों

१—नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥
—तत्वा० सू० १-३३

२—तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः।
त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥ ८१ ॥
—तत्वा० श्लो० पृष्ठ २७४

के आधारपर ये चारों ही अर्थनय यथायोग्य पूर्वोक्त तीनों शब्दनयोंकी कोटिमें पहुँच जाते हैं अर्थात् अर्थनयोंमें जब व्याकरण-सम्मत वाक्यप्रयोग किया गया हो तब उन्हें शब्दनय, जब कोष-सम्मत शब्दप्रयोग किया गया हो तब समभिरूढनय और जब निरुक्ति या परिभाषाके आधार पर शब्दप्रयोग किया गया हो तब एवंभूतनय समझना चाहिये।

इस कथनसे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि जब पूर्वोक्त सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक और लोकसंग्राहक नयोंको अर्थ-प्रतिपादनकी अपेक्षा अर्थनय और व्याकरणादि-सम्मत वचनप्रयोगकी अपेक्षा शब्दनय मान लिया गया है तो सैद्धान्तिक नयके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, आध्यात्मिक नयके निश्चय और व्यवहार तथा लोकसंग्राहकनयके पूर्वोक्तप्रकारसे वचनोंके विकल्पप्रमाण जो भेद पहिले बतलाये गये हैं उन सभी भेदोंको अर्थनयत्वकी दृष्टिसे नैगम आदि चार और शब्दनयत्वकी दृष्टिसे शब्द आदि तीन भेदरूप समझना चाहिये। इस लिये जैन ग्रन्थोंमें जहां कहीं नैगम आदि सात नयोंको सिर्फ सैद्धान्तिक नयके भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयोंमें संघटित करनेका प्रयत्न किया गया है[1] वह ठीक नहीं है। साथ ही द्रव्यार्थिक नयको सिर्फ नैगम, संग्रह और व्यवहाररूप तथा पर्यायार्थिकनयको सिर्फ ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत-रूप बतलाना[2] भी भ्रमपूर्ण है। कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्यार्थिक नयके समान पर्यायार्थिक नय भी नैगम संग्रह तथा व्यवहारनय सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नय के समान द्रव्यार्थिकनय भी ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूतरूप सिद्ध होता है। स्वामी विद्यानन्द आदि किन्हीं २ आचार्योंने नैगमनयके तीनभेद स्वीकार किये हैं द्रव्यनैगमनय, पर्याय नैगमनय और द्रव्यपर्याय नैगमनय[3]। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि स्वामी विद्यानन्दी आदि आचार्योंके लिये ऋजुसूत्रादि चार नयोंके अतिरिक्त नैगम-नयको भी पर्यायार्थिक नय मानना अभीष्ट है और यह जैन ग्रन्थोंके उल्लिखित कथनको भ्रमपूर्ण माननेमें जबर्दस्त प्रमाण है। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

यहां पर एक बात और ध्यानमें रखने लायक है कि जब शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों नयोंको शब्दनय स्वीकार किया गया है तो शब्दनयत्वकी दृष्टिसे इन्हें पर्यायार्थिकनय मानना भी असंगत ही है कारण कि द्रव्य और पर्याय तथा निश्चय और व्यवहार आदि सभी अपने अपने रूपमें एक प्रकारके अर्थ ही तो हैं, इस लिये इनका प्रतिपादन करने वाला कोई भी नय अर्थनय ही माना जायगा, शब्दनय नहीं। और यह बात बतलायी जाचुकी है कि अर्थनयके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार तथा ऋजुसूत्र ये चार ही माने गये हैं। इस प्रकार द्रव्य अथवा पर्याय तथा निश्चय अथवा व्यवहार आदि विषयका प्रतिपादन करनेकी दृष्टिसे शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों नयोंका अंतर्भाव हमें यथायोग्य नैगम, संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चारों नयोंमें ही करना होगा।

जैनधर्ममें व्यवहारनयके भी सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय और उपचरितासद्भूत व्यवहारनय आदि भेद किये गये हैं परन्तु साथमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि सद्भूत, असद्भूत और उपचरितासद्भूत आदि भेद आध्यात्मिकनयके भेद व्यवहारनयके ही होते हैं, अर्थनयके भेद व्यवहारनयके नहीं। आध्यात्मिकनयके भेद व्यवहारनयमें इन भेदोंकी संभावनाका आभास पूर्वमें किये गये आध्यात्मिकनयके विवेचनमें मिल जाता है बाकी अर्थ-नयके भेद व्यवहारनयमें इन भेदोंकी असंभावनाका स्पष्टीकरण इस व्यवहारनयका विवेचन करते समय किया जायगा।

इन सातों नयोंके स्वरूपके बारेमें श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें जो मान्यतायें पायी जाती हैं वे करीब करीब समान ही हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें खोज करनेका तो मुझे अवसर नहीं मिल सका है फिर भी दिगम्बर ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता है कि यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो उपलब्ध ग्रन्थोंमें से पूज्यपाद आचार्यकृत सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमें ही सबसे पहिले इन सात नयोंके स्वरूपका संकलन किया गया है और तत्वार्थराजवार्तिक, तत्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमेयकमल-मार्तण्ड आदि ग्रन्थोंमें उक्त सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थका ही प्रायः

१—सङ्क्षेपाद्द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ। त. श्लो. पृ. २६८

२—द्रव्यार्थो व्यवहारान्तः पर्यायार्थस्ततो परः ॥ त० २६८

३—यद्वा नैकं गमो योत्र स सतां नैगमो मतः।
धर्मयोर्धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥२१॥ त. २६९
धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकंगमो नैगमः ॥ प्रमाणनयतत्वालोक ७–७

अनुसरण किया गया है। प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक श्वेताम्बर ग्रन्थमें भी इन सात नयोंके स्वरूपका संकलन उक्त दिगम्बर ग्रन्थोंके अनुरूप ही किया गया है। परन्तु मैं अभी यह नहीं कह सकता हूं कि उसमें श्वेताम्बर ग्रन्थों की कितनी प्राचीन परम्पराका आधार मौजूद है।

बहुत विचार करनेके बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूं कि इन ग्रन्थोंमें पाया जाने वाला उक्त सात नयोंके स्वरूप का यह संकलन प्रायः दोषपूर्ण है। परन्तु किसी भी उत्तर विद्वानका इस ओर लक्ष्य नहीं जानेका प्रधान कारण यह है कि चूंकि पूर्व पूर्वके विद्वान कालगणनाकी अपेक्षा भगवान् महावीरके, जिन्हें कि सर्वज्ञ स्वीकार किया गया है, निकटतर या निकटतम ठहरते हैं। इस लिये उनकी श्रुति और धारणाको जैन परम्परामें उत्तर उत्तरके विद्वानोंकी श्रुति और धारणाकी अपेक्षा अधिक सही और निर्दोष माना गया है और यही सबब है कि उत्तर उत्तरके विद्वानों ने पूर्व पूर्वके विद्वानोंकी मान्यताओंके संरक्षणका ही अधिक ध्यान रक्खा है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि जैनपरम्परामें तत्वमान्यताके बारेमें दो प्रकारकी पद्धतियों से काम लिया गया है—एक आगमिक पद्धति और दूसरी दार्शनिक पद्धति। तत्वमान्यतामें प्राचीन परम्पराको आधार मानना आगमिक पद्धति कहलाती है और प्राचीनताको महत्व न देते हुए अपने अनुभव और तर्कके आधार पर तत्वनिर्णय करना दार्शनिक पद्धति समझना चाहिये। इन दोनों पद्धतियोंमेंसे आगमिक पद्धति उन लोगोंके लिये उपयोगी है जो स्वयं अपने अनुभव और तर्कके आधारपर परीक्षा-द्वारा तत्वनिर्णय करनेमें असमर्थ हैं। लेकिन जो लोग अपने अनुभव और तर्कके आधार पर परीक्षा करके तत्वनिर्णय कर सकते हैं उनके लिये आगमिक पद्धतिका कुछ भी महत्व नहीं रह जाता है, ऐसे लोगों के लिये दार्शनिक पद्धति ही श्रेयस्कर बतलायी गयी है। इस लिये आगमिक पद्धतिकी अपेक्षा दार्शनिक पद्धतिको अपने आप महत्वपूर्ण स्थान मिल जाता है और यही सबब है कि श्वेताम्बर विद्वान् हरिभद्रसूरिवचन अर्थात् आगमकी प्रामाणताके लिये उसमें युक्तिमत्ताका समर्थन करके दार्शनिक पद्धतिको[1] अपनानेकी ही प्रेरणा करते हैं। तथा स्वामी समन्तभद्रने भी आगमकी प्रमाणता अर्थात् सत्यताके लिये उसमें श्रोताके अनुभव और तर्ककी अविरोधिताको कारण बतलाकर इसी आशयको पुष्ट किया है[2]। अजैन विद्वान म० कालीदासकी—

"पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढःपरप्रत्ययनेयबुद्धिः॥१॥"

यह उक्ति उनकी नजरोंमें दार्शनिक पद्धतिके महत्वको प्रस्थापित कर रही है। सभी दर्शनकारोंकी भी मान्यता यही है कि प्रत्यक्ष सर्वप्रमाणोंसे बढ़कर प्रमाण है[3] और वही अनुमान प्रमाण माना जा सकता है जो प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोधी न हो। अनुमानके बाद आगमकी प्रमाणताका नंबर आता है अर्थात् जो आगम प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंका विरोधी न हो वही प्रमाण माना जा सकता है[4], दूसरा नहीं। इसका मतलब यह हुआ कि अनुभव और तर्कके द्वारा निर्णीत बातके बारेमें 'आगममें यह बात है या नहीं? अथवा आगममें तो इससे विपरीत कथन मिलता है।' इत्यादि प्रश्न उठाना व्यर्थ है। यदि अनुभव और तर्कसे निर्णीत कोई बात आगममें नहीं पाई जाती है अथवा वहाँ पर वह अनुभव और तर्कके विरुद्ध प्रतिपादित की गयी है तो दोनों ही हालतोंमें वह गलत नहीं ठहरायी जा सकती है, प्रत्युत ऐसी हालतमें वह आगम ही दोषपूर्ण सिद्ध होता है। अस्तु, प्रकृतमें अब हमें इस बात पर विचार करना है कि प्राचीन विद्वानोंने सात नयोंके स्वरूप का जो संकलन किया है वह कहाँ तक अनुभव और तर्कके विरुद्ध है कि जिसके आधार पर उसे दोषपूर्ण माना जा सके। इस लिये अब हम सातों नयोंके स्वरूपपर आलोचनात्मक पद्धतिसे विस्तृत प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। (क्रमशः)

१—पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ हरिभद्रसूरिः

२ आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्॥ र० श्रा० श्लो० ६
स्वामी समन्तभद्रने इस श्लोकके द्वारा शास्त्रका लक्षण बतलाते हुए उसमें दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात् अनुमान की अविरोधिताको आवश्यक बतलाया है।

३ न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टं, तदभावे प्रमाणान्तरप्रवृत्तेः समारोपव्यवच्छेदविशेषाच्च × × ×

४ 'अदृष्टेष्टविरोधकम्। ....शास्त्रं' —रत्नक० श्रा० ६

कर्म-वीर

(ले०—बा० महावीरप्रसाद जैन, बी० ए० एल० एल० बी०)

तारों की छायामें तड़के ही उठ, बिजली जला, मैं मेज़पर पड़े सम्पादकजीके तीन—चार आग्रह-पूर्ण पत्रों को देखने लगा। हर एक पत्रमें कहानी भेजने का तकाज़ा था। पर कहानी थी कहाँ? बहुत दिमाग़ लड़ानेपर भी मुझे कोई प्लाट नहीं सूझ रहा था। दो तीन सप्ताहसे यही कशमकश जारी थी। किन्तु जैसे दिमाग़का खेत बिलकुल बँजर पड़ा हो!

इसी धुनमें लोटा ले मैं छतपर चढ़ गया। शौच-गृहसे निकल, यकायक मेरी दृष्टि पूर्वकी ओर आकाश पर जा पड़ी। मैं स्तब्ध, लोटा लिये ज्यों का त्यों खड़ा रह गया।

आकाशपर कहीं कहीं कोई हल्का सा बादलका टुकड़ा इधर उधर घूम रहा था। गहरा नीला आकाश। एक—दो फीकी सी हँसी हँसते हुये तारे। और पूर्वमें ऊषाकी गोदमें बाल-रवि सुषमा और सौन्दर्य चारों ओर बखेरता हुआ शुभ-भाग्य की नाईं उदय होरहा था।

कानोंमें टुन—टुनकी प्यारी आवाज आई। नीचे सड़क परसे बैल खेतों की ओर जा रहे थे। तड़के की गुलाबी सर्दीका आनन्द लेता हुआ, गाढ़ेकी मोटी दोहरसे निकले एक हाथमें हुक्का और दूसरेमें बैलों की रस्सी लिये किसान 'कँवर निहालदे' के सांगकी कड़ी धीमे २ गुनगुनाता हुआ, कर्तव्य-पथपर आरूढ किन्तु कर्तव्यकी मजबूरीसे दूर—प्रकृति। पुत्रकी नाईं स्वाभाविकतया अपने उपकार संसारपर बखेरने—ओस से भीगे मोटे मोटे सुगंधित ढेलोंका ध्यान मनमें लिये, खेतोंकी ओर बढ़ा चला जारहा था।

मेरे घरसे थोड़ी दूर एक धनिक—परिवारकी हवेली थी। उसकी दीवारोंके उसपार मुझे दिखाई दिया—सेठजी टाँगपर टाँग धरे, मुलायम तकियेपर सिरको ढुलकाये, विलासताकी गोदमें संज्ञा-हीन, कर्तव्यसे दूर, रंगरेलियोंके समीप, ऊपर छतपर लगे धीमे नीले बल्बकी विद्रूपसे भरी मुस्कराहटसे अनभिज्ञ, खर्राटे ले रहे थे!

पूर्वाकाश एकदम लाल हो उठा था। सूर्य नित्य की भाँति अपने असंख्य हाथोंमें किरणोंके हल लिये आकाश-खेतको जोतने अग्रसर होरहा था। आकाश का वह किसान!!

× × ×

उसी दिनकी दोपहरी—

आकाश चमक रहा था। सूर्यके प्रखर—प्रतापके सामने आंखें नहीं उठाई जाती थीं। वह महा-विजेता तहखानोंके बंद द्वारोंकी झीरियों तकसे प्रकाशकी छुरियां घुसेड़कर अन्धकार-शत्रुका नाश कर रहा था।

प्रत्येक ओर व्यस्तता थी। पसीना था। धुन थी। धुनमें मस्ती थी। सब लगे हुये थे। कोई ख़ाली न था।

फुर्ती और चहल पहलके इस ज्वारके बीच हमारे सेठजी दोपहरका कई गरिष्ठ पदार्थोंसे युक्त भोजन करके, जिन्हें पचानेमें सर्वथा असमर्थ मेदा लिये वह आराम कुर्सी पर भारा-क्रान्तसे पसरे पड़े थे। सामने मेजपर रेडियो मधुर संगीतकी लहरें छोड़ रहा था। किन्तु उनीन्दे सेठजीको उससे अधिक दिलचस्पी मालूम नहीं होती थी।

इस एक अपवादको लेकर, सूर्यका तेज-पूर्ण प्रभुत्व और भी अधिक व्याप्त और भी प्रभावशाली जान पड़ने लगा। कर्तव्यका वह अग्रदूत संसारभरको कर्ममें प्रवृत्त कर, कर्म—क्षेत्रकी शिखापर पहुँच कर पूर्णरूपेण चमक रहा था।

× × ×

पत्नीतका वर्णन पाया जाता है, वह संकट कालकी देन नहीं है; किन्तु जैनसंस्कृतिका अंग है। कारण, वह व्रतका चिन्ह भी कहा गया है। यज्ञोपवीत व्रतोंके धारणका प्रतीक (symbol) या रत्नत्रयका सूचक है। जैन-यज्ञोपवीतमें जैनीदृष्टि निहित है। अतएव उसे जैनधर्मका आवश्यक अंग अंगीकार करना शास्त्रीय मर्यादाके अनुकूल कहना होगा।

सम्पादकीय-विचारणा

पं० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर सिवनीका 'जैनागम और यज्ञोपवीत' नामका जो लेख अनेकान्तकी इसी किरणमें प्रकाशित हो रहा है उस पर सम्पादकीय-विचारणा इस प्रकार है—

इस लेखमें विद्वान लेखकने भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराणके जिन वाक्योंको आगमप्रमाणके रूपमें उपस्थित किया है वे विवादापन्न-कोटिमें स्थित हैं और इस लिये उस वक्त तक प्रमाणमें उपस्थित किये जानेके योग्य नहीं जब तक विपक्षकी ओरसे यह कहा जाता है कि दक्षिणदेशकी तत्कालीन परिस्थितिके वश मुख्यत: श्री जिनसेनाचार्यने यज्ञोपवीत (जनेऊ) को अपनाकर उसे जैनाचारमें दाखिल किया है—उनके समयसे पहले प्रायः ऐसा नहीं था और न दूसरे देशोंमें ही वह जैनाचारका कोई आवश्यक अंग समझा जाता था।

श्रीजिनसेनाचार्यके विषयमें दूसरे पक्षके कथनका उल्लेख करके जो यह कहा गया है कि—"इस कथनके बारेमें क्या कहा जाय जो भगवत् जिनसेन जैसे महापुरुषकी बातको भी अपने पक्षविशेषके प्रेमवश उड़ादेनेका अद्भुत तरीका अंगीकार करते हैं। वीतराग निस्पृह उदात्तचरित्र महापुरुष अपनी ओरसे आगममें मिश्रण करके उसे महावीर-वाणीकी परम्परा कहें यह बात तो समझमें नहीं आती" इसे यदि लेखक महोदय न कहते तो ज्यादा अच्छा होता। क्योंकि इस प्रकारके अवसर पर ऐसी श्रद्धा-विषयक बातें कहना अप्रासंगिक जान पड़ता है और वह प्रायः बिना युक्तिके ही अपनी बातको मान लेनेकी ओर अपील करता है। कमसे कम जिन विद्वानोंने जैनाचार्योंके शासन-भेदके इतिहासका अध्ययन किया है वे तो ऐसा नहीं कहेंगे। उन्हें तो इतिहासपरसे इस बातका अनुभव होना भी स्वाभाविक है कि समय समय पर कितनी ही लौकिक-विधियों को जैनाचारमें शामिल किया गया है और फिर बादको उनके संरक्षणार्थ 'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्' ऐसे ऐसे वाक्योंकी सृष्टि हुई है। अस्तु, यदि विद्वान लेखकको इस विषयमें दूसरोंको चैलेंज करना इष्ट हो तो वे खुले तथा स्पष्ट शब्दोंमें चैलेंज करें, तभी दूसरे विद्वान उस पर गंभीरता तथा गहरे अनुसंधानके साथ विचार कर सकेंगे और साथ ही आगम, आगममें मिश्रण तथा महावीर-वाणीकी परंपरा इन सबके मर्मका उद्घाटन भी कर सकेंगे।

कविवर पं० बनारसीदासजीके अर्धकथानक वाक्योंको उद्धृत करके जो कुछ कहा गया है और उसमें चारित्र-मोहनीयके उदय तककी कल्पना की गई है वह भी ऐसा ही कुछ अप्रासंगिक जान पड़ता है। अर्धकथानकके उन वाक्योंपरसे और चाहे कुछ फलित होता हो या न होता हो पर इतना तो स्पष्ट है कि कविवर जनेऊको विप्रवेषका अंग समझते थे—जैनवेषका नहीं, और जिस देश (यू० पी०) में वे रह रहे थे वहां जनेऊ विप्रसंस्कृतिका अंग समझा जाता था—जैनसंस्कृतिका नहीं। तभी उन्होंने अपनेको ब्राह्मण प्रकट करनेके लिये जनेऊको अपनाया था। फिर उनकी कथनीके इस ध्रुव सत्यको योंही इधर उधर की बातोंमें कैसे उड़ाया जा सकता है?

आदिपुराणके वाक्योंको अलग कर देने पर लेखमें केवल एक ही आगमप्रमाण विचारके लिये अवशिष्ट रह जाता है और वह है तिलोयपण्णत्तीका वाक्य। इस वाक्य में भोगभूमियोंके आभरणोंका उल्लेख करते हुए 'ब्रह्मसूत्र' नामका भी एक आभरण (आभूषण) बतलाया है और वह मुकुट, कुण्डल, हार, मेखलादि जिन जेवरोंके साथमें उल्लिखित है उन्हींकी कोटिका कोई जेवर मालूम होता है, सूत के धागोंसे विधिपूर्वक बना हुआ यज्ञोपवीत (जनेऊ)

नहीं—भले ही ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीतको भी कहते हों; क्यों कि भोगभूमियोंमें उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता है। भोगभूमियोंमें तो कोई व्रत भी नहीं होता और यज्ञोपवीतको स्वयं जिनसेनाचार्यने व्रतचिन्ह बतलाया है, जैसा कि आदिपुराण (पर्व ३८, ३९) के निम्नवाक्योंसे प्रकट है—

"व्रतचिन्हं दधत्सूत्रं ……………………"

"व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहमुपनीतोस्मि साम्प्रतम्।"

"व्रतचिन्हं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम्।"

ऐसी हालतमें "केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद्विभूषणम्" (३-२७) इस वाक्यके द्वारा जिनसेनाचार्यने भोगभूमियों के आभूषणोंमें जिस ब्रह्मसूत्रका उल्लेख किया है वह व्रत-चिन्ह वाला तथा मंत्रपुरस्सर दिया-लिया हुआ यज्ञोपवीत नहीं हो सकता। वह तो भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्षों द्वारा दिया हुआ एक प्रकारका आभूषण है—जेवर है।

भगवान वृषभदेव और भरतेश्वरके आभूषणोंका वर्णन करने वाले श्रीजिनसेनके जिन वाक्योंको लेखमें उद्धृत किया गया है उनमें भी जिस ब्रह्मसूत्रका उल्लेख है वह भी उसी आकार-प्रकारका ज़ेवर है जिसे भोगभूमिया लोग पहनते थे*। श्रीवृषभदेवके पिता और भरतेश्वरके पितामह नाभिराय भोगभूमिया ही थे—कर्मभूमिका प्रारम्भ यहाँ वृषभदेवसे हुआ है। भ० वृषभदेव और भरतचक्रीके यज्ञोपवीत संस्कारका तो कोई वर्णन भगवज्जिनसेनके आदिपुराणमें भी नहीं है। आदिपुराणके कथनानुसार भरतचक्रवर्ती ने दिग्विजयादिके अनन्तर जब वृषभदेवकी वर्णव्यवस्थासे भिन्न ब्राह्मण वर्णकी नई स्थापना की तबसे व्रतचिन्हके रूपमें यज्ञोपवीतकी सृष्टि हुई। ऐसी हालतमें व्रतावतरण-विषयक मान्यताको भ्रमपूर्ण बतलाते हुए विद्वान लेखकने जो यह लिखा है कि "भरतमहाराजने गृहस्थका पद स्वीकार करके जब दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया था तब भी उनके शरीरपर जिनसेनके शब्दोंमें यज्ञोपवीत था" और इसके द्वारा यह बतलाना चाहा है कि व्रतावरण-क्रियाके अवसर पर भरतने यज्ञोपवीत नहीं उतारा, वह कुछ संगत मालूम नहीं होता। क्यों कि इस कथनसे पहले यह सिद्ध होना आवश्यक है कि दिग्विजयको निकलनेसे पहले भरतका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ था, जो सिद्ध नहीं है। जब यज्ञोपवीत संस्कार ही नहीं हुआ भरतके व्रतावरणकी बात ही कैसे बन सकता है? जिनसेनने तो उक्त अवसर पर भी भरतके शरीर पर (प० २६-६३) दूसरे स्थानकी तरह उसी ब्रह्मसूत्र नामके आभूषणका उल्लेख किया है।

इसके सिवाय, लेखकने व्रतावरण क्रियामें सार्वकालिक व्रत-नियमोंके अक्षुण्ण रहनेकी जो बात कही है वह तो ठीक, परन्तु उन व्रतनियमोंमें यज्ञोपवीतकी गणना नहीं है—उनमें मधुमांसादिके त्यागरूप वे ही व्रत परिगृहीत हैं जो गृहस्थश्रावकोंके (अष्ट) मूलगुण कहलाते हैं, जैसा कि जिनसेनके ही निम्नवाक्योंसे प्रकट है:—

"यावद्विद्यासमाप्तिः स्यात्तावदस्येदृशं व्रतम्।
ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत्स्याद्यन्मूलं गृहमेधिनाम्" ॥ ११८ ॥
"मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बर - वर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम्" ॥ १२३ ॥

ऐसी हालतमें लेखक महोदयने उन सार्वकालिक व्रतों में यज्ञोपवीतकी कैसे और किस आधारपर गणना करली वह कुछ समझमें नहीं आता!! दूसरोंकी मान्यताको भ्रमपूर्ण बतलानेमें तो कोई प्रबल आधार होना चाहिये, ऐसे कल्पित आधारोंसे तो काम नहीं चल सकता।

इस तरह जिनसेनके जिन वाक्योंको लेखमें आगम-प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है वे विचारकी दूसरी दृष्टि से भी अग्राह्य हैं, और इस लिये उनसे लेखककी इष्ट-सिद्धि अथवा उनके प्रतिपाद्य विषयका समर्थन नहीं होता। त्रिलोकप्रज्ञप्तिका प्रमाण भी प्रकृत विषयके समर्थनमें असमर्थ है। उन्हें तो इसके लिये ऐसे प्रमाणोंको उपस्थित करना चाहिये था जिनका यज्ञोपवीत संस्कारके साथ सीधा-स्पष्ट सम्बन्ध हो और जो भगवज्जिनसेनसे पूर्वके साहित्यमें पाये जाते हों।

विपक्षकी ओरसे यह कहा जाता है कि उक्त जिनसेन से पहलेके बने हुए 'पद्मपुराण'में श्रीरविषेणाचार्यने ब्राह्मणों

*इसीसे भ० वृषभदेवके आभूषणोंका वर्णन करते हुए यह भी लिखा है कि उन आभूषणोंसे वे भूषणाङ्ग कल्पवृक्षके समान शोभते थे—

इति प्रत्यङ्गसङ्गिन्या बभौ भूषणसम्पदा।
भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणाङ्ग इवांघ्रिपः ॥ १६-२३८

को 'सूत्रकण्ठाः—,गलेमें तागा डालने वाले—जैसे उपहासास्पद या हिकारतके शब्दोंमें उल्लेखित किया है। यदि उस समय तक जैनियोंमें जनेऊका रिवाज हुआ होता अथवा वह जैनसंस्कृतिका अंग होता तो श्रीरविषेण ब्राह्मणोंके लिये ऐसे हीन पदोंका प्रयोग न करते, जिससे जनेऊकी प्रथा अथवा जनेऊ-धारकोंका ही उपहास होता हो। इसके उत्तर में विद्वान लेखकने अपने लेखमें कुछ नहीं लिखा और न रविषेणाचार्यसे भी पूर्वके किसी जैनागममें यज्ञोपवीत संस्कारके स्पष्ट विधानका कोई उल्लेख ही उपस्थित किया है।

लेखके अन्तमें यज्ञोपवीतको "जैनसंस्कृति और जैनधर्मका आवश्यक अंग" बतलाया है। लेकिन वास्तवमें यज्ञोपवीत यदि जैनसंस्कृति और जैनधर्मका आवश्यक अंग होता तो कमसे कम जैनधर्मके उन आचारादि-विषयक प्राचीन ग्रंथोंमें उसका विधान जरूर होता जो उक्त जिनसेनाचार्यसे पहलेके बने हुए हैं। ऐसे ग्रन्थोंमें श्रीवट्टकेरका मूलाचार, कुन्दकुन्दाचार्यका प्रवचनसार तथा चारित्त-पाहुडादिक, स्वामी समन्तभद्रका रत्नकरण्डश्रावकाचार, उमास्वामीका तत्त्वार्थसूत्र, शिवार्यकी भगवती आराधना, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेवका तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ये ग्रंथ खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इनमें कहीं भी मुनिधर्म अथवा श्रावक-धर्मके धारकोंके लिये व्रतादिकी तरह यज्ञोपवीतकी कोई विधि व्यवस्था नहीं है। श्रीरविषेणके पद्मपुराण और द्वि० जिनसेनके हरिवंशपुराणमें सैंकड़ों जैनियोंकी कथाएँ हैं उनमें से किसीके यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत होनेका उल्लेख तक भी नहीं है। ऐसी हालतमें यज्ञोपवीतको जैनधर्मका कोई आवश्यक अंग नहीं कहा जा सकता और न वह जैनसंस्कृतिका ही कोई आवश्यक अंग जान पड़ता है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० १२-४-१९४४

गोत्र-विचार

(लेखक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री)

[गतकिरण नं० ८ से आगे]

(३) मनुष्योंके भेदोंमें गोत्रविभाग

धवला प्रकृति अनुयोगद्वारका उद्धरण देकर यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जो साधुआचार वाले आर्य मनुष्य हैं या जिन्होंने इनसे पूरी तरहसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करके आर्यत्व प्राप्त कर लिया है उनके उच्च गोत्र होता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि जो आर्य साधुआचार वाले नहीं हैं उनका तथा म्लेच्छोंका नीच गोत्र होता है। अब यहां इसका विचार करना है कि शिष्टाचार्य साधुआचार वाले कौनसे आर्य पुरुष माने गये हैं। इस प्रश्नके निर्णयके लिये हम पाठकोंका ध्यान धवला प्रकृतिअनुयोगद्वारके निम्न वाक्यांश की ओर खींचते हैं—

'नेदवाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात् , विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात् ।'

इक्ष्वाकुकुलादिकी उत्पत्तिमें उच्च गोत्रका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे इक्ष्वाकु आदि कुल काल्पनिक हैं वास्तव में वे नहीं हैं। दूसरे वैश्य, ब्राह्मण और साधुओंमें भी उच्च गोत्रका उदय देखा जाता है।

यद्यपि यह वाक्य गोत्रकर्मके विचारके समय पूर्वपक्षके रूपमें आया है पर इससे इतना तो पता चल ही जाता है कि उच्च गोत्रका उदय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और साधुओं में माना गया है। अतः इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि इनके अतिरिक्त जो समाज विधा—

वाणिज्यवृत्ति, शिल्पवृत्ति और सेवावृत्तिके आधारसे निर्मित हुई है, जिसे शूद्र कहते हैं वे आर्य होते हुए भी नीचगोत्री होते हैं।

इस उपर्युक्त कथनका यह सारांश है कि शूद्र आर्य और म्लेच्छ ये नीचगोत्री होते हैं और शेष आर्य उच्चगोत्री होते हैं।

यहाँ दो महत्वके प्रश्न उपस्थित होते हैं। जो निम्न प्रकार हैं——

(१) जब सभी म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय रहता है तो पर्याप्त मनुष्यके सामान्यसे जो १०२ प्रकृतियां उदय-योग्य बतलाई हैं उनमेंसे एक उच्चगोत्र कम होकर इनके एकसौ एक प्रकृतियाँ ही उदययोग्य होंगी। और यदि यह ठीक है तो इनकी उदयादि व्यवस्थाका कथन अलगसे क्यों नहीं किया। इसी प्रकार इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही कहना था?

(२) उदयादिका कथन करते समय कुभोगभूमियोंके मनुष्योंका किनमें अन्तर्भाव किया है। भोगभूमिके मनुष्यों में या पर्याप्त मनुष्योंमें। कहीं भी अन्तर्भाव करनेपर बाधा आती है? यदि भोगभूमिके मनुष्योंमें अन्तर्भाव किया जाता है तो उनके उच्चगोत्रके उदयकी प्राप्ति होती है और यदि पर्याप्त मनुष्योंमें अन्तर्भाव किया जाता है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोंके निमित्तसे दोष दे आये हैं उसीप्रकार यहां भी दोष उत्पन्न होते हैं?

ये दोनों प्रश्न महत्वके हैं यह बात स्वीकार कर लेनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है। पर पहले प्रश्नका समाधान हो सकता है जो निम्न प्रकार है——

बात यह है कि मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ भेद सामाजिक परम्परासे सम्बन्ध रखते हैं। कुत्ता और बिल्लीमें जिस प्रकार तिर्यंच होते हुए भी जातिगत भेद है उस प्रकार आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंमें नहीं। त्रिकालमें भी कुत्ता बिल्ली नहीं हो सकता और बिल्ली कुत्ता नहीं। पर मनुष्योंकी ऐसी बात नहीं है। जो आज म्लेच्छ है वह अपने संस्कारों और परम्पराओंको छोड़कर कालान्तरमें आर्य हो सकता है। जो आर्य है वह उसी प्रकार म्लेच्छ हो सकता है। यही सबब है कि करणानुयोगमें मनुष्योंमें प्रकृतियोंका उदय बतलाते हुए इनमें उदय-योग्य प्रकृति-योंकी अलग अलग व्यवस्था नहीं की। अब रह गई गुण-स्थानोंकी बात सो जब तक म्लेच्छ मनुष्य आर्य हो सकता हो उसे आर्योंके संसर्गसे सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंके प्राप्त करनेमें कौनसी बाधा आ सकती है? अर्थात् कोई नहीं।

दूसरे प्रश्नका निर्णय करना थोड़ा कठिन है। उसमें किसी भी प्रकारके तर्कको आश्रय देना इष्ट नहीं। सम्भव है अनुसन्धानसे कभी इसपर अधिक प्रकाश डाला जा सके।

(४) एक भवमें गोत्रपरिवर्तन होता है।

गोत्रपरिवर्तनके विषयमें हम कुछ युक्तियाँ दें इसके पहले आगम प्रमाण उपस्थित कर देना चाहते हैं। ये प्रमाण धवला उदीरणा-अनुयोगद्वारके हैं।

'अजसकित्तिदुब्भगअणादेज्जणीचागोदाणं उक्क-स्सपदेसउदीरओ को होदि? सव्वविसुद्धो असंजद सम्माइट्ठी से काले संजमं पडिवज्जिहिदि त्ति'।

अयशःकीर्ति, दुर्भग, अनादेय और नीचगोत्रकी उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है? जो तदनन्तर समयमें संयमको प्राप्त होगा ऐसे सर्वविशुद्ध असंयतसम्यग्दृष्टिके होती है।

पाठक कर्मकाण्डके उदय-प्रकरणको देख कर जान सकते हैं कि इन चार प्रकृतियोंमेंसे प्रारम्भकी तीन प्रकृतियों-की चौथे गुणस्थानके अन्तमें और नीचगोत्रकी पाँचवें गुण-स्थानके अन्तमें उदय या उदीरणा व्युच्छित्ति होती है। अब कोइ असंयतसम्यग्दृष्टि जीव, जिसके उक्त चार प्रकृतियोंका उदय हो रहा है, सकल संयमको स्वीकार करे तो उसके इनके स्थानमें यशःकीर्ति, सुभग, आदेय और उच्चगोत्रका उदय हो जायगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक भवमें गोत्र-परिवर्तन होता है।

'णीचागोदस्स जह० एगसमओ उच्चागोदादो णीचागोदं गंतूण तत्थ एगसमयमच्छिय बिदियसमए उच्चागोदे उदयमागदे एगसमओ लब्भदे। उक्क० असं-खेज्जा पोग्गलपरियट्टा। उच्चागोदस्स जह० एगसमओ। उत्तर-सरीरं विउव्विय एगसमएण मुदस्स तदुवलम्भा-दो। एवं णीचागोदस्स वि उक्क० सागरोवमसदपुधत्तं'।

नीचगोत्रकी उदीरणाका जघन्यकाल एक समय है। कोई जीव उच्चगोत्रसे नीचगोत्रमें गया और वहां एक

समय तक रहा। पुनः दूसरे समयमें उसके उच्चगोत्र उदय में आजाने पर नीचगोत्रकी उदीरणाका एक समय प्राप्त होता है। तथा नीचगोत्रकी उदीरणाका उत्कृष्टकाल असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन है। उच्चगोत्रकी उदीरणाका जघन्यकाल एक समय है। जैसे, किसीने उत्तर शरीरकी विक्रिया की और वहां एक समय रह कर मर गया तो उसके उच्चगोत्रकी उदीरणाका एक समय काल पाया जाता है। इसी प्रकार नीचगोत्रकी अपेक्षा भी एक समय जानना चाहिये। उच्चगोत्रका उत्कृष्टकाल सौ पृथक्त्वसागर है। इससे भी यही निश्चित होता है कि एक भवमें गोत्रका परिवर्तन पाया जाता है—

'उच्चाणीचागोदाणं जह० एगसमओ। उक्क० णीचागोदस्स सागरोवमसदपुधत्तं। उच्चागोदस्स उदीरणंतरमुक्क० असंखे० पो० परियट्टा।

उच्चगोत्र और नीचगोत्रकी उदीरणाका जघन्य अन्तर एक समय है। नीचगोत्रकी उदीरणाका उत्कृष्ट अन्तर सौ पृथक्त्वसागर और उच्चगोत्रकी उदीरणाका उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है। किसी एक उच्चगोत्रीके एक समय तक नीचगोत्रका उदय होकर पुनः दूसरे समयमें उच्चगोत्रका उदय हो गया तो उसके उच्च गोत्रकी उदीरणाका जघन्य अन्तर एक समय प्राप्त हुआ। यही बात नीच गोत्रके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये।

इससे भी यही निश्चित होता है कि एक भवमें गोत्र-परिवर्तन होता है। यहाँ जघन्य और उत्कृष्टकाल या अन्तर ही कहा है मध्यमकाल या अन्तर दो समयसे लेकर एक समय कम उत्कृष्टकाल या अन्तर तक मध्यके जितने समय हों उतने विकल्परूप होता है। इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि जिसने एक पर्यायमें गोत्रपरिवर्तन किया उसे पुनः अपने पूर्व गोत्र पर आनेका उस पर्यायमें सम्भव है मौका न मिले या पूर्व संस्कारोंके जोर मारने पर वह पुनः अपनी पहलेकी स्थितिमें पहुंच जाय।

इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परामें भी गोत्र-परिवर्तनका उल्लेख मिलता है। यथा—

'गोउत्तमस्स देवा णरा य वइणो चउएहमियरामि।
—कर्मप्रकृति १७।

'गोउत्तमस्स देवा' त्ति उच्चागोयस्स सव्वे देवा उदीरगा। 'णराय' त्ति मणुयाण वि कोति उच्चागोयं उदीरेति। 'वइणो' य त्ति जो वि णीजाति तो यती सो वि उच्चागोयं उदीरेति। टीका

इसका भाव यह है कि सब देव उच्चगोत्रकी उदीरणा करते हैं। मनुष्योंमें कोई उच्चगोत्रकी उदीरणा करते हैं। तथा जो नीच जातिसे आकर व्रती होता है वह भी उच्चगोत्रकी उदीरणा करता है।

सौभाग्यकी बात है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपरामें कर्मविषयक साहित्य प्रायः समानरूपसे चला आ रहा है। ऊपर जो कर्मप्रकृतिका उदाहरण उपस्थित किया है उससे धवलाकी मान्यताकी ही पुष्टि होती है। धवलाका जो सबसे पहला उद्धरण हमने उपस्थित किया है उससे भी यही सिद्ध होता है कि एक नीचगोत्री जीव सकलसंयमी हो जाता है। पर जिस समय उसके संयमकी प्राप्ति होती है उस समय उसका गोत्र बदल जाता है और नीच गोत्रके स्थानमें उच्चगोत्रका उदय होने लगता है। कर्मप्रकृतिके उक्त उद्धरणसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है।

गोत्र परिवर्तनके इतने उल्लेखोंकी रोशनीमें अब हम युक्तिसे भी यह सिद्ध कर देना चाहते हैं कि एक पर्यायमें गोत्र बदल जाता है। पर यह नियम केवल कर्मभूमिके मनुष्योंमें ही लागू होता है, अन्यके नहीं। अन्य जीवोंके अपनी अपनी गतिके अनुसार नीचगोत्र और उच्चगोत्रका उदय निश्चित है। केवल कर्मभूमिके मनुष्य ही ऐसे हैं जहां विकल्पसे दोनों गोत्रोंका उदय सम्भव है। इसका भी कारण है और वह यह कि जिस प्रकार अन्य गतियोंमें या भोगभूमिके मनुष्योंमें उनकी वृत्ति निश्चित है उसमें कभी भी बदल नहीं होती। कर्मभूमिके मनुष्योंकी यह बात नहीं। वे परिस्थितिके अनुसार अपनी वृत्ति बदलते रहते हैं और उसके अनुसार उनके नीच-उच्च-भेदगत अनेक प्रकारके परिणाम भी होते रहते हैं। यह दूसरी बात है कि सामाजिक व्यवस्थाके अनुसार हम व्यक्तिगत परिणामोंकी ओर ध्यान न दें। पर गोत्रका जहां तक व्यक्तिगत सम्बन्ध है वहां तक व्यक्तिकी गोत्रकर्मानुसार होने वाली विविध दशाओंको कौन रोक सकता है? यही सबब है कि इन परिणामोंके आधारसे दो गोत्रोंको छह भेदोंमें बांट दिया है—

उच्चुच्च उच्च तह उच्चणीच णीचुच्च णीचणीचं च।
जस्सोदयेण भावा णीचुच्च विवज्जिओ तस्स ।

यह उद्धरण धवला टीका खुद्दाबन्धका है। इसका यह भाव है कि जिसके उदयसे उच्चउच्च उच्च उच्चनीच, नीचउच्च, नीच और नीचनीच भाव होता है उस गोत्र-कर्मके अभाव होने पर सिद्ध जीव नीच और उच्च भावसे रहित होते हैं।

(२) धवलाके उदय और उदीरणा अनुयोगद्वारमें लिखा है कि नीचगोत्र केवल भवप्रत्यय है और उच्चगोत्र गुणस्थानप्रतिपन्न जीवोंमें परिणामप्रत्यय और भवप्रत्यय दोनों प्रकारका है और अगुणप्रतिपन्न जीवोंमें केवल भव-प्रत्यय है। यहां परिणामोंसे देशसंयम और सकलसंयमका ग्रहण किया है। इसमें साता और असाताको भवप्रत्यय बतलाया है। यथा—

××× णीचागोदाणमुदीरणा एयंतभवपच्चइया। ××× उच्चागोदाणमुदीरणा गुणपडिवण्णेसु परिणा-मपच्चइया। अगुणपडिवण्णेसु भवपच्चइया। को पुण गुणो संजमो संजमासंजमो वा।

आशय यह है कि जिस प्रकार जहां साता और असाता दोनोंका उदय सम्भव है वहां सातासे असाताके होनेमें और असातासे असाताके होनेमें वह भव ही मुख्य कारण है। उसी प्रकार नीचगोत्र और उच्च गोत्रके उदय और उदीरणा के विषयमें जानना। यह हम ऊपर ही बतला आये हैं कि कर्मभूमिके मनुष्य ही ऐसे हैं जहां एक पर्यायमें दोनोंका उदय हो सकता है, इसमें कोई बाधा नहीं है। केवल इतनी विशेषता है क संयमको प्राप्त होनेवालेके नीचगोत्रका उदय नहीं रहता उसके नियमसे उच्चगोत्रका उदय हो जाता है। तथा किसी मनुष्यके देशसंयमके होनेपर भी नीचगोत्र न रह कर उच्चगोत्र हो जाता है। इससे विदित होता है कि एक भवमें गोत्रपरिवर्तन होता है।

(३) यतिवृषभ आचार्यने अपने चूर्णिसूत्रोंमें अकर्मभूमियां मनुष्यके सकल संयमका निर्देश किया है। ये अकर्मभूमियां मनुष्य पांच खण्डके म्लेच्छोंको छोड़कर और कोई नहीं। पर इनके वीरसेन स्वामीके द्वारा की गई उच्चगोत्रकी व्याख्याके अनुसार नीचगोत्र होता है। और यह ऊपर बतला आये हैं कि सकल संयमीके नीचगोत्र नहीं होता। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि एक भवमें गोत्र बदलता है।

इस प्रकार हमने गोत्रविचार शीर्षकके चार अवान्तर विभागों द्वारा गोत्रका विचार किया है। इसमें हमने अभी चरणानुयोग और करणानुयोगके पार्थक्य के दिखानेका यत्न नहीं किया है। यद्यपि उसके बिना यह लेख अभी अधूरा ही है। पर हम सोचते हैं कि इस पर अनुकूल और प्रतिकूल विचार होजाने के बाद जो प्रमेय निष्पन्न हों उनके आधारसे इस विषयका एक व्यवस्थित निबन्ध तैयार किया जाय जो सबंदाके लिये उपयोगी होगा। इस लिये हम इतना ही लिखकर वर्तमानमें इस लेख को समाप्त कर रहे हैं। आशा है दूसरे विद्वान् तत्त्वमीमांसाकी दृष्टिसे सप्रमाण अपने विचार व्यक्त करनेकी कृपा करेंगे।

कला-प्रदर्शनीकी उपयोगिता

[भारतीय मित्रपरिषद्के प्रथमाधिवेशनमें 'कला-प्रदर्शनी' का उद्घाटन करते हुए श्रीअगरचन्दजी नाहटा बीकानेरका भाषण]

सबसे पहिले मैं अपने सम्बन्धमें यह स्पष्टीकरण कर देना उचित समझता हूँ कि मैं न तो कोई कला-विद् विद्वान और न वक्ता ही हूँ। अतः कलाके विषय में मेरी जानकारी सीमित है इस लिए इस सम्बन्धमें आप लोगोंको मेरेसे कोई नई बात प्राप्त करनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये कलाविशारदों व विशेषज्ञों के लिए मेरा अनधिकार वक्तव्य क्षतव्य है। आप लोगोंने स्नेहवश प्रस्तुत कला-प्रदर्शनीके उद्घाटनका भार मुझे सौंपा है इस लिए अपने एतद् विषयक विचारोंको संक्षेपसे प्रकट करता हूँ—

कलाका उद्गम—

कलाका विवेचन करनेके पूर्व सबसे पहिले हमें कलाके उद्गमके सम्बन्धमें विचार करना आवश्यक है क्योंकि जहां तक हम किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति किस परिस्थितिमें किनके द्वारा और किन साधनोंसे हुई यह न जानलें तब तक हम उसके सम्बन्धमें अन्य विचार करनेमें अपूर्ण रहेंगे। जैन-परम्पराके अनुसार कलाका सर्वप्रथम उद्गम इस अवसर्पिणीकालमें प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव भगवानसे हुआ। उनके पूर्व यहां युगलिक लोग रहते थे जोकि अपना निर्वाह

प्रकृति या देवप्रदत्त वस्तुओंसे करते थे। जैनागमोंमें कहा है कि उनके मनोरथ कल्पवृक्षोंके द्वारा पूर्ण होते थे। कालप्रभावसे कल्पवृक्ष कृपण हो गए और युगलियोंकी आकांक्षाएँ बढने लगीं उस समय भगवान ऋषभदेव अवतरित हुए और उन्होंने आवश्यक समझ कर पुरुषोंकी ७२ कलाएँ और स्त्रियोंकी ६४ कलाएँ लोगोंको बतलाईं।

कलाकी व्यापकता—

इन ७२ एवं ३४ कलाके भेदोंपर ध्यान देनेसे हमें कलाके तत्कालीन व्यापक अर्थ-भावका बोध होता है। आजकल हम कला, शिल्प, साहित्य एवं संस्कृतिरूप भिन्न-भिन्न नामोंका भिन्न-भिन्न अर्थमें प्रयोग करते हैं किन्तु तब ये बातें कलाके ही अन्तर्गत मानी जाती थीं, क्योंकि ७२ एवं ६४ कलाओंमें वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास, तर्क, ज्योतिष, छंद, अलङ्कार व्याकरण, काव्यादि साहित्यका नाम आता है। इसी प्रकार रंधन, खांडन, शिल्प एवं नित्योपयोगी कार्यों को कलामें माना गया है। विश्वमें जितनी भी वस्तुएं एवं कार्य हैं वे दो प्रकारके हैं एक प्रकृतिजन्य और दूसरे मनुष्यादि प्राणीके सर्जित। इनमेंसे कलाका व्यापक अर्थ है मनुष्यकी कृति, जिसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनोंका समावेश होता है, पर वर्तमानमें साधारणतया इनमेंसे सुन्दरको ही कलाका वाचक एवं द्योतक समझा जाता है। व्यापक अर्थमें विश्वमें जो सत्य है, कल्याणकर है और सुन्दर है वही कला है, फिर चाहे वह साहित्य हो, शिल्प हो या ललित कला हो। इसी लिए महात्मा गाँधी आदि मनीषियों ने कहा है कि कला विहीन जीवन पशुके समान है। गाँधीजीका कथन है कि कर्ममें कुशलताका नाम कला है "कला कर्मसु कौशल्यं" गीतामें कर्ममें कौशलको योग कहा है, यही सम्पूर्ण कला है। सच्ची कला सदा सरस होती है, इसके बिना जीवन निस्सार एवं नीरस है।

कलाके प्रकार—

कलाके भेद मुख्यतः दो माने जाते हैं एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। इनमेंसे जीवन-यापन में आवश्यक विविध कर्मोंको उपयोगी कला और सौन्दर्य प्रधान कलाको ललित कला कहा जाता है। ललित कलामें प्रधानतया साहित्य, काव्य, संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्त्ति वास्तु आदिका आकर्षक और सुचारु निर्माण माना जाता है। कलाके कुछ प्रकारोंको शिल्प एवं कारीगरीके नामसे भी कहा जाता है समवायाङ्ग सूत्रके ७२ वें समवायमें व राजप्रश्नीयोपाङ्गके दृढ-प्रतिज्ञकी शिक्षाके प्रकरणमें पुरुषकी ७२ कलाओं एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी टीकामें स्त्रियोंकी ६४ कलाओंकी नामावली पाई जाती है। इसी प्रकार जैनेतर कामसूत्र के विद्या समुद्देश प्रकरणमें ६४ कलाओंकी तालिका उपलब्ध है। ये कलाके विशेष प्रकार हैं।

कलाकी उपयोगिता—

कला जब कि मानवी सृष्टिका ही उपनाम है इस का उपयोग जीवनके पल पलमें होता है; क्योंकि मनुष्य प्रतिसमय कुछ न कुछ सृष्टि करता ही रहता है चाहे वह बोलनेके रूपमें हो, लिखनेके रूपमें हो, रांधन या किसी वस्तुके निर्माण रूपमें हो। इसी लिए कलाके बिना जीवन-यापन दुष्वार है। अतः कला की उपयोगिताके विषयमें विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

कलाके उत्कर्षमें जैनोंका स्थान—

जैनसमाज सदासे ही कलाका प्रेमी और उसके उत्कर्षमें प्रगतिशील रहा है। उनके ग्रंथ-लेखनकी भी एक कला है जो दूसरोंसे अपनी खास विशेषता रखती है। अक्षरोंकी सुन्दरता, त्रिपाठ, पंच पाठ, स्वर्ण-रौप्याक्षरी, लिखते हुए स्थान रिक्त छोड़ कर स्वस्तिक, वृक्ष, नाम आदि विविधरूपमें कलाप्रदर्शन जैनलिखित प्रतियोंकी खास विशेषता है। इसी प्रकार चित्रकलाके संरक्षण और अभिवर्द्धनमें जैन समाजका बहुत बड़ा हाथ है। जैन चित्रकलाको छोड़नेसे भारत के चित्र कलाका इतिहास तैयार हो ही नहीं सकता। कुछ भित्तिचित्रोंको छोड़ कर कपड़े, ताड़पत्र एवं काष्ट पर आलेखित प्राचीन चित्र जैनसमाजको छोड़ कर

बहुत कम मिलेंगे* । जैसलमेर एवं पाटणके भण्डारों में कई ताड़पत्रीय प्रतियोंमें सुन्दर चित्र पाये जाते हैं। जिनका रंग इतना ताजा है कि आजके से बने हुए प्रतीत होते हैं। जैसलमेरके पंचायती भंडारके दो काष्ट फलक पर आलेखित चित्रोंकी चमकको देख कर हम दंग रह गये। इसी प्रकार इसके पीछेके चित्रितग्रंथ, जिनमें कई बेलबूटे कई सुन्दर चित्रोंमें अपनी सानी नहीं रखते, जैन ज्ञान भंडारोंमें सुरक्षित हैं। अहमदाबादकी एक सचित्र कल्पसूत्रकी प्रतिका मूल्य लाख रुपयेसे भी अधिक आँका गया है।

शिल्प एवं मूर्ति निर्माण कलामें तो जैनोंने अरबों खरबों रुपये व्यय किए हैं। जिनके प्रमाण स्वरूप आरासण, राणकपुर, देवगढ़ इत्यादिके जैन मन्दिर आजभी विद्यमान है। जिनकी सूक्ष्म कलाकी प्रशंसा शतशः पौरवात्य एवं पाश्चात्य विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे की है।

कलाप्रदर्शनीकी उपयोगिता—

मेरे खयालसे कलाप्रदर्शनीका प्रमुख प्रयोजन है कलाकी ओर जनसाधारणका ध्यान आकृष्ट कर अभिरुचि उत्पन्न करना और कलाकारोंको प्रोत्साहन देना। अतएव कलाप्रदर्शनी एक महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य है। सौन्दर्य प्रधान एवं कलापूर्ण अनेक आकर्षक वस्तुएँ यत्र तत्र बिखरी पड़ी हैं उनका दर्शन एवं महत्व को जाननेमें जनसाधारण समर्थ नहीं होता अतः वे चीजें संग्राहक या मालिकके स्वान्तःसुखायके रूपमें ही पड़ी रहती हैं। जनताकी रुचि तो उन विविध स्थानोंमें पड़ी हुई चीजोंको एक जगह उचित सजावटके साथ रखी जाने परही आकृष्ट हो सकती है। व्यक्तिगत संग्रह किनके पास क्या है? हरेक व्यक्ति को मालुम भी नहीं होता एवं उनका दर्शन भी दुर्लभ होता है इसलिए ऐसी प्रदर्शिनीयें जिनमें विविध संग्रहालयोंके विभिन्न कला उपादानोंका एकत्रीकरण होता है बहुत ही आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होती हैं। भारत सरकारने इनकी उपयोगिता अनुभव करके ही स्थान स्थानपर संग्रहालय (म्यूजियम) स्थापित किये हैं जिनके महत्वके सम्बन्धमें कभी दो मत नहीं हो सकते। लंदन, कलकत्ता आदिके म्यूजियम दर्शकोंके लिए ही नहीं किन्तु पुरातत्त्व-अन्वेषण की दृष्टिसे भी अजोड़ माने जाते हैं। सिक्कों एवं शिलालेखोंका संग्रह इतिहासके प्रसिद्ध उपादान हैं। चित्रकला, मूर्तिकलाके इतिहास निर्माणमें भी इन संग्रहालयोंका अत्यन्त महत्व है। इन प्रदर्शनीयोंने अनेक कलाकारोंको उत्पन्न किया, प्रोत्साहन दिया एवं अनेकों सहृदय व्यक्तियोंके हृदयमें कलाका प्रेम एवं महत्व स्थापित किया है। इस प्रदर्शनीमें हमारे संग्रहकी बहुतसी वस्तुएँ आपके अवलोकनमें आएँगी, उनके संग्रहकी अभिरुचि भी मेरे हृदयमें ऐसे ही एक कला भवन को देखकर हुई थी उस कलाभवनके संग्रहकारकलाविद् अनन्य संग्राहक स्वर्गीय बाबू पूरणचन्दजी नाहर थे। इस कलाभवनकी वस्तुओंका उन्होंने स्वयं हमारे साथ चलकर कई बार सूक्ष्म परिचय दिया था तभी से हमारे हृदय मानसमें तद्वत् कलापूर्ण वस्तुओंके संग्रहका भाव हिलोरें मारने लगा और उसीका यह थोड़ासा मूर्तरूप आप लोगोंके सन्मुख है। इसी प्रकार जैन कलाप्रेमी श्रीयुत् साराभाई नवाबको अपने 'चित्रकल्पद्रुम' ग्रंथके प्रकाशनकी प्रेरणा अहमदाबादके देशविरति धर्माराधक समाज की प्रदर्शिनीके संयोजक बननेसे मिली थी। बीकानेरमें कलापूर्ण वस्तुओंकी बहुतायत है समयाभावसे प्रस्तुत प्रदर्शनीमें उनका संग्रह बहुत ही कम हुआ है इसलिए फिर कभी इसका विशाल आयोजन करनेका मेरा नम्र अनुरोध है।

---

*गुफाओंके भित्तिचित्रोंको ऐसे छोटे विविध रंगोंसे सुसज्जित इतने पुराने चित्र हमारे देशमें और कोई नहीं मिलते। इस लिये चित्रकलाके इतिहास और अध्ययनकी दृष्टिसे ताड़पत्रके ये सचित्र पुस्तक बड़े मूल्यवान और आकर्षक वस्तु हैं। (मुनि जिनविजय जैन पुस्तक प्रशस्ति॰प्रस्ता॰)

भाषण

(श्रीमती रमारानी जैन, डालमियानगर)

[दिगम्बर जैन-परिषदके साथ लखनऊमें सम्पन्न हुई महिला परिषदकी सभानेत्री श्रीमती रमारानीका यह भाषण है। श्रीमती रमारानी दानवीर साहू शान्तिप्रसादजीकी आदर्श धर्मपत्नी हैं उन में समाज-सेवाकी अखण्ड लगन है। साहूजीने बनारसमें जैन ज्ञानपीठ नामक जो महान संस्था अनुसंधान और प्रकाशनके लिये स्थापित की है, उसकी अध्यक्षा आप ही हैं। हमें आशा है आपके नेतृत्वमें समाज सेवाका उल्लेखनीय कार्य होगा।]



माननीया माताओ और बहिनो,

आतङ्क-वादियों से यह सुनते सुनते हमारे कान पक गये हैं कि हमारी सभ्यता संस्कृति मिटनेवाली है। हम अपनी लज्जाकी रक्षा नहीं कर सकतीं, शत्रुओंके अमानुषिक अत्याचार हमारे धर्म-कर्म सबको नष्ट कर देंगे। वास्तविक स्थिति चाहे जो हो, हमें दुनियाको एक बार फिर दिखा देना है कि भारतीय नारियों की नसों में आज भी प्राचीन वीरांगनाओं का रक्त प्रवाहित हो रहा है।

संसार-व्यापी युद्धके वातावरणमें उपर्युक्त भाव दिन पर दिन भारतीय नर-नारियोंके हृदयपर अधिकार किये जा रहे हैं—ऐसा होना स्वाभाविक है। युद्धकी भीषणता हमारे लिये कोई नयी वस्तु नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर भारतीय स्त्रियां रण-चण्डी बन सकती हैं और 'जौहर' कर अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये अपने शरीरको अग्नि-कुण्डोंमें भी होम सकती हैं। हमने युद्धका एक दूसरा अभिशाप अपने ही देशमें बंगाल प्रान्तके दुर्भिक्षके रूपमें देखा है। हमारी आखोंके सामने उस विस्तृत प्रान्तकी लाखों निरीह आबाल-वृद्ध वनिताएँ भूखों तड़प तड़प कर मर गईं। जैसे जैसे यह युद्ध निकटतर आता जाता है, ऐसी परिस्थितियोंके सामने आनेकी सम्भावना बढ़ती ही जायगी।

युद्धकी भीषणता और संहारलीलाकी ओरसे आंखें मींच कर हम रहना चाहें तो हम नहीं रह सकती। पड़ोस में आग लगी देख कर कौन समझदार नारी होगी जो अपने कमरेके दरवाजे बन्द कर चुपचाप एक कोनेमें बैठी रह सकती है। ऐसी अवस्थामें हमारा कर्तव्य आगकी लपटोंको बुझा कर पड़ोसीकी रक्षा करना और प्रतिकूल स्थितिके लिये अपनेको तैयार करना मुख्य हो जाता है। उस आपत्ति-कालमें प्रायः हम अपनी छोटी-मोटी समस्याओं को भूल सी जाती हैं। ठीक वही अवस्था आज हमारे नारी-समाजकी है। आज हमारे कर्तव्य कई गुने बढ़ गये हैं। हमें बाहरी आघातोंसे बचनेके साथ साथ अपनी आन्तरिक अवस्थाका सुधार करना परम आवश्यक है। यदि हम अपनी सुविधाके लिये अपने वर्तमान कर्तव्योंका वर्गीकरण करें तो वे निम्न वर्गोंमें विभक्त किये जा सकते हैं और उनका पालन हमारा धर्म सा हो जाता है—

(१) संगठन (२) शक्ति-संचय (३) आन्तरिक सुधार (४) पीड़ितोंकी सहायता (५) सत्याचरण, सम्यक्-धारणा।

सत्याचरणके आधारपर जैन-समाजकी यह विशाल इमारत बनी थी और इसी आधार पर यह सदा स्थिर रहेगी कल्पनातीत कालसे जिस धर्माचरणका हमारा समाज पालन करता आरहा है, उसको इस युग में और भी उत्साह पूर्वक सम्पादन करना हमारा कर्तव्य है। सत्याचरण की भांति सम्यक्-धारणा भी हमारे धर्मका विशेष अंग है—अनेक धर्मों और संस्कृतियोंके मेलजोलसे और पास-पड़ौस से जहां हमारी अनेक अच्छी बातें पुष्ट हुईं, वहां हमारे धार्मिक जीवनमें दो चार भ्रामक धारणाओंके और मिथ्यात्व के भाव भी आ गये हैं। मिथ्यात्वके विषयमें रोज शास्त्र-सभाओंमें चर्चा होती है—मुझे हर्ष है कि शिक्षा के प्रचारके साथ साथ जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी वास्तविक

सुन्दरता बहिनोंकी समझमें आने लगी है । हमारे आचरण, जप, तप, दान और पूजा-पाठके पीछे धर्मका जो तत्व है, जिसे हम सम्यक्त्वके नामसे पुकारते हैं, उसको हृदय में बिठा कर हम ज्ञान और चारित्रकी ओर बढ़ सकते हैं ।

हम जहां भी रहें आपसमें प्रेम और सद्‌भावनाको जागृत रखें । एक दूसरेके सुख-दुखमें साथी बनें और जहां कहीं कलह या दुर्भावना हमारी दृष्टिमें आवे उसे मिटानेकी हम चेष्टा करें । संघ-भावनाएं ही शक्तिदायिनी होती हैं । संघसे ही शक्तिका प्रादुर्भाव होता है । सम्भव है, ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है जब हमारे पिता, भाई, पति या और कोई हमारी रक्षाके लिए उपस्थित न हों, उस समय हमें अपने बलपर ही आत्म-रक्षा करनी होगी । हमें अपने मान और प्रतिष्ठाके लिये मर मिटना होगा । इसमें लज्जा या शर्मकी कोई बात नहीं कि हम व्यायाम या शस्त्र-संचालन द्वारा अपनेको स्वस्थ बनावें और अपनी शक्तिकी वृद्धि करें । लज्जा और अपमानकी बात तो तब है, जब हम अपनी शारीरिक अथवा मानसिक कमजोरियोंके कारण किसी आततायीके अत्याचारका शिकार बन आत्मगौरव और आत्म-प्रतिष्ठा खो बैठे । माताओंके आत्मबल, अभिमान और स्वास्थ्यसे ही हमारे देशके बच्चे तेजस्वी और कर्तव्यनिष्ठ होंगे ।

शिशुओंका लालन पालन बालक-बालिकाओं की शिक्षा और परिवार का आह्लादपूर्ण वायुमण्डल तो मुख्य रूपसे हमारे ऊपर ही निर्भर करते हैं । इन कर्तव्योंकी समुचित प्रकार पूर्ति कर हम राष्ट्र-निर्माणके दूसरे कार्योंमें भी हाथ बँटा सकती हैं । आत्म-विकास और सुधारकी बातें व्यक्तिगतरूपमें प्रायः कठिन प्रतीत होती हैं, किन्तु यदि उन्हें मिल कर किया जाय तो वे सरलतासे सम्पन्न हो जाती हैं । अपनी सुविधाके अनुसार हम अपने पड़ोसमें ऐसी गोष्ठीका प्रबन्ध कर लें जिसमें सप्ताह, पक्ष या मासमें एक या अधिक बार मिल कर हम आपसमें विचार-विनिमय कर सकें । इससे हमारे व्यक्तिगत तथा सामूहिक विकास में सहायता तो मिलेगी ही हममें संगठनका बल आयेगा । ये गोष्ठियां गांव या नगरके उप-सम्मेलनोंमें समय समय पर परिणत की जा सकती हैं, जिनमें सम्मिलित हो हमारी माताएं और बहिनें अपने स्वाध्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य और धार्मिक कृत्योंके सम्बन्धमें निश्चय कर सकती हैं । संगीत अथवा दूसरी ललित कलाओंमें अपना ज्ञान बढ़ा सकती हैं । सबसे बढ़कर हमें यह लाभ होगा कि हम एक दूसरेके सुख-दुख और जीवनकी समस्याओंको समझेंगी और हमारी जो बहिनें दुखकी सताई हुई या उपेक्षिता सी अपने जीवनका भार वहन कर रही हैं उन्हें हम यथासम्भव सहायता पहुँचा सकेंगी । पीड़ितों और असहायोंकी सहायता करनेमें हम तभी समर्थ हो सकती हैं जब हममें सेवा और त्यागकी सच्ची भावना हो । उसके लिये हमें उदार हृदय और कर्मशील बननेकी आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त अपने समयका समुचितरूपसे उपयोग करना आनेपर ही हम इस योग्य हो सकेंगी कि स्त्रीके गृहसम्बन्धी जो कर्तव्य हैं उनको पूरा करते हुए भी हम समाज और देश-सेवाके लिये समय निकाल सकें । मनमें तत्परता और तन में स्फूर्ति आनेपर ही वह कर्तव्य हम निभा सकेंगी ।

दूसरे देश या समाजकी स्त्रियोंकी जागृतिसे भी हमें लाभ उठाना चाहिए । किन्तु कहीं, पीतलको सुवर्ण समझनेकी भूल हम न कर बैठें, हमें सावधान रहना चाहिए ।

ऊपर मैंने आन्तरिक सुधारकी ओर संकेत किया है । देशमें जो कुछ होता है, समाजमें जो सुधार होते हैं, धर्म की जो प्रभावना और रक्षा होती है उस सबके लिये व्यक्तिको पहले स्वयं योग्य बनना होता है । संसारके सारे ही राष्ट्रोंमें अभूतपूर्व उन्नति हुई है । बड़ेसे बड़े संघ बने हैं, परिषद बनी हैं, विज्ञानके आविष्कार हुए हैं और मनुष्यने असम्भवको सम्भव कर दिखाया है, किन्तु क्या यह उन्नति स्थायी है, सर्वथा वाञ्छनीय है ? आज संसारका पतन, मनुष्यका स्वार्थ और रक्तरंजित धराका भयंकर दृश्य हमारी आंखोंके सामने मानव समाजकी सारी उन्नति और भौतिक सफलताको व्यर्थ कर रहे हैं । इसका मूल कारण यही है कि मनुष्यने बाहरके सुधार और बाहरकी दिशामें उन्नति की, किन्तु अपने अंतरंगको बिल्कुल थोथा रक्खा । मनुष्य के और राष्ट्रके निर्माणमें नारीसमाजका ही हाथ प्रमुख रहा है । आजकी परिस्थितिके लिये संसारकी सारी नारी-समाज बहुत हद तक उत्तरदायी है । आंतरिक सुधारकी इस कमी को हमें शीघ्र ही पूरा करना होगा, यदि हम चाहती हैं कि संसारमें सुख और प्रेमका राज्य हो । नवयुगके प्रवाहमें मानवता बह रही है उसको अपने तप, संयम और त्यागसे जैन-महिला समाज पार लगावे यह मेरी कामना है ।

परिषद्के लखनऊ-अधिवेशनका निरीक्षण

(श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर')

मैं भी परिषदमें गया था। परिषद् जैनियोंकी है और भारतकी मनुष्य-गणनाके रजिष्टरमें जिन जैनियोंकी नामावली अंकित है, उनमें मैं नहीं, तो मैं परिषदमें क्यों गया था? मेरे मनके निकट भारतीय संस्कृति व्यक्तिप्रधान है और यह संस्थावाद पश्चिमके प्रवाहमें बहकर आया कूड़ा-कचरा है। मेरी संस्थाओंकी अपेक्षा व्यक्तियोंमें अधिक दिलचस्पी रही है। साहू शान्तिप्रसादजी और राजेंद्रकुमारजीको और भी निकटसे देखनेकी भावना ही मुझे परिषमें ले गई। वहाँ जानेका एक और भी आकर्षणथा श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयसे मिलने की उत्कण्ठा। उनका साहित्य पढ़कर उनसे मिलने को मैं बहुत दिनसे बेचैन था और वे परिषदमें आरहेथे! और भी बहुतसे मित्रोंके मिलन की सम्भावना थी—स्वागतसमितिका आग्रह भी था। मैं ७ अप्रैल को भाई कौशलप्रसादजीके साथ लखनऊ पहुंच गया।

८ अप्रैल को परिषदके सभापति साहू शान्तिप्रसाद जी सुबह पारसल ऐक्सप्रेससे आये। स्वागतसमितिके लोगोंका अखण्ड विश्वास था कि पारसल लेट आयेगा और इसलिये वे स्टेशन पहुंचनेमें लेट रहे। पर पारसल लेट न हुआ। साहूजीने फर्स्टक्लासके वेटिंगरूममें अपनी व्यवस्था स्वयं की। इसके बाद स्वागत समितिके लोग पहुँचे, उनसे मिले। मैंने बहुत देर तक, बहुत तरह देखा कि साहूजीमें इसके लिए किसी तरह का क्षोभ न था—मनके किसी भी कोनेमें नहीं। सहारनपुरके शिक्षण शिविरमें जब वे दीक्षान्त भाषण करने आये तब भी मैंने अनुभव किया था कि वे इस प्रकारकी भावनाओंसे बहुत दूर हैं। सार्वजनिक प्रदर्शनोंकी अपेक्षा काममें विश्वास—अनुराग रखते हैं।

नम्रता स्वभाव भी है और जीवन का एक आर्ट भी। साहूजीमें उसका पहला ही रूप मैंने देखा। वे चाहते थे कि स्वर्गीय स्वागताध्यक्ष श्री ला० मुन्नालालजीका फोटो ही गाड़ीमें रहे और वे भी सबके साथ जलूसमें पैदल चलें, पर इस स्वागत समितिने नहीं माना।

अध्यक्ष का भाषण संक्षिप्त भी था और सुन्दर भी। विशेषता थी उसका विशाल राष्ट्रीय दृष्टिकोण, पर वह हिन्दीके किसी भी दैनिकमें नहीं छपा। यह हिन्दी पत्रकारोंद्वारा परिषदके बहिष्कारकी घोषणा है या परिषद् आफिसकी अयोग्यता?

परिषद का कार्य सुचारुरूपसे चल रहा था, पर भीतर ही भीतर दो चर्चाएँ भी घुमड़ रही थीं—एक यह कि परिषद एक सार्वजनिकसंस्था होकर भी एक धनी साहू शान्तिप्रसादजीके हाथों की कठपुतली बनगई है, उसने उसे धनसे खरीद लिया है और दूसरी यह कि समाजसुधारका अपना मुख्य कार्य परिषदने छोड़ दिया है और इस प्रकार वह लक्ष्यभ्रष्ट हो गई है। साहूजीके नेतृत्वकी यह अग्नि-परीक्षा थी! उन्होंने पहले ही दिन अधिवेशन समाप्त होते ही, वहीं पण्डालमें ३०–३५ कार्यकर्ताओंकी एक अनियमित मीटिंग बुलाई मैं भी उसमें था। इस प्रकार की मीटिंगोंका रूप प्रायः गालियोंकी बौछारमें होता है, इस लिये मैंने एक सीमा बाधनेके विचारसे आरम्भमें ही कहा कि सारे प्रश्न दो भागोंमें बटे हुए हैं। पहला यह कि परिषद आज क्या कर रही है? और दूसरा यह कि युवक कार्यकर्ता उसमें क्या कराना चाहते हैं? परिषदके कर्णधार पहली बातका उत्तर दें और हम लोग दूसरी बात का, इसतरह बात सुगम सरस रूपसे स्पष्ट होजायेगी। इसे साहूजीने भी पास किया और दूसरे साथियोंने भी।

जनरल सेक्रेटरी श्री राजेन्द्र कुमारजीने परिषदके कार्यक्रमपर प्रकाश डाला, पर मुझे ऐसा लगा कि युवक साथियों को उससे सन्तोष न मिला। तब

साहूजीने उसे लिया, पर उनके मनपर जो पहली चर्चाकी चोट थी, उसमें वे बहगये और उनका समाधान करनेमें करीब २ वे कातर होउठे। उनकी उस वेदना को समझसकें ऐसी सहृदयता कम हृदयोंमें है।

भाई परमेष्ठी दासजीने बड़े संयत ढंगसे साहूजीकी सेवाओंके प्रति विश्वासपूर्ण श्रद्धा प्रकट करके यह ऐतराज किया कि हमारा अभियोग तो यह है कि परिषद समाजसुधारसे हट रही है। इस 'अभियोग' के पीछे जो गरमी थी वह भाई कौशलप्रसादजीके भाषणमें फूट निकली—वे भूखेशेरकी तरह तड़ककर बोले। मैंने समझा कि बस अब इस मीटिंगकी ट्रेजेड़ी सामने है, पर सब अभियोगोंकी उष्णताका विष पीकर इस बार जो साहुजी बोले, वो हृदयकी कोमल भावनाओंके प्रवाहमें ऐसे बहे कि कोई भी न टिकसका, सब उसमें बहचले। इस भाषणमें उनका मस्तिष्क मूर्छित था और हृदय अपनी सम्पूर्ण प्रतिभाके साथ जागृत। यहां तो सब साथी ही थे, पर घोर विरोधियोंका भी जमघट होता, तो मानसरोवरकी इन लहरोमें खोजाता! सारा असन्तोष समाप्त, विरोध सब सन्तुष्ट और आगेके कामके लिये कमरकसे गायब, तैयार, सारा अधिवेशन कटुताके प्रदर्शनसे बचगया।

सहारनपुरमें मैंने साहूजीका दीक्षान्तभाषणसुनाथा, यहाँ भी सुना। दोनों भाषण एकाकार होकर जैसे मेरे कानोंमें रम गये हैं। ये भाषण, साहूजीकी जीवन-प्रगतिके शीर्षक हैं और उन्होंने कमसे कम मेरे लिये साहूजीकी विचारधाराको एक दम स्पष्ट कर दिया है। उनके सामने न परिषद है, न नेतागिरी है, न दिगम्बर-श्वेताम्बरका विवाद है और सच तो यह है कि न समाजसुधारका संघर्ष ही है। उनके सामने उनके विशाल राष्ट्रका एक सबल अंग बननेवाले महान जैन संघका नवनिर्माण है। यह जिसतरह सम्भवहो वही उनका पथहै, ध्येयहै, उधर ही वे अपनी पूरी शक्तिके साथ चलने को प्रस्तुत हैं। जब जलूसमें उन्होंने श्री अजितप्रसादजीसे कहा 'मैं तो आपकी नगरीमें आगयाहूँ अब आप रास्ता दिखाइये!' तो वहबात हंसीमें उड़गई, पर उनके भीतर साहूजीके हृदयकी यही वेदना बोल-उठी थी कि वह पथ कहाँ है? मुझे लगा कि उनके रोमरोममें जैसे उस पथका प्रश्न है, उस पथकी प्यास है?

उनकी इस प्यासका अनुभव करके मैंने सोचाकि साहूजी इस अर्थमें बड़े बदकिस्मत हैं कि वे धनी हैं; समाजने उनका धनदेखा, मन नहीं, परिषदने उनका धन लिया मननहीं। यही कारण है कि समाज उठानहीं परिषद पुष्ट हुई नहीं! मैं तो भावुकतावश, यह सोचकर क्षुब्ध होउठा कि न पहचाननेसे महामानव का यह विशाल मन कहीं आगे चलकर छोटा न होजाये। मैंने तो प्रार्थना ही की कि हे भगवान्! यह पीड़ा भरा, प्यास भरा, आस भरा मन निर्दो दिन विकास हो ले। सचमुच उस सारे वातावरणमें वे ही एक आदमी थे जिनके मनमें एक इतना विशाल जागृत स्वप्न था! वे समाज सुधारके लम्बे-लच्छेदार भाषण भले ही न दें, सुधारके बाद समाजमें जिस सजीवताकी सृष्टि होती है, उसके निर्माणके लिये निरन्तर सचिन्त अवश्य हैं।

उन्हें पाकर भी यह समाज नाया जीवन न ले, तो एक दुर्भाग्य ही है। दूसरे दिन उत्साहके साथ समाजसुधारके प्रस्ताव पास हुए और परिषद का देशव्यापी संगठन करनेके लिये केन्द्रोंका नव निर्माण किया गया और प्रबन्धकोंके चुनावमें सावधानी बरतीगई। इस प्रकार जहाँ ईमानदार विरोधकी विजय हुई, वहां साहूजीके नेतृत्व और दूरदर्शिताका भी दर्शन हमें मिला।

साहूजीके नेतृत्वकी आभा मैंने देखा कि, विरोधके समय विशेषरूपसे प्रदीप्त होती है। जहां कोई विरोध आया कि वे उठे, संक्षेपमें और सरलतासे बोले और मामला समाप्त। इस समाप्तिमें वे भाषणकलाका सहारा नहीं लेते—प्रवक्ता तो वे हैं भी नहीं, मामले को सीधा और गहराई तक देखनेवाला उनका मस्तिष्क और सालर नेहका स्रोत्र बहादेनेवाली मुस्कराहट ही उनका बल है। इस मुस्कराहटके नीचे आग भी है, कभी २ आँखें भी तन जाती हैं, पर यों ही और सिर्फ पालिश पर वार्निस-सी! मैंने

कई बार देखा कि उनके भ्रुकुटिभंगकी लम्बाई एक वाक्य जितनी है। तेजीके साथ सैंटेंस आरम्भ करते हैं और यह कि सैंटेंस समाप्त होता है, तो तेजी भी समाप्त होजाती है। सभासंचालनके कौशलमें मैं उनकी तुलना पं० जवाहरलाल नेहरूके साथ आसानीसे करसकता हूँ। पं जवाहरलाल नेहरू, एक नम्बरके द्रष्टा और एक नम्बरके घाघ, जिन्हें जीता नहीं जासकता और बहकाया भी नहीं जा सकता। साहू शान्तिप्रसाद, एक नम्बरके द्रष्टा और एक नम्बरके घाघ, जिन्हें जिता नहीं जासकता, पर बहकाया जासकताहै। क्या मूर्ख बनाकर ? उहूँ ! उनके अत्यन्त सम्वेदनशील और सरल हृदय को छूकर ! दोनों काले बादल; खूब बरसनेवाले, पर पहला है वैज्ञानिक, जो अपने ही मनकी मौजमें बरसता है और दूसरा भावुक कविका-सा मन लिये, जो दूसरोंके सुखदुख को अपनेमें लेकर भी बरस पड़ता है !

परिषदके अणु २ पर आज साहू शान्तिप्रसाद का व्यक्तित्व छाया हुआ है। कुछने कहा यह अभिशाप है संस्थाके जीवनका। मैंने एक पत्रकार की आंखसे देखा—यह वरदान है संस्थाके जीवनका। इस वरदानमें एक अभिशाप है यह भी मैंने देखा यह अभिशाप है दूसरोंकी निश्चिन्तता का—बिल्कुल वैसा कि कांग्रेसी मिनिष्ट्रियोंके समय बाहरके कांग्रेसी मिनिष्टरों की ओर देखते रहे और वह वरदान अभिशापमें बदल गया ! यहाँ इस परिणामसे सावधान रहना है और यह काम श्री राजेन्द्रकुमार जी और बाबू रतनलाल जीका है। मुझे प्रसन्नता है कि इन दोनों महारथियोंने इस अधिवेशनमें यह जिम्मेदारी देखी है, पहचानी है और सिरपर ली है। यही इस अधिवेशनकी सफलता है।

श्री परमेष्ठीदास जी और श्री कामताप्रसाद जी केसभापतित्वमें जैन साहित्य परिषद और प्रेसकान्फ्रेंसके आयोजनको मैं मानता हूँ कि ये श्रेष्ठ स्मारम्भ थे। साहित्यपरिषदको तो मेरी रायमें, परिषदका एक वैसा ही विभाग बना देना चाहिये, जैसा चरखासंघ कांग्रेस में। जैन साहित्यकी उपेक्षा कर जैन समाजके किसी सुधारकी कल्पना करना उपहासास्पद ही होगा भाई परमेष्ठिदास जी और कामताप्रसाद जी यदि साहित्यपरिषद को स्थायी करनेके लिये एक योजना बनानेमें थोड़ा समय लगासकें तो बड़ा उपयोगी कार्य हो।

श्रीमती रमारानीजीके सभापतित्वमें महिला परिषद हुई। समाजसुधार आन्दोलन का भविष्य बहुत कुछ स्त्रियों पर निर्भर करता है, इस दृष्टिसे महिला परिषद का काम केवल १ दिनके उत्सव तक सीमित रहना बहुत हानिकर है। इसे परिषद का एक स्थायी स्वतन्त्र विभाग होना चाहिये और उसके द्वारा पूरे वर्षभर काम होना चाहिये। श्रीमती रमारानीजीमें उत्साह है, योग्यता है, साधन हैं। यदि वे थोड़ा अधिक ध्यान देसकें तो यह संस्था संगठित होजाये और समाजके लिये बहुत उपयोगी काम करे। परिषद की सभानेत्रीके रूपमें उन्होंने जो भाषण दिया, वह सुन्दर, संक्षिप्त और महत्वपूर्ण था।

सिंघीजीके पत्रका ऊपरी भाग

बा० बहादुरसिंहजी सिंघीका जो पत्र इसी किरणमें पृ० २२२ पर अविकलरूपसे छपा है उसमें पतेका अंग्रेजीमें छपा हुआ ऊपरी भाग, तारीख सहित, कम्पोजसे छूटकर छपनेसे रहगया है, जिसका हमें खेद है। अतः पाठक उसे निम्न प्रकारसे बनालेवें अथवा पढ़ने की कृपा करें।

—मैनेजर श्रीवास्तव प्रेस

BAHADUR SINGH SINGHI
ZAMINDAR & BANKER

Tele. Address "DALBAHADUR"
Telephone NO. PARK 56
48, Gariabat Road, P. O. Ballygunge,
CALCUTTA, २६-९-४३

केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा

(लेखक—न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द कौन्देय)

कुछ महीने हुए बा० रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुरने हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित किया था, जो इस प्रकार है—

"क्या केवलज्ञानसे कुछ ज्ञेय छूट जाता है?"

यह प्रश्न गंभीर है, केवलज्ञानकी विषय-मर्यादासे सम्बन्ध रखता है और इसलिये इसपर युक्ति तथा आगम की सहायताके साथ गहराईसे विचार करके हमने जो कुछ मालूम किया है उसे आज हम इस लेख-द्वारा अनेकान्त-पाठकोंके सामने रखते हैं, जिससे उक्त बाबू साहबका ही नहीं किन्तु उन-जैसी शंका रखनेवाले दूसरे सज्जनोंका भी समाधान होसके अथवा विद्वानोंद्वारा चर्चित हो कर यह विषय और अधिक प्रकाशमें लाया जा सके।

'सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य' यह श्री उमास्वामी महाराजका निर्णीत सिद्धान्त है। इसके अनुसार वस्तुभूत और पर्याय-पर्यायी-स्वरूप माने गये त्रिकालवर्ती द्रव्य, गुण और पर्यायोंको केवलज्ञान जानता है। द्रव्योंमें अशुद्ध द्रव्य और पर्यायशक्तियाँ तथा पर्यायोंमें अविभागप्रतिच्छेद भी गिन लिये जाते हैं। विशेष प्रतिपादन यह है कि—प्रत्येक द्रव्य में केवलान्वयी होकर पाये जाने वाले प्रमेयत्व गुणकी परिणति अनेक प्रकार है। मतिज्ञान करके ज्ञेय होजाना पृथक् तत्व है और केवलज्ञान द्वारा प्रमिति-विषय होजाना जुदी बात है। मतिज्ञानी जीव इन्द्रियजन्यज्ञानद्वारा लड्डूके रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शको जानता है। किन्तु केवलज्ञान-द्वारा मोदकके रूपादिको प्रत्यक्ष कर लेना विशेषता रखता है। यों ऐन्द्रियिक ज्ञानकी विषयतासे केवलज्ञान अछूता है। मिथ्याज्ञानों—अर्धमिथ्याज्ञानोके विषय वहाँ संकलित नहीं हैं।

नृत्य, गान, वादित्र आदिके लौकिक सुख-संवेदन-परिणतिसे भी केवलज्ञान रीता है। आगमगम्य अनंत प्रमेयोंको केवलज्ञान विशद जानता है। किन्तु इसी मतिज्ञानके प्रक्रम अनुसार श्रुतज्ञानके विषय माने गये कतिपय स्वभावों और धर्मों पर केवलज्ञानका अधिकार नहीं है। सप्तभंगी, स्याद्वाद, आपेक्षिक-धर्म, नयवाद अन्य व्यावृत्तियां आरोपित स्वभाव ये सब भी श्रुतज्ञानके परिकर हैं। श्रीराजवार्तिकमें सप्तभंगीका लक्षण "प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी"। ऐसा किया गया है। इसकी प्रतिपत्ति इस प्रकार है—

शास्त्रमें या लोकमें जितने भी लक्षण किये जाते हैं उनमें प्रश्नवशात् या कल्पना ये पद कभी नहीं आते हैं। "उपयोगो लक्षणम्" "शृंगसास्नावान् गौः" जीवका लक्षण उपयोग है। सींग और गल कम्बल वाला बैल होता है। इन लक्षणोंमें प्रश्नके वश होकर या कल्पना खड़ी कर लेना ऐसे लचकदार पद नहीं डाले गये हैं। अतः प्रतीत होता है कि सप्तभंगी एक कल्पना ही है। कुछ व्युत्पत्ति बढ़ाने वाले लौकिक जन इस रचनासे लाभ उठा लेते हैं।

स्व-चतुष्टयसे घड़ेका अस्तित्व-धर्म और पर-चतुष्टयसे घटका नास्तित्व-धर्म कोई अविभाग-प्रतिच्छेदोंका धारी पर्याय अथवा गुण या द्रव्य, नहीं है। केवल कल्पित धर्म हैं। यह ख्याल रखना कि जो सामान्य-गुणोंमें वस्तुको तीनों कालमें स्थिर रखने वाला अस्तित्व गुण है और जो कि प्रतिक्षण परिणामी है वह अनुजीवी गुण इस अस्तित्व-धर्मसे सर्वथा निराला वस्तुभूत है। अस्तित्व गुणके साथ नास्तित्व गुण कथमपि नहीं ठहर सकता है। जैसे कि द्रव्यत्व के साथ अद्रव्यत्व और वस्तुत्वके साथ अवस्तुत्व गुण कोई वस्तुमें जड़ा हुआ नहीं है। क्योंकि अद्रव्यत्व, अवस्तुत्व या नास्तित्व कोई अनुजीवी गुण ही नहीं है। इसी प्रकार पदार्थोंमें इष्टता अनिष्टता भी कल्पित हैं। जो आज इष्ट है वही चीज हमको कल अनिष्ट हो जाती है, दूसरे व्यक्तिको उसी समय वह अनिष्ट पड़ जाती है। किन्तु श्रुतज्ञानी जीव पदार्थोंमें आपेक्षिक अस्तित्व, नास्तित्व या इष्टत्व, अनिष्टत्व जान रहा है।

केवलज्ञानी ऐसे फोकट धर्मोंको नहीं जानता है। ऐसी परिस्थितिमें हम श्रुतज्ञानीको मिथ्याज्ञानी या केवलज्ञानीको अल्पज्ञ होजानेका उपालंभ नहीं दे सकते हैं। क्योंकि श्री अकलंकदेवने "यावन्ति कार्याणि तावन्तः स्वभाव-भेदाः" और श्रीविद्यानन्दने "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मम् स्वभावान्तराणि तथापरिणामात्" इत्यादि वाक्यों द्वारा वस्तुके सिरपर अनेक स्वभाव लाद दिये हैं। उन्हें जैसे हो। तैसे जानना ही चाहिये। देवदत्तके सिरपरसे एक क्षणको भी अन्यभाव, सर्पाभाव सिंहाभावको हटा दिया तो उसी समय जाज्वल्यमान आग,

फरण उठाए काला सांप तथा दहाड़ता हुआ सिंह मस्तक पर चढ़ बैठेगा। अत: ये धर्म मानने पड़ते हैं। इधर केवली भी अपने नियत सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायोंको विश्वरूपसे जान ही रहे हैं। अब इनमें उलाहनेकी बात कोई रहती ही नहीं है। थोथे विषयोंको न छूना उनके लिये अच्छी बात है। आपका घर मन्दिरजीसे पाँच सौ गज दूर है एक गज चलने पर चार सौ निन्यानवे गज रह जाता है आपके घरसे हजारों लाखों घर अपेक्षाकृत दोसौ, चारसौ, पाँचसौ गज, या छहसौ, बारहसौ, पन्द्रहसौ फुट दूर हैं। अथवा बहत्तरसौ, एकसौ चवालीससौ, अठारह हजार इञ्च दूर तर है यों अनेक घर परस्परमें अपेक्षाकृत दूर दूरतर हैं। आने जाने वालोंकी विवक्षाके अनुसार दूर दूरतर निकट निकटतर या दिक् परिवर्तन अथवा इंच, फुट, गज, विश्वांश, विश्वा, बीघाकी असंख्य नापोंको धार रहे हैं। संकर, व्यतिकर रूपसे नापोंकी गिनती बहुत बढ़ जाती है इत्यादि गणनामें आई हुई कोई कल्पनाएँ झूंठी भी नहीं हैं—व्यक्तियोंके श्रुतज्ञानोंद्वारा उनको सच्चा जाना जा रहा है किन्तु ऐसी रद्दी बातोंको सर्वज्ञ नहीं जानते हैं। जहाँ जहाँ लोकाकाशके नियत प्रदेशोंपर गृह बने हुए हैं वे उनके ज्ञानमें निर्विकल्पक झलक रहे हैं। घर, होम, आलय ये शब्द भी मैंने आपको समझानेके लिये कह दिये हैं। वस्तुत: केवलज्ञानका विषय अवक्तव्य है।

छद्मस्थ जीव ठलुआ बैठे बेल्जियम, हालैण्ड, जापान, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, अमेरिका, इंगलैन्ड आदिकी भाषाओं में या विभिन्न नापोंसे कल्पित पैमाइशें करते फिरें। अपने २ घरमें अपेक्षाकृत गढ़ ली गई अनन्तानन्त दूर-निकटताओं या नापोंको सर्वज्ञ कण्ठोक्त नहीं जानते हैं प्रत्यक्षज्ञानमें शब्द योजना नहीं चलती है। प्रत्यक्षज्ञान अविचारक होता है। अमीर-गरीब किसीका भी विचार किये बिना सूर्यके समान भड़ाक सादे पदार्थोंका प्रतिभास कर देता है। हां, परोपकार स्वभाव वाले केवलज्ञानीको पुरुषार्थ कर दुभाषियाके सदृश द्वादशांग वाणी द्वारा आपको अतीन्द्रिय सिद्धान्त समझा देना पड़ता है। जैसे कि हिन्दी अंग्रेजी दोनोंका पढ़ा हुआ दुभाषिया पंडित हिन्दीभाषीको अंग्रेजकी बात और अंग्रेजको भारतीयका अभिप्राय शब्दान्तर बोल कर समझा देता है उसी प्रकार केवलज्ञानी बिना इच्छाके पुरुषार्थ द्वारा निर्विकल्प प्रमेय, पर व्यवहारमें आगये शब्दों की चाशनी चढ़ा चढ़ा कर आपको अमृत औषध खिला देते हैं। पहिले उसी प्रक्रियासे वे स्वयं अमृतत्वको प्राप्त कर सके हैं। वैद्य स्वयं कड़वे, चिरायता, कुटकी, गिलोय को नहीं खाता है, किन्तु सैकड़ोंको उसको खानेका उपदेश देकर नीरोग कर देता है। प्रथम ही द्विभाषित्वका कार्य अतीव कठिन है अतः अर्हन्तकी महत्ता बढ़ जाती है। आपने अपुनरुक्त अ, आ, क, ख, यों एक एक अक्षर या द्विसंयोगी, साठ संयोगी, त्रेसठिसंयोगी, चौसठिसंयोगी ऐसे कोरे एक कम एकट्ठिप्रमाण अक्षरोंमें सोलहसौ चौंतीस करोड अक्षरोंका भाग दे देने पर बन गये एकसौ बारह करोड़ पदोंके बने द्वादशाङ्गपर भी विचार किया होगा और केवल एक मध्यम पदके दोसौवें भाग शेष रहे आठ करोड़ अक्षरोंसे बना दिये सामायिक आदि चौदह अङ्गबाह्य श्रुतका परामर्श किया है। यही केवलीका अतिशय है। अच्छा अब उसी विषय पर आईये कि—

केवलज्ञानी किस ज्ञेयको नहीं जानते हैं। इस प्रश्नके सम्बन्धमें कहना यह है कि आदीश्वरके आत्मा या शरीरकी ऊँचाई ५०० धनुष है। यह आजकलके शास्त्रज्ञ बता रहे हैं। किन्तु स्वयं आदिनाथ भगवानके हाथसे वे एक धनुषसे भी कमती ७/८ मात्र धनुषके थे और बाहुबलि-केवलीकी सभामें उनका नाप इससे भी कमती यानी ५/८ धनुषका कहा गया था। ढाईसौ धनुषकी अवगाहना वाले पद्मप्रभु भगवानके समवसरणमें १ ३/८ धनुषका उपदेशित किया था। वस्तुतः ये नापकी इल्लतें आपको समझानेके लिये लगादी जाती हैं धनुषों, हाथों, अंगुलोंको कहाँ तक लगाओगे। फिर देश, देशान्तरोंके न्यारे न्यारे फुट, इंच आदिके हजारों लाखों प्रकारोंकी कहाँ तक कल्पना करोगे। केवलज्ञानीके ज्ञानमें तो मात्र इतना ही झलकता था कि आदीश्वर महाराज इतने नियत प्रदेशोंपर स्थित हैं। श्री महावीर स्वामीने ७/८ धनुष आदिकी कल्पनासे रहित अवक्तव्य नियत अवगाहनाधारी ऋषभदेवको अपने क्षायिकज्ञान से जान लिया था। किसीने आग्रह कर पूछा तो स्वके हाथ से २५० धनुषकी लम्बाई बता दी। फिर सैकड़ों वर्ष पीछेके आचार्योंने ३॥ हाथ के स्वशरीर अनुसार ५०० धनुषकी समझा दी। पंचमकालके अन्तमें होने वाले श्री वीराङ्गद मुनि महाराज अपने दो हाथोंके शरीर अनुसार अखिल

नामक श्रावकको उपदेश देवेंगे तो वे ८७५ धनुषकी बता देंगे। क्या ये अपेक्षाकृत नापोंकी सब संख्यायें केवलज्ञानीको प्रतीत हो रही हैं? कथमपि नहीं। किन्तु आप लोगोंने अपने विचारात्मक श्रुतज्ञानमें ज्ञात करली हैं। आखिर श्रोताओंको किसी न किसी ढंगसे वस्तुस्थितिका ज्ञान तो होवे।

आपके पास एक लोटा दूध है। आपकी श्रुत-दृष्टिमें वह एक सेर है। कोई दो पौण्ड कह रहा है। तीसरा न्यारे सेरसे १५ छटांक बता रहा है। यों उस दूधकी सैकड़ों हजारों तोल हैं। अनेक जीव दूधको मिल्क, क्षीर, पयः, स्तन्य आदि शब्दोंसे जान रहे हैं। क्या केवलज्ञानी भी उक्त विकल्पोंके साथ दूधको जान रहे हैं? कदाचित नहीं। वे न तो हिन्दी शब्द दूध लगा रहे हैं न अंग्रेजी मिल्क वर्डकी योजना कर रहे हैं। वे सब नयज्ञान हैं—"यावन्तः शब्दास्तावन्तो नयाः।" सहारनपुरमें ८६ का सेर है, बम्बईमें २८ रुपये भरका सेर है। चन्दौसीमें ८८ तोलेका सेर है कहीं ८० या ७८ तोलेका सेर है। घी मनका ३६ सेर सेर तुलता है। सहारनपुरमें सैकड़ा आम एक सौ बारह गिने जाते हैं। कहीं १२० का सैकड़ा है इत्यादि झंझटोंमें केवली नहीं पड़ते हैं जैसा कि विचार-विनमय व्यापारी जन करते रहते हैं। हाँ, ये विकल्पकज्ञान झूठे या सच्चे या उभय, अनुभय यदि आपकी आत्मामें उपज गये हैं तो उन आपके ज्ञानोंको भगवान् जान लेंगे। वे उन ज्ञानोंके फोकस विषयोंके झमेलेमें नहीं पड़ते हैं। हमारे सामने कपड़ेका एक थान रक्खा है वे उस कपड़ेकी अशुद्ध द्रव्य, गुण, पर्यायशक्तियां, पर्यायों और अविभागप्रतिच्छेदोंको जान रहे हैं—प्रत्येक परमाणु तककी तीनों कालोंकी अवस्थाओंका साक्षात् प्रत्यक्ष कर रहे हैं। किन्तु वह थान पाँच वर्ष प्रथम ५) रुपयेका था, दो वर्ष प्रथम १०) में बिका था। अब १६) का भाव निकाला है दिल्लीमें मूल्य १४) रु० है अहमदाबादमें १३॥) है यहाँ सहारनपुरमें ही दूसरा दुकानदार १५) रु० में देता है ये ही बजाज दूसरे ग्राहको अभी १५॥) में दे चुके हैं। केवली किस मूल्यको ठीक आकें, तुम्हीं बताओ? जयपुरका रुपया १।=) में, बूंदीका १=)में, कोटाका १≡)में, अमेरिकाका डालर ४।) में, यों जोधपुर, बीकानेर, कोल्हापुर, रूस, जर्मन, जापान आदि कहांके रुपयोंसे मूल्यको मध्य केन्द्रित करें? ये भाव (रेट) बहुत शीघ्र बदलते भी रहते हैं। वस्तुत इन खोखले निःसार विकल्पोंको वे नहीं जानते हैं क्यों कि ये आपेक्षिक परिवर्तनशील धर्म न तो कोई गुण हैं न वस्तुभूत पर्यायें हैं और न द्रव्य हैं। सर्व द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" इसको ही पकड़े रहो अधिकके लिये हाथ न पसारो।

नव्य नैयायिकोंके यहाँ चौसठि विशेषणोंसे सहित कहा गया जहाँ जहाँ धुंआ है वहाँ वहां अग्नि अवश्य होती ही है ऐसा विचारात्मक व्याप्तिज्ञान केवलज्ञानीके नहीं पाया जाता है। इधर व्याप्तिज्ञानका विषय माना गया, अविनाभाव-सम्बन्ध कोई चीज तो है ही, बस इसी कारण आप सच्चे हैं। वस्तुतः भगवान्के अविनाभाव, शत्रु-मित्रभाव, स्वस्वामी सम्बन्धये क्षण क्षणमें बदलने वाले कांइयां बहुरूपिया पोले सम्बन्ध भी ज्ञेय नहीं हैं। थोड़ी थोड़ी देर मान कर पुनः झट मेंट देने वाले खिलाड़ी छोकरोंकी तोताचस्म दोस्तीके गढन्त नातोंको भगवान् परिज्ञात नहीं करते हैं। वहां छत्र है अतः छाया होना ही चाहिये ऐसे अनुमान ज्ञान भी आपके ही पास हैं। होना चाहिये, भगवान् क्या किया जाय, हो सकता है, चांदी तेज हो जायगी ऐसा ख्याल दौड़ता है। दो और दो चार होते हैं, ऐसे संभाव्यमान उल्लेख्य विषयोंको जो परसंग्रहनयसे सब सत् हैं, केवली नहीं छूते हैं। अनुमेयत्व और व्याप्तिज्ञानगम्यत्व धर्मोंको भी केवली नहीं जान पाते हैं। हाँ कोई अनुमानज्ञान या व्याप्तिज्ञानको अपनी आत्मामें उपजावेगा उस ज्ञानको वे अवश्य जान जावेंगे। क्योंकि वह ज्ञान तो परोक्षज्ञानीके चैतन्य गुणकी वास्तविक पर्याय है जो केवलीको जाननी ही है।

यों तो केवली भगवान सब झूंठे ज्ञानोंको जान रहे हैं। सीपको चान्दी समझे हुये मिथ्याज्ञानीके विपर्ययज्ञानको सर्वज्ञ अवश्य जानते हैं। कल्पनाज्ञानोंका भी वह प्रत्यक्ष कर रहे हैं परंतु उनके ज्ञेय अंशका नहीं। जैसा कि जज साहब चोर, हत्यारे, डाकू, व्यभिचारीके दोषोंका मात्र ज्ञान कर लेते हैं अन्तरङ्ग अनुभव नहीं। विषयका ज्ञान नहीं होते हुये भी विषयीका ज्ञान हो सकता है। देखो "प्रमेयकमल मार्तण्ड ७२ वां पत्र"।

एक चौकी हमारे सामने रक्खी है। उसके त्रिकालवर्ती द्रव्य, गुण, पर्यायोंको केवली आमूलचूल जान रहे हैं। अनन्त पर्यायोंमेंसे एक एकके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद :उनके ज्ञानमें अविकल झलक रहे हैं, किन्तु वह चौकी

लाखों पदार्थोंसे भारी है, करोड़ों वस्तुओंसे हलकी है, अनेकोंसे बड़ी है, फलानी फलानी कतिपयोंसे छोटी है असंख्यातोंसे अधिक चिकनी है, दस रुपये ग्यारह आने तीन पाई की है सुन्दर है, फूहर है और न जाने कितनी भूत, वर्तमान भविष्य कालीन अनन्तानन्त पुद्गल पर्यायोंकी अपेक्षा खुरखुरी है, कम कीमत है, बहुमूल्यवान् है इत्यादि आपेक्षिक विषयोंको वे नहीं छुवेंगे। आप लोग इन थोथे धर्मोंको श्रुतज्ञानसे जानते रहो। आनन्त्य नामके दोषका भी लक्ष्य रखना चाहिये।

"अत्थादो अत्थंतर मुभलंभंतं भणन्ति सुदणाणम्" यों ये सब अर्थसे अर्थान्तरोंके ज्ञान हैं। कुछ इनमें पोंगापन भी है। इसी प्रकार श्री महावीर स्वामीने श्रेणिक राजाकी भूत सौवीं पर्याय जानी, वे मनुष्य थे। वीरने उनके गुणों, सुख, दुःखों आदिका अन्तःप्रवेशी केवलज्ञान कर लिया। किन्तु वह मनुष्य सौका तो भानजा था, पाँचसौ का मामा, चाचा, ताऊ था। दस हजार आदमियोंसे छोटा था। अमुक अमुक से बड़ा था। यदि वह अमुक औषधि खा लेता तो बच सकता था। उचित औषधि मूल्यवान् होनेसे नहीं मिल सकी थी, अतः मध्यमें मर गया होगा इत्यादि विचारणायें केवलीके ज्ञानमें नहीं होपाई हैं बोलना, चाल, शारीरिक चेष्टायें (अदायें) अक्षर लिखना आदिके परिवर्तन शील आपेक्षिक टेढ़े बाँकुरेपनका बैंकका सा ऐकाउन्ट उस ज्ञानमें उल्लिखित नहीं है। त्रिकालवर्ती अनन्तर जीवोंकी विभिन्न सूरतोंकी परस्पर विलक्षणताका हिसाब बहुत बड़ा है। स्याद्वाद-सिद्धान्त या नयवाद तो ज्ञानियोंके लिये है, केवलज्ञानियोंके लिये रत्तीभर भी उपयोगी नहीं। शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका क्षय करने वाले लम्बे लम्बे समीचीन नयज्ञान जो श्रेणियोंमें होते हैं वे सब श्रुतज्ञान हैं अविचारक सर्वज्ञके नहीं उपज पाते हैं। न्याय शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष ज्ञानको अविचारक कहा है। नित्यानित्यात्मक वस्तु है। अस्तित्वनास्तित्व स्वरूप पदार्थ है। अनामिका अंगूठी कनिष्ठासे बड़ी और मध्यमासे छोटी है तथा न जाने कितने अनन्त-पदार्थोंसे छोटी बड़ी है ये सब आपकी यथाशक्ति कल्पनायें हैं।

सर्वज्ञके ज्ञानमें इन रद्दी चीजोंका आकार नहीं पड़ता है। वे तो वास्तविक सद्भूत द्रव्य, गुण, पर्यायोंको अवक्तव्य रूपसे जान रहे हैं। जबकि तत्त्व निर्विकल्प है "स्वसहायं निर्विकल्पं च"। (पंचाध्यायी)

> यत् परैः प्रतिपाद्योहं यत्परान् प्रतिपादये।
> उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥
>
> (समाधितंत्र)

तब तो उसका साक्षात् ज्ञान भी निर्विकल्पक ही है कतिपय कल्पित शब्दयोजनायें, निन्दा प्रशंसायें सापेक्षज्ञानियोंने लगाली हैं। निर्बलता या इस आततायीपनका उत्तरदायित्व केवलज्ञानी नहीं भुगत सकते हैं।

केवल सम्यक्त्व गुणके लिये ही "यस्माद् वक्तुं च श्रोतुंच नाधिकारी विधिक्रमात्" (पंचाध्यायी) यानी असली सम्यक्त्व गुणको कहने और सुननेका अधिकार किसी को नहीं है, मान बैठे हो, भाईयो अकेले सम्यक्त्व गुणके लिये ही यों क्यों कहते हो। सभीके लिये कहो। हाँ, गुरु शिष्यके प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भावमें लानेके लिये वस्तु भित्ति पर कुछ स्वभाव, आपेक्षिक धर्म, नेय विषय भी माने गये हैं। तभी तत्वनिर्णय हो सकता है। और अवक्तव्य प्रमेय पर भी उसी मार्गसे पहुंच पाते हैं।

प्रथम ही "देवशास्त्रगुरुश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" कहा जाता है। कुछ व्युत्पत्ति हो जाने पर "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" समझाया जाता है। पश्चात् "स्वानुभूतिः सम्यग्दर्शनं" कह कर तत्वबोध कराया जाता है। बढ़िया व्युत्पत्ति होजाने पर सम्यग्दृष्टि स्वयं अपने सम्यक्त्वको निर्विकल्पक अवक्तव्य अनुभवन करता रहता है यों वाच्य-वाचक भाव भी यथार्थज्ञानमें उपयोगी हैं। हम क्या करें ऐसे कार्यकारणभावपर कुचोद्योंका आक्रमण नहीं हो पाता है।

परमेष्ठीकी भक्तिके बिना मोक्ष नहीं मिलती है। यह परम्परया निमित्तिनैमित्तिकभाव बहुत बढ़िया है। किन्तु आठवें, नौवें बारहवें गुणस्थानोंमें तो परमेष्ठीकी भक्तिको छोड़ो, कहां तक परको पकड़े रहोगे। वहाँ तो अवक्तव्य आत्मतत्वका संचेतन करे जाओ। तद्वत् नयज्ञानोंसे नेय या सप्तभंगी स्याद्वाद् एवं तर्कवितर्कात्मक विषयोंपर भी केवलज्ञानीको मत झुकाओ। इस कार्यको बारहवें गुणस्थान तक खतम कर दो। (क्रमशः)

सम्पादकीय

१ जैनसत्यप्रकाशकी विरोधी-भावना—

अनेकान्तकी गत सितम्बर मासकी किरण (नं० २) में मैंने 'वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान' नामका एक लेख ऐतिहासिक दृष्टिसे लिखा था, जिसे पढ़कर और इस बातसे क्षुब्ध होकर कि वीरशासन-जयन्तीके महोत्सव-सम्बन्धी प्रस्तावमें कुछ श्वेताम्बर विद्वानोंके नाम भी अस्थायी समितिमें चुने गये हैं 'जैनसत्यप्रकाश' के सम्पादक शाह चीमनलाल गोकलदासजी 'बहुत ही' विचलित हो उठे थे और उन्होंने उसे श्वेताम्बरों तथा स्थानकवासियों की आँखों पर पट्टी बांध कर उन्हें कुएँमें धकेलनेका प्रयत्न बतलाया था। साथ ही, अपने श्वेताम्बर भाइयोंको यह प्रेरणा भी की थी कि वे राजगृह पर होने वाले वीरशासन-जयन्ती-महोत्सव में शरीक न होवें। इस पर मैंने 'सहयोगी जैनसत्यप्रकाश विचित्र सूझ' नाम का एक लेख लिखा था जो नवम्बर मास की किरण (नं० ४) में प्रकाशित हुआ है, और उसमें सहयोगीके कथनकी युक्ति-पुरस्सर आलोचना कर उसे निःसार, निर्हेतुक अनुचित और कट्टर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को लिये हुए व्यक्त किया था। साथ ही सम्पादकजीसे यह अनुरोध किया था कि वे मेरे इस लेख तथा पूर्ववर्ती लेखको भी अविकलरूपसे अपने पत्रमें प्रकाशित करनेकी कृपा करें, जिससे उनके पाठक स्वयं औचित्य और अनौचित्यका निर्णय करनेमें समर्थ हो सकें; परन्तु मेरे लेखको प्रकाशित करना तो दूर रहा, सम्पादकजीसे लेखकी युक्तियोंका कोई समुचित उत्तर भी नहीं बन सका, तब मात्र यह कह कर ही उन्होंने सन्तोष धारण किया कि—अनेकान्तका सम्पादक बहुत प्रचार कर रहा है, वह वीरकी प्रथम-देशना-सम्बन्धी श्वेताम्बरीय मान्यताको 'जीको न लगती हुई' बतलाता है और उनके वर्तमान आगमोंको गणधर-रचित न बतलाकर 'देवर्द्धिगणिके श्वेताम्बरीय आगम' ठहराता है, उसे अपनी बातोंका गैर-वाजिबीपना आज नहीं तो कल मालूम पड़ेगा। साथ ही श्वेताम्बरोंके सहकारकी उसकी आशा सफल नहीं हो सकेगी यह निश्चित है (वर्ष ६ अंक ३)। इसके बादसे जैनसत्य-प्रकाशने वीरसेवामन्दिरमें अपना आना ही बन्द कर दिया। जब तीन महीने तक वह नहीं आया तब ११ मार्चको अनेकान्त आफिससे उसे पत्र लिख कर न आनेका कारण पूछा गया और अंक ४, ५, ६ को शीघ्र भेजनेकी प्रेरणा की गई; परन्तु उत्तरमें न तो कोई पत्र आया और न उक्त अंक ही प्राप्त हो सके। हालमें २२ अप्रेलको अकस्मात् ७ वें अंकका दर्शन हुआ है। उसके प्रथम लेख 'अनेकान्त-ना सम्पादकनुं श्वेताम्बरो प्रत्येनुं मानस' को पढ़ कर यह स्पष्ट हो गया कि उसके सम्पादकका हृदय अभी तक विरोधी भावनासे भरा हुआ है। सम्पादकजीको अब कोई और बात कहनेको न मिली तब उन्होंने ६–७ महीने पहलेका एक पत्र बाबू बहादुरसिंहजी सिंघीका प्रकाशित किया है और इसे अनेकान्तमें न छापनेका आरोप लगा कर श्वेताम्बरोंमें मेरे प्रति अन्यथाभाव फैलानेकी चेष्टा की है, और ऐसा करनेमें उन्हें मेरे उस पत्रको छिपाना पड़ा है जो मैंने बाबू बहादुर-सिंहजीको उनके उक्त पत्रके उत्तरमें रजिष्टरीसे भेजा था; क्योंकि मेरे उस पत्रकी मौजूदगीमें वैसा कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। उसमें मैंने सिंघीजीको स्पष्ट लिख दिया था कि "यदि उक्त (कि० नं० २ वाले) लेखको पढ़ कर भी आप पत्रके प्रकाशनकी जरूरत समझेंगे तो वह अगली किरणमें प्रकाशित कर दिया जावेगा।" जान पड़ता सिंघीजीने लेखको पढ़ कर अपने पत्रके प्रकाशनकी जरूरत नहीं समझी, इसीसे मुझे नहीं लिखा और इसी लिये वह प्रका-शित नहीं किया गया—अन्यत्र भी उन्होंने उसे स्वयं यह कह कर प्रकाशित नहीं कराया कि उसके छापनेसे इन्कार किया गया है। ऐसी हालतमें न छापनेके आरोपके लिये कोई गुंजाइश नहीं रहती, फिर भी सम्पादकजी मुझ पर आरोप लगाने बैठे हैं और अपने पाठकोंमें मेरे विषयका गलत प्रचार करना चाहते हैं, यह देख कर बड़ा ही खेद तथा अफसोस होता है! और इससे सम्पादकजीकी कलुषित मनोवृत्ति और विरोधी भावनाका और भी नग्नरूप सामने

आजाता है। आपने बा० बहादुरसिंहजीके पत्रको भी अविकल रूपमे ज्योंका त्यों नहीं छापा, किन्तु सम्पादनके चक्र पर चढ़ा कर उसमें मनमानी काट-छांट, कमी-बेशी और तब्दीली की है, जिसके दो चार नमूने इस प्रकार हैं—

पत्रके ऊपरी भागपर '२६–६–४३' ऐसे जो तारीख दी थी उसे निकाल दिया, 'और तेरापंथी सभी सहमत हैं' के स्थान पर 'तथा तेरापंथी सब एक मत हैं' बनाया गया और 'मनाया' को 'मनवाया' में 'उपदेश दिया है' को उपदेश दिया था' में 'विचारने' को 'खोज करने' में और 'वह पर्व' को 'यह पर्व' में परिवर्तित किया गया। साथ ही पत्रके अन्तमें 'निवेदक' लिख कर उसके नीचे जो 'बहादुरसिंह सिंघी' ऐसा पत्रप्रेषकका हस्ताक्षरी नाम था उस सबको बदल कर 'निवेदक' के स्थान पर तो 'भवदीय' बनाया गया और शेष नामवाली पंक्तिका 'बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता' इस रूपमें रूपान्तर किया गया है। दूसरे भी कुछ परिवर्तन किये गये हैं।

मालूम नहीं किसीके पत्रको उद्धृत करते हुए उसमें इस प्रकारके सम्पादन-परिवर्तनादि-विषयक स्वेच्छाचारके लिये सम्पादकजीके पास क्या आधार है—किस अधिकारसे उन्होंने ऐसा किया है? और क्या उनका यह कृत्य अपने पाठकोंके प्रति एक प्रकारका विश्वासघात नहीं है? संभव है सम्पादकजीने अपने इस कृत्यद्वारा सिंघीजीको यह पाठ पढ़ाना चाहा हो कि उन्हें पत्र इस ढंगसे लिखना चाहिये था और अपनेको 'निवेदक' न लिख कर 'भवदीय' शब्दके प्रयोगसे ही व्यक्त करना चाहिये था। परन्तु जब सिंघीजीने यह देखा होगा कि उनके हस्ताक्षरी नामके साथ भी 'बा०' (बाबू) और 'जी' शब्द जोड़ कर उन्हें उन्हींकी तरफसे प्रयुक्त हुए सूचित किया गया तब उन्हें उसके लिये कितना संकोच हुआ होगा और उस परसे उन्होंने सम्पादकजीकी योग्यताका कितना अनुभव किया होगा, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। अस्तु।

अबमें सिंघीजीके पत्रको अविकलरूपसे, अपने उत्तरपत्रके साथ, अनेकान्त-पाठकोंके सामने रखता हूं, जिससे उन्हें वस्तुस्थितिका ठीक बोध हो सके और वे जैनसत्यप्रकाशके सम्पादककी विरोधी-भावना और गलत प्रचारको भलेप्रकार समझ सकें।

बा० बहादुरसिंहजी सिंघीका पत्र और उसका उत्तर—

श्रीयुत अधिष्ठाता वीरसेवामंदिरकी सेवामें—

निवेदन। अनेकान्तका छठे वर्षका जो विज्ञप्ति अङ्क अभी मेरे पास आया है उसमें वीरशासनजयंतीका ढाई सहस्राब्दी महोत्सव मनवानेकी योजनासे सम्बन्ध रखने वाला एक प्रस्ताव छपा है। उसमें वीरशासनजयन्तीके महोत्सवको अखिल भारतवर्षीय जैनमहोत्सवका रूप देनेकी बात कही गई है और उसीमें अस्थायी नियोजकसमितिके सभ्योंकी नामावलीमें श्वेताम्बरसमाजके अन्यतम प्रतिनिधि रूपसे मेरा भी नाम बिना ही पूछे दाखिल किया है। इस कारण उक्त प्रस्ताव और वीरशासनजयन्तीके बारेमें श्वेताम्बरसमाजके एक प्रतिनिधिकी हैसियतसे मुझको कुछ लिखना पड़ रहा है। यद्यपि मैं अपना विचार श्वेताम्बर समाजके प्रतिनिधिके रूपसे लिख रहा हूँ जिसमें किसी भी श्वेताम्बरव्यक्तिको आपत्ति नहीं हो सकती। फिर भी मेरा यह विचार स्थानकवासी समाजको भी मान्य होगा; क्योंकि मैं जो कुछ लिख रहा हूं उसमें श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी सभी सहमत हैं।

जब वीरशासनजयंतीके महोत्सवको अखिल भारतवर्षीय जैन महोत्सव बनाना हो तब यह जरूरी हो जाता है कि सभी जैन फिरकोंके प्रमाणभूत और उत्तरदाई मुख्यव्यक्तियोंसे पहले परामर्श किया जाय, जो वीरसेवामंदिरने किया नहीं है।

प्रस्तावमें कहा गया है कि आगामी महोत्सव राजगृहीके विपुलाचलपर और श्रावणकृष्णप्रतिपद्‌को मनाया जाय, जहाँ और जिस दिन भगवान् महावीरने प्रथम उपदेश दिया है। मैं समझता हूँ कि प्रस्तावका यह कथन विशेषरूपसे आपत्तिके योग्य है। क्या श्वेताम्बर और क्या स्थानकवासी कोई आज तक यह न जानता है और न मानता है कि भगवान् महावीरने उक्त स्थानमें उक्त तिथिको प्रथम उपदेश था। इसके विरुद्ध सभी श्वेताम्बर और सभी स्थानकवासी पुराने इतिहास और परम्पराके आधार पर यह मानते हैं कि भगवान महावीरने ऋजुबालिकाके तट पर प्रथम उपदेश किया और सो भी वैशाख शुक्ल दशमी को।

मेरे उक्त कथनके समर्थनमें केवल परम्परागत श्रुति ही नहीं है बल्कि अधिकसे अधिक पुराने ग्रन्थोंका भी आधार है। जब श्वेताम्बर और स्थानकवासी समाजके सामने ऐसे ऐतिहासिक आधार हों और परम्परा हो तथा सब इसमें एकमत हों तब वे एक ऐसी नई निराधार बात

को मानकर, उसमें भाग लेकर इतिहास तथा परम्पराके मन्तव्यपर हरताल कैसे फेर सकते हैं ? इसलिये मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि आपके पास पुरानेसे पुराने प्रमाण क्या हैं जिनमें भगवान् महावीरने विपुलाचलपर श्रावण कृष्ण प्रतिपद्‌को प्रथम उपदेश देनेकी बात कही गई हो। जहाँ तक मैं जानता हूँ दिगम्बर समाजमें भी उक्त स्थान पर उक्त तिथिको प्रथम उपदेश दिये जानेकी परम्परा और जयंतीमहोत्सवकी परम्परा बिल्कुल नई है और निराधार भी।

फिर भी दिगम्बरसमाज अपना निर्णय करनेमें स्वतंत्र है, किन्तु श्वेताम्बर समाज और स्थानकवासी समाज तो अपनी पुरानी-सप्रमाण परम्पराको तब तक छोड़ नहीं सकते जब तक उन्हें मालूम न हो कि उससे भी अधिक पुराना और अधिक प्रमाणभूत आधार विद्यमान है।

यदि आपके पास अपने विचारके समर्थक पुराने प्रमाण हों तो उन्हें शीघ्रातिशीघ्र प्रसिद्ध करना चाहिए जिससे दूसरे लोग कुछ सोच भी सकें। मेरे प्रस्तुत विचारका आप खुलासा करें या न करें तो भी मेरा यह पत्र आप अगले अनेकान्तमें कृपया अवश्य प्रकाशित करदें जिससे हर एक विचारवान्‌को इस बारेमें सोचनेका, विचारनेका और कहने का तथा निर्णय करनेका यथेष्ट अवसर मिल सके।

आपको मालूम होगा कि जहाँ जहाँ संभव हो वहाँ सभी जगह मैं सब फिरकोंको एक जगह मिलानेका पक्षपाती हूं। इसी कारण कलकत्ता-जैसे विशाल शहरमें और विशाल जैनबसती वाले स्थानमें सभी फिरके वाले हम एक जगह मिल कर पर्व विशेष मनाते हैं। परंतु वह पर्व हमने ऐसा चुना है जिसमें किसी फिरकेका मतभेद नहीं। वह पर्व है चैत्रशुक्ल त्रयोदशी—महावीरका जन्म दिवस। यदि ऐसा ही महावीरके प्रथम उपदेशका स्थान और दिन सभी फिरकोंमें निर्विवादरूपसे मान्य हो तब तो उस स्थान पर उस दिनको नये जयंती महोत्सवकी योजनाका विचार संगत हो सकता है; पर जहां मूलमें ही भेद और विरोध है वहां सभी फिरकोंका सम्मिलित रूपसे भाग लेना कैसे सोचा गया यह मेरी समझमें नहीं आता ? यह सूझ तो मुझे जैन फिरकोंमें एक नया विवादस्थान पैदा कराने वाली दीखती है।

निवेदक

बहादुरसिंह सिंघी

वीरसेवामन्दिर

सरसावा जि० सहारनपुर

ता० २१–१०–१९४३

श्रीमन्महानुभाव सिंघीजी, सादर जयजिनेन्द्र।

ता० २६ सितम्बरका रजिष्टर्ड पत्र मुझे यथासमय मिल गया था। अस्वस्थता और अनवकाशसे लगातार घिरा रहनेके कारण उत्तर कुछ विलम्बसे दे रहा हूं। क्षमा कीजिये।

आपका पत्र प्राप्त होनेसे पहिले 'अनेकान्त' के लिये एक लेखकी योजना होगई थी, जो आपके पत्रके मूल विषयसे सम्बन्ध रखता है। यह लेख इसी द्वितीयकिरणमें मुद्रित हुआ है, जो दो तीन दिन बाद ही सेवामें पहुँचेगी। इस लेखको पढ़ जानेके बाद, मैं समझता हूँ आप अपने पत्रको प्रकाशित करनेकी आवश्यकताको महसूस नहीं करेंगे, क्यों कि लेखमें उभयसम्प्रदायोंकी दृष्टिसे विषय का स्पष्टीकरण किया गया है और उसमें वे पुराने प्रमाण भी मौजूद हैं जो आपने मुझसे चाहे हैं। इसीसे पत्रको प्रकाशित करनेकी जरूरत नहीं समझी गई। यदि उक्त लेखको पढ़ कर भी आप पत्रके प्रकाशनकी जरूरत समझेंगे तो वह अगली किरणमें प्रकाशित कर दिया जावेगा। पत्र में "बिल्कुल नई और निराधार" जैसी कुछ आक्षेपपरक बातें आपत्तिके योग्य हैं और वे इस बातको सूचित करती हैं कि विषयका स्वयं मनन करके उन्हें नहीं लिखा गया है। पत्रके प्रकाशनसे एक नया विवादस्थान पैदा होना भी संभव है, जिसे आप नहीं चाहते और न मैं ही चाहता हूँ। पत्र प्रकाशनके बिना भी सब मामला परस्परमें सद्भाव-पूर्वक तय हो सकता है कि महोत्सवके किन किन कार्योंमें किस हद तक श्वेताम्बर समाजका सहयोग प्राप्त हो सकेगा अथवा 'अनेकान्त' सिद्धान्त कहाँ तक अपना रास्ता निकालनेमें समर्थ हो सकेगा। खास कर ऐसी हालतमें जब कि आप जैसे उदार महानुभाव श्वेताम्बर-समाजके एक मान्य प्रतिनिधि हैं। बहरहाल उत्सव जिस शासनप्रचारके पवित्र उद्देश्यको लेकर किया जा रहा है उसमें किसीको भी आपत्ति नहीं हो सकती। मैं तो हरसाल तीनों ही सम्प्रदायोंके सज्जनोंको उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये निमंत्रित करता आरहा हूं, अनेक सज्जन शामिल भी

हुए हैं—एक वर्ष तो उत्सव एक प्रमुख स्थानकवासी साधु जीके सभापतित्वमें ही मनाया गया था, जो अगले साल भी अपने कुछ विद्यार्थियोंके साथ पधारे थे; परन्तु कहीं किसी भी प्रकारकी अप्रप्रिय दर्शन नहीं हो पाया—सब कार्य बहुत ही प्रेमपूर्वक सम्पन्न हुआ। ऐसी ही आशा अगले महोत्सवके लिये भी की जा रही है।

बाकी आपका यह लिखना कि—"फिर भी दिगम्बर समाज अपना निर्णय करनेमें स्वतंत्र है," इत्यादि वह ठीक है और इसमें जो स्पिरिट संनिहित जान पड़ती है उससे उत्सव-विषयमें श्वेताम्बर-समाजकी ओरसे किसी प्रकट विरोधकी आशा नहीं की जासकती। प्रत्युत इसके, यही आशा रक्खी जासकती है कि कुछ मतभेदके होते हुए भी शासनप्रचार, साहित्यसम्मेलन और साहित्यिकप्रदर्शनी जैसे कार्योंमें हमें श्वेताम्बरसमाजका अवश्य सहयोग प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उक्त वाक्यमें आपके द्वारा प्रयुक्त हुए "तबतक" और "जबतक" जैसे शब्दों परसे तो यह भी आशा बँधती है कि किसी समय निष्पक्षता-पूर्वक विशेष विचार होकर मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये प्राचीन प्रमाणों की महत्ताका श्वेताम्बर समाजद्वारा स्वीकार भी किया जा सकता है। ऐसी हालतमें किसी अप्रिय प्रसंगके उपस्थित होनेकी भी कोई बात नहीं है।

शेष यहाँ सब कुशल मंगल है।

भवदीय
जुगलकिशोर

२ पं० बेचरदासजीका अनोखा पत्र—

पं० बेचरदासजी श्वेताम्बर जैनसमाजके एक प्रसिद्ध विद्वान हैं, संस्कृत-प्राकृतादि भाषाओंके पंडित हैं, अध्यापन तथा ग्रन्थ-सम्पादनादिका कार्य करते हैं और व्याकरणादि-विषयक कुछ स्वतंत्र ग्रन्थोंका आपने निर्माण भी किया है। आजसे कोई १५-१६ वर्ष पहले, अहमदाबाद रहते हुए, आप मेरे कुछ विशेष सम्पर्कमें आए हैं और तबसे मैं आपको एक सज्जनस्वभाव तथा उदार-विचारका त[illegible]न् समझता आरहा हूँ, आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा आदर तथा प्रेमभाव है और आप भी, जहाँ तक मुझे मालूम है, मेरे और मेरे कार्योंके प्रति अपना आदर तथा प्रेमभाव प्रकट करते आए हैं। समय समय पर आपसे कितना ही पत्रव्यवहार हुआ है, अनेकान्तके लिये लेखोंकी प्रेरणा भी की गई है, एक दो लेख प्राप्त भी हुए हैं, अनेकबार अस्वस्थता तथा अनवकाशके कारण लेखोंके भेजनेमें आपने मजबूरी भी जाहिर की है। मार्च सन् १९४१ के अनेकान्तमें प्रकाशितके 'कवि राजमल्लका पिंगल और राजा भारमल्ल' नामका मेरा लेख पढ़ कर तो आपने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की थी और स्वतः ही यह लिखा था कि मैं अनेकान्तके लिये इस पिंगल ग्रन्थका सम्पादनादि करदूंगा। इन्हीं सब परिस्थितियों एवं आपके विषयकी अपनी धारणाके वश वीरशासन-जयन्तीके महोत्सव-सम्बन्धी प्रस्तावकी अस्थायी समितिमें आपका नाम भी चुना गया था और बादको अनेकान्त-विशेषाङ्कके सम्पादक-मण्डलमें भी आपके नामकी योजना की गई थी। इस योजनाकी सूचना देते हुए मैंने आपसे दो बार पत्रद्वारा अपनी स्वीकृति भेजनेके लिये निवेदन किया और एक बार अनेकान्तकी पिछली किरण द्वारा। मेरे इस निवेदनके उत्तरमें आपने जो पत्र भेजनेकी कृपा की है वह मुझे बड़ा ही अनोखा तथा अभूतपूर्व जान पड़ा है! पत्रमें उसे अनेकान्तमें प्रकाशित कर देनेका अनुरोध भी है, और इस लिये उसे अविकल रूपसे नीचे प्रकाशित किया जाता है:—

अमदाबाद, ६. ता० ९-४-४४
१२। ब, भारतीनिवास सोसायटी
एलिस ब्रिज

भाई जुगलकिशोरजी
वन्दे मातरम्

मैंने जाना है कि अब आप इतिहासके विपर्यास करनेमें लगे हुए हैं और दिगंबर तथा श्वेतांबर इन दोनों बंधु-समाजमें ऐक्यकी अपेक्षा अनैक्य बढ़ानेके अनिष्टप्रयत्नमें अग्रसर होते जा रहे हैं।

मुझको आपकी ऐसी परिस्थिति जानकर अधिक खेद हुआ है और आपके प्रति सर्वथा उपेक्षाभाव आगया है। इसी कारणसे आपके कई पत्र आनेपर भी मैं एकका भी उत्तर नहीं दे सका हूँ।

मैं समझता था कि आप मेरा उपेक्षाभाव स्वयं समझ

(शेष अंश टाइटिलके तीसरे पृष्ठ पर)

(पृष्ठ १२४ का शेष अंश)

जायेंगे और फिर फिर पत्र लिखकर सामाजिक धनको बरबाद नहीं करेंगे, परंतु मेरी धारणा गलत हुई और आपके पत्र फिर फिर आते ही रहे और आपके अनेकान्तमें भी मेरा नाम आप बार बार छापते ही रहे. अतः यह पत्र लिखकर आपको आपके कार्यकी प्रति मेरा सर्वथा उपेक्षाभाव है इसकी सूचना देता हूं ताकि आप मेरा मनोभाव स्पष्ट समज जाय.

मानवताके नाते आप हमारे भाई है तो भी सत्यकी दृष्टिसे आप हमारे लिए उपेक्षणीय है अतः आपकी किसी भी प्रकारकी साहित्यिक वा धार्मिक प्रवृत्तिमें मेरा लेश भी सहकार व सद्भाव नहीं है। इसकी आप नोंध कर लेना और यह समाचार अनेकांतमें छाप भी देना.

आपके अनेकांतमें आप कई दफे मेरा नाम लिखकर लिखते हैं कि "अमुक कमिटिमें पंडित बेचरदासजी नियुक्त किये गए हैं वा अमुक कार्य पंडित बेचरदासजीको सौंपा गया है" इत्यादि, अब आप ऐसा लिखनेका कष्ट न उठावें और मेरा नाम लिखकर समाजमें भ्रम फैलानेका प्रयत्नको छोड देवें

इस सारे पत्रको अनेकांतमें अवश्य प्रकट कर देवें जिससे समस्त दिगंबर बंधुओंको और समस्त श्वेताम्बर बंधुओंको मेरे विषयमें सच्चा हाल मालूम हो जाय

आपका बेचरदास

मालूम नहीं यह पत्र चित्त और मस्तिष्ककी कैसी स्थितिमें लिखा गया है ! सब बातें अकाण्ड ताण्डव जैसी जान पड़ती हैं——विचार और विवेकके साथ उनका कोई खास सम्बन्ध मालूम नहीं होता। पत्रमें एक दम पूर्वके सब सम्बन्धों पर ही पानी नहीं फेरा गया बल्कि शिष्टता-सभ्यता और सुजनताको भी जलाञ्जलि दी गई है !!! इतिहासज्ञता और एकताका दम भरने वालोंकी ऐसी वाक्परिणति और ऐसी उदार लेखनी अवश्य ही ऐतिहासिकों तथा एकता-प्रेमियोंके लिये चिन्ता और विचारकी वस्तु है ! मेरे जैसोंके प्रति "सर्वथा उपेक्षाभाव" की और 'मेरी किसी भी प्रकारकी साहित्यिक वा धार्मिक प्रवृत्तिमें अपना लेश भी सहकार व सद्भाव न होनेकी घोषणा' तो हृदयकी कल्पनातीत विशालताकी उपज मालूम होती है !!!

इस पत्रमें मेरे ऊपर तीन आरोप लगाये गये हैं——(१) इतिहासका विपर्यास करना, (२) अनैक्य बढ़ानेके अनिष्ट प्रयत्नमें अग्रसर होना, और (३) सत्यसे कोई सम्बन्ध न रखना। इन आरोपोंके समर्थनमें किसी भी हेतुका प्रयोग नहीं किया गया और न इतिहासादिके विपर्यासको स्पष्ट करके ही बतलाया गया है; तब ये नादिरशाही आरोप कहाँ तक ठीक हैं, इसे मैं उन विचारशील पाठकोंके निर्णय पर ही छोड़ता हूं जो मेरे साहित्य और कार्योंसे परिचित हैं। साथ ही, इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि पं० बेचरदासजीने आज तक, मेरी जानकारीमें, मेरे किसी भी ऐतिहासिक लेखका प्रतिवाद नहीं किया—उसे विपरीत अथवा अन्यथा सिद्ध करना तो दूरकी बात है। मात्र अपनी मान्यताके विरुद्ध किसी बातको देख कर उसे इतिहासका विपर्यास बतलाना ऐसा ही है जैसा कि कोई सीपके टुकड़ेको चांदी समझ कर मोहवश अपना रहा हो, स्वयं उसे चाँदी सिद्ध न कर सकता हो और दूसरोंके सीप सिद्ध कर देनेको सत्यका विपर्यास बतलाता हो।

मुझे तो इस पत्रको पढ़ कर अब ऐसा आभास होता है कि मई सन् १९४१ की अनेकान्त किरण नं० ४ में मैंने जो लेख——'क्या तत्त्वार्थसूत्र जैनागम-समन्वय में तत्त्वार्थसूत्रके बीज हैं'——पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्रीका प्रकाशित किया था उस परसे आप मुझसे रुष्ट हो गये हैं; क्यों कि उसमें शास्त्रीजीने आपकी तटस्थताको चैलेंज करते हुए आपकी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिको कुछ नग्न करके बतलाया था। तबसे आपने जिस पिंगल ग्रन्थके सम्पादनादिका स्वयं वचन दिया था उसके प्रेरणात्मक पत्रों पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया। बादको आपकी मान्यताके विरुद्ध कुछ सयुक्तिक लेख भी अनेकान्तमें प्रकाशित हुए हैं, जिनका आपसे आज तक कोई उत्तर नहीं बन सका और इस लिये आपकी वह रुष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई, जो अन्तको उक्त पत्रके रूपमें फूट पड़ी है !!! अच्छा होता यदि पंडित जी उसी समय मुझे अपने उपेक्षाभावसे सूचित कर देते। ऐसा होने पर न तो उन्हें मेरे पत्रोंको पढ़नेका कष्ट उठाना पड़ता, न महोत्सवकी समिति तथा सम्पादकमंडलमें उनका नाम चुना जाता और न उन्हें इस पत्रके लिखनेकी नौबत ही आती। उन्होंने गलती की जो मुझे ऐसा मनःपर्ययज्ञानी समझ लिया जो उत्तरके न आने मात्रसे सब कुछ भुला कर उनके उस सर्वथा उपेक्षाभावको समझ जाता। खैर, अब आपके इस पत्रने मेरी आँखें खोलदी हैं, मेरी गलत फ़हमीको दूर कर दिया है और मुझे आपके तथा आपकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति एवं सत्यप्रेमको असली रूपमें समझनेका अवसर मिल गया है। ता० ३०-४-१९४४

To

If not delivered please return to:-
VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुर में मुद्रित।

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

मई—जून 1944

विषय-सूची

वर्ष ६ किरण १०–११

राजगिरिमें वीरशासनजयन्ती-महोत्सव

(श्रावणकृष्ण १, २ ता० ७, ८ जुलाई सन् १९४४)

अनेकान्तके पाठकोंको यह तो बहुत पहलसे मालूम है कि इस वर्ष वीर-शासनजयन्तीका महोत्सव राजगृह (राजगिरि) में उस पवित्र स्थान पर ही मनाया जायगा, जहाँसे वीरशासनकी 'सर्वोदयतीर्थ-धारा' प्रवाहित हुई है। आज मैं इतनी सूचना और देदेना चाहता हूँ कि पिछले दिनों कलकत्ता में एक मीटिंग हुई थी जिसमें साहू शान्तिप्रसादजी, बा० निर्मलकुमारजी, सेठ बैजनाथजी सरावगी, बाबू बलदेवदासजी और बाबू छोटेलालजी आदि समाजके प्रमुख सज्जनोंने भाग लिया था। उसमें राजगिरिकी वर्षाकालीन स्थिति और कुछ जैन-अजैन विद्वानोंके पत्रों आदिको लक्ष्यमें रख कर यह तय किया गया है कि महोत्सवको दो भागोंमें बाँटा जाय—एक वार्षिकोत्सव और दूसरा 'सार्ध-द्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव'। वार्षिकोत्सवको वीरतीर्थकी प्रवृत्तिके नियत समय श्रावण-कृष्णप्रतिपदाको ही मनाया जाय और दूसरे महोत्सवको कार्तिक सुदिमें दीपावलिके करीब (अक्तूबर मासमें) रक्खा जाय तथा उसके साथ भा० दि० जैनतीर्थ-क्षेत्र-कमेटीका जलसा भी किया जाय। दोनों ही उत्सव राजगिरिमें मनाये जायँ और वार्षिकोत्सवके समय महोत्सव-सम्बन्धी सब योजनाओंको पूरी तौरसे स्थिर कर लिया जाय। तदनुसार वार्षिकोत्सवकी तारीखें ७, ८ जुलाई सन् १९४४ निश्चित की गई हैं। अतः वीर-भगवान्के उपासकों और उनके शासनसे प्रेम रखने वाले सभी सज्जनोंसे निवेदन है कि वे इस पुण्य अवसर पर एक दिन पहलेसे ही राजगिरि पधारनेकी कृपा करें। समाजके विचारशील विद्वानों और दूसरे प्रतिष्ठित सज्जनोंको तो खास तौरसे पधारना चाहिये, जिससे वार्षिकोत्सवकी सफलताके साथ महोत्सव-सम्बन्धी भावी प्रोग्रामके स्थिर करनेमें, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है, उनकी पूरी मदद मिलसके।

इस उत्सवका प्रोग्राम ता० ७ जुलाईको प्रातःकालसे ही प्रारम्भ हो जायगा, जब कि नगरमें प्रभातफेरी करता हुआ जलूस विपुलाचल पर्वत पर उस सूर्योदयके समयसे कुछ पहले ही पहुँच जायगा जिस समय वीरभगवानकी दिव्यवाणी खिरी थी और उनका धर्मतीर्थ प्रवर्तित हुआ था। वहाँ उस वक्त पर्वत पर ध्वजारोहण, पूजन-स्तवन, वीर-सन्देश-श्रवण और एक कीर्ति-स्तम्भके लिये स्मृति-पट्ट (Memorial Tablet) के स्थापन आदिका महत्वपूर्ण कार्य होगा। बादको नगरमें आक रतीसरे पहरसे वार्षिक अधिवेशनकी कारंवाई शुरू होगा, जो अगले दिन तक रहेगी और जिसमें वीर-जीवन और वीर-शासन पर विद्वानोंके भाषण होंगे तथा महत्वके प्रस्ताव पास किये जायँगे।

रेलपथसे आनेवालोंको ई० आई० रेल्वेके बख्तियारपुर जंकशन पर उतरना चाहिये, जहाँसे तीन गाड़ियाँ राजगिरिको जाती है—एक सुबह ६–३० पर, दूसरी दो पहरको १ बजे और तीसरी शाम को ६–२० पर—और कोई तीन घंटेमें राजगिरि पहुँचा देती है।

—निवेदक

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

विश्व तत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४) रु० — इस किरणका मूल्य ।।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ६ किरण १०-११	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर ज्येष्ठ, आषाढशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७०, विक्रम सं० २००१	मई, जून १९४४

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[२२]

श्रीअरिष्टनेमि-जिन-स्तोत्र

भगवानृषिः परमयोग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः ।
ज्ञान-विपुल-किरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्ध-कमलायतेक्षणः ॥ १ ॥
हरिवंश-केतुरनवद्य-विनय-दमतीर्थ-नायकः ।
शील-जलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

'विकसित-कमलदलके समान दीर्घ नेत्रोंके धारक और हरिवंशमें ध्वजरूप हे अरिष्टनेमि-जिनेन्द्र ! आप भगवान्—सातिशयज्ञानवान्—, ऋषि—ऋद्धिसम्पन्न—और शीलसमुद्र—अठारह हजार शीलोंके धारक—हुए हैं; आपने परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञानावरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया है और ज्ञानकी विपुल (निरवशेषद्योतनसमर्थ विस्तीर्ण) किरणोंसे सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोकको जानकर आप निर्दोष (मायादिरहित) विनय तथा दमरूप तीर्थके नायक हुए हैं—आपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और उपचाररूप पंच प्रकारके विनय तथा पंचेन्द्रियजयरूप पंचप्रकार दमनके प्रतिपादक प्रवचन-तीर्थका प्रवर्तन किया है। (साथ ही) आप जरासे रहित और भवसे विमुक्त हुए हैं।'

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-किरण-विसरोपचुम्बितम् ।
पाद-युगलममलं भवतो विकसत्कुशेशय-दलारुणोदरम् ॥ ३ ॥
नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाऽतिरुचिर-शिखराङ्गुलि-स्थलम् ।
स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः ॥ ४ ॥

'आपके उस निर्मल चरण-युगलको, जो (प्रणाम करते हुए) देवेन्द्रोंके मुकुटोंकी मणियों और वज्रादिरत्नोंकी किरणोंके प्रसारसे उपचुम्बित है, जिसका उदर-पादतल-विकसित कमल-दलके समान रक्तवर्ण है और जिसकी अंगुलियोंका उन्नत प्रदेश नखरूप-चन्द्रमाओंकी किरणोंके परिमण्डलसे अति सुन्दर मालूम होता है, वे सुधी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महित-साधनमें दत्तचित्त हैं और जिनके मुखपर सदा स्तुति-मन्त्र रहते हैं।'

द्युतिमद्रथाङ्ग-रवि-बिम्ब-किरण-जटिलांशुमण्डलः ।
नील-जलज-दल-राशि-वपुः सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥५॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्ति-मुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्म-विनय-रसिकौ सुतरां चरणारविन्द-युगलं प्रणेमतुः ॥६॥

'जिनके शरीरका दीप्तिमण्डल द्युतिको लिए हुए सुदर्शनचक्ररूप रविमण्डलकी किरणोंसे जटिल है—संवलित है—और जिनका शरीर नीले कमल-दलोंकी राशिके समान श्यामवर्ण है उन गरुडध्वज—नारायण—और हलधर—बलभद्र—दोनों लोकनायकोंने, जो स्वजनभक्तिसे प्रमुदितचित्त थे और धर्मरूप-विनयाचारके रसिक थे, आपके दोनों चरणकमलोंको बन्धु-जनोंके साथ बार बार प्रणाम किया है।'

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलङ्कृतः ।
मेघपटल-परिवीत-तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥७॥
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥८॥

'जो पृथ्वीका ककुद है—बैलके कन्धेके समीप स्थित ककुद-नामक सर्वोन्नतभाग जिस प्रकार शोभासम्पन्न होता है उसी प्रकार जो पृथ्वीके सब अवयवोंके ऊपर स्थित शोभासम्पन्न उच्चस्थानकी गरिमाको प्राप्त है—विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित शिखरोंसे अलंकृत है और मेघपटलोंसे व्याप्त तटोंको लिये हुए है वह विश्रुत—लोकप्रसिद्ध—ऊर्जयन्त (गिरनार) नामका पर्वत (हे नेमिजिन) इन्द्रद्वारा लिखे गये—उत्कीर्ण हुए—आपके चिन्होंको धारण करता है, इसलिये तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त ऋषियोंद्वारा सब ओरसे निरन्तर अतिसेवित है— भक्तिभरे ऋषिगण अपनी आत्मसिद्धिके लिये बड़े चावसे आपके उस पुण्यस्थानका आश्रय लेते रहते हैं।'

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नाऽर्थकृत् ।
नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥ ९ ॥
अत एव ते बुधनुतस्य चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
न्याय-विहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम् १०

'हे नाथ ! आपने इस अखिल विश्वको—चराचर जगतको—सदा करतलस्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना है, और आपके इस जाननेमें बाह्य करण—चक्षुरादिक और अन्तःकरण—मन—ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते हैं। इसीसे हे बुधजन-स्तुत—अरिष्टनेमि जिन ! आपके न्याय-विहित और अद्भुत उदय सहित—समवसरणादिविभूतिके प्रादुर्भावको लिये हुए—चरितमाहात्म्यको भले प्रकार अवधारण करके हम बड़े प्रसन्न-चित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।'

[२३]

श्रीपार्श्व-जिनस्तोत्र

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥ १ ॥

'तमालवृक्षके समान नील-श्यामवर्णके धारक, इन्द्रधनुषों तथा विद्युद्गुणोंसे युक्त और भयङ्कर वज्र, वायु तथा वर्षाको सब ओर बखेरने वाले ऐसे वैरि-वशवर्ती—कमठ शत्रुके इशारे पर नाचने वाले—मेघोंसे उपद्रुत होने पर—पीड़ित किये जाने पर—भी जो महामना योगसे—शुक्लध्यानसे—चलायमान नहीं हुए।'

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा ॥ २ ॥

'जिन्हें उपसर्गप्राप्त होनेपर धरणेन्द्र नामके नागने चमकती हुई बिजलीकी पीत दीप्तिको लिये हुए बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे उसी प्रकार वेष्टित किया जिस प्रकार कृष्णसंध्यामें विद्युतोपलक्षित मेघ अथवा विविधवर्णोंकी संध्यारूप विद्युतसे उपलक्षित मेघ पर्वतको वेष्टित करता है।'

स्वयोग-निस्त्रिंश-निशातधारया निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजाऽतिशयास्पदं पदम् ॥ ३ ॥

'जिन्होंने अपने योग—शुक्लध्यान—रूप खड्गकी तीक्ष्ण धारासे दुर्जय मोह-शत्रुको नाश करके उस आर्हन्त्यपदको प्राप्त किया है जोकि अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष) का स्थान है।'

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ ४ ॥

'जिन्हें विधूतकल्मष—घातिकर्मचतुष्टयरूप पापसे रहित—शमोपदेशक—मोक्षमार्गके उपदेष्टा—और ईश्वरके—सकललोकप्रभुके—रूपमें देख कर वे (अन्यमतानुयायी) वनवासी तपस्वी भी शरणमें प्राप्त हुए—मोक्षमार्गमें लगे—जो अपने श्रमको—पंचाग्निसाधनादि रूप प्रयासको—विफल समझ गये थे और वैसे ही (भगवान् पार्श्व जैसे विधूतकल्मष ईश्वर) होनेकी इच्छा रखते थे।'

स सत्यविद्या-तपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाऽम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः ॥५॥

'वे (उक्तगुण विशिष्ट) श्रीपार्श्वजिन मेरे द्वारा प्रणाम किये जाते हैं, जो कि सभी विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता हैं, पूर्णबुद्धि सर्वज्ञ हैं, उग्रवंशरूप आकाशके चंद्रमा हैं और जिन्होंने मिथ्यादर्शनादि-रूप कुमार्गकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होने वाले विभ्रमोंको— सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप बुद्धि-विकारोंको—विनष्ट किया है—अथवा यों कहिए कि भव्यजन जिनके प्रसादसे सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गके उपदेशको पाकर अनेकान्त-दृष्टि बने हैं और सर्वथा एकान्तवादिमतोंके विभ्रमसे मुक्त हुए हैं।'

गोत्र-विचार

(ले०—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री)

[परिशिष्ट]

अनेकान्तकी गत किरण नं० ८ में जो मेरे 'गोत्र-विचार' शीर्षक लेखका आद्य भाग प्रकाशित हुआ है उसे पढ़कर अनेक विद्वान् पाठकोंने कुछ और ज्ञातव्य बातोंपर प्रकाश डालनेके लिये लिखा है। उनकी सूचनाओंका संकलन निम्न प्रकारसे किया जा सकता है—

(१) सन्तानका जो आपने अर्थ किया है वह मननीय है उसपर थोड़ा और प्रकाश डालिये।

(२) गोत्रकर्म जीवविपाकी है, अतः उसका शरीर नोकर्मद्रव्यकर्म कैसे हो सकता है।

(३) देवोंके केवल उच्च गोत्रका और तिर्यंच तथा नारकियोंके नीचगोत्रका ही उदय होता है, अतः इनके गोत्रके अवान्तर भेदोंका परस्पर संक्रमण नहीं हो सकता। हाँ मनुष्योंके दोनों गोत्रोंका उदय होता है इस लिये इनके दोनोंका संक्रमण सम्भव है।

(४) सत्तामें स्थित द्रव्यका उदयावलिमें आये हुए द्रव्यमें संक्रमण होता है।

अब आगे इनका क्रमसे विचार करते हैं—

(१) धवलामें उच्च गोत्रका लक्षण करते समय एक 'आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानाम्' यह वाक्य आया है जिससे आचार्यने सादृश्य सामान्यकी ओर इशारा किया है। इससे मालूम होता है कि गोत्रमें समान आचारवालोंकी सन्तान ली गई है। यद्यपि आचार मोहनीयके उदयादिसे होता है पर जीवोंमें आचारकी अपेक्षा समानता या एक-रूपता बनाये रखना और उसकी परम्परा चलाना यह गोत्रकर्मका कार्य है। प्रत्येक जीवका आचार अपने अपने चारित्रमोहनीयके हीनाधिक उदयादिके अनुसार हीनाधिक भी होगा पर इस व्यक्तिगत हीनाधिकताके रहते हुए जो उन जीवोंके उसकी समानता देखी जाती है उसकी उस समानताकी परम्पराका प्रयोजक गोत्रकर्म है और इसी अर्थमें सन्तान शब्द चरितार्थ है। इससे मालूम होता है कि समाजनिर्माणका गोत्रकर्म मुख्य अंग है यदि गोत्रको समाजका पर्यायवाची भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। फरक केवल कारण और कार्यका है। गोत्र अदृश्य-भाव है जो कि कारण है और समाज दृश्यरूप है जो कि उसका कार्य है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यह काम तो जातिकर्मसे भी होता है। जैसे मनुष्यजातिनामकर्मके उदयसे सब मनुष्य एक हैं और इसलिये उनका एक समाज हुआ। फिर गोत्रकर्मकी क्या आवश्यकता? सो इसका यह समाधान है कि जाति तो पर्यायकी अपेक्षा नियामक है और गोत्र व्यवहारकी अपेक्षा, अतः इन दोनों-

में भेद है। यही सबब है कि हमने गोत्रका अर्थ व्यवहार की परम्परा या व्यवहारवालोंकी परम्परा किया है।

(२) गोत्रकर्म जीवविपाकी है फिर भी उसका नोकर्म-द्रव्यकर्म शरीरको मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं। हाँ, एक बाधा अवश्य है कि उच्च और नीच गोत्रका उदय भवके प्रथम समयमें होता है और शरीरकी प्राप्ति प्रथम समयसे लेकर चौथे समय तक किसी एक समयमें होती है। अतः प्रारम्भमें शरीर उच्च और नीच गोत्रके उदयका अव्यभिचारी कारण नहीं है। यही सबब है कि सिद्धान्तशास्त्रोंमें गोत्रको भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय स्वीकार किया हैं। गोत्रके दोनों भेदोंमेंसे नीचगोत्र तो भवप्रत्यय ही है और उच्च गोत्र भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय दोनों प्रकारका होता है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस भवमें जिस गोत्रके उदयकी सम्भावना है उसमें उसीका उदय होता है अन्यका नहीं। अन्यत्र तो एक एक गोत्रके उदयकी ही व्यवस्था है। पर कर्मभूमिके मनुष्य ऐसे हैं जिनके किसी भी गोत्रका उदय हो सकता है। हाँ यदि कोई उच्च गोत्री जीव नीच आचारवाले जीवोंकी परम्परामें उत्पन्न हो गया और समझदार होनेपर उसका उस परम्पराके प्रति अनुराग बढ़ गया तो उसके उच्च गोत्रके स्थानमें नीचगोत्रका उदय होजायगा। और यदि उसने उस परम्पराका त्याग कर दिया तो उसके उच्च गोत्रका ही उदय बना रहेगा। इसी प्रकार नीच गोत्र के सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने इसी अर्थमें उच्च और नीच शरीरको उच्च और नीच गोत्रका नोकर्मद्रव्यकर्म कहा है। यदि हम ऐसा न मानकर इसके विपरीत उनके कथनका अर्थ करें जैसा कि वर्तमानमें किया जाता है तो उनकी की हुई सारी व्यवस्था खटाईमें पड़ जाती है। उदाहरणके लिये नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयके लिये स्त्री, पुरुष और नपुंसकका शरीर नोकर्मद्रव्यकर्म कहा है। अब यदि यह ऐकान्तिक व्यवस्था मान ली जाय तो वेदके नौ भंग ही नहीं बन सकते हैं और कारणके पहले कार्यकी उत्पत्ति माननी पड़ती है। यहाँ यह विषय संक्षेपमें लिखा है अन्यत्र मैं इसका विस्तारसे विचार करने वाला हूं। इस लिये जितना लिखा उससे सारा विषय साफ तो नहीं होता फिर भी उससे चिन्तकोंको चिन्तन और व्यवस्थाकी दिशा मिल जाती है।

(३) संक्रमण बन्धका ही एक भेद है। अन्तर केवल इतना ही है कि बन्ध नये कर्मोंका होता है और संक्रमण सत्तामें स्थित कर्मोंका। उसका प्रभाव उदयपर कुछ भी नहीं पड़ता है। अतः जो भाई यह समझे बैठे हैं कि जिसका जहां संक्रमण होता है उसका वहां कार्य अवश्य होता होगा, उनकी यह धारणा गलत है। अब किस गतिमें किस गोत्रका संक्रमण होता है इसके लिये हमें बन्धपर ध्यान देना चाहिये; क्योंकि बन्धकालमें ही उसमें अन्य सजातीय प्रकृतिका संक्रमण होता है ऐसा नियम है। चारों गतिके जीवोंके दोनों गोत्रोंका बन्ध होता है अतः दोनोंका संक्रमण भी होता है। जब उच्च गोत्रका बन्ध होगा तब उसमें नीचगोत्रका संक्रमण होगा और जब नीचगोत्रका बन्ध होगा तब उसमें उच्च गोत्रका संक्रमण होगा। इससे यह निश्चय होगया कि संक्रमणका उदयसे कोई सम्बन्ध नहीं। हां, यदि संक्रमणसे स्थिति और अनुभागका उत्कर्षण और अपकर्षण लिया जावे तो इसके विषयमें ऐसा नियम है कि उत्कर्षण तो बन्धकालमें ही होता है पर अपकर्षण बन्धकालमें भी होता है और बन्धकालके बिना भी होता है। किन्तु उदयवाली प्रकृतियोंमें उदयनिषेक तक होता है जिसे उदीरणा कहते हैं; और अनुदयरूप प्रकृतियोंमें उदयावलिसे बाह्य निषेकों तक ही होता है। सो चारों गतियोंमें जहाँ जिस गोत्रका उदय हो वहीं उसीकी उदीरणा होती है अन्यकी नहीं। इस प्रकार इस कथनसे यह निश्चित होगया कि चारों गतियोंमें दोनों गोत्रोंका संक्रमण होता है, पर उसका उदयसे कोई सम्बन्ध नहीं।

(४) सत्तामें स्थित द्रव्यका उदयावलिमें निक्षिप्त होना इसीका नाम उदीरणा है सो यह क्रिया उदयवाली प्रकृतिमें ही होती है अन्यमें नहीं, क्योंकि उदीरणा उदयकी अविनाभाविनी है। इसे परप्रकृतिसंक्रमण नहीं कहना चाहिये। संक्रमण तो एक प्रकृतिके निषेकोंका अन्य सजातीय प्रकृतिके निषेकरूप हो जाना कहलाता है। जिसका विशेष खुलासा हम ऊपर कर आये हैं।

मेरी इच्छा है कि इस विषयपर लोग खूब विचार करें और लेखों द्वारा अपने अपने विचारोंको व्यक्त करें।

क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

हालमें श्रीमान प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० अमरावतीने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामका निबन्ध लिखा है, जो गत जनवरी मासमें बनारसमें होने वाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलनके १२ वें अधिवेशनपर अंग्रेजीमें पढ़ा गया और जिसे बादको आपने स्वयं हिन्दीमें अनुवादित करके एक अलग ट्रैक्टके रूपमें प्रकाशित किया है। इस निबन्धमें खोजपूर्वक जो निष्कर्ष निकाले गये और जो सभी विचारणीय हैं उनमें एक निष्कर्ष यह भी है कि श्वेताम्बर आगमोंकी १० निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसा (देवागम) के कर्ता स्वामी समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं—भिन्न भिन्न नहीं, और यही मेरे आजके इस लेखका विचारणीय विषय है। इस निष्कर्षका प्रधान आधार है—श्रवणबेलगोलके प्रथम शिलालेखमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्य-वाणी करने वाले भद्रबाहु द्वितीयके लिये 'स्वामी' उपाधिका प्रयोग और उधर समन्तभद्रके लिये अनेक आचार्य-वाक्योंद्वारा 'स्वामी' पदवीका रूढ होना। जुनाँचे प्रोफेसर साहब लिखते हैं :—

"दूसरा (द्वितीय भद्रबाहु-द्वारा द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्य वाणीके अतिरिक्त[1]) महत्वपूर्ण संकेत इस शिलालेखसे प्राप्त होता है कि भद्रबाहुकी उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्यमें प्रायः एकान्ततः समन्तभद्रके लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द[2] और वादिराज[3] सूरिने तो उनका उल्लेख नाम न देकर केवल उनकी इस उपाधिसे ही किया है, और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधिसे उनके पाठक केवल समन्तभद्रको ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्यको नहीं। इस प्रमाणको उपर्युक्त अन्य सब बातोंके साथ मिलानेसे यह प्रायः निस्सन्देहरूपसे सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं।"

यह आधार-प्रमाण कोई विशेष महत्व नहीं रखता; क्योंकि 'स्वामी' उपाधि भद्रबाहु और समन्तभद्रके एक होनेकी गारंटी नहीं है। दो व्यक्ति होकर भी दोनों 'स्वामी' उपाधिसे भूषित हो सकते हैं। एम० ए० उपाधिधारी अनेक हो सकते हैं। 'व्याकरणाचार्य' भी एकाधिक मिल सकते हैं। 'प्रेमी' और 'शशि' भी अनेक व्यक्तियोंकी उपाधि या उपनाम देखे जाते हैं। फिर भी इनसे अपने अपने प्रसंगपर अमुक अमुकका ही बोध होता है। अतः किसी प्रसंगमें यदि विद्यानंद और वादिराजने मात्र 'स्वामी' पदका प्रयोग किया है और उससे उन्हें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं तो इससे भद्रबाहु और समन्तभद्र कैसे एक हो गये ? दूसरी बात यह है कि विद्यानन्दने जहां भी 'स्वामी' पदका प्रयोग समन्तभद्रके लिये किया है वहाँ आप्तमीमांसा (देवागम) का स्पष्ट संबंध है। आप्तपरीक्षाके 'स्वामिमीमांसितं तत्' उल्लेखमें स्पष्टतः 'मीमांसित' शब्दका प्रयोग है, जिससे उनके विज्ञ पाठक भ्रममें नहीं पड़ सकते और तुरन्त जान सकते हैं कि आप्तकी मीमांसा स्वामीने—समन्तभद्रने की है, उन्हींका विद्यानन्दने उल्लेख किया है। इसी तरह वादिराजसूरिके 'स्वामिनश्चरितं' उल्लेखमें भी 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते' इन आगेके वाक्योंद्वारा 'देवागम' (आप्तमीमांसा) का स्पष्ट निर्देश है, अतः यहां भी उनके पाठक भ्रममें नहीं पड़ सकते। श्लोकके पूर्वार्धमें प्रयुक्त स्वामी पदसे फौरन देवागमके कर्ता समन्तभद्रका ज्ञान कर लेंगे।

---

१ यह ब्रेकेटके भीतर का आशय वाक्य लेखकका है।

२ 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्'

—आप्तपरीक्षा

३ स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरित

तीसरी बात यह है कि 'साहित्यमें एकान्ततः' स्वामी पदका प्रयोग समन्तभद्रके लिये ही नहीं हुआ है। विद्यानन्दके पूर्ववर्ती अकलंकदेवने पात्रकेसरीस्वामी या सीमंधरस्वामीके लिये भी उसका प्रयोग किया है[1]। श्वेताम्बर साहित्यमें सुधर्म गणधरके लिये स्वामी पदका बहुत कुछ प्रयोग पाया जाता है। और भी कितने ही आचार्य स्वामि-पदके साथ उल्लेखित मिलते हैं। स्वयं प्रो० साहबने आवश्यकसूत्रचूर्णि और श्वेताम्बर पट्टावलीमें उल्लेखित 'वज्रस्वामी' नामके एक आचार्यका उल्लेख किया है और उन्हें भी द्वादशवार्षीय दुर्भिक्षके कारण दक्षिणको विहार करने वाला लिखा है। यदि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी करके दक्षिणको विहार करने और स्वामी उपाधिके कारण वज्रस्वामी भी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्रसे भिन्न नहीं है तो फिर इन वज्रस्वामीकी तीसरी पीढीमें होने वाले उन सामन्तभद्रका क्या बनेगा जिन्हें प्रो० सा० ने पट्टावलीके कथनपर आपत्ति न करके वज्रस्वामीका प्रपौत्र शिष्य स्वीकार किया है और समन्तभद्र तथा सामंतभद्रको एक भी बतलाया है क्या प्रपितामह (पड़-बाबा) और प्रपौत्र (पड़पोता) भी एक हो सकते हैं ? अथवा क्या प्रपौत्रकी भविष्यवाणीपर ही प्रपितामहने दक्षिणदेशको विहार किया था ? इसपर प्रो० सा०ने शायद ध्यान नहीं दिया। अस्तु, यदि वज्रस्वामी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्रसे भिन्न हैं और स्वामी पदका प्रयोग पात्र केसरी जैसे दूसरे आचार्योंके लिये भी होता रहा है तो स्वामी उपाधिका 'एकान्ततः समन्तभद्रके लिये ही' प्रयुक्त होना अव्यभिचरित तथा अभ्रान्त नहीं कहा जा सकता और इस लिये 'स्वामी' उपाधिके आधारपर भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्रको एक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से सिद्धिका प्रयत्न बहुत कुछ आपत्तिके योग्य है।

इसमें सन्देह नहीं कि एक नामके अनेक व्यक्ति भी संभव हैं और अनेक नामों वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसी बुनियाद पर समन्तभद्रके भी अनेक नाम हो सकते हैं और समन्तभद्र नामके अनेक व्यक्ति भी संभव हैं। परन्तु यहाँ प्रस्तुत विचार यह है कि आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र और दश निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु द्वितीय क्या अभिन्न हैं—एक ही व्यक्ति हैं ? इसका ठीक निर्णय हम जितना अधिक इन दोनों ही आचार्योंके साहित्यका आभ्यन्तर परीक्षण द्वारा कर सकते हैं उतना दूसरे भिन्न कालीन उल्लेख वाक्यों, बाह्यसाधनों अथवा घटनाओंकी कल्पनापरसे नहीं कर सकते इसीको न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि—"दूसरे समकालीन लेखकोंके द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थोंके आन्तरिक परीक्षणको अधिक महत्व देना सत्यके अधिक निकट पहुंचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षणके सिवाय अन्य बाह्य साधनोंका उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं"[2]।

अतः इस निर्णयके लिये भद्रबाहु द्वितीयकी निर्युक्तियों और स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसादि कृतियोंका अन्तःपरीक्षण होना आवश्यक है। समन्तभद्रकी कृतियोंमें प्रो० साहब रत्नकरण्डश्रावकाचारको नहीं मानते परन्तु मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजीके पत्रके उत्तरमें उन्होंने आप्तमीमांसाके साथ युक्त्यनुशासन और स्वयम्भू स्तोत्रको भी समन्तभद्रकी कृतिरूपमें स्वीकार कर लिया है। ऐसी हालतमें समन्तभद्रके इन तीनों ग्रन्थोंके साथ निर्युक्तियों[3]का अन्तः परीक्षण करके मैंने जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है उसे मैं यहाँ पाठकोंके सामने रखता हूं, जिससे पाठक और मान्य प्रोफेसर साहब इन दोनों आचार्यों का अपना अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और विभिन्न समयवर्तित्व सहजमें ही जान सकेंगे और साथ ही यह भी मालूम कर सकेंगे कि दोनों ही आचार्य भिन्न भिन्न परम्पराओंमें हुये हैं :—

१ देखो, सिद्धिविनिश्चयका 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामका छटा प्रस्ताव, लिखित प्रति पत्र ३००।

२ देखो, अकलंक ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० १४

३ भद्रबाहुकर्तृक दश निर्युक्तियें प्रसिद्ध हैं और ये श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि आगमसूत्रोंपर लिखी गई हैं। उनमेंसे सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति और ऋषिभाषित निर्युक्ति अनुपलब्ध हैं। ओघ निर्युक्ति और संसक्त निर्युक्ति वीरसेवामन्दिरमें नहीं हैं। बाकी ६ निर्युक्तियोंका ही अन्तः परीक्षण किया गया है।

(१) निर्युक्तिकार भद्रबाहु केवली भगवान्के केवलज्ञान और केवलदर्शनका युगपत्-एक साथ सद्भाव नहीं मानते—कहते हैं कि केवलीके केवलदर्शन होने पर केवलज्ञान और केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता, क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं बनते। जैसा कि उनकी आवश्यकनिर्युक्तिकी निम्न गाथा (नं० ९७९) से स्पष्ट है—

णाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा[१] जुगवं दो नत्थि उवओगा॥

इसमें कहा गया है कि 'सभी केवलियोंके—चाहे वे तीर्थंकर केवली हों या सामान्यकेवली आदि,—ज्ञान और दर्शनमें कोई एक ही उपयोग एक समयमें होता है। दो उपयोग एक साथ नहीं होते'।

आवश्यकनिर्युक्तिकी यथा प्रकरण और यथा स्थानपर स्थित यह गाथा ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्वकी है। और कितनी ही उलझनोंको सुलझाती है। इससे तीन बातें प्रकाशमें आती हैं—एक तो यह कि भद्रबाहु द्वितीय केवलीको ज्ञान और दर्शन उपयोगमेंसे किसी एकमें ही एक समयमें उपयुक्त बतला कर क्रमपक्षका सर्व प्रथम समर्थन एवं प्रस्थापन करते हैं। और इस लिये वे ही क्रमपक्षके प्रस्थापक[२] एवं प्रधान पुरस्कर्ता हैं। दूसरी बात यह कि भद्रबाहुके पहिले एक ही मान्यता थी और वह प्रधानतया युगपत्पक्षकी मान्यता थी जो दिगम्बर परम्पराके भूतबलि, कुंदकुंद आदि प्राचीन आचार्योंके वाङ्मयमें और श्वे० भगवतीसूत्र [५-४] तथा तत्वार्थभाष्य [१-३१] में उपलब्ध है और जिसका कि उन्होंने (भद्रबाहुने) इसी गाथाके उत्तरार्धमें 'जुगवं दो नत्थि उवओगा' कहकर खंडन किया है। और तीसरी बात यह कि निर्युक्तिकार भद्रबाहुके पहिले या उनके समयमें केवलीके उपयोगद्वयका अभेदपक्ष नहीं था। अन्यथा क्रमपक्षके समर्थन एवं स्थापन और युगपत्पक्षके खंडनके साथ ही साथ अभेदपक्षका भी वे अवश्य खंडन करते। अतः अभेदपक्ष उनके पीछे प्रस्थापित हुआ फलित होता है और जिसके प्रस्थापक सिद्धसेन दिवाकर हुए जान पड़ते हैं। यही कारण है कि सिद्धसेन क्रमपक्ष और युगपत्पक्ष दोनोंका सम्मतिसूत्रमें जोरोंसे खंडन करते हैं और अभेदवादको स्थापित करते हैं[४]। हमारे इस कथनमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी विशेषणवतीगत वे दोनों गाथायें[५] भी सहायक होती हैं, जिनमें 'केई' शब्दके द्वारा सर्वप्रथम युगपत्पक्षका और 'अवरे' शब्दके द्वारा पश्चात् क्रमपक्षका और अन्तमें दूसरे 'अवरे' शब्दसे अभिन्नपक्षका उल्लेख किया है, जो उपयोगवादके विकासक्रमको बता देता है और उमास्वाति, निर्युक्तिकार भद्रबाहु तथा सिद्धसेन दिवाकरके समयका भी ठीक निर्णय करनेमें खास सहायता करता है।

यहां एक बात और खास ध्यान देने योग्य है और वह यह कि दिगम्बर परंपरामें अकलंकसे पहिले किसी दिगम्बर आचार्यने क्रमपक्ष या अभेदपक्षका खंडन नहीं किया। केवल युगपत् पक्षका ही निर्देश किया है[६]। पूज्यपादके बाद अकलंक ही एक ऐसे हुए हैं जिन्होंने इतरपक्षों क्रमपक्ष[७] और अभेदपक्ष[८] का स्पष्टतया खंडन किया है और युगपत्पक्षका सयुक्तिक समर्थन किया है[९]। इससे

---

१ 'केवलिस्स वि' पाठान्तरम्

२ यदि प्रज्ञापनासूत्र पद ३० सू० ३१४ को क्रमपक्ष परक माना जाये तो सूत्रकार क्रमपक्षके प्रस्थापक और निर्युक्तिकार भद्रबाहु उसके सर्व प्रथम समर्थक माने जायेंगे।

३ आ० हरिभद्र, अभयदेव और उपाध्याय यशोविजयने क्रमपक्षका पुरस्कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणको बतलाया है, पर जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण जब स्वयं 'अवरे' कह कर क्रमपक्षके मानने वाले अपने किसी पूर्ववर्तीका उल्लेख करते हैं (देखो, विशेषणवती गा० १८४) तब वे स्वयं क्रमपक्षके पुरस्कर्ता कैसे हो सकते हैं?

४ देखो, सम्मतिसूत्र २-४ से २-३१ तक

५ केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा।
अवरे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं॥
अवरे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दरिसणं बिंति॥
—विशेषणवती, १८४, १८५

६ इस बातको श्वेताम्बरीय विद्वान् श्रद्धेय पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। देखो, ज्ञानबिन्दु प्रस्ता० पृ० ५५

७ देखो, अष्टशती का० १०१ की वृत्ति और राज० ६-१३-८

८ देखो, राजवार्तिक ६-४-१४, १५, १६

९ देखो, राजवार्तिक ६-४-१२

यह फलित होता है कि पूज्यपादके बाद और अकलंक के पहले क्रमपक्ष और अभेदपक्ष पैदा हुये तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु और जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण तथा अकलंक का मध्यकाल अभेदपक्षके स्थापक और उसके प्रतिष्ठाता (सिद्धसेन) का होना चाहिये[1]। इसका स्पष्ट खुलासा इस प्रकार है—

श्वेताम्बर परंपरामें केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनोपयोगके सम्बन्धमें तीन पक्ष हैं १ क्रमपक्ष २ युगपत्पक्ष और ३ अभेदपक्ष। कुछ आचार्य ऐसे हैं जो केवलीके ज्ञान और दर्शनोपयोगको क्रमिक मानते हैं और कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनोंको यौगपद्य मानते हैं तथा कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनोंको अभिन्न—एक मानते हैं[2]। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें केवल एक ही पक्ष है और वह है यौगपद्यका।

आचार्य भूतबलिके षट्खंडागमसे लेकर अब तकके उपलब्ध समस्त दिगम्बर वाङ्मयमें यौगपद्य पक्ष ही एक स्वरसे स्वीकार किया गया है[3]। प्रत्युत अकलंकदेवने तो क्रमपक्ष[4] और अभेदपक्ष[5]का खण्डन भी किया है और युगपत् पक्षको मान्य रक्खा है। इतना ही नहीं किन्तु क्रमपक्ष माननेवालोंको केवल्यवर्णवादी तक कहा है[6]।

इतना प्रासङ्गिक कहनेके बाद अब मैं निर्युक्तिकार भद्रबाहुकी उपर्युक्त गाथासे विरोध प्रकट करने वाले समन्तभद्रके आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रगत उन वाक्यों को रखता हूँ जिनमें केवलीके ज्ञान और दर्शन उपयोगके यौगपद्यका कथन किया गया है:—

'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

—आप्तमी० का० १०१

नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ

—स्वयंभूस्तोत्र १२९

---

१ श्रद्धेय पं० सुखलालजीने जो सिद्धसेनसे भी पहिले अभेदपक्षकी संभावना की है (ज्ञानबिन्दु प्र० पृ० ६०) वह विचारणीय है; क्योंकि उसमें कितनी ही आपत्तियां उपस्थित होती हैं।

२ देखो, पिछले फुटनोटमें उल्लिखित विशेषणवतीकी १८४, १८५ नंबरकी गाथा।

३ यथा:—

(क) 'सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी स......सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सदि....'

—षट्खंडा० पयडिअणु० सू० ७८

(ख) जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥

—कुंदकुंद, णियम० गा० १५९

(ग) पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगतमोहो॥
भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि॥

—शिवार्य, भगवतीआराध० गा० २१४१, २१४२

(घ) साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तत् छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।' सर्वार्थसिद्धि १-९
'जानन् पश्यन् समस्तं सममनुपरतं..........'।

—पूज्यपाद, सिद्धभ० ४

(ङ) 'आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत्केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यं। भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्।'

—तत्त्वार्थराजवा० ६-४-१२

(च) 'दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि।

—द्रव्यसं० ४४

४ 'तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्'

—अष्टशती का० १०१

५ 'तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तं? तन्न, किं कारणं? निरावरणत्वात्। यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः। तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानं।
किंच—तद्वद्वृत्तेः॥ १५॥ यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते। किंच—त्रिकलगात्॥ १६॥ ××इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनं। —राजवा० ६-४

६ '....कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिनः इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः'—राजवार्तिक० पृ० २६२, ६-१३-८

इन दोनों जगह स्पष्टतया कहा गया है कि 'हे जिनेन्द्र आपका ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको प्रकाश करता है।' 'आपने समस्त चराचर जगतको हस्तामलकवत्—हाथमें रक्खे हुये आंवलेकी तरह युगपत्—एक साथ जाना है और यह जानना आपका सदा—अर्थात् नित्य और निरंतर है—ऐसा कोई भी समय नहीं जब आप सब पदार्थोंको युगपत् न जानते हों।'

पाठक देखेंगे कि यहां समन्तभद्रने युगपत्पक्षका जोरोंसे समर्थन किया है। उनके 'युगपत्' 'अखिलं' 'च' 'सदा' और 'तलामलकवत्' सब ही पद सार्थक और खास महत्त्व के हैं। उनका युगपत्पक्षका समर्थन करने वाला 'सदा' शब्द तो खास तौरसे ध्यान देने योग्य है, जो प्रकृत विषय की प्रामाणिकताकी दृष्टिसे और ऐतिहासिक दृष्टिसे अपना खास महत्त्व रखता है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह स्पष्टतया केवलीके क्रमिकज्ञान-दर्शनका विरोध करता है और यौगपद्यवादका प्रबल समर्थन करता है। क्यों कि ज्ञान-दर्शनकी क्रमिक दशामें ज्ञानके समय दर्शन और दर्शनके समय ज्ञान नहीं रहेगा। और इस लिये कोई भी ज्ञान सदाकालीन—शाश्वत नहीं बन सकेगा। श्रद्धेय पं० सुखलालजीने भी, ज्ञान बिन्दुकी प्रस्तावना (पृ० ५५) में केवल आप्तमीमांसाके उक्त उल्लेख के आधारपर समन्तभद्रको एकमात्र यौगपद्यपक्षका समर्थक बतलाया है। इस मान्यताभेदसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रमें सहज ही पार्थक्य स्थापित होजाता है। यदि भद्रबाहु और समन्तभद्र एक होते तो निर्युक्तिमें क्रमवादका स्थापन और युगपत्वादका खंडन तथा आप्तमीमांसामें युगपत्वादका कथन और फलितरूपेण क्रमिकवादका खंडन दृष्टिगोचर न होता।

अतः स्पष्ट है कि समन्तभद्र और निर्युक्तिकार भद्रबाहु अभिन्न नहीं हैं—भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।

(२) निर्युक्तिकार भद्रबाहुने श्वेताम्बरीय आगमोंकी मान्यतानुसार चौबीसों तीर्थंकरोंको एक वस्त्रसे प्रव्रजित होना माना है जैसा कि उनकी निम्न गाथासे प्रकट है—

सव्वेऽवि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं।
न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा॥
—आवश्य० नि० गा० २२७

इस गाथामें बतलाया गया है कि 'सभी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकर एक दूष्य-एक वस्त्रके साथ दीक्षित हुए।'

यहाँ भद्रबाहु तीर्थंकरोंको भी एक वस्त्ररूप उपधि[1] रखनेका उल्लेख करते हैं, अन्य साधुओंकी तो बात ही क्या। पर इसके विपरीत समन्तभद्र क्या कहते हैं, इसे भी पाठक देखें :—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं—
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्—
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥
—स्वयंभूस्तोत्र ११९

यहां कहा गया है कि 'हे नमिजिन ! प्राणियोंकी अहिंसा—उन्हें घात नहीं करना प्रत्युत उनकी रक्षा करना लोकविदित परमब्रह्म है—अहिंसा सर्वोत्कृष्ट आत्मा-परमात्मा है, वह अहिंसा उस साधुवर्गमें कदापि नहीं बन सकती है जहां अणुमात्र भी आरंभ है। इसी लिये हे परम कारुणिक ! आपने उस परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसाकी सिद्धिके लिये उभय प्रकारके ग्रंथका—परिग्रहका—त्याग किया और विकृतवेष-अस्वाभाविक वेष (भस्माच्छादनादि रूपमें) तथा उपधि—वस्त्रमें या आभरणादिमें आसक्त नहीं हुए।'

जहां भद्रबाहु निर्युक्तिमें तीर्थंकरोंके उभय परिग्रहको छोड़ देनेपर भी उनके पीछे एक वस्त्र रखनेका सुस्पष्ट विधान करते हैं वहाँ समन्तभद्र उभयपरिग्रहके छोड़ देने और अणुमात्र भी आरम्भका काम न रखनेकी व्यवस्था करते हैं। साथ ही स्वाभाविक नग्नवेषके विरुद्ध वस्त्रादि धारणको विकृत वेष और उपधि[2] का धारण बतलाकर

---

१ यहाँ आ० हरिभद्रकी टीका द्रष्टव्य है—"सर्वेऽपि एक दूष्येण' एकवस्त्रेण निर्गताः जिनवराश्चतुर्विंशतिः, + + किं पुनः तन्मतानुसारिणो न सोपधयः? ततश्च य उपधि-रासेवितो भगवद्भिः स साक्षादेवोक्तः, य पुनर्विनेयेभ्यः स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः स खलु अपिशब्दात् ज्ञेय इति।'—आव० नि० गा० २२७।

२ भद्रबाहुको भी 'उपधि' का अर्थ वस्त्र विवक्षित है। यथा—'अप्पत्तोच्चिय वासं सव्वं उवहिं धुवन्ति जयणाए' पिंडनि० २६

उसका निषेध करते हैं। और उनकी यह मान्यता स्वयंभू स्तोत्रके ही निम्न वाक्यसे और भी स्पष्ट होजाती है :--

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्ति (शान्त) करणं-
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंक विजयम्।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं—
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥१२०

इसमें नमिजिनकी स्तुति करते हुए बतलाया है कि 'हे भगवन्! आपका शरीर भूषा-आभूषण; वेष अस्माच्छादनादिचिह्न और व्यवधि-वस्त्रसे रहित है, और वह इस बातका सूचक है कि आपकी समस्त इन्द्रियां शान्त होचुकी हैं अथवा इसीलिये वह शान्तिका कर्ता है--लोग आपके इस स्वाभाविक शरीरके यथाजात नग्नरूपको देखकर न तो वासनामय रागभावको प्राप्त होते हैं और न आपके शरीरपर आभूषणादिके अभावको देखकर द्विष्ट, क्षुभित अथवा खिन्न ही होते हैं; क्योंकि द्वेषक्षोभादिके कारणभूत आभरणादि हैं और वे आपके शरीरपर नहीं हैं अतः वे आपके इस निर्मम आडंबरादिहीन शरीरको देखकर आपसे 'वीतरागतामय' शान्तिको प्राप्त करते हैं। और आपका यह वस्त्रादिहीन शरीर कठोर अस्त्र-शस्त्रोंके बिना ही कामदेवपर किये गये पूर्ण विजयको और निर्दयी क्रोधके अभावको भी भले प्रकार प्रकट करता है।'

यहां 'वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं' और 'स्मरशरविषातंकविजयं' ये दो पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं, जो बतलाते हैं कि जिनेन्द्रका वस्त्रादिसे अनाच्छादित अर्थात् नग्न शरीर है और वह कामदेवपर किये गये विजयको घोषित करता है। अनग्न शरीरसे कामदेवपर विजय प्रायः प्रकट नहीं हो सकती--वहां विकार (लिंगस्पंदनादि) छिपा हुआ रह सकता है और विकारहेतु मिलनेपर उसमें विकृति (ब्रह्मस्खलन) पैदा होनेकी पूरी संभावना है। चूंकि भूषादिहीन जिनेन्द्रका शरीर इस बातका प्रतीक है कि वहां कामरूप मोह नहीं रहा, इसी लिये समन्तभद्रने 'ततस्त्वं निर्मोहः' शब्दोंके द्वारा जिनेन्द्रको 'निर्मोह' कहा है। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रोंको वस्त्रादिरहित बतलाते हैं और भद्रबाहु उनके एक वस्त्रके रखनेका उल्लेख करते हैं, जो श्वेताम्बरीय आचारांगादि सूत्रोंके अनुकूल है। इतना ही नहीं पिंडनिर्युक्तिमें 'परसेय ····चीरधोवणं चेव' (गा० २३) वस्त्र प्रक्षालनका विधान, उसके वर्षाकालको छोड़कर शेषकालमें धोनेके दोष और 'वासासु अधोवणे दोसा' (पिं० नि० २५) शब्दों द्वारा अप्रक्षालनमें दोष भी बतलाते हैं। क्या यह भी समन्तभद्र को विवक्षित है? यदि हां, तो इन्होंने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'जिस साधुवर्गमें अल्प भी आरंभ होगा वहां अहिंसाका कदापि पूर्णपालन-निर्वाह नहीं हो सकता--अहिंस रूप परम ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है' (न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रम विधौ) तब इसके क्या मायने हैं? क्या उनके उक्त कथनका कुछ भी महत्व नहीं है--और उनके 'अणु' 'अपि' शब्दोंका प्रयोग क्या यों ही है किन्तु ऐसा नहीं है, इस बातको उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति स्पष्ट बतलाती है, अन्यथा 'ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं' यह न कहते। इस मान्यताभेदसे भी समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हो सकते--वे वास्तवमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं और जुदी जुदी दो परम्पराओंमें हुए हैं।

(३) भद्रबाहुने सूत्रकृताङ्ग निर्युक्तिमें स्तुति निक्षेपके चार भेद करके आगन्तुक (ऊपरसे परिधारित) आभूषणोंके द्वारा जिनेन्द्रकी स्तुति करनेको द्रव्यस्तुति कहा है—

थुइणिक्खेवो चउहा आगंतुअभूसणेहिं दव्वथुई।
भावे संताण गुणाण कित्तणा जे जहिं भणिया ॥
—सूत्र० नि० गा० ८४

यहां तीर्थंकरदेवके शरीर पर आभूषणोंका विधान किया है और कहा गया है कि जो आगन्तुक भूषणोंसे स्तुति की जाती है वह द्रव्यस्तुति है और विद्यमान यथायोग्य गुणोंका कीर्तन करना भावस्तुति है। लेकिन समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें इससे विरुद्ध ही कहते हैं और तीर्थंकरके शरीरकी आभूषण, वेष और उपधि रहित रूपसे ही स्तुति करते हैं जैसा कि पूर्वोल्लिखित 'वपुर्भूषावेषव्यधिरहितं' वाक्यसे स्पष्ट है। इसी स्वयंभूस्तोत्रमें एक दूसरी जगह भी तीर्थंकरोंकी आभूषणादि-रहित रूपसे ही स्तुति की गई है और उनके रूपको भूषणादि हीन प्रकट किया है—

'पत्ते धोवणकाले उउबद्धे भासमए साहू' पिंड नि० २८
'वासासु अधोवणे दोसा'। पिंडनि० २५

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥ ६४ ॥

इसमें बतलाया है कि 'बाह्यमें आभूषणों, वेषों तथा आयुधों-अस्त्रशस्त्रोंसे रहित और आभ्यन्तरमें विद्या तथा इन्द्रिय निग्रहमें तत्पर आपका रूप ही आपके निर्दोषपने को जाहिर करता है—जो बाह्यमें भूषणों वेषों और आयुधोंसे सहित हैं और आभ्यन्तरमें ज्ञान तथा इन्द्रियनिग्रहमें तत्पर नहीं हैं वे अवश्य सदोष हैं।'

यहां समन्तभद्र शरीरपरके भूषणादिको स्पष्टतया दोष बतला रहे हैं और उनसे विरहित शरीरको ही 'दोषोंका विनिग्रहकर्ता दोषविजयी (निर्दोष) ठहराते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन भद्रबाहु अपनी परम्परानुसार भूषणोंके द्वारा उनकी स्तुति करना बतलाते हैं और उनके शरीर पर भूषणों का सद्भाव मानते हैं। यह मतभेद भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वयंभूस्तोत्रके कर्ता स्वामी समन्तभद्रके एक व्यक्ति होनेमें बाधक है।

(४) भद्रबाहु मुनिको 'कंबल' रूप उपधिका दान करनेका विधान करते हैं और उससे उसी भवसे मोक्ष जाने का उल्लेख करते हैं :—

तिल्लं तेगिच्छसुओ कंबलगं चंदणं च वाणियओ।
दाउं अभिणिक्खंतो तेणेव भवेण अंतगओ ॥
—आवश्यक नि० गा० १७४

जब कि समन्तभद्र मुनिको उभय ग्रन्थका त्यागी होना अनिवार्य और आवश्यक बतलाते हैं, उसके बिना 'समाधि' —आत्मध्यान नहीं बन सकता है। क्योंकि पासमें कोई ग्रंथ होगा तो उसके संरक्षणादिमें चित्त लगा रहनेसे आत्मध्यान की ओर मनोयोग नहीं हो सकता। इसी लिये वे कहते हैं कि—

'समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत्'
—स्वयंभू० १६

अर्थात्—हे जिनेन्द्र ! आप आत्मध्यानमें लीन हैं और उस आत्मध्यानकी प्राप्तिके लिये ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों निर्ग्रन्थता गुणोंसे युक्त हुए हैं।

(५) निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं कि केवली तीर्थंकर को प्रणाम करते हैं और तीन प्रदक्षिणा देते हैं :—

केवलिणो तिउण जिणं तित्थपणामं च मग्गओ तस्स
—आवश्य० नि० गा० ५५६

निर्युक्तिकारके सामने जब प्रश्न आया कि केवली तो कृतकृत्य हो चुके। वे क्यों तीर्थंकरको प्रणाम और प्रदक्षिणा देंगे ? तो वे इस प्रश्नका समाधान करते हुये कहते हैं :—

तप्पुव्विया अरहया पूइयपूया य विणयकम्मं च।
कयकिच्चो वि जह कहं कहए णमए तहा तित्थं ॥
—आवश्य० नि० गा० ५६०

लेकिन समन्तभद्र ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं कि जो हितैषी हैं—अपना हित चाहते हैं, अभी जिनका पूरा हित सम्पन्न नहीं हुआ है और इस लिये जो अकृतकृत्य है वे ही तीर्थंकरकी स्तुति, वंदना प्रणामादि करते हैं।

(१) 'भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः। स्वयं० ६५
(२) 'स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः।
स्वयं० ८५
(३) 'स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति
मंत्रमुखरा महर्षयः।' स्वयं० १२४

ऐसी दशामें समन्तभद्र और भद्रबाहु दोनों एक नहीं हो सकते।

(६) भद्रबाहु वर्द्धमान तीर्थंकरके तपःकर्म (तपश्चर्या) को तो सोपसर्ग प्रकट करते हैं किन्तु शेष तीर्थंकरोंके, जिन में पार्श्वनाथ भी हैं, तपः कर्मको निरुपसर्ग ही बतलाते हैं—

सव्वेसिं तवोकम्मं निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं।
नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥
—आचारा० नि० गा० २७६

श्वेताम्बर मान्यता है[१] कि भगवान् महावीर कुंडग्राम से निकल कर जब दिन अस्त होते कर्मार ग्राम पहुंचे तो वहाँ उन पर बड़े भयानक और बीभत्स उपद्रव एवं उपसर्ग किये गये। आगमसूत्रोंमें[२] भगवान् महावीर पर हुये

---

१ 'तथा च किल कुंडग्रामान्मुहूर्तशेषे दिवसे कर्मारग्राममाप, तत्र च भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानधिसहमानो महासत्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चकार' —शीलांकाचार्यटीका पृ० २७३।

२ देखो, आचारांगसूत्र पृ० २७३ से २८३, सूत्र ४६ से ६३ तक।

इन उपसर्गोंका बहुत भयानक चित्र खींचा गया है क्या तिर्यंच क्या मनुष्य और क्या देवदानव सबने उनपर महान् उपसर्ग किये। बारह वर्ष ६ महीने और १५ दिन तक इन उपसर्गोंको सहते रहे, फिर उन्हें केवलज्ञान हुआ। भगवान् महावीरके उपसर्गोंका इतना बीभत्स वर्णन करते हुए भी भगवान् पार्श्वनाथके उपसर्गोंका सूत्रोंमें या निर्युक्तिमें कोई उल्लेख तक नहीं है। जब कि समन्तभद्र इससे विरुद्ध ही वर्णन करते हैं। वे स्वयंभूस्तोत्रमें पार्श्वनाथके उन भयंकर उपसर्गोंका तो स्पष्ट और विस्तृत विवेचन करते हैं जो दिगम्बर परंपराके साहित्यमें बहुलतया उपलब्ध हैं[1] यहाँ तक कि भ० पार्श्वनाथकी फणाविशिष्ट प्रतिमा भी उसीका प्रतीक है, किन्तु भगवान महावीरके स्तवनमें उन उपसर्गोंका जिनका श्वे० आगमसूत्रोंमें विस्तृत वर्णन है और निर्युक्तिमें जिनका सुस्पष्ट विधान एवं समर्थन भी है, कोई उल्लेख तक नहीं करते हैं। स्वयंभूस्तोत्रके उन श्लोकोंको नीचे प्रकट किया जाता है जिनमें भ० पार्श्वनाथके भयानक उपसर्गोंका स्पष्ट चित्रण किया गया है और इस लिये समन्तभद्रने उनके ही तपःकर्मको सोपसर्ग बतलाया है, वर्द्धमानके नहीं :—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणाम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा॥
स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम्॥
—स्वयंभू० १३१ से १३३ तक।

पाठक देखिये, समन्तभद्रने भ० पार्श्वनाथके ऊपर अपने पूर्वभवके वैरी कमठके जीवके द्वारा किये गये उपसर्गोंका कितने भयानक रूपमें वर्णन किया है, जिनका कि भद्रबाहुने अपनी निर्युक्तिमें नामोल्लेख तक भी नहीं किया, प्रत्युत पार्श्वनाथके तपःकर्म (तपश्चर्या) को निरुपसर्ग ही बतलाया है। यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक होते तो ऐसा स्पष्ट विरुद्ध कथन उनकी लेखनीसे कदापि प्रसूत न होता। इन सब विरुद्ध कथनोंकी मौजूदगीमें यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हैं, दो व्यक्ति हैं और वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भिन्न परम्पराओंमें हुये हैं।

मैं समझता हूं निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको पृथक् पृथक व्यक्ति सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त थोड़ेसे प्रमाण पर्याप्त हैं। जरूरत होने पर और भी प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

समन्तभद्र और भद्रबाहुको पृथक् सिद्ध करनेके बाद अब मैं इनके भिन्नसमय वर्तित्वके सम्बन्धमें भी कुछ कह देना चाहता हूं।

समन्तभद्र, दिग्नाग (३४५-४२५ A. D.) और पूज्यपाद (४५०-A D.) के पूर्ववर्ती हैं[1] यह निर्विवाद है। बौद्धतार्किक नागार्जुन (१८१ A D.[2]) के साहित्यके साथ समन्तभद्रके साहित्यका अन्तःपरीक्षण[3] करने पर यह मालूम होता है कि समन्तभद्रपर नागार्जुनका ताजा प्रभाव है इस लिये वे नागार्जुनके समकालीन या कुछ ही समय बादके विद्वान् हैं अतः समन्तभद्रके समयकी उत्तरावधि तो दिग्नागका समय है और पूर्वावधि नागार्जुनका समय है। अर्थात् समन्तभद्रका समय दूसरी तीसरी शताब्दी है जैसा कि जैनसमाजकी आम मान्यता है[4] और प्रोफेसर सा० भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें इस समय और अधिक विचारकी जरूरत नहीं है।

अब निर्युक्तिकार भद्रबाहुके समय-संबंधमें विचार कर लेना चाहिये स्व० श्वेताम्बर मुनि विद्वान् श्री चतुरविजयजीने 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षक अपने

१ प्रसिद्ध धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य भी भ० पार्श्वनाथका मंगलाभिवादन सकलोपसर्गविजयीरूपसे करते हैं :—
सकलोवसग्गणिवहा संवरणो जेण जस्स फिट्टंति।
कामस्स तस्स णमिउं कामणियोगं परूवेमो॥
—धवला, कामणियोगद्दार०

१ देखो, 'समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन ?' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२।
२ देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका LXVIII, वादन्यायमें २५० A D. दिया है।
३ अप्रकाशित 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक मेरा लेख।
४ देखो, स्वामी समन्तभद्र

एक महत्व एवं खोजपूर्ण लेखमें¹ अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रमकी छठी शताब्दीमें होगये हैं. वे जातिमें ब्राह्मण थे, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहर इनका भाई था ××× निर्युक्तियां आदि ग्रंथकृतियां इनके बुद्धिवैभवमेंसे उत्पन्न हुई हैं' ××× वराहमिहरका समय ईसाकी छठी शताब्दी (५०५ से ५८१ A. D. तक) है। इससे भद्रबाहुका समय भी छठी शताब्दी निर्विवाद सिद्ध होता है।'

मैं पहिले यह कह आया हूँ कि भद्रबाहुने केवलीके उपयोगके क्रमवादका प्रस्थापन किया है और युगपत्‌वादका खंडन किया है। ईसाकी पांचवी और विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् आ० पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें (१-९) युगपत्‌वादका समर्थन मात्र किया है पर क्रमवाद के संबंधमें कुछ भी नहीं लिखा। यदि क्रमवाद इनके पहिले प्रचलित हो चुका होता तो वे इसका अवश्य आलोचन करते। जैसा कि पूज्यपादके उत्तरवर्ती अकलंकदेवने क्रमवादका खंडन किया है और युगपत्‌वादका ही समर्थन किया है। इससे भी मालूम होता है कि निर्युक्तिकार ईसाकी पांचवी शताब्दीके बादके विद्वान् हैं। उधर निर्युक्तिकार ने सिद्धसेनके अभेदवादकी कोई आलोचना नहीं की सिर्फ युगपत्‌वादका ही खंडन किया है इस लिये इनकी उत्तरावधि सिद्धसेनका समय है अर्थात सातवीं शताब्दी है। इस तरह निर्युक्तिकारका वही समय प्रसिद्ध होता है जो श्रीमुनि चतुरविजयजीने बतलाया है। अर्थात् छठी शताब्दी इनका समय है। ऐसी हालतमें निर्युक्तिकार भद्रबाहु उपर्युक्त आपत्तियोंके रहते हुये दूसरी तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रके समकालीन कदापि नहीं हो सकते-- समन्तभद्रके साथ उनके एक व्यक्तित्वकी बात तो बहुत दूरकी है। और इसलिये प्रो० साहबने वीरनिर्वाणसे ६०९ वर्षके पश्चात् नि कटमें ही अर्थात दूसरी शताब्दीमें निर्युक्तिकार भद्रबाहुके होनेकी जो कल्पना कर डाली है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है। आशा है प्रोफेसर सा० इन सब प्रमाणोंकी रोशनीमें इस विषयपर फिरसे विचार करनेकी कृपा करेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा २१-४-४४

१ मूललेख गुजराती भाषामें है और वह 'आत्मानन्द जन्मशताब्दी-ग्रन्थमें' प्रकट हुआ था। और हिन्दीमें अनुवादित होकर 'अनेकान्त' वर्ष ३ किरण १२ में प्रकाशित हुआ है।

गांधी-गीत

[१]
गांधी आकर भारतमें,
भारतको मार्ग बताया।
तुमने ही अधिकारों पर,
लड़ना मरना सिखलाया ॥

[२]
तुमने निशस्त्र भारतको,
एक दिव्य-शस्त्र दे डाला।
अपना भी जीवन अर्पण,
भारतके हित कर डाला ॥

[३]
तुमने वैभव से खेली,
लाखों ही बार सु होली।
भारत-हित कितनी तुमने,
अब तक संस्थायें खोलीं ॥

[४]
महलों में रहना छोड़ा,
कुटिया को ही अपनाया।
कृषकों की दशा सुधारी,
हरिजनको गले लगाया ॥

[५]
बस भारतमें तुमने ही,
हिंसा की आग बुझाई।
'खादी पहनो औ कातो',
यह तुमने प्रथा चलाई ॥

[६]
तुमने बापू ! भारतको,
सोते से अरे जगाया।
पथ-दर्शक बन कर तुमने,
स्वातंत्र्य - मार्ग बतलाया ॥

[कमलकिशोर 'वियोगी']

एक पौराणिक कहानी

गुरु दक्षिणा

श्री बालचन्द्र जैन विशारद

"नहीं, पिताजीने ऐसा ही बताया था।"

"तुम भूलते हो पर्वत! आचार्यपादने ऐसा कभी नहीं कहा।"

"तब तो तुमने पिताजीकी शिक्षा ग्रहण ही नहीं की।"

"सो कैसे?"

"यही कि पिताजीने कहा था—'अजैर्यष्टव्यम्' अज माने बकरा। बकरेके द्वारा यज्ञ—पूजादि विधान करने चाहियें।"

"यही भ्रम तो तुम्हारे मस्तिष्कमें पैठ गया है पर्वत!"

"कौन सा!"

"यही कि तुम्हें अज शब्दके अनेकार्थ मालूम नहीं हैं। अज का अर्थ होता है तीन वर्ष पुराने व्रीहि।"

"तीन वर्ष पुराने व्रीहि?"

"हाँ मित्र! तीन वर्ष पुराने व्रीहि, जो अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिसे वञ्चित हो चुके हो!"

"ऐसा क्यों?"

"हिंसासे बचनेके लिये! यज्ञ पूजा पुण्य-साधनके लिये हैं। वहाँ हिंसा रूपी पापको किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है।"

"क्या पूजा जैसे महान् कार्यके लिये थोड़ी भी हिंसा नहीं की जा सकती?"

"नहीं पर्वत! धर्म प्राणिमात्रका हितैषी है। यदि हम अपने पूजाकार्यके लिये अन्य प्राणियोंको कष्ट देंगे तो यह धर्मके विरुद्ध आचरण होगा। धर्म ऐसी आज्ञा कभी नहीं दे सकता, और ऐसा करने पर वह धर्म नहीं रह सकता बल्कि परोक्ष रूपसे स्वार्थसिद्धिका साधन बन जावेगा।"

"उसमें कष्टकी बात ही क्या है! जो पशु यज्ञके काम आता है वह तो सीधा स्वर्ग जाता है।"

"कैसी बात करते हो पर्वत! मैं देखता हूँ तुम्हारी मिथ्यामति तीक्ष्ण होती जा रही है। कैसा वहम घुस गया है तुम्हारे मस्तिष्कमें!"

"मैं ठीक कह रहा हूँ नारद! पिताजीने यही कहा था। यही अर्थ किया था उस आगम वाक्यका! मुझे अच्छी तरह याद है। मुझे पिताजीने मोत्साह विद्या पढ़ाई है। मैं गलत नहीं समझ सकता!"

"तुमने समझा नहीं भाई!"

"मैं ठीक कहता हूँ, यही अर्थ है। 'अजैर्यष्टव्यम्' पशु गण देवी-देवताओंको प्रिय है, उन्हें उनकी सेवामें अर्पित करना चाहिये. 'अजैर्यष्टव्यम्'"

"मुझे विश्वास हो गया पर्वत! तुम मिथ्यामतका प्रचार करने चले हो। हा......आचार्यने एकबार कहा भी था किन्तु......"

"किन्तु क्या?"

"देखो, अपना सहपाठी वसु राजसिंहासनका अधिपति है!"

"सो क्या?"

"उसके सामने भी तो आचार्यपादने इस वाक्यका अर्थ बताया था।"

हां ठीक है! वह राजा भी है न्यायपति भी है"

"तो उसीसे न्याय कराया जाय' (थोड़ा रुक कर) पर यदि तुम झूठे निकले तो!"

"जो दंड तुम विधान करोगे, मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा।"

"अच्छा......(सोचकर) जो झूठा निकले उसका जिह्वाछेद हो ताकि वह अपने झूठे वचनोंसे जनताको हानि न पहुँचा सके। ठीक है न!"

"ठीक कहते हो पर्वत! मुझे मंजूर है। कल्हो कल राजसभामें उपस्थित होंगे।"

× × ×

नारद और पर्वत गुरुभाई थे। नृपकुमार वसुके साथ दोनोंने ही आचार्यप्रवर 'क्षीरकदम्ब'से शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य पर्वतके पिता थे। पिता होते हुए भी उन्हें पर्वतके प्रति प्रेम न था। उन्होंने अपने अनुभव और विशिष्ट ज्ञानसे प्रतीत कर लिया था कि पर्वत कुबुद्धि है। वह असद्धर्मका परिपोषक होगा। आचार्यने यद्यपि उसकी शिक्षामें किसी प्रकारकी त्रुटि न रक्खी किन्तु वे सदैव यही प्रयत्न

करते थे कि किसी प्रकारसे पर्वतको पदार्थोंका सच्चा रूप दिखाया जा सके—पर्वतको सच्चे धर्मके प्रति आकर्षित करनेकी पिताकी अभिलाषा मनमें ही रह गई। वह अपने पुत्रका सुधार कर पानेके पूर्व ही इस लोकसे उठ गया।

× × ×

तीनों शिष्य क्रमशः युवक हुए। नृपकुमार वसु राजकुलके नियमके अनुसार सिंहासनका अधिकारी हुआ। उसने गुरुसे अच्छी शिक्षा पाई थी। प्रजाको अपनी सन्तानके समान पालना उसने अपना कर्तव्य समझा और न्यायको अपना बल। राजा वसुके न्याय और शासनकी सर्वत्र धूम थी। प्रजामें शान्ति थी। मनुष्योंके हृदयोंमें धर्मकी भावना थी और मुख पर थी 'राजा वसुकी जय'।

× × ×

पर्वत अपने पिताकी गद्दीका अधिकारी हुआ। अपने पिताके ही समान वह प्रकांड विद्वान् था। वह महान् तार्किक था। शास्त्रोंका उसने गहरा अध्ययन किया था। उसके पाण्डित्यका लोहा देशभर मानता था।

पर्वतके आग्रहसे नारदने एक दिन उस आश्रममें प्रवेश किया। पर्वत अपनी शिष्यमंडलीके बीच उच्चासन पर विराजमान था। शिष्यगण भक्ति और श्रद्धासे नम्रीभूत थे। पर्वतका प्रवचन हो रहा था—"धर्म सेवनका मुख्य साधन यज्ञ और पूजा है। गृहस्थोंको तो पुण्यलाभ केवल यज्ञ और पूजासे ही हो सकता है। देवगण पूजासे प्रसन्न होते हैं और अपने भक्तोंके कष्टोंका निवारण करते हैं। उन्हें उच्चस्थान देते हैं। कीर्ति और यश देते हैं। धन और धान्यसे उनका खजाना भरते हैं। यज्ञ और पूजा करनेसे ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है हर गृहस्थको पुण्यार्जन और पापप्रणाशनके लिये यज्ञ पूजादि विधिवत् करने चाहियें। देवताओंको बलि समर्पित करना चाहिये। अश्वमेध नरमेध आदि अनेक प्रकारसे यज्ञोंका विधान किया गया है। ये सभी यज्ञ स्वर्गके कारण होते हैं। देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये उनके मनोनीत पशु भैंसे बकरे और सुअर भेंट करना चाहिये। शास्त्रोंमें कहा भी है 'अजैर्यष्टव्यम्'।"

'अजैर्यष्टव्यम्' नारदने सुना। चेहरा उसका कुम्हला गया। 'अजैर्यष्टव्यम्' का यह अर्थ। पर्वतके मुखसे ऐसा विरुद्ध अर्थ सुन कर नारद भौंचक्का सा रह गया। उसे विश्वास नहीं होता था कि वह चेतनावस्थामें है। क्या यह सच है कि उसके कानोंने पर्वतके मुखसे यह अर्थ सुना है? नहीं! ऐसा नहीं हो सकता! पर्वत पंडित है! उसका गुरु-भाई है। आचार्यने दोनोंको एक साथ ही शिक्षा दी है। हो सकता है यह उसके कानोंका ही भ्रम हो? ऐसा सोच नारदने अपनी शंका निवारणार्थ पर्वतसे प्रश्न किया "क्या यह सच है कि तुमने ऐसा अर्थ कहा है?"

इसके आगेका हाल पाठकोंको प्रारम्भमें ही मालूम हो चुका है।

+ + +

नारदको विदा कर पर्वतने गृहकी ओर प्रस्थान किया। पर्वतको अपने पाण्डित्य पर विश्वास था। वह अहंवादी था। उसे गर्व था कि उस जैसा पण्डित पुरी भरमें दूसरा नहीं है। फिर यह तुच्छ नारद जो उसके पिताके टुकड़ोंसे पला और उन्हीं द्वारा प्रदत्तविद्या द्वारा कुछ समझने लगा. कैसे उसकी समानता कर सकता है। वह मन ही मन फूला जा रहा था। कल राजसभामें शास्त्रार्थ होगा, जिसमें उसकी जय होगी और नारदकी पराजय! शर्तके अनुसार नारदका जिह्वाछेद होगा और उसका? उसका होगा आदर!

इसी प्रकार सोचता पर्वत घर पहुँचा। बेटेको प्रसन्न देख माँ न रह सकी। प्रसन्नताका कारण जाननेके लिये पूछ ही बैठी "क्या बात है पर्वत! आज तो फूला नहीं समा रहा है।"

"कुछ न पूछो मां, कल राजसभामें जाना है" पर्वतने गर्वसे कहा।

"क्यों? राजावसुने निमंत्रित किया होगा! बड़ा नम्र बालक था वह! 'माँ माँ' कहता हुआ मेरी गोदमें आ बैठता था! मैंने भी उसे बहुत दिनोंसे नहीं देखा, कल मैं भी चलूंगी तेरे साथ।"

"नहीं माँ! कल शास्त्रार्थ होगा। मेरा और नारदका!" गर्वमिश्रित भाषामें पर्वत बोला।

"नारदका?" माँ विस्मित हो उठी।

"हां, हां! मेरा नारदके साथ! जो हारेगा उसका जिह्वाछेद होगा।" उसी प्रकार पर्वतने उत्तर दिया।

"जिह्वाछेद होगा! यह कैसा शास्त्रार्थ है बेटा और नारदके साथ?" मां जिज्ञासु हो उठी।

"आजकल उसे अपनी विद्वत्ताका बड़ा घमंड हो गया है। कहता है 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ है तीन वर्ष पुराने ब्रीहिसे पूजा करना चाहिये। मैंने कहा—नहीं अज शब्द शब्दका अर्थ होता है बकरा। बस झगड़ बैठा। कल राजा वसु इसका निर्णय करेगा। पिताजीने भी ऐसा ही कहा था मां!" पर्वतने अपनी निर्दोषिता प्रकट की।

"तूने यह क्या किया पर्वत?" मां विकल हो उठी।

"क्यों मां!" पर्वत मांके मुखकी ओर निहारने लगा।

"बेटा तुमने भूल की। नारद ठीक कहता है। तुम्हारे पिताजीने भी ऐसा ही कहा था। जब तुम पढ़ते थे मैं सुनार करती थी। मुझे अच्छी तरह याद है" मां दुःखित हो उठी।

"क्या माँ!" पर्वत अप्रतिभ हो बोला।

"उन्होंने वही कहा था जो नारद कहता है!" मांका जवाब था।

"माँ!" पर्वतका चेहरा फक पड़ गया।

"बेटा, कितनी भारी भूल की है तुमने! तुम्हारे पिता कहते थे नारद तीक्ष्ण बुद्धि है। बिना समझे ही तुम झगड़ा मोल ले बैठे। दण्डविधान भी अपने ही द्वारा कर लिया" मांके नेत्रोंमें आंसू छलकने लगे।

"किन्तु मां शास्त्रोंमें तो…………" पर्वतने सिर झुकाये ही कहा।

"चूल्हेमें जाँय तुम्हारे शास्त्र, तुमने कुछ नहीं पढ़ा" मांने रोषमिश्रित वाणीमें प्रताड़ना की।

"फिर मां!" पर्वतने दीनता प्रगट की।

"फिर" माँ दो क्षण चुप रही। "वसु निर्णय करेगा! यही न अच्छा! मां ने धीमेसे कहा।

'क्या माँ?' पर्वतने प्रश्न किया।

"कल मैं प्रातः ही वसुके पास जाऊंगी और किसी तरह तेरी रक्षाका उपाय करूंगी। पर्वत मेरा बेटा है, उस का अपमान मेरा अपमान है, मेरे पतिका अपमान है। उसकी मृत्यु मेरी मृत्यु है। मेरा बेटा 'पर्वत'। मैं उसके लिये सब कुछ करूंगी। धर्म अधर्म कुछ न विचारूंगी। पर्वत जा तू! कल सभामें तेरी विजय होगी! जा बेटा!"

पर्वत सिर झुकाये चला गया। माँ हाथ पर मस्तक टेके बैठ गई।

× × ×

प्रथम प्रहरका समय था प्रतीहारीने निवेदन किया 'गुरुपत्नी पधारी हैं'। वसु प्रमुदित हो उठा। गुरुपत्नीका दर्शन देना सौभाग्यकी बात थी। आज्ञा दी 'सादर लिवा-लाओ' स्वयं भी सेवाके लिये तैयार हो गया। गुरुपत्नीने प्रवेश किया। 'माँ' कहता हुआ वसु चरणों पर गिर पड़ा। माँने आशीर्वचन दिये। उच्चासन देकर वसुने कुशल पूछी। मांने वाञ्छनीय उत्तर दिये।

"आज कैसे कष्ट किया मां?" वसुने नम्रतापूर्वक प्रश्न किया।

'अपने बेटेको देखनेके लिये" माँने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया।

वसु लज्जित हो गया। उसे कोई उत्तर न सूझा। झेंप मिटानेके लिये बोल पड़ा—"मैं स्वयं उपस्थित हो सकता था।"

माँ बोली—"नहीं राजाका समय अमूल्य होता है। मैंने सोचा मैं स्वयं ही तुमसे मिल लूं'।

"यह आपकी कृपा थी मां!" वसुने कृतज्ञतासे कहा "मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।"

"मुझे तेरा स्नेह ही बहुत है वसु, और कुछ न चाहिये" मांने उपेक्षा की।

"फिर भी मां मेरा कर्तव्य……………वसुने दीनता प्रगट की।

"तुमने अपना कर्तव्य निबाहा ही कब है मेरी गुरु-दक्षिणा भी तो नहीं दी" मांने मुस्कराते हुए कहा।

वसुने समझा माँ परिहास कर रही है बोला—'सभी कुछ आपका ही तो है!"

मांको यदि पर्वतकी प्राणरक्षाकी अपेक्षा न होती तो सचमुच यह परिहास ही था। वसुके अनेक निवेदन करने पर भी माँने कभी गुरुदक्षिणा स्वीकार नहीं की थी। किन्तु आज अपने पुत्रकी मान रक्षा की भावनाने उस वाक्यको असहनीय सत्य बना दिया। मांने सरलतासे काम बना लिया। तार्किककी पत्नी अपने दावपेंचमें दक्ष निकली। बोली—"देखो वसु! आज सचमुच मैं गुरुदक्षिणा लेने आई हूँ"।

वसु हाथ जोड़ कर बोला—"आज्ञा दीजिये मां ! मैं हर आवश्यकता पूरी करूंगा ! मैं वचनबद्ध हूँ !"

मांकी आंखोंमें आंसू आगये बोली—'बेटा वसु ! तुम राजा हो ! राजमुकुट तुम्हारे मस्तक पर शोभित है ! न्याय तुम्हारे हाथमें है ! होगी किन्तु............माँ इसके आगे कुछ न कह सकी। उनका गला भर आया।

"कहो कहो मां मैं सब कुछ करूंगा। तुम्हारी आज्ञाका पालन मैं प्राणान्त तक करूंगा" वसु उत्तेजित हो उठा।

"तो सुनो बेटा" माँ कहने लगी। नारद और पर्वत आज राजसभामें शास्त्रार्थके लिये आवेंगे। तुम्हें पर्वतकी मानरक्षा करना होगी" माँने आज्ञा देते हुए कहा।

"सो कैसे माँ ? वसुने प्रश्न किया।

माँ बोली—"अजैर्यष्टव्यम्" के अर्थपर दोनोंमें विवाद होगया है। मैं जानती हूँ पर्वतका पक्ष ठीक नहीं है फिर भी बेटा ! वह मेरा पुत्र है। उसकी पराजय मेरी और तुम्हारे गुरुकी प्रतिष्ठामें बाधक होगी। इसलिये मेरे लिये और मेरे पतिके लिये तुम्हें मेरे पुत्रकी रक्षा करनी होगी। उसकी जय घोषित करना होगा। समझे वसु" माँने जोर दिया।

"किन्तु माँ !"

"किन्तु परन्तु कुछ नहीं ! यही मेरी गुरुदक्षिणा है।" कहती हुई मां प्रस्थान कर गई। वसु चिन्तित बैठा ही रह गया ?

\+ + +

राजसभा भवन ठसाठस भरा हुआ था। प्रजा इस शास्त्रार्थको देखनेके लिये अत्यन्त उतावली हो रही थी। लोग जिज्ञासु थे वसुके निर्णयके। सर्वत्र विभिन्न मतोंकी पुष्टि और समर्थन हो रहे थे। पर्वत और नारद दोनों एक गुरुके चेले—दोनोंके पाण्डित्यपर लोगोंको श्रद्धा थी। आज दोनोंका शास्त्रार्थ होगा यही दर्शनीय बात थी।

'महाराज वसुकी जय' के नारेके साथ राजा वसु सिंहासनपर आरूढ़ हुआ। वादी प्रतिवादी उपस्थित हुए। नारदका मुखमण्डल दमक रहा था वह प्रसन्न था। उसे विश्वास था कि उसका कथन सत्य है। सत्यकी सर्वत्र विजय होती है। राजा वसु न्यायका अधिपति है। उसके न्यायकी सर्वत्र धूम है। वह सत्य निर्णय देगा। लोगोंमें सद्धर्मकी वृद्धि होगी।" नारद यह सोच रहा था किन्तु उसे पता न था कि पर्देके पीछे क्या हो चुका है। और पर्वत ! उसकी भी सुन लीजिये। कुम्हलाये हुए पुष्पकी भाँति उदास है उसका चेहरा। सदा उत्तेजित रहनेवाला पर्वत आज गंभीर बना हुआ है, यह लोगोंके आश्चर्यका कारण बन गया। यद्यपि माँने उसे सब समझा दिया था। ढाढस बंधाया था किन्तु वह काँप रहा था। उसे विश्वास ही न होता था कि वसु जैसा न्यायी राजा आज असत्यका समर्थन करेगा।

\+ + +

वादी और प्रतिवादी अपने पक्षका समर्थन कर चुके। मंत्रीने निवेदन किया—"वादी प्रतिवादी महाराजका निर्णय चाहते हैं।" वसु चौंक उठा जैसे किसीने अकस्मात् गाढ़निद्रासे उसे जगा दिया हो। "निर्णय" उसने पूछा।

"हाँ महाराज ! निर्णय" मन्त्रीने निवेदन किया।

"निर्णय ! हाँ ! पर्वतका पक्ष ठीक है ! "महाराज" नारदने आपत्ति की। हाँ आचार्यने ऐसा ही कहा था ! पर्वतका पक्ष ठीक है। मैं निर्णय देता हूं।" वसु गरज उठा। वसुकी गर्जनके साथ एक और विकट गर्जन सुनाई दी जिससे लोकसमूह कम्पित होउठा ! अकस्मात् पृथ्वी काँपने लगी और वसुका सिंहासन डोलने लगा। नारद चिल्लाया—वसु ! अपने पदकी ओर ध्यान दो ! तुम राजा हो ! न्यायपति हो !"

"मैं निर्णय देता हूँ पर्वतका पक्ष ठीक है, उसका कथन सत्य है, यज्ञादि कार्यके लिये आचार्यने अज शब्द का अर्थ बकरा ही कहा था।" वसुके अंतिम वाक्यके साथ एक विचित्र कोलाहल सुनाई दिया। पृथ्वी काँप उठी। वसु सिंहासन सहित मञ्चसे नीचे आ पड़ा !!

नारद चिल्ला उठा—"वसु अभी भी समय है, सम्हलो, तुम राजा हो सोचो तुम्हारे ये असत्य वचन भोली जनताका कितना अपकार करेंगे। उन्हें अधर्मकी ओर प्रवृत्त करेंगे। उनके हृदयोंमें असद्भावनाओंके बीज वपन करेंगे। और काल पाकर वे बीज अङ्कुरित होकर विशाल वृक्षका रूप धारण करेंगे और अपनी जड़ोंको सर्वत्र फैलाकर मोटी और मजबूत बना लेंगे और फिर आप जानते हो क्या होगा ? होगा सर्वत्र हाहाकार ! धर्मका लोप हो जावेगा ! अधर्मका साम्राज्य छा जावेगा, त्राहि त्राहिका करुणाक्रन्दन सर्वत्र सुनाई देगा ! नर पशु बन जावेंगे; हिंसा प्रबल हो जावेगा और.......और मानवताका संसारसे लोप हो

जावेगा, दानवता अट्टहास करती हुई ताण्डव नाचेगी। और जानते हो इन अत्याचारोंका कारण कौन होगा? तुम! न्यायासनपर बैठकर असत्यभाषण करनेवाले तुम! वसु सम्हलो, सोचो! तुम्हारे ये वचन भविष्यमें क्या करेंगे, जरा विचारो! मित्र अभी समय है" नारद विकल हो रहा था वसुकी दशा देखकर—अपने मित्रकी दयनीय हालत उसे असहनीय थी। उसने वसुको समझाया-बुझाया-भय दिखाया किन्तु वसु बेचारा वसु अपनी रक्षा न कर सका। देश भरकी रक्षाका दम भरनेवाला नृपति आज अपने आप को निस्सहाय अनुभव कर रहा था। वेदना और आत्म-ग्लानिसे जला जा रहा था; किन्तु गुरुपत्नीकी आज्ञा उसके सिरपर सवार थी। वसु क्षत्रिय था। वचनका पक्का था 'प्राण जांय पर बचन न जाई' उसके कुलका नियम था। वह एक बार फिर शब्द एकत्र कर बोला—'पर्वतका पक्ष ठीक है, मैं निर्णय देता हूँ।'

कम्पनके साथ पृथ्वी फटी और वसु सिंहासन सहित उसमें समा गया।

लोगोंने कहा 'असत्यभाषणका फल पाया।'

\+　　\+　　\+

मुद्रित श्लोकवार्तिककी त्रुटि-पूर्ति

(ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

आचार्य विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक सन् १६१८ में मुद्रित हुआ था, और सेठ रामचन्द्र नाथारंगजी गाँधीने उसे प्रकाशित कराया था। जिस ग्रन्थप्रती परसे इसका उद्धार किया था वह प्रति प्रायः अशुद्ध थी और उसमें कुछ अंश त्रुटित थे अथवा पढ़नेमें नहीं आने कारण वे मुद्रित होनेसे छूट गये थे। उस समय ग्रंथ सम्पादनादिके लिये अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका मिलना भी अत्यन्त कठिन नहीं तो दुःसाध्य ज़रूर था। अतः उपलब्ध एकादी प्रतियों परसे ही सम्पनादिका कार्य सम्पन्न किया जाता था। अस्तु, मुद्रित प्रतिमें कुछ सूत्रोंका भाष्य भी उपलब्ध नहीं है। जिससे अनेक स्थलों पर श्लोकवार्तिकको लगानेमें बड़ी दिक्कत उपस्थित होती है। हालमें मुझे श्लोक वार्तिककी एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है जो खतौलीके दि० जैनमंदिर सराफान्के ग्रन्थभण्डारकी है। यह प्रति प्रायः शुद्ध मालूम होती है। इस प्रतिसे मुद्रित प्रतिका मिलान करने पर वे सब त्रुटित अंश पूरे हो जाते हैं और सूत्रस्थलोंके छूटे हुए भाष्य भी पूर्ण हो जाते हैं। सबसे महत्वकी बात तो यह है कि मुद्रित प्रतिमें और कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें भी चतुर्थ अध्यायका 'लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां' ४२ नं० का सूत्र उपलब्ध नहीं था और न उसका भाष्य या वार्तिक ही पाया जाता था जिससे विद्वानोंने यह कल्पना करली थी कि आचार्य विद्यानंदने उक्तसूत्र माना ही नहीं है। परन्तु इस प्रतिमें वह सूत्रमय वार्तिक-भाष्यके पाया जाता है*। अतः पाठकोंकी जानकारीके लिये मुद्रित प्रतिके रिक्तस्थानीय त्रुटित अंशोंकी पूर्ति नीचे दी जाती है:—

पृष्ठ १६२ पंक्ति १८ कारिका ६ के तृतीयचरणमें रिक्त स्थान पर 'मनः पर्ययणं येन' पाठ है।

पृष्ठ २२६ पंक्ति ४ के मध्यभागमें 'इति' शब्दके आगे 'नैवं मन्यन्ते' पाठ है। इसी पृष्ठकी कारिका ८ की १८ वीं

*पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य सहारनपुरसे मालूम हुआ कि मूडबिद्रीकी प्रतिमें भी उक्त सूत्र मय भाष्यवार्तिकके पाया जाता है, वहाँके विद्वान् पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उक्त सूत्र उक्त प्रतिपरसे उद्धृत करके भेजा था। इससे स्पष्ट है कि कितनी ही प्रतियोंमें लेखकोंसे असावधानीवश उक्त सूत्र छूट गया जान पड़ता है।

पंक्तिमें 'एतेन स्थापिता' वाक्यके आगे 'करी' और रिक्त स्थानकी जगह पर 'दीक्षा क्षायिकं च वशं करी' पाठ है, जिससे वह कारिका पूर्ण हो जाती है।

पृष्ठ २५२ की पंक्ति २२ में कारिका ३० के 'पक्षस्य नापि दोषो' पदके आगे 'यं कश्चित्सत्यं प्रसिद्धता' पाठ और है जिससे इस कारिका अधूरापन दूर हो जाता है।

पृष्ठ १६१ को पंक्ति १ की कारिका नं० ६१ वेंका तृतीयचरण है 'संबंधि परिणामत्वे'। इस चरणके जोडनेसे यह कारिका पूर्ण हो जाती है।

पृष्ठ २७६ कारिका नं० १०२ के द्वितीय चरणमें 'स्तत्र सूचिताः' के स्थान पर 'स्वत्र सूचिताः' पाठ पाया जाता हैं जो ठीक मालूम होता है और उससे अर्थ विषयक संगति भी ठीक बैठ जाती है।

पृष्ट २७७ की पंक्ति ४ कारिका १ का चतुर्थचरण है— 'ध्यासितो द्विविधो यथा' पंक्ति ७ में 'समर्थों' के बाद रिक्त स्थानीय पाठ 'स च शाश्वतः' है। पंक्ति ८ में 'विश्रुतः' के बाद 'सकलाभ्यासादृश्यमानः' पाठ रिक्त स्थानीय है। पंक्ति १३ का उत्तरार्ध इस प्रकार है :—'शेषं प्रश्नवशाच्चैवं कथं तैरिति मन्यते' और पंक्ति १६ में वा' आदिका स्थानीय पाठ है—'चापि समुदाय मुदाहृतः'।

पृष्ठ ३०५ की पंक्ति ४ के 'समा न कार्यासौ प्रतिषेधः ……विद्धिः' के स्थान पर लिखित प्रतिमें—'समानकार्योसौ प्रतिषेधः स्याद्वादिभिः' पाठ उपलब्ध होता है। पंक्ति ११ के 'नास्तीति' वाक्यके आगे 'तत्रैव' पाठ रिक्त स्थानीय है। पंक्ति १३ में 'प्र… वनस्य' के स्थान पर लिखित प्रतिमें 'प्राप्त वनस्य' पाठ पाया जाता है। और पंक्ति १७ में 'ना' के आगे 'उपपद्यते' क्रियासे पूर्व— 'थोपत्तिरतएव' वाक्य मुद्रित प्रतिके रिक्तस्थानकी पूर्ति करता है।

पृष्ठ ३६० की अन्तिम पंक्तिके अन्तिम पद 'उक्तप्रायं' के आगे और पृ० ३६१ की प्रथम पंक्तिके प्रथम पद 'जायते' के पहले अर्थात् दोनों पदोंके मध्यमें ˇ ऐसा चिन्ह देकर हासिये पर ४२ वीं सूत्र मय भाष्य तथा वार्तिकके निम्न प्रकार दिया है :—

'लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम ॥ ४२ ॥

ब्रह्मलोकनिवासिनां लौकान्तिकदेवानां समस्तानां सर्वेषामष्टौ सागरोपमस्थितिर्न्यभिचारवर्जिता ज्ञातव्या।

लौकान्तिक सुराणां च सर्वेषां सागराणि वै।
अष्टावपि विजानीयात्स्थितिरेषा प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

मेरी रायमें पूर्वापर सम्बन्धकी दृष्टिसे यह सूत्रादिके ४१ वें सूत्रके भाष्यकी समाप्तिके अनन्तर होना चाहिये और इसलिये इस मुद्रित प्रतिके पृ० ३६१ पर वार्तिक नं० १४ के बाद बनाना चाहिये। टूटका चिन्ह देते समय कुछ गलती हुई जान पडती है।

पृष्ठ ४२३ की पंक्ति १७ में 'शब्द' के आगेके रिक्तस्थानमें 'सहभावित्व' पाठ है।

पृष्ठ ४२४ की पंक्ति ७-८ में 'पर्या… गमं' के स्थान पर 'पर्यायागमं' पाठ है।

पृष्ठ ४४५ की पंक्ति २१ में ११ वीं कारिका जो पूर्वार्ध छूटा हुआ वह इस प्रकार है :—

'वैभाविकी क्रिया सा स्याद्विभवो येन विद्यते'।

पृष्ठ ४५३ की पंक्ति १० में 'सिद्धाः' पदके आगेके रिक्त स्थानका पाठ 'तदुभय' है।

पृष्ठ ४७३ की पंक्ति २१ में 'मदत्तमपि' पाठके पूर्वका रिक्तस्थानीय पाठ 'तथादत्त' है।

पृ० ५०७ पर ६ वें अध्यायके ४७ वें सूत्रका जो भाष्यादिक त्रुटित है वह सब इस प्रकार है :—

"आभ्यन्तरविरोधने सति च सेवनाप्रतिसेवनादोषविधानमित्यर्थः ततश्च संयमादिभिरनुयोगैः साध्याः व्याख्येयाः। संयमश्रुतं च प्रतिसेवना च तीर्थं च लिंगं च लेश्याश्चोपपादश्चस्थानानि च संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानानि तेषां विकल्पाः भेदाः संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पास्तेभ्यः ततः पुलाकादयेति …… पंचमहर्षयः संयमादिभिरष्टभिभेदैरन्योन्यभेदेन साध्याः व्यवस्थापनीयाः व्याख्यातव्याः इत्यर्थः।

तथाहि—

पुलाकोवकुशश्चैतत्कुशीलाः प्रतिसेवना।
छेदोपस्थापनाख्यान सामायिकमुभौस्थिरं ॥
चतुर्षु ते भवंत्येते कषायसकुशीलकाः।
निर्ग्रन्थस्नातकौ द्वौ स्तः तौ यथाख्यातसंयमे ॥

पुलाकवकुशकुशीलाः प्रतिसेवना सामायिकछेदोपस्थापनानामसंयमद्वये वर्तते, सामायिकछेदोपस्थापना परिहार-

विशुद्धिसूक्ष्मसांपरायनामसंयमतूर्यके कषायकुशीलाः भवंति। निर्ग्रन्थस्नातकौ च यथाख्यात संयमेस्तः । पुलाकबकुश प्रतिसेवनाकुशीलेषु उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वाणि श्रुतं कोर्थ-संख्येकेनाप्यक्षरेणाभिन्नानि साक्षराणि वै दशपूर्वाणि संत्येव तैरन्यूनानि तानि चेत् ते कषाय कुशीलाश्च निर्ग्रन्थाश्चेति साधवः तच्चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतं धारयंति सदा जघन्यतया पुलाकः आचारं वस्तुस्वरूपनिरूपकं श्रुतं धरति वकुश-कुशीलनिर्ग्रन्थाश्च प्रवचनमातृकास्वरूपनिरूपकं श्रुतं निकृष्टत्वेन धरंति । प्रवचनमातृका इति कोर्थः—

पंचसमितयस्तिस्रोगुप्तयश्चेतिमातरः ।
प्रवचनमातरोष्टौ कथ्यंते मुनिभिः परैः ॥

समितिगुप्तिप्रतिपादकमागमं जानातीत्यर्थः स्नातकानां केवलज्ञानमेव तेन तेषां श्रुतं नास्ति २ । पंचमहाव्रतलक्षण मूलगुणाष्टाविंशतिरात्रिभुक्तविरहितेषु चान्यतमबलात्परो परोधात्प्रतिसेवमानो पुलाको विराधको भवति रात्रिभोजन-विराधकः कथमितिचेदुच्यते श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात्। वकुशोद्विप्रकारश्चेदुपकरणशरीरभेदात्. तत्र नानाविधा ज्ञेया रूपकारणविन्मतास्ते संस्कारप्रतीकाराकांक्षया प्रतिभण्यते वपुरभ्यंगसंमर्द्दनक्षालनविलेपना इत्यादि संस्कारभागीशरीर-वकुशोस्ति वै एनयोरुभयोर्मध्ये कषायप्रतिसेवना द्वयोर्मूल-गुणांश्चैव विराधयति सर्वथा विराधयत्यन्यतमं उत्तरं गुण-संश्रितं । निर्ग्रन्थो ग्रन्थरहितो कुशीलो द्विविधः स्मृतः। अस्यैषा प्रतिसेवना यः कषायकुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातकश्च तेषां विराधनाकाचिन्न वर्तते ते अप्रतिसेवनाः ३ । सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु पंचप्रकारा अपि निर्ग्रन्थाः भवंति ४ । लिंगं द्विविधं द्रव्यभावभेदात् तत्र पंचप्रकाराऽपि निर्ग्रन्थाः द्रव्यलिंगिनो भवंति द्रव्यलिंगं तु भाज्यं व्याख्येयमित्यपि न किं कंचित्समासाद्ययसमर्थाः महर्षयः शीतकालादिके वाच्यं शब्दं तत्कंबलाभिधं कौशेयादिकमित्यत्र गृह्णन्ति। न च वेश्मनि क्षालयंति न सीव्यंति न प्रयत्नादिकं तथा परकालेन कुर्वंति हरंति परिहारकाः केचिच्छरीरमुत्पन्नदोषाः लज्जितकारणात तथा कुर्वन्ति व्याख्यानं भगवदाराधनोदितं प्रोक्तामहर्षिभिस्ते यस्सर्वेषामुपकारिणः । तथैव व्याख्यान-माराधना भगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यं उत्सर्गापवादयोरपवादोविधिर्बलीय इत्युत्सर्गेण यथोक्तमचे-लक्यं च प्रोक्तमास्ते तावदार्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षयाऽपवाद व्याख्यानेन दोषः कमुमेवाधारं गृहीत्वा जैनाभासाः केचित्सचेलत्वं मुनीनां स्थापयंति तन्मिथ्या साक्षान्मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगमितिवचनात्।

अपवादव्याख्यानमुपकरणकुशीलापेक्षया कर्तव्यं ५ । पीतपद्मशुक्लास्तिस्रो लेश्याः पुलाकस्य भवंति कृष्णो नीलश्च कपोतः पीतोपद्मश्च शुक्लगः लक्षणाः षडपि लेश्या वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्भवंत्येव कथितेयं महर्षिभिः । ननु कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रयं वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः कथं भवति संत्येव तयोरुपकरणाशक्तिसंभवादार्तध्यानं कादाचित्कं संभवति तत्संभवादादि लेश्यात्रयं संभवत्येवेति मतान्तरं परिग्रहसंस्काराकांक्षा स्वयमेवोत्तरगुणविराधनाया-मार्त्तसंभवादार्त्ताविनाभावि च लेश्याषट्कं पुलाकस्यार्त्त-कारणाभावान्न षट्लेश्याः किंतूत्तरात्रिका एव । कपोततेजः पद्मशुक्ललेश्याचतुष्टयं कषायकुशीलस्येदं ज्ञातव्यं दातव्यं दानीयमिति यावत् कषायकुशीलस्य या कापोतलेश्या दीयते सापि पूर्वोक्तन्यायेन वेदितव्याः तस्याः संज्वलनमात्रान्तरं कषायसद्भावात् परिग्रहः शक्तिमात्रसद्भावात्सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रंथस्नातकयोश्च निःकेवलाशुक्लैव लेश्यावेदितव्या अयो-गिकेवलिनां तु लेश्या नास्ति ६ । उत्कृष्टस्थितिषूत्कृष्टतया पुलाकस्य सहस्रारदेवेष्वष्टादशसागरोपमजीवितेषूपपादो भवति । द्वाविंशति सागरोपमस्थितिषूपपादो आरणाच्युत स्वर्गयो भवति सर्वार्थसिद्धौ तु कषायकुशीलनिर्ग्रंथयोस्त्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु देवेषूपपादो भवति जघन्योपपादो विशेषाणामपि सौधर्म्मकल्पे द्वे सागरोपमे स्थितिषु देवेषु वेदितव्या स्नातकस्य परमनिर्वृतत्वादुपपादः ॥ ७ ॥

स्थानान्यसंख्येयानि संयमस्थानानि तानि तु कषाय-कारणानि भवंति कषायतमत्वेन भिद्यंते इति कषायकारणानि तत्र सर्वनिकृष्टानि लब्धिस्थानानीति कोर्थः संयमस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोर्भवंति तौ च समकालमसंख्येयानि संयमस्थानानि व्रजतः ततस्तदनंतरं कषायकुशीलेन सह गच्छन्नपि पुलाको विच्छद्य निवर्तत इत्यर्थः । ततः कषाय कुशीलएकाकी वाऽसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छंति तद-नंतर कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः संयमस्थानान्य-संख्येयानि युगपत्सह गच्छंति प्रादुर्भवंतीत्यर्थः तत्पश्चाद्वकुशो निवर्तते व्युच्छिद्यत इत्यर्थः ततोपि प्रतिसेवनाकुशीलाः

संयमस्थानान्यसंख्येयानि प्रजित्वाव्युच्छिद्यते तदुपरि एकं संयमस्थानं स्नातको व्रजित्वा परमनिर्वाणं लभते स्नातकस्य संयमलब्धि भवतीति सिद्धं ।

शास्त्रोक्ताः शरसंज्ञकाः ऋषिवराश्चारित्रसंसाधकाः
भव्यांभोज विकाशने दिनकरास्ते च पुलाकादयः ।
रत्नत्रयादिषु तत्पराः सुरनताः ज्ञानाब्धिसंभाविता-
स्ते मे भूरि दुरन्तदुर्गहरणे क्षिप्रोत्तमः क्षेमगः ।।१।।"

पृष्ठ ४०८ पर दसवें अध्यायके प्रथमसूत्रकी जो उत्थानिका दी है उसके स्थानपर उक्त लिखित प्रतिमें निम्न उत्थानिका है :—

"अथेदानीं मोक्षस्वरूप प्रतिपादयितुकामो भगवान्पर्यालोचयति मोक्षस्तावत्केवलज्ञानप्राप्तिपूर्वको भवति । तस्य केवलस्योत्पत्तिकारणम् किमिदमेवेति निर्द्धार्य्यसूत्रमिदमाहुः"—

इसी पृष्ठपर प्रथमसूत्रका जो भाष्यादिक त्रुटित है वह इस प्रकार है—

"मोहस्य क्षयो विध्वंसः मोहक्षयः तस्मात् आवरण शब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते तेन ज्ञानावरणं च दर्शनावरणं च ज्ञानदर्शनावरणे तौ चअंतरायश्च ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयस्तेषां ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयस्तस्मात् चकारादायुस्त्रिकनामत्रयोदशक्षयाच्च केवलम् केवलज्ञानमुत्पद्यते त्रिषष्टिप्रकृतिक्षयात् केवलज्ञानंभवतीत्यर्थः अष्टाविंशतिप्रकृतयो मोहस्य पंचज्ञानावरणस्य नवदर्शनावरणस्य पंच अंतरायस्य मनुष्यायुर्वर्ज्यमायुस्त्रयं साधारणात्पंचेन्द्रियरहितचतुर्गतिषु नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी स्थावरसूक्ष्मतिर्यग्गति तिर्य्यंच गत्यानुपूर्वी उद्योतलक्षणास्त्रयोदशनामकर्मणः प्रकृतयश्चेति त्रिषष्टिः ।

नतु मोहं च ज्ञानं च दर्शनावरणं तथा ।
अंतराय क्षयात्प्राप्ति केवलस्य नृणां भवेत् । १ ॥
वाक्यभेदःकर्म्मणां च क्षयाक्षपरिभाषितः ।
प्रतिपादन मुक्तिप्यानुक्रमस्तत्रकोप्यसौ । २ ॥
पूर्वं मेवास्ति जीवस्य विज्ञेयः कर्मणां क्षयः ।
कर्म्मक्षयविना भव्यः नो याति परमां गतिं ॥ ३ ॥

भव्यः प्राणी सम्यग्दृष्टिर्जीवः परिणामविशुद्ध्यावर्द्धमानः असंयतसम्यग्दृष्टि देशसंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतगुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थाने अनंतानुबंधिकषाय चतुष्टय दर्शनमोहत्रितय क्षयो भवति ततः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा प्रमत्तगुणस्थाने अथाऽप्रमत्तकारणमंगीकृत्य अपूर्वकरणाभिमुखो भवति । अथाप्रमत्तकरणमपूर्वकरणं च वा निवृत्ति रहितं यस्मिन्ननिवृत्तिश्च कथ्यते परिणामविशेषात्त्रिसोयं समुपवर्णितः । कीदृशास्तेभवंत्येवा निवृत्तिकरणांतगः । विशिष्टपरिणामेति वाच्यं शब्दमनुक्रमं । एकस्मिन्समये न्यस्यैकैकस्य समय य तत् ॥ एकदालोदमानाश्च जीवस्य परिणामिकाः एकस्मिन्समये ह्यवलोकमानावच्छिन्नाः जीवस्य परिणामः संति तत्राप्रमत्तादिगुणस्थाने पूर्वपूर्वं समये प्रवृत्ताः यादृशाः परिणामास्तादृशा एव । अथानंतरमुत्तरसमयेष्वासंमंतात्प्रवृत्ताविशिष्टचारित्ररूपाः परिणामाः अथावृत्तकरणवाच्याः भवंति । अपूर्वकरण प्रयोगेण पूर्वकरणाऽपूर्वकरण क्षपकगुणस्थान नानाभूत्वाऽभिनवशुभाभिसंधिर्नधर्मशुक्लध्यानाभिप्रायेण कृषीकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभागः सन् संवर्द्धित पुण्यकर्मानुभवः सन् अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकगुणस्थानमधिरोहति तत्राप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषायाष्टकं नष्टं विधाय नपुंसकवेदविनाशं कृत्वा स्त्रीवेदं समूलकाषं कषित्वा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं नोकषाय षट्कं पुंवेदं च क्षपयित्वा क्रोधसंज्वने च क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने मानसंज्वलनं मायासंज्वलने मायासंज्वलनं लोभसंज्वलने लोभसंज्वलनं क्रमेण बादरकिट्टिविभागेन विनाशमानयति बादरकिट्टिरितिकोर्थः उपायद्वारेण फलं भुक्त्वा निर्ज्जीर्यमान मुद्धृतशेषमुपहतशक्तिकं कर्म्मकिट्टिरित्युच्यते आज्यकिट्टवत् सा किट्टि द्विधा भवति बादरकिट्टि सूक्ष्मकिट्टभेदादिति किट्टिशब्दस्यार्थे वेदितव्यः तत्पश्चात् लोभसंज्वलनं कृषीकृत्यसूक्ष्मसांपराय क्षपकोभूत्वा निःशेषं मोहनीयं निर्मूल्य क्षीणकषायगुणस्थानं स्फोटितमोहनीयभारः समधिरोहति तस्य गुणस्थानोपांत्यसमयेरयसमयात्प्रथमसमये द्विचरमसमये निद्राप्रचले द्वे प्रकृतीक्षपयित्वा अंत्यसमये पंचज्ञानावरणानि चत्वारिदर्शनावरणानि पंचांतरायान् क्षपयति । तदनंतरं केवलज्ञान केवलदर्शनस्वभावं केवलं संप्राप्याचिंत्यविभूतिमाहात्म्यं प्राप्नोति ॥ ६ ॥"

इसी पृष्ठपर दूसरे सूत्रकी जो उत्थानिका है उसके स्थानपर लिखित प्रतिमें निम्न उत्थानिका पाई जाती है—

"अथ केवलज्ञानोत्पत्तिप्रवितर्क्येदानीं पूर्वोदितनिर्जरानिदाननां सन्निधाने मोक्षकारणं मोक्षस्वरूपं च व्याचष्टे ।"

इसी पृष्ठपर दूसरे सूत्रका जो भाष्यादित्रुटित है वह सब इस प्रकार है :—

"बंधस्य हेतवो मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाय योगास्तेषामभावो नूतनकर्म्मणामप्रवेशः बंधहेत्वभावः पूर्वोपार्जितकर्म्मणामेकदेशक्षयो निर्जरा बंधहेत्वभावश्चनिर्जरा च बंधहेत्वभावनिर्जरे ताभ्यां बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां द्वाभ्यां कारणाभ्यां कृत्वा कृत्स्नानां विश्वेषां कर्म्मणां विशिष्टमन्यजनासाधारणं प्रकृष्टमेकदेशकर्म्मक्षयनामा निर्जरा या तु उत्कृष्टमात्यंतिकं मोक्षणं मोक्षः कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्ष उच्यते एतेन पूर्वपदेन मोक्षस्यहेतुरुक्तः द्वितीयपदेन मोक्षस्वरूपं प्रतिपादित निमित्तं वेदितव्यं।

ननु च सत्सु तत्त्वेषु षट्तत्त्वस्वरूपं प्रोक्तं निर्जराख्यं प्रोक्तं सत्वं सर्वकर्मक्षरणान्मोक्षः सर्वकर्मक्षयो मोक्षः यदि प्रोक्तस्ततस्तथा सामर्थ्यादेव ज्ञायते कर्म्मणां निर्जरा मता यदैकदेशेन कर्म्मक्षयो निर्जरा तेन पृथक् सूत्रं निर्जरालक्षण प्रतिपादकं न विहितमिति वेदितव्यं। कर्म्मक्षयो द्विप्रकारो भवति प्रयत्नाप्रयत्नसाध्यविकल्पात् तत्राप्रमत्त संयमे अप्रयत्नः साध्यः चरमोत्तमशरीरस्य नारक तिर्यग्देवायुषां भवति प्रयत्नसाध्यस्तु कर्म्मक्षयः कथ्यते चतुर्थपंचमषष्ठसप्तमेषु गुणस्थानेषु मध्येऽन्यतमगुणस्थाने नंतानुबंधिकषाय चतुष्टयस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्रयस्य नवभागाः क्रियते, तत्र प्रथमभागे निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धि नरकगति तिर्यग्गति एकेंद्रियजाति द्वींद्रियजाति त्रींद्रियजाति चतुरिंद्रियजाति नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी तिर्य्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी आतपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणाभिधानकानां षोडशानां कर्म्मप्रकृतीनां प्रक्षयो भवति द्वितीयभागमध्ये कषायाष्टकं नष्टं विधीयते। तृतीयभागे नपुंसकवेदच्छेदः क्रियते, चतुर्थभागे स्त्रीवेद विनाशः सृज्यते। पंचमेभागे नोकषाय षट्कं प्रध्वंस्यते, षष्ठेभागे पुंवेदाभावो रच्यते, सप्तमेभागे संज्वलनक्रोध विध्वंसः कल्पते, अष्टमेभागे संज्वलनमान विनाशः प्रणीयते, नवमेभागे संज्वलनमाया क्षयः क्रियते। लोभसंज्वलनं दशमगुणस्थान प्रांते विनाशं गच्छति, निद्रा प्रचले द्वादशगुणस्थानस्योपांत्य समये विनश्यते। पचज्ञानावरण चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणचतुष्टय पंचांतरायाणां तदंत्य समये क्षयो भवति। सयोगिकेवलिनः कस्याश्चिदपि प्रकृतेः क्षयो नास्ति चतुर्दशमगुणस्थानस्य द्विचरमसमये द्वासप्तति प्रकृतीनां क्षयोभवति। कास्ताः प्रकृतयः अन्यतरवेदनीयम् देवगति औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्म्मणशरीर पंचकं ७ तद्बंधनं पंचकम् १२ तत्संघातपंचकं १७ तत्संहनन षट्कं २३ औदारिक वैक्रियकाहारकशरीरांगोपांगत्रयं २६ संस्थान षट्कं ३२ प्रशस्ताप्रशस्तवर्णपंचकं ३७ सुरभिदुरभिगंधद्वयं ३९ प्रशस्ताप्रशस्तरसपंचकं ४४ स्पर्शाष्टकं ५२ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यं ५३ अगुरुलघुत्व ५४ उपघात ५६ उच्छ्वास ५७ प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति द्वयं ५९ पर्याप्ति ६० प्रत्येक शरीर ६१ स्थिरत्वमस्थिरत्वं ६३ शुभत्वमशुभत्वं ६५ दुर्भगत्वं ६६ सुस्वरत्वं ६७ आदेयमनादेयं च ६९ अयशस्कीर्ति ७० निर्माण ७१ नीचगोत्र ७२ मिति। अयोगीकेवली चरमसमये त्रयोदशप्रकृत्यः क्षयमुपयाति, कास्ताः अन्यतरवेदनीयम् १ मनुष्यायु २ मनुष्यगति ३ पंचेन्द्रियजाति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ त्रसत्वं ६ बादरत्वं ७ पर्याप्तकत्वं ८ शुभगत्वं ९ आदेयत्वं १० यशस्कीर्ति ११ तीर्थंकरत्वं १२ उच्चैर्गोत्रं चेति एतासां द्रव्यकर्म्मप्रकृतीनां क्षयान्मोक्षो वसीयते इति निरुक्तिः पुनस्तथा च।

इसके बाद 'तस्य कर्मणः' इत्यादि पंक्ति वही है जो मुद्रित प्रतिमें पाई जाती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि मुद्रित प्रतिमें और भी बहुतसी अशुद्धियाँ हैं और कितने ही ऐसे त्रुटित अंश भी हैं जिनकी सूचनाका कोई चिन्ह भी नहीं दिया गया है। उदाहरणके तौर पर पृष्ठ ३६० की ३४ वीं पंक्तिका पिछला अंश इस प्रकार है—

"जन्मादि विकाराभावे क्रमानुपलब्धेरात्मनोऽसत्व प्रसक्तेरित्युक्त प्रायं।"

जब कि लिखित प्रतिमें वह निम्न प्रकारसे पाया जाता है और ठीक जान पड़ता है :—

"जन्मादिविकाराभावे क्रमाक्रमविरोधात्। ततः सत्वमभ्युपगच्छतापुरुषे जन्मादिविकारोऽभ्युपगन्तव्योऽन्यथा व्याप्यव्यापकानुपलब्धेरात्मनोऽसत्वप्रसक्तेरित्युक्तप्रायं॥"

ऐसी हालतमें श्लोकवार्तिकका पूरा ही संशोधन होकर उसको फिरसे प्रकाशित करनेकी ज़रूरत है। यदि कोई सज्जन इस महान् ग्रन्थको मूलरूपमें प्रकाशित कराना चाहेंगे तो वीरसेवामन्दिर इसके संशोधनादिकार्यको अपने हाथमें ले सकेगा, ऐसी दृढ आशा है।

ता० १२-६-४४ वीरसेवामन्दिर, सरसावा

बहनोंके प्रति

(श्री चन्दगीराम विद्यार्थी)

बहनों ! उठो ! बहुत सो चुकीं । अब सोनेका समय नहीं है । जरा नजर उठाकर देखिए, पुरुषोंने आपको अबला तथा अयोग्य प्रसिद्ध करके, आपके सब अधिकार छीन लिए हैं । आपको कायर तथा बुजदिल समझ लिया है ।

बहनो ! जरा विदेशोंकी ओर देखिए । वहांकी बहनोंने कितनी उन्नति कर डाली है तथा दिनप्रतिदिन उन्नतिकी ओर अग्रसर होरही हैं । वे किसीके आधीन नहीं हैं । प्रत्येक कार्यमें अपने पतिदेवके साथ २ चल कर उनका हाथ बटाती है । किसी २ बात में तो पति देवसे भी दो क़दम आगे बढ़ गई हैं ।

पुरुष-समाजने आपको सब ओरसे दबाया । यहां तक कि आपका शिक्षाका द्वार भी बन्द कर दिया । तो फिर रहा क्या ? आपकी अवनतिका कारण— शिक्षाका अभाव ही तो है ।

शिक्षासे मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि आप बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियां लेकर बेकार घरमें बैठ जायें और किसी कामको हाथ तक न लगावें; रातदिन अपने शरीरको सजानेमें ही लगी रहें, वरन् सुशिक्षित होकर अपने प्रत्येक कार्यको बुद्धिमत्तासे भली प्रकार करें । शिक्षाके साथ साथ शिल्पकला भी सीखें, ताकि अपने घरमें बेकार न बैठकर, अपने निर्वाह योग्य आय पैदा करके अपने पतिदेवसे किसी भी दशामें पीछे न रहें । अपने पैरोंपर खुद खड़े होनेका पाठ पढ़ें । आजकल बहुत सी अशिक्षित बहनोंका जीवन, पूर्णरूपसे अपने पतिदेवोंपर ही निर्भर है । यदि पतिदेव कमाकर न लावें तो उनको भोजन देने वाला फिर संसारमें कोई नहीं । वे स्वयं कुछ नहीं कर सकतीं । पतिदेव ही उनका सब कुछ है । माना; कि एक भारतीय महिलाकी दृष्टिमें उनके पतिदेव ही उस के सब कुछ हैं—उसके ईश्वर हैं, उसके प्रीतम हैं । परन्तु इसका उल्टा अर्थ लगाकर, बेकार घरमें बैठकर पतिदेवके लिए भार-स्वरूप होना तो उचित तथा शोभनीय नहीं है ।

आप उठिए । सुशिक्षा प्राप्तकर, प्रत्येक काममें अपने पतिदेवका हाथ बटाइए—अपने अर्धाङ्गिनी पदको जीवनमें उतार कर दिखाइए ।

प्राचीन समयमें आपका कितना आदर तथा मान था । यह हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थोंसे भली प्रकार प्रकट है । मनु महाराज अपनी मनुस्मृतिमें लिखते हैं

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफला क्रियाः ॥

जिस कुलमें, जातिमें, देशमें स्त्रियां पूजी जाती हैं—उनका आदर तथा सम्मान किया जाता है, वहां देवता वास करते हैं और जहां स्त्रियोंकी पूजा नहीं होती—उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है, उनका निरादर तथा अपमान किया जाता है, वहां सम्पूर्ण कर्म निरर्थक हो जाते हैं—प्रत्येक कार्य असफल हो जाता है ।

बहनों, यह है भी सत्य । इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान ही नहीं है । आज पुरुषोंने आपको केवल भोग-विलासकी ही सामग्री समझ रक्खा है । उनके संकुचित हृदयमें यह विचार घर किए हुए है कि "स्त्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं । वे सर्वथा हमारे आधीन हैं । उनका यही कर्त्तव्य तथा धर्म है, कि दासीके रूपमें रह कर, सर्वदा अपने आपको पुरुष-समाजसे निर्बल तथा हीन समझती रहें ।" परन्तु बहनों, उनका यह विचार सर्वथा असत्य तथा निरादरणीय है । उन्हें नहीं मालूम कि देशकी उन्नति आप पर ही निर्भर है । यदि आप शिक्षिता होंगी, तो आप की संतान भी योग्य होगी । संतान-शास्त्र स्पष्ट शब्दोंमें कह रहा है कि माता—वीर, धर्मात्मा, महात्मा, जैसी

चाहे, संतान उत्पन्न कर सकती हैं। अपनी संतानको जैसी चाहे, बना सकती हैं। आपकी इस छोटी सी सन्तानको ही एक दिन बड़ा बनकर, देशका नेता बनना है—उसे उन्नति-सोपानपर पहुँचना है। कौम को उठानेवाली, आप ही तो हैं। एक विद्वान अंग्रेज के शब्दोंमें देखिए— Mothers are builders of nation. कौमको बनानेवाली माताएँ ही होती हैं।

संतानशास्त्रके शब्दोंमें, दुनियाको वीर, महात्मा, धर्मात्माओंकी प्रदान करनेवाली आप ही तो हैं। दुनियाके रंग मंचको समय समयपर भाँति भाँतिकी क्रान्तिके देनेवाली आप ही, तो हैं !! सृष्टिके आदि प्रवर्तक व्यवस्थाके स्थापक, भगवान् ऋषभदेवके मातृत्वका सौभाग्य आप हीको तो प्राप्त है। महाराज भरत जैसे गृह-वैरागी और बाहुबलि जैसे वीरयोद्धाओं ने आपको ही श्रवणप्रिय, 'माता' के मधुर नामसे पुकारा था। अहिंसाका सन्देश सुनाकर विश्वशान्ति स्थापित करनेवाले, संसारके महान क्रान्तिकारक, भगवान् महावीरको आपने ही एक दिन अपनी पवित्र गोदमें खिलाया था। सीता, अंजना तथा राजुल आदि सतियोंके गौरवका श्रेय आपको ही है। अनेक वीर ललनाओं तथा असंख्य मरमिटनेवाले वीर योद्धाओं ने आपकी पवित्र कोखसे जन्म लिया है। राष्ट्रीय जगतमें हलचल मचाने वाले महात्मा गांधी तथा पं० जवाहरलाल नेहरू आदि देशभक्तोंको आपने ही भारतवर्षको दिया है।

फिर भी, आप अपनेको अबला तथा अयोग्य समझें ? है न यह आपके ऊपर पुरुषोंके अनवरत दबावका परिचय !! अपनी कमजोरीके भावोंका सक्रिय रूप !!!

नहीं बहनों, आप कमजोर तथा अयोग्य नहीं हैं। आप पुरुषोंसे किसी भी दशामें कम नहीं हैं, वरन किसी किसी दृष्टिसे तो स्त्रियाँ पुरुषों से भी कहीं अधिक आदरणीय तथा पूजनीय हैं। संसारमें सबसे प्रिय तथा पूजनीय 'मातृपद' आपको प्राप्त है।

आइए, स्वाभिमानका गीत गाइए ! अपनेपनको याद करिए !! बहिनों, अपनी मूर्खताका शिकार होकर, चाँदी-सोनेके भूषणोंके लिए आग्रह न करके, अपनी श्रम-सञ्चिता लक्ष्मीको बचाइए—चाँदी सोनेकी जंजीरोंमें जकड़कर अपने शरीरके स्वास्थ्यको धक्का न पहुँचाइए। यदि आपमें गुण हैं—आप सुशिक्षिता हैं, सुशीला हैं तो आपके पास अमूल्य भूषण हैं।

किसी अंग्रेज विद्वान्का कथन है कि Beauty requires no Ornaments— सुन्दरताको भूषणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। आपको फ़ैशन की दासी न बन कर, सादगीको अपनाना चाहिए। शुद्ध स्वदेशी वस्त्रोंका उपयोग करना चाहिए। सब, शुद्ध स्वदेशी वस्तुओंका ही उपयोग कर अपने देशका पैसा बचाना चाहिए—अपने देशकी आज़ादीकी लड़ाईमें हाथ बटाना चाहिए। नित्य-प्रति नियमसे चर्खा कातना चाहिए। सरलताको अपने जीवनका ध्येय बना कर, उसको पूर्ण रूपसे जीवनमें उतार कर दिखाना चाहिए। उच्च, पवित्र तथा कोमल विचारों को अपने हृदयमें स्थान देना चाहिए। विलासिताका बहिष्कार कर डालना चाहिए। क्यों कि विलासिता ही अनेक दोषोंकी जननी है। इसका त्याग करके, सादगीको अपनानेसे मनुष्य अनेक दोषोंसे बच सकता है। अपने जीवनके ध्येय, एक अंग्रेज विद्वान् के कथनानुसार बनाइए—'Simple living and high thinking' अर्थात 'सादा जीवन और उच्च विचार'—सादा जीवन बनाओ और उच्च विचार रक्खो।

आपको अपने गृह-कार्योंसे घृणा नहीं करनी चाहिए। अपने प्रत्येक कार्यको स्वयं करना चाहिए। अपने घरके कामोंको स्वयं अपने हाथोंसे करनेको निर्धनता तथा गरीबी और नौकरोंसे कराकर आप बेकार बैठ जानेको अमीरीका चिन्ह समझना, एक महान् भूल और मूर्खता नहीं तो और क्या है ? मैं तो कहता हूँ कि कोई चाहे निर्धन हो, चाहे धनवान, घरका काम बहनोंको—घरकी पूर्ण अधिकारिणी-गृहणी को ही करना चाहिए। इसमें निरादर तथा गरीबीकी कोई बात नहीं है। यदि उपरोक्त संकुचित विचारको अपनाकर आप अपने गृह-कार्योंसे घृणा करेंगी, तो

आप रोग-ग्रस्त होकर बीमार पड़ जायेंगी—अपने अमूल्य स्वास्थ्यको खो बैठेंगी। क्यों कि आपकी तो यह व्यायाम है। विदेशी स्त्रियोंकी भाँति, लज्जाका परित्याग कर—अपने गृह-कार्य्यको छोड़ कर, बाहर मैदानोंमें जाकर व्यायामकी आड़ लेकर, टैनिस, फुटबाल और हाकी आदि खेल खेलना, हमारी भारतीय सभ्यताके विरुद्ध है। हाँ, आपको खुली हवाका सेवन अवश्य नित्य नियमसे करना चाहिए। बाहर कुँए इत्यादिसे पानी भर कर लाना आदि इस विषय में बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

अमीर घरोंकी बहनें विशेषकर रोगिन तथा कमजोर मिलती हैं। इसका कारण यही है कि वे गृह-कार्य्योंको स्वयं न करके नौकरोंसे कराती हैं। आप हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहनेमें ही अमीरी समझती हैं। परिणाम यह होता है कि व्यायामके अभावमें शरीरमें तनिक भी हलन-चलनका कष्ट न उठानेसे वे बीमार तथा रोगिन बन जाती हैं। हजारों रुपया, वैद्य डाक्टरोंकी भेंट करने पर भी स्वास्थ्य रूपी महान् सुखसे वञ्चित रहती हैं। ऐसी अमीरीसे वह गरीबी हजार दर्जे श्रेष्ठ है, जहाँ कठोर परिश्रम द्वारा कमाई हुई दो रोटियाँ, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट शरीरको सन्तोषसे खानेको मिल जायें। सादा भोजन, नियत समय पर मिलता रहे !! अमीर घरानेका मूल्यवान् स्वादिष्ट कहा जाने आला—मिर्च मसालेदार चटपटा भोजन, स्वास्थ्यके लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। जीवनके तत्व ब्रह्मचर्यका नाशक सर्व रोगोंका घर होता है। एक विद्वान् अंग्रेजके शब्दोंमें देखिए—Simplest and cheapest food, is the best food अर्थात् सबसे सादा कम मूल्य वाला भोजन ही सबसे अच्छा भोजन होता है। अमीरी कहे जाने वाले भोजनमें स्वास्थ्य और धन दोनोंका सत्यानाश है। अधिक मूल्यवान—अप्राकृतिक, गरिष्ठ भोजन स्वास्थ्यके लिए अत्यन्त हानिकर होता है।

अतएव बहनों! आपको भोजन-शास्त्रका भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए—उसके आवश्यकीय प्रयोगके प्रति पूर्ण ध्यान रहना चाहिए। देशके स्वास्थ्यका उत्तरदायित्व भी तो आपके ही सिर पर है।

दुनियाकी बहुत सी जिम्मेदारियाँ आपके ही ऊपर हैं। परन्तु फिर भी आप उन्हें न समझें, और इसलिये दुनिया आपकी कृतज्ञताको स्वीकार न करे—आपको अयोग्य तथा अबला समझकर घृणाकी दृष्टिसे देखे, तो है न यह आपकी घोर निद्राका कटु परिणाम !! और लगातार अपमान सहन करनेसे अपनेपनका भी विस्मरण !!!

बहनों! अब निद्राको छोड़िये अपनेको पहचानिए ! अपने गौरवकी झलक जरा दुनियाको दिखाइए !! क्रान्तिकी आग लगाकर संसारको बताइए कि हममें स्वाभिमान है, वीरता है, धीरता है, बल है, साहस है और है संसारको हिला देनेकी शक्ति !

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भी, जब कि भगवान् महावीरने, भारतमाताकी पवित्र गोदमें जन्म लेकर, उसका मस्तक संसारमें ऊंचा किया, आप अपनेपनको खो चुकी थीं। अपने गौरवको भूल चुकी थीं। अपमानके प्रति मस्तक झुकाए, मौन धारणका ही अभ्यास आपको पड़ चुका था। पतिदेव कहलाने वाला—पुरुष आपको अर्धाङ्गिनी तथा धर्मपत्नी न समझ कर प्रायः पैरोंकी जूती ही समझता था—अयोग्य तथा अबला जानकर आपके सब अधिकार छीन लिए गये थे। स्वतंत्ररूपसे आपको कोई धार्मिक क्रिया करने तथा उसमें सम्मिलित होनेका अधिकार न था। आत्म-कल्याण करने वाले धार्मिक ग्रन्थोंको भी आप न पढ़ सकती थीं। रातदिन आपको झिड़कना तथा अपमानित करना ही पुरुष अपना कर्तव्य एवं धर्म समझता था। उन्हीं दिनों, संसारके महान् क्रान्तिकारक भगवान् महावीरने जन्म लेकर अपनी 'वीर' वाणीसे, आपको घोर निद्रासे जाग्रत किया। वीर की दिव्य वाणीने आपके हृदयमें अपनेपनका प्रकाश किया। अनुदार-हृदय, पुरुषको आपकी शक्तिका परिचय कराया। पुरुषने उदारताको अपनाकर आपकी शक्तिका स्वागत किया—आपकी महान् शक्तिका अनुभव किया—उसे स्वीकार किया।

आपने भी नतमस्त होकर, भक्तिसे ओत-प्रोत—

अपनी हृदयवाटिकासे श्रद्धाके सुमन उस महान् आत्मा—'वीर' के चरणोंमें कृतज्ञता-भाव प्रकट करनेके लिए अर्पण किए और उन्हें संसारके कल्याणकर्ता-गुरुके रूपमें देखा। अपने गौरवका अनुभव किया—आपकी शक्ति विश्वासका सहारा लिया।

अतएव बहनों! अब उठो। स्वाभिमान तथा स्वावलंबनका पाठ पढ़ो। विलासिता-रूपी विषका परित्याग करके, वीरता-रसका पान करो। पुरुषोंके आपके प्रति जमे हुए अयोग्य तथा अबलापनके भावोंको कुचल दो। देशमें क्रान्तिका बिगुल बजा कर, अपनी शक्तिका परिचय संसारको दीजिए। 'अबला' के नामको शब्दकोषमेंसे निकालकर 'सबला' 'वीराङ्गना' को स्थान दीजिए। आइए, फिर निर्भय होकर गाइए ———— सगर्व!

कौन, हमको है 'अबला' बताता?
भूल कर, सिंहको स्यार कहता!!
अपनी हुंकारसे जग कँपा दें!
भूमि आकाशको भी मिला दें!!
ऐसे जीवनसे मरना भला है;
जिसमें अपमानका विष मिला है!!
वीर-बाने से तनको सजा दें!
गान-वीरोंका सबको सुना दें!!
नाम जिन्दोंमें अबतो लिखायें।
अपनी शक्तीसे जगको हिलायें!!
आग दुनियामें ऐसी लगा दें!
जल उठें पापकी सब मुगा दें!!
अपनी शक्तीको हमने पहचाना।
छोड़ें, दुनियाका अपमान सहना!!
कहने सुननेको करके दिखा दें!
अपनी शक्तीका दर्शन करा दें!!
सब उठें पहन केसरिया बाना।
फिर न कमजोर हमको बताना!!
सारी दुनियाको मरना सिखा दें!
नाम 'अबला'को'सबला' बता दें!!

बहिनों! इसे गानेके पश्चात्, लोगोंको देखनेको मिलेगा—आपकी वीरताके साक्षात दर्शन! समयके सुनहरे परिवर्तनकी झलक!! भारतीयताका यथार्थ स्वरूप और मिलेगा—भारतमाताको बन्दे मातरम्का सक्रिय रूप!!!

तृष्णा

(चौसीराम जैन 'चन्द्र')

एक हाथ में सुलभ सुराही एक हाथ में है प्याला,
पी-पीकर मदहोश बने नर आशा तृष्णाकी हाला!
धधक उठी मनके वनमें जब अभिलाषाओंकी ज्वाला;
भूल गये मानव सुख-साधन लगा शान्तिपर भी ताला।
कितनेकर विचार निशि-वासर हा! सपनोंके संसार बनाये,
कितना पतन किया तन-मनका क्षणिक भावनापर हरषाये।
बीती निश जब हुआ प्रात इन सपनोंका कुछ भेद न जाना,
रहा हाथमें केवल मेरे बार बार सिर धुन पछताना।
छोड़ भाग्य पुरुषार्थ अरे मैंने सपनोंकी राह निकारी,
आशा ही आशाने मुझको हाय बनाया एक भिखारी।
खोकर सारे मानवपनको तीव्र लालसामें ललचाया,
सोच रहा हूँ तृष्णे! तुमने कितना मुझको पतित बनाया,
तेरे गहन जालमें पड़कर मैंने अपनेको भरमाया।

[एक परीक्षण]

"स्वाधीनताकी दिव्य ज्योति!"

(ले०—एस०सी०वीरन)

जैनी साहित्यिकोंमें श्री 'भगवत्' जीका स्थान ऊँचा है इसमें शक नहीं। कलाकार, कवि, और नाटककार, ये तीनों भी वे हैं। जैनीकथाओंको मधुर-सरस-सरल भाषाका वस्त्र पहनाकर नवीनतम रूपसे समाजके सामने रखने वाले अनन्यतम कलाकार वे हैं।

किन्तु काव्यकी दृष्टिसे वे उतने सफल नहीं हुए। सितंबरके अनेकान्तकी किरणमें 'स्वाधीनताकी दिव्यज्योति' प्रकाशित देख मनको हर्ष हुआ। 'मराठी' साहित्यिकोंने अपनी नई पुरानी वीर-रस-प्रधान कथाओंको जिसरूपसे सामने रखा है या हिंदी कवियोंने भी चारुरूपसे समाजके सामने रखा है उतने चारुरूपसे जैनी हिन्दी या मराठी साहित्यिकोंने नहीं रखा है। इतना होते हुए भी श्रीभगवत जीका स्थान कुछ कम नहीं है।

तो भी खंडकाव्य यह काव्योंमेंका अतिउत्कृष्ट विभाग है, सभी भाषाओंमें खंडकाव्यकी रचना हुई है। किन्तु खंड-काव्यका साहित्यिक तंत्र अभी तक तयार नहीं हुआ है। तो भी संसारके जो भी अनोखे 'खण्ड-काव्य' हैं, उनके बराबरीके खंडकाव्य जैनी हिन्दी साहित्यमें उपलब्ध नहीं हैं। कोईसी भी कथा भागका निरूपण, यह खंड-काव्य नहीं माना जाता है। 'कहता हूँ कहानी मैं सुनंदाके नंदकी'' यह कवि—वाणी इस बातकी सूचक है, मानो कोई कथा कह रहे हैं, न कि खंडकाव्य!

इस खंडकाव्यकी रचनामें अनेक दोष पाये जाते हैं। कहानी लिखनेमें जिस प्रकार व्यक्तिदर्शन भी किया जाता है उसी प्रकार वातावरण (Atmosphere) की ज़रूरत रहती है। किन्तु उसकी शुरुआत इस ढंगकी नहीं होती। आपने देखा है कि रास्तेपरके दवाई बेचनेवाले तालियां बजानेको कहते हैं उसी प्रकार कवि भी ''जय बोलियेगा एक बार प्रेमसे प्रियवर'' कहकर अपनी कहानीको बताना शुरू करता है।

खण्डकाव्यमें एक ही भावना विशेषतर प्रतीत होनी चाहिये। इस काव्यके नामसे ही उस काव्यमें स्वाधीनता की लहरें हृदयपर हिलोरती रहनी चाहियें। किन्तु कवि स्वयं स्वाधीनताके प्राणप्यारे बाहुबलीजीको भी 'बिचारे' बना देता है! ''वे अपने अपने राज्यमें संतुष्ट बिचारे!'' इस वाक्यसे उनकी संतुष्टता अयोग्य थी। वे विचारी थे।

इसके अलावा खंडकाव्यको बताते समय 'जिस प्रकार आचार्य ग्रंथ करते समय मंगलाचरण करते हैं, उसी प्रकार कविने भ० महावीरजीको नमन किया है। किन्तु उस भक्तिके रसमें वे भ० महावीरको अवतार मान बैठे हैं। यद्यपि कवि नहीं चाहता है कि वह अवतार बन जाय। 'जिस वीरके अवतारने पाखण्ड नशाया।' उसी प्रकार चरणोंमें सिर झुकाते झुकाते काव्यके आनंदमें उन्होंने कदमों में ही सर झुका लिया।

इसी प्रकार इस खण्डकाव्यकी भाषा कुछ अरुचिकर है। क्योंकि वह संस्कृत-निष्ठ नहीं है। इतनी सरल कथा पढ़ने के लिए एक हिंदी छात्रको 'हिंदुस्तानी कोष'की आवश्यकता प्रतीत होती है। उपयोजित उर्दू शब्द भी इतने योग्य नहीं मालूम होते हैं।

खण्डकाव्य लिखनेको बैठा हुआ लेखक यत्र तत्र अपने लेखनको कमजोर बताता है। उससे भी काव्यका सौंदर्य न बढ़ते हुए हीन ही प्रतीत होता है। मयूर-सिंहासनाधिष्ठित सरस्वती देवीको चढ़ाने यदि कवि यह खण्ड-काव्य-पुष्प ले जा रहा हो तो वह बड़ा ही भाग्यवान है। फूल नहीं फूल की पत्ती ले जाने वाला मेंडक श्रेणिक-जितना ही श्रेष्ठ था। कवि कहता है—'नहीं लेखनीमें बल', कवियोंका इस प्रकार अपना बयान काव्योंमें करना ठीक नहीं जँचता।

इसी प्रकार इस खण्ड काव्यमें शब्दोंके उपयोग ठीक तरहसे नहीं हुए हैं। 'दम-भरके लिए सबको मुसीबत-सी दिखाई' इसमें 'दम-भरके लिए' यह शब्द प्रयोग अनुपयुक्त

प्रतीत होता है। उसके स्थान पर 'छिन-भरके-लिए' यह वाक्य-प्रयोग ठीक जँचता था।

खण्डकाव्यमें दिया हुआ दूतका भाव असभ्यताका दिग्दर्शक है। चक्रीशके भाईको एक साधारण दूत इतने कड़े शब्दोंमें उपदेशित नहीं कर सकता। 'भृत्य सिधारा' भृत्य यह शब्द केवल परिचर्या-सेवा आदि करने वालोंके लिए उपयुक्त किया जाता है ऐसा मेरा खयाल है। भरतके मनमें यह कल्पना भी नहीं होगी कि यह मैं अपने भाईको आज्ञा कर रहा हूं। फिर भी 'आज्ञाका कुठारा' यह वाक्य-प्रयोग उपयोजित है। भृत्यके गुणोंका वर्णन कविने ही किस प्रकार किया है यह देखने सरीखा है—

"वाचाल था, विद्वान, चतुर था प्रचण्ड था।

इस चरणके दो विशेष्य बड़े ही चमत्कृति-जन्य हैं। भृत्य प्रचंड था याने क्या? और वाचाल यह शब्द-प्रयोग उपहास-जनक है। उसी-प्रकार उसका भाषण भी शिष्ट-सम्मत नहीं हो सकता है—

"जा रखते हो कुछ दम तो फिर मैदानमें आवो"

याने भरतके पहले उनके भृत्य ही बाहुबलीको अपने बाहुबलसे डराने लगे। यदि इस प्रकारकी बात भरतके मुँहसे निकली हो तो भी इतने पुण्यवान्-महात्माके मुखसे कविका इतने शब्द कहनेको लगाना यह सब महिमा कविराजके सामर्थ्यकी है!

किन्तु वही बाहुबलीके मुखसे निकले हुवे शब्द कितने गहरे हैं—

"सेवककी नहीं जैसी कि स्वामीकी जिन्दगी।
क्या चीज़ है दुनियामें गुलामोंकी जिन्दगी!

इसी प्रकार एक वाक्य-प्रकार मुझे बड़ा ही रोचक लगा—'चेहरा बिगड़ गया' सचमुचमें बाहुलीजीके इन शब्दोंसे उसके मुँहमें पानी न रहा होगा।

इतने स्वाधीन विचारसे बोलने वाला बाहुबली आगे चल कर कहता है "मैं तुच्छ-सा राजा हूँ" "बलिदानका बल है, अगर लड़नेका दम नहीं"।

किन्तु इस खंडकाव्यसे बहुबलीजीकी ही श्रेष्ठता प्रतीत होती है, भरतजीकी नहीं।

बाहुबलीजीकी भूमिका कविजीने अच्छे रूपमें दर्शायी है। लड़ाई जीतने पर भी उनका वैराग्य-भाव-समुचित रूपसे प्रतीत होता है किन्तु "वे चाहते कि जल्द बँधे भाई की अरथी" यह वाक्य बाहुबलीके मुँहमें न डालते तो उतनी ही उनकी श्रेष्ठता थी। एक साधारण व्यक्ति अपमानित शत्रुको जितना नहीं कहेगा उतना कविजीने भरतजी को सहज ही सुनादिया है। तो भी कविजीने प्रस्तावना और उपसंहार बहुत अच्छा किया है। किन्तु पीछेसे उसको और भी २०-२५ चरणोंकी पुच्छ जोड देनेसे आदमी पुच्छ होने पर जिस प्रकार दिखता था उसी प्रकार दीखने लगा है।

इस खण्डकाव्यमें अनेक दोष हैं तो भी वह उनके नये उपक्रमके मानसे देखा जाय तो बहुत ही अच्छा जँचेगा। ऐतिहासिक खण्डकाव्योंमें पूरी तरहसे ऐतिहासिकता रहना आवश्यक है। भ० बाहुबलीजीके दिलकी बात सब जगत में कैसे फैल गई? इसका उत्तर काव्यसे प्रतीत नहीं होता है।

कविजीने अपनी पूरी शक्तिको लगा कर यह काव्य लिखा है। केवल उसमें दोष-दृष्टिसे मैंने निरीक्षण या परीक्षण नहीं किया। जैनी कवि इस खंड-काव्यकी ओर बढ़ें। घर घरमें जिन खंड-काव्योंको भक्तामर-सरीखा स्थान मिलेगा ऐसे खंड-काव्य जैनी साहित्यमें पैदा होवें, यही केवल एक भावना है।

श्री मुख्तारजी साहबकी 'मेरी भावना' जैन समाजके हृदयमें घर करके रह गई, उसी प्रकार यह खंडकाव्य भी जनताका हृदय जरूर जरूर आकर्षित करेगा। कविजीने पहला कदम रक्खा है। इस लिए उन्हें मैं—मैं ही क्या समाज धन्य कहेगा।

श्री भगवतजीकी रचनाएँ समाज पसंद करता आरहा है। कुछ वर्षके उपरान्त जैनी साहित्यिकोंमें ही नहीं वरन् हिंदी साहित्यिकोंमें 'भगवत्जी' अच्छा स्थान प्राप्त करेंगे।

यह खंडकाव्य पढ़ते समय आगे आगे रुचि तो बढ़ती ही जाती है। किन्तु खंडकाव्य हृदयोंको हिला नहीं सकता या पढ़नेके बाद दिलपर कुछ भी असर नहीं करता है। अनेकतर खंडकाव्य हृदयकी पकड़ जमा लेते हैं। अनेक वर्षों बाद भी कुछ चरण हृदय-सागरपर हिलोरें मारते हैं।

कथानक गूँथते समय कवियोंको चाहिये कि कथानक-सूत्र आगे बढ़ता रहे। कभी कभी कविजी ही अपने हृदयका

हाल सुनाने बैठते हैं जिसको पाठकगण नहीं चाहता है। जिस समय कथानककी महत्ता-श्रेष्ठता कवि अपने मुँहसे कहता है तब समझना कि उसमेंके पात्रोंको अपनी कृतिसे अपनी श्रेष्ठता दिग्दर्शित करनी नहीं आती है।

काव्यकी रचना ऐसी चाहिये कि उसमें हरएक लाईन अपनी योग्यता (Value) कायम रखे। 'मेरी-भावना'का हरएक शब्द अपनी निजकी योग्यता (selevalue) रखता है।

खंडकाव्योंमें केवल वीररस 'स्टंट' न होने देनेका कवि को जरूर प्रयत्न करना चाहिये। इस लिए कवियोंको चाहिये कि वे Running Literature न लिखते हुए Self-value रखने वाली रचनाएँ करें।

तंत्रके अनध्ययन-पूर्वक ही कविको लिखनेका प्रयत्न करनेसे उसकी कृति नाप-तौलमें कम होती है। हर समय यही सोचना चाहिये कि अपनी कृति अनोखी रहे।

जैनी कवियोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे अभ्यास-पूर्वक लिखनेका प्रयत्न करें। कहानियोंको बतलाना यह खण्डकाव्य नहीं हो सकता है मेरी तो यह हार्दिक भावना है कि इस प्रकारकी कथाएँ पद्यरूपमें परिणत करके उनकी एक किताब छपे और वह बालकोंके लिए ही खास कर होवे। बालकोंके कोमल हृदय पर गीत ही प्रभाव कर सकते हैं— गद्यात्मक रचना नहीं। इस लिए ऐसी पद्य-कथाओंकी बालवाङ्मयमें कमी है। उसकी पूर्ति होवे वह सुदिन!

चाँदनीके चार दिन

(श्री 'भगवत्' जैन)

पाप बुरा है! नहीं करना चाहिए, इसलिए कि उससे दुःख मिलता है! पर, हम करते हैं, और तुर्रा यह कि बेहिचक! अब सवाल उठता है, कि दुःख पाते हुए भी हम उसे करते क्यों हैं? भयभीत क्यों नहीं होते उससे?···हाँ! दुखसे घबराते हैं, भयभीत होते हैं। लेकिन मूल चीजतो यह नहीं है न? यह दूसरी बात है!

और इस सबका उत्तर सम्भवतः यही हो सकता है, कि हमको नतीजा—पापका—हाथोंहाथ नहीं मिलता! और यों, हम परिणामकी ओरसे बेफिक्र रहते हैं! पाप करते चले जाते हैं—निडर होकर यानी पाप आज करते हैं, दुःख बादको मिलता है। तब तक पापकी बातको भूल जाते हैं। दुखको लेकर रोते, चीखते-चिल्लाते हैं! जैसे अकारण ही किसीने लाद दिया हो! और बादकी—आगेकी—बात पर विश्वास भी कितनोंको है? 'हाल तो मौजमें गुज़र जानी चाहिए, आगेकी आगे देखी जायगी!'—अधिकांश जगत इसी सिद्धान्तको मानने वाला है! और विश्वास कीजिए—इसमें वे आस्तिक भी शामिल हैं जो पुनर्जन्मके अस्तित्वसे ना-मुकर नहीं हैं!

इतना सब कहनेसे, मेरा ख़याल है, दुख भोगते भी हम पाप क्यों करते हैं? इसका समाधान हो जाता है! लेकिन पाप बुरा है! बुरा है वह हर हालतमें हर पहलूसे बुरा है—इस ध्रुव-सत्यमें अन्तर नहीं पड़ता! फिर परिणाम चाहे आज भोगना पड़े, चाहे कल! भोगना तो पड़ता ही है न? और तब यह मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरती, कि दुखके कारणकी ओरसे आँख मींच कर, दुःखकी कठोरताके लिए रोया-चिल्लाया जाय! परिणामके लिए यह नहीं कहा जा सकता, कि कब सामने आए! नियमकी पाबन्दी उस पर लागू नहीं है! एक अर्सेके लिए टलना नामुमकिन नहीं है, उसी तरह हाथोंहाथ भी नतीजा नजरके आगे आ खड़ा हो सकता है!····

नीचेके वर्णनमें ऐसी ही घटना आप देख पाएँगे,

और तब स्वयं इस बातकी गहराईको देख सकेंगे कि पाप बुरा है। नहीं करना चाहिए इसलिए कि उससे दुःख मिलता है!

अयोध्याके महाराज सुरत बुरे आदमी नहीं थे! बुरे होते हैं वे, जो सत्ताके मदमें अन्याय पर उतर आते हैं! और आप मानिए, यह बुराई उनमें नहीं थी—जरा भी नहीं!

हाँ, एक अवाँछनीयता उनमें जरूर थी। और वह यह कि वे इस वासना-पूर्ण सिद्धान्त पर यक़ीन करने लगे थे कि राज्य-वैभव पानेका मक़सद यह है, कि जी-भर कर विषय-भोगोंका स्वाद चखा जाय!

अपने जीवनको इसी साँचेमें ढाल भी लिया था उन्होंने! रात-दिन अंतः पुरमें पड़े रहते! राज-काज का सारा बोझ योग्य मंत्रियोंके कन्धों पर था। जो उचित उत्तमताके साथ वहन कर रहे थे! महाराजकी अनुपस्थिति किसीको अखर नहीं रही थी! यों, गाहे-ब-गाहे महाराजके चरण भी दर्बारमें आते ही!....

पाँच-सौ देवियों जैसी रमणियोंके सौन्दर्यमें डूबे रहने पर भी, महाराज सुरतके अन्तःकरणकी ज्योति बिल्कुल बुझी नहीं थी, कुछ प्रकाश शेष था! जहाँ विलासताको सामने रख कर जीवन-पथ तय करना उन्होंने विचारा, वहाँ मानवोचित कर्तव्यको भूलनेकी भी ग़लती उन्होंने नहीं की!

अवश्य ही वह अपनी प्यारी प्रजाके समयको राग-रंगमें व्यतीत करते हैं! वह राजसी प्रतिभा, शक्ति और ओज, जिसे जन-हितके कार्योंमें लगना चाहिए था नहीं लग रहा! लेकिन वह इन चीजोंका दुरुपयोग भी नहीं करते! वरन् जब समय मिलता है, विवेककी बारी आती है, कामाग्नि—विषय—लालसा—ठन्डी पड़ती है तो विचारते हैं—'मैं मनुष्य हूँ! मुझे मानव जीवनसे लाभ लेना ही चाहिए! मैं राजा हूँ! मुझे प्रजाके सुख-दुखमें हाथ बंटाना चाहिए, उनकी परवरिश करनी चाहिए!'

और वे दोनों ओरसे बेफिक्र नहीं हैं! उनकी घोषणा है—'अगर साधु-महात्मा इधर आवें, तो मुझे फौरन सूचित किया जाय! अगर प्रजाकी कोई ख़ास बात हो, और उसका सम्बन्ध मुझसे हो, तो उस सम्वादको भी न रोका जाय। शेष कार्योंके लिए मेरे पास आनेकी कोई आवश्यकता नहीं!'

अन्तःपुर-वासी महाराज सुरतकी आज्ञाओंका सतर्कता पूर्वक पालन हो रहा है! राज्य-व्यवस्था चल रही है—न्यायके पथ पर! और महाराज सुरत प्रधान महिषी—महारानी—सतीके कमलाननके भ्रमर बने हुए मधुपान करते नहीं अघा रहे!

तृप्तिका सबब भी तो हो? वासनासे 'तृप्ति' का नाता ही कब रहा है? फिर हम-तुम साधन-समृद्धि-हीन जब एक स्त्रीके सद्भाव पर दुनियाको भूले जा रहे हैं, तो महाराज सुरतकी तो बात क्या? स्वयं—राजा! दस-बीस-पचास नहीं, पूरी पांच सौ रानियाँ! और वह भी ऐसी-वैसी नहीं, कोई अप्सरा-सी, तो कोई चाँदनी-सी लुभावक! महारानीके सौन्दर्यके बारेमें लिखना तो व्यर्थ-विस्तार करना होगा। सिर्फ इतना कहना काफ़ी है, कि वह बहुत सुन्दर थी! महाराज जो उसी पर अधिक आसक्त थे, यह किसी गुण पर ही! और शायद वह गुण उसकी खूब-सूरती ही थी!

महारानी सती अपने सौन्दर्यसे अनभिज्ञ नहीं थी। उसे अभिमान था, कि वह सारे अन्तःपुरमें ही नहीं, शायद सारे संसार-भरमें पहले-नम्बरकी सुन्दरी है! महाराज सुरत-सा व्यक्ति जो उस पर अपने आपको चढ़ा चुका था!

पुरुषकी पराजयसे नारीमें अहंकार-मय प्रमोद प्रकट न हो, यह सम्भव नहीं! शायद—महारानी सतीका विश्वास था, कि सौन्दर्यसे अधिक नारीकी प्रतिष्ठाका दूसरा कोई हेतु नहीं हो सकता! अगर उस के पास रूप है, तो किसी दूसरे गुण या आकर्षणकी क़तई उसे जरूरत नहीं! भले ही उसका अन्तरंग स्वस्थ न हो! पुरुषकी सहानुभूति उसे मिलेगी ही!

...रूप नारीका जीवन है। कुरूपता उसकी मृत्यु!

× × ×

बहुत दिनों बाद!

एक दिन :—

ताजे खिले हुए फूलोंकी उत्तेजक, आनन्द-दायक सुगन्धिसे परिप्लावित विलास-भूमिमें. अनेक सुंदरियोंके मधु-कटाक्ष और हृदय-बेधक वचनोंके बीच, महाराज सुरत अपनी प्राणेश्वरी महारानी सतीके चंद्राकार माथे पर तिलक खींच रहे थे! सौन्दर्यकी निरख-परख, देख-भाल, सहवास और इन्द्रिय-सुखों को तृप्त करनेकी कोशिश—यही सब तो महाराजका कार्यक्रम हैं! वे प्रेम-पुजारी हैं, व्यसन ही उनका यह है!····

वसन्तकी मस्तानी वायु!

कोयलकी कूक!!

समृद्धिशालीका केलि-भवन!!!

तरुण-सौन्दर्यका प्राधान्य!

स्वर्गमें इससे अधिक कुछ होगा, पता नहीं!····

महाराजकी सारी शक्तियाँ उस माथेके छोटेसे तिलकमें केन्द्रित हो रहीं थीं! वह जो रूपको और भी लुभावक बनानेकी सामर्थ्य रखता था! कभी बनाते, कभी पोंछ डालते—यह जो चाह रहे थे, कि अधिक-से-अधिक सुन्दर, कलापूर्ण,-आकर्षक बन जाय!

····कि सहसा प्रहरीने प्रवेश कर निवेदन किया—'दो बन्दनीय दिगम्बर-साधुओंका राज-महलमें शुभागमन हुआ है, महाराज!,

महाराजकी चैतन्यता लौटी। मुँहसे निकला—'धन्यभाग्य!'

प्रहरी चला गया।

महाराज उठ खड़े हुए। कुछ कहने ही जा रहे थे, कि सतीने टोका—'क्या तुम्हारे बिना वे भूखे लौट जाँयगे? ऐसा कोई बड़ा काम तो यह है नहीं, जो ····तुम्हें जाना ही चाहिए!'

'बड़ी भोली हो तुम!'—महाराजने बहस करना व्यर्थ-सा समझते हुए, कहा—'साधु-सेवामें रस लेनेसे बड़ा काम दुनियामें मनुष्यके लिए और क्या हो सकता है—रानी? सोचो तो जरा?'

महाराजकी सरल-मुलायम वाणीने सतीके भीतर और भी तीखापन ला दिया, बोली—'ऐसी बातें सोचने-विचारनेके लिए आप कुछ कम थोड़े ही हैं!'

महाराज मौन!

नारी-प्रेमको उनके ठेस लग रही थी—'उपास्य' जो क्रुद्ध-सा, मलिन-सा होता जा रहा था! उपासक प्रसन्न कैसे रहता?

कुछ सोचा! और वे चलने-चलनेको हुए।······ कि सतीने फिर एक बाण छोड़ा—'जा तो रहे हैं, जाना जो ज़रूरी है। पर, लौटिएगा—कब? क्या प्रतीक्षा कीजाय?'

'चित्त मत बिगाड़ो—सुन्दरी! मैं अभी, तुम्हारा तिलक सूखने भी न पाएगा, कि आया जाता हूँ! मुझे जो तुम्हारे चन्द्राननको देखे बिना चैन नहीं मिलता!'

—और बग़ैर प्रत्युत्तर सुने, महाराज विलास-भूमिसे बाहर हो गए। हो सकता है, उन्होंने क्रुद्ध उत्तर सुननेसे अपनेको बचाया हो, उत्तर जो बद-जायका-कड़ुवा-मिलेगा, इसका अन्दाज़ा लगा चुके थे—पहले ही!···

'यह निरादर?—यह करारा अपमान?'—सतीके खौलते-हृदयसे प्रकट हुआ!

पर, महाराज वहाँ नहीं थे। वे रानियाँ, सेविकाएँ वहाँ शेष थीं, जिनका मूल-विषयसे कुछ सम्बन्ध नहीं था!

मुँह कुचली सर्पिणीकी तरह सती क्रोधमें भर रही थी! सुनने वाला कोई है या नहीं, इसकी उसे पर्वाह नहीं थी। दर्वाजेकी ओर आरक्त आँखोंसे घूरती हुई वह आप-ही-आप बड़बड़ाने लगी—तृण-हीन धरती पर पड़े अंगारकी तरह निस्सार—

'नहीं जानती थी, कि तुम्हारा प्रेम, प्रेम नहीं; दम्भ है, धोखा है! मुझे विश्वास था कि तुम मुझे प्रेमकी देवी मान कर, मेरा आदर करते हो, पूजते हो; प्यार करते हो! लेकिन आज जान सकी, कि तुमने मुझे खिलौना समझा, सिर्फ खिलौना! वह खिलौना जिसका एक समझदारकी नज़रोंमें कोई बड़ा मूल्य नहीं। जब चाहा, जब तक चाहा मनोरञ्जन किया, नहीं तो दूर! ·'

क्रोधसे थर-थर—विवेकसे बिछुड़ी, पापसे पूर्ण सुन्दरी-सती कुछ क्षण मौन रही! मस्तिष्कमें जो

गदर हो रहा था, व्यवस्था जो वहाँकी भंग हो रही थी ! मस्तिष्कके मूक-भाषणोंको मुखरित करना जो कण्ठको कठिन हो रहा था !

पर उसके विद्रोही मनने उसे न रहने दिया। वह फिर आग उगलने लगी भीतरकी—फुँकारते हुए बोली—'हुःह ! हत्याकी जड़ तो ये हैं नंगे-साधु ! जिन्हें शहरभरमें मरनेके लिए दूसरी कोई जगह ही नहीं मिली ! बे हया, बेशर्म कहींके ! अपनी आनन्द की दुनिया नहीं बसा सके तो चले दूसरेकी आबाद-दुनियामें आग लगाने ! न जानें कबकी मुझसे दुश्मनी निकालने चले आए—कम्बख्त ! मेरा स्थान था जहाँ, वह हृदय अपनी ओर खींच ले गए—उफ़ !'

कुटिल प्रतिहिंसाके ज़हरने सतीकी बची-खुची मानवताका अन्त कर दिया। विश्व-हितकारी, वंदनीय, पतित-पावन गुरुओंके लिए अनेक कुवचन कह कर क्रोध शान्त करने लगी वह !....

ओफ़् !!!

दाँत पीसते, आरक्त-नेत्रोंसे खून बरसाती हुई सती बोली, वाणीमें प्रकम्पन था, पापकी ज्वाला थी; और थी विवेक-हीनता—'गनीमत समझो, कि तुम मेरी आँखोंसे ओझल हो—दुष्टो ! नहीं तो बोटी-बोटी नुँचवा कर कुत्तोंको डलवा देती !'

पापकी पराकाष्ठा !

सत्साधु-निन्दाका घोर-पाप !!

× × ×

पात्र-दानका पावन-पुण्य प्राप्त कर जब महाराज सुरत वापस लौटे, तब मुँह उनका अन्तरंगकी प्रसन्नतासे उद्दीप्त हो रहा था ! वह अपनेको भाग्य-शाली समझ रहे थे । अपरिग्रहत्वके आदर्श दिगम्बर-साधुओंको आहार-दान करना जो साधारण चीज़ नहीं होती, न ?

सोचते आरहे थे—'धन्य है आजका दिन ! साधु-सेवाका अवसर मिल सका !....कितने पुण्य-कर्मसे मिलता है ऐसी महान् आत्माओंका दर्शन ?'

पर, जैसे ही विलास-भूमिमें उन्होंने पैर रखा, कि वह अकचका कर दो-डग पीछे हट गए !

कैसा वीभत्स-दृश्य ???

अनायास उनकी वाणी फूट पड़ी—'यह क्या हुआ....?'

महाराज समीप आए !

जो कुछ देखनेको उन्हें मिला, वह एक दम विचित्र था !—कौतुकमय इन्द्रजाल ! अप्सराके रूपको लज्जित करने वाला महारानी सतीका सारा सौन्दर्य कुरूप बन गया है ! कोढ़ फूट निकला है । खून, पीव की दुर्गन्धि छूट रही है ! सुगन्धिके कारण भ्रमरोंसे घिरी रहनेवाली नारी मक्खियां उड़ा रही है, वेदनासे कराह रही है—उफ़ ! चाँदनी-सा शरीर, अमावस्या की रात-सा काला, डरावना लग रहा है !

महाराज स्तब्ध !

चकित, अचम्भित !!

बोले—'अरे, यह हुआ क्या तुम्हें ? इतना परिवर्तन, इतनी जल्दी ?'

रूप नारीका जीवन है, कुरूपता उसकी मृत्यु !.... और आप मानिए कि सतीकी मृत्यु हो चुकी थी ! रूप जो उसका नष्ट हो चुका था। वह जो अब कुरूपा थी, बदसूरत थी, रुग्णा थी; कोढ़िन थी !

वह सिसक-सिसक कर रोने लगी !

महाराजने फिर पूछा—'रोती हो ? बताओ न ? बात क्या है—प्रिये !'

'कुछ नहीं है—महाराज ! मुझे अपने किएका फल मिल गया है !'—दुखित, दीन और पीड़ित स्वर में सतीने कहा।

'किया क्या था तुमने ? क्या मेरे पीछे कुछ घटना घटी ?'

'हाँ ! क्रोधकी गुलामीमें मैंने वह पाप कर डाला, जो दुनियाके बड़े पापोंमेंसे एक था। और उसी तीव्र पापका तत्काल-हाथों-हाथ यह नतीजा मुझे मिला है—प्राणेश्वर !'

'कौन बड़ा पाप?'—महाराजने उत्सुक हो पूछा !

'साधु-निन्दा !'

'ऐं, साधु-निन्दाकी तुमने ?'

रानी चुप !

महाराजका मन साधु-दर्शनकी ओर फिर गया। आप ही आप कहने लगे—'दमदत्त और धर्मरुचि महा-मुनि! एक महीनेकी उपवास-अवधिको पूर्ण कर आहार—नीरस आहारके लिए बनसे नगरमें पधारे थे। सौभाग्य कि मुझे पुण्य-प्राप्त करनेका मौका मिल गया! क्या वह तुम्हारी निन्दाके पात्र थे? जिनका कि जीवन ही आत्म-हित और परोपकारमय होता है! बोलो तो? सुनूँ तो, कहना क्या चाहती हो इस बारेमें?'

पर, सतीके पास कहनेको शेष था क्या? वह बेचारी पापिनी स्वयं ही नरक-यातना भोग रही थी। रूपका अभिमान, वह दर्प, राजसी तेज कुछ बाकी नहीं था! वह मर जो चुकी थी—अपनी मान्यताके मुताबिक!

वह निरुत्तर!

महाराज कुछ देर क्रुद्ध-दृष्टिसे देखते रहे उसकी ओर! फिर सहसा उनकी मुखाकृति सौम्य होती गई!

सोचने लगे—'पाप! बड़ा शक्तिशाली है—तू! एक क्षणमें कुछका कुछ कर सकता है, ऐं? और दुनियामें रह कर तुझसे बचना भी तो आसान नहीं है हर किसीको? तब ··?'

पाप के भयने महाराजके मुँहको म्लान कर दिया! वे चिन्तितसे, दुःखितसे उस विलास-भवनमें चहल कदमी करने लगे जहाँ कुछ समय पहले आनन्दकी हँसी हँस रहे थे!

क्षण-भंगुर-विश्व !!!

अनायास महाराजके मुँहसे निकला—'पाप बुरा है!'

सतीने घावोंकी पीड़ासे कराहते हुए कहा—'नहीं करना चाहिए इस लिए कि उससे दुःख मिलता है!'

× × ×

रात-दिन अन्तःपुरमें पड़े रहने वाले महाराज सुरत जब विलास-भवनसे निकले, तो राज-पाटकी ओर आँख उठा कर देखा तक नहीं, चल दिए आत्म-हितकी कामना लेकर वैराग्यके पथ पर!

सब देखते रह गए—अवाक्!

अभ्यर्थना

नाथ, फिर सच्चा रूप दिखाओ!

दुराचार बढ़ता जाता है,
सदाचार सड़ता जाता है!
पुण्य कहीं भी नजर न आता;
पाप नित्य दृढ़ता पाता है!
भार बढ़ रहा मातृ-भूमिपर, आकर इसे मिटाओ!

दम्भ-द्वेषका नहीं ठिकाना,
स्नेह शील हो उठा पुराना।
परमारथ अब नज़र न आता,
स्वारथमय हो गया ज़माना!
न्याय विकल होता—रोता है—उसको धैर्य बँधाओ!

चारों ओर क्रान्तिकी ज्वाला,
विश्व-शान्तिका हुआ दिवाला।
सुधा—सोमरस नहीं यहाँ अब—
है केवल साकी औ' हाला!
जहाँ तहाँ मादक मधुशाला—पीओ और पिलाओ!

जगको हुई धर्मसे ग्लानि,
भूले हैं सब कथा पुरानी।
रक्त मसी है खड्ग लेखनी—
लिखी जारही क्रान्ति—कहानी!
भूल—भ्रान्तियाँ मिटा, शान्तिका आकर पाठ पढ़ाओ!

—[श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']—

ग़लती और ग़लतफ़हमी

—[सम्पादकीय]—

[यह लेख लिखे जानेके बाद व्यवस्थापक अनेकान्तके पास प्रकाशनार्थ जाकर 'इधर-उधर' होगया था—मथुरा तक पहुँच गया था। कोई तीन महीने तक खोजके बाद गत ता० २३ मईको प्राप्त हुआ है। इसीसे अब प्रकाशित किया जाता है]

अनेकान्तके गत विशेषाङ्क (कि० ५-६) में जहां छपाईकी बहुत-सी मोटी मोटी गलतियाँ हुई हैं वहाँ दूसरे प्रकारकी कुछ ऐसी ग़लतियाँ भी हुई हैं जो सुनने-समझने अथवा लिखनेकी गलतीसे सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरण के तौरपर पृष्ठ २२२ पर 'बड़े अच्छे हैं पण्डितजी' इस शीर्षकके नीचे एक बालिका-द्वारा भोजनसमयकी जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह कुछ अधूरा और सुनाये हुए श्लोकादि-विषयक अर्थकी कुछ गलती अथवा ग़लत-फ़हमीको लिये हुए है। भोली बालिका शारदाको तो दो एक चलतीसी बातें कहकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनी थी, उसे क्या मालूम कि जिस बातको उसने बूढ़ी अम्मासे सुना था उसका प्रतिवाद कितना महत्व रखता है और इस लिये उसे कितनी सावधानीसे ग्रहण तथा प्रकट करना चाहिये! लिखते समय उसके सामने न तो वह श्लोक था और न उसका मेरे द्वारा कियाहुआ अर्थ—दोनोंकी उड़ती-सी स्मृति जान पड़ती है, जिसे लेखमें अंकित किया गया है। और उससे सहारनपुरकी जैन-जनतामें एक प्रकारकी

आलू-चर्चा

चल पड़ी है। अतः यहाँपर इस विषयमें कुछ स्पष्टीकरण कर देना उचित जान पड़ता है, जिससे गलतफ़हमी दूर हो सके। कुमारी शारदाने जिस श्लोकको सुनानेकी बात कही है वह गोम्मटसारादि ग्रन्थोंकी टीकाओंमें पाई जानेवाली निम्न प्राचीन गाथा है :—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल-लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

इस गाथाको सुनाकर यह आशय बतलाया गया था कि जो सुखाया हुआ, अग्निमें पकाया हुआ, तपाया हुआ, खटाई-नमक मिलाया हुआ अथवा यंत्रसे छिन्न भिन्न किया हुआ वनस्पति द्रव्य है वह सब 'प्रासुक' (अचित्त) होता है। और फिर "प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः"—प्रासुकके खानेमें कोई पाप नहीं, यह कहकर बतलाया गया था कि तुम्हारी रसोईमें जो आलूका शाक तय्यार है वह यंत्रसे छिन्न-भिन्न करके, खटाई-नमक मिलाकर और अग्निमें पका कर तय्यार किया गया है न—कच्चा तो नहीं? तब उस के खानेमें क्या दोष?

अब मैं यहाँपर इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सचित्त-त्यागी पाँचवें दर्जे (प्रतिमा) के श्रावकके लिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्डश्रावकाचारके निम्न पद्यमें यह विधान दिया है कि वह कन्द-मूल-फल-फूलादिक कच्चे नहीं खाता, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि वह अग्निमें पके हुए अथवा अन्यप्रकार से प्रासुक हुए कन्द-मूलादिक खा सकता है, और साथ ही यह निष्कर्ष भी निकलता है कि पाँचवें दर्जेसे पहलेके चार दर्जों (प्रतिमाओं) वाले श्रावक कन्दमूलादिकको कच्चे अथवा अप्रासुक (सचित्त) रूपमें भी खा सकते हैं :—

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि।
नाऽऽमानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

आलूकी गणना कन्दोंमें होनेसे, ऊपरके आचार्यप्रवर-वाक्यपरसे यह साफ़ जाना जाता है कि जैनधर्ममें आलूके भक्ष्याऽभक्ष्य-विषयमें एकान्त नहीं किन्तु अनेकान्त है—प्रथम चार दर्जोंके श्रावकोंके लिये वह नियमित रूपसे त्याज्य न होनेके कारण कच्ची पक्की आदि सभी अवस्थाओंमें भक्ष्य है। इन्द्रिय संयमको लेकर स्वेच्छासे त्यागे जानेकी बात दूसरी है, उस दृष्टिसे अच्छेसे अच्छे पदार्थका खाना

छोड़ा जा सकता है। शेष ऊपरके सात दर्जों वाले श्रावकों के लिये वह कच्ची दशामें अभक्ष्य है किन्तु अग्निपक्व अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक होनेकी अवस्थामें अभक्ष्य नहीं है।

इसके सिवाय, 'मूलाचार' नामक अतिप्राचीन मान्य ग्रन्थ और उसकी आचारवृत्ति टीकामें, मुनियोंके लिये भक्ष्याभक्ष्यकी व्यवस्था बतलाते हुए जो दो गाथाएँ दी हैं वे टीकासहित इस प्रकार हैं :—

फल-कंद-मूल-बीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छंति ते धीरा।९-५९

टीका—फलानि कंदमूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवन्ति यानि अन्यदपि आमकं यत्किंचिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छंति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीरा इति। यदशनीयं तदाह—

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणि पडिच्छंति॥

टीका—यदवस्यबीजं निर्बीजं निवर्तिमं निर्गत-मध्य-सारं प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्ति। (९-६०)

इन दोनों गाथाओंमेंसे पहली गाथामें मुनिके लिये 'अभक्ष्य क्या है' और दूसरीमें 'भक्ष्य क्या है' इसका कुछ विधान किया है। पहली गाथामें लिखा है कि—'जो फल, कन्द, मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नहीं है और और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सब को अनशनीय (अभक्ष्य) समझ कर वे धीरमुनि भोजनके लिये ग्रहण नहीं करते हैं। दूसरी गाथामें यह बतलाया है कि—जो बीज रहित हैं, जिनका मध्यसार (जलभाग ?) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किये गये हैं ऐसे सब खानेके पदार्थों (वनस्पति द्रव्यों) को भक्ष्य समझकर मुनि लोग भिक्षामें ग्रहण करते हैं।

मूलाचारके इस संपूर्ण कथन परसे यह बिल्कुल स्पष्ट है और अनशनीय कन्द-मूलोंका 'अनग्निपक्व' विशेषण इस बातको साफ़ बतला रहा है कि जैनमुनि कच्चे कन्द-मूल नहीं खाते, परन्तु अग्निमें पकाकर शाक-भाजी आदिके रूप में प्रस्तुत किए कन्द-मूल वे जरूर खा सकते हैं। दूसरी गाथामें प्रासुक (अचित्त) किये हुए पदार्थोंको भी भोजनमें ग्रहण कर लेनेका उनके लिये विधान किया गया है। यद्यपि अग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कहीं अधिक बढ़ी हुई है। उसमें सुखाए, तपाए, खटाई-नमक मिलाए और यंत्रादिकसे छिन्न भिन्न किये हुए सचित्त वनस्पति-पदार्थ भी शामिल होते हैं, जैसा कि ऊपर दी हुई 'सुक्कं पक्कं तत्तं' इत्यादि प्राचीन गाथासे प्रकट है।

इस तरह जब त्रस-स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाके पूर्ण त्यागी महाव्रती मुनि भी अग्निपक्व अथवा अन्य-प्रकारसे प्रासुक आलू आदि कन्द-मूल खा सकते हैं तब अणुव्रती गृहस्थ श्रावक[1], जो स्थावरकायकी (जिसमें सब वनस्पति गर्भित है) हिंसाके तो त्यागी ही नहीं होते और त्रसकाय जीवोंकी हिंसा भी प्रायः संकल्पी ही छोड़ते हैं, कन्द-मूलादिकके सर्वथा त्यागी कैसे हो सकते हैं? इसे विचारशील पाठकोंको स्वयं समझ लेना चाहिये और इसलिये भोगोपभोगःपरिमाण-व्रतके कथनमें जहाँ अल्पफल-बहुविघातकी दृष्टिसे सामान्य शब्दोंमें ऐसे कन्द-मूलोंके त्यागका परामर्श दिया गया है जो अनन्तकाय हैं वहाँ भी अनग्निपक्व कच्चे तथा अप्रासुक कन्द-मूलोंके त्यागका ही परामर्श है—अग्निपक्व तथा अन्यप्रकारसे प्रासुक एवं अचित्त हुए कन्द-मूलों के त्यागका नहीं, ऐसा समझना चाहिये। आगमकी दृष्टि और नय-विवक्षाको साथमें न लेकर यों ही शब्दार्थ कर डालना भूल तथा गलतीसे खाली नहीं है। अग्निमें पके अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक हुए कन्द-मूल अनन्तकाय (अनन्तजीवोंके आवास) तो क्या, सचित्त—एक जीवसे युक्त—भी नहीं रहते। फिर उनके सेवन-सम्बन्धमें हिंसा, पाप, दोष तथा अभक्ष्य-भक्षण जैसी कल्पनाएँ कर डालना कहाँ तक न्याय-संगत है? इसे विवेकीजन स्वयं समझ सकते हैं।

जैनसमाजमें कन्द-मूलादिका त्याग बड़ा ही विलक्षण रूप धारण किये हुए है। हल्दी, सोंठ तथा दवाई आदिके रूपमें सूखे कन्द-मूल तो प्रायः सभी गृहस्थ खाते हैं। परन्तु अधिकांश श्रावक अग्निपक्व तथा अन्य प्रकारसे प्रासुक होते हुए भी गीले-हरे कन्दमूल नहीं खाते। ऐसे लोगोंका त्याग शास्त्र-विहित मुनियोंके त्यागसे भी बढ़ा चढ़ा है!! बहुतसे श्रावक सिद्धान्त तथा नीति पर ठीक

१ दसवीं प्रतिमा (दर्जे) तकके श्रावक 'गृहस्थ श्रावक' कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकोंके लिये 'गृहतो मुनिवनमित्वा' इत्यादि वाक्यों द्वारा घर छोड़नेके विधान हैं।

दृष्टि न रखते हुए स्वेच्छासे त्याग-ग्रहणका मार्ग अंगीकार करते हैं—अर्थात् कितने ही लोग मूली तो खाते हैं परन्तु उसका सजातीय पदार्थ शलजम नहीं खाते, अद्रक और शकरकन्द तो खाते हैं परन्तु आलू गाजर नहीं खाते अथवा आलूको तो 'शाकराज' कह कर खाते हैं परन्तु दूसरे कितने ही कन्दमूल नहीं खाते ! और अधिकांश श्रावक कन्द-मूल को अनन्तकाय समझकर ही उनका त्याग करते हैं परन्तु अनन्तकायका ठीक विवेक नहीं रखते—प्रायः रूढि रिवाज अथवा रूढियोंसे बना हुआ समाजका वातावरण ही उनका पथप्रदर्शन करता है। यह सब देख कर आजसे कोई २३ वर्ष पहले, २ अक्तूबर १९२० को अपने ही सम्पादकत्व में प्रकाशित होनेवाले 'जैनहितैषी'के संयुक्ताङ्क नं० १०-११ में, मैंने 'शास्त्रीय-चर्चा' नामसे एक लेखमाला प्रारम्भ की थी, जिसमें इस विषयपर दो लेख लिखे थे—(१) क्या मुनि कन्द-मूल खा सकते हैं ?, (२) क्या सभी कन्द-मूल अनन्तकाय होते हैं ? पहले लेखका अधिकांश विषय इस लेखमें आगया है। दूसरे लेखमें गोम्मटसार और मूलाचार जैसे प्रामाणिक ग्रंथोंके आधार पर यह सिद्ध किया गया था कि—

सभी "कन्द-मूल अनन्तकाय नहीं होते, न सर्वाङ्गरूपसे ही अनन्तकाय होते हैं और न अपनी सारी अवस्थाओंमें अनन्तकाय रहते हैं। बल्कि वे प्रत्येक (एक जीवाश्रित) और अनन्तकाय (साधारण) दोनों प्रकारके होते हैं; किसी की छाल ही अनन्तकाय होती है-भीतरका भाग नहीं, और किसीका भीतरी भाग अनन्तकाय होता है तो छाल अनन्तकाय नहीं होती; कोई बाहर भीतर सर्वाङ्गरूपसे अनन्तकाय होता है और कोई इससे बिल्कुल विपरीत क़तई अनन्तकाय नहीं होता। इसी तरह एक अवस्थामें जो प्रत्येक है वह दूसरी अवस्थामें अनन्तकाय हो जाता है, और जो अनन्तकाय होता है वह प्रत्येक बन जाता है। प्रायः यही दशा दूसरी प्रकारकी वनस्पतियोंकी भी है। वे भी प्रत्येक और अनन्तकाय दोनों प्रकारकी होती हैं—आगममें उनके लिये भी इन दोनों भेदोंका विधान किया गया है; जैसाकि ऊपरके (गोम्मटसारके)† वाक्योंसे ध्वनित है और मूलाचार की निम्नगाथाओंसे भी प्रकट है, जिनमें पहली गाथा गोम्मटसारमें भी नं० १८९ पर पाई जाती है :—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीज-बीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेया णंतकाया य ॥२१२॥
कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल-पुप्फ-फलं।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥२१४॥

ऐसी हालतमें कन्द-मूलों और दूसरी वनस्पतियोंमें अनन्तकायकी दृष्टिसे आमतौरपर कोई विशेष भेद नहीं रहता।"

साथ ही, कन्द-मूलके त्यागियोंको चेतावनी देते हुए लिखा था :—

"अतः जो लोग अनन्तकायकी दृष्टिसे कन्द-मूलोंका त्याग करते हैं उन्हें इस विषयमें बहुत कुछ सावधान होने की जरूरत है। उनका संपूर्ण त्याग विवेकको लिये हुए होना चाहिये। अविवेक-पूर्वक जो त्याग किया जाता है वह कायकष्टके सिवाय किसी विशेष फलका दाता नहीं होता। उन्हें कन्द-मूलोंके नाम पर ही भूल कर सबको एक दम अनन्तकाय न समझ लेना चाहिये; बल्कि इस बातकी जाँच करनी चाहिये कि कौन कौन कन्द-मूल अनन्तकाय हैं और कौन कौन अनन्तकाय नहीं हैं, किस कन्द-मूलका कौनसा अवयव (अंग) अनन्तकाय है और कौनसा अनन्तकाय नहीं है। साथ ही, यह भी देखना चाहिये कि किस किस अवस्थामें वे अनन्तकाय होते हैं और किस किस अवस्थामें अनन्तकाय नहीं रहते। अनेक वनस्पतियाँ भिन्न भिन्न देशों की अपेक्षा जुदा जुदा रंग, रूप, आकार, प्रकार और गुण-स्वभावको लिये हुए होती हैं। बहुतोंमें वैज्ञानिक रीतिसे अनेकप्रकारके परिवर्तन कर दिये जाते हैं। नाम-साम्यादिकी वजहसे उन सबको एक ही लाठीसे नहीं हांका जासकता*।

† यहाँ गोम्मटसारके जिन वाक्योंकी ओर संकेत किया गया है वे इस प्रकार है—

"मूले कंदे छल्ली पवाल-साल-दल-कुसुम-फल-बीजे।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८७॥
कंदस्स व मूलस्स व साला-खंधस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली सा णंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८॥
बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥ १८९॥

*जैसे टमाटर और बैंगनको एक नहीं कहा जा सकता। 'गोभी' नामके कारण गांठगोभी और बन्दगोभीको फूलगोभीके समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता।

संभव है कि एक देशमें जो वनस्पति अनन्तकाय हो दूसरे देशमें वह अनन्तकाय न हो, अथवा उसका एक भेद अनन्तकाय हो और दूसरा अनन्तकाय न हो। इन सब बातोंकी विद्वानोंको अच्छी जाँच-पड़ताल (छान-बीन) करनी चाहिये और जांचके द्वारा जैनागमका स्पष्ट व्यवहार लोगों को बतलाना चाहिये।"

इसके सिवाय, आगमकी कसौटीके अनुसार उक्त लेखमें दो एक कन्द-मूलोंकी सरसरी जाँच भी दी थी और विद्वानों को विशेष जाँचके लिये प्रेरित भी किया था।

इस प्रकारकी शास्त्रीय-चर्चाओंसे प्रभावित होकर ग्यारहवीं प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट श्रावक ऐलक पन्नालालजीने अपने पिछले जीवनमें अग्निपक्व प्रासुक आलूका खाना शुरू कर दिया था, जिसकी पत्रोंमें कुछ चर्चा भी चली थी।

जान पड़ता है ऐलकजीको जब यह मालूम हुआ होगा कि यह कन्द-मूल-विषयक त्यागभाव जिस श्रद्धाको लेकर चल रहा है वह जैन आगमके अनुकूल नहीं है और आगम में यह भी लिखा है कि किसीके गलत बतलाने समझाने और गलत समझ लेनेके कारण यदि किसी शास्त्रीय विषय में अन्यथा श्रद्धा चल रही हो उसका शास्त्रसे भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाने पर भी यदि कोई उसे नहीं छोड़ता है तो वह उसी वक्तसे मिथ्यादृष्टि है*, तभी उन्होंने अपने पूर्वके त्यागभावमें सुधार करके उसे आगमके अनुकूल किया होगा।

उक्त शास्त्रीय-चर्चाके लिखे जानेसे कई वर्ष पहले, पं० उमरावसिंह (ब्र० ज्ञानानन्द) जी सलावा (मेरठ) निवासी जब मेरी दलीलोंसे कायल हो गये और उन्हें कन्द-मूल-विषयमें अपनी पूर्व श्रद्धाको स्थिर रखना आगम के प्रतिकूल जँचा तो उन्होंने देवबन्दमें मेरी रसोईमें ही प्रासुक आलूका भोजन करके कन्द-मूलके त्याग-विषयमें अपने नियमका सुधार किया था।

जैनसमाजमें सैंकड़ों बड़े बड़े विद्वान् पंडित ऐसे हैं जो अनेक प्रकारसे कन्द-मूल खाते हैं—शास्त्रकी व्यवस्था और पद-विभाजनके अनुसार कन्द-मूल खानेमें कोई दोष भी नहीं समझते; परन्तु उनमें बहुतसे ऐसे भी हैं जो घर पर तो खुशीसे कन्द-मूल खाते हैं लेकिन बाहर जाने पर कन्द-मूलके त्यागका प्रदर्शन करके अपनी कुछ शान बनाना चाहते हैं, यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं। दूसरे शब्दोंमें इसे यों कहना चाहिये कि वे रूढि-भक्तोंके सामने सीधा खड़ा होनेमें असमर्थ होते हैं। और यह एक प्रकारका मानसिक दौर्बल्य है। जो विद्वानोंको शोभा नहीं देता। उनके इस मानसिक दौर्बल्यके कारण ही समाजमें कितनी ही ऐसी रूढियाँ पनप रही हैं जिनके लिये शास्त्रका ज़रा भी आधार प्राप्त नहीं है और जो कितने ही सद्धर्मोंका स्थान रोके हुए हैं!! विद्वानोंको शास्त्रीय-विषयोंमें तो ज़रा भी उपेक्षासे काम नहीं लेना चाहिये। निर्भीक होकर शास्त्रकी बातोंको जनता के सामने रखना उनका खास कर्तव्य है। किसी भी लौकिक स्वार्थके वश होकर इस कर्तव्यसे डिगना नहीं चाहिये और न सत्य पर पर्दा ही डालना चाहिये। जनता की हाँमें हाँ मिलाना अथवा मुँहदेखी बात कहना उनका काम नहीं है। उन्हें तो भोली एवं रूढि ग्रसित अज्ञ-जनता का पथ-प्रदर्शक होना चाहिये। यही उनके ज्ञानका सदुपयोग है।

जो लोग रूढि-भक्तिके वश होकर रूढियोंको धर्मके आसन पर बिठलाए हुए हैं, रूढियोंके मुकाबलेमें शास्त्रकी बात सुनना नहीं चाहते, शास्त्राज्ञाको ठुकराते अथवा उसकी अवहेलना करते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है और इनकी ऐसी स्थिति निःसन्देह बहुत ही दयनीय है। उनको समझना चाहिये कि आगममें सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्रको मिथ्याचारित्र और संसार-परिभ्रमणका कारण बतलाया है। अतः उनका आचार मात्र रूढियोंका अनुधावन न होकर विवेककी कसौटी पर कसा हुआ होना चाहिये, और इसके लिये उन्हें अपने हृदयको सदा ही शास्त्रीय चर्चाओंके लिये खुला रखना चाहिये और जो बात युक्ति तथा आगम से ठीक जँचे उसके मानने और उसके अनुसार अपने आचार-विचारको परिवर्तित करनेमें आनाकानी न करनी चाहिये; तभी वे उन्नतिके मार्गपर ठीक तौर पर अग्रसर हो सकेंगे और तभी धर्म-साधनाका यथार्थ फल प्राप्त कर सकेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ८-२-१९४४

---

*सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥ २८ ॥
—गोम्मटसार-जीवकाण्ड

शित्तन्नवाशल्

(दक्षिण भारतका लगभग ५ वीं शताब्दीका प्राचीन गुफा मन्दिर)

[ले० गुलाबचन्द्र अभयचंद्र जैन, भिलसा]

मद्रासके लगभग २४० मील तथा त्रिचनापल्लीसे लगभग ३३ मील दूर दक्षिणमें एक पुदुकोटा नामक रियासत है। इसकी राजधानी पुदुकोटासे १० मील उत्तर पश्चिममें *शित्तन्नवाशल् नामका एक गांव है।* एक पहाड़ीके नीचे यह गांव बसा हुआ है। यह पहाड़ी पूर्वीघाटका एक टुकड़ा है। यह पहाड़ी उत्तर दक्षिण फैली हुई है। इसके तीन स्वाभाविक विभाग हैं। इसमें मध्य पहाड़ीके पूर्वीभागमें एक प्राकृतिक गुफा—जिसका तामिल नाम इलेडिपट्टम् है—है। उत्तरी पहाड़ीके पश्चिमी तरफ पहाड़ काट कर बनाया हुआ एक जैनगुफा-मन्दिर है। इस समय तो यहाँ एक भी जैन नहीं है लेकिन यह मन्दिर बतलाता है कि गत शताब्दियों में यह जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र था।*

आइए! पहिले हम मध्य पहाड़ीके पूर्वी तरफ स्थित प्राकृतिक गुफाका निरीक्षण करें। गुफा तक पहुँचनेका रास्ता बहुत खतरनाक है। जरा भी पैर चूका कि लगभग २०० फुट नीचे आप पहुँच जाएँगे। आजकल स्टेटकी तरफसे लोहेके रेलिंग लगवा दिए गए हैं, जिनके सहारे आप आसानीसे चढ़ सकते हैं। पश्चिमकी तरफसे ढालसे चढ़ कर हम पूर्वकी तरफ, गुफामें पहुँचते हैं। रास्तेमें कई जगह पत्थर काट कर पैर रखनेके लिए स्थान बने हुए हैं। मालूम होता है कि पहिले गुफा निवासी मुनि इन्हींके सहारे गुफामें आते जाते होंगे।

इस गुफामें १७ पत्थरके बिस्तर (Beds) हैं। इनमें किन्हीं किन्हींमें तकिया भी लगा हुआ है। इनमेंसे कुछ पालिशदार तथा बहुत चिकने हैं। इनमें जैनमुनि अंतिम समयमें रहते थे। इनके पास ब्राह्मी भाषामें कुछ मुनियोंके नाम तथा दूसरी शताब्दी (B. C.) के कालका लेख है। कुछ अन्यके पास पुरानी तामिल भाषामें ८ वीं या ९ वीं *शताब्दीका लेख है। गुफासे कुछ दूर* पानीका एक छोटासा गहरा कुण्ड है। कहते हैं कि इसका पानी कभी नहीं सूखता है। इसी गुफाके ऊपर स्टेटका सर्वोच्च स्थान (Hianest spot) है।

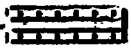
अब हम गुफा-मन्दिरकी तरफ चलेंगे। यह उत्तरी पहाड़ीके पश्चिमी तरफ जमीनसे लगभग १०० फुट ऊँचाई पर है। यह पल्लव-वंशीय माहाराज महेन्द्रवर्मन प्रथम द्वारा ७ वीं शताब्दीमें बनवाया गया था। महाराजा महेन्द्र वर्मन प्रथम पहिले कुछ समय तक जैन रहे किंतु बादमें शैव मतानुयायी हो गये थे—ऐसा प्राप्त शिलालेखोंसे ज्ञात होता है। यहाँ आस-पास उन्हींके बनवाये हुए शैवमन्दिर भी मिलते हैं।

इस मन्दिरकी रचना दक्षिण भारतमें महाराजा महेन्द्र-वर्मन-द्वारा निर्मित अन्य गुफा-मन्दिरोंके ही समान है। इस समय मन्दिरमें एक गर्भगृह, एक अर्ध-मण्डप है। पहिले इसके आगे एक मुखमण्डप भी था—ऐसा गुफाके पास ही एक चट्टान पर खुदे हुए 'पांड्य शिलालेखसे' ज्ञात होता है। गर्भगृह लगभग १० फुट चौड़ा, १० फुट लम्बा तथा ७॥ फुट ऊँचा है। इसकी पिछली दीवाल पर पहाड़ काट कर बनाई हुई तीन मूर्तियां हैं। मूर्तियां पद्मासन तथा लगभग ३ फुट ऊंची हैं। वे जमीनसे लगभग ४ फुट ऊँचाई पर हैं। मध्य तथा उत्तरकी तरफकी मूर्तिके सिर पर ३ छत्र हैं जो कि इन मूर्तियोंको तीर्थंकर की मूर्ति प्रदर्शित करते हैं। दक्षिण तरफकी मूर्तिके ऊपर एक ही छत्र है। मालूम होता है—यह किसी आचार्य अथवा चक्रवर्तिकी मूर्ति है।

---

* समीपस्थ ग्रामका नाम शित्तन्नवाशल (सिद्धअण्णवाल्-वासिल्—याने "सिद्ध तथा महान् पुरुषोंका निवास-स्थान" अथवा "महान सिद्धोंका निवास-स्थान") भी इसी कथन की पुष्टि करता है।

इन तीन मूर्तियोंके ऊपर छतमें विभिन्न रंगोंकी सहायतासे एक दरीका चित्रण किया गया है। इस दरीमें कई चोकोर व गोल खाने हैं। चोकोर खानोंमें कमलकी तरहके फूल बनाए गये हैं। गोल खानोंमें क्रास बने हुये हैं जिनके सिरे गोल हैं ()। ऊपरकी तरफ क्रासके एक भागमें एक चीका चित्रण है, तथा नीचेके दोनों भागोंमें दो शेर बने हुये हैं। छतके बीचोंबीच एक वृहत् छत्र, काट कर बनाया गया। दीवालोंपर कोई चित्रकारी नहीं मालूम होती है। अर्धमण्डपसे गर्भगृहमें प्रवेश करनेके लिये ३ सीढ़ियां तथा एक दरवाजा है। दरवाजा ५॥ फुट ऊँचा तथा २॥ फुट चौड़ा है।

अर्धमण्डप २२॥ फुट लम्बा, ७॥ फुट चौड़ा तथा ८॥ फुट ऊँचा है। अर्धमण्डपके सामनेकी तरफ दो वृहत् स्तंभ तथा दोनों सिरोंपर दो अर्धस्तंभ हैं। अर्धमण्डपकी छतका लगभग १। फुट चौड़ा भाग स्तंभोंके बाहिर निकला हुआ है। स्तंभोंका मध्य $\frac{1}{3}$ भाग अठकोण तथा नीचे ऊपरका $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{3}$ भाग चोकोन है। अर्धस्तंभोंकी रचना भी ऐसी ही है। स्तंभोंके बीचकें महराबोंकी रचना पल्लवकालीन निर्माणकलाका प्रदर्शन करती है। इनके बीचमें एक चौड़ा चिकना भाग है तथा दोनों तरफके भाग लहरदार हैं—। गर्भगृहके द्वारके दोनों तरफ दो दो सुंदर अर्धस्तम्भ हैं।

अर्धमण्डपके उत्तरी तथा दक्षिणी दीवालमें एक एक वृहत् आला बना हुआ है। इनमें दक्षिणी आलेमें लगभग ५ फुट ऊँची, पद्मासन भगवान पार्श्वनाथकी मूर्ति है। सिर पर छत्रके स्थानमें ५ सिर वाले सर्पका फन है। इसीके सामने उत्तरी दीवालके आलेमें भी एक मूर्ति है। यह भी लगभग उसी आकार-प्रकारकी है। सिर पर एक छत्र है। शायद यह भी किसी आचार्य वा चक्रवर्तीकी मूर्ति हो। किसी भी मूर्तिके नीचे कोई भी चिन्ह नहीं है। सभी मूर्तियां पूर्ण, सुन्दर तथा सौम्य हैं। उनसे शांति निकल रही है—ऐसा मालूम होता है।

अर्धमण्डपकी दीवारें, छत, स्तंभ, महराब आदि सभी स्थान चित्रकला युक्त हैं। स्तंभों तथा दीवारोंकी कारीगरी लगभग नष्ट हो चुकी है किंतु छतकी कारीगरी अभी भी अच्छी हालतमें है। यह चित्रकला दीवालपर पहिले चूनेका एक मोटा लेप कर उसके ऊपर की गई है। इसी तरहकी चित्रकला अजन्ता तथा सीकोनके प्राचीन मन्दिरोंमें मिलती है। अतएव यह गुफा भी अजन्ताके समकालीन है- निर्विवाद सिद्ध है। चित्रणमें काला, हरा, नीला, पीला, नारंगी तथा श्वेत रंगोंका उपयोग किया गया है।

भगवान पार्श्वनाथकी मूर्तिके ऊपर छतपर गोल खानोंमें पत्र सहित खिले हुए पुष्प (कमल) बनाए गये हैं। सामने आचार्यकी मूर्तिके ऊपर कमल कलिकाओंकी रचना है। अर्धमण्डपके मध्यमें छतपर एक तालाबका दृश्य बनाया गया है। इसमें मछली, मकर, भैंसा, हाथी, कुछ चकोरकी तरहके पक्षी, कमल व लिलीके पुष्प प्राकृतिक सुन्दरतामें बनाए गये हैं। कमलकी कांटेदार नाल व लिलीके चिकने मुलायम डंठल आप स्पष्ट देख सकते हैं।

तालाबके एक तरफ दो पुरुष दिखलाए गये हैं। इनमें से एक दाहिने हाथसे कमल तोड़ रहा है तथा बाएं हाथमें एक फूल रखनेकी टोकरी लटकाए हुए है। यह लाल रंगसे बनाया गया है। इसका साथी नारंगी रंगका है। यह एक हाथमें कमल लिये हुए है तथा इसका दूसरा हाथ 'मृगीमुद्रा' में है। एक और पुरुष, नारंगी रंगमें अलग दिखाया गया है। इसकी आकृति अत्यंत सुंदर है। इसके बाएँ कन्धेपर कमलोंका एक गुच्छा तथा दाहिने कंधे पर एक लिली पुष्प है।

दोनों स्तंभोंके ऊपरी, सामनेकी तरफके (पश्चिमी) चोकोर भागोंमें दो नर्तकियोंके चित्र हैं। दाहिने स्तंभ पर चित्रित नर्तकीका वामहस्त दण्डहस्ता या लोल हस्ता मुद्रा में तथा दक्षिण हस्त 'अभयमुद्रा' में है। इसके कानोंमें पत्र कुण्डल तथा हाथोंमें, कड़े, चूड़े आदि आभूषण हैं। उत्तरी स्तंभकी नर्तकीकी आकृति अधिक सुंदर है। इसका वामहस्त गजहस्ता मुद्रामें तथा दक्षिणहस्त अभयमुद्रामें है। इसके शिरोभूषण स्पष्ट हैं। बालोंके जूड़ोंके ऊपर पुष्प गूंथे हुए हैं। ये दोनों आकृतियां, स्थूल नितंब, पतली कमर तथा वस्त्राभूषणों आदिसे अप्सराओंकी ज्ञात होती हैं। इनका कमरसे ऊपरका शरीरका भाग वस्त्र-रहित है।

दाहिने स्तंभके ऊपरी उत्तरी चोकोर भागमें एक पुरुष

व स्त्रीका चित्र है। पुरुष आकृतिके सिरपर मुकुट तथा एक कानमें पत्रकुण्डल तथा दूसरे कानमें मकर कुंडल है। शायद यह इस गुफाके निर्माता महाराजा महेन्द्रवर्मनका चित्र है। इनके पीछेका स्त्री चित्र महारानीका है जो कि बहुत कुछ अस्पष्ट हो गया है। इनके सामने थोड़े अन्तर पर एक और चित्र है जो इनके किसी सेवकका मालूम पड़ता है। अर्धमण्डपके बाहिर छतके निकले हुये भागसे कमल पुष्पों व दो सुंदरबड़े बड़े हंसोंके चित्र हैं।

मन्दिरके बाहिर पास ही एक चट्टानपर एक पांड्य शिलालेख है जिससे ज्ञात होता है कि पहिले इस मन्दिर के सामने एक मुखमण्डप भी था। इसके भग्नावशेष भी आसपास पड़े हुये हैं। आजकल स्टेटकी तरफसे वसी काल के अन्यत्र प्राप्त खंभोंसे एक मुखमण्डप बनवा दिया गया है। अर्धमण्डपके दक्षिण खंभपर पुरानी तामिल भाषामें ८-९ वीं शताब्दीका एक लेख है।

अब हम लौटते हैं। पहाड़ीके दक्षिणी हिस्सेके पूर्वी तरफके मैदानमें आपको एक श्मशान दिखाई देवेगा। यह भी लगभग २००० वर्ष पूर्वका है। इसमें मुर्दे गाड़े जाते थे। इनके गाड़नेका ढंग (Gyst burrial) कहलाता है। जमीनमें एक गड्ढा खोदकर उसमें चारों तरफ पत्थर लगाकर उसमें मुर्देको बैठा दिया जाता था। इसीको प्रदर्शित करनेके लिये जमीनके ऊपर गोल आकार में पत्थर रख दिये जाते थे। इनमेंसे कुछको यहाँके आर्के-लाजिकल डिपार्टमेंटने खोला है। उनमें कुछ लोहेके सामान मिले हैं।  —पत्थर

केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा

[लेखक—न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द कौन्देय)

[गत किरण नं० ९ से आगे]

यहाँ शंका हो सकती है कि जब प्रमाणताकी छाप लगानेवाले केवलज्ञानी महाराज उन कल्पित आपेक्षिक स्वभावों या स्याद्वादाक्रान्त और शब्दयोजित वक्तव्य भागों को नहीं जानते हैं तो इनके जानने वाले शास्त्रज्ञ विद्वान् झूठे हो जायंगे? स्याद्वादसिद्धान्त अप्रमाण हो जायगा? नयचक्रका चक्र चलना बन्द पड़ जायगा? इस कटाक्षके समाधानपर यह कह देना उचित है कि—

> धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः।
> अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता॥
>
> (श्री समन्तभद्रस्वामी)

"अनेकाः सप्तभंग्यः"। "अनन्ताः स्वभावभेदाः"। इत्यादि गम्भीर वाङ्मयद्वारा उन धर्मों या स्वभावोंको वस्तुपर लाद दिया गया बताया है। तब तो उनका जान लेना सम्यग्ज्ञान ही है यही तो कहना है। वास्तविक द्रव्य, गुण, पर्याय और धर्म स्वभावों, आपेक्षिक, नेय, निक्षेप्य इन संपूर्ण पदार्थोंको भव्य जीवोंके प्रतिपादनार्थ भाषाद्वयाभिज्ञ के समान भगवान् द्वादशांग-वाणीद्वारा उपदेश देते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्यभाव अनुसार हमारे तुम्हारे व्यवहारोंमें आरहे ऐसे संकेतवश सहजयोग्यता वाले शब्दोंको ढूंढ ढूंढ कर पुनः उस प्रतिपाद्य प्रमेयसे जोड़कर समवसरणमें भाषण दे देते हैं। बौद्धों और मीमांसकोंके सिद्धान्तोंका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्दस्वामीने श्लोकवार्तिकमें शब्दोंकी वाच्यार्थप्रणालीको अधिक विस्तारसे पुष्ट किया है। वक्ताके शब्द किस ढंगसे श्रोताको अर्थप्रतिपत्ति करा देते हैं? इस के लिये उन प्रकरणोंको पढ़िये। अच्छा तो आपके पास शब्द-भंडार बहुत थोड़ा है। अतः बहुभाग निर्विक-ल्पक प्रमेयको वे विशालकाय द्वादशांग-वाणीमें भी नहीं कह पाते हैं। उन्हें इसकी कोई परवाह भी नहीं है। तभी तो "पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो" (गोमट्टसार) कहना पड़ा॥ गिट् गिटर गिट् शब्दोंके संकेत अनुसार तारबाबू जैसे आपकी भाषामें शब्द रचना कर देता है या संक्षिप्त लेखक स्वयं संकेतानुसार व्याख्यान लिख देता है

तद्वत् सातिशय अरहन्त भगवान् अपनी सर्वाङ्ग निकल रही दिव्य-भाषाद्वारा उपयोगी थोड़े शब्दोंका जामा पहिनाकर बहुतसा प्रमेय कह डालते हैं। पुनः गणधरदेव अधिक शब्दोंकी चासनी चढ़ा कर भी थोड़ासा ही प्रमेय ग्रन्थगुम्फित कर पाते हैं तो भी उनके एक एक अक्षरपर अनन्त प्रमेय लदा हुआ है। विज्ञजन ! द्वादशांगवाङ्मय महास्कन्धवर्गणा के समान अतीव विशाल है। यों अरहन्तदेव, गणधर, प्रतिगणधर, आचार्यपरिपाटी अनुसार आम्नाय प्राप्त हो रहे आगमोंको प्रमाणता है। "न[1] किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतकेवलो:" "सुद केवलं च णाणं, दोण्णि विसरिसाणि होंति बोहादो"। आगमोंमें बहुभाग तो द्रव्य, गुण, पर्यायोंका ही वर्णन है। परम्परासे सर्वज्ञोक्त होनेसे वह सभी प्रमाण है। आपेक्षिक धर्मोंका सम्यग्ज्ञान भी प्रमाण है। भगवान उन उन धर्मोंका भी उपदेश देते हैं क्या किसी किसी चीजको अन्य प्रकारसे हुआ ? जाना जाता है और शब्दों द्वारा दूसरे प्रकार कथन किया जाता है। दृष्टान्त दिये जाते हैं शरीरचेष्टायें की जाती हैं। यों जानने-जनानेकी प्रकार-प्रक्रिया न्यारी न्यारी है तीर्थंकर प्रकृतिका उदय हो जाने पर किया गया त्रिजगच्छरण्य श्रीअर्हन्तदेवका यह कार्य सर्वोत्कृष्ट है, असंख्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगादेता है, आप्तपरीक्षामें पुष्ट किया है कि—'अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्। इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" श्रीजिनेन्द्रपूजाकी यह सबसे बढ़िया उपपत्ति है।

पांचवर्षकी छोटी लड़की अपनी बीस वर्षकी बड़ी बहिनसे आग्रह करती है कि जीजी श्वसुरालमें क्या आनन्द है ? वह कुछ थोड़ा सा कह कर टाल देती है। वास्तविक रहस्यका पता छोटी बहिनको तभी लगता है जब कि उसका विवाह, गौना होजाता है। यों वस्तुओंके सूक्ष्म अंशोंका विशदज्ञान केवलज्ञानी हो जाने पर ही प्राप्त होगा। प्रवेशिकाका छात्र शास्त्रीय कक्षाके विषयको ऊपरसे कुछ टटोल लेता है बस। श्री अरहन्त भगवानके प्रतिपाद्य शास्त्र भी कम नहीं हैं। परोपकारी केवलज्ञानी बिना इच्छाके पुरुषार्थद्वारा यहाँ वहाँ के शब्दोंसे मढ़कर आपको अमृतोपम उपदेश दे रहे हैं।

जैसे कि पृथ्वी बिना इच्छाके करोड़ों मन अन्न पैदा कर जीवोंको सुखित करती है। मेघजल सभी वनस्पति, पशु-पक्षियोंको तृप्त करता है। वायु इच्छा बिना सबको प्राणदान करती है। मैं पञ्चस्तोत्रोंका प्रतिदिन पाठ करता हूँ कभी २ अन्यमनस्क होजानेपर बिना इच्छाके और मनोयोगको लगाये बिना ही बीसों श्लोकोंको यों ही बोल जाता हूँ। वे ठीक भी बोले गये हैं। संदर्भ ठीक बनता चला गया है। अभिलाषा अन्यत्र लग रही है मन कहींका कहीं दौड़ रहा है। इच्छा और मनोयोगके बिना केवल पुरुषार्थसे ही खाये हुये अन्नके शरीरमें अनेक विश्लेषण हो रहे हैं। रस, रुधिर आदि बन रहे हैं। मन कहीं लग रहा है। इच्छा अन्यत्र जा रही है। इन कार्योंमें इच्छा और मनको पूछता भी कौन है ? काली मिर्च आँखोंके पास भेज दी जाती है बादामकी डिलेवरी दिमागको होजाती है। मोती हृदयसे सख्यभाव करता है। बनफशा, गावजबां जाकर जुखामसे भिड़ जाते हैं। खूबकला बुखारसे टक्कर लेने लग जाती है। रात्रिको सोते समय अच्छा पाचन होता है, जब कि शरीर प्रकृति तुमको निद्राका क्लोरोफार्म सुंघा देती है। तुम्हारे ज्ञान इच्छायें न जाने कहाँ छिपे पड़े हैं। रूखी प्रकृतिके इन कारककारणोंको बिचारे ज्ञापककारणोंकी किञ्चित् भी आकांक्षा (परवाह) नहीं है। जागते हुये भी इच्छासे कार्य होनेका नियम भी नहीं है। तीव्र मनीषा होते हुये भी कार्य नहीं हो रहे। मारवाड़ी किसान वृष्टिको चाहते हैं। निःसंतान स्त्रियां पुत्रोंको चाहती हैं। दरिद्र धनका तिसाया बैठा है। अनेक युवा आजीविका खोजते फिरते हैं, स्वराज्यवादी स्वराज्यवादी स्वतंत्रताको मांग रहे हैं, इच्छा का कार्य होजानेके साथ कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि एक लाख कार्योंमें ९९९९९ कार्य बिना इच्छाके होते हैं। एक कार्य इच्छासे होता है। अड़ कारण तो मेघवर्षण, समुद्रघोष, वायुसंचार, अङ्कुरोत्पादन, पुष्प-फलोदय आदिको बिना इच्छाके उपजाते ही हैं। चेतन-कारणोंमें भी इच्छाकी कदर नहीं। मूढ़में भांग पीली या स्वादमें चनेकी रोटी खाली, फिर चाहो कि नशा न होय, पेटमें दर्द नहीं होय, तो क्या करें ? नशा या पीड़ा अवश्य होगी। वृद्ध होना, दांत टूटना, आँखोंसे कम दीखना, सफेद बाल होना कौन चाहता है ? फिर भी कारणोंसे हो

[1] 'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च....' आप्तमी०

रहे हैं। 'बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः' (समन्तभद्र)—जीव मृत्युको नहीं चाहता है प्रत्युत मौतसे डरता है किन्तु मरण होजाता है। मोक्षको चाहता है पर नहीं होती। मनोरथ किसीके भी प्रायः पूरे नहीं होते हैं। चाहनेसे होगये कार्योंमें भी इच्छा उतनी कारण नहीं है जितनी कि आपने मान रक्खी है। बिना इच्छाके तद्वत् भव्योंके भाग्यवश योगशक्ति द्वारा स्वाभाविक उपकारी भगवान् अनन्त प्रमेयोंपर शब्दोंका खोल चढ़ाकर हजारों वर्ष तक उपदेश देते रहते हैं उसी उपदेशको आप गतानुगतिक रूपसे पकड़े चले चलो। चाहे भूतचौबीसीके निर्वाणजी होंय और भले ही वर्तमान चौबीसीके आदीश्वर महाराज होंय। सबको पूर्व मिथ्यादृष्टिअ-वस्थासे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये देशना-लब्धि प्राप्त करना पड़ी थी। और वह इन्हीं पूर्ववर्ती भगवानोंकी कल्पित शब्दोंद्वारा वाच्य-वाचकभावको लिये हुये थी। प्रथम अवस्थामें ही वस्तुका साक्षात् ज्ञान किसीको भी नहीं हो सकता है। तुम ही कोई परम ज्योतिमेंसे निकले हो?

जितने भी मनुष्य पैदा हुये थे, हो रहे हैं, होंगे। चाहे वे त्रेसठ शलाकाके पुरुष ही क्यों न हों? सबकी उत्पत्ति मूत्रमार्गसे ही हुई है। औदारिक परमौदारिक शरीरका भी आद्य उपादानकारण निकृष्ट निंद्य अधःस्थानसे प्राप्त हुआ है। "मातपितारजवीरजसे यह उपजी मल-फुलवारी" (भाषाकवि)। आहारक शरीर जैसे उत्तमाङ्ग माने गये शिरोभागसे उत्पन्न होता है वैसा कोई मोक्षगामी जीव भी मुखप्रदेश या मस्तकसे नहीं उपजा। सबको जननीके गर्भाशयका आश्रय लेना पड़ा। बन्धुओ! इस उत्पत्तिप्रक्रियामें बुरा माननेकी कोई बात नहीं है। अफसोस करना व्यर्थ है ऐसा ही सदासे पुरिखापंक्तिसे होता चला आरहा है।

प्रद्युम्नचरित्रमें लिखा है कि एक मनुष्य मरकर अपनी अपनी पुत्रवधूके ही पुत्र होगया। जातिस्मरण द्वारा ज्ञात कर वर्षों तक वह इसी अनुतापमें गूँगा बना निठल्ला बैठा रहा कि मैं स्वयं अपना नाती बन गया अपनी पुत्रवधूका दूध पिया आदि। एक दिन श्री गुरुने उसे समझाया कि अरे मतिमन्द! संसारकी यही नकली कल्पित प्रक्रिया है। यह जीव स्वयं अपना पुत्र हो सकता है। बन्धु, मित्र, पिता, पुत्र, सब आनुषंगिक कल्पनायें हैं। उठ और आत्महितोंमें लग जा। तब कहीं उसे तत्त्वज्ञान हुआ।

प्रकरणमें यह कहना है कि समीचीन कल्पना या स्थापनासे असली तत्त्वपर पहुँच सकते हो राजमार्ग यही है। सातवें गुणस्थान तक मूर्तिपूजाका फटाटोप पकड़े रहो तब तक यही मोक्षमार्ग है। किन्तु आठवें गुणस्थानमें द्रव्य-पूजा या भावपूजाका यह ठौना, अष्टद्रव्य, पात्र, संदली, पूजा पोथी, कोलाहल, निजमनोमलविभाजनभावना, इत्यादि ठाठ उसी प्रकार छोड़ देना होगा जैसे कि चक्रवर्ती या राजा जब केवली अथवा आचार्य महाराजका दर्शन करने जाते हैं तो घोड़ा, हाथी, छत्र, चामर, पालकी विमान वे सब परिच्छद बाहर ही छोड़ जाते हैं। तभी वे ठीक दर्शन या कल्याणमार्ग प्राप्त कर पाते हैं।

विचारशील विद्यार्थियो! केवलीके ज्ञानको लौकिक ज्ञानोंसे मत मिलाओ। हम पुनः पुनः यह कहते हैं कि भगवान्‌का ज्ञान आपकी अनेक कपोलकल्पित तर्कणाओंके ज्ञेयको नहीं जानता है। न उस ज्ञानमें वैसा आकार या उल्लेख है। यों सर्वभक्षी केवलज्ञानीके पास अनन्त सुख है सर्वसुख नहीं। अनन्त शक्ति है सर्वशक्ति नहीं है। अनन्त दर्शन है सर्वदर्शन नहीं, तद्वत् ज्ञान भी अनन्त ज्ञान है आप ज्ञानके साथ सर्व शब्द क्यों लगाते हैं? व्यर्थकी इल्लतोंको पसन्द न करो। कोरी लम्बाई, चौड़ाईपर लट्टू मत होजाओ। "न पथ्यं नेपथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ" इसको शृंगार रसपर नहीं लगाकर शान्त रसमें मिलादो। "न पथ्यं नेपथ्यं बहुतरमलङ्कृ केवलविदि" यदि क्वचित् "सर्वज्ञेनागमेशिना" "सर्वज्ञोनादिमध्यान्तः" लिख दिया है तो इन सर्व वाक्योंके सैंकड़ों वर्ष पहिले श्री उमास्वामी महाराजने "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" यों सर्व शब्दको द्रव्यों और पर्यायोंमें विशेषणाकान्त कर दिया है। चन्द्र-प्रभचरित्रमें तो "अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यता, मनन्तसौख्य-त्वमनन्तदर्शनं" ऐसा कहा गया है। अरहन्तके छयालीस अतिशयोंमें कंठोक्त अनन्तज्ञान गिनाया है। "अनन्त-चतुष्टय"।

इसका स्पष्टीकरण यों है कि वैष्णवोंके भगवानमें खाने, पीने, नाचने, गाने, भोग भोगने, स्त्री, लड़के, नातियोंके सुख हैं और समाधि धारण करनेपर शिवजी या विष्णु भगवानके अतीन्द्रिय सुख भी इष्ट किये हैं। विष्णु भगवान्

समुद्रमें शेषशय्यापर अपनी लक्ष्मी स्त्रीके साथ भोग भोगते हैं, कोमल गद्दोंपर पौंढ़ते हैं। रसनाद्वारा रसीले व्यंजन, लड्डू, भांग आदिका भोग पाते हैं। चढ़ाये हुये फूल, फलों या अनेक प्रणालोंके सुन्दर दृश्योंको घ्राण इन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय द्वारा उपभोगमें लाते हैं। बगीचोंमें गाना, बजाना, नाचना आदिका आनन्द लूटते हैं। हरि–विष्णुके वस्त्र आभूषण बहुत बढ़िया हैं और गरुड़की सवारीमें चलते हैं। शिवजीके स्कन्द और गणेश दो लड़के भी हैं। महादेवजी बहुभाग अपनी ससुराल हिमालयपर रहते हैं। पार्वती उनकी अर्द्धाङ्गिनी है। ये भगवान् जिसपर क्रोध करते हैं उनको और उनके लड़के बच्चोंको मार देते हैं उनके सहायक सैंकड़ोंका चक्र, त्रिशूलोंसे कतल कर देते हैं धन हर लेते हैं। कभी किसीको वरदान देते हैं। चाहे जिसको निहाल कर देते हैं। कभी कभी विष्णु भगवान् और शिवजीमें परस्पर मीठा झगड़ा भी होजाता है। कोई देवोंका पक्ष लेता है और दूसरा दैत्योंकी तरफदारी करता है। किन्तु आप जैनोंने तो अपने वीतराग भगवानमें मात्र आत्मोत्थ स्वाभाविक सुख माना है ऐन्द्रिक सुख नहीं।

जबकि समवसरणमें पाँचों इन्द्रियोंके भोग-उपभोगों की सामग्री भरपूर विद्यमान है। फल फूल सुन्दर-दृश्य नाचना, गाना-बजाना वैसा अन्यत्र सम्भव भी नहीं है। प्रत्युत आप जैनोंने ऐन्द्रियिक सुख और आत्मीय सुखका विरोध कह दिया है जबकि करोड़ों मनुष्य ऐन्द्रियिक और अतीन्द्रिय सुखका अविरोध मान रहे हैं। इन्द्रियजन्य सुख तो दूर ही रहा आप तो इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नहीं मानते हैं और केवलीके पदानपेक्ष अनन्त सुखपर ही संतोष मान कर बैठ जाते हैं। यों सर्वसुखको न मान कर अनन्तसुखको ही अनन्त चतुष्टयमें अपनाया है। अनन्त-शक्तिका विचार यह है कि नैयायिक या पौराणिकोंने ईश्वरको ही सर्वशक्तिमान् स्वीकार किया है। वह "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः" है। वृक्षोंसे मनुष्य उत्पन्न किये जा सकते हैं। मछली या देवीसे भी मानव-शरीर उपजता है महाप्रलयमें सर्व नष्ट कर दिये जाते हैं पुनः ईश्वर नई सृष्टि रचता है इत्यादि सर्वशक्तिमान्को संभवसे असंभव और असंभवसे संभव करनेका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैनोंमें ऐसा नहीं जबकि कठिन तपस्या कर स्वयं भगवान् अनन्तवीर्य और केवलज्ञानसे मण्डित होकर पवित्र उपदेशों द्वारा इस भारतवसुन्धराको पवित्र कर रहे थे। स्वयं श्रीऋषभदेव अपने चक्रवर्ती पुत्र भरत और सूर्यवंशके प्रवर्तक पौत्र अर्ककीर्तिके बाहुबली और जयकुमारसे युद्धमें हुये घोर अपमानको टाल नहीं सके। श्रीमुनिसुव्रतनाथके समयमें रावण लक्ष्मणका प्रकाण्ड आहव हुआ जिसमें कि कतिपय अक्षौहिणियोंका विनाश हुआ। श्री नेमिनाथके तीर्थमें श्रीकृष्णका कंस और जरासिन्धसे रण हुआ लाखों योद्धाओंका क्षय हुआ, द्वारिका दाह हुआ, जिसमें करोड़ों यदुवंशी जलगये, खास भगवान् के चाचा, भाई, भतीजे, चाची, भाभी सब भस्मसात् होगये, समुद्रका पानी पैट्रोल हो गया, भवितव्यको टालनेके प्रयत्न सब फेल होगये। कौरव पाण्डवोंका भारी संग्राम हुआ। तथा अन्य भी तीर्थङ्करोंके तीर्थकालमें अनेक अनर्थ हुये वे रोके जा सकते थे, स्वयं तीर्थङ्करोंको अनेक कष्ट भोगने पड़े हैं सौधर्म आदि असंख्य इन्द्र और असंख्यातासंख्यात देव जिनकी सेवामें तैयार रहते हैं उनके लिये कोई कार्य दुष्कर नहीं है। अन्तमें यही कहना पडता है कि होनहारको कोई रोक नहीं सकता है।

जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥
तं तस्स तम्हि काले तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि।
को सक्कइ चालयिदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥

यदि जैनोंमें सृष्टिकर्तापन इष्ट होता तो दयालु जिनेश्वर किसी न किसी भक्तपर प्रसन्न होकर चाहे जिसे बड़ा बना देते। जबकि जैनोंमें चान्सलर, सेशन जज, हाईकोर्ट जज, महामहोपाध्याय, हिजहाइनेस, चीफ कमिश्नर, अरबपतिसेठ, ऋद्धिधारी मुनि, उच्चवैद्य, डाक्टर, मन्त्रवित् राजा, महाराजा, अद्यमोक्षगामी, द्वादशाङ्गवेत्ता, वायुयान-निर्माता, उद्भटविद्वान, प्रसिद्ध मल्ल, नामाङ्कित अभिनेता, विद्याधर, ऊँचा कलाकार, डी० आई० जी०, आई० जी०, महान् वक्ता, लेखक, स्थपति, अभिरूप, अर्थशास्त्रज्ञ, गणितज्ञ, उद्धतैराका आदि नहीं है। कर्मसिद्धान्त प्रबल माना गया है। "कामादिप्रभवश्चित्तः कर्मबन्धानुरूपतः" (श्रीसमन्तभद्रः)। 'यह कर्मलिखी सोही होय मिटैगी कैसी?' (पद्यांश)।

ईश्वरको सर्वशक्तिमन् मानने वालोंके यहाँ कर्मोंकी

शक्ति फेल की जा सकती है। जैसी महेश्वरकी इच्छा होय वैसा कार्य तत्काल हो जावेगा। कोई रोकने वाला नहीं है।

किन्तु जैनोंके यहाँ यह बात नहीं है वे अपने भगवान् में अनन्तशक्ति तो मानते हैं वैष्णवों या खुदावादियोंकी सी सर्वशक्ति नहीं स्वीकार करते हैं जिससे कि अभव्यको भी मोक्षमें पहुंचा देते या सौ वर्षकी उम्र वालेको भगवान चाहें तो ५०० वर्ष जीवित रख देते। "को सक्कइ चालयिदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा"। विचारशील भ्राताओ—सिद्धान्त यह है कि ऐसी रागद्वेषपूर्ण सर्वशक्तियों या सर्वसुखोंसे तो जैनोंके आकुलता रहित वीतराग भगवान्की अनंत सुख अनन्त शक्तियाँ ही चोखी हैं। केवली महाराजके युक्ति, आगम, अनुभवोंसे, इस परिमित अनन्त चतुष्टयकी व्यवस्था प्रतिष्ठित हो रही है।

सम्भव असंभव सभी कार्योंकी सर्वशक्तियाँ तथा लौकिक अलौकिक सभी सुख अरहन्तके नहीं हैं। कोई कवि भले ही भगवान्को प्रभु यानी सर्वशक्तिमान् या सर्वसुखी, लिख देवे "निरंकुशाः कवयः"। यहाँ यदि कोई विद्वान् यों कहे कि—"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने" जानना स्वभावको धारने वाला जीव प्रतिबन्धकोंके हट जाने पर पुनः ज्ञेय विषयोंमें अज्ञ कैसे रह सकता है? बताओ।

इसका उत्तर इतना ही पर्याप्त है कि—कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं कथमशक्तः स्यादसति प्रतिबन्धने।"

वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय होजानेपर अनन्तवीर्यशाली भगवान् असंभव कार्यको क्यों नहीं कर डालते हैं? कहिये तब तो सूर्यविमान भी नीचे उतर आवेंगे। अभव्य भी मोक्ष चले जायेंगे। "सौख्यकारणसामग्री सौ कथमसुखी भवेदसति प्रतिबन्धने।"

समवसरणमें लौकिक सुखोंकी सामग्री मिलनेपर भी अनन्त सुखद्वारा इन्द्रिय सुख क्यों नहीं ले पाते हैं? तुम्हीं बताओ। यदि शब्दोंको पकड़ोगे तब तो मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, भोगान्तराय. कर्मोंका क्षय होजानेसे सिद्ध परमेष्ठीमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, भोग, उपभोग होते रहनेका प्रसङ्ग आजावेगा।

हाँ विद्वज्जन—कहीं "सर्वज्ञोनादिमध्यान्तः" "सर्वज्ञेनापमेशिना" "सर्वज्ञाय नमो नित्यं निरावरणचक्षुषे" ऐसा लिख दिया है। इसपर यों कहना है कि इन आचार्योंके सैंकड़ों वर्ष प्रथम ही महान् दार्शनिक सूत्रकार उमास्वामी महाराजने "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" सूत्र कहकर सर्व शब्दका अन्वय द्रव्य और पर्यायोंके साथ जोड़ दिया है।

ज्ञानावरणका क्षय यहा ज्ञानका अर्थ सर्वद्रव्यपर्यायज्ञान है। जगत्में वस्तुभूत ठोस ज्ञेय तो-द्रव्य और पर्याय ही हैं। नकली मालको असलीमें क्यों मिलाते हो!

सर्वसहा, सर्वधुरीण, सर्वला, सार्व, सर्वरस, सर्वतोमुख, सर्वगत, सर्वभुक्, सर्वार्थसिद्धि, विश्वकेतु, विश्वम्भरा, विश्वसृट् यहां सर्व शब्द या विश्वके अभीक्ष्ण बहुभाग, अनल्प, अनेक, बाहुल्य, ये अर्थ हैं अशेष, अखिल संपूर्ण नहीं हैं। जैसे भूषण, वसन, दास, दासी, सवारी, स्त्री, बच्चे, राग, द्वेष, व्याकुलता नहीं होना कोई दोष या त्रुटि नहीं है प्रत्युत गुण है। तद्वत् संकल्पविकल्पात्मक ज्ञान नहीं उपजावना, आपेक्षिक प्रतिभास नहीं होना, तर्कणायें, ध्यान, अनुप्रेक्षायें, स्मृतिसमन्वाहार, नहीं होना विशदज्ञानके लिये महत्त्वाधायक हैं। श्रुतज्ञानियोंके आरोपित विषयोंके पीछे वे क्यों पड़ें?

दिगम्बरत्वका मूर्छा, चोरी, हिंसा, व्यसनों, परिच्छदोंसे रहितपना बड़ा भारी पोषक गुण है। पुनः पुनः कहना व्यर्थ। विचारात्मक कोई भी ज्ञान हो वह श्रुतज्ञान ही समझो जायेगा केवलज्ञान तो अतीव स्वच्छ है तीनों कालोंके पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष कर रहा है। स्वामी छुट्टी देदेगा तो नौकर घर जा सकेगा इत्यादि विचार तो अपूर्णज्ञानोंमें पाये जाते हैं।

आज शुक्रवार है ३० दिसम्बर सन् १९४२ ई० पूस सुदी चौथ विक्रम सम्वत् दो हजार है मुसलमानी महीना मुहर्रमकी २ तारीख है। जापान, अफ्रीका आदि देशोंकी फलानी फलानी तिथी है इत्यादि झंझटोंको भगवान् कुछ नहीं जानते हैं। ये सब तुम्हारी गढन्त हैं। वे तो निश्चय-कालको अनन्तपर्यायाकारा जानते हैं। और द्रव्य परिवर्तन-रूप व्यवहार कालको अथवा मात्र राशियोंपर सूर्य-संक्रमणको अनिर्वचनीय देख रहे हैं। इससे अधिक पुंछल्लाओंको नहीं। यों कल्पित विचारात्मक अनेक निकम्मी फोकट बातें सर्वज्ञज्ञानमें नहीं झलकती हैं। गोवत्सको गैया भैंसाका धारोष्ण शुद्ध निर्लेप दुग्ध ही अच्छा लगता है। दूधपर भगाके लादकर बना दिये गये रबड़ी, पेड़ा, दही तक, चाट,

मक्खन, बड़े आदि स्वादिष्ट नहीं लगते हैं। अधिक व्याख्यान की जरूरत नहीं है। मनीषियोंके लिये संकेतमात्र पर्याप्त है।

"यद्विद्या दर्पणायते" "दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र" यों केवलज्ञानके लिये दर्पणका दृष्टान्त बड़ा अच्छा है जैसे दर्पण किसी पंडित, मूर्ख, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शत्रु, मित्र, शुद्ध, अशुद्धका विचार किये बिना ही पदार्थका निर्विकल्प प्रतिभास कर देता है तद्वत् केवलज्ञान भी चिन्तना-रहित परमार्थोंको विशद जानता रहता है।

अच्छा थोड़ा और भी सुनिये किसी किसी छात्रके लिये कई बार कहना पड़ता है। चार मनुष्योंके पास चार चार करके १६ रुपये हैं केवली महाराज विकल्प किये बिना सब रुपयोंको जान जावेंगे। हां कोई बच्चा पूछेगा तो लल्लूको समझानेके लिये चारका पहाड़ा पढ़ कर चार एक चार, चार दूनी आठ, चार तीन बारह, चार चौक सोलह अथवा चारको चारसे तीन बार जोड़ कर वचन बोल देंगे। यह शब्दकी रचना सब श्रुतज्ञान है, केवलज्ञान नहीं। "ज्यों शिशु नाचत आपन राचत" अनुसार केवलज्ञानमें जोड़, बाकी, गुणा, भाग, त्रैराशिक, पंचराशिक, लघुत्तम, महत्तम, दशमलव, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, ब्याज नहीं हैं। क्योंकि ये सब विकल्प हैं। विचार हैं श्रुतज्ञानके जनक हैं। भगवानके पास अणुमात्र श्रुत नहीं है। हाँ शिष्योंको समझानेके लिये अविनाभावी उपायोंसे उपदेश दे देते हैं।

चमचा, खीर, दाल, शाक, सर्वत्र, डोलता है परन्तु उन व्यंजनोंके रससे जलकमलपत्रवत् अलग रहता है। "नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः" "नयैरधिगमः नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः" निर्देशस्वामित्व-आदि सब प्रतिष्ठामंडप श्रोताओंके लिये है, केवलज्ञानी स्थापना आदिका रत्तीभर भी उपयोग नहीं करते हैं। विक्टोरियाके चित्र या मूर्तिको इंग्लेण्डकी सम्राज्ञी समझ लेना ये स्थापनानिक्षेप वालोंके विचार हैं निर्विचार प्रत्यक्ष में ऐसे प्रतिभास नहीं होते हैं। उनको ये झोल चाहियें भी नहीं। कमेटी, सभा, परिषद, विद्यालय, मन्दिर, पार्लामेन्ट-कौन्सिल, यूनीवर्सिटी ये सब अल्पज्ञोंके विचारस्थल हैं अविकल्पकज्ञानियोंको इनमें हो रहीं चिन्तनायें आत्मसात् नहीं करनी पड़ती हैं। मात्र तत्वजिज्ञासुओंके लिये वे अनुभयभाषाकी रचना कर देते हैं। यानी तुम्हारे लिये प्रमेयों पर प्रयोजनसाधक उपयोगी शब्दोंको लपेट लपेट कर द्वादशाङ्ग बनाते हैं गणधर रच देते हैं। केवली स्वयं वाक्यार्थज्ञान नहीं कर पाते हैं। अन्यथा केवलज्ञानीके श्रुतज्ञान बन बैठेगा। जो कि आप आगमश्रद्धालुओंको बुरा लगेगा।

यह दृष्टान्त स्यात् आपको यहां अच्छा नहीं जँचेगा कि अभव्यमुनियोंके उपदेशसे हजारों जीव आत्मोपलब्धि कर मोक्ष पा गये परन्तु वे आत्मज्ञानशून्य ही बने रहे संसार में रुलते फिरे। अच्छा एक ऐसा भी व्यधिकरण दृष्टान्त सही—"काकाः सन्तश्च तनयं स्वं परं न विजानते।" कौआ और सज्जन अपने और परके लड़कोंको समान गिनते हैं। पक्षपात नहीं करते हैं। परभृत् यानी कोयलके अंडेको काकी (कौआकी स्त्री) सेवती है पालती है। ऐसा कवि सम्प्रदाय है यहाँ कौआको सज्जनका साथी बना दिया गया है। पुनः प्रकृतपर लौट आइये।

गोम्मटसारका अध्ययन करने वाले जानते हैं कि विचार करना मनका कार्य है। भगवान् पाँचों इन्द्रिय और छठे मनके द्वारा होने वाले ज्ञानोंसे रहित हैं। "इन्द्रियणाणेण हीणम्मि"। भगवान्के भावमन माना भी नहीं है। केवल "अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि। मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो।" यों मनोवर्गणाके आगमनका लक्ष्यकर उपचारसे मनोयोग कह दिया है। भगवान्को द्रव्यमनका काम नहीं पड़ता है। यों तो केवलज्ञानी भगवान्के स्पर्शन, रसना, घ्राण, आँखें, कान ये बाहरी इन्द्रियां भी बहुत बढ़िया हैं। चक्रवर्तीकी आंखें यदि ४७२६३ बड़े योजनकी दूरस्थित वस्तुको देखती हैं तो परमौदारिक शरीरकी चक्षुयें सैंतालीस लाख योजन दूरवर्ती पदार्थको देख सकती थीं किन्तु वहाँ द्रव्यमन, द्रव्येन्द्रियाँ, सब अकार्यकारी हैं।

संज्ञित्व मार्गणा बारहवें गुणस्थान तक है। "सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण, जो जीवो सो सण्णी" मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओ त्ति होदि णियमेण।"

यों संज्ञीपन यानी मीमांसा करना, विचार करना ये सब चर्चायें

बारहवें तक है। तेरहवें गुणस्थानमें संज्ञीपन, असंज्ञीपन, दोनोंका व्यपदेश नहीं है। सत्य, अनुभय दो मनोयोगोंको उपयोगों को उपयोगसे बिलकुल मत मिलाओ। कहाँ आकर्षणशक्ति और कहाँ चेतना? किधर जारहे हो। तब तो यह स्पष्ट निर्णय हो जाता है कि (१) उसे यों करना चाहिये था कि आज्ञा देनेके पहिले आज्ञा मानना सीख लेना। (२) जो काम तुमको आज करना है उसे कलपर मत छोड़ो (३) अच्छी वृष्टि होगी तो बढ़िया सुभिक्ष होगा। (४) यदि वह स्वयं आगरे जाता तो देवदत्तको अवश्य लिवा लाता। (५) अमुक गाड़ी १२ बजकर ५ मिनटपर छूट जाती तो ५॥ बजे दिल्ली पहुँच जाती। यों मद्रास टाईम, बम्बई टाईम, लिनलिथगो टाइम लगाते बैठना। (६) अमुक रोगीको फलानी औषधि मिल जायगी तब तो वह बच जायगा अन्यथा मर भी सकता है। ये पांच मीमाँसायें श्रुतज्ञानियों के विकल्प हैं। श्री सूत्रकार महोदयने "श्रुतमनिन्द्रियस्य विकल्पः श्रुतं" "आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः" "विपरीतं मनोज्ञस्य"। इन सूत्रों द्वारा सभी धारणायें श्रुतज्ञानियोंके सिर मढ़ दी हैं।

श्री उमास्वामी महाराज जो कह रहे हैं, उसीको मैं बखान रहा हूँ। एक अक्षर भी कोई नई बात नहीं है।

धर्म्यध्यान - शुक्लध्यानोंके लम्बे स्मृतिसमन्वाहार या पृथक्त्ववितर्कविचार ये सब वितर्कणायें भले ही कर्मक्षय का कारण हैं किन्तु श्रुतज्ञानियोंके ही पास हैं केवली इनसे सर्वथा अछूते हैं। विरक्त हैं। सर्वज्ञ भगवान् भी विचारे जो भूत, वर्तमान, भविष्य, कालमें वस्तुभूत पदार्थ हैं उन्हीं को तो जानेंगे इनमेंसे एक परमाणु या तदंशमात्र भी नहीं छूटना चाहिये। किन्तु यदि किसीने मनुष्य । घोड़ेके सींग मान रक्खे हैं या कछुके पंख लगे समझ रक्खे हैं। एक लड़की अपनी गुड़ियाको पाँच सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्य-वान जान रही है, तो कृपानिधान इस गपोड़बाजीसे तो भगवानको बचाये रक्खो, गल्ती, आधी गल्ती, सवालको करने वाले छात्रके मिथ्याविचारोंपर यूनिवर्सिटीके परीक्षकको तदनुसार हो जानेके लिये बाध्य न करो। सच्चा निरीक्षक परमार्थ स्थितिपर पहुँचता है। कल्पक कवियों अथवा कहानी लेखकों, उपन्यासकारोंकी गल्पोंपर नहीं।

अनेक देशीय पुत्र अपने पिताको दादा, दद्दू, भाई, चाचा, वालिद बोलते हैं, माताको बहू, भाभी, चाची, अब्बा कहते हैं, उन कल्पित नामों या पदवियोंको कौन संभाले? तुम ही सोचो। यहां सहारनपुरमें सब अपनी माँको भाभी कहते हैं क्या भगवान् भी माताको भाभी समझलें, क्या बातें करते हो?

देखो पदार्थ अनन्त हैं। उनपर कल्पक नाना व्यक्तियों की ओरसे रक्खे, पोले, आरोपे गये, कल्पित धर्म अनन्तानन्त हैं। और परस्पर चालनीन्यायसे होगये अनन्तानन्त विकल्पोंका पेट तो बहुत बड़ा है। नैगम नय भी कहाँ तक संकल्प करती फिरेगी। पूरे गांव या नगरकी ज्योंनार कराने वाले सेठ तो हैं। क्या कोई राजा महाराजा अपने इन ग्रामस्थ पशु, पक्षी, कीट, पतंग सबका जीवनधार करने वाला देखा है क्या? एक बार केवल मनुष्योंको जिमा देने से "सबका भोजन करा देने वाला" यह पदवी मिल जाती है। अस्तु इस अनन्तपनका भी इतना भीषण भय नहीं है क्यों कि केवलज्ञानके उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्या वाले अविभाग प्रतिच्छेदोंके सामने यह आनन्त्य बिचारा बहुत छोटा है नगण्य है। हाँ मात्र केवलज्ञानीके विचारक या विकल्पक हो जानेका प्रसङ्ग नहीं आना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि प्रवेशिकाके छात्रगण! एक बार यवनोंने हिन्दुओंसे लड़ते समय सामने गायें खड़ी करली थीं आप इस जघन्य प्रक्रियासे क्या ठोस वस्तुभूत केवलज्ञानके सम्पूर्ण अविभाग प्रतिच्छेदों का फलोपयोग लेना चाहते हैं?, यह तो कभी न होगा।

शास्त्रिगन! वे तो "अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पएसाणं" (गोम्मटसार कर्मकाण्ड) अनुसार बना लिए गये कल्पित अविभागी अंश हैं। उनका बहुभाग ठलुआ पड़ा है। "अकान्ततत्वं त्वमवैस्त्रिलोकीस्वामीति संख्यानियते रमीषां बोधाधिपत्यं प्रतिना भविष्यं स्तेन्येऽपि चेद् व्याप्यस्यदमू-नपीदं" (विषापहार) तीन लोक तीन कालसे कोई अधिक तत्त्व होते तो केवलज्ञान उनको भी जान लेता किन्तु कोई है ही नहीं। यों केवलज्ञानका अधिक भाग बेकार है और इधर थोथा, सापेक्ष, संकल्पित ज्ञेय भी केवलज्ञानसे ओझल हो रहा है। क्वचित् धन व्यर्थ पड़ा है अन्यत्र धनाभिलाषुक गरीब दरिद्र अवस्थामें रो रहे हैं। कहीं वनमें औषधियाँ गल सड़ कर नष्ट हो रही हैं। इधर उन दवाइयोंके बिना अनेक रोगी अकाल मृत्युसे मर रहे हैं।

सभी युवक युवतियोंके सतत उपयोगार्थ "नष्टदग्धाश्वरथ" न्याय कौन लगाता फिरे ? कोई रुग्ण है अन्य देशान्तरमें है । इतर प्रोषितभर्तृका है । आखिर भाइयो ? ब्रह्मचर्यव्रत और पाप-कर्मोदय भी तो कोई चीज़ है । सांपकी पाँचों इन्द्रियां, विष, दान्त, मुख, सब एक इंचमें बनी हैं शेष चार पाँच फुट आयत शरीरका क्या उपयोग करोगे ? अत्युपयोगी भी वस्तुका बीस हजारवाँ भाग तुमको फलप्रद है शेष यों ही बह रहा है नष्ट हो रहा है। समीचीन दृष्टि पसारिये ।

जगत्में योग वाले जीव अनन्तानन्त हैं और योग जाति अपेक्षा केवल श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण कुल असंख्याते हैं । फिर भी असंख्याते योग खाली पड़े हैं छः अन्तर वाले योगोंका कोई भी जीव स्वामी नहीं है । कर्मभूमिकी किसी भी स्त्रीके अंगोंमें एक भी लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य न पैदा होय ऐसा असंख्यात वर्षोंका अन्तर पड़ सकता है । इसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयको खाली रहने दो, सभी ज्ञेयोंको चाहे जिस ज्ञानके द्वारा ज्ञात हो जानेके लिये बाध्य न करो, इसी प्रकार अनन्तज्ञानको भी ठलुआ मत बैठो, रद्दी फोकसको भी जानते रहो" यों प्रेरित न करो "कै हंसा मोती चुगैं कै भूँखे मर जाँय" 'गिरीन्द्र सदृश ठलुआ गजेन्द्रपर कूड़ा कचड़ा नहीं लादो । वस्तु वैचित्र्यपर व्यर्थं क्यों टांग अड़ाते हो" अनहोनीको कर लोगे क्या ? "स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः" (समन्तभद्रः) "वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः" (प्रभाचन्द्रः) यों नयोंके द्वारा नेय हो रहे विषयोंको भी सर्वज्ञ नहीं जानते हैं । क्यों कि ये तो भावमन वाले या इच्छावाले संज्ञी जीवों के सद्विचार हैं । श्रीसिद्ध भगवान्के न भावमन है इच्छायें भी नहीं हैं । (क्रमशः)

जयपुरमें एक महीना

—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री]—

आमेर और जयपुरके भंडारोंके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि वे शास्त्रभंडार प्राचीन हैं, इनमें संस्कृत प्राकृतके प्राचीन ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है और कितने ही ऐसे अपूर्व जैनग्रंथ भी हैं जिनका नाम तक लोगोंको मालूम नहीं और जिन्हें प्रकाशनमें लानेकी बड़ी ज़रूरत है । चूँकि वीरसेवामन्दिर दिगम्बर ग्रंथोंकी एक मुकम्मल सूची और प्रशस्तियोंका एक उत्तम संग्रह प्रकाशित करना चाहता है, जिसका बहुत कुछ संकलन होचुका है, इसलिये मुख्तार साहब मुझे साथ लेकर जयपुर जाना चाहते थे और इन दोनों स्थानोंके विशाल भंडारोंको देखना चाहते थे । कारणवश मुख्तार सा० इस समय जयपुर न जा सके, तब उन्होंने मुझे ही भेज देना उचित समझा । तदनुसार मैं ता० १७ अप्रेलको सरसावासे चलकर देहली होता हुआ ता० १८ की शाम को जयपुर पहुँचा और वहाँ दि० जैन महाविद्यालयमें मित्रवर पं० चैनसुखदासजीके पास एक महीने तक ठहरा।

जयपुर राजपूतानेका एक प्रसिद्ध शहर है । इसकी बसावट बड़े अच्छे ढंगसे की गई है । शहरमें सफ़ाईकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, जो, स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है । यह नगर जैनियोंका प्रधान केन्द्र रहा है, वर्तमानमें भी संभवतः पाँच हजारके करीब जैनियोंकी आबादी होगी । कलाकी दृष्टिसे भी जयपुरका कम महत्व नहीं है । खंडेलवाल जैनसमाजके यहां कितने ही प्रतिष्ठित धर्मात्मा और राज मान्य व्यक्ति होगये हैं । कितने ही जैन 'दीवान' जैसे उच्च पदपर आसीन रह चुके हैं, जिनमें अमरचंदजीका नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है । आप बड़े ही विनयी, धर्मनिष्ठ और देशसेवक थे । आपके विषयमें यह सुना जाता है कि आपने जयपुरकी रक्षार्थ अपने जीवन का उत्सर्ग किया है । वस्तुः यहां कई मंदिर और शास्त्रभंडार देखने योग्य हैं । विद्वानोंका यहां खासा जमघट रहा है स्वर्गीय पं० टोडरमलजीकी टीका कृतियोंका निर्माण

इसी स्थान पर हुआ है। पं० जयचंदजी छाबड़ा और पं० सदासुखदासजी आदि विद्वानोंने भी इसे अपने निवास से अलंकृत किया है। जैनियोंका इस स्टेटसे निकट सम्पर्क रहा है और अब भी कितने ही जैन उक्त राज्यके कार्योंको अपनी योग्यताके साथ सम्पन्न कर रहे हैं। यहां फल्टण निवासी बाबा दुलीचन्दजीका शास्त्रभंडार और उसकी व्यवस्था दर्शनीय है। बाबाजीने अपने सारे जीवनमें इसका संग्रह किया है।

जयपुरसे ७ मीलकी दूरी पर आमेर नगर बसा हुआ है जो जयपुरकी प्राचीन राजधानी था। यह नगर पहाड़ोंके त्रिकोणमें नीचे बसा है। आमेरकी बस्ती अब बहुत कुछ खंडहरोंमें परिणत हो गई है—बड़ी बड़ी इमारतें धराशायी पड़ी हैं—खंडहर नगरकी प्राचीनताके संद्योतक तथा उत्थान और पतनके स्पष्ट प्रतीक हैं। यहांका किला कलाकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है। नगरके चारों ओर ऊपर नीचे देखनेसे यह सहज ही मालूम हो जाता है कि प्राचीन समय में दूसरोंके आक्रमणसे शहर एवं राज्यकी रक्षाके लिये कितना सुदृढ़ प्रयत्न किया जाता था। यहाँ कई जैन मंदिर और एक नशियाजी हैं। उन सबमें प्राचीन मंदिर नेमिनाथ स्वामीका है जो 'सांवला' जीके मंदिरके नामसे प्रसिद्ध है। इस मंदिरकी भीतरी शिखरका भाग और एक वेदी परका सोनेका कार्य दोनों ही दर्शनीय हैं। यहां जैनियोंका केवल एक घर ही अवशिष्ट रहा है, बाकी सब जयपुर या अन्य देशोंमें चले गए हैं। इसी मंदिरमें भट्टारक महेन्द्रकीर्तिका वह प्राचीन शास्त्रभंडार है जिसके अवलोकनकी उत्कट इच्छाको लेकर मैं वहाँ गया था। यह मंदिर मकानकी एक मंजिल जितनी ऊँचाई पर बना है। कहा जाता है कि इसके नीचे एक विशाल भौंयरा (तहखाना) है जो बहुत अर्सेसे बंद पड़ा है। उसके द्वार पर कुछ ऊँचाई पर तीन लंबे पत्थर लगे हुए हैं, जिससे सहसा उसके नीचे भौंयरेका परिज्ञान नहीं हो पाता। कहा जाता है कि इसमें प्राचीन मूर्तियां और शास्त्र रक्खे हुए हैं। पं० जवाहरलालजी शास्त्रीसे यह मालूम करके बड़ा आश्चर्य हुआ कि इसमें तीन जीर्ण वेष्टनोंमें स्वामी समन्तभद्रका प्रसिद्ध महाभाष्य भी मौजूद है, जिसका एक बहीकी लिष्टमें उल्लेख है। परन्तु मुझे भंडारके तमाम ग्रंथ देखने पर भी उस बहीका कोई पता नहीं चला।

यह भौंयरा गर्मीके दिनोंमें ही खुल सकता है; वर्षा ऋतुमें उसमें अत्यधिक सील और ठंडके दिनोंमें अत्यन्त सर्दीकी संभावना है, ऐसा वृद्धजनोंसे सुननेमें आया है। आशा है महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटीके मंत्री, कमेटीके मेम्बरान् और पं० चैनसुखदासजी इसे खुलवा कर देखेंगे कि उस में क्या क्या चीजें हैं। प्राचीन मूर्तियोंके सिवाय क्या कुछ प्राचीन ग्रंथ भी हैं ? और वे वहां किस हालतमें हैं ?

इस मन्दिरके जिस कमरेमें ग्रंथोंके गट्ठड़ रक्खे हुए थे वह एक छोटी सी कोठड़ी है। उसके किवाड़ अन्दरसे दीमकने खालिये हैं परन्तु वे बाहरसे अपना कार्य बराबर कर रहे थे। अब नये किवाड़ोंकी जोड़ी लगानेकी व्यवस्था हो गई है। फर्शसे चार पांच फुटकी ऊँचाई पर दीवालसे लगी हुई पत्थरकी पट्टियों पर गट्ठड़ रक्खे हुए थे और कुछ गट्ठड़ोंके बंधे हुये ग्रन्थ। सफेद टीनके सन्दूकोंमें गट्ठे खोल कर रख दिये गए थे। ग्रंथ टाटके एक खोलके अन्दर रक्खे हुए थे और उसके ऊपर बरा तथा रुईके छोटे छोटे गद्दे रख कर सूतकी पतली डोरियोंसे कसे हुए थे। फिर इसके ऊपर एक एक लम्बी चौड़ी चादर लिपटी हुई थी और फिर उसे सूतकी मोटी रस्सियोंसे कसा हुआ था। इस तरह सील आदिकी हिफ़ाजतसे उन्हें सुरक्षित रक्खा गया था। ब्र० शीतलप्रसादजीने जो सूची बनाई थी उसके अनुसार गट्ठड़ोंकी संख्या १३ होना चाहिये थी; परन्तु ४ नं० की गठड़ीका कोई पता नहीं चला, और न उनकी सूचीके अनुसार वे ग्रंथ ही पाए गए जो उस गठड़ीमें थे। संभव है ये ग्रन्थ कहीं चले गए या किसीको दिये गए जिससे पुनः वापिस नहीं मंगाए, कुछ भी हुआ हो। ये सभी ग्रन्थ तीन बारमें आमेरसे जयपुर लाए गये और सेठ बधीचंदजीके मकानमें रक्खे गए, जहाँ अतिशय तीर्थक्षेत्र महावीर कमेटीका दफ्तर है। इस भंडारकी मुकम्मल सूची भी अब तय्यार हो गई है, जिसमें वे सब खाने रक्खे गए जो वीरसेवामंदिरकी ग्रन्थ-सूचीमें नियत हैं।

इस भंडारमें उतने महत्वके प्राचीन ग्रंथ तो देखने नहीं आये, जिनकी आशा की जाती थी। हां, ग्रन्थोंकी प्रतियाँ अच्छी संख्यामें हैं। इसके सिवाय अपभ्रंश और संस्कृत भाषाका पुराण साहित्य यहां काफ़ी है। भण्डारके

जिन ग्रंथों परसे प्रशस्तियोंका नोट किया गया है उनके नाम पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे नीचे दिये जाते हैं—

१ पद्मपुराण (कवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु)
२ पार्श्वपुराण (कवि पद्मकीर्ति) रच० वि० सं० ६६६
३ जंबूस्वामिचरित्र (कवि देवदत्तसुत कविवीर) रच० वि० सं० १०७६
४ सुलोचनाचरित्र (गणिदेवसेन)
५ प्रद्युम्नचरित्र (कवि सिद्ध या सिंह)
६ जिनदत्तचरित्र (पं० लाखू) रच० वि० सं० १२७५
७ पाण्डवपुराण (भ० यशःकीर्ति) रच० वि० सं० १४६७
८ हरिवंशपुराण (भ० यशःकीर्ति) रच० वि० सं० १५००
९ बाहुबलिचरित्र (कवि धनपाल) रच० वि० सं० १४५४
१० पद्मपुराण (कवि रइधू) +
११ धन्नकुमारचरित्र „ +
१२ श्रीपालचरित्र „ +
१३ हरिवंशपुराण (कवि श्रुतकीर्ति) रच० वि० सं० १५५२
१४ परमेष्ठीप्रकाशसार (कवि श्रुकीर्ति) „ „ १५५३
१५ मल्लिनाथ काव्य (जयमित्रहल) +
१६ श्रीपालचरित्र (पं० नरयसेन) +
१७ मदनपराजय (कवि हरदेव) +
१८ हरिषेणचरित्र + +
१९ नागकुमार चरित्र (माणिक्यराज) रच० वि० सं० १५७९
२० मृगांकलेखाचरित्र(पं०भगवतीदास)रच. वि सं० १७००
२१ भविष्यदत्तकथा (कविश्रीधर)
२२ आत्मसंबोधकाव्य +
२३ बारस अणुवेक्खा (कवि जल्हिग)
२४ बारस अणुवेक्खा (कवि हंसर)
२५ बारस अणुवेक्खा (कवि लक्ष्मीचन्द)
२६ जोगीचर्या +
२७ सप्ततत्त्वगीत +
२८ मुक्तावलिरासा (ब्र० जीवंधर)
२९ अवधू-अनुप्रेक्षा (कवि अवधू)
३० आराधनासार ज्ञानपिंडकी पायडी ×
३१ सुदर्शनचरित्र (नयनंदि) रच० वि० सं० ११००
३२ रत्नकरण्ड (पंडित श्रीचंद) रच० वि० सं० ११२३
३३ षट्कर्मोपदेश (भ० अमरकीर्ति) रच० वि० सं० १२४७

इनके अतिरिक्त जयपुरके पाटोदी आदि शास्त्रभंडारोंसे अपभ्रंश भाषाके नेमिनाथचरित्र (कवि लक्ष्मण) और चंदप्रभचरित्र (भ० यशःकीर्ति) के ग्रंथोंके सिवाय भ० सकलकीर्तिके आदि पुराणादि ११ ग्रंथ, सुभौमचक्रवर्ति चरित्र (भ० रतनचन्द्र रच० वि० सं० १६८३), ब्र० नेमिदत्तके आराधनाकथाकोषको छोड़ कर श्रीपालचरित्र आदि चार ग्रंथ, भ० शुभचंद्रके चंदनाचरित्रादि तीन ग्रंथ। पंच-नमस्कार मंत्र (भ० सिंहनन्दी, रच० वि० सं० १६६७), होली रेणुका चरित्र (पं० जिनदास, रच० वि० सं० १६०८), श्वेताम्बरपराजय (पं० जगन्नाथर च० वि० सं० १७०३), जयकुमारपुराण (ब्र० कामराज रच० वि० सं० १५००), मुनिसुव्रतपुराण (ब्र० कृष्णदास रच० वि० सं० १६८१), पदार्थदीपिका (कलश टीका) भ० देवेन्द्रकीर्ति रच० वि० सं० १७८८, श्रावकाचार पद्मनन्दि। यशोधरचरित्र भ०) श्रुतसागर, क्षपणासार गद्य (माधवचन्द त्रैविद्यदेव) सिद्धांतसार (पं० नरेन्द्रसेन), भूपालचतुर्विंशतिकाटीका यशोधर-चरित्र (पद्मनाभ कायस्थ, तथा पं० वासवसेन), नेमिनाथ रासा (पांडे रूपचन्द), त्रेपनक्रिया (कवि ब्रह्मगुलाल), मन-करहा (ब्र० दीपचन्द), प्रद्युम्नप्रबंध (भ० देवेन्द्रकीर्ति), समकितरास, यशोधररास, श्रेणिकरास और हरिवंश पुराण (ब्र० जिनदासके चार ग्रंथ) और जंबूस्वामि चरित्र (पांडे जिनदास), इन सब अपभ्रंश, संस्कृत, गुजराती और हिंदी भाषाके ग्रंथोंकी प्रशस्तियां भी नोट की गई हैं।

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इन सब ग्रन्थ प्रशस्तियों और इनके अतिरिक्त वीरसेवामन्दिरमें प्रशस्तियों का जो बड़ा संग्रह है उस सबको मिला कर एक विशाल प्रशस्तिसंग्रह ऐतिहासिक हिन्दी परिचयादिके साथ, वीर-सेवामंदिरसे वीरशासन-जयंतीके बाद प्रेसमें दिया जानेको है। इस संग्रहकी एक विशेषता यह भी होगी कि जो प्रशस्तियां अन्यत्र प्रकाशित हुई हैं और अधूरी अथवा त्रुटिपूर्ण हैं उन्हें यहाँ उन त्रुटियोंको यथाशक्ति दूर करते हुए दिया जायगा। उदाहरणके तौर पर कारंजा भंडारमें स्थित पद्मकीर्तिके पार्श्वपुराणको ही लेलीजिये। इस ग्रंथकी जो प्रशस्ति सी० पी० एण्ड बरारके कैटलोगमें प्रकाशित हुई थी उसमें प्रशस्तिके अंतमें पाई जाने वाली चार गाथाएँ नहीं हैं जिनमें उसका रचनाकाल तक दिया हुआ है, किन्तु आमेरभंडारकी सं० १४६४ की लिखित प्रतिमें

२१ वें कडकवके बाद वे चार गाथाएँ निम्न रूपमें पाई जाती है :—

अइ वि विरुद्धं एयं णियाणबंधं जिणिंद उवसमए।
तहं वि तहय चलणं कित्तणं? जयउ पउमकिंत्तिस्स॥
रइयं पासपुराणं भमियापुहमी जिणालया दिट्ठा।
एहिय जीविय मरणे हरिस—विसाओ।ण पउमस्स॥
सावयकुलम्मि जम्मो जिणचरणाराहणा कइत्तं च।
एयाइ तिण्णि जिणवर भविभवि होउ पउमस्स॥
णवसय-णउ वा णुइए कत्तिय मासे अमाणसी दिवसे।
लिहियं पासपुराणं कइणा इह पउमणामेण॥

वीरसेवामंदिरके इस पुनीत कार्यमें मित्रवर पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, सेठ रामचंद्रजी खिंदुका मंत्री महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी, तथा कमेटीके मेम्बरान् बा० सूर्यनारायण जी वकील, बा० फूलचन्दजी सोनी, और बा० फूलचन्दजी बाकलीवालके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। पं० श्री प्रकाशजी न्यायतीर्थ और पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ, तथा झार्थचरकी सेठी चौधू भाई मानभद्रजी तथा पाटोदी-मंदिरके शास्त्रभंडारके मैनेजर सा० का भी मुझे पूरा पूरा सहयोग मिला है। इन सबके सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं सहयोगके लिये मैं आभारी हूं। आशा है भविष्यमें भी इसी तरहका सहयोग वीरसेवामन्दिरको प्राप्त होता रहेगा।

राजपूतानेमें जैनियोंके पुरातत्वकी विपुल सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई पड़ी है। जैन समाजका मुख्य कर्तव्य है कि वह इस देशके शास्त्रभंडारों, मूर्तिलेखों, प्राचीन स्थानों और जैन वीरोंकी *गौरवगाथाओंका शीघ्र ही एक अच्छा* संकलन एवं संग्रह तय्यार करके प्रकाशित करे। यह कार्य अत्यंत आवश्यक है, जो जैन इतिवृत्तके लिखनेमें बहुत कुछ सहायक होगा। आशा है समाजके उदार श्रीमान अपने पूर्वजोंकी कीर्तिके संरक्षण और भावी संतानके पथ-प्रदर्शनका ध्यान रखते हुए इस ओर अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २० मई ४४

वीरशासन-जयन्तीपर मुनि श्रीकृष्णचन्द्रजीका अभिमत

श्रीजैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूलाके माननीय अधिष्ठाता जैनदर्शनाचार्य मुनि श्रीकृष्णचन्द्रजीने राजगृहमें होनेवाले वीर-शासनजयन्ती-महोत्सवके निमंत्रणको पाकर उसमें सम्मिलित होनेकी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए, अपना जो अभिमत २२ जून १९४४ के पत्रमें व्यक्त किया है वह अनेकान्त-पाठकोंके जानने योग्य है। आप लिखते हैं:—

"परममाननीय पं० जुगलकिशोरजी साहेब! वन्दे वीरम्।

आपका आमन्त्रण-पत्र मिला। मेरी बड़ी ही हार्दिक इच्छा रही है कि मैं ऐसे शुभावसर पर राजगृह पहुँचूं। जैसे कि अनेकान्तमें देखनेमें आया था कि वीरशासन-जयन्तीके बारेमें दिगम्बर-श्वेताम्बरमतभेद है—वस्तुतः वह जयन्तीके बारेमें नहीं हो सकता, तिथियोंके विषयमें ही कहा जा सकता है। ऐसे मतभेदोंके लिये मेरे हृदयमें स्थान भी नहीं है—मैं तो उस भावनाको महत्व देता हूं जिससे प्रेरित होकर आपने इस पवित्र पर्वका समारम्भ किया है। वह भावना अवश्य ही प्रशस्य है। मैं समझता हूँ जब कि 'सार्वद्वय-सहस्राब्दी' उत्सव दीपावलीके अवसर पर मनानेका कमेटीने निर्णय किया है तब तो यह मतभेद भी नहीं रहता। अब तो उस उत्सवका एकमात्र लक्ष्य वीरप्रभुके शासनकी जयन्ती मनानेका रह जाता है। ऐसी स्थितिमें दीपावलीके शुभावसर पर वह उत्सव और भी अधिक सफल होगा ऐसा मुझे दीखता है।"········

साहित्यपरिचय और समालोचन

कसायपाहुड—(सचूर्णि-सूत्र, जयधवला टीका हिन्दी अनुवाद सहित) मूल लेखक आचार्य गुणधर चूर्णिकार, आचार्य यतिवृषभ और टीकाकार वीरसेनाचार्य। सम्पादक, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य और पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री। प्रकाशक, भा० दि० जैनसंघ चौरासी मथुरा। पृष्ठ संख्या, सब मिला कर ५५००) मूल्य, सजिल्द प्रतिका १० रुपया, और शास्त्राकार का १२) रुपया।

ग्रंथका नाम कषाय-प्राभृत है। यह ज्ञानप्रवाद नामके पांचवें पूर्वकी दशमी वस्तुमें पेज्जपाहुडसे कषायप्राभृत निष्पन्न हुआ है। यह ग्रंथ पेज्ज-दोसक्ति स्थिति-विभक्ति आदि पंद्रह अधिकारोंमें विभाजित है। इनमें कषायोंकी बन्ध, उदय और सत्वादि विविध अवस्थाओंका व्याख्यान किया गया है। दशवें ग्यारहवें अधिकारोंमें दर्शन मोहकी 'उपशमना' विधान है और चौदह, पंद्रहवें अधिकारमें चरित्रमोहकी उपशमना और उसकी क्षपणाका विस्तृत वर्णन किया हुआ है। इन अधिकारोंमेंसे प्रस्तुत ग्रंथ 'पेज्जदोस विहत्ती' नामके प्रथम अधिकार को लिये हुए है। इस अधिकारकी विषय-सूचीका अवलोकन करनेसे इसकी प्रमेय-बहुलताका स्पष्ट बोध हो जाता है। स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये ज्ञातव्य सामग्री का खूब संकलन है। सूत्र-गाथाओंके कथनको चूर्णिसूत्रों और जयधवला टीकाके साथ साथ कितने ही विशेषार्थों द्वारा उसके मर्मको खोलनेका प्रयत्न किया गया है। अनुवाद सुन्दर और रुचिकर हुआ है और उसे पाठकोंको सरल भाषामें रखनेका प्रयत्न किया है।

ग्रंथके आदिमें ११२ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना दी हुई है जिसमें ग्रंथ ग्रंथकार, चूर्णिसूत्र, और उसके कर्ता, टीका और टीकाके समयादि विषयमें अच्छा प्रकाश डाला गया है 'विषय परिचय' शीर्षकके नीचे, कर्म और कषाय, कसायपाहुडका संक्षिप्त परिचय, मंगलवाद, ज्ञानस्वरूप, कवलाहारवाद, नयनिक्षेपादि विचार और नयोंके निरूपण इन ७ उपशीर्षकों द्वारा विषय का संक्षिप्त एवं स्पष्ट विवेचन किया गया है।

ग्रंथके अंतमें आठ परिशिष्ट दिये हुये हैं, जिनसे ग्रंथ की अधिक उपयोगिता बढ़गई है, सम्पादन, प्रकाशन और गेट अप् वगैरह सभी सुन्दर और आकर्षक हैं। यह ग्रंथ भा० दि० जैन संघ ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प है। सम्पादक त्रयने इसे इसरूपमें प्रस्तुत करनेमें अच्छा परिश्रम किया है इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। ग्रंथ प्रत्येक जैन मन्दिर तथा लाय ब्रेरीमें संग्रह करने योग्य है।

२ सन्यासी या देशकी आवाज—(नाटक)—लेखक भगवतस्वरूप जैन भगवत् प्रकाशक, भगवत्भवन, ऐत्मादपुर (आगरा) पृष्ठसंख्या ६६। मूल्य, बिना जिल्दका दश आना।

भगवत्स्वरूपजी उदीयमान लेखक और कवि हैं। आपकी रचनाएं अच्छी और शिक्षाप्रद होती हैं। प्रस्तुत नाटक वीर-रस-प्रधान है और राष्ट्रीय नाटकके रूपमें लिखा गया है। पढ़नेसे हृदयमें वीर-रसका संचार होता है साथमें करुणा, अनाथरक्षा तथा देशभक्तिके पाठकी शिक्षा भी मिलती है। पुस्तक अच्छी और परिश्रमसे लिखी गई है। छपाई सफाई अच्छी है।

३ घरवाली—यह भी उक्त भगवतजी रचना की है और भगवतभवन ऐत्मादपुरसे ही प्रकाशित हुई है। जिसमें ८५ पद्योंमें घरवालीके प्रति विश्वास और प्रेमके सिवाय उसके साथ किये जाने वाले अन्यायअत्याचारोंका दिग्दर्शन भी कराया गया है। पढ़नेसे अच्छा मनोरंजन होता है। हृदय-मन्दिरमें उठने वाले अनेक तरहके विचारोंको इसमें संकलित किया गया है। इस छोटीसी पुस्तकका मूल्य चार आना है।

परमानन्द शास्त्री

वीरसेवामन्दिरको सहायता

इस वर्षकी दूसरी किरण (सितम्बर १९४३) में प्रकाशित सहायताके बाद, वीरसेवामन्दिर सरसावाको अनेकान्त सहायता और सदस्य फीसके अलावा जो दूसरी फुटकर सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है, और इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं :—

१०१) ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन रईस तिस्सा जि० मुजफ्फरनगर (लायब्रेरीके वास्ते हस्तलिखित ग्रंथ खरीदनेके लिये, जो खरीदेजाचुके हैं)।

५०) श्री पं० चद्रि० जैनमन्दिर बधीचन्दजी जैन जयपुर (ग्रंथप्रकाशनार्थ)

१०१) श्रीमती रामीबाई धर्मपत्नी स्व० ला० सुन्दरलालजी जैन रईस नानौता जि० सहारनपुर।

११) ला० जिनेश्वरदासजी जैन सर्राफ, देहरादून

५) बा० रत्नत्रयधारी जैन करौलबाग, देहली।

४३॥।) बाबू छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता (सफरखर्च-की सहायतार्थ)

६) ला० इन्द्रसेनजी जैन टिम्बरमर्चेन्ट अब्दुल्लापुर जि० अम्बाला (लायब्रेरीके लिये) पुत्रीके विवाहकी खुशीमें

२) बा० जगदीशप्रसादजी जैन ओवरसियर, सरसावा (भाई कपूरचंदके विवाहकी घुड़चढीपर)।

७) ला० ब्रजनन्दनप्रसाद, मुन्नीलालजी जैन, मुरादाबाद (चि० पुत्र रघुवीरसरनके विवाहकी खुशीमें)।

८) ला० माधोलालजी जैन नई मंडी मुजफ्फरनगर (चि० पुत्रपद्मप्रसादके विवाहकी खुशीमें)।

५) ला० सुंडेलालजी जैन, मालिकफर्म कुन्दनलाल कालूराम, पानीपत

१००) मुनि श्रीसिद्धिसागरजी महाराज जयपुरकी तरफसे (ग्रन्थ प्रकाशनार्थ)।

२१) ला० दीपचन्दजी जैन (अम्बहटावाले) ओवरसियर नहर कानपुर और ला० श्रीचन्द (सरसावानिवासी) जैन संगल, एटा (पुत्र चि० देवेन्द्रकुमार और पुत्री चि० चन्द्रकुमारीके विवाह की खुशीमें)।

११) ला० शम्भूदयाल दीपचन्दजी जैन मेरठ (पुत्रविवाह की खुशीमें) मार्फत ला० जोतीप्रसादजी घीवालेदेहली।

५) ला० धूमीमल धर्मदासजी जैन कागजी, देहली (पुत्रीके विवाहकी खुशीमें) मा० लालाजी।

४) ला० दीपचन्दजी जैन सहारनपुर और ला० हीरालाल जी जैन अजमेर (पुत्र-पुत्रीके विवाहकी खुशीमें) मार्फत उक्त लाला जोतीप्रसादजी।

२१) ला० गुलाबचन्द ताराचन्दजी जैन, बेलनगंज, आगरा (चि० हृदयमोहनके विवाह की खुशीमें)।

५०१॥।)

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर

अनेकान्तको सहायता

१ ली जनवरीसे १५ जून सन १९४४ तक ५॥ महीने के अन्दर जो सहायता 'अनेकान्त' को उसके हेडआफिस सरसावामें प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्नप्रकार है, और इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं :—

२) बा० मनोहरनाथजी जैन वकील, बुलन्दशहर (पिता श्री भोलानाथजी मुख्तारके स्वर्गवासके उपलक्षमें)।

३॥) ला० रतनचन्द हुब्बीलालजी जैन, लुटास जि० मंडला

५) ला० नेमचन्द अभयकुमारजी जैन बर्तनवाले, याहियागंज, लखनऊ (विवाहमें दोनों ओरसे निकाले हुए दानमेंसे)

११) ला० मक्खनलालजी जैन ठेकेदार, दरियागंज, देहली (पुत्र विवाहकी खुशीमें)।

५) ला० न्यादरमल सूरजभानजीजैन, पहाड़ी धीरज, देहली

१) बा० विमलप्रसादजी जैन सदर बाजार, देहली।

१४) बा० जगतप्रसादजी जैन, डालमियानगर।

५) बा० प्रभुलालजी जैन प्रेमी, पोहरी जि० ग्वालियर (भाई घनसुंदरके विवाहकी खुशीमें)।

१०) ला० दीपचंदजी जैन, ओवरसियर नहर कानपुर और ला० श्रीचन्द्र जैन संगल, एटा (पुत्र-पुत्रीके वि० खुशीमें)

११) ला० गुलाबचन्दजी जैन, बेलनगंज, आगरा (चि० हृदयमोहनके विवाहकी खुशीमें)।

४) ला० शांतिकुमारजी रांवका, सांभरलेक (चि० की खुशीमें)

२) पं० श्री प्रकाशजी, जयपुर (विवाहकी खुशीमें)।

१०) सेठ लक्ष्मीचंदजी जैन बी० ए०, शाहदरा देहली (धर्मपत्नीके स्वर्गवास पर)

२०) ला० जिनेन्द्रचंद्रजीजैन, लखनऊ (पिता जीके स्वर्ग०पर)

१०३॥)

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

Registered No. A-731.

दो धर्मात्माओंका वियोग

श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर छाणीका गत ता० १७ मईको सागवाड़ामें ५५ वर्षकी अवस्थामें समाधिमरण-पूर्वक स्वर्गवास हो गया है। आपके इस वियोगसे समस्त जैन समाजको बड़ा ही दुःख हुआ है। आप बहुत शान्त-स्वभावी और चारित्रवान् थे। ज्ञान प्रचारकी दृष्टिसे आपने कई ग्रन्थमालायें और शिक्षा-शालायें खुलवाई हैं। आपका प्रयत्न अनवरत विद्या-प्रचार, साहित्यप्रचार और धर्मप्रचारमें ही होता था। सामाजिक विवादस्थ विषयोंसे आप अलग रहते थे। आपकी चर्या और चारित्रका लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता था।

दूसरा शोक जनक वियोग गत १४ मईको 'ज्ञानचन्द्रिका' भूरी बाईजी इन्दौरका ६७ वर्षकी अवस्थामें हो गया। आप बाल्यावस्थामें ही विधवा हो गई थीं। तबसे आपने जैनशास्त्रोंका खूब अभ्यास किया। शास्त्राभ्याससे आपकी इतनी सूक्ष्मबुद्धि होगई थी कि आप सूक्ष्म चर्चा करनेमें बड़ा आनन्द मानती थीं। श्रोताओं पर आपकी ज्ञानचर्चा और प्रवचनका अच्छा और आकर्षक असर होता था। 'शास्त्र-स्वाध्याय' करना और कराना ही समूचे जीवनका एकमात्र व्यसन था। 'गोम्मटसार' 'धवला' आदि आगम ग्रंथोंकी अच्छी जानकारी थी। वास्तवमें आप सच्ची ज्ञानचन्द्रिका थीं। आपको कैंसरकी बीमारी हो गई और अन्तमें वही आठ माह तक तीव्र वेदना देकर उनकी घातक हुई !!

हम इन दोनों धर्मप्राण स्वर्गीय आत्माओंके लिये शान्तिकी कामना करते हैं।

वीर-शासनाङ्क-विषयक जरूरी सूचना

'वीरशासनाङ्क' नामसे अनेकान्तका जो विशेषाङ्क निकलने वाला है उसके लिये अधिकांश विद्वानोंने बहुत देरसे लेख-लिखना प्रारंभ किया है, इसीसे अब तक उतने लेखोंका संग्रह नहीं हो सका है जितनेकी खास जरूरत है। कितने ही विद्वानोंके पत्र आरहे हैं कि उन्होंने अब लिखना शुरू किया है। कितने ही लेख भी ऐसे हैं जो बहुत समय-साध्य हैं। ऐसी स्थितिमें यह विशेषांक श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको प्रकाशित न होकर अब दीपावलीके करीब होनेवाले वीरशासनके 'सार्द्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव' पर ही प्रकट होगा। अतः जिन विद्वानोंने अभी तक लेख भेजने की कृपा नहीं की उन्हें श्रावणके अन्त तक भेज देना चाहिये, जिससे छपाईका कार्य सुविधानुसार हो सके। अब तक कोई ५० विद्वानोंके लेख आ चुके हैं, जिनके लिये हम लेखक महोदयोंके आभारी हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

To

If not delivered please return to:-
VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तवप्रेस सहारनपुरमें मुद्रित।

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

विश्व तत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः॥

वार्षिक मूल्य ४) एक किरणका ।=)
इस किरणका मूल्य ।)

सूचना—सरकारी आर्डिनेंसके द्वारा कम पृष्ठ दिये जा रहे हैं, अधिक पृष्ठोंके लिये प्रयत्न हो रहा है।

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ६ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | जुलाई
किरण १२ | श्रावणशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७०, विक्रम सं० २००१ | १९४४

विपुलाचलपर वीरशासन-जयन्तीका अपूर्व दृश्य

[सम्पादकीय]

जबसे वीरसेवामन्दिरने यह प्रस्ताव पास किया था कि वीरशासन-जयन्तीका आगामी उत्सव राजगृहमें उस स्थान पर ही मनाया जावे जहाँसे वीरशासनकी 'सर्वोदय-तीर्थधारा' प्रवाहित हुई थी तबसे लोकहृदय उस पुनीत उत्सवको देखनेके लिये लालायित हो रहा था और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था त्यों-त्यों उत्सवकी महानताका विचारकर लोगोंकी उत्कण्ठा उसके प्रति बढ़ती जाती थी, और वे बार बार पूछते थे कि उत्सवकी क्या कुछ योजनाएँ तथा तय्यारियाँ हो रही है।

इधर विहार और बंगालके कुछ नेताओंने, जिन्हें उत्सव के स्वागतादि-विषयक भारको उठाना था, राजगृहकी वर्षा-कालीन स्थिति आदिके कारण जनताके कष्टोंकाकुछ विचारकर और अपनेको ऐसे समयमें उन कष्टोंके समक्ष बड़े उत्सवका प्रबन्ध करनेके लिये असमर्थ पाकर कलकत्तामें एक मीटिंग की और उसके द्वारा यह निर्णय कियाकि उत्सवको दो भागोंमें बाँटा जाय—एक वीरशासन-जयन्तीका साधारण वार्षिकोत्सव और दूसरा सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव। पहला नियत तिथि श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको और दूसरा कार्तिकमें दीपा-वलिके करीब रहे और दोनों राजगृहमें ही मनाये जावें। उत्सवके करीब दिनोंमें इस समाचारको पाकर उत्सुक जनता के हृदयपर पानी पड़ गया—उसका उत्साह ठंडा हो गया—और अधिकांशको अपना बँधा-बंधाया बिस्तरा खोल कर यही निर्णय करना पड़ा कि बड़े उत्सवके समय कार्तिकमें ही राजगृह चलेंगे। परन्तु जिनके हृदयोंमें वीरशासन के अवतारकी पुण्यवेलाका महत्व घर किये हुए था, जो उसी समय विपुलाचलपर पहुँचकर वीरशासनके अवतार समयकी कुछ अनुभूति करना चाहते थे और वीरशासनकी उसके उत्पत्ति समय तथा स्थानपर ही पूजा करनेके इच्छुक

थे. उन्होंने अपना निश्चय नहीं बदला और इस लिये वे नियत समयपर विपुलाचलपर पहुँचकर उस अपूर्व दृश्यको देखनेमें समर्थ हुए जो बारबार देखनेको नहीं मिलता।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा ७ जुलाईकी थी और राजगृहमें कोई १५ दिन पहलेसे वर्षाका प्रारंभ हो गया था। ४ अगस्तकी सुबहको जब मैं मंत्रीजी सहित राजगृह पहुँचा तो खूब वर्षा हो रही थी, वहांकी रेल्वे भी छलनीकी तरह टपकती थी। और चारों तरफ पानी ही पानी भरा हुआ था। ५ जुलाईको पर्वतकी यात्रा करते समय वर्षा आगई और सारी यात्रा खूब पानी बरसतेमें ही अनन्दके साथ की गई और उससे कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। ६ ता० को बादलोंका खूब प्रकोप था। रात्रिके समय तो वे इतने घिरे घिर कर आगये थे और बिजलीकी भारी चमकके साथ ऐसी भयंकर गर्जना करते थे कि लोगोंको आशंका हो गई थी कि कहीं ये कोई विघ्न बाधा तो उपस्थित नहीं करेंगे। उसी समय यह प्रश्न होनेपर कि यदि कल प्रातःकाल भी इसी प्रकार वर्षा रही तो पर्वतपरके प्रोग्रामके विषयमें क्या रहेगा? उपस्थित जनताने बड़े उत्साहके साथ कहा कि चाहे जैसी वर्षा क्यों न हो पर्वतपरका प्रोग्राम समय पर ही पूरा किया जायगा। इधर कार्यका दृढ संकल्प और उधर वर्षाके दूर होनेकी स्थिर हार्दिक भावना, दोनोंने मिल कर ऐसी आश्चर्यजनक घटना घटी कि बदलोंने प्रातःकाल होनेसे पूर्व ही अपनी भयंकरता छोड़ कर विदा लेनी शुरू करदी और वे पर्वतारोहणके प्रोग्रामके समय एक दम छिन्न भिन्न हो गये! यह अद्भुत दृश्य देखकर उपस्थित विद्वन्मण्डली और इतर जनताके हृदयमें उत्साहकी भारी लहर दौड गई और वह द्विगुणित उत्साहके साथ गाजे-बाजे समेत श्रीवीर-प्रभु और वीरशासनका जयजयकार करती हुई विपुलाचलकी ओर बढ चली। जलूसमें लोगोंका हृदय आनन्दसे उछल रहा था और वे समवसरणमें जाते समयके दृश्यका-सा अनुभव कर रहे थे। विद्वानोंके मुखसे जो स्तुति-स्तोत्र उस समय निकल रहे थे वे उनके हृदयके अन्त-स्तलसे निकले हुए जान पड़ते थे और इसीसे चारों ओर आनन्द बखेर रहे थे। अनेक विद्वान वीरशासनकी अहिंसादि-विषयक रंग-बिरंगी ध्वजाएँ तथा कपडेपर अंकित शिक्षाप्रद मोटोज़ अपने हाथोंमें थामे हुए थे। मेरे हाथमें वीरशासनका वह धवलध्वज (झंडा) था जो अन्तको विपुलाचल-स्थित वीर-प्रभुके मन्दिरपर फहराया गया। पर्वतपर चढते समय ज़रा भी श्रमबोध नहीं होता था—मानो कोई अपलिफ़्ट (uplift) अपनेको ऊँचे खींचे जा रही हो।

विपुलाचलके ऊपर पहुँचते ही सबसे पहले वीरशासन के झंडेका अभिवादन किया गया। झंडाभिवादनकी रस्मको पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री बनारसने, 'ऊँचा झंडा जिन-शासनका परमअहिंसा दिग्दर्शनका' इस गायनके साथ अदा किया, जिसे जैनबालाविश्राम आराकी छात्राओंने मधुर-ध्वनिसे गाया था।

इसी समय पर्वतपर सूर्यका उदय हो रहा था और सूर्य उस समय ऐसा देदीप्यमान तथा अपूर्व तेजवान प्रतीत होता था जैसाकि इससे पहले कभी देखनेमें नहीं आया, मानों वीरशासनका अभिनन्दन करनेके लिये उसका भी अंग अंग प्रफुल्लित हो रहा हो।

श्रावणकृष्णा-प्रतिपदाको सूर्योदयके समय ही वीरभगवानकी प्रथम देशना हुई थी और उनका धर्मतीर्थ प्रवर्तित हुआ था। अतः इस सूर्योदयके समय सबसे पहले महावीर-सन्देशको सुननेकी जनताकी इच्छा हुई, तदनुसार 'यही है महावीर सन्देश, विपुलाचलपर दिया गया जो प्रमुख-धर्म-उपदेश' इत्यादि रूपमें वह 'महावीर-सन्देश' सुनाया गया जिसमें महावीर जिनेन्द्रकी देशनाका सार संगृहीत है और जिसे जनताने बड़े आदरके साथ सुना तथा सुनकर हृदयंगम किया।

इसके बाद वीरप्रभुके मन्दिरमें पूजनादिकी योजना की गई। अभिषेकके बाद वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित वह 'जिन-दर्शन स्तोत्र' पढ़ा गया जिसका प्रारंभ 'आज जन्म मम सफल हुआ प्रभु! अक्षय-अतुलित-निधि-दातार' इन शब्दोंसे होता है। इसे पढते समय पढने-सुनने वालोंका हृदय भक्तिसे उमड़ा पड़ता था। बादको पं० कैलाशचंदजी आदिने ऐसी सुरीली आवाजमें मधुरध्वनि और भक्तिभावके साथ पूजा पढी कि सुनने वालोंका हृदय पूजाकी ओर आकर्षित होगया और वे कहने लगे कि पूजा पढी जाय तो इसी तरह पढी जाय जो हृदयमें वास्तविक आनन्दका संचार करती है। अन्तमें एक महत्वकी सामूहिक प्रार्थना की गई जिसका प्रारंभ 'हमें है स्वामी उस बलकी दरकार' इन शब्दोंसे होता है।

पूजाकी समाप्तिके अनन्तर सब लोग खुशी खुशी उस स्थानपर गये जहाँ वीरभगवानका समवसरण लगा था, जो विपुलाचलपर समवसरणके योग्य सबसे विशाल क्षेत्र है

(शेष अंश टाइटिलके ४ थे पृष्ठपर)

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[२४]

श्रीवीर-जिन-स्तोत्र

कीर्त्या भुवि भासितया वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया ।
भासोडुसभाऽसितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभाऽऽसितया ॥ १ ॥

'हे वीर जिन ! आप उस निर्मलकीर्तिसे—ख्याति अथवा दिव्यवाणीसे—जो (आत्म-शरीर-गत) गुणोंसे समुद्भूत है पृथ्वीपर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभा-स्थित उस दीप्तिसे शोभता है जो कि कुन्द-पुष्पोंकी शोभाके समान सब ओरसे धवल है ।'

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशाऽसनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥ २ ॥

'हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्त रहा है—, उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसार परिभ्रमण सदाके लिए छूटा है । इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुकोंकी तरह पीडाकारी काम-क्रोधादि दोषोंको अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि-तेजसे जिन्होंने आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकों (हरिहरादिकों) को—निस्तेज किया है वे—गणधर-देवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते हैं ।'

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥ ३ ॥

'हे मुनिनाथ ! 'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्ष—और इष्ट—आगमादिक प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है । दूसरा 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्यों कि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिये हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट-अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ।'

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥ ४ ॥

'(हे वीर जिन !) आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिकसत्त्वोंके—मिथ्यात्वादि-परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होने वाले प्रणामसे पूजित नहीं हैं—भले ही वे ऊपरी प्रणामादिसे पूजा करें, वास्तवमें तो सम्यग्दृष्टियोंके ही आप पूजा-पात्र हैं । (किसी किसीके द्वारा पूजित न होने पर भी) आप तीनों लोकके प्राणियोंके लिए परमहितरूप हैं—राग-द्वेषादि-हिंसाभावोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण किसीके भी अहितकारी नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने आदर्शसे सभी भविकजनोंके आत्म-विकासमें सहायक हैं—आवरणरहित ज्योतिको लिये हुए हैं—केवलज्ञानके धारक हैं—और उज्ज्वलधामको—मुक्तिस्थानको—प्राप्त हुए हैं अथवा अनावरण ज्योतियोंसे—केवलज्ञानके प्रकाशको लिये हुए मुक्तजीवोंसे—जो स्थान प्रकाशमान है उसको—सिद्धिशिलाको—प्राप्त हुए हैं ।'

थे. उन्होंने अपना निश्चय नहीं बदला और इस लिये वे नियत समयपर विपुलाचलपर पहुँचकर उस अपूर्व दृश्यको देखनेमें समर्थ हुए जो बारबार देखनेको नहीं मिलता।

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा ७ जुलाईकी थी और राजगृहमें कोई १५ दिन पहलेसे वर्षाका प्रारंभ हो गया था। ४ अगस्तकी सुबहको जब मैं मंत्रीजी सहित राजगृह पहुँचा तो खूब वर्षा हो रही थी, वहांकी रेल्वे भी छलनीकी तरह टपकती थी। और चारों तरफ पानी हो पानी भरा हुआ था। ५ जुलाईको पर्वतकी यात्रा करते समय वर्षा आगई और सारी यात्रा खूब पानी बरसतेमें ही आनन्दके साथ की गई और उससे कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। ६ ता० को बादलोंका खूब प्रकोप था। रात्रिके समय तो वे इतने घिरे घिर कर आगये थे और बिजलीकी भारी चमकके साथ ऐसी भयंकर गर्जना करते थे कि लोगोंको आशंका हो गई थी कि कहीं ये कोई विघ्न बाधा तो उपस्थित नहीं करेंगे। उसी समय यह प्रश्न होनेपर कि यदि कल प्रातःकाल भी इसी प्रकार वर्षा रही तो पर्वतपरके प्रोग्रामके विषयमें क्या रहेगा? उपस्थित जनताने बड़े उत्साहके साथ कहा कि चाहे जैसी वर्षा क्यों न हो पर्वतपरका प्रोग्राम समय पर ही पूरा किया जायगा। इधर कार्यका दृढ संकल्प और उधर वर्षाके दूर होनेकी स्थिर हार्दिक भावना, दोनोंने मिल कर ऐसी आश्चर्यजनक घटना घटी कि बदलोंने प्रातःकाल होनेसे पूर्व ही अपनी भयंकरता छोड़ कर विदा लेनी शुरू करदी और वे पर्वतारोहणके प्रोग्रामके समय एक दम छिन्न भिन्न हो गये! यह अद्भुत दृश्य देखकर उपस्थित विद्वन्मण्डली और इतर जनताके हृदयमें उत्साहकी भारी लहर दौड़ गई और वह द्विगुणित उत्साहके साथ गाजे-बाजे समेत श्रीवीर-प्रभु और वीरशासनका जयजयकार करती हुई विपुलाचलकी ओर बढ़ चली। जलूसमें लोगोंका हृदय आनन्दसे उछल रहा था और वे समवसरणमें जाते समयके दृश्यका-सा अनुभव कर रहे थे। विद्वानोंके मुखसे जो स्तुति-स्तोत्र उस समय निकल रहे थे वे उनके हृदयके अन्त-स्तलसे निकले हुए जान पड़ते थे और इसीसे चारों ओर आनन्द बखेर रहे थे। अनेक विद्वान वीरशासनकी अहिंसादि-विषयक रंग-बिरंगी ध्वजाएँ तथा कपडेपर अंकित शिक्षाप्रद मोटोज़ अपने हाथोंमें थामे हुए थे। मेरे हाथमें वीरशासनका वह धवलध्वज (झंडा) था जो अन्तको विपुलाचल-स्थित वीर-प्रभुके मन्दिरपर फहराया गया। पर्वतपर चढ़ते समय ज़रा भी श्रम मालूम नहीं होता था—मानो कोई अपलिफ़्ट (uplift) अपनेको ऊँचे खींचे जा रही हो।

विपुलाचलके ऊपर पहुँचते ही सबसे पहले वीरशासन के झंडेका अभिवादन किया गया। झंडाभिवादनकी रस्मको पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री बनारसने, 'ऊँचा झंडा जिन-शासनका परमअहिंसा दिग्दर्शनका' इस गायनके साथ अदा किया, जिसे जैनबालाविश्राम आराकी छात्राओंने मधुर-ध्वनिसे गाया था।

इसी समय पर्वतपर सूर्यका उदय हो रहा था और सूर्य उस समय ऐसा देदीप्यमान तथा अपूर्व तेजवान प्रतीत होता था जैसाकि इससे पहले कभी देखनेमें नहीं आया, मानों वीरशासनका अभिनन्दन करनेके लिये उसका भी अंग अंग प्रफुल्लित हो रहा हो।

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाको सूर्योदयके समय ही वीरभगवानकी प्रथम देशना हुई थी और उनका धर्मतीर्थ प्रवर्तित हुआ था। अतः इस सूर्योदयके समय सबसे पहले महावीर-सन्देशको सुननेकी जनताकी इच्छा हुई, तदनुसार 'यही है महावीर सन्देश विपुलाचलपर दिया गया जो प्रमुख-धर्म-उपदेश' इत्यादि रूपमें वह 'महावीर-सन्देश' सुनाया गया जिसमें महावीर जिनेन्द्रकी देशनाका सार संगृहीत है और जिसे जनताने बड़े आदरके साथ सुना तथा सुनकर हृदयंगम किया।

इसके बाद वीरप्रभुके मन्दिरमें पूजनादिकी योजना की गई। अभिषेकके बाद वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित वह 'जिन-दर्शन स्तोत्र' पढ़ा गया जिसका प्रारंभ 'आज जन्म मम सफल हुआ प्रभु! अक्षय-अतुलित-निधि-दातार' इन शब्दोंसे होता है। इसे पढ़ते समय पढ़ने-सुनने वालोंका हृदय भक्तिसे उमड़ा पड़ता था। बादको पं० कैलाशचंदजी आदिने ऐसी सुरीली आवाजमें मधुरध्वनि और भक्तिभावके साथ पूजा पढ़ी कि सुनने वालोंका हृदय पूजाकी ओर आकर्षित होगया और वे कहने लगे कि पूजा पढ़ी जाय तो इसी तरह पढ़ी जाय जो हृदयमें वास्तविक आनन्दका संचार करती है। अन्तमें एक महत्वकी सामूहिक प्रार्थना की गई जिसका प्रारंभ 'हमें है स्वामी उस बलकी दरकार' इन शब्दोंसे होता है।

पूजाकी समाप्तिके अनन्तर सब लोग खुशी खुशी उस स्थानपर गये जहाँ वीरभगवानका समवसरण लगा था, जो विपुलाचलपर समवसरणके योग्य सबसे विशाल क्षेत्र है

(शेष अंश टाइटिलके ४ थे पृष्ठपर)

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[२४]

श्रीवीर-जिन-स्तोत्र

कीर्त्या भुवि भासितया वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया ।
भासोडुसभाऽसितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभाऽऽसितया ॥ १ ॥

'हे वीर जिन ! आप उस निर्मलकीर्तिसे—ख्याति अथवा दिव्यवाणीसे—जो (आत्म-शरीर-गत) गुणोंसे समुद्भूत है पृथ्वीपर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभा स्थित उस दीप्तिसे शोभता है जो कि कुन्द-पुष्पोंकी शोभाके समान सब ओरसे धवल है।'

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशाऽसनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥ २ ॥

'हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्त रहा है—, उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसार परिभ्रमण सदाके लिए छूटा है। इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुकोंकी तरह पीडाकारी काम-क्रोधादि दोषोंको अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि तेजसे जिन्होंने आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकों (हरिहरादिकों) को—निस्तेज किया है वे—गणधर-देवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते हैं।'

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥ ३ ॥

'हे मुनिनाथ ! 'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्ष—और इष्ट—आगमादिक प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्यों कि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिये हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट-अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।'

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥ ४ ॥

'(हे वीर जिन !) आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिकसत्त्वोंके—मिथ्यात्वादि-परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होने वाले प्रणामसे पूजित नहीं हैं—भले ही वे ऊपरी प्रणामादिसे पूजा करें, वास्तवमें तो सम्यग्दृष्टियोंके ही आप पूजा-पात्र हैं। (किसी किसीके द्वारा पूजित न होने पर भी) आप तीनों लोकके प्राणियोंके लिए परमहितरूप हैं—राग-द्वेषादि-हिंसाभावोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण किसीके भी अहितकारी नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने आदर्शसे सभी भविकजनोंके आत्म-विकासमें सहायक हैं—आवरणरहित ज्योतिको लिये हुए हैं—केवलज्ञानके धारक हैं—और उज्ज्वलधामको—मुक्तिस्थानको—प्राप्त हुए हैं अथवा अनावरण ज्योतियोंसे—केवलज्ञानके प्रकाशको लिये हुए मुक्तजीवोंसे—जो स्थान प्रकाशमान है उसको—सिद्धिशिलाको—प्राप्त हुए हैं।'

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारु-चितम् ।
मग्नं स्वस्यां रुचितं जयसि च मृगलाञ्छनं स्वकान्त्या रुचितम् ॥ ५ ॥

'(हे वीर जिन !) आप उस गुणभूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादिरूप गुणोंके आभूषणको—धारण किये हुए हैं जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभा-स्थित भव्यजनोंको रुचिकर है—इष्ट है—और श्रीसे—अष्ट प्रातिहार्यादिरूप विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट है जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। और अपने शरीरकी कान्तिसे आप उस मृगलाञ्छन—चन्द्रमाको जीतते हैं जो अपनी दीप्तिमें मग्न है और सबको सुन्दर तथा प्यारा मालूम होता है—आपके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्ण चन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा है।'

त्वं जिन गत-मद-मायस्तव भावानां मुमुक्षुकामद मायः ।
श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः ॥ ६ ॥

'मुमुक्षुओंको इच्छित प्रदान करने वाले—उनकी मुक्तिप्राप्तिमें परमसहायक—(हे वीर जिन !) आप मद और मायासे रहित हैं—अकषायभावको प्राप्त होनेसे निर्दोष हैं—, आपका जीवादि-पदार्थोंका परिज्ञान—केवलज्ञानरूप प्रमाण—(सकल-बाधाओंसे रहित होनेके कारण) अतिशय प्रशंसनीय है, और आपने श्रीविशिष्ट हेयोपादेय तत्त्वके परिज्ञान-लक्षण-लक्ष्मीसे युक्त तथा कपट-रहित यम और दमका—महाव्रतोंके अनुष्ठान तथा परम इन्द्रियजयका—उपदेश दिया है।'

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः ।
तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥ ७ ॥

'जिस प्रकार झरते हुए मदके दानी, और गिरि-भित्तियों—पर्वत-कटनियोंका विदारण करने वाले (महासामर्थ्यवान्) ऐसे श्रीमान् सर्वलक्षणसम्पन्न उत्तम-जाति-विशिष्ट गजेन्द्रका स्वाधीन गमन होता है उसी प्रकार परम अहिंसा-दान—अभयदानके दानी हे वीर जिन ! शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशान्तिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा करते हुए आपका उदार विहार हुआ है।—आपने विहार-द्वारा जगतको रागादिक दोषोंके शमनरूप परमब्रह्म—अहिंसाका, सदृष्टि-विधायक-अनेकान्तवादका और समताप्रस्थापक साम्यवादका उपदेश दिया है, जो सब लोकमें मद-अहंकारका त्याग, वैर-विरोधका परिहार और परस्परमें अभयदानका विधान करके सर्वत्र शान्ति-सुखकी स्थापना करते हैं और इसलिए सन्मार्ग-स्वरूप हैं। साथ ही वैषम्यस्थापक, हिंसाविधायक और सर्वथा एकान्तप्रतिपादक उन सभी वादों—आगमोंका खण्डन किया है जो गिरिभित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे।'

बहुगुण-सम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥ ८ ॥

'हे वीर जिनदेव ! जो पर-मत है—आपके मत-शासनसे भिन्न दूसरोंका शासन है—वह मधुर वचनोंके विन्यास से—कानोंको प्रिय मालूम देने वाले वाक्योंकी रचनासे—मनोज्ञ होता हुआ भी—प्रकटरूपमें मनोहर तथा रुचिकर जान पड़ता हुआ भी—बहुगुणोंकी सम्पत्तिसे विकल है—सत्यशासनके योग्य जो यथार्थ-वादिता और परहितप्रतिपादनादि-रूप बहुतसे गुण हैं उनकी शोभासे रहित है—सर्वथैकान्तवादका आश्रय लेनेके कारण वे शोभन गुण उसमें नहीं पाये जाते—, और इस लिए वह यथार्थ वस्तुके निरूपणादिमें असमर्थ होता हुआ वास्तवमें अपूर्ण, सबाध तथा जगतके लिए अकल्याण-कारी है। किन्तु आपका मत-शासन नयोंके भंग—स्यादस्ति-नास्त्यादिरूप अलंकारोंसे अलंकृत है अथवा नयोंकी भक्ति—उपासनारूप आभूषणको प्रदान करता है—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर नयोंके सापेक्ष व्यवहारकी सुन्दर शिक्षा देता है, और इस तरह यथार्थ वस्तु-तत्त्वके निरूपण और परहित—प्रतिपादनादिमें समर्थ होता हुआ बहुगुण सम्पत्तिसे युक्त है, (इसीसे) पूर्ण है और समन्तभद्र है—सब ओरसे भद्ररूप निर्बाधनादि-विशिष्ट शोभासम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी है।

क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० ने, 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामके निबन्धमें कुछ ऐसी बातोंको प्रस्तुत किया है जो आपत्तिजनक हैं। उनमेंसे श्वेताम्बर आगमोंकी दश निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसाके कर्ता स्वामी समन्तभद्रको एक ही व्यक्ति बतलानेकी बातपर तो मैं 'अनेकान्त' की गत संयुक्त किरण नं० १०—११ में सप्रमाण विस्तृत विचार करके यह स्पष्ट कर आया हूँ कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र एक व्यक्ति नहीं हैं—भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं और वे जुदी दो भिन्न परम्पराओं (श्वेताम्बर और दिगम्बर-सम्प्रदायों) में क्रमशः हुए हैं—स्वामी समन्तभद्र जहाँ दूसरी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं वहां निर्युक्तिकार भद्रबाहु छठी शताब्दीके विद्वान् हैं।

आज मैं प्रो० सा० की एक दूसरी बातको लेता हूँ, जिसमें उन्होंने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति स्वीकार न करके दूसरे ही समन्तभद्रकी कृति बतलाई है और जिन्हें आपने आचार्य कुन्दकुन्दके उपदेशोंका समर्थक तथा रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु संभावित किया है। जैसा कि आपके निबन्धकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है :—

"रत्नकरण्डश्रावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ हो गया है कि वह उन्हीं ग्रन्थकारकी रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी; क्योंकि उसमें दोषका[१] जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्यके उपदेशोंके पश्चात् उन्हींके समर्थनमें लिखा गया है। इस ग्रन्थका कर्ता उस रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु भी हो सकता है जो आराधनाके कर्ता शिवभूति या शिवार्यकी रचना कदापि नहीं हो सकती।"

यहां मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० सा० ने आजसे कुछ अर्से पहले 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' शीर्षक लेखमें, जो बादको धवलाकी चतुर्थ पुस्तकमें भी सम्बद्ध किया गया है, रत्नकरण्ड-श्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत स्वीकार किया है और उसे गृहस्थोंके लिये सिद्धान्तग्रन्थोंके अध्ययन-विषयक नियंत्रण न करनेमें प्रधान और पुष्ट प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया है। यथा—

"श्रावकाचारका सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्र कृत रत्नकरण्ड-श्रावकाचार है, जिसे वादिराज सूरिने, 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्रने 'अखिल सागारधर्मको प्रकाशित करने वाला सूर्य' कहा है। इस ग्रन्थमें श्रावकोंके अध्ययनपर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया किन्तु इसके विपरीत……"

—षट्खण्डागम० प्रस्ता० पृ० १२

किन्तु अब मालूम होता है कि प्रो० सा० ने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़ दी है और इसी लिये रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं मान रहे हैं। अस्तु।

प्रो० साहबने अपने निबन्धकी उक्त पंक्तियोंमें रत्नकरण्ड श्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्र-कृत सिद्ध करने वाले जिन प्रस्तुत प्रमाणोंकी ओर संकेत किया है वे प्रमाण वे हैं जिन्हें परीक्षा-द्वारा अनेक ग्रन्थोंको जाली सिद्ध करने वाले मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजीने माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला में प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनामें विस्तारके साथ प्रस्तुत किया है*। मैं चाहता था कि उन प्रमाणोंको यहाँ उद्धृत करके अपने पाठकोंको यह बतलाऊँ कि वे

---

१ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥—रत्नकरण्ड० ६

*देखो, प्रस्तावना पृ० ५ से १५ तक।

कितने प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण हैं, परन्तु वर्तमान सरकारी आर्डिनेंसके कारण पत्रोंका कलेवर इतना कृश हो गया है कि उसमें अधिक लम्बे लेखोंके लिये स्थान नहीं रहा और इस लिये मुझे अपने उक्त विचारको छोड़ना पड़ा; फिर भी मैं यहाँ इतना जरूर प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० साहबने अपने निबन्धमें उक्त प्रमाणोंका कोई खण्डन नहीं किया—वे उन्हें मानकर ही आगे चले हैं; जैसा कि "उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह दृढ़ मत हो गया है" इन शब्दोंसे प्रकट है। जान पड़ता है मुख्तार साहबने अपने प्रमाणोंको प्रस्तुत कर देनेके बाद जो यह लिखा था कि "ग्रन्थ (रत्नकरण्ड श्रा०) भरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदयके दूसरे किसी ग्रन्थके विरुद्ध पड़ता हो" इसे लेकर ही प्रो० साहबने 'दोष' के स्वरूपमें विरोध प्रदर्शनका कुछ यत्न किया है; जो ठीक नहीं हैं और जिसका स्पष्टीकरण आगे चल कर किया जायगा।

यहाँ सबसे पहले रत्नमालाके सम्बन्धमें विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। यह रत्नमाला रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-निर्माताके शिष्यकी तो कृति मालूम नहीं होती; क्योंकि दोनों ही कृतियोंमें शताब्दियोंका अन्तराल जान पड़ता है, जिससे दोनोंके कर्ताओंमें साक्षाद् गुरु-शिष्य-सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट ही नहीं किन्तु असंभव है। साथ ही इसका साहित्य बहुत ही घटिया तथा अक्रम है। इतना ही नहीं, इसमें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारसे कितने ही ऐसे सैद्धान्तिक मतभेद भी पाये जाते हैं जो प्रायः साक्षात् गुरु और शिष्यके बीचमें संभव प्रतीत नहीं होते। नमूनेके तौरपर यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(१) रत्नकरण्डमें शिक्षा-व्रतोंके चार भेद बतलाये हैं १ देशावकाशिक २ सामायिक ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य। लेकिन रत्नमालामें देशावकाशिकको छोड़ दिया गया है—यहां तक कि उसको किसी भी व्रतमें परिगणित नहीं किया—और मारणान्तिक सल्लेखनाको शिक्षा-व्रतोंमें गिनाया है। यथा—

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षा-व्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥
—रत्नकरण्ड० ६१

सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिषु पूजनम्।
मारणान्तिकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् ॥
—रत्नमाला १७, १८

(२) रत्नकरण्डमें उत्कृष्ट श्रावकके लिये मुनियोंके निवासस्थान वनमें जाकर व्रतोंको ग्रहण करनेका विधान किया गया है, जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि दि० मुनि उस समय वनमें ही रहा करते थे। जबकि रत्नमालामें मुनियोंके लिये वनमें रहना मना किया गया है और जिनमंदिर तथा ग्रामादिमें ही रहनेका स्पष्ट आदेश दिया गया है। यथा—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥
—रत्नकरण्ड० १४७

कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥
—रत्नमाला २२

इन बातोंसे मालूम होता है कि रत्नमाला रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्त्ताके शिष्यकी कृति कहलाने योग्य नहीं है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि रत्नमालाकी रचना उस समय हुई है जब मुनियोंमें काफी शिथिलाचार आगया था और इसीसे पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंको 'पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः। शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥' कहना पड़ा। पर रत्नकरण्डपरसे रत्नकरण्डकारके समयमें ऐसे किसी भी तरहके शिथिलाचारकी प्रवृत्तिका संकेत नहीं मिलता और इस लिये वह रत्नमालासे बहुत प्राचीन रचना है। रत्नमालाका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे यह भी ज्ञात होता है कि यह यशस्तिलकचम्पूके कर्ता सोमदेवसे, जिन्होंने अपने यशस्तिलककी समाप्ति शकसं० ८८१ (वि० १०१६) में की है और इस तरह जो वि०की ११ वीं शताब्दी के विद्वान हैं, बहुत बादकी रचना है; क्योंकि रत्नमालामें आ० सोमदेवका[1] आधार है और जिनमंदिरके लिये गाय,

१ सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥
—यशस्तिलक

जमीन, स्वर्ण और खेत आदिके देनेका उपदेश पाया जानेसे[2] यह भट्टारकीय युगकी रचना जान पड़ती है। अतः रत्नमालाका समय वि० की ११ वीं शताब्दीसे पूर्व सिद्ध नहीं होता; जब कि रत्नकरण्डश्रावकाचार और उसके कर्ताके अस्तित्वका समय विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वका ही प्रसिद्ध होता है। जैसा कि नीचेके कुछ प्रमाणोंसे प्रकट है—

१—वि० की ११ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारका स्पष्ट नामोल्लेख किया है,[3] जिससे प्रकट है कि रत्नकरण्ड वि० की ११ वीं शताब्दी (१०८२ वि०) से पूर्वकी रचना है और वह शताब्दियों पूर्व रची जा चुकी थी तभी वह वादिराजके सामने इतनी अधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृति समझी जाती रही कि आ० वादिराज स्वयं उसे 'अक्षय सुखावह' बतलाते हैं और 'दिष्टः' कह कर उसे आगम होनेका संकेत करते हैं।

२—११ वीं शताब्दीके ही विद्वान् और वादिराजके कुछ समय पूर्ववर्ती आ० प्रभाचन्द्रने[4] प्रस्तुत ग्रन्थपर एक ख्यात टीका लिखी है जो माणिकचन्द्र ग्रंथमालामें रत्नकरण्डके साथ प्रकाशित हो चुकी है और जिससे भी प्रकट है कि यह ग्रन्थ ११ वीं सदीसे पूर्वका है। श्रीप्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको स्वामी समन्तभद्रकृत स्पष्ट लिखा है। यथा—

'श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो............'।

अतः इन दो स्पष्ट समकालीन उल्लेखोंसे यह निश्चित है कि रत्नकरण्ड ११ वीं शताब्दीके पहिलेकी रचना है, उत्तरकालीन नहीं।

३—आ० सोमदेव (वि० सं० १०१६) के यशस्तिलकमें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारका कितना ही उपयोग हुआ है जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
—रत्नकर० २६

यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते।
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
—यशस्तिलक पृ० ४१४

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥
रत्नकर० ८७

यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥
—यशस्ति० पृ० ४०३

इससे साफ है कि रत्नकरण्ड और उसके कर्ताका अस्तित्व सोमदेव (वि० १०१६) से पूर्वका है।

४—विक्रमकी ७ वीं शताब्दीके आ० सिद्धसेन दिवाकरके प्रसिद्ध 'न्यायावतार' ग्रन्थमें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' श्लो० ९ ज्योंका त्यों पाया जाता है, जो दोनों ही ग्रंथोंके संदर्भोंका ध्यानसे समीक्षण करने पर निःसंदेह रत्नकरण्डका ही पद्य स्पष्ट प्रतीत होता है। रत्नकरण्डमें जहां वह स्थित है वहां उसका मूलरूपसे होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह स्थिति न्यायावतारके लिये नहीं है, वहां यह श्लोक मूलरूपमें न भी रहे तो भी ग्रन्थका कथन भंग नहीं होता। क्योंकि वहां परोक्षप्रमाणके 'अनुमान' और 'शाब्द' ऐसे दो भेदोंको बतलाकर स्वार्थानुमानके कथनके बाद 'स्वार्थ 'शाब्द' का कथन करनेके लिये श्लोक ८ रचा गया है और इसके बाद उपर्युक्त 'आप्तोपज्ञ' श्लोक दिया गया है। परार्थ शाब्द और परार्थ अनुमानको बतलानेके लिये भी आगे स्वतंत्र स्वतंत्र श्लोक हैं अतः यह पद्य श्लोक ८ में उक्त विषयके समर्थनार्थ ही रत्नकरण्डसे अपनाया गया है[1] यह स्पष्ट है। और उसे अपना कर ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थका उसी प्रकार अङ्ग बना लिया है जिस

सर्वमेव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम्।
यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनम् ॥
—रत्नमाला ६५

२ गोभूमिस्वर्णकच्छादिदानं वसतयेऽर्हताम्।—रत्नमाला

३ त्यागी स एव योगीन्द्रः येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टः रत्नकरण्डकः ॥

४ इनका समय पं० महेन्द्रकुमारजीने ई० ९८० से १०६५ दिया है। —न्यायकुमुद० द्वि० भागकी प्रस्ता०

१ विशेषके लिये देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १२७ से १३२

प्रकार अकलङ्कदेवने आप्तमीमांसाकी 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' कारिकाको अपनाकर अपने न्यायविनिश्चयमें कारिका ४१५ के रूपमें ग्रन्थका अंग बना लिया है। न्यायावतारके टीकाकार सिद्धर्षिने, जिनका समय ६ वीं शताब्दी है, इस पद्य की टीका भी की है, इससे रत्नकरण्डकी सत्ता निश्चय ही ६ वीं और ७ वीं शताब्दीसे पूर्व पहुँच जाती है।

५—ईसाकी पांचवीं (विक्रमकी छठी) शताब्दीके विद्वान् आ० पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके कितने ही पद, वाक्यों और विचारोंका शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है जिसका मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जीने अपने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें अच्छा प्रदर्शन किया है[२]। यहां उसके दो नमूने दिये जाते हैं :—

(क) 'तिर्यक्क्लेशवाणिज्यहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥
—रत्नक० ७६

'तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।'— सर्वार्थ० ७-२१

(ख) 'अभिसंधिकृता विरतिः····व्रतं भवति'—रत्नक० ८६

'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।' —सर्वार्थसि० ७-१

ऐसी हालतमें छठी शताब्दीसे पूर्वके रचित रत्नकरण्डके कर्ता (समन्तभद्र) ११ वीं शताब्दीके उत्तरवर्ती रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु कदापि नहीं हो सकते।

अतः उपर्युक्त विवेचनसे जहां यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डके कर्ता रत्नमालाकार शिवकोटिके साक्षात् गुरु नहीं हैं वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचार सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपाद (४५० A. D) से पूर्वकी कृति है।

अब मैं प्रो० सा० के उस मतपर भी विचार करता हूँ जिसमें उन्होंने दोषके स्वरूपको लेकर रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकार और आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायोंको भिन्न बतलाया है और कहा है कि "रत्नकरण्डमें जो दोषका स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।" इसका आधार भी आपने यह बतलाया है कि समन्तभद्रने आप्तमीमांसा कारिका[१] ९३ में वीतरागमुनि (केवली) में सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है। इसपर मैं कहना चाहता हूँ कि 'दोषके स्वरूप सम्बन्धमें रत्नकरण्डकार और आप्तमीमांसाकारका अभिप्राय भिन्न नहीं है—एक ही है, और न स्वामी समन्तभद्रने केवली भगवानमें सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमें आप्तके लक्षणमें एक खास विशेषण 'उच्छिन्नदोष' दिया गया है और उसके द्वारा आप्तको दोषरहित बतलाया गया है। आगे दोषका स्वरूप समझानेके लिये निम्न श्लोक रचा गया है—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥ ६॥

इस श्लोकमें प्रायः उसी प्रकार क्षुधादि दोषोंको गिना कर दोषका स्वरूप समझाया गया है जिस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यने[२] नियमसारकी गाथा[३] नं० ६ में वर्णित किया है। अब देखना यह है कि आप्तमीमांसाकारको भी ये क्षुधादि दोष अभिमत हैं या नहीं? इसके लिये हमें आप्तमीमांसाकारकी दूसरी कृतियोंका भी सूक्ष्म समीक्षण करना चाहिये तभी हम आप्तमीमांसाकारके पूरे और ठीक अभिप्रायको समझ सकेंगे। यह प्रसन्नताकी बात है कि प्रो० सा० ने स्वयंभू-स्तोत्र और युक्त्यनुशासनको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी ही कृतियाँ स्वीकार किया है। स्वयंभू स्तोत्रमें स्वामी समन्तभद्रने 'दोष' का स्वरूप वही समझाया है जो रत्नकरण्डमें दिया है। यथा—

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्॥ —स्वयं० १८

२ देखो, अनेकान्त वर्ष ५ किरण १०-११।

१ पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥

२ डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें आ० कुन्दकुन्दका समय ई० की पहिली शताब्दी दिया है।

३ छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरारुजामिच्चू।
स्वेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥

पाठक, देखेंगे कि समन्तभद्र कितने स्पष्ट शब्दोंमें आप्त-केवलीके आहारादिके अभावका और क्षुधादि सुख-दुःख वेदनाओंके अभावका प्रतिपादन करते हैं। यहां तक कह देते हैं कि इनसे आत्माका उपकार होना तो दूर रहा, शरीरका भी कोई उपकार नहीं होता जब उनसे कोई उपकार नहीं, तो उनका ग्रहण क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा। 'क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः न स्थितिः' 'इन्द्रियार्थ-प्रभवाल्पसौख्यतः न स्थितिः' और 'ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोः' ये तीन पद खास ध्यान देने योग्य हैं, जिनके द्वारा जहां आप्तमें क्षुधादि दुःखों (दोषों) और इन्द्रिय-विषय-सुखोंका अभाव बतलाया गया है वहां प्रतिकारस्वरूप भोजनादिसे शरीर-शरीरीके उपकारका अभाव भी प्रतिपादन किया गया है। दूसरी बात यह है कि भोजनादि करना और इन्द्रियविषयसुखोंका अनुभव करना तो मनुष्यका स्वभाव है, मनुष्य—स्वभावसे रहित केवली भगवानका नहीं, वे उस स्वभावसे सर्वथा छूट चुके हैं और परमोच्च अलौकिक अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं। मनुष्य और केवलीको एक प्रकृतिका क्यों बतलाया जाता है? स्वयं स्वामी समन्तभद्र क्या कहते हैं। देखिये—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः॥
—स्वयंभू० ७५

इससे यह निर्विवाद प्रकट है कि समन्तभद्र आप्तको क्षुधादि—दोष—रहित मानते हैं और जिसकी प्रतिज्ञा—सामान्य-विधान तो रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें किया है और युक्तिसे समर्थन स्वयंभू-स्तोत्रके प्रस्तुत पद्यमें किया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'क्षुदादि' पदमें प्रयुक्त 'आदि' शब्दसे शेष तृषादि दोषोंका भी ग्रहण किया गया है और उन सबका केवलीमें अभाव स्वीकृत है। महत्वकी बात तो यह है कि समन्तभद्रने शेष जन्मादि दोषोंको और उनके केवलीमें अभावको स्वयम्भूस्तोत्रके दूसरे पद्योंमें भी बतला दिया है। यहाँ कुछको दिया जाता है।—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः॥६३॥
'ध्वंसि कृतान्तचक्रम्' (७६)

यहां अन्तक—मरण और उसके साथी जन्म और ज्वर (रोग) इन तीन दोषोंका अभाव बतलाया गया है।

'जन्म—जराजिहासया' (४६) 'ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै' (८१) इनमें जन्म, ज्वर और मरण तो पहिले आगये। 'जरा' का भी अभाव बतलाया गया है। यहां 'जिहासा' और 'उपशान्ति' शब्दोंसे केवली अवस्था पानेपर अभाव ही विवक्षित है, यह स्पष्ट है।

'विरजो निजं वपुः' (११३) 'निर्मोहः' (१२०) 'त्वं जिन गतमदमायः' (१४१) 'वीतरागे' 'विवान्तवैरे' (५७) 'स्नेहो वृथात्रेति' (३२) 'भयकामवश्यो' (३४) 'भूयाद्भव-क्लेशभयोपशान्त्यै' (८०) इन पदोंके द्वारा कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः क्रमसे मल, मोह, मद, राग, वैर (द्वेष), स्नेह, क्लेश और भय इन दोषोंका केवली भगवानमें अभाव प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह भी खास स्मरण रखना चाहिये कि ऊपर दि० परम्परा-सम्मत ही दोषोंका उल्लेख है—श्वे० परम्परा-सम्मत नहीं। श्वेताम्बरोंके यहां दोषोंमें क्षुधा, तृषा, जन्म, ज्वर, जराको नहीं माना है। अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकारको जो दोषका स्वरूप—क्षुधादि अभिमत है वही आप्तमीमांसाकारको भी अभिमत है—उनका भिन्न अभिप्राय कदापि नहीं है। और इस लिये विद्यानन्दके व्याख्यानका भी, जो उन्होंने आप्तमी० कारिका ४ और ६ में किया है और जिसको प्रो० सा०ने प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है, यही आशय लेना चाहिये। यह भी स्मरण रहना चाहिये कि वहां उनका दृष्टिकोण दार्शनिक भी है। अतः उसको लेकर उन्होंने दोषका विश्लेषण किया है। और दर्शनान्तरोंमें भी मान्य अज्ञान, राग और द्वेषको कण्ठोक्त कह कर 'आदि' शब्दद्वारा अन्योंका ग्रहण किया है। यदि ऐसा न हो तो उन्हींके श्लोकवार्तिकगत (पृ०४६२) व्याख्यानसे, जहाँ सबलतासे क्षुधादि वेदनाओंका अभाव सिद्ध किया है, विरोध आवेगा, जो विद्यानन्दके लिये किसी प्रकार इष्ट नहीं कहा जासकता।

समन्तभद्रका भिन्न अभिप्राय बतलानेके लिये जो यह कहा गया था कि केवलीमें उन्होंने सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है उसका भी उपर्युक्त विवेचनसे समाधान हो जाता है; क्योंकि समन्तभद्रने स्पष्टतः स्वयम्भू-स्तोत्र का०

१८ के द्वारा सुख-दुःखका केवलीमें स्वयं अभाव घोषित किया है और 'शर्म शाश्वतमवाप शंकरः' (७१). 'विषय-सौख्यपराङ्मुखोऽभूत्' (८२) कहकर तो बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि जिनेन्द्रमें शाश्वत—सदा कालीन सुख है—विषयजन्य अल्पकालिक सुख नहीं। दो सुख एक साथ रह नहीं सकते; क्योंकि व्याप्यवृत्ति सजातीय दो गुण एक साथ नहीं रहते। और दुःख तो सुखसे निषिद्ध हो जाता है। ऐसी हालतमें सुखदुःखकी वेदना स्वीकार करने पर केवलीमें 'शाश्वत-सुख' कदापि नहीं बन सकता। हमारे इस कथनकी पुष्टि आ० विद्यानन्दके निम्न कथनसे भी हो जाती है :— 'क्षुदादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता' (श्लोकवार्तिक पृ० ४९२)

अब मैं यह भी प्रकट करदूँ कि आप्तमी० का० ९३ में जो वीतराग मुनिमें सुख-दुःख स्वीकार किया गया है वह छट्टे आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनियोंके ही बतलाया है न कि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनि-केवलियोंके। कारण कि समन्तभद्रको 'वीतराग मुनि' शब्दका अर्थ केवली या अरहंत नहीं विवक्षित है यह हम उनके पूर्वापर कथनों वर्णनों और संदर्भोंके आधारपर समझ सकते हैं। वस्तुतः 'वीतरागमुनि' शब्दसे यहाँ समन्तभद्रको वह मुनि विवक्षित है जिसके केशलुंचनादि काय-क्लेश संभव है। और यह निश्चित है कि वह केवलीके नहीं होता। 'वीतरागमुनि' शब्दका प्रयोग केवलीके अलावा छट्टे आदि गुणस्थानवर्तियोंके लिये भी साहित्यमें हुआ है[1] और यह तो प्रकट ही है कि वर्तमान दि० जैन साधुओंके लिये भी होता है। स्वयं स्वामी समन्तभद्रने 'वीतराग' जैसा ही 'वीतमोह' शब्दका प्रयोग केवली-भिन्नोंके लिये आप्तमी० का० ९८ में किया है। इससे स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक ही अभिप्राय है और इसलिये वे दोनों एक ही ग्रन्थकारकी कृति हैं और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।

आप्तमीमांसाकार ही रत्नकरंडके कर्ता हैं, इस बातको मैं अन्तःपरीक्षणद्वारा भी प्रकट कर देना चाहता हूँ ताकि फिर दोनोंके कर्तृत्वके सम्बन्धमें कोई संदेह या भ्रम न रहे:—

(१) रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ९ में शास्त्रके लक्षणमें एक खास पद दिया गया है जो बड़े महत्वका है और जो निम्न प्रकार है:—

'…… 'अदृष्टेष्टविरोधकम्। ……शास्त्रं……' रत्नक० ९

स्वामी समन्तभद्र शास्त्रके इसी लक्षणको युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रमें देते हैं। यथा—

(क) दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
—युक्त्यनु० ४९

(ख) 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
'अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।'—आप्तमी०

(ग) 'दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः' स्वयंभू० १२८

यहां तीनों जगह शास्त्रका वही लक्षण दिया है, जिसे रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहा है और जिसे यहां तार्किक-रूप दिया है। पाठक, देखेंगे कि यहां शब्द और अर्थ प्रायः दोनों एक हैं।

(२) रत्नकरण्डमें ब्रह्मचर्य प्रतिमाका लक्षण करते हुये कहा गया है कि 'पूतिगन्धि बीभत्सम्……अङ्गम्' (रत्नक० १४३) और यही स्वयंभूस्तोत्रमें सुपार्श्व जिनकी स्तुतिमें कहा है'……जीवधृतं शरीरम्। बीभत्सु पूति क्षयि……' (श्लो० ३२)। यह दोनों वाक्य स्पष्ट ही एक व्यक्तिकी भावना को बतलाते हैं।

(३) रत्नकरण्डश्रावकाचारमें आप्तका लक्षण निम्न लिखित किया गया है जो खास ध्यान देने योग्य है:—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

इस श्लोकको पाठक, आप्तमीमांसाकी निम्न कारिकाओंके साथ पढ़नेका कष्ट करें—

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः।
दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥

---

१ (क) सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥
—प्रवच० १-१४

(ख) 'सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश'
—तत्त्वार्थसूत्र ९-१०

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥
—आप्त० का० ३ से ७ तक

यहाँ देखेंगे कि रत्नकरण्डमें आप्तका आगमिक दृष्टिसे जो स्वरूप बताया गया है उसे ही समन्तभद्रने आप्तमीमांसा की इन कारिकाओंमें विभिन्न दार्शनिकोंके सामने दार्शनिक-ढंगसे अन्ययोगव्यवच्छेदपूर्वक रक्खा है और प्रतिज्ञात आप्त-स्वरूपको ही अपूर्व शैलीसे सिद्ध किया है । 'आप्त' के लिये सबसे पहिले 'उच्छिन्नदोष' होना आवश्यक और अनिवार्य है, फिर 'सर्वज्ञ' और इसके बाद 'शास्ता' । जो इन तीन बातोंसे विशिष्ट है वही सच्चा आप्त है । इनके बिना 'आप्तता' संभव नहीं है । समन्तभद्र आप्तमीमांसामें इसी बातको युक्तिसे सिद्ध करते हैं । 'दोषावरणयोः' कारिकाके द्वारा 'उच्छिन्नदोष' 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' के द्वारा 'सर्वज्ञ' और 'स त्वमेवासि निर्दोषो' तथा 'त्वन्मतामृत' इन दो कारिकाओंके द्वारा 'शास्ता—अविरोधिवक्ता' प्रकट किया है । सबसे बड़े महत्वकी बात तो यह है कि रत्नकरण्डमें 'आप्तत्व'के प्रयोजक क्रम-विकसित जिन गुणोंका प्रतिपादन-क्रम रक्खा है उसे ही आप्तमीमांसामें अपनाया और प्रस्फुटित किया है । 'ह्यन्यथा आप्तता न भवेत्' और 'सर्वेषामाप्तता नास्ति'ये दोनों पद तो प्रायः एक हैं और इसलिये जो एक दूसरेका ऐक्य बतलानेके लिये खास महत्वके हैं और जो किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हैं । अन्यथा आप्तता क्यों नहीं बन सकती ? इसका स्पष्ट खुलासा रत्नकरण्डश्रावकाचारमें नहीं मिलता और जिसका न मिलना स्वाभाविक है; क्योंकि रत्नकरण्ड आगमिक और विधिपरक रचना है, साथमें संक्षिप्त और विशद गृहस्थाचारकी प्रतिपादक एक कृति है । सुकुमारमति गृहस्थोंको वे यहां युक्तिजालमें आबद्ध करना (लपेटना) ठीक नहीं समझते; किन्तु वे इसका खुलासा आप्तमीमांसाकी 'त्वन्मतामृतबाह्यानां' आदि कारिकाओंमें करते हैं और कहते हैं कि 'उच्छिन्नदोषत्वादि' के न होनेसे सदोषतामें आप्तता नहीं बन सकती है । अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचार और आप्तमीमांसादिके कर्ता एक हैं और वे स्वामी समन्तभद्र हैं ।

यहां यह शंका उठ सकती है कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैलीके साथ आप्तमीमांसादिके भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैलीका मेल नहीं खाता । रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी भाषा अत्यन्त सरल और स्पष्ट है प्रतिपादनशैली भी प्रसन्न है पर गहरी नहीं है जब कि आप्तमीमांसादि कृतियोंकी भाषा अत्यन्त गूढ और जटिल है थोड़ेमें अधिकका बोध कराने वाली है—प्रतिपादनशैली गंभीर और सूत्रात्मक है । अतः इन सबका एक कर्ता नहीं हो सकता ? यह शंका एक कर्तृकतामें कोई बाधक नहीं है । रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आगमिक दृष्टिसे लिखा गया है और उसके द्वारा सामान्य लोगोंको भी जैनधर्मका प्राथमिक ज्ञान कराना लक्ष्य है । आप्तमीमांसादि दार्शनिक कृतियाँ है और इसलिये वे दार्शनिक ढंगसे लिखी गई हैं । उनके द्वारा विशिष्ट लोगोंको—जगतके विभिन्न दार्शनिकों को जैनधर्मके सिद्धान्तोंका रहस्य समझाना लक्ष्य है ।

दूर नहीं जाइये, अकलंकको ही लीजिये । अकलंकदेव जब तत्त्वार्थसूत्रपर अपना तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य रचते हैं तो वहां उनका भाषा-साहित्य कितना सरल और विशद हो जाता है, प्रतिपादनशैली न गंभीर है और न गूढ है । किन्तु वही अकलंक जब लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह, न्याय-विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और अष्टशती इन दार्शनिक कृतियोंकी रचना करते हैं तो उनकी प्रतिपादन-शैली कितनी अधिक सूत्रात्मक, दुरवगाह और गंभीर हो जाती है । वाक्योंका विन्यास कितना गूढ और जटिल होजाता है कि उनके टीकाकार बरबस कह उठते हैं कि अकलंकके गूढपदोंका अर्थ व्यक्त करनेकी हममें सामर्थ्य नहीं है[1] । अतः जिस प्रकार अकलंकदेवका राजवार्तिकभाष्य आगमिक दृष्टिसे लिखा होनेसे सरल और विशद है और प्रमाणसंग्रहादि दार्शनिकदृष्टिसे लिखे होनेसे जटिल और दुरवगाह हैं फिर भी इन सबका कर्ता एक है और वे अकलंकदेव हैं उसी प्रकार 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' आगमिक दृष्टिकोणसे लिखा गया है और आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र दार्शनिक दृष्टिकोणसे । अतः इन सबका कर्ता एक ही है और वे हैं स्वामी समन्तभद्र ।

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा
२२-७-४४

---

1 देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥—अनन्तवीर्य,

Registered No. A-731.

(टाइटिलके द्वि० पृष्ठ से आगे)

और जहाँ वीरप्रभुकी प्रथम देशनाको उस दिन २५०० वर्ष हो जानेकी यादगारमें बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता ने एक कीर्ति-स्तंभकी स्थापनाके लिये कुछ तामीर की थी और उसपर उत्तम संगमर्मरपर बने एक हुए स्मृति-पट्टक (memorial tablet) की स्थापना करनी थी। इस स्मृति-पट्टककी स्थापनाका श्रेय मुझे प्रदान किया गया, जिसके लिये मैं बा० छोटेलालजीका बहुत ही आभारी हूँ।

जिस महान ऐतिहासिक घटनाकी यादगार कायम करने के लिये यह स्मृतिपट्टक स्थापित किया गया उसके सम्बन्ध में उसी समय और स्थानपर उपस्थित सज्जनोंमेंसे ग्यारह विद्वानोंने संक्षेपमें अपने जो हार्दिक उद्गार व्यक्त किये वे बड़े ही मार्मिक थे, उन्हें सुनकर हृदय गद्गद् हुआ जाता था—उमड़ा पड़ता था—और वीरभगवानकी उस प्रथम देशनाके समयका साक्षात् चित्रसा अंकित हो रहा था। मैं तो प्रयत्न करनेपर भी अपने आँसुओंको रोक नहीं सका। उस समय चारों ओर जो प्रभाव व्याप्त था और जैसा कुछ आनन्द छाया हुआ था उसे शब्दोंमें अंकित करनेकी मुझमें शक्ति नहीं—वह तो उस समय वहाँ उपस्थित जनताकी अनुभूतिका ही विषय था। ऐसा मालूम होता था कि कोई अदृश्य शक्ति वहाँ काम कर रही है और वह सबके हृदयोंको प्रेरणा दे रही है। उस समयके भाषण-कर्ता विद्वानोंके उल्लेखनीय नाम (क्रमशः) इस प्रकार हैं—(२)पंडिता चन्दाबाईजी, (३)पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, (४) पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, (५) न्या० पं० दरबारीलाल जी कोठिया, (६) पं० परमानन्दजी शास्त्री (७) बा० शतीश-चंदजी घोष (बंगाली), (८) बा० लक्ष्मीचंदजी एम० ए०, (९) बाबू छोटेलालजी, (१०) बा० शीतलप्रसादजी, (११) बा० अशोककुमारजी (बंगाली)।

भाषणोंके अनन्तर उस स्थानसे उठनेको किसीका जी नहीं 'चाहता था'। आखिर मनको मारकर दूसरा प्रोग्राम पूरा करनेके लिये चलना ही पड़ा। इसके बाद पहाड़ पर उपस्थित सारी जनताको बा० छोटेलालजी कलकत्ताकी ओरसे शुद्ध मिष्ठान्नादिके रूपमें प्रीतिभोज दिया गया और वह बड़े आनन्दके साथ सम्पन्न हुआ।

पर्वतपरसे उतरकर मन्दिरोंके दर्शन और भोजन कर लेनेपर भी पर्वतपरके उस अपूर्व दृश्यकी बार बार स्मृति होती थी और हृदयमें आनन्दकी लहरें आ जाती थीं। बा० छोटेलालजीने उस दिन ६००–७०० कंगलोंको भोजन कराया। और फिर रात्रिको वीरशासन 'जयन्तीका वार्षिक जल्सा हुआ' जिसमें सभापतिका आसन त्यागमूर्ति पंडिता चन्दाबाईजीको प्रदान किया गया। बा० छोटेलालजीके हृदय-द्रावक स्वागत भाषण और पं० चन्दाबाईजीके हृदय-स्पर्शी भाषणके अनन्तर अनेक विद्वानोंके महत्वपूर्ण भाषण हुए जिनमें वीरभगवानकी लोकसेवाओं और उनके शासन पर प्रकाश डाला गया तथा वीरशासन-जयन्ती-पर्वके महत्व की घोषणा की गई। उसी समय एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सवके अवसरपर साहित्य-प्रकाशन कीर्तिस्तम्भ-स्थापन और साहित्य-सम्मेलनादिके आयोजनपर जोर दिया गया। अगले दिन ८ जुलाईको सुबह ८ बजेके करीब जो जल्सा हुआ उसमें भी ७ प्रस्ताव पास किये गये। ये सब प्रस्ताव जैनमित्रादि पत्रों में छप चुके हैं। पेपरके आर्डिनेंस-वश होने वाले स्थानाभावके कारण इस समय यहाँ नहीं दिये जारहे हैं।

इस उत्सवके आयोजन, आतिथ्य-सत्कार और खर्चका सब भार बाबू० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता, सभापति वीरसेवामन्दिरने उठाया है, इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है।

जुगलकिशोर मुख्तार

To

If not delivered please return to :-
VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA, (SAHARANPUR)

मुद्रक,प्रकाशक पं.परमानंदशास्त्री वीरसेवामंदिर सरसावाके लिये श्यामसुंदरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित